

दो मूर्त्ति

इन्होंने विश्व को भारतीय संस्कृति का आलोक दान दिया

हिन्दी भाषा
और
साहित्य का इतिहास

ग्रन्थकार

आचार्य चतुरसेन

भूमिका-लेखक

मिश्रबन्धु

प्रकाशक

मेहरचंद्र लक्ष्मणदास

संस्कृत-हिन्दी पुस्तक-विक्रेता

जैन स्ट्रीट, सैदमिट्ठा बाज़ार,

लाहौर

प्रथमावृत्ति　　सन १९४६ ईस्वी　　मूल्य ३५)

Price Rs 35/-

प्रकाशक—
लाला ख़ज़ानचीराम जैन, मैनेजिंग
प्रोप्राइटर, मेहरचंद्र लक्ष्मणदास,
संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

मुद्रक—
लाला ख़ज़ानचीराम जैन,
मैनेजर, मनोहर इलैक्ट्रिक प्रेस,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

'ज्ञान' के लिए



ग्रन्थकार

दो शब्द

इस ग्रन्थ को लिखने में मुझे बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ी, बहुत झंझटों और उलझनों का सामना करना पड़ा। दिल्ली से लखनऊ, बनारस, कलकत्ता, इलाहाबाद, कांकरोली और लाहौर के बारंबार चक्कर लगाने पड़े। बहुत काम नुकसान हुआ, बहुत परिश्रम करना पड़ा, बहुत खर्चा और हर्जा उठाना पड़ा, फिर भी ग्रन्थ जैसा मैं चाहता था—तैयार नहीं हो पाया।

इस ग्रन्थ में मैंने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन प्रायः सब हिन्दी इतिहास-लेखकों की प्रचलित परंपरा का उल्लंघन करके अपने कुछ नए ऐतिहासिक दृष्टिकोण निर्धारित किये हैं, और उनके समर्थन में इतिहास की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठ-भूमि की रेखाएं दी हैं। मैं नहीं जानता कि विद्वज्जन कहां तक मेरे इस प्रयास की दाद देंगे।

मेरा सदैव ही यह विश्वास रहा है कि साहित्य मानुष-अंग का पृष्ठवंश है। मानुष का जीवन, जीवन की गति और उसकी संक्रान्ति साहित्य पर ही आधारित हैं। इसलिये मैंने साहित्य को इस ग्रन्थ में अधिकाधिक व्यापक रूप दिया है। मैं ललित साहित्य के फेर में नहीं पड़ा। भाषा और लिपि को मैं साहित्य का वाहन मानता हूँ अतः मैंने ग्रन्थ में उनका भी यत्किंचित् परिचय दे दिया है। तथा साहित्य पर भाषा से असम्बद्ध एक व्यापक विहङ्ग दृष्टि डाली है।

विवादास्पद विषयों को मैंने गवेषणा करने वाले विद्वानों के लिये छोड़ दिया है, और जहां विद्वानों के भिन्न मत हैं, वहां बहुमत का अनुसरण किया है; कुछ नई बातों का भी समावेश कर दिया है।

मुझे भय है कि मेरे प्रमाद और अज्ञानता के कारण बहुत सी त्रुटियां और भूलें ग्रन्थ में रह गई होंगी। कुछ साहित्यिकों और कवियों के विवरण छूट गये होंगे, कुछ के विवरण-वृत्त अशुद्ध और भ्रमपूर्ण छप गये होंगे। इसके लिए उन सब ज्ञात और अज्ञात साहित्य-जनों एवं विद्वज्जनों से मैं बद्धाञ्जलि क्षमाप्रार्थी हूं। इस सम्बन्ध में जब भी मुझे अपनी भूलें मालूम होंगी मैं अविलम्ब उनका निराकरण करूँगा।

कांकरोली-नरेश गो० श्रीव्रजभूषणलाल जी महाराज, श्रद्धेय मिश्रबन्धु, महामहोपाध्याय रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं० रामनारायण मिश्र, रायकृष्णदास, बा० रामचन्द्र वर्मा (मन्त्री, काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा), तथा सभा के पुस्तकाध्यक्ष; कांकरोली-विद्या-विभाग के संचालक पं० कण्ठमणि शास्त्री, तथा उन सब विद्वानों, मित्रों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता निवेदन करता हूँ जिनकी बहुमूल्य सहायता और परामर्श के बिना यह ग्रन्थ तैयार होना असम्भव था।

साधन-सामग्री के तौर पर मैंने जिन ग्रन्थों तथा पत्रों के लेखों से सहायता ली है उनकी एक सूची ग्रन्थ के अंत में दे दी है। परन्तु फिर भी बहुत से नाम छूट गए होंगे, खासकर पत्रों में प्रकाशित लेखों के—जिनके कटिंग मैंने १०, १५ वर्षों से इसी उपयोग के लिये संचित कर रक्खे थे। इन सभी विद्वानों के प्रति मेरे मन में अतिशय समादर की भावना है। कहीं २ मैंने उनके केवल ज्ञात तथ्य ही नहीं लिये प्रत्युत विचार भी लिए हैं क्योंकि उन को मैं उनसे अधिक सुन्दर ढंग से व्यक्त ही नहीं कर सकता था। इन सब विद्वान् ग्रंथकारों और लेखकों का मैं अत्यंत आभारी हूँ। उन पत्रों और पुस्तकों के स्वामियों का भी, जिनसे मैंने कुछ चित्र चुरा लिए हैं।

मुझे इस बात का भी बड़ा पश्चात्ताप है कि सब सम्भव सावधानी करने पर भी ग्रन्थ में प्रूफ़ सम्बन्धी बहुत अशुद्धियां रह गई हैं। विज्ञ पाठक अनुग्रहपूर्वक अपनी प्रति में उन्हें सुधार लें।

अन्त में मैं मेसर्स मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास की फ़र्म के मैनेजिंग प्रोप्राइटर अपने मित्र लाला खजांचीराम को धन्यवाद देता हूँ जिनके अथक परिश्रम और लगन के बिना यह ग्रन्थ इतने

अल्प काल में छप कर तैयार होना सर्वथा असम्भव था। काग़ज़ और छपाई के साधनों की कमी तथा प्रेस सम्बन्धी अन्य असुविधाओं के रहते ग्रन्थ को इस रूप में तैयार करना इन्हीं का काम था। ग्रन्थ में साहित्य-परिजन के चित्र, हस्त-लेख और हस्ताक्षरों को रख कर इन्होंने हिन्दी के इतिहास-क्षेत्र में सर्वथा नवीन और शोभनीय क़दम बढ़ाया है। पंजाब में संस्कृत साहित्य के प्रचार और प्रसार में मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास की फ़र्म ने जो सत्कार्य किया है, वह साधारण नहीं है। अब यह फ़र्म युगधर्म का अनुसरण कर हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में दृढ़ क़दमों से आगे बढ़ रही है, यह बड़े ही आनन्द की बात है।

एक बात और कहूँ। जब मैंने इस ग्रन्थ के लिखने में हाथ लगाया था तब मेरे हृदय में ऐसा उल्लास था जैसे मेरे पुत्र के विवाह-समारोह का आयोजन हो रहा हो। किन्तु आज, जब कि सात मास के रात दिन के सतत परिश्रम के बाद ग्रन्थ की समाप्ति पर 'दो शब्द' कह कर लेखनी रख देने का समय आया है, तो हृदय एक बारगी ही विगलित हो उठा है। मुझे आज ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह पुत्र का नहीं—प्राणाधिक पुत्री का था, और आज उस की विदाई की घड़ी है। वह जा रही है मेरा सर्वस्व दहेज़ में लेकर।

मैं अपने अश्रु-बिन्दुओं के साथ 'दो शब्द' समाप्त कर लेखनी को विराम देता हूँ और अपनी हज़ारों प्यारी पुत्रियों और पुत्रों को यह ग्रन्थ भेंट करता हूँ; अपने अनगिनत आशीर्वादों और शुभेच्छाओं सहित।

लाहौर
७।११।४६

अकिंचन
चतुरसेन



हिन्दी इतिहास के आदि-लेखक 'मिश्रबन्धु'

राजराजा रायबहादुर डा० श्यामबिहारी मिश्र, साहित्य-वाचस्पति एम. ए. डीलिट.

रायबहादुर पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र, साहित्य-वाचस्पति एम. ए., एल. एल. बी.

भूमिका

आचार्य जी की रचनाओं के आधार पर हमने उन को अपने 'मिश्र बन्धु विनोद' में हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ वर्तमान गद्य-लेखक बतलाया है। इनका भाषा पर सबल अधिकार है। इनकी लेखन-शैली इनकी अपनी है, उसमें विचार, गवेषणा, सत्साहस और अध्ययन का पर्याप्त पुट रहता है। गत तीस वर्षों में आपने हिन्दी को बहुत साहित्य दिया है, इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। धर्म, राजनीति, समाज, विज्ञान, चिकित्सा, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, इतिहास, सभी पर इन्होंने अधिकारपूर्ण लिखा है। अब तक इन्होंने ८ उपन्यास, १० नाटक, ४ इतिहास विषयक १५ राजनीति और समाज विषयक १५ स्वास्थ्य-विज्ञान और चिकित्सा विषयक लगभग छोटे बड़े ७२ ग्रन्थ एवं २५० के लगभग कहानियां लिखी हैं। इन के अतिरिक्त विविध पत्र-पत्रिकाओं में कई हज़ार पृष्ठ का मैटर और लिखा है। अब आप अपनी बढ़ी चढ़ी चिकित्सा-वृत्ति संकुचित करके अपना अधिकांश समय साहित्य-रचना में ही व्यतीत करते हैं। आप में साहस और क्रियाशक्ति नवयुवकों जैसी है। अब ये उस अवस्था पर पहुंचे हैं जिसमें साहित्यकार अमर रचनाएं किया करते हैं। इनकी सूझ मौलिक और दृष्टि तीखी है, भाषा और शैली ओजस्विनी और मार्मिक हैं। वे तटस्थ वृत्ति से विषय की विवेचना करने की सामर्थ्य और प्रतिभा रखते हैं, उनमें उच्च कोटि के साहित्यिक के सब गुण हैं। हम कामना करते हैं कि वे दीर्घजीवी हों और साहित्य को अपनी अमर रचनाएं प्रदान करते रहें।

आचार्य जी का यह 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने अनेक नए सिद्धान्त जोड़े हैं, कई नई गवेषणाओं का समावेश किया है, नए ऐतिहासिक दृष्टिकोण और गहन पृष्ठभूमिका स्थापित की हैं, तथा उसे सब प्रकार से परिपूर्ण करने का प्रयास किया है। निस्संदेह यह ग्रन्थ अब तक प्रकाशित हिन्दी साहित्य के इतिहासों में अपना पृथक् स्थान रखता है। इसमें लेखक के अध्ययन, विवेचनाशक्ति, पाण्डित्य और परिश्रम का यथेष्ट प्रदर्शन है।

अब तक जितने इतिहास-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनमें से अधिकांश में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और दृष्टिकोण सम्बन्धी नवीनता नहीं है। यद्यपि वे

अब तक की खोज का पूरा २ उपयोग सहज ही कर सकते थे पर बहुतों ने परिश्रम नहीं किया। इसका यह परिणाम हुआ कि यद्यपि आज हमारे सामने हिन्दी साहित्य के इतिहासों के ढेर लगे पड़े हैं, परन्तु उन सब को पढ़ कर भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमने इनमें से केवल एक ही ग्रन्थ पढ़ा है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि सन १९१४ में 'विनोद' के प्रकाशन के बाद इतिहास-ग्रन्थों के जो ढेर लगे हैं, वे 'विनोद' की तुलना में बहुत ही कम आगे बढ़े हैं। उनमें न नई खोज का विशेष समावेश हुआ, न नए २ ऐतिहासिक दृष्टिकोण ही स्थापित किए गए। यद्यपि खोज सम्बन्धी काम अभी भी अत्यन्त अपूर्ण अवस्था में है तथापि जितना भी प्रकाशित है उसका पूरा २ उपयोग इन इतिहासों में नहीं हो पाया है, एक डा० रामकुमार वर्मा ने ही खोज सम्बन्धी विषयों का अधिकांश उपयोग किया है। उनकी काव्य-समीक्षा भी प्राचीन काल के आदर्शों के आधार पर नहीं। उन्होंने लेखक की अन्तर्दृष्टि और भावों की अनुभूति पर प्रकाश डाला है, परन्तु उनका न अपना कोई नया ऐतिहासिक दृष्टिकोण है, न उनके पास व्यापक सुदृढ़ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही है, इससे उनका काल-विभाग अर्थहीन सा रह गया है। परम्परा से प्रचलित विचार-प्रवाहों के विपरीत विद्रोह करके नए दृष्टिकोण स्थापित करना उनसे नहीं बन पड़ा। इन सब कारणों से उनका ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं, हिन्दी साहित्य का एक रिसर्च वर्क—डाक्टरेट के लिये लिखा गया एक थीसेस सा प्रतीत होता है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी इतिहास नहीं है। वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखा ही नहीं गया। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'शब्द सागर' की आठवीं जिल्द में 'हिन्दी साहित्य की रूप रेखा' के नाम से शुक्ल जी ने उसकी भूमिका लिखी थी, उसी का थोड़ा परिष्कृत रूप उनका यह 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है। यह न तो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखा गया है और न उसकी परिपाटी ही इतिहास के ढंग की है। उसमें काल की परिधि और सीमाएं नहीं हैं, पृष्ठभूमि का जहां तहां उल्लेखमात्र है। इसलिये वह हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं—साहित्य सम्बन्धी कुछ विविध विषयों का विवरणमात्र है।

हिन्दी साहित्य के अन्य इतिहास-ग्रन्थों में बहुत से तो एकाङ्गी हैं, कुछ डा० रामकुमार वर्मा की और कुछ शुक्ल जी की परिपाटी पर चले हैं। अधिकांश लेखक ५।१० ग्रन्थ सामने रखकर उनमें थोड़ा इधर-उधर करके जैसा का तैसा दुहरा देते हैं अथवा प्रतिपाद्य विषयों के समर्थन में अन्य विद्वानों के वाक्यों को आप्त वाक्यों की भांति उद्धृत कर देते हैं। विद्यार्थियों के सामने जब पुरानी पुस्तकों के बदले नई पुस्तकें आती हैं, तो उन्हें उसमें कोई नई वस्तु नहीं प्राप्त होती। फलतः शिक्षा-केन्द्रों के संचालकों का पाठ्य ग्रन्थों को बदलते रहने का सदुद्देश्य नष्ट हो जाता है।

हमारे विचार में इतिहास में पांच बातों का होना अत्यन्त आवश्यक है—१ काल-विभाग २ पृष्ठभूमि ३ प्रभाव की व्यापकता ४ निर्भ्रान्त तथ्य और तारतम्य ५ नया दृष्टिकोण।

काल-विभाग इतिहास के प्रासाद की दीवारें हैं। काल-विभाग के द्वारा ही यह जाना जा सकता है कि कब और कैसे और किधर लोगों की मनोवृत्ति और विचारधारा प्रवर्तित हुई। परन्तु काल-निर्णय कोई सुकर कार्य नहीं। काल की कड़ी के दोनों छोरों को पकड़ना बहुत सूक्ष्म-दर्शिता और गहरी विवेचना से हो पाता है। विचारों और उनके प्रकाशन में जब कोई नई क्रान्ति आ उपस्थित होती है, तभी काल-शृंखला की नई कड़ी प्रारम्भ होती है। फिर वह कहां तक चली जाती है, कहां उसका अन्त होता है, कहां २ कैसी कैसी उसमें शाखाएं फूटती हैं, यह सब जानना इतिहास-लेखक की अद्भुत प्रतिभा, प्रकाण्ड पाण्डित्य और गहन अध्ययन पर निर्भर है।

पृष्ठभूमि ही काल-निर्णय में सहायक है। पृष्ठभूमि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक तीन प्रकार की है। राजनीति और समाज की मध्य-मेखला अर्थनीति है। उसी को विचार-विवेचना का मध्यविन्दु बनाकर समाज और राजनीति की क्रान्ति के मूल उद्गम का पता लगाना पड़ता है। वही मूल उद्गम नवीन काल की स्थापना का आधार होता है।

परन्तु इतिहास-लेखक की कठिनाइयां यहीं समाप्त नहीं हो पातीं। उसे देखना पड़ता है कि जनक्रान्ति में कहां-कहां स्फोट प्रचलित काल को समाप्त करके नए काल की स्थापना करते हैं। काल जैसा का तैसा आगे बढ़ता जाता है और उसमें स्फोट होते रहते हैं। इतिहासकार को देखना यह है कि स्फोट-केन्द्र में केवल एक शाखा का विकास हुआ है, या नए काल का उदय। इस बात का पता इतिहास-लेखक जनक्रान्ति के प्रभाव की व्यापकता से लगा सकता है।

यहां इतिहास-लेखक की प्रतिभा और गहन अध्ययन नहीं प्रत्युत उसकी दृढ़ इच्छा-शक्ति, निर्णायक बुद्धि और शासन-सत्ता काम देती है। यहां वह विविध विवादास्पद विषयों में से एक को विश्वासपूर्वक चुन लेता है। उसे अनेक अनिश्चित बातों में से मूल ज्ञेय सारभाग को ग्रहण करना पड़ता है। वह जानता है कि इतिहास कभी भी परिपूर्ण नहीं है, वह निरन्तर संशोधन की वस्तु है। वह उन सब अनिश्चित, विवादास्पद कूटस्थलों को गवेषणा करने वाले उन विद्वानों के लिये छोड़ देता है, जो समय पाकर धीरे २ उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर गुत्थियां सुलझाते रहते हैं। इस प्रकार इतिहासकार अन्वेषक नहीं, प्रतिपाद्य ऐतिहासिक विषयों को काल-क्रम से सुव्यवस्थितरूप में संकलित करने वाला प्रतिभाशाली, अध्ययन-शील, स्थिर-बुद्धि, विवेचक विद्वान् है।

इतिहास की ज्ञात सामग्री का तारतम्य ठीक करने पर जिस नए दृष्टिकोण के आधार पर इतिहासकार को वह सामग्री काल क्रम में विभक्त कर पाठक के सामने रखनी पड़ती है वह दृष्टिकोण ही उसे इतिहास का मूर्त्त रूप देता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण का निर्णय करना वैसा ही महत्त्वपूर्ण है जैसा एक सेनापति का मोर्चा जमाने के लिये उपयुक्त स्थान निर्धारित करना।

किसी विषय के इतिहास पर लेखनी उठाना सुगम नहीं। इतिहास की व्याख्या करते हुए कोषकार कहते हैं कि जिसमें ज्ञात पदार्थों का उद्‌घाटन, घटनाओं का वर्णन अथच किसी जाति या संस्था का कथन और उसके कार्य कारण का दार्शनिक विवरण हो वही वास्तविक इतिहास है। यदि इन लक्ष्यों पर ध्यान देकर इतिहास लिखा जाय तो वह व्यापक और परिपूर्ण निबन्ध कहलायेगा। यद्यपि इतिहास के कथन में समय का विचार मुख्य है, फिर भी विवेचना का लक्ष्य पूरे साहित्य पर है, एक एक ग्रन्थ पर नहीं। इस लिये ग्रन्थों, लेखकों आदि के समय पर तर्क न करके समय-निरूपण पर जो परिश्रम अन्य विद्वानों ने किया है उसका इंगित मात्र दे देना ही यथेष्ठ है।

साहित्य में कुछ ऐसी ऐतिहासिक रचनाएं मिलती हैं जो किन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं पर अंशतः प्रकाश डालती हैं और कुछ ऐसा भी साहित्य है जो प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का सजीव कथन करता है। ऐसे साहित्य को इतिहास में स्थान मिलना आवश्यक है। इससे इतना ही नहीं कि ऐतिहासिक ज्ञान सुरक्षित रहता है प्रत्युत भावी संतति को उद्बोधन और प्रोत्साहन मिलता है। कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जो घटनाओं पर ध्यान नहीं देते, वरन शौर्य का प्रोत्साहन उनमें अधिक होता है। ऐसे ग्रन्थों का जनता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। ऐसी रचनाओं को हम ऐतिहासिक गरिमा के दृष्टिकोण से देख सकते हैं, साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से नहीं। साहित्यिक दृष्टि से चाहे किसी की रचना कैसी भी हो, परन्तु हमें यह देखना होगा कि संसार पर उसका क्या प्रभाव पड़ा। संसार पर साहित्य का दो प्रकार से प्रभाव पड़ता है—एक रचना की मुख्यता से दूसरा रचयिता के चरित्र-बल से। इन दोनों दशाओं में इतिहास पर साहित्य का प्रभाव माना जायगा क्योंकि रचना और रचयिता दोनों इसके आलम्बन हैं।

इस बात के समर्थन में सिख सम्प्रदाय के 'ग्रन्थसाहब' का उदाहरण दिया जा सकता है। उसकी रचनाओं का महत्त्व साहित्य की दृष्टि से उतना नहीं है जितना उसके रचयिता 'गुरु नानक' और अन्य सिख गुरुओं के चरित्र-बल के कारण से है। इसी चरित्र-बल से वे रचनाएं उस समय देशोन्नति में इतनी सहायक हुई कि हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ऐतिहासिक फल 'सिख जाति का संगठन और उसकी उन्नति' है। इस ग्रन्थ के लेखक ने कुछ ऐसे भी ग्रन्थों का संकेत किया है जिनके सहारे हिन्दू राज्यों का निर्माण हुआ। इनमें तुलसीदास का रामचरितमानस प्रधान है।

हिन्दी इतिहास—१९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक हिन्दी साहित्य के क्रमिक विकास, कवि-विवरण और विचारधाराओं की रूपरेखा पर प्रकाश डालने वाला कोई इतिहास नहीं था। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने भाषा के इतिहास पर एक निबन्ध अवश्य लिखा था। इसके बाद एशिआई भाषाओं के फ्रेंच विद्वान् गार्सां-दँ-तासी लिखित एक हिन्दी कवियों का इतिहास 'इस्त्वार-द-ला लिटेरात्यूर एन्दुईऐं ऐन्दुस्तानी, नाम से दो भागों में फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हुआ। पहला भाग सन १८३९ में और दूसरा १८४६ में। सन १८७१ में जब इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ तब उसके तीन भाग कर दिये गये। इसमें अंग्रेज़ी वर्णक्रम से हिन्दू मुसलमान कवियों और कवयित्रियों का विवरण दिया गया था। पहले उनका जीवन-वृत्त और फिर रचना-विवरण और उदाहरण। तीनों भाग १८३४ पृष्ठों में समाप्त किये गये थे। हिन्दी साहित्य का यही सर्व-प्रथम इतिहास था, जिसमें ७० के लगभग हिन्दी कवियों का विवरण था।

दूसरा ग्रन्थ सन १८७३ में लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से पं० महेशदत्त शुक्ल का 'भाषा-काव्य-संग्रह' प्रकाशित हुआ। इसमें कुछ प्राचीन कवियों की कविताओं का संग्रह और उनकी संक्षिप्त जीवनियां थीं। इसके बाद १८८१ में उन्नाव ज़िले के शिवसिंह सेंगर द्वारा संग्रहीत 'शिवसिंहसरोज' प्रकाशित हुआ, जिसमें एक हज़ार के लगभग हिन्दी कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय था। इसी ग्रन्थ के आधार पर सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ़ हिन्दुस्तान' लिखा। सन १९०९ और १९१४ में बाबू श्यामसुन्दर-दास ने 'हिन्दी-कोविद-ग्रन्थ-माला' २ भाग क्रमशः प्रकाशित किये जिनमें लगभग ८० भारतेन्दु के और प्रभावकालीन कवियों का परिचय उनके रचना-संकेतों के साथ दिया गया था। सन १९१३ में हमने 'मिश्रबन्धु विनोद' के तीन भाग और सन १९३४ में चतुर्थ भाग प्रकाशित किया, जिसमें प्राय ५००० कवियों का विवरण था। हिन्दी कवियों का यह सबसे प्रथम विराट् और व्यवस्थित इतिवृत्तात्मक ग्रन्थ था। इस ग्रन्थ में कवियों के विवरणों के साथ साथ साहित्य के विविध अंगों पर प्रथम बार प्रकाश डाला गया था। अनेक अज्ञात कवि प्रकाश में लाये गये थे और उनका वर्गीकरण प्राचीन काव्य परम्परा के आदर्शों पर किया गया था। सन १९१० में हमारा 'नवरत्न' छपा, जिसका संशोधित और परिवर्धित संस्करण सन १९३४ में हुआ। इसमें तुलसी, सूर, देव, बिहारी, भूषण, मतिराम, केशव, कबीर, चन्द और हरिश्चन्द्र इन नौ दस कवियों की विस्तृत समालोचना थी।

सन १९१७ में पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी (२ भाग)', १९१८ में एडविन ग्रीव्स का 'ए स्कैच आफ़ हिन्दी लिटरेचर', और १९२० में एफ़० आई० के की 'ए हिस्ट्री आफ़ हिन्दी लिटरेचर' प्रकाशित हुईं। त्रिपाठी जी की पुस्तक के प्रथम भाग में भारतेन्दु से पूर्व के ८९ कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय है तथा दूसरे भाग में ४९ आधुनिक कवियों और उनकी रचनाओं का। ग्रीव्स की पुस्तक ११२ पृष्ठों की है और पांच भागों में विभक्त है। 'के' की पुस्तक ११९ पृष्ठों की है। इसमें हिन्दी साहित्य का परिचयमात्र है।

सन १९२९ में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा। यह नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित शब्दसागर की आठवीं जिल्द में 'हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा' का परिष्कृत रूप था। सन १९३० में रा० ब० डा० श्यामसुन्दरदास ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' लिखा, जिसमें कवियों का विवरण मात्र था, तथा इसका पूर्वार्ध 'भाषा विज्ञान' का ही एक परिवर्तित रूप था।

इसी समय हम (शुकदेव बिहारी) ने 'बाबू रामदीनसिंह रीडरशिप' की चेअर से पटना यूनिवर्सिटी में 'भारतीय इतिहास पर हिन्दी का प्रभाव' विषय पर व्याख्यान दिये जिनमें हिन्दी साहित्य के विकास पर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देकर आलोचना की गई थी। बाद में ये भाषण पुस्तकाकार प्रकाशित हुए।

इसके पहले उपर्युक्त रीडरशिप की चेअर से पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के विकास' पर व्याख्यान दिये थे जो ७१९ पृष्ठों में प्रकाशित हुए थे। इसमें भाषा और साहित्य पर अच्छी आलोचना थी।

सन १९३० में डा० सूर्यकान्त शास्त्री ने 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' लिखा, जिसमें हिन्दी साहित्य पर विश्वजनीन भावनाओं की दृष्टि से तुलना की गई थी। सन १९३१ में पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने एक बहुत बड़ा हिन्दी का इतिहास लिखा। इसमें लेखक ने अपना कोई निर्णय नहीं दिया, न लेखकों और कवियों की रचनाओं के उदाहरण दिए, केवल उपलब्ध सामग्री को एकत्र कर दिया गया था। सन १९३४ में श्रीकृष्णशंकर शुक्ल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा, जिसमें आधुनिक कवियों और साहित्यकारों का साहित्यिक परिचय दिया गया था। सन १९३८ में डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखा जिसमें चारणकाल और धार्मिक काल का वर्णन है। १९३९ में हमारा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ, जो आंग्ल प्रभाव से पूर्व का व्यवस्थित इतिहास था।

इनके अतिरिक्त रामनरेश त्रिपाठी का 'हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास' (१९२३) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'हिन्दी साहित्य विमर्श' (१९२४) डा० बा० श्यामसुन्दरदास का 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (१९३१) ब्रजरत्नदास का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३३) पं० गणेशप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य का गद्य-काल (१९३४) बा० गुलाबराय एम० ए० का 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' (१९३८) पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४०) डा० श्यामसुन्दरदास का 'हिन्दी के निर्माता' (१९४१) तथा ब्रजरत्नदास का 'खड़ी बोली हिन्दी का इतिहास' (१९४१) प्रमुख रचनाएं हुईं। इन सभी ग्रन्थों में साहित्य को ललित साहित्य तक ही सीमित रखा गया। साहित्य को उस व्यापक अर्थ में नहीं लिया गया जिसमें जीवनचरित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, देशदर्शन, भाषा-शास्त्र, ललित-कला, उपयोगी कला, शरीर-रक्षा, प्राणी-शास्त्र, समाज-

शास्त्र, शिक्षा-धर्म, समालोचना और अन्य भाषाओं के साहित्य का अध्ययन आदि सम्मिलित हों। सर्वतोभावेन व्यापक अर्थ में प्रकाशित परिपूर्ण हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास यही आचार्य जी ने अपने इस ग्रन्थ में इन सब विषयों को तो लिया ही है भाषा और लिपि के प्रसंग को भी सम्मिलित कर लिया है।

निस्सन्देह भाषा और साहित्य दोनों पृथक् पृथक् वस्तु हैं। आचार्य जी का वह कथन सत्य है कि भाषा साहित्य का वाहन है। इसलिये साहित्य का इतिहास लिखने के साथ भाषा के विकास का इतिहास लिखने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह नियम संस्कृत और अंग्रेज़ी जैसी भाषाओं के सम्बन्ध में ही लागू हो सकता है, जिनका स्वरूप उनके बालकाल ही में स्थिर हो चुका था। हिन्दी भाषा और साहित्य की बात बिल्कुल ही दूसरी है क्योंकि हिन्दी भाषा का रूप न प्रारम्भ में स्थिर हुआ और न अभी तक स्थिर हो पाया है। उसमें निरन्तर परिवर्तन होते आए हैं और आज भी होते जा रहे हैं। यही नहीं, उसमें अधिक से अधिक परिवर्तनों की आज भी आवश्यकता प्रतीत हो रही है, भाषा ही में नहीं, लिपि में भी। इसलिए हिन्दी भाषा और लिपि को हिन्दी साहित्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह केवल हिन्दी साहित्य के विकास पर ही दृष्टि न डाले, हिन्दी भाषा के विकास को भी व्यक्त करे, विशेष कर अब—जब कि हिन्दी सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा बनने जा रही है। दूसरे शब्दों में आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, जब हिन्दी (अपभ्रंश) ने संस्कृत से अपना सम्बन्ध त्याग कर पृथक् स्वतन्त्र रूप धारण किया था, तब वह समूचे भारतखण्ड की एकमात्र राष्ट्रभाषा थी। आज १२०० वर्ष के क्रान्ति और विप्लव भरे दिनों के बाद, जब कि विराट् भारत के हर दस कोस पर भाषा-विकार दीख पड़ता है और देश में अनेक विभाषाएं और देशी और विदेशी लिपिएं प्रचलित हो गई हैं, एवं उनका रूप और साहित्य भी पृथक् प्रौढ़ स्वरूप ग्रहण कर चुका है—हिन्दी फिर ऐसी स्थिति में आ पड़ी है कि वह एक बार सम्पूर्ण भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बन जाय। अपने जीवन के प्रारम्भ-काल में वह द्रविड़ प्रान्तों को छोड़कर सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा थी, परन्तु इस बार वह अखण्ड भारत की राष्ट्रभाषा बनने जा रही है। उसकी प्रतिस्पर्धा केवल 'उर्दू' कर रही है जो वास्तव में विदेशी लिपि में हिन्दी ही है। ऐसी दशा में यह अत्यन्त आवश्यक है कि हिन्दी साहित्य के विकास की ऊहापोह करने के साथ साथ हिन्दी भाषा और लिपि के इतिहास की भी चर्चा की जाय। लिपि की इसलिये कि लिपि-भेद ने अखण्ड भारतीय साहित्य को प्रान्तों की क्षुद्र परिधि में अवरुद्ध कर रखा है, और आज कोई कवि संस्कृत या अपभ्रंश के कवि की भांति अपने को यथार्थ में 'भारतीय कवि' कहने का साहस नहीं कर सकता। वह विभाषा-कवि का तुच्छ स्थान प्राप्त करता है। उदाहरण के लिये हम रवीन्द्रनाथ ठाकुर का उल्लेख कर सकते हैं। वे गीताञ्जलि बंगला भाषा में लिख कर केवल बंगीय कवि रहे, भारतीय कवि भी न कहा सके। परन्तु अंग्रेज़ी में उसका अनुवादमात्र करके 'विश्व कवि' हो गए। यह अंग्रेज़ी भाषा के सार्वभौम प्रभाव का

चमत्कार था। इसी प्रान्तीय विभाषा के कुत्सित बंधनों से बचने के लिये आज के कुछ मेधावी भारतीय साहित्यकार निरुपाय हो अंग्रेज़ी भाषा में साहित्यसृजन करते हैं। इसका कारण यही है कि आज अखण्ड भारत की कोई एक स्थिर राष्ट्रभाषा नहीं है। हिन्दी उस ओर अग्रसर हो रही है, परन्तु उसमें बहुत दोष हैं। १२०० वर्ष की दीर्घ आयु पाकर भी वह अभी निपट बालिका है, जब कि अंग्रेज़ी और फ्रेंच भाषा ने ५०० वर्ष ही में प्रौढ़ रूप धारण कर लिया।

भाषा, ध्वनि और लिपि तीनों ही का साहित्य के विकास से बहुत गहरा सम्बन्ध है। भाषाशास्त्र बड़ा गहन विषय है और ध्वनि तथा लिपि का विषय उससे भी अधिक। इन विषयों पर पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत निरूपण किया है तथा उसी के आधार पर वे सहस्रों वर्षों के पूर्वापर विश्व की विनष्ट और लुप्त सभ्यता अथच संस्कृति पर प्रकाश डाल सके हैं। आज मानव समाज विश्व भर में बिखर गया है और उसकी अनगिनत भाषाएं हो गई हैं, जिनमें न जाने कितनी अब तक लुप्त हो चुकीं और कितनी प्रचलित हैं, तथा उत्पन्न होती जाती हैं। प्राचीन काल में ऐसा न था। अति पुरातन काल में ये सभी भाषाएं एक ही मूलस्थान से निकली थीं। यह भाषाशास्त्र तथा ध्वनि और लिपि-विज्ञान हमें उन सब भाषाओं की विकृति का इतिहास तथा उनकी बोलने वाली जातियों का परस्पर रक्तसम्बन्ध बताने में बड़ा सहायक है। इन्हीं की सहायता से पुरातत्ववेत्ता विद्वानों ने विस्मृत सम्राटों के अनगिनत लेख, सिक्के आदि पहचाने और पढ़े हैं।

हिन्दी साहित्य के कुछ अन्य इतिहास-लेखकों ने भी हिन्दी साहित्य की चर्चा के साथ अवश्य हिन्दी भाषा के विकास पर प्रकाश डाला है परन्तु वह अस्पष्ट और कम है। उसका उतना ही प्राधान्य होना चाहिए जितना साहित्य का। हमारे आचार्य जी ने इस ग्रन्थ में भाषा, लिपि और ध्वनि पर एक पृथक् खण्ड लिख कर हिन्दी साहित्य के इस अंग को पूर्ण किया है।

अब तक हिन्दी साहित्य के जितने इतिहास प्रकाशित हुए हैं उन सब में भाषा सम्बन्धी गड़बड़ चली आई है। संस्कृत-प्राकृत, अपभ्रंश-पुरानी हिन्दी, खड़ी बोली, ब्रजभाषा और अवधी के रूपों और पारस्परिक सम्बन्धों पर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं डाला गया। ख़ास कर अपभ्रंश के सम्बन्ध में तो प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने अपनी भ्रान्त धारणाएं व्यक्त की हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल अपभ्रंश को 'प्राकृताभास' (प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) कहते हैं। डा० रामकुमार वर्मा उसे प्राकृत का विकसित रूप कहते हैं और उसे नीच जनों की भाषा बताते हैं। वास्तव में इन दोनों विद्वानों के 'अपभ्रंश' के सम्बन्ध में ये वर्णन सर्वथा भ्रमपूर्ण हैं। इस विषय में आचार्य जी का यह मत ठीक है कि प्राकृत संस्कृत से अनुबन्धित भाषा है, परन्तु 'अपभ्रंश' संस्कृत से सर्वथा मुक्त बिल्कुल एक दूसरी ही भाषा है। प्राकृत जहां संस्कृत का वह रूप प्रकट करती है जिसमें तद्भव शब्दों का बहुल प्रयोग है, वहां 'अपभ्रंश' हिन्दी का वह रूप है जहां तत्सम का बहुल प्रयोग है। साथ ही वह अपने समय की सम्पूर्ण भारतवर्ष की (द्रविड़ क्षेत्रों को छोड़ कर) राष्ट्रभाषा है। उसका अपना व्याकरण

है, जिसका संस्कृत से कोई सरोकार नहीं और वह वास्तव में हिन्दी है; हां, उच्चारण-भेद उसमें अनेक रहे हैं।

यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश-साहित्य का अध्ययन अब तक के हिन्दी साहित्यकारों ने प्रायः बिल्कुल ही नहीं किया। पं० रामचन्द्र शुक्ल तो उसका संकेतमात्र करके आगे बढ़ गये हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने थोड़ा परिचय कराया है, परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है कि 'संस्कृत अथवा प्राकृत में जैन विद्वानों के बनाये हुए शृङ्गार-रसपूर्ण ग्रन्थ अवश्य हैं पर अपभ्रंश अथवा पुरानी हिन्दी में एक भी नहीं'।*

इस ग्रन्थ में आचार्य जी ने ९ से १३वीं शताब्दी तक के जैन कवियों के जो विवरण और उद्धरण दिये हैं उनसे प्रकट है कि जैन कवियों में ऐसे कवि भी हुए हैं जिन्होंने साहित्यकोटि की प्रथम श्रेणी की रचनाएं की हैं, और जिनकी गणना सुकवियों में की जानी चाहिए। इन कवियों में सर्वश्री स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, कनकामर मुनि, हेमचन्द्र, हरिभद्र सूरि, आम्र भट्ट, सोमप्रभ सूरि, विनयचन्द्र, लक्खण, हरिब्रह्म और राजशेखर सूरि उल्लेख-योग्य हैं। मुसलमान कवि अब्दुर्रहमान अपभ्रंश का चोटी का महाकवि है। इन कवियों ने कोमल कल्पना, अलंकार, रस, शृङ्गार का मोहक और अद्भुत वर्णन किया है। ये कवि धार्मिक व्याख्याता नहीं हैं, सर्वतोभावेन कवि हैं और इनकी रचना शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत है। हेमचन्द्राचार्य और मेरुतुङ्ग ने अपने ग्रन्थों में जो प्राचीन उदाहरण अपभ्रंश की कविताओं के दिये हैं उनसे कुछ अज्ञात कवियों की मार्मिक काव्य-धारा पर और भी प्रकाश पड़ता है। आप स्वयंभू का ऋतुवर्णन पढ़िए, नारी-सौन्दर्य, जलक्रीड़ा, विरह, मिलन, विलाप, देश-नगर-वर्णन पढ़िए, और देखिए कौन परम प्राचीन कवि उपमा, रस, अलंकार और भाषा-सौष्ठव में इस महाकवि से स्पर्द्धा करने की सामर्थ्य रखता है।

फिर इसके बाद पुष्पदन्त और अब्दुर्रहमान हैं। पुष्पदन्त के ऋतुवर्णन, नखशिख, नारी-सौन्दर्य, कुपितानायिका, कृष्णलीला, गोपीविलास, नीतिवचन भी पढ़िए। अब्दुर्रहमान का प्रोषितपतिका का सन्देश, ऋतुवर्णन, पढ़िए। उसकी भाषा और कल्पना की उड़ान देखिए और तब कहिए कि जैन कवियों तथा अपभ्रंश के अन्य कवियों में कितना कवित्व और कितना रस है? यही नहीं, इनका देशदर्शन, समाज-आलोचन, राजनीति-विवेचन और धर्म-विश्लेषण इनके महान् व्यक्तित्व को प्रगट करते हैं। इनके सिवा 'बब्बर' का नारी-वर्णन, ऋतुवर्णन, विरह, हेमचन्द्र सूरि का विरह, ऋतु, शृंगार और वीररस, नीति वाक्य, हरिभद्र सूरि का प्रभातवर्णन, सोमप्रभ सूरि का वसन्त, विरह, नारी सौन्दर्य, जिनपद्म सूरि का हावभाव और शृंगार-सज्जा, विरह, राजशेखर सूरि का नारी-सौन्दर्य और शृङ्गार देखने योग्य हैं। इन सब रचनाओं में साहित्य रस का परिपूर्ण विकास हुआ है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तो मालूम होता है अपभ्रंश-साहित्य को छुआ ही नहीं और बिना विचारे उस पर उन्होंने लेखनी उठाई है, इसी कारण

*हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ५७।

कहीं ? उनसे बहुत भारी भूल हो गई है। उदाहरण के लिये वे शार्ङ्गधर के प्रकरण में* पिंगल-सूत्र से दो छन्द हम्मीररासो के उद्धृत करते हैं और उन्हें शार्ङ्गधर का बताते हैं यद्यपि उन छन्दों ही में स्पष्ट हो गया है कि वे शार्ङ्गधर के नहीं हैं, बल्कि हम्मीर के शूरवीर मन्त्री और सेनापति कवि 'जज्जल'के हैं (जज्जल-भणइ)। इस लिये इस ग्रन्थ के लेखक का यह कहना सत्य ही मानना पड़ेगा कि यदि ये उदाहरण असली हम्मीररासो ही के हैं तो हम्मीररासो 'जज्जल' ने लिखी है शार्ङ्गधर ने नहीं। इस बात का समर्थन इस से भी होता है कि 'जज्जल' उस अभियान में हम्मीर के साथ था, (पुर जज्जला मन्त्रिवर चलिअ वीर हम्मीर) और उसने वह शाका अपनी आंखों से देखा था, जबकि शार्ङ्गधर उससे तीन पीढ़ी बाद पैदा हुआ।

स्वयंभू और पुष्पदन्त ने अपने समकालीन सामन्तों के वैभव, विलास और शौर्य को अपनी आंखों से देखा था। ये सामन्त किस प्रकार लोकोत्तर भोगों को भोगते और युद्धक्षेत्र में अनायास ही मृत्यु का आलिङ्गन करते थे, इसका जैसा सजीव वर्णन इन दोनों महाकवियों ने किया है वैसा पीछे का कोई कवि वर्णन करने में आज तक समर्थ नहीं हुआ। संक्षेप में हम इन दोनों जैन कवियों को श्रृङ्गार और वीर-रस के उत्कृष्ठ कवि कह सकते हैं।

अपभ्रंश का सही और सच्चा रूप हमारे सामने नहीं है क्योंकि संस्कृत की भांति उसका कोई स्थिर रूप न था। शताब्दियों तक हस्तलिखित प्रतियों की नक़ल करने वालों के हाथ में रहने के कारण उसके रूप में अवश्य ही अन्तर पड़ गया है। भाषा का यह अन्तर दो प्रकार का है, एक वह जो शताब्दियों के कालान्तर में पड़ा है, दूसरा वह जो प्रान्त-भेद से पड़ा है। ईसा की ८ वीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक ५०० वर्षों में जिन कवियों ने अपभ्रंश का यह अमूल्य साहित्य निर्माण किया, वे किसी एक छोटे से प्रान्त या प्रदेश के निवासी नहीं थे। बौद्ध सिद्ध जहां पूर्वी भारत, बिहार, बंगाल और उड़ीसा में फैले हुए थे, और स्वयंभू, कनकामर, पुष्पदन्त दिल्ली, बनारस, कन्नौज और विन्ध्याचल के आसपास उत्पन्न हुए थे—वहां हेमचन्द्र सूरि और सोमप्रभ गुजरात के निवासी थे—तथा इन कवियों के आश्रयदाता मान्यखेट (दक्षिण) में रहते थे। इस प्रकार ये अपभ्रंश कवि हिमालय से गोदावरी और सिंध से ब्रह्मपुत्र तक फैले हुए लगभग एक ही भाषा में साहित्य निर्माण कर रहे थे। इनकी भाषा में यदि कुछ भेद था तो वह अति स्थूल प्रान्तभेद था। यह एक विचारणीय बात है कि स्वयंभू के क्रिया पद और कई शब्द हमें अवधी से परिचित दीख पड़ते हैं। साहित्यिक विद्वानों की अभी तक यही धारणा थी कि अपभ्रंश-साहित्य शौरसेनी और महाराष्ट्री ही से अनुबन्धित है। स्वयंभू की यह विशेषता इसके विपरीत एक नया मत स्थापित करती है।

अपभ्रंश-काल की प्रान्तीय भाषाओं की एक सूची 'प्राकृत-चन्द्रिका' में दी गई है। मार्कण्डेय ने भी 'प्राकृत-सर्वस्व' में अनेक अपभ्रंशों को गिनाया है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि भाषा का यह भेद प्रान्तीय था।

---

*हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ २१।

यह प्रान्तीय भेद होते हुए भी वे सब भाषाएं मूलतः एक सार्वदेशिक रूप रखती थीं और उसी के माध्यम से वे एक दूसरे के निकट थीं। इस प्रकार उस युग में यही भाषा देश की राष्ट्रभाषा थी।

अब हम काल-विभाजन पर विचार करते हैं। हिन्दी साहित्य में पं० रामचन्द्र शुक्ल का काल-विभाजन अधिक प्रचलित है इसलिये उसी को मुख्य रख कर उस पर विचार किया जाता है।

शुक्ल जी ने संशोधित नूतन संस्करण में हिन्दी साहित्य के ९०० वर्षों के काल को चार भागों में विभक्त किया है।

आदिकाल—वीरगाथाकाल, संवत् १०५० से १३७५
पूर्वमध्यकाल—भक्तिकाल, ,, १३७५ से १७००
उत्तरमध्यकाल—रीतिकाल, ,, १७०० से १९००
आधुनिककाल—गद्यकाल, ,, १९०० से १९८४

आदिकाल (वीरगाथाकाल) को शुक्ल जी सं० १०५०—१३७५ वि० तक मानते हैं। स्पष्ट है कि वे हिन्दी का प्रारम्भ विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं। संवत् १०५० से पूर्व वे हिन्दी कविता का समय मानते ही नहीं। परन्तु आचार्यजी ने इस ग्रन्थ में विक्रम की आठवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक के अनेक कविजनों का प्रामाणिक वर्णन किया है जिनमें सरहपा से लेकर बब्बर तक (१०५० ई०) सत्ताईस तो प्रमुख और प्रामाणिक कवि हैं और इस के बाद भी वि० १३७५ तक ६० के लगभग बौद्ध, जैन, बन्दी और ब्राह्मण कवियों से हम परिचित होते हैं जिनमें दलपति विजय (खुमानरासोकार), राजा सोमेश्वर, देवसेन, मुंज, चन्दबरदाई, जज्जल, लक्खण, हरिभद्र सूरि, हेमचन्द्र, कनकामर आदि प्रतिभाशाली कवि प्रमुख हैं।

हमने भी हिन्दी का आदिकाल वि० सं० ८०० से ही माना है। यद्यपि शुक्ल जी का इतिहास हमारे इतिहास के पीछे छपा है परन्तु शोक है कि उसके वि० सं० २००२ के संशोधित और परिवर्धित संस्करण में भी यह बड़ी भारी भूल ज्यों की त्यों है सुधारी नहीं गई है। इसका कारण हमें यह प्रतीत होता है, कि सम्भवतः शुक्ल जी अपभ्रंश को हिन्दी ही नहीं मानते रहे। उन्होंने इस बात पर विचार ही नहीं किया कि वह प्राकृत की भांति संस्कृत से अविच्छिन्न भाषा नहीं, अपितु संस्कृत से सर्वथा विच्छिन्न नई भाषा है जो वास्तव में हिन्दी ही है। सम्राट् हर्षवर्धन का राजकवि वाणभट्ट स्वयं कहता है कि उसके समय (सातवीं शताब्दी) में प्राकृत के अतिरिक्त भाषा (हिन्दी) में भी कुछ कविताएं होती थीं, और वह उन कवियों को कवि ही मानता है। ऐसा समझ में आता है कि शुक्लजी १०५० सं० से पहले के कवियों को कवि ही नहीं मानते थे।

अब शुक्ल जी के वीर-काल-विभाग पर एक दृष्टि डालिए। इस काल के ३ खण्ड हैं। (१) सं० ८०० से १२०० तक (२) १२०० से १३४७ तक तथा (३) १३४७ से १३७५ तक। ८वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी के अन्त तक ४०० वर्षों में सिवा दलपतिविजय के किसी ने वीर काव्य नहीं लिखा।

हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १

दलपति का खुमानरासो भी अभी तक अनिश्चित और अज्ञात है। जिन २ वीरग्रन्थों के नाम उन्होंने वीरगाथाकाल के अन्तर्गत दिये हैं उनमें से एक भी सं० १२०० तक का नहीं है।

सं० १२०० से १३४७ पर्यन्त जितने ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें नरपति नाल्ह, चंद, जल्हन, जगनिक, केदार, मधुकर नृप-यश-गायक समझे जाते हैं। इनमें से नरपति नाल्ह में वीर काव्य नहीं है, चन्द और जल्हन की रचनाएं अनिश्चित होकर किसी दृढ़ परिणाम को स्थापित नहीं कर पातीं, तथा इतरों की कोई रचना ही प्राप्त नहीं है, अथ च अन्य कवियों के बहुत ग्रन्थ हैं। अतएव इस समय को भी वीरगाथा का अंग मानना आधार-शून्य है। केवल ऐसे अनुमान पर कोई निष्कर्ष आधारित नहीं हो सकता कि वे नृप-यश-गान में वीरकाव्य अवश्य करते होंगे, विशेषतया ऐसी दशा में जब कि भारत उस काल में वीरों से रहित और केवल कायरों का निवास-स्थान था।

तीसरे समय १३७५ पर्यन्त केवल हम्मीरदेव के सम्बन्ध में दो कवियों ने कुछ वीरकाव्य रचा। इतनी ही रचना के आधार पर सं० १३७५ तक का पूरा समय वीरगाथाकाल नहीं कहा जा सकता। शुक्ल जी स्वयं तत्कालीन वीरकाव्य के मुख्याधार चन्द और जल्हन का निश्चित अस्तित्व तक नहीं मानते।

सं० ८०० से १३७५ तक पौने छै सौ वर्षों का एक समय मानने से वर्णन-पूर्णता में कमी आ जायगी। इसे वीरगाथाकाल मानने से शुक्ल जी तत्कालीन भारतीयों' में शौर्य के स्वप्न देखते रहे और महमूद ग़ज़नवी तथा शहाबुद्दीन ग़ोरी द्वारा भारतीय पराजय के कोई समुचित कारण न बतला सके। साहित्यिक इतिहास लिखने में देश की दशा पर भी समुचित विचार करना पड़ता है और साहित्य तथा देश की दशा के पारस्परिक आदान-प्रदान पर वर्णन-पूर्णता के लिये गम्भीरता पूर्वक मत-प्रकाशन आवश्यक रहता है। जब शुक्ल जी भारत को वीरों से परिपूर्ण मानते थे, तब और भी आवश्यक था कि पराजय के कारण लिखते। इस प्रकरण में आचार्य चतुरसेन से भी हम मत-भेद रखते हैं। उन्होंने भी कुछ दूसरे रूप में वीरकाल मान कर शुक्ल जी की ही परम्परा को अपनाया है।

पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल १३७५—१७०० सं०) का इतिहास शुक्ल जी ने लिखा ही नहीं, केवल वृक्षों के विवरण को जंगल का वर्णन समझ लिया। ३२५ वर्षों का समय लेने से यहां भी देश-दशा की व्यवस्था बिल्कुल छूट गई, केवल इस काल के पांच साहित्यिक विषयों का विवरण आपने दिया। निर्गुणधारा में सं० १४५१ से १८१८ तक के रचयिताओं के कथन पृष्ठ ६८ से ८० पर्यन्त हैं, सूफ़ी कवियों (सं० १५५०—१८८१) के पृष्ठ ८१–१०० पर्यन्त, रामभक्तिधारा (सं० १५५०—१९९१) के पृष्ठ १००–१३३ में, कृष्णभक्ति (सं० १५३५—१७००) १३४–१९८ में, तथा स्फुट भक्ति (सं० १५७५—१७००) के पृष्ठ १७९–२०० पर। प्रत्येक विषय का विवरण बहुत आगे तक होकर दूसरे विवरण-संवत् फिर पीछे से चलने लगते हैं। ऐसा एक दो नहीं चार चार बार होने से पाठक के चित्त से इतिहास का विचार पूर्णतया

तिरोहित हो जाता है और केवल कथित पांच विषयों के इतिहासों पर ध्यान रहता है, मानों पाठक साहित्यिक इतिहास से असम्बद्ध केवल पांच विषयों का इतिहास पढ़ रहा हो।

यही दशा उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल १७००–१९००) की भी है। यह विवरण ८० प्रतिशत हमारे 'विनोद'से लिया गया है। समग्र काल पर कोई विवरण नहीं है तथा इस काल के कवियों का कोई वर्गीकरण भी नहीं है। आधुनिक काल (गद्यकाल १९००–१९८४) उन्होंने २५–२५ वर्षों के ४ भागों में बांटा है। यह काल-विभाग किसी विशिष्ट दृष्टिकोण से नहीं किया गया। अन्तिम तो नौ ही वर्ष का है। यह स्पष्ट है कि इस काल में समाज, राष्ट्र और साहित्य में बड़ी तेज़ी से क्रान्तियां हुई हैं। शुक्ल जी ने न उन पर विचार किया है न उनका साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा, इसी का विवरण दिया है। फिर भी इस खण्ड में उन्होंने अपना अध्ययन प्रकट अवश्य किया है। ग्रन्थ में जो नवीनतम संशोधन और परिवर्तन हुए हैं, वह सम्भवतः किन्हीं अन्य व्यक्ति के किये हुए हैं। आधुनिक महत्त्वपूर्ण कवियों की चर्चा छूट गई है। बहुतों के साथ अन्याय भी हुआ है। सम्भव है वह जान बूझ कर न किया गया हो। यह दशा शुक्ल जी के उस इतिहास की है जो अब तक सब इतिहासों में श्रेष्ठ, परिपूर्ण और प्रामाणिक कहा गया है। अन्य इतिहासों में न तो आधुनिक काल का परिपूर्ण वर्णन ही है और न विधिवत् काल-विभाग का उपक्रम। अतः उनको पढ़कर हिन्दी साहित्य के साथ पाठक का परिचय तो होता है, पर उसके इतिहास का ज्ञान नहीं हो सकता।

ग्रन्थकार ने जो व्रजभाषा और उसके साहित्य के निर्माण और विकास का सम्पूर्ण श्रेय मुग़ल दर्बार को दिया है वह ठीक ही है। व्रजभाषा-साहित्य का निर्माण व्रजभूमि में (आगरे में) मुग़ल राजधानी स्थापित होने तथा अकबर के हिन्दू-सहयोग की नीति स्वीकार करने ही से हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि उसका उद्गम-स्रोत गोवर्धन (श्रीनाथ के मन्दिर की स्थापना) था। दैवयोग से धर्म और राजनीति के दो केन्द्र (वल्लभाचार्य और अकबर) व्रजभूमि में (गोवर्धन और आगरा में) स्थापित हुए। गोवर्धन से व्रज-साहित्य की धार बही और आगरे में उसे पुष्टि मिली। आरम्भिक व्रज साहित्य कृष्णभक्त वैष्णवों का अवश्य है, पर उसे कभी भी वह रूप प्राप्त न होता यदि अकबर अपनी हिन्दू-सहयोग की नीति को लेकर व्रजभूमि में न आ बैठता। फिर व्रजभाषा का प्रमुख साहित्य भक्तिकालीन नहीं, रीतिकालीन है। उस पर वैष्णव सम्प्रदाय की नहीं मुग़ल विलास की छाप है। वह प्रायः सम्पूर्ण साहित्य या तो मुग़ल दर्बार में, या मुग़ल दर्बार से सम्बन्धित हिन्दू राजाओं के दर्बार में निर्माण किया गया है। इस लिये हम इस बात में आचार्य जी से सहमत हैं कि व्रजभाषा-साहित्य को इतना प्रौढ़ रूप देने का मुख्य श्रेय मुग़ल दर्बार को है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन कि 'सूर और तुलसी ऐसे भक्त कवीश्वरों के प्रादुर्भाव के कारणों में अकबर द्वारा संस्थापित सुख शान्ति को गिनना भारी

भूल है, यह प्रवाह राजाओं के प्रोत्साहन आदि पर निर्भर न था' *—ठीक नहीं। यदि अकबर का शान्ति-राज्य स्थापित न होता और वह हिन्दुओं को समुचित धार्मिक स्वतन्त्रता न प्रदान करता तो निश्चय ही सूर और तुलसी की सम्पदाएं हमें प्राप्त नहीं हो सकती थीं। हम ३०० वर्षों तक निरन्तर पठान राज्यकाल में कवियों और धर्म-नेताओं से वंचित रहे और विक्रमशिला और नालंद के धुरन्धर बौद्ध विद्या-केन्द्रों का विध्वंस और क़त्लेआम देख चुके थे। इतिहास के ज्ञाता जानते हैं कि अलाउद्दीन खिलजी ने किस प्रकार हिन्दुओं को गुलामों के समान अपमानित कर सामूहिक जीवन व्यतीत करने को विवश किया हुआ था। शुक्ल जी कहते हैं—

'इतने भारी राजनैतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की भक्ति और करुणा की ओर ध्यान लेजाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?'*

यदि यह बात सत्य होती तो ५०० वर्षों के असाधारण उत्पीड़न सह कर भारत में एक भी हिन्दू न रह गया होता, और उसकी हालत सीरिया, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान जैसी हो जाती। परन्तु भारत में उस काल में राजनैतिक तथा शेष सामाजिक सत्ताएं एक दूसरी से बहुत कुछ पृथक् और दृढ़ थीं। मुसलमानों ने राजनैतिक सत्ता को अवश्य पराजित किया, परन्तु सामाजिक सत्ता से भिड़ कर पूर्ण पराजय पाई और यह धर्म-युद्ध साढ़े तीन सौ वर्षों में अकबर के समय में हिन्दू समाज की विजय के रूप में समाप्त हुआ।

मरुभाषा जो अपभ्रंश की सब से प्राचीन शाखा है उस पर भी हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने बहुत कम विचार किया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल उसे साहित्यिक भाषा ही नहीं मानते। वे कहते हैं "वह साहित्यिक नहीं। राजस्थानी है," और डा० रामकुमार वर्मा उसे डिंगल भाषा, (?) पुकारते हैं। हिन्दी के अन्य अनेक विद्वान् भी मरु भाषा को हिन्दी नहीं मानते। परन्तु इस सम्बन्ध में हम आचार्य जी से सहमत हैं कि मरु भाषा अपभ्रंश से विकसित सब से प्राचीन हिन्दी है। उसका बड़ा भारी साहित्य है, जो हिन्दी के दूसरे रूपों से हीन नहीं। हिन्दी साहित्यकारों को इस दिशा में बहुत प्रयत्न करने की आवश्यकता है। इस ग्रन्थ में मरुभाषा सम्बन्धी परिचय अन्य सब इतिहास-ग्रन्थों से अधिक है।

हिन्दी के सूफ़ी साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दी इतिहासकार एक प्रकार से भावुक रहे हैं। प्रायः सभी का कहना है कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की चेष्टा के प्रयत्न में ये हिन्दी मसनवी लिखी गई। वे उनमें हिन्दू-धर्म-तत्व देख पाते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के विद्वान् ग्रन्थकार ने जो विचार प्रकाशित किया है, वह सर्वथा नवीन और विचारणीय है। गम्भीर विचार करने पर इन सूफ़ी मुस्लिम फ़क़ीरों की मनस्थिति का पूरा पता लगता है। मलिक मुहम्मद जायसी की काव्य-रचना की प्रायः सभी इतिहासकारों ने

*हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ १६९।

भारी प्रशंसा की है । डा० रामकुमार वर्मा ने तो जायसी की 'पद्मावत' को 'रामचरितमानस' का दर्जा दिया है किन्तु हमारे मत में तुलसी के 'मानस' से इसकी कोई तुलना ही नहीं । डा० रामकुमार वर्मा ने इस कवि पर अपने इतिहास के २० पृष्ठ लिखे हैं । उन्होंने उसमें से वेदान्त-योग, हिन्दी-संस्कृति, आरोह-अवरोह की जैसी मज़ेदार व्याख्या की हैं, उसे पढ़कर तबियत झुंझला उठती है । जायसी और उनके साथी सूफ़ी कवियों की ये मसनवी केवल एक ही बात पर प्रकाश डाल सकती है, वह यह कि १६, १७ और १८वीं शताब्दी में अवधी भाषा का प्रकृत स्वरूप क्या था. इससे अधिक कुछ नहीं।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने अपभ्रंश के प्रारम्भिक स्वरूप का जिस प्रकार गोलमोल और अस्पष्ट वर्णन किया है, उसी प्रकार ब्रजभाषा के विकास और प्रारम्भ की कोई बात स्पष्ट नहीं की । अधिकांश इतिहासकारों ने धर्म-काव्य और सम्प्रदाय-विकास को जो वास्तव में साहित्य के इतिहास की पृष्ठभूमि थी इतिहास का मुख्य विषय बना दिया है, भाषा और साहित्य इसके पीछे घिसटता चला गया है। इस काम में डा० रामकुमार वर्मा सबसे बाज़ी ले गये हैं। उनके हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास को पढ़ने से पता लगता है कि वह साहित्य का इतिहास नहीं लिख रहे हैं, वरन् भारतीय धर्मों का इतिहास लिख रहे हैं ।*

आचार्य जी ने इस अंश पर बहुत भारी श्रम किया है । उन्होंने पहले-पहल अपभ्रंश के बौद्ध, जैन और मुसलमान कवियों को हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रविष्ट किया है, अपभ्रंश को संस्कृत-विच्छिन्न-भाषा निर्णय किया है तथा उस काल के वातावरण पर पूरा प्रकाश डाला है । आठवीं शताब्दी में दक्षिण से आए हुए हिन्दू धर्म को वैदिक आर्य धर्म से पृथक् मान कर उन्होंने एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण स्थापित किया है । हमने इस विषय पर अपने ग्रन्थों में बहुत विवेचना की है । तुलसी और सूर की उन्होंने बहुत उत्तम नए ढंग पर विवेचना की है, सूरदास की रचना की समालोचना भी बढ़िया है । हिन्दी के सूफ़ी कवियों पर उन्होंने सर्वथा नवीन मत स्थिर किया है जिस पर विद्वानों को अवश्य विचार करना चाहिए। पद्मावत के पूर्वार्द्ध को उन्होंने कल्किपुराण के आख्यान पर आधारित बताया है । यह नई खोज है । अब तक लोग वह अंश जायसी की कल्पना ही मानते थे। ब्रजभाषा-साहित्य पर मुग़ल प्रभाव का उनका नया दृष्टिकोण युक्तियुक्त है, तथा रेख्ता या पुरानी खड़ी बोली की हिन्दी के मुसलमान कवियों और उनकी रचनाओं की शृंखला तथा मुग़ल बादशाहों की हिन्दी कविता और हिन्दी साहित्य के प्रति उनका अनुराग-प्रदर्शन प्रशंसनीय है । चतुर्थ खण्ड में आचार्य जी ने हिन्दी पर भाषा-प्रभाव का जो वर्णन किया है उसका दृष्टिकोण प्रशंसनीय है । इसी प्रकार उनकी त्रिविध प्रभावकाल की स्थापना सर्वथा अभिनन्दनीय है । यहां लेखक ने धर्म-साहित्य और राजनीति तीनों की सम्मिलित प्रतिक्रियाओं की ओर हमारा ध्यान खींचा है ।

---

*हिन्दी साहित्य का इतिहास ५२

त्रिविध प्रभाव के समान ही महात्मा गान्धी का सांस्कृतिक प्रभाव भी ऐसा है जिसपर बहुत कम साहित्यजनों ने विचार किया है। इस ग्रन्थ के लेखक ने उनकी तीन प्रतिक्रियाओं की ओर हमारा ध्यान खींचा है, प्रथम—राजनीति और अर्थ-संघर्ष से सर्वसाधारण को परिचित करना और उनके सामूहिक जीवन में उसका सक्रिय प्रवेश करा कर विचारों की राजनीति को लड़ाई की राजनीति बना देना दूसरे दक्षिण में हिन्दी प्रचार करके हिन्दी के माध्यम से पहले सम्पूर्ण दक्षिण को सम्मिलित करना, पीछे उसका उत्तर भारत से एकीकरण कराना, ग्रन्थकार का यह कहने का साहस कि गान्धी जी का यह कार्य वैदिक-काल से लेकर अब तक के सहस्रों वर्ष के इतिहास में सर्वथा अलौकिक है और इससे सम्पूर्ण अखण्ड भारत का जन्म हुआ है, निराधार नहीं। तीसरे भाषा में भावावेश का प्रादुर्भाव गान्धी जी के ही प्रभाव से हुआ।

आचार्य जी ने अपने इस बृहद्ग्रन्थ में अपने और अपने साहित्य के सम्बन्ध में एक शब्द, एक अक्षर भी नहीं लिखा है, यह उनका बड़ा भारी सात्विक त्याग और साहित्यिक शील है। उनके 'दो शब्द' भी उनकी कोमल भावुक संकोचशील वृत्ति का परिचय देते हैं। इस ग्रंथ में उनकी लेखनी का चमत्कार और उनका साहित्यिक व्यक्तित्व स्वयं ही फूट निकला है, उनकी भाषा की बहार और विवेचना की सामर्थ्य सातवें और छठे खण्ड के सिंहावलोकन में, तुलसी सूर और मुग़लकालीन पृष्ठभूमि की स्थापना में, एवं विचारों की प्रौढ़ता का उपसंहार की पंक्तियों में दर्शन किया जा सकता है। उनके मनोरम गद्यकाव्य की छटा नवयुग के छायावादी और रहस्यवादी कवियों के वर्णन में देखी जा सकती है, तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण की गहराई, मुग़लकालीन विवरण, त्रिविध प्रभावकाल की स्थापना, आंग्लप्रभाव, गान्धी-प्रभाव एवं मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध पर विशिष्ट दृष्टि के अध्ययन से प्रकट है। साहित्यकारों को विविध उपाधिभूषित करना तथा रीतिकालीन कवियों का उनका वर्गीकरण स्तुत्य है।

दक्षिण से आये हिन्दू धर्म पर उनकी आलोचना उनकी विलक्षण विश्लेषक शक्ति का परिचय देती है। ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में साहित्य का जो विवेचन उन्होंने किया है, उससे उनकी साहित्य-योग्यता ही का नहीं; भाव-सामर्थ्य का भी पता चलता है।

हम आचार्य जी को ऐसा अनुपम इतिहास रचने पर हार्दिक बधाई देते हैं।

मिश्र भवन, लखनऊ
१०।९।४६

श्यामबिहारी मिश्र
शुकदेवबिहारी मिश्र

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

भाषा और लिपि-विज्ञान

दूसरा खण्ड

साहित्य

तीसरा खण्ड

हिन्दी भाषा और साहित्य का क्रमिक विकास-काल

चतुर्थ खण्ड

आंग्ल प्रभाव काल

पांचवां खण्ड

भारतेन्दु-युग

त्रिविध प्रभावकाल

छठा खण्ड

द्विवेदी युग

सप्तम खण्ड

नव युग

साहित्य और साहित्यकार

साहित्य कला का सबसे विकास है और समाज का मेरुदण्ड। धर्म और राजनीति का वह गुरु है, इसीलिए इसमें ये गुण होने अनिवार्य हैं — एक यह कि वह अनुशासन का प्रतिपालन करे और दूसरे, वह जनता के भावों को ऊँचा करे।

सोमरस जैसे ... घुन अन्न के साथ अन्नों को दूषित करता है, उसी भांति इसने साहित्य को दूषित किया है। उसने साहित्य ने मानव आत्मा का हनन किया। उसी भांति, जैसे विज्ञान ने मानव गुणों को। और यही कारण है कि साहित्य और विज्ञान के इस बीसवीं युग में मानव भौतिक और आधिभौतिक विभूतियों का सर्वोच्च शिखरबिन्दु होने पर भी अपने चिर जीवन में आज सर्वाधिक असहाय और भयभीत है।

साहित्य और विज्ञान ही इसे आध्यात्म पर आधारित कर सकता है, यदि वह अपना लक्ष्य मानवता के भावों को ऊँचा करना बनाये।

मानव विज्ञानी सबसे बड़ी पुकार है। परन्तु साहित्यकार मानव नहीं है, क्योंकि वह भावनाओं का निर्माता है, वास्तव में साहित्यकार महामानव है। इसलिये उसका कोई अपना देश, धर्म, और स्वार्थ नहीं है और न समाज से उसका अपना कोई कर्तव्य नहीं है। उसका काम है निरन्तर अतिमानवों का निर्माण करना और मानव आदर्श के लक्ष्यबिन्दु पर उनको स्थापित करना। वह बदले में ही वह मानवता के चरित्र को ऊँचा करने में समर्थ हो सकता है।

चतुरसेन

प्रथम खंड

भाषा और लिपि-विज्ञान

पहला अध्याय

भाषा-विज्ञान—

विश्व के भिन्न २ देशों की भिन्न २ जातियाँ भिन्न २ भाषाएँ बोलती हैं। ये भाषाएँ काल पाकर बदलती रहती हैं। उनमें विकार और परिवर्तन होते रहते हैं। एक ही भाषा कालान्तर में अनेक भाषाओं और विभाषाओं का रूप धारण कर लेती है। भाषा-विज्ञान के द्वारा हम उपर्युक्त विकारों और परिवर्तनों के कारणों को जान सकते हैं। भाषा में वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविपर्यय और अर्थ-विकार के कार्यों का निरीक्षण करना और उन्हीं के आधार पर सामान्य नियमों की रचना करना भाषाविज्ञान का काम है। भाषा-विज्ञान के द्वारा ही हम यह बात भी जान सकते हैं कि कौन २ भाषाएँ एक ही परिवार की हैं तथा उनकी मूल भाषा क्या है। संज्ञा, क्रिया आदि शब्दभेदों की उत्पत्ति, विभक्तियों का विकास, एक शब्द के अनेक अर्थ आदि के कारण हम भाषाविज्ञान ही के द्वारा जान सकते हैं। भाषाविज्ञान से हम भाषा की उत्पत्ति, बनावट और विकास तथा ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या कर सकते हैं।

साहित्य और व्याकरण से भाषाविज्ञान अमूल्य सहायता लेता है। साहित्य के अध्ययन से शब्दों के सच्चे अर्थ और रूप के इतिहास का परिचय मिलता है और व्याकरण से यह पता लगता है कि भाषा का शुद्ध स्वरूप क्या है।

भूगोल, इतिहास, मनोविज्ञान, लिपिविज्ञान, मानवविज्ञान, पुरातत्त्व आदि भी भाषाविज्ञान के सहायक विषय हैं। देश-भेद से अनेक ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है तथा अनेक नये शब्द भाषा में मिल जाते हैं; जैसे संस्कृत

का 'टवर्ग' आर्य परिवार की अन्य भाषाओं में नहीं है । तथा वैदिक शब्द 'ळ' मराठी, उडिया, राजस्थानी में तो है पर आधुनिक हिन्दी में नहीं है। इसका कारण हम भौगोलिक परिस्थिति के अध्ययन से पा सकते हैं । काल पाकर जो विकार भाषा में हो जाते हैं उनका अर्थ इतिहास से जाना जाता है। वैदिक भाषा कालान्तर में विकार पाकर प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी आदि के रूपान्तरों को पार करती हुई वर्तमान हिन्दी के रूप में परिवर्तित हो गई है। इसका कारण हम इतिहास की सहायता ही से जान सकते हैं । विदेशी प्रभाव से ही भाषाओं में विकार होते हैं । आर्यों से द्रविड़ों का सम्बन्ध होने से संस्कृत ने प्राकृत रूप पाया । अपभ्रंश के देशव्यापी भाषा होने का कारण आभीरों की राजनैतिक प्रभुता थी । पुरानी हिन्दी में अरबी फ़ारसी की प्रधानता मुसलमानी विजय के कारण है। आजकल की हिन्दी में पुर्तगाली, फ्रेञ्च, अंग्रेज़ी और लैटिन शब्दों का मिश्रण यूरोप के संसर्ग का फल है। इन सब बातों को हम इतिहास-ज्ञान की सहायता ही से जान सकते हैं ।

भाषा के भावात्मक अंगों का अनुशीलन करने के लिये मनोविज्ञान की प्रक्रिया अत्यन्त आवश्यक है। मनोविज्ञान द्वारा ही हम यह जान सकते हैं कि यद्यपि प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है पर शब्द-बोध वाक्य ही से होता है ।

अन्य भाषाओं से उद्धृत शब्दों के प्रत्यक्षरीकरण को शुद्ध पढ़ने के लिये लिपिविज्ञान की सहायता आवश्यक है । प्राचीन शिला-लेखों, ताम्रपत्रों और पुरातत्त्व के अन्वेषणों से भी भाषाविज्ञान को बहुत सहायता मिलती है ।

भाषा—

विचार की अभिव्यक्ति के लिये व्यक्त ध्वनि-संकेतों के व्यवहार को 'भाषा' कहते हैं ।

भाषा एक सामाजिक क्रिया है। वह किसी व्यक्ति की कृति नहीं है। मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और सम्मति का आदान-प्रदान करने के लिये जो ध्वनि-संकेत व्यक्त किये जाते हैं उसी को भाषा कहते हैं। मनुष्य समाज-प्रिय प्राणी है। वह कभी अकेला नहीं रह सकता। उसे सहयोग और विनिमय की अत्यन्त आवश्यकता है। यह आवश्यकता वह भाषा के द्वारा पूरी करता है। भाषा ही सामाजिक सहयोग का सब से भारी साधन है। विकसित होने पर भाषा विचार और अभिव्यक्ति का साधन हो जाती है।

भाषा के अंगोपाङ्ग—

भाषा का निर्माण वर्ण के द्वारा हुआ है। वर्ण ही भाषा का प्रधान अंग है। व्यक्त-ध्वनियों ही से वर्ण बने हैं, परन्तु भाषा के और उपाङ्ग भी हैं।

संकेत भाषा का एक उपाङ्ग है। अनपढ़ और गूंगे लोग संकेतों ही से बहुत सी बातें कर लेते हैं। भिन्न २ भाषा-भाषी परस्पर मिलने पर बहुधा संकेत से बातें करते हैं।

मुख-विकृति भाषा का दूसरा उपाङ्ग है। क्रोध, घृणा, विरक्ति, प्रेम, भय और वात्सल्य के भाव मुख पर आकर भाषा का कार्य करते हैं। मुखाकृति के इन भावों से ही बिना एक शब्द बोले, दूसरे व्यक्ति के मन की बात प्रकट हो जाती हैं।

लहजा अर्थात् कहने का ढंग भी भाषा का उपाङ्ग है। कड़ी आवाज़, 'भरे स्वर, भर्राया गला, गद्‌गद् वाणी से जो स्वर-विकार होता है वह भी भाषा का एक अंग है।

उच्चारण वेग भी भाषा का उपाङ्ग है। किसी शब्द पर ख़ास प्रकार का ज़ोर देने और किसी को खींचकर बोलने से भावों का प्रकटीकरण होता है। किसी लेखक के भाव का तब तक सच्चा और पूरा अभिप्राय हम नहीं समझ सकते जब तक कि हम उसके प्रत्येक वाक्य के लहजे, और प्रवाह तथा प्रत्येक शब्द और अक्षर के स्वर और बलका अनुमान न करलें। किसी भी भाषा की वर्ण-माला इतनी परिपूर्ण नहीं है कि वह केवल ध्वनि के द्वारा वक्ता के सम्पूर्ण भावों को प्रकट कर दे। इस लिये भाषा के इन उपाङ्गों द्वारा ही हमें भाषा को सम्पूर्ण करना पड़ता है।

भाषा और विभाषा—

भाषा-विज्ञान के विद्वानों ने समस्त संसार की भाषाओं का कुछ परिवारों में विभाग किया है। एक एक परिवार में कुछ भाषा वर्ग होते हैं। एक एक वर्ग में अनेक सजातीय भाषाएँ रहती हैं। एक एक भाषा में अनेक विभाषाएँ होती हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल में भारतवर्ष में जो भाषा और विभाषाएँ प्रचलित थीं उनका साहित्यिक रूप ऋग्वेद में हमें मिलता है। उन्हीं विभाषाओं में से एक को मध्यदेश के विद्वानों ने संस्कृत का रूप दे दिया और वही भारतवर्ष

की राष्ट्रभाषा बन गई। बाद में द्रविड़ और बौद्धों के उत्थान और सहयोग से प्राकृत, अपभ्रंश, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री, पैशाची, आदि विभाषाओं का निर्माण होने लगा। बौद्ध विद्वानों और राजाओं के काल में मागधी उत्तर भारत की राष्ट्रभाषा के स्थानापन्न हो गई। इस भाषा का साहित्यिक रूप हमें त्रिपिटकों और पाली ग्रन्थों में मिलता है। शौरसेनी, प्राकृत और अपभ्रंश ने भी उत्तर भारत में काफ़ी प्रभुत्त्व स्थापित किया। आभीर राजाओं के उत्थान के साथ अपभ्रंश को भाषा का पद मिला। अन्त में मेरठ और दिल्ली की विभाषाओं ने सब को आधीन करके खड़ी बोली, हिन्दी या हिन्दुस्तानी के नाम से भारत की राष्ट्रभाषा का रूप ग्रहण कर लिया। व्रज भाषा और अवधी भाषा जैसी साहित्यिक भाषाएँ जिनके जोड़ का साहित्य अभी तक उसमें निर्माण नहीं हुआ आज उसकी विभाषाएँ कही जाती हैं। विचारणीय बात यह है कि जो विभाषा भाषा बन जाती है वह केवल अपने जन्म प्रान्त में ही सीमित नहीं रहती अपितु राजनैतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक कारणों से वह अधिक विस्तृत और बहुजन सम्मानित हो जाती है।

किसी भाषा और उसकी विभाषाओं में चाहे जितना अधिक भेद हो फिर भी उनमें समानता रहती है और एक ही भाषा की भिन्न २ विभाषाओं के बोलने वाले एक दूसरे को समझ लेते हैं। शब्द-कोष की समानता—काल-रचना—कारक रचना, तथा ध्वनि-विज्ञान हमें सहज ही में बता देता है कि ये भिन्न २ विभाषाएँ एक ही भाषा से सम्बन्धित हैं। साहित्य का भाव अथवा अभाव भाषा और विभाषा में कोई भेद नहीं उत्पन्न करता, क्योंकि साहित्य-रचना तो भाषा और विभाषा दोनों ही में होती रहती है।

भाषा का विश्लेषण—

भाषा का अन्त्यावयव शब्द है। इस लिये शब्द का विश्लेषण ही भाषा का विश्लेषण है। शब्द, अर्थ और भाव दोनों का प्रतिबिम्ब है। यों तो शब्द एक सार्थक ध्वनि है, परन्तु एक शब्द दूसरे शब्द से सम्बन्धित है, इसलिये शब्द वाक्य का अवयव भी है। वाक्य में शब्द का त्रिविध विवेचन होता है। कभी ध्वनिमात्र, कभी रूपमात्र, कभी अर्थमात्र। ध्वनि समूह शब्द के उच्चारण से सम्बन्धित है, अर्थसमूह शब्द के अर्थ और भाव का विषय होता है। रूपसमूह शब्द के दो अर्थों के सम्बन्ध को प्रकट करने वाला होता है। तथा रूप रचना के साधन उपस्थित करता है। भाषा का अध्ययन इन्हीं तीन पद्धतियों पर होता है।

भाषा नित्य और परंपरागत है—

भाषण की क्रिया क्षणिक और आर्थिक है, परन्तु भाषा नित्य और परम्परागत है। वह परिवर्तित तो होती रहती है परन्तु वह स्थायी और नित्य है। हमने पहिले बताया है कि भाषा पारस्परिक भावों और विचारों के विनिमय का माध्यम है। इसी कारण वह एक सामाजिक स्थायी संस्था है। मनुष्यों का व्यक्तित्त्व भाषा में कुछ विकार तो उत्पन्न करता है पर उसका एकता का सूत्र सदा अविच्छिन्न रहता है। फिर भी भाषा कुलक्रमागत वस्तु नहीं है। और यह नहीं कहा जा सकता कि वह एक किसी जाति का लक्षण है। भाषा भी अन्य कलाओं की भांति सीखी जाती है। कोई बालक अपनी मातृभाषा के समान ही कोई भी दूसरी भाषा सीख सकता है। फिर भी भाषा अर्जित सम्पत्ति होते हुए भी व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। एक व्यक्ति उसे सीख सकता है, उत्पन्न नहीं कर सकता। भाषा के उत्पन्न करने का काम समाज का है।

भाषा की उत्पत्ति—

अब यह विचारना है कि भाषा उत्पन्न कैसे होती है। यह तो सत्य है कि वह पूर्वजों की परम्परा से हमें प्राप्त होती है। भाषा को समझने के लिये वक्ता और श्रोता दोनों को यह जानने की आवश्यकता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ से सम्बंध है। भाषा किसी व्यक्ति के आगे सम्बन्धों और संसर्गों के ही रूप में आती है। संसर्गों के ज्ञान से ही भाषा सीखी जा सकती है। भाषा की उत्पत्ति समझने के लिये यह समझना आवश्यक है कि किसी शब्द का किसी अर्थ से सम्बन्ध प्रारम्भ में कैसे हुआ। विद्वानों ने विचार किया है कि पहिले मूर्त पदार्थों के और विशेष व्यक्तियों के नाम बनते हैं। फिर धीरे २ जातिवाचक और भाववाचक नामों का विकास होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदिम अवस्था में भाषा की ध्वनि सम्पत्ति विशेष थी। असभ्य भाषाओं के अध्ययन से पता लगता है कि प्रारम्भिक काल में शब्द, ध्वनि और अर्थ दोनों में इतने जटिल होते थे कि वाक्य और शब्द में भेद करना ही कठिन हो जाता था। शब्द भंडार की दृष्टि से आदिकालीन भाषा अधिक सम्पन्न थी। पर अमूर्त पदार्थों के लिये शब्दों का वहां अभाव था। मालूम होता है कि पहिले एक ध्वनि बहुत कुछ एक वाक्य का काम देती थी। पीछे वाक्य के अवयव अलग होते २ शब्द और वर्ण के रूप में आ गये।

अध्याय दूसरा

भारतीय भाषाएँ

भारतीय भाषाओं का महत्त्व—

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भारतीय भाषाओं का बहुत भारी महत्त्व है। भारतवर्ष एक महादेश है। उसमें पांच से अधिक आर्य अनार्य परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। दक्षिण आंध्र, कर्णाटक, केरल और तामिलनाड तथा आधे सिंहल में सभ्य द्रविड़ भाषाएँ तथा भारत के अन्य भागों में आर्य भाषाएँ बोली जाती हैं। आन्ध्र, उड़ीसा, विहार, चेदि-कोशल, राजस्थान और महाराष्ट्र के सीमान्त पर वन्य प्रदेशों में और सिन्ध की सीमा के पार कलात में भी कुछ अपभ्रंश द्रविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं। इनके सिवा हिमालय और विन्ध्यमेखला के इधर उधर विभिन्न बोलियाँ भी बोली जाती हैं।

द्रविड़-भाषा-परिवार—

द्रविड़ भाषाओं का एक मात्र अभिजन दक्षिण भारत है। वर्तमान द्रविड़ भाषाएँ चार वर्गों में बांटी जा सकती हैं। १. द्रविड़ वर्ग, २. आन्ध्र वर्ग, ३. मध्यवर्ती वर्ग और ४. बहिरंग वर्ग।

इन चारों वर्गों का जिन २ विभाषाओं से सम्बन्ध है वह हम नीचे के वृक्ष में देते हैं।

(२) द्रविड़-भाषा-परिवार

- १ द्रविड़ वर्ग
  - १ तामिल
  - २ कनाड़ी
  - ३ मलयालम
  - ४ तुलु
  - ५ कोडगू
- २ आन्ध्र वर्ग
  - तेलगू (या आन्ध्र भाषा)
- ३ मध्यवर्ती वर्ग
  - १ गोंडी
  - २ कुई
  - ३ कुरुख
  - ४ मल्तो
  - ५ मुण्डारी
  - ६ कोलामी
  - ७ भीली
- ४ बहिरंग वर्ग
  - १ ब्राहुई
  - २ सिन्धी
  - ३ द्रविड़

द्रविड़ वर्ग—

इस वर्ग की भाषाओं में तामिल सर्वाधिक उन्नत और परिष्कृत भाषा है। उसका साहित्य भी बहुत उत्कृष्ट एवं विस्तृत है। ८ वीं शताब्दी से आज तक १२ सौ वर्ष में तामिल विद्वानों ने इस भाषा के भण्डार को भरा है, और वह बंगला, हिन्दी, मराठी आदि भारत की प्रमुख साहित्यिक भाषाओं की बराबरी की भाषा है। तामिल भाषा की विभाषाओं में परस्पर अधिक भेद नहीं है। चलती भाषा के दो रूप हैं। एक काव्य जिसे 'शेन (पूर्ण) कहते हैं, दूसरी बोलचाल की भाषा, जिसे कोडुन (गँवारू) कहते हैं।

मलयालम, तामिल की बड़ी बेटी कहाती है। वह नवीं शताब्दी में तामिल से अलग हुई और आज भारत के दक्षिण पश्चिम समुद्र-तट पर वही बोली जाती है। वह ब्राह्मणों की भाषा है, इस से अधिक संस्कृत प्रधान हो गई है। मोपले लोग जिस मलयालम भाषा को बोलते हैं, वह आर्य संस्कृति से कुछ दूर है। इस भाषा के साहित्य की श्रीवृद्धि और विकास त्रावणकोर और कोचीन के राजाओं की छत्रछाया में खूब हो रहा है।

'कनाडी' मैसूर की भाषा है। उस में अच्छा साहित्य है। उस की काव्य भाषा प्राचीन और 'आर्ष' है। उसका अधिक सम्बन्ध तामिल से है पर लिपि तैलगू से अधिक मिलती है।

तुलु, या टुलु, बहुत छोटे क्षेत्र में बोली जाती है। यद्यपि उस में साहित्य का अभाव है, परन्तु वह उन्नति और विकास की दृष्टि से उच्च भाषा मानी गई है। 'कोडगू' कनाडी और तुलु के बीच की भाषा है। भौगोलिक दृष्टि से भी वह दोनों के बीच में पड़ती है। 'टोडा' और 'कोटा' नीलगिरि के जँगलियों की बोलियाँ हैं, जो बहुत कम आदमी बोलते हैं।

आन्ध्रवर्ग—

आंध्रवर्ग की केवल एक ही भाषा है जो तैलगू कहाती है। बोलियाँ निःसन्देह अनेक हैं। यह भाषा दक्षिण-पूर्व के विशाल क्षेत्र में बोली जाती है। इस में कोई विभाषा नहीं है। केवल बोलने में थोड़ी विकृति होने से अन्तर है। दक्षिण भारत में तैलगू का व्यवहार तामिल से भी अधिक है। उत्तर में चांदा तक, पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक, और पश्चिम में निजाम राज्य के आधे भाग तक उसका विस्तार है। मुस्लिम संस्कृति में देश के इसी भाग को तिलंगाना कहते हैं, और यह संस्कृत ग्रन्थों का देश है। मैसूर में इसी भाषा का प्रचार है। बम्बई

और मध्य प्रदेश में इस के बोलने वाले बहुत हैं। संख्या की दृष्टि से द्रविड़ परिवार में यही सर्व-प्रधान भाषा है। हां, संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से तामिल से दूसरे नम्बर पर है। परन्तु आज कल इसका साहित्य तामिल से अधिक विकसित हो रहा है। इस भाषा का साहित्य १८वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं है। इस भाषा में संस्कृत का बहुत प्रयोग होता है। इसका स्वर-माधुर्य भी अनुपम है। इस भाषा के सभी शब्द स्वरान्त होते हैं। व्यंजन पदान्त में नहीं आता।

मध्यवर्ती वर्ग—

इस वर्ग में सब से प्रसिद्ध 'गोंडी, भाषा है। इसका अधिक साम्य अपनी पड़ोसिन तैलगू की अपेक्षा द्रविड़ वर्ग की भाषाओं से अधिक है। इसे बोलने वाले गोंड लोग, आन्ध्र, उड़ीसा, बुन्देलखण्ड, छत्तीसगढ़ और मालव सीमान्त पर रहते हैं। गोंड एक इतिहास-प्रसिद्ध जाति है, पर उसकी भाषा कभी उन्नत नहीं हुई। न उस में साहित्य-रचना हुई। उत्तराखण्ड से प्रभावित प्रान्तों में गोंड भाषा हिन्दी से मिश्रित रूप में बोली जाती है।

उड़ीसा में इसी वर्ग की 'वुई' भाषा बोली जाती है। इसका तैलगू से साम्य है। इसके क्रियारूप बड़े सरल होते हैं। इसके बोलने वाले सब जँगली हैं जिन्हें उड़िया लोग कान्धी कहते हैं। ये लोग कहीं २ नरबलि भी देते हैं। छत्तीसगढ़ और छोटानागपुर में कुरुख लोग रहते हैं। इनकी बोली कुरुख कर्नाटकी से अधिक सम्बन्धित है। इस बोली में कई उपबोलियाँ भी हैं। गंगातट पर राजमहल की पहाड़ियों पर रहने वाली मल्लो जाति की बोली 'मल्लो' है, जो कुरुख की ही शाखा है। अब इस भाषा में हिन्दी भाषा का प्रभाव होता जाता है। रांची के पास कुछ कुरुख लोग मुण्डारी का अधिक प्रयोग करने लगे हैं। 'कोलामी' बोली भी पश्चिमी बरार में बोली जाती है, उसका तैलगू से अधिक साम्य है पर उस में भी हिन्दी भाषा का प्रभाव बढ़ रहा है।

ब्राहुई वर्ग—

सुदूर कलात में ब्राहुई एक जाति बसती है, जिन में से बहुत से तो सिन्धी और बलूची भाषा बोलते हैं पर उनकी असल भाषा 'ब्राहुई' है। यहां के स्त्री पुरुष प्रायः दुभाषिये होते हैं। एक ब्राहुई बोलता है, दूसरा सिन्धी। बहुधा भाषा मिल कर खिचड़ी हो गई है।

द्रविड़-भाषा-परिवार की खास बातें—

द्रविड़-भाषा-परिवार की भाषाओं में प्रत्यय-संयोग प्रधान होता है। तथा अनेकाक्षर शब्द होते हैं। उनके रूप सरल होते हैं। व्याकरण की दृष्टि से निर्जीव पदार्थ नपुंसक लिंग माने जाते हैं। अन्य शब्दों में पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग जोड़ा जाता है परन्तु यह लिङ्ग-भेद केवल अन्य पुरुष के सर्वनामों ही में पाया जाता है। नपुंसक संज्ञाओं का प्रायः बहुवचन नहीं होता। विभक्तियों के लिये पर सर्गों का प्रयोग होता है। विशेषणों में विभक्ति होती ही नहीं। उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो रूप होते हैं जिन में एक में श्रोता-वक्ता दोनों अन्तर्भूत होते हैं। कर्मवाच्य नहीं होता।

आर्य-भाषा-परिवार—

आर्य-भाषा-परिवार की तीन शाखाएँ मुख्य हैं। १—ईरानी २—दरद ३—भारतीय। इनका वर्गीकरण पृष्ठ १० की सारिणी में प्रकट है।

ईरानी भाषाएँ भारत में नहीं बोली जातीं। परन्तु भारत के शिष्ट मुसलमान जिस उर्दू का साहित्यिक व्यवहार करते हैं वह फ़ारसी शब्दों से मिश्रित रहती है। मुग़ल काल में फ़ारसी ही भारत की राजभाषा थी। और अब अंग्रेज़ी राज्य में जो उर्दू अदालती रूप में प्रचलित है उस में अभी तक मुग़ल परिपाटी के प्रभाव के कारण फारसी शब्दों तथा मुहावरों का बाहुल्य है।

पूर्वी ईरान की 'बलूची' बलूचिस्तान में और पश्चिमी सिंध में बोली जाती है— ईरानी भाषाओं में बलूची भाषा अधिक आर्ष और प्राचीन मानी जाती है। उस में अरबी फारसी का भी बहुत मेल हुआ है, पर साहित्य नहीं के बराबर है।

'वर्गिस्ता, अफ़ग़ानिस्तान के केन्द्र में और अफ़ग़ान या पश्तो सर्वत्र अफ़ग़ानिस्तान में बोली जाती है। भारत का सम्बन्ध पश्तो से अधिक है। यह एक कर्कश भाषा है पर खूब शक्तिशालिनी है। इस भाषा के शब्द और रचना दोनों पर भारतीय भाषाओं का प्रभाव है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि वैदिक काल से लेकर अँग्रेज़ी राज्य आने से पूर्व तक अफ़ग़ानिस्तान भारत का ही एक अंग रहा है। ग़ल्चा पामीर की भाषा है। उस में कोई साहित्य नहीं है। पर वह प्राचीन भाषा है। यास्क, पाणिनि और पतंजलि ने जिस काम्बोज भाषा का उल्लेख किया है, वह यही ग़ल्चा है।

- १. ईरानी
  - पश्चिमी-ईरान —————— फारसी
  - पूर्वीईरान
    - अफ़ग़ानिस्तान
    - बलूची वर्ग
      - बलूची
      - वर्गिस्ता
      - अफ़ग़ान (पश्तो)
    - गालचा (पामीर की भाषाएँ)
- २. दरद (पिशाच वर्ग)
  - काफ़िर वर्ग
  - खावार वर्ग
  - दरद वर्ग
    - शीना
    - काश्मीरी
    - कोहिस्तानी
- भारतीय आर्य भाषा-वर्ग
  - जिप्सी भाषाएँ (आर्मेनिया-और योरूप में)
  - बहिरंग भाषाएँ
    - पश्चिमोत्तर वर्ग
      - १ लहँदा
      - २सिन्धी
    - दक्षिण वर्ग
      - ३ मराठी
      - ४ सिंघली
    -
      - ५ उड़िया
      - ६ बिहारी
      - ७ बंगाली
      - ८ आसामी
  - मध्यवर्ती भाषाएँ —————— पूर्वी हिन्दी
  - अंतरंग भाषाएँ
    - केन्द्रीयवर्ग
      - शुद्ध
        - १० पश्चिमी हिन्दी
        - ११ राजस्थानी
        - १२ भीली-खानदेशी
      - आरोपित
        - १३ गुजराती
        - १४ पंजाबी
    - पहाड़ी अथवा हिमालयी वर्ग
      - १५ नेपाली पूर्व
      - १६ केन्द्रीय पच्छिमी
      - १७ पच्छिमी पहाड़ी

पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच दरदिस्तान है। वहां की भाषा दरद कहाती है। संस्कृत साहित्य में 'दरद' नाम सुपरिचित है। लहँदा, सिन्धी, पंजाबी और कोंकणी मराठी पर इस भाषा का काफ़ी प्रभाव है। यही 'दरद' पैशाची भाषा कहलाती थी। पैशाची भाषा ही में गुणाढ्य कवि ने बृहत्कथा लिखी थी, जिसका एक खण्डित भाग संस्कृत में कथासरित्सागर के नाम से सोमदेव पण्डित ने लिखा था। सम्भवतः कभी पैशाची भाषा और पिशाच जातिका भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हो। इस भाषा के अनेक भेद हैं। काश्मीर और उसके आसपास की भाषा का इसी भाषा से मूल सम्बन्ध है। वास्तव में काश्मीरी ही पैशाची भाषा का वह रूप है जिस में साहित्य है।

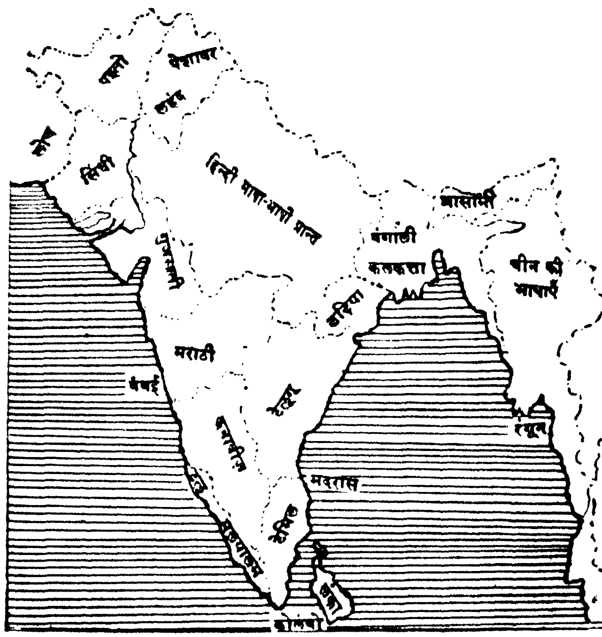
जिप्सी भाषाएँ अब भारत में कहीं नहीं बोली जातीं। इतिहास से पता लगता है कि ये जातियां मसीह की पांचवीं शताब्दी ही में भारत से बाहर चली गई थीं। जो भाषाएँ आजकल भारतवर्ष में बोली जाती हैं हमने सारिणी में उनके तीन वर्ग दिखलाए हैं। यह वर्गीकरण डा० ग्रियर्सन साहेब का किया हुआ है। इन में लगभग १७ करोड़ आदमी बहिरंग भाषाएँ, ३ करोड़ मध्यवर्ती भाषा और १० करोड़ अंतरंग भाषाएँ बोलते हैं। इस प्रकार कुल प्रधान १७ भाषाएँ हैं जिनको ६ वर्ग और ३ उपशाखाओं में वर्गीकरण किया गया है।

हिन्दी—

इस वर्गीकरण में जिसे 'पश्चिमी हिन्दी' नाम दिया गया है वही आज राष्ट्रभाषा का स्थान ग्रहण कर अधिकाधिक विस्तृत हो रही है। वही हमारा मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसलिये उसके सम्बन्ध में यहां विवेचन करेंगे। कुछ लोगों का कथन है कि सिन्धु, सिन्ध और सिन्धी शब्दों ही के दूसरे रूप हिन्दु, हिन्द और हिन्दी हैं। परन्तु आज हम जानते हैं कि सिन्धु एक नदी है, सिन्ध एक प्रदेश और सिन्धी वहां के निवासी हैं। हिन्दु, हिन्द और हिन्दी शब्द फ़ारसी से आये हैं और इनका अर्थ बिल्कुल ही जुदा है। हिन्दु एक जाति, हिन्द भारतवर्ष और हिन्दी एक भाषा का नाम है।

निस्संदेह 'हिन्दी या हिन्दवी' शब्द फ़ारसी का है, और इसका अर्थ होता है, हिन्द का। इसी कारण फ़ारसी ग्रन्थों में यह शब्द भारतवासियों तथा उनकी भाषा दोनों ही अर्थों में व्यवहृत हुआ है। पंजाब के देहाती आज भी अपने को 'हिन्दी' (भारतवर्ष का निवासी) कहते हैं। इस प्रकार यद्यपि शब्दार्थ की दृष्टि से हिन्दी शब्द भारत में बोली जाने वाली किसी भी भाषा के लिये

प्रयोग में लाया जा सकता है किन्तु उसका व्यवहार एक विशेष भाषा के लिये होता है, जो भारत के एक बड़े भूभाग की मुख्य भाषा है, जिसकी पश्चिमी सीमा जैसलमेर, उत्तर पश्चिम अम्बाला, उत्तर शिमला से नेपालपर्यंत के पूर्वी छोर तक के प्रदेश, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण पूर्व में रायपुर, तथा दक्षिण पश्चिम में खण्डवा हैं। जैसा कि इस मानचित्र में प्रकट है।



साहित्य—

इस विशाल जन-क्षेत्र के निवासियों की बोल-चाल, शिक्षा-दीक्षा सब हिन्दी भाषा के द्वारा सम्पादित होती है। इसके बोलने वालों की संख्या ११ करोड़ के लगभग है। परन्तु यह हिन्दी का प्रचलित अर्थ है। भाषा शास्त्र की दृष्टि से इस हिन्दी भूखण्ड के चार विभाग किये जा सकते हैं। १. राजस्थानी, २. बिहारी, ३. पहाड़ी, ४. पूर्वी हिन्दी। इस प्रकार इन विभागों को पृथक् करके हिन्दी केवल अन्तर्वेद की भाषा रह जाती है। जिसका केन्द्र यदि आगरा माना जाय तो उत्तर में हिमालय की तराई, पच्छिम में दिल्ली, पूर्व में कानपुर, दक्षिण में नर्मदा की घाटी ही सीमा रह जाती है।

कुछ लोग पूर्वी हिन्दी और पच्छिमी हिन्दी को हिन्दी का भेदमात्र मानते हैं। पर वास्तव में पच्छिमी हिन्दी ही हिन्दी है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से पूर्वी हिन्दी पच्छिमी हिन्दी से पृथक् भाषा है। हिन्दी शौरसेनी वंश की है और पूर्वी हिन्दी अर्धमागधी-वंशजा है। वास्तव में हिन्दी के शास्त्रीय अर्थ हैं, पच्छिमी हिन्दी। व्रज, कन्नौजी, बुंदेली, बांगरू और हिन्दुस्तानी हिन्दी की विभाषाएँ हैं। अवधी और छत्तीसगढ़ी नहीं।

खड़ी बोली—

हिन्दी को खड़ी बोली भी कहते हैं। उसकी पूर्वोक्त पांच विभाषाएँ हैं। वही भारत की राष्ट्रभाषा कहाती है। यह वास्तव में दिल्ली मेरठ की प्रचलित भाषा है। रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मुज़फ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला तथा पटियाला रियासतों में भी थोड़े प्रान्तीय उच्चारण भेदों से यही भाषा बोली जाती है। इसके बोलनेवालों की संख्या ६० लाख के लगभग है। इसमें अरबी फ़ारसी के तद्भव और अर्धतत्सम शब्द मिश्रित हैं। इसका उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश में पंजाबी भाषा के मिश्रण से हुआ है।

जहाँ अवध, व्रजभाषा, बुन्देलखण्डी आदि भाषाओं का नाम प्रान्तों से सम्बन्धित है, वहाँ 'खड़ी बोली' यह नाम किसी प्रान्त या प्रदेश से सम्बन्धित नहीं है। हिन्दी साहित्य में सबसे पहिले यह नाम लल्लू जी लाल ने प्रयोग में लिया है। प्रारम्भ में मुसलमानों ने जब इसे अपनाया था तब उसका नाम 'रेखता' पड़ा था। 'रेखता' का अर्थ है गिरता पड़ता। सम्भव है इसी अर्थ के विरोध में 'खड़ी बोली' नाम दिया गया हो।

जो हो, यही खड़ी बोली, हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी तीनों की माता है। वास्तव में 'खड़ी बोली' ही जब अपनी बोलचाल की भाषा में व्यवहृत होती है तब वह 'हिन्दुस्तानी' कहाती है, और जब साहित्यिक रूप धारण करती है तब 'हिन्दी' और 'उर्दू' नाम धारण करती है। जिस भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्द्ध तत्सम शब्द अधिक होते हैं वही हिन्दी कहाती है। अब इसका साहित्यिक अथवा राजनैतिक नाम 'राष्ट्रभाषा' प्रसिद्ध हो रहा है।

उर्दू—

यही खड़ी बोली जब फारसी के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों से परिपूर्ण होती है तब उसका उर्दू नाम पड़ता है। इन शब्दों की बहुतायत से कभी २ उसकी वाक्यरचना भी विदेशी हो जाती है। यह भाषा भारत के मुसल्मानों

की साहित्यिक भाषा है । परन्तु इस उर्दू के दो रूप मिलते हैं। एक वह उर्दू है जो दिल्ली और लखनऊ में व्यवहृत होती है, यह तत्सम बहुला कठिन उर्दू है पर दक्खिनी उर्दू जो हैदराबाद में बोली जाती है वह सरल है । कारण स्पष्ट है पहिली भाषा फ़ारसी के आधार पर विकसित है और दूसरी भारतीय परंपरा में विकसित हुई है ।

हिन्दुस्तानी—

यह ठेठ बोलचाल की हिन्दी है । आज जब कि हिन्दी उर्दू में खींचातानी बढ रही है, इस ठेठ बोलचाल की भाषा में ही साहित्य निर्माण हो और यही राष्ट्र-भाषा का स्थान ग्रहण करे यह नई भावना उत्पन्न हो रही है । इसमें तत्सम शब्दों का व्यवहार कम होता है पर नित्य के व्यवहार के शब्द देशी-विदेशी सभी काम में आते हैं । संस्कृत, फ़ारसी और अरबी के अलावा अंग्रेज़ी शब्दों का भी इस भाषा में मिश्रण हो गया है । इस प्रकार हिन्दुस्तानी वह भाषा है जो पुरानी हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के मिश्रण से विकसित हो रही है । यद्यपि अभी इस भाषा में बहुत कम साहित्य है तथापि इस भाषा को साहित्यिक भाषा बनाने की चेष्टा की जा रही है । अभी यह भाषा बोलचाल की भाषा या 'बोली' ही है और उसकी उत्पत्ति का कारण विचार-विनिमय ही है । वास्तव में इस नाम के जन्मदाता अंग्रेज अफ़सर हैं । यह भाषा प्रारम्भ में अंग्रेजों के द्वारा उच्चारित भाषा ही थी । यह वास्तव में हिन्दी और उर्दू दोनों का बोलचाल का रूप है, इसलिये हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी वास्तव में खड़ी बोली ही के तीन रूप हैं ।

खड़ी बोली की विभाषाएँ—

हमने बताया है कि खड़ी बोली की ५ विभाषाएँ हैं । ब्रजभाषा उनमें मुख्य है । यह ब्रजमण्डल में बोली जाती है । इसका विशुद्ध रूप मथुरा, आगरा, अलीगढ तथा धौलपुर में आज भी प्रचलित है । इसके बोलने वालों की संख्या १ करोड़ से कुछ ही कम है । इस भाषा में हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट साहित्य है ।

'बाँगरू' पंजाब के दक्षिणपूर्वी भाग की बोली है । दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा, जींद आदि प्रान्तों की यही ग्रामीण बोली है । यह बोली—पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी बोली तीनों की खिचड़ी बोली है । इस भाषा के बोलने वाले २५ लाख के लगभग हैं । पानीपत और कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र इसी भाषा की सीमा के भीतर हैं ।

गंगा के दुआब की बोली को कन्नौजी कहते हैं। उसमें भी काफ़ी साहित्य है, पर वह व्रजभाषा से मिलता जुलता है। वास्तव में साहित्यिक कन्नौजी और व्रजभाषा में बहुत साम्य है।

'बुन्देली' बुन्देलखण्ड की भाषा है। झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी और हुशंगाबाद के इलाकों में यह भाषा बोली जाती है। इसके कुछ मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट और छिन्दवाड़ा के कुछ भागों में पाये जाते हैं। इस भाषा के बोलने वाले ७० लाख आदमी हैं। इस भाषा में भी अच्छी साहित्य-रचना हुई है। पर उसकी भी साहित्यिक भाषा व्रजभाषा से बहुत कुछ निकट है। वास्तव में बुन्देली-भाषा-भाषी कवियों ने कविता व्रजभाषा में ही की है सिर्फ उस पर बुन्देली की छाप पड़ गई है।

मध्यवर्ती भाषाएँ, मध्यदेशीय भाषा और बहिरंग भाषाओं के बीच की भाषा है। मध्य देश के पश्चिम की भाषाओं में मध्यदेशी चिह्न अधिक मिलते हैं। परन्तु पूर्वी प्रान्तों की भाषा में बाहरी शब्द इतने मिल गये हैं कि वह बहिरंग की भाषा ही बन गई है। ये भाषाएँ सात हैं—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, केन्द्रीय पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी और पूर्वी हिन्दी। साहित्यिक दृष्टि से ये सब हिन्दी की विभाषाएँ हैं। परन्तु भाषा शास्त्र की दृष्टि से इन्हें स्वतन्त्र भाषा कह सकते हैं।

पंजाबी पूरे पंजाब की भाषा है। पर भाषा-शास्त्री पश्चिमी पंजाब की भाषा को लहँदा कहते हैं। अमृतसर के आसपास की भाषा शुद्ध पंजाबी कहाती है। जम्मूँ और काँगड़े में जो पंजाबी बोली जाती है वह डोगरी कहाती है। इस भाषा में थोड़ा साहित्य है। इस में वैदिक अथवा तिब्बत चीनी भाषा के समान स्वर पाये जाते हैं।

हिन्दी का पश्चिम की ओर फैला हुआ रूप पंजाबी है और दक्षिण की ओर फैला हुआ रूप राजस्थानी है जिसका अन्तिम भाग गुजराती है। राजस्थानी और गुजराती परस्पर आबद्ध भाषाएँ हैं। परन्तु दोनों में स्वतन्त्र साहित्य-रचना होती है। राजस्थानी की मेवाती, मालवी, मारवाड़ी, जयपुरी आदि अनेक विभाषाएँ हैं परन्तु गुजराती में उत्तर दक्षिण प्रान्तों के उच्चारण में थोड़ा भेद है।

पहाड़ी भाषाएँ मारवाड़ी से मिलती जुलती हैं। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की भाषा है। केन्द्रवर्ती पहाड़ी गढवाल और कुमायूं जिलों की भाषा है। पश्चिमी

पहाड़ी शिमला, सिरमौर रियासत मण्डी, चम्बा आदि रियासतों में काश्मीर तक बोली जाती है। इन भाषाओं में साहित्य बहुत कम है।

'पूर्वी हिन्दी' में बहिरंग भाषाओं का काफ़ी मिश्रण है। यह हिन्दी और विहारी के मध्य की भाषा है। अवधी, बुन्देली और छत्तीसगढी इसकी तीन विभाषाएँ हैं। अवधी को ही वैसवाड़ी कहते हैं। तुलसी और जायसी इसी भाषा के अमर कवि हैं।

बहिरंग भाषाएँ, संहिति प्रधान हैं। परन्तु हिन्दी सर्वथा व्यवहृत है। यही इन भाषाओं का हिन्दी से भेद है। 'लहँदा' मुलतान के आसपास बोली जाती है, 'सिन्धी' सिन्ध देश की भाषा है, 'मराठी' गुजराती दक्षिण की भाषा है। पूर्वी भागों में विहारी, विहार और संयुक्तप्रान्त के पूर्वी प्रान्तों की भाषा है, 'उड़िया' उड़ीसा की भाषा है। 'बंगाली' बंगाल की भाषा है। 'आसामी' आसाम की।

इन भाषाओं की विभाषाएँ भी हैं। और इनमें बंगला, मराठी तथा गुजराती भाषाओं में उत्कृष्ट साहित्य-रचना हुई है।

'भाषा-विज्ञान' का यह दृष्टिकोण बड़ा ही चमत्कारिक है कि फारसी जो हिन्दी की पारिवारिक भाषा है, आज विजातीय भाषा बन गई है, और अवधी जो पृथक् भाषा थी—हिन्दी का एक अंग है।

प्राचीन आर्य भाषाएँ विभक्तिमय थीं। उनमें संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम शब्दों में लिङ्ग, वचन और कारक का भेद बतलाने के लिये उनके साथ प्रत्यय जोड़े जाते थे। इसी प्रकार क्रियाओं में काल, वचन, पुरुष वाच्यादि का भेद प्रकट करने के लिये धातु के पीछे तिङादि प्रत्यय जोड़े जाते थे। इन 'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्यय से मिल कर शब्द या धातु ऐसे तन्मय हो जाते थे कि अपनी सत्ता खो कर वे एक शब्द बन जाते थे।

वैदिक भाषा की भांति प्राकृत में भी भाषा पूर्णतया विभक्तिमय रही, व्याकरण उसका अवश्य सरल होगया था।

आर्य भाषा की इस मध्यकालीन प्राकृत अवस्था का वर्णन भारतीय भाषाओं के अधिकृत भाषाविद् डा० बनारसीदास इस प्रकार करते हैं—

"आर्य भाषा की प्राकृत या मध्यकालीन अवस्था कोई वि० पू० ६०० वर्ष से वि० सं० १००० वर्ष तक रही, और इस सुदीर्घ काल में सरलता लाने वाली शक्तियाँ निरन्तर अपना काम करती रहीं। वि० सं० १००० के लगभग आर्य भाषा की उस अवस्था

का प्रारम्भ होता है, जिसे आधुनिक अवस्था कहते हैं। इस अवस्था की सब से बड़ी विशेषता यह है कि नाम की और बहुत अंशों तक धातु की रूप रचना अब विभक्तिमय नहीं रहीं। नाम रूप रचना में अब आठ या सात विभक्तियों के स्थान में केवल दो (या सम्बोधन सहित तीन) ही रूप रह गये। दूसरे कारकों का बोध कराने के लिये विभक्ति प्रत्ययों के स्थान में अब ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जो प्राचीन संज्ञा या विशेषण शब्दों के अवशेष हैं। और वाक्य रचना में अपने से सम्बन्ध रखने वाले नाम भिन्न रहते हैं। उच्चारण में भी बहुत परिवर्तन हुआ है ... ..."

आधुनिक आर्य भाषाओं के उच्चारण में ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि पंजाबी, लहँदी और सिन्धी के अतिरिक्त और सब भाषाओं में प्राचीन संयुक्त वर्णों के पूर्ववर्ती मध्यकालीन ह्रस्व स्वर अब दीर्घ हो गये हैं। जिस का परिणाम यह हुआ है कि इन भाषाओं में वैदिककालीन स्वरों की ह्रस्व-दीर्घता का भेद लुप्त हो गया है।

अध्याय तीसरा

हिन्दी लिपि का विकास

लिपि का महत्त्व—

भाषा का लिपि से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। लिपि भाषा का वाहन है। लिपि की सहायता से भाषा की प्रगति होती है। लिपि ही के कारण एक जाति और परिवार की भाषाएँ विजातीय बन जाती हैं और विजातीय भाषाएँ उस परिवार का अङ्ग बन जाती हैं। लिपि ही के कारण आर्य परिवार की ईरानी वर्ग और फ़ारसी भाषा आज 'हिन्दी' परिवार से पृथक् हो गई तथा मागधी विभाषाएँ उसमें सम्मिलित हो गईं। पैशाची भाषा के अलभ्य ग्रन्थ बृहत्कथा का जहाँ संस्कृत में खण्डानुवाद हुआ वहाँ फ़ारसी या ईरानी वर्ग की किसी भी भाषा में सम्भवतः उस ग्रन्थ का कोई नाम हो नहीं है। विशेष बात यह है कि इस पैशाची भाषा के जिस खण्ड का संस्कृत अनुवाद कथासरित्सागर के नाम से प्रसिद्ध है उसका कथानक वर्तमान इलाहाबाद के इधर उधर के प्रान्तों के राज्यों तथा प्रजावर्ग के आचार तथा सुदूरपूर्व के द्वीपपुञ्जों की यात्रा-कथाओं से ओतप्रोत है। उसमें नाम-मात्र को भी ईरान से सम्बंधित कोई व्यक्ति या पात्र नहीं है।

लिखने की पुरानी भारतीय परिपाटी—

पहिले विद्वानों की यह धारणा थी कि प्राचीन काल में आर्य लिखना नहीं जानते थे। पर अब उनकी यह धारणा बदल गई है। सब से पहिले कागज़ पर लिखे चार संस्कृत ग्रन्थ मध्य एशिया में यारकंद के दक्षिण ६० मील पर 'कुगिअर' नामक स्थान पर भारतवर्ष की नागरी अक्षरों में लिखे मि० बेवर को मिले, जिन्हें खोज जांच करने पर डाक्टर हार्नली ने ५वीं शताब्दी का बताया है। इसके सिवा भोजपत्र पर लिखा सबसे पुराना संस्कृत ग्रन्थ पूर्वी तुर्किस्तान में कुचार नामक स्थान पर मि० बेवर को मिला। उसका समय भी पांचवीं शताब्दी निर्णीत किया गया है।

परन्तु इन सब से प्राचीन लिपि हमें सम्राट् अशोक की उन धर्माज्ञाओं में मिलती है, जो चट्टानों और पत्थर के स्तम्भों पर खुदे हुए—पेशावर से मैसूर तक और काठियावाड़ से उड़ीसा तक स्थान २ पर मिलते हैं।

अशोक का राज्याभिषेक २६९ वर्ष ई० स० से पूर्व हुआ था और ये धर्माज्ञाएँ सम्भवतः उसके राज्यारोहण के तेरहवें वर्ष में खुदवाई गई थीं। इन

धर्माज्ञाओं में दो लिपियाँ काम में लाई गई हैं। १ गान्धार लिपि जो दाहिनी ओर से बाईं ओर को उर्दू की भांति पढ़ी जाती है; दूसरी पाली जो अशोक काल की प्रचलित भाषा थी।

केवल शहबाजगिरि और मानसेरा की धर्माज्ञाएँ गान्धार लिपि में लिखी गईं; शेष सब पाली भाषा में हैं। इन धर्माज्ञाओं को पढ़ने से इस बात का पता लगता है कि ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व देवनागरी वर्णमाला उतनी ही पूर्ण थी जितनी कि आज है और उस समय लगभग सारे भारतवर्ष में लिखने पढ़ने की रीति प्रचलित थी।

इसके बाद सांची के स्तूप से पत्थर के दो डब्बे मिले थे। जिन में 'सारिपुत्त' और 'महामोग्गलान' की अस्थियां हैं। एक डब्बे के ढकने पर 'सारिपुत्तस' खुदा है और भीतर उस नाम का पहिला अक्षर 'सा' स्याही से लिखा हुआ है। इसी प्रकार दूसरे डब्बे के ढकने पर 'महामोग्गलानस' खुदा है और उन्हों ने भीतर स्याही से 'म' अत्तर लिखा है। ये दोनों भिक्षु बुद्ध के शिष्य थे। इनमें सारिपुत्त का देहान्त बुद्ध के जीवन काल ही में हो गया था और महामोग्गलान का बुद्ध के निर्वाण के बाद। यह स्तूप ई० स० २५० से भी पहिले का बना है। हाल ही में सीलोन से बौद्धों का एक शिष्ट मण्डल नवाब भूपाल ने बुलाया था और उक्त भिक्षुओं की अस्थियों पर स्मारक बनाने के लिये एक भारी रक़म उन्हें अर्पित की है। इन डब्बों के अक्षर मसीह से २५० वर्ष पूर्व भारत में लिखने की परिपाटी का समर्थन करते हैं।

पूर्व ई० सन् ३०६ में सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के दर्बार में सीरिया के अधिपति सेल्युकस ने अपना प्रतिनिधि बनाकर मेगस्थनीज़ को भेजा था। वह लिखता है कि भारतवर्ष में नये वर्ष के दिन पंचाङ्ग सुनाया जाता है। जन्मपत्र बनाने के लिए बालकों के जन्म का ठीक समय लिखा जाता है, और १०–१० स्टेडियों के अन्तर पर कोसों के पत्थर लगे हुए हैं जिन पर के लेखों से सरायों और दूरी का पता लगाया जा सकता है।

यूनान के प्रसिद्ध विजेता सिकन्दर ने ई० स० पूर्व ३२७ में भारत पर चढ़ाई की थी। उसके जहाजी सेनापति निआर्कस ने लिखा है कि भारत में रुई कूट २ कर कागज़ बनाया जाता है।

'ललितविस्तर' ग्रन्थ में लिखा है कि बुद्ध ने विश्वामित्र नामक अध्यापक के पास जाकर चन्दन की पाटी पर लिखने का अभ्यास किया था। इस ग्रन्थ का

चीनी अनुवाद ई० स० ७६ में हुआ था। इस से ग्रन्थ की प्राचीनता निस्सन्देह है और बुद्ध का काल मसीह से पूर्व ४७८ वर्ष है।

'पाणिनि' प्रख्यात वैयाकरण बुद्ध से भी प्रथम हुआ है। उसने अष्टाध्यायी में 'लिपि' और 'लिवि' शब्द दिये हैं जिनका अर्थ 'लिखना' होता है। इसी प्रकार 'ग्रन्थ' 'पुस्तक' शब्द भी हैं। तथा 'लिख' धातु भी उस प्राचीन काल में लिखने की परिपाटी का समर्थक है।

पाणिनि से भी पूर्वकाल के महानाट्यकार भास के २२ नाटक हाल ही में मिले हैं जो परम्परा से लिखे गये हैं।

'ब्राह्मण ग्रन्थों' में 'काण्ड' और 'पटल' शब्द 'पुस्तकविभाग' के ही द्योतक हैं। शतपथ ब्राह्मण में वेदों की पंक्तियों की गणना दी हुई है। यह गणना तभी हो सकती थी जब कि वेदों की पुस्तकें लिखित रूप में उपस्थित हों।

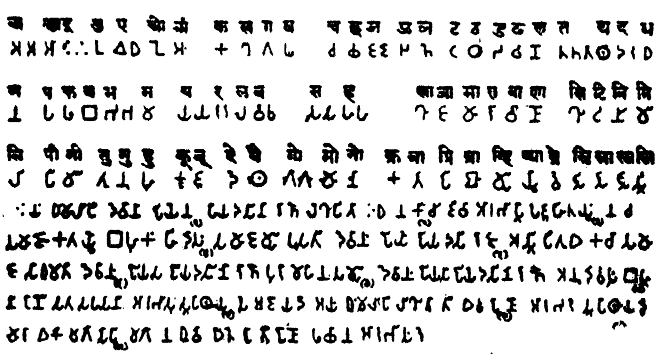
वैदिक पुस्तकों का तथा आरण्यकों का बहुत सा भाग गद्य में है। गद्य ज्यों का त्यों तब तक अविकल नहीं रह सकता जब तक कि वह लिखित रूप में न हो।

इन सब कारणों से हम निश्शंक कह सकते हैं कि वैदिक काल में भी लिखने का प्रचार था तथा लिपिमाला थी।

पाली लिपि—

आर्यों की प्राचीनतम जो लिपि हमें आज तक उपलब्ध हुई है वह पाली है। परन्तु प्राचीन सिक्कों और लेखों से पाया जाता है कि इस देश में दो लिपियां प्रचलित थीं। १ पाली, २ गान्धार।

पालीलिपि का नमूना अशोक के एक लेख से



पाली लिपि देवनागरी का ही पूर्व रूप है और वह भारतीय निर्मित लिपि है।

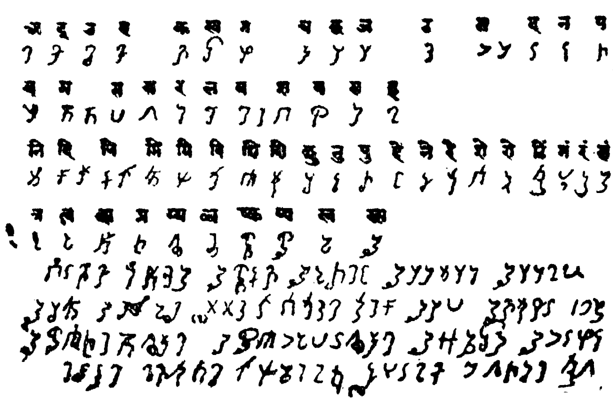
गान्धारी—

अफ़ग़ानिस्तान और पश्चिमी पंजाब दोनों मिलकर गान्धार देश कहाता था। प्राचीन काल से मुग़ल काल तक अफ़ग़ानिस्तान भारत ही का एक प्रदेश रहा है। गान्धार की संस्कृति पूर्वी भारत की संस्कृति से अत्यन्त घनिष्ठ थी। अपने बालकाल में अशोक गन्धार के शासनकर्ता रह चुके थे। मागध साम्राज्य में गान्धारों का पूरा मान था। लिच्छवि गणतन्त्र और कौशल राज्य भी गान्धार सैनिकों को रखते थे। दोनों देशों के सार्थवाह भी आते जाते थे।

गान्धार लिपि—

गान्धार नागरिक सार्थवाह और सैनिक अपनी गान्धार लिपि को भारत वर्ष में लाए। पूर्वोक्त अशोक के दो लेखों के सिवा तुर्क सम्राट् बौद्ध कनिष्क और हविष्क के अनेक छोटे २ लेख इस लिपि में पाये गये हैं। पंजाब के उस ओर ऐसे बहुत सिक्के मिले हैं जिन पर एक ओर गान्धार लिपि और दूसरी ओर ग्रीक के अक्षर हैं। किसी पर गान्धार और पाली अक्षर हैं। परन्तु पंजाब से इधर कोई सिक्का नहीं मिला है।

कनिष्क का एक ताम्रपत्र गान्धार लिपि में



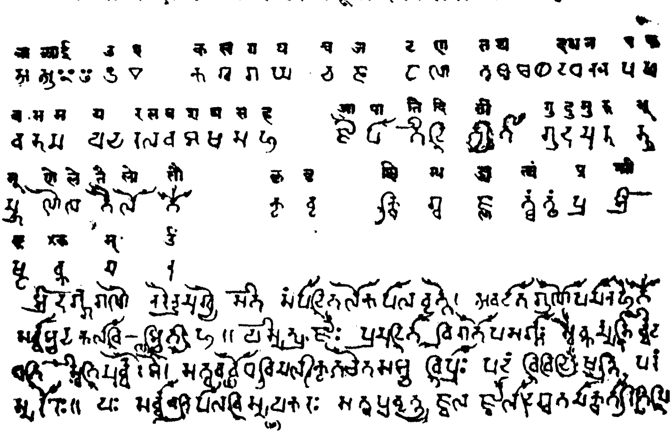
यह लिपि सेमिटिक लिपियों की भांति दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती है। अनुमान किया जाता है कि ई० सन् से ५०० वर्ष पूर्व जब ईरान के शासक सारू डारिअस प्रथम ने आक्रमण करके गान्धार को पश्चिमी

पंजाब के प्रदेशों सहित अपने अधिकार में कर लिया तब ईरानी लिपि गान्धार में प्रविष्ट हुई । परन्तु वह पाली के समान परिपूर्ण नहीं थीं इससे उसमें नवीन अक्षर और स्वरों का मिश्रण किया गया । सिक्कों से अनुमान किया जाता है कि मसीह की तीसरी शताब्दी के लगभग इस देश से इस लिपि का प्रचार उठ गया था और सर्वत्र पाली लिपि ही काम में लाई जाती थी ।

प्राचीन लिपियों का पढ़ना—

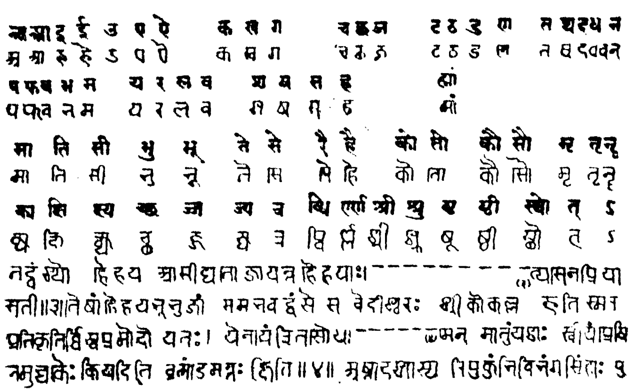
प्राचीन लिपियों को पढ़ने का इतिहास बड़ा ही मनोरंजक है। ई० सन्० १३५६ में दिल्ली के बादशाह फिरोज़शाह तुग़लक ने अशोक की धर्माज्ञा खुदा हुआ एक स्तम्भ यमुना तट से उठवा कर दिल्ली मंगवाया था जो आजकल फिरोज़शाह के कोटले पर लगा है । उस पर खुदे लेख को पढ़ने के लिये बादशाह ने बहुत से विद्वानों को इकट्ठा किया पर कोई भी उस लेख को न पढ़ सका । फिर सम्राट् अकबर ने भी इसकी बहुत चेष्टा की परन्तु उस काल का भी कोई विद्वान् इन प्राचीन लिपियों को नहीं पढ़ सका । उन्हें कोई देवताओं के अक्षर कहता, कोई गड़े हुए धन का बीजक समझता कोई सिद्धिदायक कवच बताता था । मनूर्चा जो, जेनवा का डाक्टर औरंगज़ेब के दर्बार में बहुत काल तक रहा है और जिसने एक मनोरंजक इतिहास मुग़ल काल पर लिखा है, कुतुब के पास के लोह-स्तम्भ पर खुदे लेख को देखकर एक हास्यास्पद बात कह गया है । वह कहता है कि पहिले इस देश पर चीनी लोगों का राज्य था और ये अक्षर चीनी भाषा ही के हैं । ऐसा ही अन्धकार-पूर्ण उस काल में भारत की सभ्यता और संस्कृति का इतिहास था ।

आठवीं शताब्दी की लिपि का नमूना झालरापाटन के एक लेख से



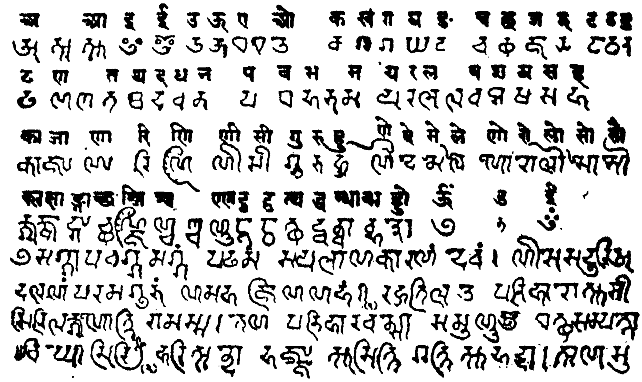
सन् १७८४ में सर विलियम जोन्स ने ऐशिया खण्ड के इतिहास, शिल्प, साहित्य, आदि के शोध करने के लिये ऐशियाटिक सोसाइटी स्थापित की। उसके कुछ वर्षों बाद लण्डन में रायल एशियाटिक सोसाइटी स्थापित हुई। इसी समय में जर्मन, फ्रान्स, इटली, आदि यूरोप के देशों में भी एशिया की पुरातन संस्कृति को जानने की जिज्ञासा बढ़ी। बाद में भारत सरकार ने भी प्राचीन शोध का एक महकमा 'आर्कियालोजीकल सर्वे' नाम से स्थापित किया। इस प्रकार प्राचीन गवेषणा का कार्य पूरे ज़ोरों पर होने लगा। प्राचीन लेख, दानपत्र, सिक्के, तथा ऐतिहासिक पुस्तकें टटोलना प्रारम्भ हुआ और भारतवर्ष की प्राचीन लिपियों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ।

नवीं शताब्दी की लिपि का नमूना जाजल्लदेव के एक लेख से।



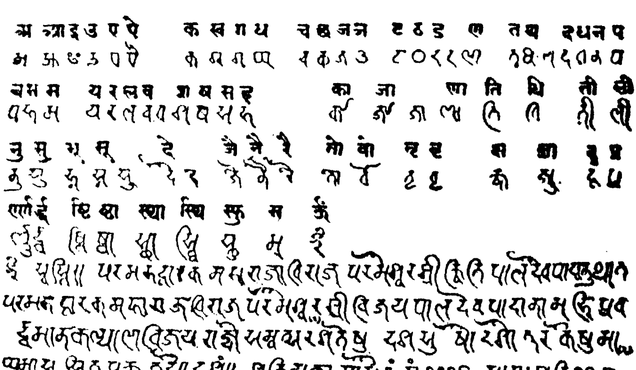
सन् १७८५ में चार्ल्स विल्किन्स ने दीनाजपुर जिले में बदाल स्थान के पास मिला हुआ एक शिलास्तम्भ का लेख पढ़ा; जो बंगाल के राजा नारायण पाल के समय का था। उसी वर्ष पं० राधाकान्त शर्मा ने दिल्ली की फिरोज़शाह लाट पर के चौहान राजा वीसलदेव (विग्रहराज) के समय के लेख को पढ़ डाला। यह राजा विक्रम सम्वत् १२१० में हुआ है। इन लेखों की लिपि देवनागरी अक्षरों से बहुत मिलती जुलती होने से आसानी से ये लेख पढ़ डाले गये।

दशवीं शताब्दी की लिपि का नमूना मारवाड़ से प्राप्त एक लेख से



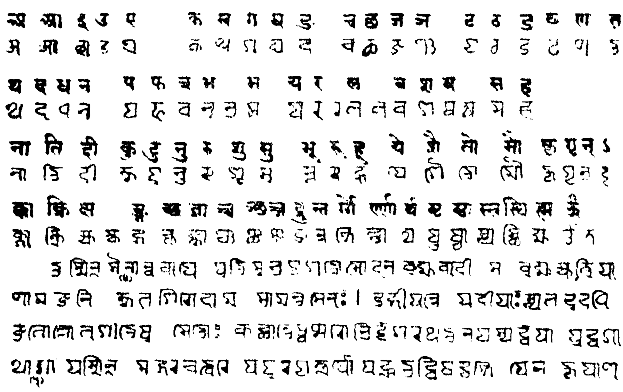
इसी वर्ष मि०जे०एच० हैरिंगटन ने बुद्ध गया के पास की 'नागार्जुनी' और 'बरावर' गुफाओं के मौखरी वंश के राजा अवन्ति वर्मा के ३ लेख पाए जिनकी लिपि गुप्त थी। और उनका पढ़ना कठिन था परन्तु चार्ल्स विल्किन्स ने ५ वर्ष के सतत प्रयत्न से उन्हें पढ़ डाला। इन्हीं दिनों डा० वी. जी. वैलिङ्गटन ने मामल्लपुर के अनेक संस्कृत और तामिल भाषा के पुराने लेख पढ़कर सन् १८२८ ई० में उनकी पूरी वर्णमाला तैयार कर ली। १८३३ में मि० वाल्टर इलियट ने प्राचीन कनाड़ी लेखों की वर्णमाला पहचान ली।

ग्यारहवीं शताब्दी की लिपि का नमूना अलवर में प्राप्त एक लेख से



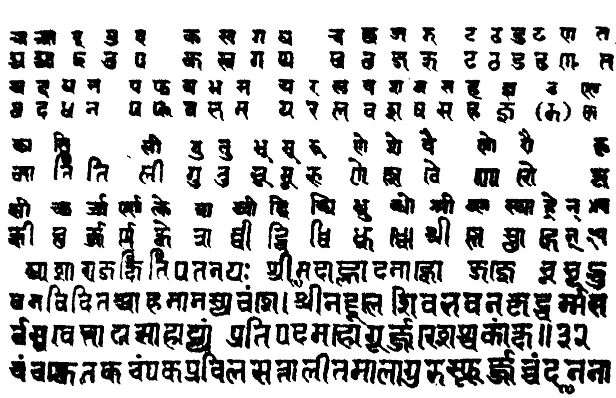
इसके बाद कुछ विद्वानों ने इलाहाबाद, दिल्ली और कुमाऊं के स्तम्भों तथा सांची और अमरावती के स्तूप तथा गिरनार के पर्वतों के गुप्ताक्षरों को पढ़कर गुप्ताक्षरों की सम्पूर्ण वर्णमाला पहचान ली । और समुद्रगुप्त से लेकर गुप्त राजाओं के समस्त लेख, दानपत्र, और सिक्के पढ़ डाले गये ।

बारहवीं शताब्दी का एक लेख जिस से बंगला लिपि विकसित हुई ।



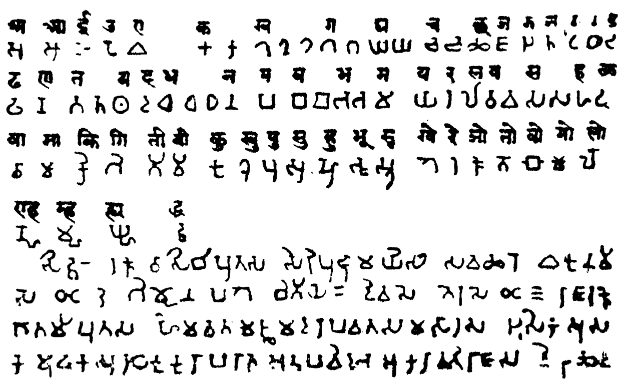
पाली लिपि का पढ़ना अभी तक दुस्तर था । वह सब से प्राचीन थी । अन्त में अनेक विद्वानों के सतत प्रयत्न के बाद प्रसिद्ध विद्वान् मि० प्रिन्सेप ने स्वरों के चिह्नों को पहचाना । उसी काल में पादरी जेम्स स्टिवन्सन ने क–ज–प और ब अक्षरों को पहिचाना । और लगभग १८३७ में उक्त लिपि की सम्पूर्ण वर्णमाला पहिचान ली गई और सब लेख पढ़ डाले गये ।

चौदहवीं शताब्दी की लिपि का नमूना मारवाड़ में प्राप्त एक लेख से ।



प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल टाड ने बैक्ट्रियन और सीथियन सिक्कों का बड़ा भारी संग्रह किया था। उनपर एक ओर ग्रीक और दूसरी ओर गान्धार लिपि थी। इस गान्धार लिपि को पढ़ने का अब तक कोई साधन नहीं था। पहिले ग्रीक अक्षर पढ़ लिये गये। बाद में सन् १८२४ में कर्नल टाड ने एक सिक्के पर एक नाम पढ़ा। उसके बाद मि० मेसन ने जो अफगानिस्तान में प्राचीन खोज में लगे थे, इस बात पर ध्यान दिया कि ग्रीक अक्षरों में एक तरफ़ जो नाम खुदे हैं दूसरी ओर वही गान्धार लिपि में हैं, इस आधार पर उन्होंने कुछ पहलवी के चिह्न मि० प्रिन्सेप को लिख भेजे। उन चिह्नों की सहायता से मि० प्रिन्सेप ने १२ राजाओं के नाम और उन के ६ खिताब शुद्ध पढ़ लिये। यह भी उन्होंने ही मालूम किया कि यह लिपि फ़ारसी की भांति दाहिनी ओर से बाईं ओर को पढ़ी जाती है। पीछे यह भी पता लग गया कि उन लेखों की भाषा पाली थी केवल अक्षर गान्धार थे। अन्ततः उन्होंने १७ अक्षर पहिचान लिये। पीछे मि० नौरिस ने ६ अक्षर पहचाने। इसके बाद मि० कनिंगहम ने ११ अक्षरों को पहचान कर वर्णमाला पूरी कर दी। संयुक्ताक्षर भी पहचान लिये गये। इस प्रकार यह दुर्धर्ष कार्य अनेक विद्वानों के सतत प्रयत्न से सम्पूर्ण हुआ।

सातवाहन (आन्ध्रभृत्य वंश के राजा पुलुमायि) का एक लेख जिसमें समस्त दक्षिण की लिपियों की मूल लिपि है।



अङ्क-लिपि—

इन प्राचीन दानपत्रों तथा लेखों में एक महत्त्वपूर्ण और नई बात जो हमको प्रतीत होती है, वह यह है कि प्राचीन काल में अंक लिखने की वह परिपाटी न थी जो आजकल प्रचलित है।

आजकल हम १ से ९ तक के अंक इकाई में लिखते हैं फिर शून्य से दहाई, हजार, लाख आदि अंक वृद्धि करते हैं। स्थान के अनुसार एक ही अंक भिन्न २ संख्या प्रकट करता है । जैसे ११११ में चार एकड़े हैं । प्रत्येक एकड़ा भिन्न २ संख्या का प्रतीक है। प्राचीन क्रम में शून्य का व्यवहार नहीं था, न एक ही अंक इकाई, दहाई, सैंकड़ा आदि स्थानों पर आ सकता था। उस काल में भिन्न २ स्थानों और संख्याओं के लिये भिन्न २ चिह्न थे । अर्थात् १ से ९ तक के ९ चिह्न । और १०।२०।३०।४०।५०।६०।७०।८०।९० १००।१०००। ये कुल २० चिह्न पृथक् २ थे । जिन से ९९९९९ तक की संख्या लिखी जा सकती थी। लाख, करोड़, अरब के लिये क्या चिह्न थे यह नहीं कहा जा सकता।

ये चिह्न पंक्ति में नहीं—ऊपर नीचे लिखे जाते थे। सम्भवतः मसीह की छठी शताब्दी तक अंक-लेखन का यही क्रम रहा। बाद में ज्योतिष ग्रन्थों में नया क्रम जिस में शून्य का उपयोग था, जारी हो गया, जो नवीं शताब्दी प्रारम्भ होते २ सर्वथा प्रचलित हो गया।

अंकों के ये चिह्न वास्तव में संकेतात्मक अक्षर थे जो प्रायः निरर्थक थे। परन्तु प्राचीन ज्योतिष में जो संकेत अक्षरों के लिये नियत किये गये, वे सार्थक थे । इन संकेत शब्दों की स्थापना उनकी गणना के आधार पर की गई थी । जैसे ० के स्थान पर आकाश, १ के लिये चन्द्रमा, ५ के लिये वाण, ८ के लिये वसु, ११ के लिये रुद्र, १२ के लिये सूर्य, ३२ के लिये प्रेत, ३३ के लिये देवता, आदि।

गांधार लिपि की अंक-गणना फिनिशियन पद्धति पर बनी है जिनम खड़ी लकीरों का प्रयोग है । ये इस प्रकार के अंक हैं जैसे घड़ियों में रेखा-अंक लिखे जाते हैं।

देवनागरी-वर्णमाला—

देवनागरी वर्णमाला के सम्बन्ध में संसार के सभी वैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि देवनागरी वर्णमाला सर्वश्रेष्ठ और अधिकाधिक वैज्ञानिक है। पाणिनि ने देवनागरी वर्णमाला को यह स्वरूप प्रदान किया था । इस वर्णमाला का प्रचार दक्षिण-पूर्वी एशिया के सभी देशों में है, भारत के सभी प्रान्तों तथा बर्मा, सीलोन, स्याम, तिब्बत, जावा आदि देशों में भी देवनागरी वर्णमाला ही प्रचलित है। लिपियाँ निस्सन्देह भिन्न २ हैं। ध्वनि-लिपि के प्रसिद्ध विद्वान् सर

इसाक पिटमैन ने लिखा है—संसार में यदि कोई सर्वाङ्गपूर्ण और सर्वोत्तम वर्णमाला है तो वह देवनागरी ही है । प्रोफ़ेसर मोनियर विलियम यद्यपि रोमन लिपि के पक्षपाती थे—पर देवनागरी वर्णमाला की प्रशंसा उन्होंने भी की है ।

ब्राह्मी-लिपि और उसकी पुत्रियाँ—

प्राचीन काल में जो ब्राह्मी लिपि सम्पूर्ण भारतवर्ष में—पश्चिमोत्तर प्रदेश से लेकर बंगाल तक और हिमालय से लेकर मैसूर तक प्रचलित थी, देवनागरी लिपि की भांति ही बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। इस लिपि के लेख भारत में ईसा से पूर्व पांचवीं शताब्दी तक मिलते हैं । उस काल में ताड़पत्रों, शिलाओं, और छालों पर लेख लिखे जाते थे । उत्तरी भारत में ताड़पत्रों पर कलम और स्याही से लिखा जाता था, किन्तु दक्षिणी भारत में सम्भवतः स्याही प्राप्त नहीं थी, लोहे की नुकीली कील से ताड़पत्रों पर अक्षरों के चिह्न खोदे जाते थे । इस कारण सन् ३५० ईस्वी तक उत्तर और दक्षिण की लिपियों में बहुत अन्तर पड़ गया । उत्तर भारत में खड़ी लकीरें अधिक बन गईं । पर दक्षिण की लिपि में गोलार्ध अक्षर लिखे जाने लगे । क्योंकि खड़ी लकीर लिखने से ताड़पत्र फट जाते थे । तामिल, तैलगू और दक्षिणी लिपियों का विकास इसी ब्राह्मीलिपि की दक्षिणी शैली से हुआ । उत्तर भारत में भी लेखन की सुविधा के अनुसार ब्राह्मी लिपि के लेख में कुछ अन्तर पड़ने लगा । गुप्त-साम्राज्य-काल में भी उस में बहुत अन्तर होगया।

इस प्रकार कालान्तर में कुछ शताब्दियों में ही उत्तर भारत की लिपि में पूर्व और पच्छिमी लेखन की दो शैली पड़ गईं । वर्तमान बंगला, उड़िया आदि लिपियाँ ब्राह्मी लिपि की पूर्वी शैलियों के विकसित रूप हैं और देवनागरी, गुजराती, काश्मीरी पश्चिमी शैली के । देवनागरी लिपि का वर्तमान स्वरूप दसवीं शताब्दी के लगभग विकसित हुआ।

देवनागरी लिपि—

आज से ५०० वर्ष पूर्व यद्यपि विविध प्रान्तीय लिपियों का विकास हो गया था पर उन में आज के जैसी भिन्नता नहीं थी । लिपि की भिन्नता का सब से बड़ा कारण छापेखाने का आविर्भाव है जिसमें विदेशियों ने उन लिपियों के टाइप काटे थे । फिर भी सम्पूर्ण भारत में प्रधानता देवनागरी लिपि ही की है । संस्कृत की लिपि सर्वत्र देवनागरी ही है । हिन्दी, मराठी, राजस्थानी, जैनी, नैपाली, इत्यादि भारत की प्रमुख भाषाओं की लिपि भी देवनागरी है । गुजराती, कैकनी, महाजनी आदि लिपियां देवनागरी लिपि की घसीट की रूप हैं । बंगाली,

पंजाबी, काश्मीरी लिपियों का भी देवनागरी लिपि से बहुत साम्य है। यह कहा जा सकता है कि भारत के साक्षर जनों में प्रायः दो-तिहाई जन देवनागरी लिपि ही में अपने विचार व्यक्त करते हैं।

मुसलमान बादशाह और देवनागरी लिपि—

मुसलमान बादशाहों के अमल के पूर्व भारत में जो सिक्के प्रचलित थे उन पर देवनागरी अक्षर ही होते थे। प्राचीनतम मुद्राओं पर, जिन में कि ग्रीको-बैक्ट्रियन सिक्के भी शामिल हैं, देवनागरी की जननी ब्राह्मी लिपि अंकित है। इनमें लेख ब्राह्मी लिपि में, खरोष्टी अक्षरों में और ग्रीक लिपि में पाये जाते हैं। बाद के सिक्कों में ब्राह्मी वर्णमाला से उत्पन्न हुए अक्षर पाये जाते हैं। जो मिट्टी की मुद्राएँ प्राचीन स्थानों से प्राप्त हुई हैं वे भी प्रायः ब्राह्मी अक्षरों में या उससे उत्पन्न वर्णमाला में लिखित हैं। ऐसी मुद्राएँ हजारों की संख्या में पाई जा चुकी हैं!

महमूदग़ज़नवी ने सन् १०२७ ईस्वी में एक चांदी का सिक्का चलाया था जिसका वर्णन कनिंघम साहेब ने अपनी पुस्तक में किया है।* यह सब से प्राचीन मुसलमानी सिक्का है जिस पर देवनागरी अक्षरों में पूरा लेख है।

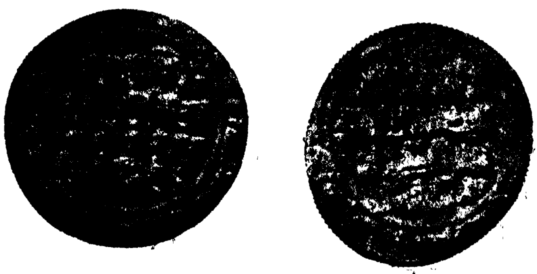
अव्यक्त मेकं
मुहम्मद अ-
व तार नृप
ति महमूद

यह वाक्य देवनागरी अक्षरों में है। इसके पिछले भाग पर गोल घेरे में यह मज़मून देवनागरी अक्षरों में है—

अयं टंकं महमूद पुर घटिते हिजरियेन सवति ४१८।

इसका अर्थ है—यह सिक्का महमूदपुर में हिजरी साल ४१८ में बना।

महमूदपुर लाहौर का नाम है। लेख की संस्कृत ठीक नहीं है।



महमूद ग़ज़नवी का सिक्का

---

* क्वाइन्स ऑफ मिडीवल इन्डिया पृष्ठ ६५ सर ए० कनिंघम।

इसके बाद सुलतान वंश के पूर्वज मुहम्मद बिनसाम, ने जो ईस्वी सन् ११६३ से १२०५ में शासक था, अपने सोने के सिक्के पर लक्ष्मी की मूर्ति बनवाई और देवनागरी अक्षरों में यह लेख खुदवाया

श्री मह
मद विनि
साम

उसी के एक दूसरे सोने के सिक्के पर—

स्त्रा मद (ह)
मीर मह (म)
द साम

ऐसा लेख है। इसी के ताम्बे तथा मिश्रित धातु के सिक्कों पर—

स्त्री महमदसाम
स्त्री हमीरः

क्रमशः सामने और पीछे लिखा हुआ है।

'हमीर' 'अमीर' का पर्याय है। ताजुद्दीन यलदूज़ ने भी ऐसा ही किया है। इन सब सिक्कों का वर्णन एवं प्रतिकृतियां नेलसन राइट के एवं अन्यान्य लेखकों के सूची-ग्रन्थ में पाई जाती हैं।*

शमसुद्दीन अलतमश ने हिजरी सन् ६०७ से ६३३ (ईस्वी सन् १२१० से १२३५) में अपने विलन मिलावटी धातु के सिक्कों पर ये अक्षर लिखवाए थे

सुरिताण स्त्री समसदिण

या समस दीण

दूसरी ओर **स्त्री हमीरः**

अथवा

स्त्री मुस्त एवं स्त्रीषल

इसी प्रकार सकनुद्दीन फीरोज़शाह प्रथम ने सन् १२३५ में, मलिक जलालुद्दीन रज़िया ने सन् १२३९ में, मुईज़ुद्दीन बहरामशाह ने सन् १२४१ में, अलाउद्दीन मसऊदशाह ने १२४४ में, नसीरुद्दीन महमूद ने १२६४ ई० में, और सुलतान गयासुद्दीन बलबन ने सन् १२८५ में नागरी अक्षरों का ही प्रयोग अपने सिक्कों पर किया था। मुइज़ुद्दीन कैकवाद ने सन् १२८७ में, जलालुद्दीन फ़ीरोज़-

---

*कैटलॉग ऑफ़ दि काएन इन दि इण्डिन म्यूज़ियम कलकत्ता। भाग २, खण्ड १। पृष्ट १७-१६ नेलसन रॉइट।

सानी ने और अलाउद्दीन मुहम्मदशाह सानी ईस्वी सन् १२६० से १३१५ तक के शासन-काल में जो तुर्क और खिलजी सुलतान थे, देवनागरी अक्षरों का प्रयोग सिक्कों पर किया था। इससे अनुमान होता है कि उनके दर्बार का सब काम भी इसी लिपि में होता होगा। तुगलक वंश के बादशाहों ने घटिया सिक्कों पर देवनागरी अक्षर प्रयोग किये। क्योंकि वे ही सर्वसाधारण के अधिक निकट थे। गयासुद्दीन तुगलक ने सन् १३२० मिश्रित सिक्कों की पीठ पर

स्री सुलतां गयासुदीं

तुगलक के बेटे तीसरे मुहम्मद ने

श्रीः मोहमद

छापा।

शेरशाह सूरी जो एक अच्छा व्यवस्थापक बादशाह था, चांदी के सिक्कों पर सन् १५४० में

स्री सेरसाह श्री सेरसाह
श्रे सेरसाह श्री सेरसाही स्री सेरसाही

ऐसा छपवाया।

इसके पीछे इसलामशाह ने जिसका समय सन् १५४५ से १५५२ तक है, चांदी के सिक्कों पर अपना नाम नागरी लिपि में लिखवाया।

श्री इषलामशाह श्री इसलम साह
श्री इसलामसाहि या स्री इसलम साह

इनके सिवा मुहम्मद आदिलशाह, गयासुद्दीन बहादुरशाह सानी, दाऊदशाह कररानि, आदि शासकों ने भी देवनागरी लिपि का ही अपने सिक्कों पर प्रयोग किया था।

फ़ारसी लिपि का प्रचार—

फारसी लिपि का प्रचार सबसे प्रथम मुगल बादशाह अकबर के राज्य में हुआ। इसके बाद फ़ारसी को अधिकाधिक सुविधा के होने पर भी फ़ारसी भाषा और लिपि का कुछ भी सुधार नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि फ़ारसी लिपि बहुत दोषपूर्ण है। उसमें स्वर बिल्कुल नहीं हैं। नीचे ऊपर चिन्ह लगा कर स्वर का काम लिया जाता है। पर उन चिन्हों को लिखने ही में नहीं, छापने तक में छोड़ दिया जाता है। दूसरे व्यंजनों को भी तोड़ मोड़ कर इस तरह छोटा बड़ा किया जाता है कि उनका स्वरूप विकृत हो जाता है। इस प्रकार फ़ारसी लिपि के प्रत्येक

अक्षर की पांच सौ आवृत्तियां हो जाती हैं, जिनका ज्ञान सिर्फ़ नुक्ते से होता है। एक बार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने फ़ारसी के ३ अक्षर के एक शब्द को लिखकर बताया था कि इसे ६०६ प्रकार से पढ़ सकते हैं। यही कारण है कि फ़ारसी इसी मौलिक त्रुटि के कारण हिन्दुस्तान में १२०० वर्ष तक प्रचलित रहने पर भी उन्नत न हो सकी। सभ्य समुन्नत जातियां उसे त्याग रही हैं। तुर्क ने उसे त्यागकर रोमनलिपि ग्रहण कर ली है, फ़ारस में भी इसका आन्दोलन जारी है।

मुद्रण-कला और लिपि—

देवनागरी लिपि लेखन-कला की दृष्टि से जितनी पूर्ण है उतनी ही मुद्रण-कला की दृष्टि से उसमें बहुत त्रुटियां हैं। और अब, जब कि मुद्रण एक विकसित कला है यह आवश्यक है कि देवनागरी लिपि को मुद्रण-कला की दृष्टि से सम्पूर्ण और व्यावहारिक बनाया जाय।

रोमन लिपि का पक्ष—

कुछ देशी और विदेशी विद्वानों का मत है कि मुद्रण सुविधा के लिये नागरी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि स्वीकार कर ली जाय। अंग्रेज़ों ने अपने शासन के प्रारम्भ में भी इस प्रश्न पर विचार किया था। जिस का विरोध सन् १८३६ में ऑनरेबल फ्रेडरिक शोर ने किया था। उस समय उन्होंने बताया था कि रोमन अक्षर भारतीय भाषा की ध्वनि को नहीं व्यक्त करते, इस लिये इसमें बहुत से नए अक्षर जोड़ने पड़ेंगे। इसके बाद सन् १८५८ में सर चार्ल्स ट्रैवेलियन ने On the substitutes of the Roman for the Indian character नामक एक लेख लिख कर मद्रास की लिटरेरी सोसाइटी को भेजा। सर मोनियर विलियम्स ने भी Original paper illustrating the history of the application of the Roman Alphabet to the language of India. नामक निबन्ध-संग्रह लंडन में छपाया। सर विलियम जान्स और डा० कल्डवेल के लेखों के आधार पर One Alphabet for all India. शीर्षक एक दूसरी पुस्तक भी मद्रास से छपी।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक चर्च-मिशनरियों और दूसरे अंग्रेज़ों नें रोमन लिपि के लिये निरन्तर आन्दोलन किया। और सरकार को भी इस से सहानुभूति रही। सन् १८९३ में युक्तप्रान्त की सरकार ने रोमन लिपि को व्यवहार में लाने के प्रश्न पर विचार करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की। परन्तु इसने रोमन लिपि के विरुद्ध राय दी। प्रान्त के कमिश्नरों और कलेक्टरों

ने भी विपरीत राय दी । इसके बाद सरकार ने भी देशी भाषाओं के लिये रोमन लिपि प्रचलित करने का विचार बिलकुल त्याग दिया ।

राष्ट्रीय जाग्रति और लिपि—

राष्ट्रीय जाग्रति के कारण अपनी भाषों और संस्कृति के संरक्षण के भाव जहां देश में उत्पन्न हुए वहां एक-देशीयता की भावना का भी उदय हुआ, और इसलिये यह विचार किया जाने लगा कि सारे देश की एक लिपि हो । वह कौन सी हो ? वह लिपि ऐसी हो जो मुद्रण-कला की दृष्टि से भी दोष रहित हो । इस अवसर पर फिर रोमन लिपि का प्रश्न उठा । कारण मुद्रण-कला की दृष्टि थी, परन्तु भारतीयों में एक नई मनोवृत्ति उदय हो गई थी वह यह कि ज्ञान का भण्डार चाहे जहां से भी लो, परन्तु उसे रूप भारतीय दो, इस भावना ने रोमन लिपि का समर्थन नहीं होने दिया । विदेशी विद्वानों का भी यह मत है कि देवनागरी की तुलना में रोमन लिपि बहुत अवैज्ञानिक और अपूर्ण है । पश्चिमी देशों में, खास कर अमेरिका में इसे ध्वनिक (फोनेटिक), वैज्ञानिक और पूर्ण बनाने के बड़े उद्योग हो रहे हैं परन्तु उसमें सफलता नहीं मिली है ।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क और लिपि—

रोमन लिपि द्वारा भारतवर्ष विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क में आ सकता है, इस दृष्टिकोण को लेकर कुछ विद्वान् रोमन लिपि के समर्थक रहे । पं• जवाहरलाल नेहरू का भी यही दृष्टिकोण था । परन्तु विचारने की बात तो यह है कि क्या रोमन लिपि के द्वारा हमारी भाषा ध्वनित हो सकेगी । अपनी भाषा के अनुकूल बनाने के लिये हमें उसमें बहुत परिवर्तन करना पड़ेगा । इस बात को श्री सुनीतिकुमार चटर्जी और श्री ए० लतीफ़ी जैसे रोमन लिपि के समर्थक भी स्वीकार करते हैं । ऐसी हालत में उसका रूप इतना विकृत और अपरिचित हो जायगा कि वह अन्तर्राष्ट्रीयता की सीमा में जा ही नहीं सकेगी । फिर यदि हमने दूसरी लिपि का प्रयोग देवनागरी वर्णमाला के लिये किया तो हमारी भाषा में प्रचलित अंग्रेज़ी शब्दों की क्या दशा होगी ? उन्हें हम अंग्रेज़ी रोमन लिपि के अनुसार लिखेंगे या कि देवनागरी रोमन लिपि के अनुसार ? फिर उसे पढ़ा कैसे जायगा ? इसका फल यह होगा कि हमारी देवनागरी वर्णमाला की पवित्रता और वैज्ञानिकता नष्ट हो जायगी और हमारी भाषा वर्णसंकर होकर प्राचीन साहित्य से हमारा सम्बन्ध टूट जायगा । और बहुत समय तक के लिये हमारे साहित्य का प्रवाह अवरुद्ध हो जायगा ।

मुद्रण-कला और नागरी लिपि—

सब से प्रथम सिरामपुर में ईसाई प्रचारकों ने १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में देशी भाषाओं के अक्षरों को ढाला । चार्ल्स विल्किसन ने अपने हाथ से बंगला के 'पंच' काट कर टाइप ढाला था, फिर उन्होंने पंचानन मिस्त्री को 'पंच' काटना और टाइप ढालना सिखाया । १८वीं शताब्दी के अन्त में पादरी विलियम केटी ने देवनागरी का टाइप तैयार किया । बाद में सन् १८१६ में बम्बई में मराठी और गुजराती टाइप ढाला गया । परन्तु चूंकि यह काम विदेशियों के हाथ से हुआ इस लिये भिन्न २ प्रान्तों की भिन्न २ लिपियां बन गईं । संयुक्ताक्षरों और मात्राओं को कायम रखकर उन्होंने अक्षरों की संख्या इतनी बढ़ा ली कि देशी भाषाओं की उन्नति बहुत दिन के लिये रुक गई । अभी तक वह वाधा वैसी ही बनी है ।

हस्त-लिपि से रोमन लिपि जब मुद्रण में आई तब उस में बहुत परिवर्तन हुआ था । लेखन की पद्धति को छोड़कर प्रत्येक अक्षर अलग २ कर दिये गये थे । और कम्पोजिंग में लेखन से बिल्कुल भिन्न मार्ग ग्रहण किया गया था । इस लिये लिपि का रूप ही बदल गया । परन्तु जिन्होंने भारतीय लिपियों का टाइप बनाया उन्होंने इस दूरदर्शिता से इस विषय पर विचार नहीं किया । और उन्होंने हाथ के अक्षरों की बिल्कुल नकल करके ही टाइप बना डाला । प्राचीन काल में जो लिपि का विकास हुआ वह लेखन कला की दृष्टि से हुआ था, लेखन सामग्री भी तब कम थी इसलिए अधिक से अधिक वर्ण कम से कम स्थान में लिखने के लिये संयुक्ताक्षर लिखने और ऊपर नीचे मात्रा लगाने की प्रथा चल पड़ी ।

देवनागरी लिपि में सुधार—

अब विद्वानों का ध्यान इस ओर गया है कि वे मुद्रण की दृष्टि से देवनागरी लिपि में जो दोष रह गये हैं उन्हें दूर करें । इस प्रकार के उद्योग-कर्ताओं में श्री गोविल जी और काका कालेलकर मुख्य हैं ।

इस समय दो प्रकार के टाइप प्रचलित हैं । एक को कलकत्तिया और दूसरे को बम्बइया कहते हैं । एक में अक्षर कम लगाने का प्रयास किया गया है और दूसरे में शीघ्र कम्पोज करने का । पहिले में अक्षर डिगरी द्वारा घट गये, परन्तु कम्पोजिंग और छपाई की कठिनाइयां बढ़ गईं । दूसरे में अपेक्षाकृत शीघ्र कम्पोज तो होता है, परन्तु अक्षरों की संख्या ७०० से ऊपर पहुंच गई । फिर भी कभी २ डिगरी के अक्षरों की आवश्यकता पड़ती है ।

देवनागरी के टाइप को सुधारने का सब से अधिक उद्योग महाराष्ट्र में हुआ। बम्बई के निर्णयसागर प्रेस ने संसार भर में संस्कृत ग्रन्थ छापने के योग्य टाइप बनाने में ख्याति पैदा की । लोकमान्य तिलक ने भी केसरी प्रेस के लिये देवनागरी टाइपों में कुछ संशोधन करना चाहा । और व्यय भी किया। बैरिस्टर विनायकराव सावरकर और श्री किर्लोस्कर (सितारा) ने देवनागरी अक्षरों को संशोधित कर अपने पत्र के कुछ अंश निकाले । सन् १९५४ में लंडन की मोनो टाइप कम्पनी ने देवनागरी अक्षरों को अपनी मशीन में लगाने का प्रयत्न किया था पर सफलता नहीं मिली। इसके बाद जब पूना के लोकसंग्रह प्रेस के संचालक श्री शंकर रामचंद्र दाते सन् १९३२ में योरुप गये तो उनकी सहायता से उस कम्पनी ने उस काम को पूरा किया । श्री दाते का यह कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण हुआ।

देवनागरी-लाइनो-टाइप और गोविल जी के प्रयत्न—

ये सज्जन २५।३० वर्षों से देवनागरी लिपि के अध्ययन में लगे रहे हैं। इन्होंने अमेरिका में इस विषय के टेकनिकल ज्ञान का अध्ययन किया । और मुद्रण-कला के आधुनिक आविष्कारों से परिचय प्राप्त किया । इस के बाद ही ये इस चिंता में लगे कि देवनागरी को भी रोमन लिपि की भांति मुद्रण सुविधाएँ किसी प्रकार प्राप्त हो जायँ। सन् १९३१ में आपने अमेरिका के लाइनो-टाइप-कम्पनी के प्रेसीडेन्ट मि० नार्मन डान और उनके सहायक इञ्जीनियर मि० सी० एच० ग्रिफ़िथ के सहयोग से देवनागरी अक्षर लीनोटाइप के निर्माण में हाथ लगाया। बाधाएं बहुत थीं। कम्पनी की शर्त थी कि देवनागरी लिपि की प्रचलित प्रणाली ही काम में लाई जाय । और कहीं भी कोई ऐसा परिवर्तन न किया जाय जिसमें पुरानी पद्धति के पढ़ने वाले पाठकों को कष्ट हो। दूसरी तरफ़ मशीन की यह शर्त थी कि वह अपने की-बोर्ड के ९० बटनों में अधिक से अधिक १२१ अक्षरों को स्थान दे सकती थी । बहुत ही कम व्यवहार में आने वाले अधिक से अधिक ५०-७५ अक्षरों को बाहर रखकर आवश्यकता होने पर हाथ से सांचे (मैट्रिस) की लाइनों में ढ़ाल देने की व्यवस्था की जा सकती थी परन्तु २०० से अधिक अक्षर किसी भी हालत में नहीं लगाए जा सकते थे । संक्षेप में बात यह थी कि जो काम अब तक ७०० अक्षरों में होता था, उसे उन्हें २०० अक्षरों में बिना करन और डिग्री के पूरा करना था। अन्ततः गोविल जी ने कम्पनी और मशीन दोनों की शर्तों को पूरा करके सन् १९३२ में देवनागरी का लाइनो टाइप तयार कर दिया।

बाद में गुजराती, बंगला और तामिल के लिये लाइनो-टाइप तैयार होगया। और उसने मुद्रण-कला में एक नये अध्याय का प्रारम्भ किया।

लिपि-सुधार—

परन्तु लिपि-सुधार की बात तो अभी बाकी है। और वह एक व्यक्ति के करने की नहीं है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने लिपि सुधार के प्रश्न को कई बार उठाया, उसने इस विषय पर विचार करने को एक कमेटी भी कुछ विद्वानों की बनाई जिसमें श्री गोविल जी तथा काका साहेब भी थे। इस कमेटी के समक्ष श्री गोविल जी ने एक लिपि-सुधार-योजना पेश की और तब से अब तक इस सम्बन्ध में कुछ कार्य हो रहा है।

काका साहेब की सुधार-योजना—

काका साहेब कालेलकर की सुधार-योजना के तीन अंग हैं।

१—शिरोरेखा को हटा देना।

२—मात्रा के स्वरूप और स्थान में परिवर्तन करना। जैसे इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ के बदले अि, अी, अु, अू और के, कै, कु, कू, के बदले के, कै, कु, कू इत्यादि। आप ह्रस्व इ की मात्रा भी अक्षर के बाएँ न रखकर दाहिनी ओर रखना चाहते हैं। जैसे 'कि' इस तरह लिखी जाय 'कि'—

३—संयुक्ताक्षर के प्रश्न का निपटारा वे इस प्रकार किया चाहते हैं कि अक्षरों की पाई हटा देने से वे आधे समझे जायं। जिन अक्षरों में पाई नहीं है उनका आधा बनाने के लिये उनके स्वरूप में थोड़ा परिवर्तन कर दिया जाय। अर्ध 'र' के कई रूप हैं। वे चाहते हैं कि 'र' का एक ही रूप रहे। परन्तु सच पूछा जाय तो इतना ही यथेष्ट नहीं है, लिपि को ध्वनि के अनुसार अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाना आवश्यक है, काका साहेब के ये संशोधन मुद्रण-कला के लिये कुछ सुविधाजनक हो सकते हैं परन्तु हमारे सामने टाइपराइटर का, फिर द्रुत-लेखन का भी प्रश्न है।

हिन्दी टाइपराइटर—

टाइपराइटर बनाने के कई बार प्रयत्न हो चुके हैं। रेमिंगटन टाइपराइटर कम्पनी ने, अन्डरवुड कम्पनी ने तथा अत्रे महाशय ने जर्मनी की एक कम्पनी की सहायता से हिन्दी टाइपराइटर बनाने के प्रयत्न किये। परन्तु संयुक्ताक्षरों और मात्राओं के दोष रह गए। असल बात यह है कि जब तक संयुक्ताक्षरों का बखेड़ा

बिल्कुल समाप्त न कर दिया जाय और महाप्राण व्यंजनों की भीड़ हटा न दी जाय तब तक सुविधा नहीं होगी। संयुक्ताक्षरों को बदल कर हलन्त कर दिया जाय, तथा १३ महाप्राण अक्षरों को हटाकर रोमन के H की भांति कोई चिह्न रख दिया जाय तब कठिनाइयां दूर हो सकती हैं।

भारत में अक्षर-ज्ञान—

एक बात विचारने की यह है कि भारत में जिन लोगों को अक्षर-ज्ञान है उनकी संख्या ७ प्रतिशत है। बाकी सौ में ९३ आदमी अक्षरों को नहीं पहचानते। अब इन ९३ आदमियों को ऐसे अक्षर सिखाने की अपेक्षा जो हमें स्वयं दोषपूर्ण दीख रहे हैं, सुधरी हुई लिपि के अक्षर ही सिखाने चाहिएँ। नई लिपि ७ प्रतिशत जनों को अपरिचित ज़रूर लगेगी। परन्तु ९३ प्रतिशत के लिये वह जैसी अब हमारी है, वैसी ही वह नई। यदि हम इन ९३ प्रतिशत जनों को अर्धसुधारी लिपि सिखावें और फिर उसे छुड़ाकर पूर्ण परिष्कृत लिपि, तो यह बड़ी भूल की बात होगी। आज जो कठिनाई ७ प्रतिशत को है वह तब १०० प्रतिशत के लिये हो जायगी। इस लिये लिपि में शीघ्र सुधार करना आवश्यक है।

द्रुत-लिपि (शार्टहैन्ड)—

जब से राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रभाव कौन्सिलों पर पड़ा है तब से वहां हिन्दी में भाषण होने लगे हैं। तथा हिन्दी के दैनिक पत्रों की अवस्था भी अब बहुत उन्नत हो गई है। इस लिये हिन्दी द्रुतलेखकों की आवश्यकता हो गई है।

अंग्रेज़ी में पिटमैन पद्धति पर द्रुत-लेखन भारत में सिखाया जाता है। हिन्दी भाषा में द्रुतलेखन-लिपि की ओर सब से प्रथम ध्यान श्रीशचन्द्रवसु सब जज का गया। उनके परामर्श से काशी के पं० निष्कामेश्वर मिश्र ने सन् १९०७ में हिन्दी शार्टहैन्ड नाम की पुस्तक लिखी। जिसे काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने लंदन से छपवाकर प्रकाशित कराया था। १९२१ में इसी प्रकार का और एक संशोधित संस्करण निकला। यह पुस्तक वास्तव में पिटमैन प्रणाली पर ही लिखी गई थी। उक्त पण्डितजी ने कुछ युवकों को इसकी शिक्षा भी दी। और बनारस में एक कमर्शियल कालेज की स्थापना की। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने भी इसे कोर्स में रख लिया था परन्तु पीछे वह कार्य शिथिल हो गया। इसके बाद प्रयाग से एक पुस्तक ब्रह्माक्षर-प्रकाश किन्हीं सज्जन ने प्रकाशित की जो वास्तव में पिटमैन की पुस्तक की नकल थी। १९३० में आजमगढ़ में मिश्रजी ने

फिर कमर्शियल-इन्स्टीटयूट खोलकर शिक्षा देना प्रारम्भ किया । पीछे वह संस्था ढीली पड़ गई । बनारस में एक तीसरी पुस्तक हिन्दी शार्टहैन्ड और छपी जिसकी छपाई तो साफ़ थी पर थी अधूरी । अतः बेकार थी । इसके बाद ब्यावर (राजपूताना) में एक सज्जन ने एक संस्था खोलकर नवीन पद्धति पर यह विद्या सिखानी प्रारम्भ की, जो कदाचित् अब तक जारी है ।

चौथा अध्याय

ध्वनि

ध्वनि और उसके विकार—

भाषा ध्वनि-संकेतों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । अतएव ध्वनि में वर्ण, शब्द और भाषा सभी आ जाते हैं । किन्तु ध्वनि का यह व्यापक अर्थ है । सामान्य व्यक्ति वर्ण के लिये ध्वनि का व्यवहार करते हैं । हिन्दी भाषा शास्त्रियों ने भी ध्वनि के इसी अर्थ को स्वीकार किया है ।

किन्तु इतना संकुचित अर्थ लेने पर भी 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार अनेक भिन्न २ अर्थों में किया जाता है । ध्वनि से ध्वनि मात्र, भाषण ध्वनि और वर्ण ध्वनि अथवा ध्वनि सामान्य तीनों अर्थ लिये जाते हैं । वर्ण का सामान्य अर्थ तो वही है जो 'वर्णमाला' शब्द में वर्ण का अर्थ समझा जाता है । किन्तु भाषण ध्वनि और ध्वनि मात्र का व्यवहार परिभाषिक अर्थ में ही होता है ।

भाषण-ध्वनि—

भाषण के अवयवों द्वारा उत्पन्न निश्चित श्रवण गुण (अर्थात् श्रवण प्रत्यक्ष) वाली ध्वनि भाषण-ध्वनि कही जाती है । हिन्दी में अक्षरों के भेद कम मिलने के कारण भाषण-ध्वनि को समझने में कठिनाई होती है, किन्तु वैदिक वर्णोच्चारण शिक्षा वाले अथवा गुजराती, मराठी, हिन्दी और बंगला चारों लिपि जानने वाले इस विषय को सुगमता से समझ सकते हैं, कई भाषाओं में इस प्रकार की भाषण-ध्वनि बहुत अधिक होती हैं, पर उन सभी के लिये न तो पृथक् २ लिपि-संकेत ही होते हैं और न उनका होना अत्यावश्यक ही समझा जाता है ।

उदाहरणार्थ, 'जल्दी' और 'माल्टा' शब्दों में एक ही 'ल्' ध्वनि प्रयोग की गई है, किन्तु परीक्षा करने पर विशेषज्ञों ने निश्चय किया है कि पहला 'ल्' दन्त्य है और दूसरा ईषत मूर्धन्य है। अर्थात् बोलते समय दोनों शब्दों में 'ल्' का उच्चारण एक-सा नहीं होता। अतः ध्वनि मात्र तो एक है किन्तु भाषण-ध्वनियां दो हैं। यह दोनों ध्वनि मात्र हैं, परन्तु एक संवृत 'अ' के भी वक्ता के भाषणावयवों में भेद होने से तथा भिन्न २ स्थलों में प्रयुक्त होने से अनेक भाषण-ध्वनियां उत्पन्न हो जाती हैं। यद्यपि साधारण श्रोता इन सूक्ष्म भेदों का विवेक नहीं कर पाता किन्तु वैज्ञानिक परीक्षा उन सब ध्वनियों को भिन्न मानती है। किन्तु व्यवहार में 'ध्वनिमात्र' ही स्पष्ट रहती है। अतएव संवृत 'अ' के लिये केवल एक चिन्ह रख लिया जाता है। इस प्रकार अन्य अनेक अक्षरों के उच्चारण में भी भाषण ध्वनि के रूप देखने को मिल सकते हैं।

वास्तव में 'ध्वनिमात्र' संज्ञा उस प्रकरण में प्रयुक्त होती है जहां भाषा के उच्चारण, रचना और अर्थ अर्थात् ध्वनि, रूप और अर्थ-शक्ति इन तीन पक्षों अथवा अंगों का विश्लेषण और विवेचन किया जाता है। एक पक्ष का कहना है कि भाषा ध्वनिमय है। दूसरे पक्ष का कहना है कि रूप ही भाषा है। तीसरा पक्ष मन पर ज़ोर देता है। पहले पक्ष का विवेचन शरीर-शास्त्र, दूसरे का होरा-शास्त्र तथा तीसरे पक्ष का विवेचन विचार-मनोविज्ञान करता है। अतः उन्हीं के सम्बन्धी शिक्षा, व्याकरण और साहित्य भी क्रमशः शब्द, शब्दरूप और शब्द-शक्ति को अपना विषय बनाते हैं, किन्तु भाषा-विज्ञान तीनों पक्षों को लेता है। अतएव जब वह शिक्षा-शास्त्र की दृष्टि से भाषा का विचार करता है तो वह उसे 'ध्वनि मात्र' कहता है, जब वह लौकिक व्याकरण की दृष्टि से भाषा की बनावट की परीक्षा करता है तो वह भाषा को 'रूप मात्र' समझता है और जब वह साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से भाषा की आत्मा का—उसकी शक्ति का अध्ययन करता है तो वह उसे 'अर्थमात्र' समझता है। विचार कर देखा जाय तो ध्वनि मात्र में रूप और अर्थ का बहिर्भाव और ध्वनि जाति का अन्तर्भाव होता है।

भाषण-ध्वनि के दो भेद—

भाषा की ध्वनियों का अध्ययन इतना महत्त्वपूर्ण है और अन्त में उसका इतना विस्तार हो गया है कि उसके दो विभाग कर दिये गए हैं। एक ध्वनि-शिक्षा (Phonetics) और दूसरा ध्वनि-विचार (Phonology) अथवा ध्वन्यालोचन।

भाषण-ध्वनि का सम्पूर्ण विज्ञान ध्वनि-विचार में आ जाता है, उसमें ध्वनि के विकारों और परिवर्तनों का इतिहास तथा सिद्धान्त दोनों ही आ जाते हैं। किन्तु ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण, उनकी परीक्षा और शिक्षा 'ध्वनि-शिक्षा' का विषय होती है। ध्वनि की उत्पत्ति, उच्चारण-स्थान, प्रयत्न आदि का सीखना-सिखाना इस ध्वनि-शिक्षा अथवा वर्णोच्चारण-शिक्षा के अन्तर्गत आता है। इसी से आजकल उसे परीक्षामूलक ध्वनि-शिक्षा (Experimental Phonetic) कहते हैं। उसकी परीक्षा-पद्धति इतनी बढ़ गई है कि बिना कीमोग्राफ़ (Kymograph) आदि यंत्रों और समीचीन प्रयोगशाला के, शिक्षा का अध्ययन संभव ही नहीं।

हिन्दी के कई विद्वानों ने उस शिक्षा-शास्त्र के लिये 'ध्वनि-विज्ञान' तथा 'वर्ण-विज्ञान' आदि शब्दों का व्यवहार किया है, किन्तु अध्ययन की वर्तमान स्थिति में वर्ण-विचार अथवा ध्वनि-विचार को ही विज्ञान कहना उचित दीख पड़ता है।

ध्वनि-विज्ञान और लिपि—

वर्ण का सच्चा स्वभाव उच्चरित ध्वनि है, लिपि नहीं, किन्तु शास्त्रीय व्यवहार के लिये लिखित संकेतों का होना आवश्यक है। वैज्ञानिक लिपि में जैसा उच्चारण होता है वैसा ही लिखा जाता है और इस कसौटी पर हमारी देवनागरी लिपि ही खरी उतरती है। इस दृष्टि से यह विश्व की सर्वश्रेष्ठ लिपि है। परन्तु भाषा-विज्ञान में एक बात और आवश्यक होती है। उसमें अन्य भाषाओं तथा देशों में पाई जाने वाली ध्वनियों के लिये भी संकेत रहने चाहियें। क्योंकि उनकी परस्पर तुलना की जाती है। इस अभाव की पूर्ति करने के लिये हमको वैज्ञानिक देवनागरी लिपि में भी कुछ और परिवर्तन करने की आवश्यकता दीख पड़ती है। वैसे अभी तक साधारणतया भाषा-विज्ञान के विद्वानों में अन्तर्राष्ट्रीय-ध्वनि-परिषत् (International Phonetic Association) की लिपि का प्रयोग किया जाता है।

ध्वनि-शिक्षा—

ध्वनि-विज्ञान का मूलभूत अंग ध्वनि-शिक्षा है। वास्तव में लिखी भाषा की ध्वनियों का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है—एक तो प्रयोग द्वारा उस भाषा की वर्तमान ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण करके, दूसरे उन ध्वनियों के इतिहास तथा सिद्धान्त का प्रतिपादन करके। पहिले ढंग से ध्वनियों का अध्ययन अर्थात् सीखना-सिखाना ही ध्वनि-शिक्षा है। संस्कृत की जो

वर्णोच्चारण वैदिक शिक्षा प्रसिद्ध है वह एक समय में बोली जाने वाली संस्कृत भाषा से सम्बन्ध रखती थी, किन्तु आज उस विषय के ग्रंथ केवल इतिहास और सिद्धान्त की सामग्री ही उपस्थित करते हैं।

ध्वनि-शिक्षा के दो प्रधान अंग हैं—एक ध्वनियों की उत्पत्ति के स्थान और करण का अध्ययन, दूसरा उन प्रयत्नों की परीक्षा जो उच्चारण में अपेक्षित होते हैं। इस प्रकार स्थान और प्रयत्न का अध्ययन कर लेने पर ही ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण संभव होता है।

नाद-ध्वनि—

व्यवहार में आने वाली प्रत्येक भाषणध्वनि 'श्वास' अथवा 'नाद' होती है। श्वास वाली ध्वनि 'श्वास' और नाद वाली 'नाद' कहलाती है। किन्तु जब हम किसी के कान से कुछ कहते हैं तब नाद ध्वनियां 'जपित' हो जाती हैं और 'श्वास' ज्यों की त्यों रहती हैं। 'जपित' ध्वनियों का व्यवहार में बहुत कम प्रयोग किया जाता है। प, क, स आदि ध्वनियां 'श्वास' हैं। ब, ग, ज आदि इन्हीं की समकक्ष 'नाद' ध्वनियां हैं, स्वर तो सभी नाद होते हैं। 'ह' भी हिंदी और संस्कृत में नाद होता है।

श्रुति—

एक ध्वनि का उच्चारण करने में मुख के अवयव विशेष एक प्रकार का प्रयत्न करते हैं। अतएव जब एक ध्वनि के बाद दूसरी ध्वनि का उच्चारण किया जाता है तो उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर आना पड़ता है। इन परिवर्तनों के समय हवा तो निकला ही करती है, इसके फलस्वरूप एक स्थान और दूसरे स्थान के बीच परिवर्तन ध्वनियां भी निकला करती हैं। यह परिवर्तन ध्वनियां 'श्रुति' कही जाती हैं। इनके दो भेद होते हैं। जो किसी स्वर अथवा व्यञ्जन के पूर्व में आती है उसे 'पूर्वश्रुति' और जो पर में आती है उसे 'परश्रुति' अथवा 'पश्चात् श्रुति' कहते हैं। वास्तव में श्रुति एक नए वर्ण को जन्म देती है, जिससे कालान्तर में शब्द का उच्चारण बदल जाता है, 'इन्द्र' का 'इन्दर', 'पर्वत' का 'परबत', 'प्रकार' का 'परकार', 'भ्रम' का 'भरम' इसी नए वर्ण से बनता है।

प्राण-ध्वनि—

जब काकल के श्वास स्थान से नादस्थान तक आने में एक पूर्वश्रुति होती है तब ध्वनि का प्रारंभ क्रमिक होता है और जब ध्वनि उत्पन्न होने तक श्वास सर्वथा अवरुद्ध रह जाता है तब प्रारंभ स्पष्ट होता है, साधारणतया इन दोनों ही

दशाओं में वक्ता की ध्वनि का आघात (अथवा बलाघात) ठीक स्वर पर ही पड़ता है, परंतु कभी २ वक्ता उस स्वर के उच्चारण के पहले से ही एक आघात अथवा झटके से बोलता है। स्वर का उच्चारण करने के पूर्व एक प्राणध्वनि सुन पड़ती है जैसे ए, ओ, अरे, की पूर्वश्रुतियों पर जोर देने से हे, हो, हरे बन जाते हैं। इसी प्रकार 'अस्थि' और 'ओष्ठ' के समान शब्दों में इसी जोर लगाने की प्रवृत्ति के कारण प्राणध्वनि (ह) आ मिलती है, और उनके 'हड्डी' और 'होठ' आदि शब्द बन जाते हैं। इस प्रकार हिंदी और अंग्रेजी आदि का 'ह' क्रमिक प्रारंभ वाली पूर्वश्रुति का ही जोरदार रूप है।

इस प्राणध्वनि का आगम बोलियों में मध्य और अंत में भी पाया जाता है, जैसे भोजपुरिया लोग 'फटा' और 'खुला' को 'फट्हा' और 'खुल्हा' कहते हैं। दुःख, छिः आदि में जो विसर्ग दीख पड़ते हैं वह भी प्राणध्वनि ही है। ख, घ आदि में जो प्राणध्वनि सुन पड़ती है उसी के कारण संस्कृत भाषाशास्त्रियों ने अल्पप्राण और महाप्राण दो प्रकार की ध्वनियों के भेद किये हैं।

सप्राण स्पर्श—

जब वही श्रुति आदि में न होकर किसी स्पर्श और स्वर के बीच में आती है और उस पर ज़ोर (बल) दिया जाता है, तब 'सप्राण' अर्थात् 'महाप्राण' स्पर्श वर्णों का उच्चारण होता है। जैसे—क् + ह + अ = ख, ग् + ह + अ = घ

ध्वनि-विचार—

ध्वनि-शिक्षा का सम्बन्ध प्रयोग से है, किन्तु ध्वनि-विचार, ध्वनियों के इतिहास, उनकी तुलना और उनके सिद्धान्त सभी का सम्यक् विवेचन करता है। ध्वनि-शास्त्र के सिद्धान्त इतिहास और तुलना की सहायता से ही बनते हैं। अतएव ध्वनिविचार के दो साधारण विभाग किये जाते हैं—(१) इतिहास और तुलना (२) ध्वनि सम्बन्धी सामान्य और विशेष सिद्धान्त।

वैदिक तथा संस्कृत ध्वनि समूह—

प्राचीन वैदिक संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश वर्णों की ध्वनियों के उच्चारण के सम्बन्ध में अच्छी छानबीन हो चुकी है। (१) सब से बड़ा प्रमाण कम से कम तीन सहस्र वर्ष पूर्व से अविच्छिन्न रूप से चली आने वाली वैदिकों तथा संस्कृतज्ञों की परम्परा है। उनका उच्चारण अधिक भिन्न नहीं हुआ है। (२) प्राचीन शिक्षा-ग्रन्थ और प्रातिशाख्यों आदि से भी उस काल के उच्चारण का अच्छा परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित सामग्री भी बड़ी सहायता

करती है । (३) भारतीय नामों तथा शब्दों को ग्रीक प्रत्यक्षरीकरण में—यद्यपि उस विषय के चीनी लेखों से विशेष लाभ नहीं होता, परन्तु ईरानी, मोन, स्यामी, तिब्बती, बर्मी, जावा, मलय, मंगोल और अरबी के प्रत्यक्षरीकरण कभी २ मध्यकालीन उच्चारण का निश्चय करने में सहायता देते हैं । (४) मध्यकालीन आर्यभाषाओं (पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि) तथा आधुनिक आर्य भाषाओं (हिन्दी, मराठी और बंगला आदि) के ध्वनि-विकास में भी प्रचुर प्रमाण मिलता है । (५) इसी प्रकार अवस्ता, प्राचीन फ़ारसी, ग्रीक, गाथिक, लैटिन आदि संस्कृत की सजातीय भाषाओं की तुलना से भी सहायता मिलती है । (६) इन सब की उचित खोज करने के लिये ध्वनि-शिक्षा के सिद्धान्त तथा भाषा के सामान्य-ध्वनि-विकास का भी विचार करना पड़ता है ।

वैदिक काल के बाद लौकिक संस्कृत तथा पाली में हम ध्वनियों का अन्तर कम नहीं पाते ।

पाली-ध्वनि-समूह—

पाली में दस स्वर अ आ इ ई उ ऊ ए ऍ ओ तथा ऑ पाए जाते हैं । ऋ, ॠ, ऌ, ऐ और औ का सर्वथा अभाव है । पाली में विसर्ग नहीं होता । श ष स तीनों के स्थान में स का ही प्रयोग होता था । संस्कृत के अन्य सभी व्यञ्जन पाली में पाए जाते हैं ।

प्राकृत-ध्वनि-समूह—

पाली के पीछे की प्राकृतों का ध्वनि-समूह प्रायः समान ही पाया जाता है । उसमें भी वह ही स्वर तथा व्यञ्जन पाए जाते हैं । शौरसेनी प्राकृत में पाली के ळ तथा ळ्ह भी मिलते हैं । परंतु 'न' और 'प' शौरसेनी में नहीं मिलते । उनके स्थान में 'ण' और 'ज' हो जाते हैं ।

अपभ्रंश का ध्वनि-समूह—

अपभ्रंश काल में भी ध्वनि-समूह में कोई विशेष अंतर नहीं दिखलाई पड़ता ।

हिन्दी-ध्वनि-समूह—

हिन्दी के १० स्वर तथा ३७ व्यञ्जन पुरानी हिन्दी में सब के सब मिलते हैं । पुरानी हिन्दी में इनके अतिरिक्त 'ऐ' तथा 'औ' दो सन्ध्यक्षरों का विकास भी मिलता है । आधुनिक हिन्दी में स्वर तो वही पुरानी हिन्दी के १२ हैं, परंतु उसके व्यञ्जनों में वृद्धि हुई है । क़, ख़, ग़, ज़ तथा फ़ के अतिरिक्त ऑ

तथा ए आदि अनेक ध्वनियां तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होने लगीं। केवल ऋ, ष, श ऐसे व्यञ्जन हैं जो देवनागरी में हैं और संस्कृत तत्सम शब्दों में भी आते हैं पर वह हिन्दी में शुद्ध उच्चरित नहीं होते अतएव हिन्दी में उनका अभाव ही मानना चाहिये।

इस प्रकार भिन्न २ काल की भारतीय आर्य भाषाओं के ध्वनि-समूह से परिचय कर लेने पर उनकी परस्पर तुलना करना, तुलना के आधार पर ध्वनियों के इतिहास का विचार करना भाषाशास्त्र का एक आवश्यक अंग माना गया है।

ध्वनि-विचार—

तुलना और इतिहास की सहायता से भिन्न २ कालों की ध्वनियों का अध्ययन करके हम देखते हैं कि ध्वनियां सदा एक सी ही नहीं रहतीं—उनमें विकार हुआ करते हैं। इन्हीं विकारों के अध्ययन को 'ध्वनि-विचार' कहते हैं। ध्वनि विकारों के भेद, उनके कारण तथा उनके इतिहास का अध्ययन और इसी अध्ययन के आधार पर स्थिर किये हुए सामान्य तथा विशेष नियम सभी ध्वनिविचार के अन्तर्गत आते हैं।

मात्राभेद, लोप, आगम (स्वर अथवा व्यञ्जन का), वर्ण विपर्यय, संधि और एकीभाव, सावर्ण्य अथवा सारूप्य, असावर्ण्य, भ्रामक उत्पत्ति, विशेष ध्वनि विकार की अपेक्षा से ध्वनि-विचार का विशेष अध्ययन किया जा सकता है।

ध्वनि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तीन बातों से रहता है—व्यक्ति, देश और काल। यह ही तीनों ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करते हैं जिनसे ध्वनि में विकार होते हैं। यह इतिहास और अनुभव से सिद्ध है कि जिस भाषा के वक्ता विदेशियों तथा विजातीयों से अधिक मिलते जुलते हैं उसी भाषा की ध्वनियों में अधिक विकार होते हैं।

ध्वनि-विकार के कारण—

ध्वनि-विचार के साथ ही यह भी विचार करना चाहिये कि वह कौन से भीतरी कारण हैं जिनके सहारे यह विकार जन्म लेते और बढ़ते हैं—

(१) **श्रुति**—पीछे पूर्वश्रुति और परश्रुति का वर्णन किया जा चुका है। यदि विचार कर देखा जावे तो अनेक प्रकार के आगमों का कारण श्रुति मानी जा सकती है। स्त्री से इस्त्री, धर्म से धरम, ओठ से होठ आदि में जो पहले श्रुति थी वही पीछे से पूरा वर्ण बन बैठी।

(२) कुछ आगम उपमान अथवा अंध-साद्दश्य के कारण भी होते हैं। जैसे—दुक्ख की उपमा पर सुक्ख में क् का आगम। इसी प्रकार चमेली के उपमान पर लोग बेल को बेली कह देते हैं।

(३) कुछ आगम छंद और मात्रा के कारण भी आ जाते हैं। जैसे ऋग्वेद में 'वेद' का 'वेय' और प्राकृत में 'कम्म' का 'काम' हो जाता है।

(४) वर्णविपर्यय के उदाहरणों को हम प्रमाद और अशक्ति का फल कह सकते हैं। तभी तो लोग आदमी को आमदी, चाकू को काचू और बतासा को बसाता आदि बना देते हैं।

(५) संधि और एकीभाव का कारण स्पष्ट हो मुख-सुख होता है। 'चलइ' की 'चलै' और 'अउर' को 'और' कर लेने में कुछ सुख मिलता है।

(६) लोप, मात्रा-भेद आदि का प्रधान कारण स्वर तथा बल का आघात होता है। प्राकृतों में जो अनेक प्रकार के ध्वनिलोप हुए हैं उनमें से अनेक का कारण बल का घटना बढ़ना माना जाता है। जो वर्ण निर्बल रहते थे वे ही पहले लुप्त होते थे, जो स्वर निर्बल रहते थे वे ह्रस्व हो जाते थे।

ध्वनि-नियम—

भिन्न २ भाषाओं में एक ही काल में और एक ही भाषा में भिन्न २ कालों में होने वाले इन ध्वनि-विकारों की यथाविधि तुलना करने से यह निश्चय हो जाता है कि ध्वनियों में विकार कुछ नियमों के अनुसार होते हैं। किन्तु जिस प्रकार न्यूटन का 'गति नियम' (Law of motion) सदा सभी स्थानों में ठीक उतरता है उसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक ध्वनि-नियम सभी भाषाओं में अथवा एक ही भाषा के सभी कालों में ठीक समझा जावे। ध्वनि-नियम वास्तव में एक निश्चित काल के भीतर होने वाले किसी एक भाषा के अथवा किन्हीं अनेक भाषाओं के ध्वनि-विकारों का कथन मात्र है।

अपश्रुति अथवा अक्षरावस्थान—

कभी २ एक ही धातु से बने दो या तीन शब्दों में केवल अक्षर-परिवर्तन होने से अर्थ और रूप में भेद हो जाता है, व्यञ्जन के सर्वथा अक्षुण्ण रहते हुए भी केवल स्वर वर्णों के परिवर्तन से अर्थ और रूप में भेद हो जाता है, जैसे संस्कृत में भृतः भरति और बभारः अथवा उदितः वदति और वाद। अथवा हिन्दी में

मिलना और मेल। अथवा अरबी में हिमर और हमीर। अंग्रेजी में Sing, Sang और Sung इत्यादि। इसी कार्य के सिद्धान्त को अपश्रुति अथवा अक्षरावस्थान कहते हैं। अपश्रुति के द्वारा शब्दों और रूपों की रचना में बड़ा भेद हो जाया करता है। प्राचीन काल में अपश्रुति का बड़ा प्रभाव रहा होगा। क्योंकि उस प्रभाव के अवशेष आज भी ग्रीक, तथा संस्कृत आदि में देख पड़ते हैं।

दूसरा खण्ड

साहित्य

पहला अध्याय

बाह्य जगत् में विश्व की सृष्टि का जो अनवरत प्रवाह जारी है, मानव-हृदय की विचार और भावना की सृष्टि उसी की प्रतिध्वनि है।

साहित्य की परिभाषा—

जगत्-सृष्टि में यह जो जीवन का अनन्त प्रवाह बह रहा है, उस प्रवाह का मूलस्रोत एक अनिर्वचनीय आनन्द है, यही आनन्द एक कणमात्र जब संस्कार-भावित हृदय को छू जाता है तब उसके हृदय की वीणा का कोई एक तार झंकृत हो उठता है और उस से साहित्य सृजन होने लगता है। इस साहित्य सृजन में अधिक सरसता तब उत्पन्न होती है जब मानव-हृदय पीड़ानन्द की अनुभूति करता है। पीड़ानन्द एक दुर्धर्ष पदार्थ है। वह सब किसी को प्राप्य नहीं है, केवल उत्कृष्ट मानव-हृदय ही पीड़ा में आनन्द की अनुभूति करते हैं और उस अनुभूति से ओत-प्रोत होकर कोमलतर भावों का हृदय में स्फुरण होता है। जिसे इन्द्रिय-गोचर कर मानव-जनपद युग २ तक आप्यायित रहता है।

इस प्रकार अनन्त प्रवाहमय जीवन में सृष्टि के प्रतिघात से जो आवेग मानव-हृदय में उत्पन्न होता है, उसका विकसित रूप ही साहित्य है। यह साहित्य वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है। रचयिता उसका निर्माता नहीं है, रचयिता का हृदय एक बंसी है। विश्व का निश्वास उसमें फूंक मारता है, और वह स्वर ताल मूर्छना सहित सप्त स्वरों में बज उठती है। अलबत्त, इतनी बात अवश्य है कि उसमें रचयिता का कौशल अवश्य होता है, कहना चाहिये कि रचयिता अपने साहित्य में अपने ही

को सृजन करता है। संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि साहित्य मानव-हृदय और मानव-चरित्र का एक रेखा-चित्र है।

जिस प्रकार हम भोजन को उदरस्थ शरीर यन्त्रों की प्रक्रिया के द्वारा पचाकर उसे शरीर का अङ्ग बना लेते हैं उसी प्रकार हम बाह्य विषय को हृदयंगम करके हृदय की वृत्ति के रस में उसे जीर्ण कर लेते हैं। इससे हमारे हृदय में विस्मय, प्रेम, और कल्पना सजग हो उठती है और वह अनेक रसों और भावों से ओतप्रोत होकर बह निकलता है। यही साहित्य का अमर स्रोत है। रचयिता के हृदय का जितना ही अधिक अधिकार संसार के ऊपर होता है, और जितना ही वह स्थायी रूप में उसे व्यक्त करने की क्षमता सम्पन्न कर पाता है, उतना ही वह उच्चकोटि का उद्गाता कहाता है। वह आवश्यकता पड़ने पर छन्दों, अलंकारों रूपकों और इङ्गितों का सहारा लेता है। दर्शन और विज्ञान की अगम गहरी कन्दराओं में उतरता है। परन्तु वाणी की अनिर्वचनीयता की रक्षा करना उसका कर्तव्य हो जाता है। यह अनिर्वचनीयता कभी २ भाषातीत बन जाती है। केवल भाषा और अलंकारों की सहायता से रचयिता हृत्तरङ्गों को नहीं व्यक्त कर सकता। तब उसे संगीत का और चित्र की रेखाओं का सहारा लेना पड़ता है। वाणी से, कवित्व से, अलंकारों से जब वह अपने भाव प्रकट करने में असमर्थ हो जाता है, तब संगीत की स्वरलहरियों और गीतियों से, उसमें भी असहाय होने पर चित्र की रेखाओं में व्याकुल वर्णन करता है।

साहित्य का मानवता के विकास पर प्रभाव—

मानव-जीवन एक प्रकार का विकास का व्यापार है। इस विकास के द्वारा ही हम विश्वदर्शन कर पाते हैं। विश्व के जितने अंश को हम जान लेंगे उतना ही हमारा विस्तार होगा। विश्व से जितने ही परिमाण में हम दूर हैं उतने ही परिमाण में हम छोटे हैं।

ज्ञान के द्वारा विश्व में हम अधिकाधिक व्याप्त होते हैं और उस व्याप्ति के प्रभाव से जब हम क्रियाशीलता पर अग्रसर होते हैं तो हमारी कर्मशक्ति समस्त जगत् में व्याप्त होती है। फिर जब हम ज्ञान और शक्ति के अधिष्ठाता के रूप में अपने को पाते हैं तो जीवन में आनन्द की अनुभूति हमें होती है। इस प्रकार ज्ञानशक्ति और आनन्द की प्राप्ति मानवता की चरम-मर्यादा है जो साहित्य के विकास से हमें प्राप्त होती है।

साहित्य-सृजन—

मानव-हृदय भावनाओं का क्षेत्र है; पर सभी मनुष्यों के हृदयों में भावनाएँ विकसित नहीं होतीं। वे आती जाती रहती हैं, परन्तु जो लोग भावुक होते हैं उन के मन में वे भाव बढ़ कर विकसित होते हैं। सुअवसर पाकर वे विश्व-मानव की मानसिक भूमि पर अनन्त जीवन की लीला का विस्तार करती हैं। इन्हीं भावनाओं की प्रतिक्रिया द्वारा मनुष्य मनुष्य का सम्मेलन होता है। अपनी भावनाओं के भार को दूसरे जनों में बांट देने के लिये मनुष्य सदैव दूसरे जन के मन को ढूंढता रहता है। ये ही भावनाएँ मनुष्य की सामाजिक भावनाएँ हैं। ये उसे अकेला नहीं रहने देतीं। चुप भी नहीं बैठने देतीं। उन्हीं भावनाओं की ताड़ना से प्रताड़ित होकर मनुष्य, बोलते, बकते, लड़ते, झगड़ते, गाते, हँसते, रोते, विलाप करते, काव्य, कहानी, गल्प, मूर्ति, चित्र रचते, महल बनाते; और न जाने कितने करने न करने योग्य कार्य करते हैं। यही सब समष्टि रूप से साहित्य है और उसके सृजन में यही भावना प्रमुख सहायक है।

साहित्य का आदर्श—

साहित्य का आदर्श ऐसा होना चाहिए जिसकी पुनीत गंगा में स्नान करके कोटि २ मानव-हृदय चिरकाल तक पात-ताप से रहित होकर निर्मल और सबल होते रहें।

आर्य-साहित्य में रामायण और महाभारत दो आदर्श ग्रन्थ हैं जिनका स्थान विश्व-साहित्य में बहुत ऊँचा है। इन ग्रन्थों में जैसी राजनीति है वैसी ही धर्मनीति भी है। इनमें युगयुग के लिये मानव-समाज की आत्मा का पुष्टिकारक भोजन है। पिता के लिये पुत्र की वश्यता, भाई के लिये भाई का कर्तव्य, पतिपत्नी की एकनिष्ठा, प्रजा के प्रति राजा के कर्तव्य, देशप्रेम और राष्ट्र की एकता का सूत्र, भूत और भविष्य के मानव-जनपद की हितकामना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन अद्भुत अमर ग्रन्थों में भरा पड़ा है। इनमें शान्ति और शक्ति का वह अटूट झरना झर रहा है, जिसने हजारों बर्ष से कोटि २ जनों को आप्लवित किया है और लक्षावधि वर्षों तक करता रहेगा। विश्वसाहित्य में इनकी समता की आत्मभोजन-सामग्री और नहीं है।

महाभारत ही को लीजिए, उसमें पापचित्र भी विशद भाव से दिखाया गया है। परन्तु सर्वत्र ही धर्मजय की विषद प्रभा का प्रदर्शन है। इसी से महान् रक्तरंजित कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र के नाम से पुकारा गया है।

रामायण में धर्म की विजयपताका अयोध्या से लंका तक फहराती नज़र आती है। उससे वन, वीथी, पर्वत, आश्रम सभी कुछ प्रभावित हैं। रामराज्य के उस प्रभाव ही से हिमालय से लेकर कन्याकुमारी के अन्तरीप तक का क्षेत्र धर्म-क्षेत्र हो गया है। लङ्का का कलुष और दण्डकारण्य का आतङ्क भी उसी प्रभाव से धर्ममय हो गया है।

दोनों ही महान् ग्रन्थ दो आदर्शों पर मानव जनपद का संतुलन करते हैं। महाभारत अधिकार के रक्षण के लिये सशस्त्र विद्रोह से भ्रातृ-रक्तपात की चरम सीमा को भी उल्लङ्घन कर डालता है और रामायण 'कर्तव्य-पथ पर महासामर्थ्य-वान् राम की, पत्नी और भाइयों सहित तप-त्याग, तेज और सहिष्णुता के आदर्श की हद् कर देता है। दोनों ही ग्रन्थों में मानवीय संघर्ष का चरम उत्कर्ष हम देख पाते हैं।

उसके बाद हम भास, कालीदास, भवभूति, माघ, भारवि और श्रीहर्ष की विचार-धाराओं पर विचार करते हैं, तो वहां भी आदर्शों की उच्चतम भावनाएँ दृष्टिगोचर पड़ती हैं। भास की जो अमर रचनाएँ हमें हाल ही में उपलब्ध हुई हैं, उनमें हमें भाषा और भावों का अद्भुत और सरल संयत रूप ही नहीं, आदर्शों का एक सीमादुर्ग भी प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, जो निस्संदेह किसी भी कलुषित भावना के लिये दुर्लंध्य हुआ है।

कालीदास की रचनाओं में पार्वती का तप, हिमालय का शिवानुराग एक असाध्य साधन है। शकुन्तला विश्व की कोमलतम स्त्रीमूर्ति है, दुष्यन्त का धर्मानुताप भी मानव परिष्कार का असाधारण उदाहरण है। इसी प्रकार का, बल्कि उससे भी बहुत ऊँचा धर्मानुताप भवभूति ने भग्नहृदय राम का अंकित किया है। इसी कारण यह साहित्य-जीवन को युग २ से दुर्बल और स्खलित मानव हृदयों का महाशक्तिशाली अवलम्बन रहा है।

पाश्चात्य साहित्य ने आज भारतीय साहित्य को भी उसी प्रकार आक्रान्त किया है, जिस प्रकार राजनीति ने भारतीय राष्ट्र को। इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्य साहित्य के मिश्रण और प्रभाव से हमारे साहित्य को बहुत २ पूर्णता प्राप्त हुई है। उसका विस्तार भी बहुमुखी बन गया है। पाश्चात्य साहित्य में भी धर्म-गौरव है। मानव प्रकृति के घातोपघात का प्रबल संघर्ष है। परन्तु उसमें धर्म-विजय नहीं है। पाश्चात्य साहित्यकार प्रकृति के उत्कृष्ट चित्रकार तो हैं, परन्तु जहां आर्य साहित्य में प्रकृति की सुशोभनीय अलंकृत मूर्ति चित्रित है,

वहां अंग्रेज़ी साहित्य में उसका नग्न रूप ही अधिकांश में अंकित है। वहां प्रकृति को पाशव और तमोगुणी रूप की ही प्रबलता है।

शेक्सपियर अंग्रेजी साहित्य के महामान्य कलाकार हैं। वे मानव प्रकृति और पाश्चात्य जनपद के अप्रतिम चित्रकार हैं। उनकी प्रधान सम्पत्ति वियोगान्त नाटक हैं। इन दृश्य काव्यों में उन्होंने न केवल अतिमानव आकृतियों का चित्र ही खींचा है; प्रत्युत अपनी सामर्थ्य से उनकी सृष्टि भी की है। उनके इस कार्य में उनकी स्पर्धा करने वाला कलाकार पाश्चात्य जगत में दूसरा नहीं है।

परन्तु मानव आत्मा की आकृतियाँ पशुत्व और मनुष्यत्व तथा देवत्व की भावनाओं से आश्लिष्ट होती हैं। शरीर-उद्वेग उन में 'पशुत्व' है, बुद्धि-संघर्ष 'मनुष्यत्व' है। और तप, त्याग 'देवत्व' है। ये ही तीनों गुण क्रमशः प्रकृति के त्रिगुण तम-रज-सत्व के नाम से विख्यात हैं। इन्हीं से मानव प्रकृति का निर्माण हुआ है। यह स्पष्ट है कि जनपद में तमोगुण बहुत है, रजोगुण परिमित और सतोगुण विरल है। ऐसी अवस्था में कलाकार यदि जनपद का सच्चा चित्र खींचना चाहेगा तो वह चित्र तमोमय और रजोगुण मिश्रित ही बनेगा। ऐसा यदि वह नहीं करता है तो मानव प्रकृति का ठीक २ चित्र बना ही नहीं सकता। कलाकार को अपने चित्र में भीतर घुस कर उसके अन्तस्तल को देखकर अपनी रेखाओं को गहरा हलका करना पड़ता है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि वह तमोगुण और रजोगुण में लिप्त हो जाय।

शेक्सपियर की रचनाओं में जनपद के इस आलोक और अन्धकार के सच्चे चित्र प्रतिबिम्बित हैं। उन्होंने बिन्दु २ करके जन समाज का निरीक्षण किया और उसे तमोगुण-बहुल देखा, और उसे पापगलित चित्रों का अंकन और सृजन करना पड़ा।

परन्तु कलाविद् का अन्तस्तल वास्तव में कोई फ़ोटोग्राफ़ी का केमरा नहीं है। वह तो स्फुरणशील, जीवनमय, जाग्रत आलोक की दिव्य प्रभा से जगमगाता हुआ कल्पना का महा प्राङ्गण है। उस में भूत भविष्यत और वर्तमान का जनपद, जीता, मरता, और संघर्ष करता है। कलाविद् यह सब देखता है, वह केवल विश्व के संघर्ष को देखता ही नहीं है, उस संघर्ष की धारा को गतिमती भी बनाता है। वह जनपद का गुरु, पथप्रदर्शक और नेता है। वह कोटि २ निरीह मनुकुल को जीवन के इस छोर से उस छोर तक निरापद ले जाने वाला है। इस लिये उसका यह कर्तव्य है कि वह सावधानी से यह सोचे कि कैसे वह मानव जनपद का

तमोगुण और रजोगुण बहुल प्रकृति से उद्धार करके उसकी आत्मा में सतोगुण का दिव्य तेज और निर्मल प्रकाश भर दे। यह कार्य वह जितनी सफलता, कुशलता और शक्ति से सम्पन्न कर सकता है वह उतना ही अमर कलाकार हो जाता है। वहीं मानव जनपद का पिता, नेता, नियन्ता है। वह अमर है।

अध्याय दूसरा

साहित्य की अभिव्यञ्जनाएँ

रस—

लोकोत्तर आनन्द को ही रस कहते हैं। रस ही साहित्य का प्राण है। रसहीन साहित्य अर्थहीन बकवाद है। रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहते हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से जब स्थायी भाव व्यक्त होता है तब रस की उत्पत्ति होती है। वास्तव में प्रेम और आनन्द का मन में स्फुरण होने से रसका आविर्भाव होता है।

करुण रस—

वियोगान्त नाटकों में जितनी ही करुणरस की अभिव्यंजना होती हैं उतनी ही उसकी प्रशस्ति होती है। परन्तु करुणा रस बिना भयानक के सम्पूर्ण नहीं होता। 'भयानक' के लिये वीभत्स रस का संचार करना पड़ता है। और उसके लिये रक्तपात। रक्तपात के रोमाञ्चकारी दृश्यों से जब चेतना ओतप्रोत होकर शरीर कांप उठता है तब वीभत्स रस का संचार होता है। उसके बाद धीरे २ उसका प्रशमन होकर आक्रान्त व्यक्ति के प्रति सहानुभूति का अंकुर उगता है। तब करुण रस उत्पन्न होता है। पर सर्वत्र ही आहत व्यक्ति के लिये करुणा का संचार नहीं होता। कीचक और दुःशासन के वध पर करुण रस का संचार नहीं होता। पाश्चात्य प्रसिद्ध नाटक में मेकबेथ के मारे जाने पर भी करुण रस का उदय नहीं होता। जहां भ्रम या कुत्सा के वश होकर निरीह व्यक्ति की हत्या होती है, वहीं करुण रस का प्रादुर्भाव होता है, वियोगान्त नाटक प्रायः यह दिखाते हैं कि

दुर्वासनाएँ कैसा भयंकर रूप धारण करती हैं। और उनका अन्त विनाश के बिन्दु पर होता है। महाभारत और रामायण में युधिष्ठिर और राम के चरित्र गहन दुरवस्थाओं में से विकसित होते हुए दिखाए गए हैं। चरित्र के उस विकास से ही उनमें शान्त रस का प्रसार हुआ है। शेक्सपियर के नाटकों में यह बात नहीं हो पाई है। लैटिन और ग्रीक नाटकों में भी ऐसा ही है। प्रारम्भ में यूरोप में नाटक का आदर्श ग्रीस से लिया गया था। पीछे उन में भिन्न २ जातियों की रुचि और स्वभाव के अनुसार परिवर्तन हुए। योरुप की जातियां प्रायः कठोर स्वभाव की हैं। जिन्होंने स्पार्टा के कठोर निष्ठुर जीवन नियमों को पढ़ा है वे सहज ही में प्राचीन ग्रीस के मानव स्वभाव की कल्पना कर सकते हैं। सुकरात का बध एक ऐसा उदाहरण है जिस के सम्बन्ध में इस बात पर विचार किया जा सकता है कि कैसे उस देश के लोगों ने चुपचाप इस महात्मा का वध देख लिया। महात्मा ईसा का वध, और उस पर योरुपदेशीय जनपद के निर्मम भाव भी इस बात का समर्थन करते हैं, कि वियोगान्त नाटकों के लिये वह भूमि अधिक उपयुक्त है।

शेक्सपियर के उत्कृष्ट नाटक 'ओथेलो' पर तनिक विचार कीजिए। एक निष्ठुर क्रूर पति एकान्त रात्रि में अपने पौरुष और विवेक की सम्पूर्ण सत्ता को खोकर किस प्रकार अपनी कोमल भावुक सुन्दरी पत्नी का गला घोंट कर केवल संदेह के आधार पर उसका वध कर डालता है। जिन गहन कोमलतम करुण भावों की अभिव्यंजना प्रकट करने का यह कुत्सित कार्य रंगमंच पर किया गया है, वह साधारण नहीं है; और इस निर्मम हत्याकाण्ड को चुपचाप देखते रहना योरुप की जातियों के उस निष्ठुर स्वभाव का ही प्रदर्शन करता है, जिसका स्वरूप हम वैण्डल, गाथ आदि प्राचीन जातियों के इतिहास में, स्पार्टा और रोमनों के ग्लैडिएटर के खेलों में, क्रूसेड के रक्तपात और इन्क्विजिशन के नर-रक्तपात में देख पाते हैं। यहूदियों का उत्पीड़न और विचक्रैफ्ट के दण्ड योरुप के क्रूराचार के ज्वलंत उदाहरण हैं। अंग्रेज और स्काटों के रक्त भरे इतिहास के पृष्ठ, फ्रान्स की रक्तक्रान्ति और प्रोटेस्टेन्टस् तथा रोमन कैथालिकों की धर्म हत्याएं, तथा स्पेन की अमेरिका विजय की वीभत्स खूनखराबी इस बात का प्रमाण है कि योरुप की जातियों का निर्माण क्रूर उपकरणों से हुआ है। इसी से उनके साहित्य में हम तमोगुण बहुल रक्तपात पाते हैं। उनमें शौर्य के प्रदर्शन की कमी नहीं है परन्तु चरित्र का विकास नहीं हो पाया है। जिस प्रकार युधिष्ठिर और राम के चरित्र। उनमें मानवता बाहरी और भीतरी रूप कल्पना को पूर्ण रूप से आत्मसात कर लिया है, उस से वे प्रताडित

होने पर भी, दुर्धर्ष रक्तपात करने पर भी जनपद के न तो दया के पात्र बनने पाये हैं और न घृणा के। उनके अनन्य कल्पना विस्मृत चरित्र के विकास ने उनके प्रति जनपद के मन में श्रद्धा और भक्ति का इतना अधिक जाग्रत किया है, कि उन्हें देवत्व के पद तक पहुँचा दिया है।

शेक्सपियर के राजा लियर के कष्टों का भी अन्त नहीं है। कान्स्टेन्स भी पुत्र-शोक से उत्तरा के समान ही कातर हो गई है, उन्होंने अपने साथ औरों को रुलाया अवश्य है, पर उस रोदन में ही उनकी समाप्ति हो गई है।

वास्तव में उत्कृष्ट वियोगान्त नाटकों में चरित्र के विकास की बहुत कम गुंजाइश है। उसका रस भयानक ही है और करुणा उसकी सीमा की परिधि है। यदि उस परिधि को पार करके उदात्त भाव को विकसित किया जाता है तो शान्त रस का उदय हो कर करुण रस भंग हो जाता है।

वीर-रस—

पाश्चात्य नाटकों और काव्यों में जिस प्रकार कुत्सा की प्रबलता से वीर रस का प्रादुर्भाव हुआ है, आर्य साहित्य में ऐसा नहीं है। आर्य साहित्य में सर्वत्र वीर रस का उदय निष्ठा और चरित्र की मर्यादित सीमा में है। मिल्टन में कुत्सा के वीरत्व की विजय है, परन्तु व्यास के वीरत्व में निष्ठा और चरित्र है। व्यास ने बड़े कौशल से भीम और अर्जुन के चरमोत्कृष्ट वीरत्व को दो भागों में प्रदर्शन किया है। भीम का वीरत्व जहां शरीर-सामर्थ्य प्रकट करता है; वहां अर्जुन का वीरत्व सामरिक शौर्य का प्रदर्शन करता है। दुर्योधन, भीम की अपेक्षा श्रेष्ठ शरीर बल का अधिष्ठाता है; वह अधिकार शक्ति सम्पन्न भी है। और उदात्त गुणों की भी उसमें कमी नहीं है। फिर भी भीम का वह प्रकाण्ड शरीर बल जिस प्रकार निष्ठा से अनुबंधित है वैसा दुर्योधन का नहीं है। यही हाल अर्जुन के प्रतिद्वन्दी कर्ण और धृष्टद्युम्न के प्रतियोगी द्रोण का भी है। दोनों ही उदाहरणों में प्रतिद्वन्दी सब भावों से श्रेष्ठ होने पर भी उनके शौर्य में निष्ठा का भाव नहीं है।

परन्तु व्यास की कल्पना में इस दृष्टिकोण से सर्वाधिक सम्पूर्ण चित्रता भीष्म और अभिमन्यु के चित्रण में है। जिस प्रकार महाप्राण भीष्म अकेले ही सम्पूर्ण पाण्डवों के प्रतियोगी हैं, उसी प्रकार बालक अभिमन्यु सारे ही कौरवों का प्रतिद्वन्द्वी है। भीष्म के अकेले व्यक्तित्व में जो अजेय महाशक्ति संचित है, वह शिशु सुकुमार अभिमन्यु में नहीं है, फिर सम्पूर्ण कुरु दल की सामर्थ्य पाण्डवों की सामर्थ्य के सामने बहुत भारी है। भीष्म और अभिमन्यु दोनों ही युद्ध में निहत होते हैं

परन्तु निष्ठा का पलड़ा महाप्राण भीष्म की अपेक्षा शिशुकुमार अभिमन्यु ही के चरित्र में भारी आया है।

युधिष्ठिर की सृष्टि महाभारत में अद्भुत है। सारे ही कौरव दल में उनका कोई प्रतियोगी दीख ही नहीं पड़ता। उनकी निष्ठा तो मानव प्रतियोगिता से परे हो गई है। यही दशा श्रीकृष्ण की निष्ठा की भी है। उसी निष्ठा के सहारे वे पाण्डवों को परिजनों के रक्तपात के लिये उत्साहित करने में तिलमात्र भी कुण्ठित नहीं हुए।

वाल्मीकि व्यास से बहुत बढ़ गये हैं। वे निष्ठा के बल पर मानव में देवत्व के आरोप करने में सफल हुए हैं। यद्यपि व्यास ने भी ऐसा ही किया है। विजयी पाण्डव युधिष्ठिर के आधीन थे और युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के। वास्तव में कृष्ण ही महाभारत के नायक हैं, युधिष्ठिर नहीं। परन्तु कृष्ण का देवत्व प्रतिपादन करने पर भी व्यास उन्हें वह प्रभुता नहीं दे सके जो वाल्मीकि ने राम को दी। तुलसी की बात हम उनके प्रसंग में कहेंगे। यहां वाल्मीकि की ही बात लेते हैं। उनके राम अकेले ही रामायण के नायक हैं। वीरता के सम्पूर्ण अङ्ग उनके अकेले व्यक्तित्व में ही पूर्ण विकसित हो गये हैं। उनके अकेले के व्यक्तित्व में युधिष्ठिर का गौरव, अर्जुन का शौर्य, भीम का साहस और कृष्ण का तेज है। फिर भी उनमें राज्याधिकार के लिये युधिष्ठिर के समान लिप्सा नहीं है। वे कर्तव्य पथ के पथिक, धैर्य, तप और तेज की ज्वलन्त मूर्ति हैं। धनुर्भंग के समय, रावण और कुम्भकरण जैसे विकट योद्धाओं के हनन करने के समय उनके भीम बल का परिचय मिलता है। केवल वानरों की सेना से विकट राक्षस कटक का सामना करना, उन में अर्जुन का रणपांडित्य व्यक्त करता है। लक्ष्मण और भरत के उदात्त चरित्र अतिपूर्ण होने पर भी राम उनसे श्रेष्ठ हैं। उनकी निष्ठा, राज्यत्याग कर वनवासी होने में, सीता के उद्धार के लिये लोकोत्तर शौर्य प्रकट करने में, और नगण्य प्रजाजन के अपवाद के भय से प्राणाधिक सीता को त्याग देने में व्यक्त होती है। शक्ति और धैर्य एवं निष्ठा के महासंगम ने उन्हें देवत्व दिया है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आर्य संस्कृति के वियोगान्त दृश्यों में योरुप जैसे क्रूर रक्तपात नहीं हैं। फिर भी वियोगान्त भावों की प्रमुख अभिव्यञ्जनाएँ उनमें ओतप्रोत हैं। जो करुण रस वियोगान्त नाटकों का प्रधान गुण है वह आर्य साहित्य में परिपूर्ण है। सीता, शकुन्तला, मालविका महाश्वेता के व्यथित हृदयों पर दृष्टि डालिये, वाल्मीकि ने सीता का कैसे करुण भाव से पृथ्वी-प्रवेश कराया है। राम जैसे आदर्शपति से त्यक्त सीता सर्वथा अक्रोध होकर पति के प्रति

श्रद्धा और प्रेम के पुष्प बखेरती हुई वियोग के दिन काटती और फिर पृथ्वी प्रवेश करती है। राम ओथेलो जैसे निष्ठुर अविचारक नहीं हैं। वे जैसे आदर्श पति हैं, वैसे ही आदर्श राजा हैं और वैसे ही आदर्श महामानव हैं। एक आदश पर प्रिय पत्नी सीता को त्याग कर; वे उस से भी ऊँचे होकर देवपद के अधिकारी हो गये हैं। जन्म दुःखिनी सीता का दुःख जैसे राम अपने हृदय में आजन्म लिये फिरे, उसी प्रकार करोड़ों वर्ष तक मानव-जनपद लिये फिरता रहेगा। वह राम की भांति कातर होकर सीता के हृदय के माधुर्य पर आंसू बहाता और उसकी स्मृति से अपनी आत्मा को पवित्र करता रहेगा। यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि भवभूति और वाल्मीकि से—महान् कवि शेक्सपियर की तुलना नहीं की जा सकती। स्थायी संताप की सृष्टि में शेक्सपियर, रोमाञ्चकारी रक्तपात करने पर भी उपरोक्त आर्य कविपदों की धूल को नहीं पहुँच सकते। यही बात हम व्यास की दमयन्ती और कालिदास की शकुन्तला के विषय में कह सकते हैं। जिन्होंने चिर दुःखिनी होकर मानव–हृदय में सदा के लिये अधिकार जमा लिया है। उन्हें जीवित रखकर भी कवि उनके प्रति संसार को चिर कातर बना गया है।

मानव में देवत्व का आरोप—

मानव में देवत्व का आरोप करना साहित्य का चरम ध्येय है। मानव-प्रकृति में मानवता के साथ २ पशुत्व और देवत्व के भी बीज हैं। पशुत्व उस में कम नहीं है। उसी पशुत्व को मानव से पृथक् करके मानवता में देवत्व की अभिव्यञ्जना करना श्रेष्ठ साहित्य का कार्य है। वाल्मीकि और व्यास ने मानव-मूर्ति में देवत्व की स्थापना करने में अलौकिक सफलता प्राप्त की है। इनके चित्रित आदर्श चरित्र ऐसे परिपूर्ण असाधारण और अलौकिक हैं कि उत्तरकालीन कविगण भास, कालिदास, भवभूति और हर्ष उन्हीं का पीछा करके, उनकी निर्मित मूर्तियों का शृङ्गार करके, उन्हीं के आदर्शों को अलंकृत करके, उन्हीं की मूर्तियों को धो-पोंछ कर अपनी प्रतिभा को धन्य कर गये। वे किसी नई मूर्ति को घड़ने का साहस ही नहीं कर सके।

धर्माश्रय—

आर्य साहित्य के गुरु व्यास और वाल्मीकि की सबसे बड़ी शक्ति 'धर्माश्रय' है। धर्माश्रय ने ही उन्हें अमरत्त्व और उनकी निर्मित मूर्तियों को देवत्व दिया है। पाश्चात्य कलाकार धर्माश्रय नहीं प्राप्त कर सके। धर्माश्रय लेने ही

से ये आर्य साहित्य गुरु भक्ति, प्रेम, श्रद्धा और क्षमा आदि गुणों को ऐसा उदात्त रूप दे गये कि वे तप और त्याग की पराकाष्ठा को पहुंच गये ।

इसी तप और त्याग की पराकाष्ठा ने अनेक पात्रों को देवपद दिया। तपस्वी त्याग और सहिष्णुता के कारण ही दैवी सम्पद् पा गये ।

आर्य संस्कृति में देवता भी संसारी हैं । मानुष से देवों में इतना ही अन्तर है कि मानुष के व्यक्तित्व और अधिकारों एवं शक्ति की एक सीमा है— देवता की सीमा नहीं है । मानव का संसार के कोने में एक घर है परन्तु देवता का घर सारा संसार है । गृही का गृहकृत्य जैसे उसका नित्य कर्तव्य है उसी प्रकार संसार कृत देवता का है । निर्गुण देवपद संसार से निर्लिप्त होने पर भी संसार में लिप्त होकर सगुण रूप धारण करता है । ऐसे ही देवता को ऋग्वेद में त्रिपाद् विराट पुरुष कहा गया है । जो पाद से संसार में लिप्त है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, और अन्य देवता सभी सांसारिक गृहस्थों की प्रति-छाया हैं और अपनी देवत्व की अपरिसीम शक्ति के कारण उनका कार्य भव-बाधा-हरण है ।

देवता के समान देवी की शक्ति अपरिसीम है । दुर्गा, पार्वती, सतीसरस्वती आदि देवियों की विविध शक्तियां हैं । ये मानव विभूतियों की लोकोत्तर अधिष्ठात्री हैं । इन से आर्य साहित्य गुरुओं ने मानुष पत्नियों का पुरुषों की अपेक्षा अधिक साम्य प्रतिपादित किया है । आर्य साहित्य में यह भी एक ऐसी असाधारण बात है जो अन्यत्र नहीं है । भारतीय संस्कृति में स्त्री मात्र देवी पद की अधिकारिणी है । विश्व की वे सभ्य जातियां जो स्त्रियों का आदर करने का गर्व रखती हैं अपनी स्त्रियों को देवी पद नहीं दे सकी हैं । यह तो भारतीय संस्कृति में ही उन्हें प्राप्त हुआ है । वास्तव में सीता, द्रौपदी, गान्धारी और शकुन्तला की निष्ठा ने स्त्री जाति मात्र को पवित्रता की गंगा में स्नान कराकर उन्हें 'देवी, बना दिया है । ये स्त्री रत्न जिस प्रकार अपने व्यक्तित्व को पति में और उनके प्रति अपने कर्तव्य के पालन में लीन कर के विश्व की सम्पदाओं और विभूतियों से एकान्त उदासीन हुई हैं वह विश्व साहित्य में सर्वाधिक भावपूर्ण और मानव प्रकृति की उच्चतम अभिव्यञ्जना है ।

आर्य साहित्य गुरुओं ने स्त्रियों में देवीपद आरोप करके और पुरुषों को धर्माश्रयी बनाकर आर्य गृहस्थ और गृह को धर्मक्षेत्र बना दिया है । आर्य दम्पति परिजन गुरुजन और अतिथि पशु पक्षी आदि से घिरे हुये हैं । और उनके प्रति उनके बहुत दायित्त्व हैं । भारतीय पतिपत्नि अकेले ही अपनी सम्पदा तथा प्रेम

का उपभोग नहीं कर सकते—वह उन्हें छोटे बड़े कुत्सित और हीन सभी को बांटनी पड़ती हैं। भारतीय गृहपति इस प्रकार विश्व की व्यवस्था संचालन करने वाला एक मध्यबिन्दु है। और प्रेम और मति ये दो दैवी सम्पद उसकी आध्यात्मिक शक्तियां हैं। जिन्हें उसे अपने आसपास के, अपने पराए, छोटे बड़ों को निरन्तर बांटते रहना पड़ता है उसकी पत्नी इस काम में उसकी सहधर्मिणी है। इस कार्य में दम्पति को अपने में ओतप्रोत पशुत्व का संहार करके देवत्व की साधना करनी पड़ती है। प्रेम अधोगामी सत्त्व है और भक्ति ऊर्ध्वगामिनी। स्त्री प्रेम की और पुरुष भक्ति का उपासक है। परन्तु दाम्पत्य जीवन में वे दोनों प्रेम और भक्ति का परस्पर ऐसा विनिमय कर लेते हैं कि प्रेम ही भक्ति और भक्ति ही प्रेम का रूप धारण कर लेता है। पति-पत्नी में प्रेम और भक्ति का यह एक रस रूप जब उदय हो जाता है तो वे एक दूसरे के लिये इन्द्रियातीत हो जाते हैं। वासना और शरीर विकारों की वहां गुंजाइश ही नहीं रहती। यहां दाम्पत्य माधुर्य का सर्वाङ्ग सौन्दर्य विकसित होता है और इस से अधोगामी प्रेम अर्द्धगामिनी भक्ति के अनुगत होकर दाम्पत्त्य तत्व से अनुप्राणित होकर उर्द्धगामी होता है तब दम्पति विश्व के मध्यविन्दु होकर कर्तव्य के पथ पर परम उदात्त होकर इष्ट मित्र बन्धु बान्धव, पड़ोसी, दीन हीन दुखी, पतित कातर और पशु पक्षी आदि से लेकर देव गुरु और आप्तजनों तक सर्वत्र अपनी उस दैवी सम्पत्, भक्ति-प्रेम की मिश्रित उर्ध्वगामिनी विभूति को इतना वितरण करते हैं कि कभी २ तो उनके अपने लिये उसमें से एक कण भी नहीं रह जाता और कभी २ उन्हें अवश्य अपने आप ही को वितरित करना पड़ता है।

यही आर्यत्त्व के लौकिक जीवन की मर्यादा है जो पृथ्वी की मानव-जाति के लिए अलौकिक है। इसका चित्रण करने में व्यास और वाल्मीकि ही जैसे आर्य गुरु समर्थ हो सके हैं विश्व के अन्य महामानव नहीं।

यहां हम आर्य गुरु वाल्मीकि और व्यास के निर्मित दो अलौकिक चित्र उपस्थित करते हैं जो मानव मूर्ति के निर्माण के इतिहास में बेजोड़ हैं।

पहिले चित्र पर ध्यान दीजिए। चित्र सीता का है। वह राजर्षि जनक के शान्तिमय संसार में पलती है। और पृथ्वी का एक आदर्श पति उसे प्राप्त होता है—जो प्रेम, कर्तव्य और शौर्य का प्रतीक है। पिता अपनी कन्या के लिये जो कुछ सावधानता कर सकता है वह सब जनक ने की। और पुत्री को ऐसा पति दिया जैसा किसी मानव-कन्या को प्राप्त ही नहीं हुआ। फिर भी सीता को अपने

जीवन में दुःख ही दुःख मिला । जब सौभाग्य लक्ष्मी उसे राजसिंहासन पर बैठाने वाली थी तभी उसे पति के साथ वनगमन करना पड़ा । राम अपने कर्तव्य पथ पर आरूढ़ हो वन-गमन को तैयार हुये थे और सीता को नहीं ले जाना चाहते थे पर सीता प्रेम से अधीर हो राम के साथ वन-गमन के लिये उठ खड़ी हुई, राम का वन-कष्ट और वन के भय का प्रदर्शन व्यर्थ गया । वह पति की छाया के समान उसके पीछे २ चली । वन में परंतप ऋषियों के आश्रमों का कष्ट दूर कर शान्ति स्थापन करते थे और सीता प्रेम-प्रसून बखेरती थी। अपने विश्व-व्यापी प्रेम के कारण सीता ने मुनि-पत्नियों और मुनि-कन्याओं को वशीभूत कर लिया।

गोदावरी के तट पर पंचवटी के मनोरम स्थान पर सीता ने अपने ही कोमल भावुक अस्तित्त्व से स्वर्ग का सर्जन कर दिया । हरिणियाँ उसके आंचल पर सोतीं, मोर उसके सन्मुख नाचते, सीता कानन कुसुम ले पति और वन-देवता की पूजा करती । सीता के इस प्रेम ही से पंचवटी राम के लिये अयोध्या के सिंहासन से बढ़ कर सुखप्रद बन गयी ।

भाग्य-दोष से सीता को रावण ने हरण किया, उसे राक्षसपुरी में अशोक वाटिका में राक्षसियों के पहरे में रहना पड़ा, पर राममयी सीता विचलित नहीं हुई। उनकी पवित्र प्रेम मूर्ति से प्रभावित राक्षसियां उसकी अनुगति होगईं ।

बाद में भगीरथ प्रयत्न कर, दुर्धष शौर्य प्रदर्शन कर, जब राम ने लंका को आक्रान्त कर और रावण का वध कर सीता का उद्धार किया—तो ठीक मिलन के आनन्द क्षण पर ही सीता को सन्देह निवारण के लिये अग्नि प्रवेश करना पड़ा। किसी भी पतिप्राणा स्त्री के लिये, पति के लिये इतना त्याग करने पर ऐसा सन्देह भाजन बनना और ऐसी कठिन परीक्षा देना भयानक मानभंग की बात थी। पर सीता के व्यक्तित्त्व में तो मान जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, प्रेम ही प्रेम है ।

अन्ततः सीता अयोध्या में आकर राजमहिषी बनी, उस के सौभाग्य का उदय हुआ, उसकी कुक्षि में गर्भ सत्त्व संचार हुआ, परन्तु ठीक इसी उल्लास के क्षण में एक नगण्य, अभद्र प्रजाजन के अपवाद के कारण उनके पति ने उन्हें एक बारगी ही त्याग दिया। उसी पति ने, जिसके लिये उन्होंने इतना कष्ट सहन किया। सीता के प्रेम का माधुर्य और अखण्ड प्रभाव यहीं प्रकट हुआ। जब वन में अकस्मात् उनसे कहा गया कि राम ने उन्हें त्याग दिया है। उन्होंने कहा—

इसमें उनका दोष नहीं। परन्तु मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकती, मैं प्राण त्याग करती, परन्तु उनका तेज मेरे गर्भ में है। मैं प्रसव होने तक सूर्य में दृष्टि लगाकर तप करूँगी और यह वर मागूँगी कि जन्म जमान्तरों में मुझे वही पति मिलें।

वाल्मीकि के आश्रम में जब सर्वत्यागिनी सीता अपने पुत्रों का मुंह देख पाप-ताप संतापित धराधाम पर कालयापन कर रही हैं। उस समय के उनके दुःख को देख कर हम सभी वाल्मीकि के साथ रोते हैं। परन्तु सीता हमारे हृदय सिंहासनों पर ऐसी कोमल, पवित्र और आदर्श स्त्री मूर्ति बन कर युग २ के लिये बैठ जाती है—कि उन्हें देख कर हम स्त्री जाति का प्रलय तक अपमान कर ही नहीं सकते।

अन्त में फिर पति मिलन होता है। पति की विरह वेदना को वे अपने से भी अधिक जानती है। वे अपने लिये नहीं–पति के लिये कातर होती है। परन्तु हाय रे भाग्य! फिर सन्देह, फिर सन्देह। सीता जैसी पत्नी पर राम जैसे पति का सन्देह!! अब उपाय क्या? सीता का पृथ्वी में धंस कर अन्तर्ध्यान हो जाना, आर्यगुरु को यही मार्ग दीख पड़ा। यहीं आर्यगुरु वाल्मीकि ने लेखनी रख दी।

दूसरा चित्र भी देखिये—महाभारत की अठारह अक्षौहिणी सेना का विध्वंस हो गया। भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, अभिमन्यु, आदि महाप्राण महारथी भूलुण्ठित हो चुके। विना युद्ध के एक सूई की नोक के बराबर भूमि न देने की हठ करने वाले कुरुकुल दुर्योधन का भीम के आघात से उरुभङ्ग होगया। अब वह राज्यश्री से भ्रष्ट गर्वीला कुरुराज असंख्य जीवित मृत योद्धाओं की सड़ती हुई लाशों के बीच श्मशान से भी अधिक वीभत्स समराङ्गण में भूमि पर पड़ा मृत्यु को आलिङ्गन करके आंसू बहा रहा था। कभी उसके प्रतापी चरणों पर जो पृथ्वी के छत्रधारियों के मुकुट झुकते थे, उनके धारण करने वाले मुण्ड छिन्न-भिन्न उस रणाङ्गण में लुढ़क रहे थे, ऐसी ही हालत में गुरु पुत्र अश्वत्थामा मुमूर्षु कुरुराज दुर्योधन के पास पहुँचकर कहते हैं। हे कुरुराज! शोक न करें, अभी अश्वत्थामा जीवित है। सम्पूर्ण कुरुवाहिनी नष्ट हो गई तो क्या? तनिक साहस करो, अपना हाथ उठा कर अपने रक्त से मुझे सेनाविहीन सेनापति के पद पर अभिषिक्त करें और मैं द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा तुम से प्रतिज्ञा करता हूं कि तुम्हारे प्राण विसर्जन से प्रथम, आज सूर्योदय से पूर्व ही उन पापी छली पांडवों के सिर

काट लाऊँगा। फिर तुम कुरुकुल के महाराज उन छिन्न मस्तकों पर, एक बार अपने चरण विक्षेप करके स्वर्गारोहण करना।

और मृत्युपथ का पथिक वह दुर्योधन-मानव प्राणों से ओतप्रोत घोर तामसिक वृत्ति से अभिभूत हो, राज्य, वंश, अधिकार, सैन्य सब कुछ नष्ट होने पर भी अश्वत्थामा को कुरुदल का सेना-हीन सेनापति अभिषिक्त करता हुआ टूटते स्वर से कहता है—जाओ जाओ, हे गुरुपुत्र, उन पतितों का सिर काट लाओ, मैं प्राणविसर्जन से प्रथम उन पर अपने चरण रखकर शान्ति की मृत्यु मरूं।

और अश्वत्थामा चोर की भांति पाण्डवों के शिविर में प्रवेश करने में सफल होकर भ्रमवश पाण्डवों के स्थान में उनके पांच पुत्रों के सिर काट लाता है। अश्वत्थामा जैसे महाप्राण वीर के हाथ से यह कायर बाल हत्या देख सुनकर दुर्योधन भी कांप उठा और दुःखी होकर उसने प्राण त्याग दिये।

जब द्रौपदी ने बाल वीभत्स हत्याकाण्ड को जाना तो वह प्रिय पुत्रों का मरण देख विलाप करने लगी। उस कातर द्रोपदी के क्रन्दन से सन्तप्त दिव्यास्त्र प्रयोक्ता अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि मैं अभी उस पापी का मस्तक काट लाता हूं, तुम उस पर बैठ कर स्नान करना।

और तब एक बार फिर कृष्णार्जुन शौर्य ने रणक्षेत्र में अन्तिम रौद्र रस विस्तार किया और घोर युद्ध के बाद अश्वत्थामा को बांध कर अर्जुन ने पुत्र शोक कातरा द्रोपदी के सामने ला खड़ा किया। परन्तु द्रोपदी गुरुपुत्र अश्वत्थामा को पशु के समान रस्सियों से बंधा-अपने कुकृत्यों के लिये लज्जित, पराजित, अपमानित, अधोमुख खड़ा देख, पुत्र शोक भूल गई। मातृत्त्व का उसका संकुचित भाव लुप्त हो गया, उसमें नारी देवत्त्व का उदय हुआ, उसने वीर पति से कहा—इस ब्राह्मण कुमार को छोड़ दो। ये हमारे गुरु पुत्र हैं। गुरु हैं! जिन द्रोण से तुम ने धनुर्वेद का गूढ़ मन्त्र लिया था रण सिद्धियां सीखीं थीं वही 'द्रोण' पुत्र की आत्मा में यहां उपस्थित है। महासती गुरुपत्नी कृपी इसी पुत्र से पुत्रवती होने के कारण ही अपने महाप्राण पति के साथ सती न होकर जीवित रह गई हैं। हे नाथ, गौतम की पुत्री, वह गुरुपत्नी मेरी भांति पुत्र शोक से पीडित होकर विलाप न करें ऐसा करो। इस लिये इन्हें छोड़ दो, गुरु पुत्र के प्रति रोष करना क्षत्रिय धर्म की मर्यादा नहीं।

पुत्र शोक के निधन से संतापिता द्रोपदी की यह उदारता, क्षमा और सहृदयता स्त्री मूर्ति में ऐसी अलौकिक है जिसने करुणा में शान्त रस का अक्षय झरना बहा दिया है।

अध्याय तीसरा

साहित्य का अन्तर्वेग

भावना का विनिमय—

एक मन की भावना दूसरे के मन में सार्थकता उत्पन्न करे, यह साहित्य का अन्तर्वेग है। यह आवश्यक नहीं कि हमारे भाव भावुकों के लिये ही हों। साहित्यकार जब अपने विचारों को पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता है, तब मन ही मन विवश वह उनकी प्रकृति के साथ अपने भावों को मिला देता है।

अच्छे और बुरे सभी प्रकार के भाव विश्व की हवा में उड़ते फिरते हैं। घर २ में निष्टावती स्त्रियां पूर्ण अनासक्ति से जीवन की बड़ी से बड़ी कठिनाइयों के पर्वत समान बोझ को जीवन के इस छोर से उस छोर तक ढोती हैं। उनकी मूक वेदना के एक कण को पकड़ कर भावुक कवि किसी एक स्त्री मूर्ति का सहारा ले भावना और कल्पना की तूलिकाओं से जो चित्र चित्रित करता है, वही चित्र भविष्य काल के जनपद के लिये आदर्श चित्र बन जाते हैं। कवि की भावना का जनपद की भावना से विनिमय होता रहता है।

कभी कभी मनुष्य समाज में भावों की बाढ़ आ जाती है। उसके कारण बहुधा बाहरी होते हैं। देश में पठानों के अत्याचार के बाद हिन्दुओं में जो निराश भावना फैली थी, उस वक्त भारत की वायु में भक्ति भाव बढ़ गया था। उन भावों को लेकर तत्कालीन कवियों ने भक्ति को खूब अंकुरित किया। चैतन्य के बाद बंगाल का आकाश प्रेम के रस से शराबोर हो गया था। इस लिये तत्कालीन

कवियों ने प्रेम रस की भाव को अपनी २ काव्य की बोतलों में भर २ कर ढेर इकट्ठा कर लिया।

वास्तव में मानव मन उन बहुत से अव्यक्त भावों को निरन्तर उच्छ्वासित करता रहता है, जो क्षणिक वेदना, चिन्ता और क्षणिक मामलों में विश्व मानव के विशाल मनोलोक में घूमते रहते हैं। उन में से पृथक् २ कवि मस्तिष्क पृथक् २ आकर्षण शक्ति का केन्द्र बन कर पृथक् २ भाव समूहों को अपने कल्पना सूत्र में गुथ कर जनपद मन को अर्पण कर देते हैं। यह असाध्य मानव स्वभाव है कि वह स्वयं अपने आपको देखने के लिये सतत आतुर रहता है इस लिये वहां भी वह अपने भीतर किसी भाव के विकास को देखता है, वह उसे आत्मनिवेदन के रूप में प्रसव करता है, इस में उसे अपार आनंद आता है।

क्या साहित्य क्या दर्शन क्या इतिहास, सभी ही अव्यक्त भावनाएं मानव मन में बीज रूप से विद्यमान रहती हैं। कलाकार की प्रतिभा जब किसी एक भावना के समुदाय को एकता के सूत्र में बांध लेता है तब वह उस के रूप की मीमांसा व्यक्त करने में समर्थ हो जाता है। उदाहरण के लिये जनश्रुति के रूप में इतिहास मनुष्यों के स्मृति मन्दिर में बिखरा पड़ा रहता है, ज्यों ही मेधावी ऐतिहासिक की प्रतिभा उसे एकत्र कर एक सूत्र में ग्रंथित कर लेती है तो सहस्रों वर्ष का अव्यक्त भूत का मूर्त रूप हमारे सन्मुख प्रकाशित हो जाता है।

साहित्यालोचन—

साहित्य के समालोचक यही देखना चाहते हैं कि किस कवि ने अपनी कल्पना सृष्टि में मानव हृदय की किस भावना को घनीभूत करके अपनी प्रतिभा की सहायता से उस भाव के सर्वाङ्ग सौन्दर्य को प्रकट किया है। कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थ गौरव, दण्डी का पद लालित्य, माघ का सम्पूर्ण साहित्य सौन्दर्य प्रशंसा का भाजन है। साहित्य का समालोचक कवि की रचना में केवल रसोदय को देखकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जायगा, वह तो उसमें यत्न से मानव मनोलोक के अव्यक्त का अलंकृत सुन्दर व्यक्त रूप देखने की इच्छा करेगा।

यों तो संसार में मानव लोक युग २ से जन्म लेता, मरता और सुख, दुःख के जीवन भार को आजन्म ढोता है। परन्तु प्रतिभाशाली कवि एक विशेष दृष्टि से जगत को, जीवन को, उसके प्रारम्भ और अवसान को देखता, उस पर विचार करता, और फिर कल्पना करता एवं रचना करता है। उसकी इस भाव वेदना और कल्पनामयी अन्तर्दृष्टि के द्वारा मानव लोक के अनन्त रूप का एक खास

अव्यक्त पहलू, व्यक्त होकर कवित्त्व की धारा में बह उठता है । अब समालोचक को यही देखना पड़ता है कि उस धारा का रूप कौनसा है ।

साहित्य का अमरत्त्व—

और भी एक बात है जिसे सब कोई नहीं समझ सकता । वह यह—कि सच्चे कवि के भावों की सृष्टि कोई मिथ्या बकवाद नहीं है । वह वस्तु-सृष्टि के समान ही अमोघ नियमों के आधीन है । प्रकाश के जिस अन्तर्वेग को हम वाह्य जगत के सम्पूर्ण परमाणुओं में व्याप्त देखते हैं, वहां अन्तर्वेग कवि की मनोवृत्तियों में प्रबल कार्य कर रहा है । इस लिये मानव लोक-संसार को, उसके प्राङ्गण में फैले हुए बन, पर्वत, जंगल, नद, नदी, नगर, नागरिक, दरिद्र, धनी, जीवन, मृत्यु, हास और रुदन को देखता है, उसी आँख से उसे कवि की कल्पना प्रसूत साहित्य को भी देखना चाहिए, अन्ततः वह भी सृष्टि का ही एक अंश है । इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि हमें सिर्फ साहित्य की अच्छाई बुराई देख कर ही सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए, प्रत्युत् यह भी देखना चाहिए कि उसके विकास की धारा कौनसी है । तथा उसमें कार्यकारण सम्बन्ध क्या है ।

मानव-लोक की प्रतिध्वनि ही साहित्य है । पहिले जन-साधारण छोटे २ ग्राम्यगीत, कहावतें, कहानियां निर्माण करता है । वे एक मस्तिष्क पर साधारण भावाघात के कारण अस्तव्यस्त हालत में उदय हो जाती हैं । फिर चिरकाल तक मानव-लोक में एक मुंह से दूसरे मुंह में, एक कान से दूसरे कान में, एक समाज से दूसरे समाज में घूमती रहती हैं । इसके बाद कोई मेधावी कवि अपनी प्रबल कल्पना और दिव्य मेध्यशक्ति के द्वारा उनका रूप परिष्कृत करके उन्हें एकत्रित कर साहित्य का रूप दे देता है । प्राचीन वैदिक उपाख्यानों से लेकर आजतक के उत्कृष्टतम साहित्य का यही वास्तविक इतिहास है । प्राचीन को नवीन बनाकर, विछिन्न को एकत्रित कर के कवि जब मानव लोक के सन्मुख उन्हीं की भाव-कल्पना की मूर्ति के सुसंगठित, सुसज्जित, अलंकृत मोहक सुन्दर वेष में उपस्थित करता है तब मानव-लोक हर्ष से उन्मत्त हो कवि को धन्य धन्य कह उठता है। पंचतन्त्र, कथासरित्सागर, हर्ष, माघ, कालीदास एवं विश्व साहित्य के महान् कलाकारों की रचनाओं की उत्पत्ति का यही मूलस्रोत है ।

महाकाव्य—

परन्तु केवल यही बात नहीं है कि मानवलोक की भावना का परिष्कृत रूप जो साहित्य श्रेष्ठ कवि की प्रतिभा से उद्भासित होता है, उसे देख सुनकर

मानव-लोक हर्षोन्मत्त होकर ही रह जाता हो। नहीं, नहीं, चूंकि वह तो कवि की अपनी सम्पत्ति नहीं—मानव-लोक की सम्पत्ति है, इसलिये वह फिर उसे अपने में आत्मसात करने को व्यग्र हो उठता है। भले ही ऐसा करने में उसके सौन्दर्य, श्रृंगार और अलंकार अस्तव्यस्त ही क्यों न हो जायँ। प्रारम्भ में मानवलोक की भावना का यह परिष्कृत साहित्य मानव-जनपद के मन से अपनी पुष्टि के रस को खींच लेता है और इस प्रकार जब वह धीरे २ फिर मानव-जनपद की वस्तु बन जाता है तब उसमें समस्त जनपद के अन्तस्तल के इतिहास का मिश्रण हो जाता है। उसमें तत्त्वबोध, कर्मनीति और धर्मबोध का मिश्रण हो जाता है, और तब वह साहित्य सम्पूर्ण जनपद को, समस्त मानव-लोक को, उनके कर्मपथ पर लगा देता है। रामायण और महाभारत ऐसे ही आर्य-साहित्य हैं, जिन्हें आर्य साहित्य गुरु जन की कविता के मूल का सहारा लेकर समग्र आर्य-जाति ने युग २ में निर्माण किया है। महाकाव्य वास्तव में इन्हीं को कह सकते हैं। विश्व के ज्ञात साहित्य में केवल चार ही महाकाव्य हैं। रामायण, महाभारत, इलियड, ओडेसी। अलंकार शास्त्र के कृत्रिम नियमों के आधार पर कालीदास, भारवि, माघ, हर्ष, मिल्टन, वाल्टेयर की रचनाओं को महाकाव्य का जामा जबर्दस्ती पहनाया गया अवश्य है परन्तु वास्तव में उन्हें सत्य अर्थ में महाकाव्य नहीं कहा जा सकता।

रामचरित्र और मानवध्वनि—

मानवध्वनि का प्रभाव साहित्य पर कैसा पड़ता है, इसके लिये हमें रामचरित्र की आलोचना करनी पड़ेगी और उन परिस्थितियों पर विचार प्रदर्शन करना होगा जिन्होंने आर्य साहित्य गुरु वाल्मीकि को प्रभावित किया था। इतिहास से प्रकट है कि भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व जितनी अनार्य जातियां थीं उनमें द्रविड़ों की सभ्यता उत्कृष्ट थी। आर्यों और द्रविड़ों में शताब्दियों तक युद्ध हुए, वे आर्यों के यज्ञों के विरोधी थे। उनमें वे विघ्न डालते, खेती को नष्ट करते और जहां २ आर्य कुलपति जंगलों को साफ़ कर आश्रम स्थापित करते, वहां यथासम्भव उत्पात करते थे। भारत के दक्षिण में इसी वंश ने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर ली थी और वे समय २ पर आर्यों के दक्षिण के उपनिवेशों को त्रस्त रखते थे। उन दिनों गोधन और कृषि आर्यों की एक पवित्र निधि थी। राजा जनक जो आर्य सभ्यता के एक असाधारण नेता थे कृषि-विस्तार में अथक परिश्रम कर रहे थे। वे स्वयं ही अपने हाथों हल जोतते थे, और हल की लीक के द्वारा अगम जंगलों को लहलहाते खेतों में परिणत

करते थे। कृषि-प्रेम ही के कारण कदाचित् उन्होंने अपनी कन्या का नाम सीता रखा था जिसका अर्थ हल की लीक होता है। वे अपनी इस प्राणाधिक पुत्री को असाधारण बलविक्रमयुत पुरुष को दिया चाहते थे। इसी से उन्होंने धनुर्यज्ञ रचा था। उन संघर्ष के दिनों में उन्हें एक सामर्थ्यवान् सम्बन्धी की अत्यन्त आवश्यकता थी।

विश्वामित्र ने, जो पहिले क्षत्रिय ऋषि थे, बाद में पुरोहित ऋषि होगये थे, राम पर दृष्टि दी और उन्होंने आर्यों के विकास में विघ्न करने वाले द्रविड़ राक्षसों के विपरीत संघर्ष करने के लिये राम को शिक्षित किया—बाद में वे ही उन्हें जनक के धनुर्यज्ञ में ले गये, और जनक कन्या से उनका विवाह भी हो गया। विवाह के बाद उन्हें पत्नी सहित वन-गमन करना पड़ा, उन दिनों भरद्वाज, अगस्त्य, आदि ऋषि दुर्गम दक्षिण देशों में आर्यों के उपनिवेश स्थापित कर रहे थे। उन सब से मिलते, परामर्श करते, सहायता करते राम अपरिचित गहन अरण्यों को पार करते अन्ततः पंचवटी में आसीन हुए। यह स्थान द्रविड़ जातियों के अधीन था। और अनार्य रत जातियां वहां विचरण करतीं तथा वहां आर्यों के हस्तक्षेप को बिल्कुल पसन्द नहीं करतीं थीं। इन्हीं सब कारणों से राम को भी एक कठिन संघर्ष में से गुजरना पड़ा। सीता हर ली गई और उनके खोजने के सिलसिले में उन्होंने बाली और सुग्रीव दो प्रतिद्वन्द्वी अनार्य राजबन्धुओं में से एक को मार दूसरे को मिला, वानरों को काबू किया। उन्हें युद्ध-शिक्षा दी और सीता का पता पा उन्हीं का कटक ले लंका पर आक्रमण कर दिया। और अथक प्रयास एवं अकल्पित पराक्रम से द्रविड़ वंश के प्रतापी रावण राज्य को नष्ट कर दिया। शत्रु को जीत कर भी उन्होंने असाधारण धर्मनीति और राजनीति के कारण उनके राज्य का अपहरण नहीं किया। उसी कुल के विभीषण को राज्य दे दिया। किष्किन्धा का राज्य वानरों को दे उन्हें अपना अनुगत बना लिया। इस प्रकार राम ने आर्य अनार्यों का सम्मेलन करके आपस में आदान-प्रदान का प्रवाह-मार्ग खोल दिया जो आगे चलकर दोनों जातियों की गहरी जातीयता को एकीभूत करने में परम सहायक हुआ। द्रविड़ जातियां धीरे २ आर्यों में मिश्रित होगईं। अब पीछे जो आर्यों का नया रूप हिन्दू के रूप में प्रकट हुआ उसमें दोनों मिलकर एक जाति के रूप में उदय हुए। इसका प्रमाण यह है कि हिन्दू जाति में आज हम दोनों ही जातियों के आचार-विचार पूजन-पद्धति का मिश्रण पाते हैं। राम के इस लंका-विजय से आर्य अनार्यों का संघर्ष मिट गया और न केवल उत्तरापथ और दक्षिण पथ में शान्ति स्थापन हो गई, प्रत्युत दोनों प्रदेशों

को मिलाकर आर्यावर्त और भरतखण्ड मिश्रित होकर एक महादेश हो गया।

कालान्तर में जब इन आर्य अनार्यों का मिलन और विकास हुआ तो इस मिश्रित हिन्दु जाति में, जिस में दोनों संस्कृतियों का कर्म और विज्ञान-विनिमय होगया था—रामचन्द्र, एक असाधारण महापुरुष की भांति याद किये जाने लगे। उनकी पुरानी कहानी भिन्न २ भावों और आकार को धारण करके भिन्न २ रूपों में मानव-जनपद के हृदयों को राम के प्रति आदर भक्ति और कौतूहल से ओत-प्रोत करने लगी। राम के इस चरित्र में जहां चरम कोटि का शौर्य-प्रदर्शन था वहां चरम कोटि का तप भी था, त्याग भी था, सहिष्णुता भी थी। मानव-जनपद के लिये जैसे राम का शौर्य अलौकिक था, वैसा ही उनका तप-त्याग। इन सब बातों से राम को भारत के आर्य अनार्य मिश्रित वंशधरों ने अपने मानस-नेत्रों से आदर्श पुरुष रूप में देखा और समझा।

आर्यसाहित्यगुरु वाल्मीकि ने अपनी अगमभूत दया-भावना तथा लोक-हित की भावना से वह रामचरित ऐसी दिव्य शैली पर वर्णित किया कि उसमें अनार्यों को वश में करने वाली घटना की प्रधानता नहीं थी। राम के लोकोत्तर शौर्य को गौण रखा और उनके चरित्र को, तप और त्याग की निष्ठा को प्रधान रूप दिया। इस प्रकार राम की चिरस्मृति जो जनपद की भक्ति और सम्मान की भाजन थी, आर्यसाहित्यगुरु वाल्मीकि ने अपनी दिव्य प्रतिभा के बल पर अति परिष्कृत रूप में जनपद के सामने रख दी।

परन्तु आर्यसाहित्यगुरु ने राम की मूर्ति को जिस स्थान पर स्थापित करके मानव-लोक को उसके पुण्यदर्शन कराए थे वह मूर्ति उसी स्थान पर कायम नहीं रही। इसका यह कारण न था कि बाद में वाल्मीकि से अधिक महामेधावी कवि ने उनसे उत्तम राममूर्ति का निर्माण किया। बात यह हुई कि वाल्मीकि ने राम को गार्हस्थ पुरुष के प्रतीक रूप में चित्रित किया था। पुत्र के रूप में, भाई के रूप में, पति के रूप में, योद्धा के रूप में, रण और राजनीति के पण्डित के रूप में, तथा राजा के रूप में राम लोकोत्तर, अप्रतिम और आदर्श चित्रित किए गए थे। वाल्मीकि के राम ने अपनी समस्त सहज प्रवृत्तियों पर संयम से विजयी होकर समाज-रक्षा के उस आदर्श को क्रियात्मक रूप में परिणत किया था—जिस में पद पद पर तप, त्याग और सहिष्णुता की आवश्यकता थी। इस में सन्देह नहीं कि वाल्मीकि के काल में भी राम में देवत्व का आरोप हो चुका था। वह बढ़ता ही

गया और आगे चलकर राम ने देवता अथच परमेश्वर की पदवी धारण कर ली।

तुलसी जब राम में ईश्वर-भावना का आरोप करने बैठे तो राम के कृत-कार्यों की दुःसाध्यता नष्ट हो गई। इस लिये राम की यशोगाथा को अक्षुण्ण रखने के लिये केवल रामचरित्र ही अब यथेष्ट न था। तुलसीदास ने राम के चरित्र में उस भाव का समावेश किया जिस के द्वारा देखने से देवचरित मनुष्य के निकट श्रद्धा और आकर्षण के प्रियपात्र हो जाते हैं। वह भाव भक्त-वत्सलता का था। तुलसी के राम ने जब अछूत गुह को मित्र कह कर आलिङ्गन किया, अस्पृश्य शवरी के जूठे बेर खाए। जब हनुमान और सुग्रीव को उन्होंने अपने अपार प्रेम से धन्य किया, विभीषण को अभयदान दिया और रावण को मुक्ति दी—तो राम एक देवता की भांति सब के प्रिय और श्रद्धा के भाजन बन गए। क्यों? इसमें भी एक कारण था। विद्वानों का कथन था कि ईश्वरप्राप्ति तथा मुक्ति ज्ञानियों को ही हो सकती हैं। उसके लिए असाध्य योग-साधना भी करनी पड़ती है। पर इस तुलसी की राम-भक्ति-भावना से देश में यह भावना फैल गई कि भक्त-वत्सल भगवान् सच्चा प्रेम और भक्ति होने से नीच, अधम, चाण्डाल सभी के प्रिय हो सकते हैं। भक्ति से अधमतम भी मुक्त हो सकते हैं। यह बात भरतखण्ड में एक नए आविष्कार की भांति फैल गई और इसने लोगों को दुःस्सह हीनता के भार से मुक्त कर दिया। इस से दीन हीन मानव-जनपद आनन्द से पुलकित हो उठा।

परन्तु जिस प्रकार वाल्मीकिनिर्मित आदर्श-सिंहासन पर राम की मूर्ति अविचल नहीं रही उसी प्रकार तुलसी के भक्ति-सिंहासन पर भी राम की मूर्ति अविचल नहीं रही।

माईकेल मधुसूदन के मेघनाद वध काव्य में हमें राम और लक्ष्मण की अपेक्षा रावण और इन्द्रजीत ही बड़े दीख पड़ने लगे। वाल्मीकि और तुलसी ने जहाँ राम के घर में बैठकर रामचर्या की थी वहां माईकेल मधुसूदन ने रावण के घर में बैठ कर वह कार्य किया। उन्होंने छन्द-रचना, रचना-प्रणाली, आन्तरिक भाव और रस में सर्वत्र एक अपूर्व परिवर्तन कर दिया। यह परिवर्तन एक विद्रोह था जिसने रामचरित से सम्बन्धित भावशृङ्खला को तोड़ डाला था। यह कवि की उद्दण्डता कही जा सकती थी, परन्तु जिस धर्मभीरुतावश हम सदा वस्तु की अच्छाई बुराई की ही बात सोचते रहते हैं, उसकी इस कवि ने परवा नहीं

की। उसने अपनी दिव्य दृष्टि से पराजित रावण की महान् शक्ति को देखा। उसने देखा कि इस शक्ति के चारों ओर ऐश्वर्य ही ऐश्वर्य है। इसके गगनस्पर्शी महालयों के स्वर्णशिखरों ने मेघों को रोक लिया है। उसके रथ, रथी, अश्व और दिव्य शस्त्रों से मनुष्य, देव, यक्ष, रक्ष सभी भयव्यथित हैं। कवि ने इस युग २ के संचित राक्षस-वैभव को भिखारी राम के संघर्ष में पुत्र, पौत्र, प्राण और प्रतिष्ठा सहित छिन्नभिन्न होते देखा। सती सुलोचना को चिता में जलता देख वह तिलमिला उठा, और अन्त में वह समुद्रतट के श्मशान में उस धर्मविद्रोह महादम्भ को भस्म होते देख लंकापति रावण के साथ एक दीर्घ निःश्वास फेंक कर चुप हो गया।

अध्याय चौथा

साहित्य की ऐतिहासिकता

इतिहास और साहित्य—

इतिहास भी साहित्य का एक अङ्ग है, परन्तु हम इस समय उसकी चर्चा नहीं कर रहे। इस अध्याय में हम कहानियों, उपन्यासों तथा काव्यों में के ऐतिहासिक तथ्यों पर विचार करेंगे। यह प्रसिद्ध है कि उपन्यास, काव्य और कहानियों में जो ऐतिहासिक तथ्य होते हैं, वे विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं। तथा उनमें बहुत कल्पना और विकृति मिली होती है।

भारतीय साहित्य में कभी रामायण और महाभारत इतिहास थे, परन्तु आधुनिक ऐतिहासिक गवेषणाएँ उनकी इतिहास-कहानी को स्वीकार नहीं करतीं। वे उन्हें एक काव्य ही मानते हैं।

इसी प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास और कहानियों का भी इतिहास की सीमा का उल्लंघन करने के कारण इतिहास-कुल से विच्छेद कर दिया गया है। यह केवल हमारे भारतीय साहित्य की ही बात नहीं है, पाश्चात्य साहित्य में भी ऐसा ही हुआ है। प्रो० फ्रीमेन जो अंग्रेजी इतिहासकारों में प्रख्यात पण्डित प्रसिद्ध हैं, उपन्यासों और कहानियों में इतिहास की विकृति पर बहुत नाराज हैं। परन्तु हमें यहाँ

इतिहास के 'विशेष सत्य' और साहित्य के 'नित्य सत्य' के सिद्धान्तों पर विचार करना है।

नित्य-सत्य—ऐसे साहित्य का प्राण है। चिरन्तन मानवसमाज में चरित्र और परिस्थिति की जो विकृति होती है, वही चिरसत्य है। ऐसे कथानकों में साहित्यकार उसी चिरसत्य को प्रकट करता है। इतिहास की विशेष सत्य घटनाओं का सम्भवतः उसे पूरा ज्ञान नहीं होता, होने पर भी वह जानबूझ कर उनकी उपेक्षा कर सकता है। क्योंकि उसका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना नहीं, तात्कालिक समाज-प्रवाह का वेग दिखाना होता है।

यह कहा जा सकता है कि उसे ऐसे उपन्यास और कहानी लिखने से पूर्व ऐतिहासिक विशिष्ट सत्यों को जानना चाहिए, परन्तु एक तो ऐतिहासिक विशिष्ट सत्यों का ज्ञान कभी भी पूरा नहीं होता दूसरे उसमें परिवर्तन, नई २ जानकारी होने से, होता ही रहता है। फिर एक कहानीकार और उपन्यासकार क्यों न चिरसत्य—जिसमें गवेषणा की कोई गुंजायश ही नहीं है के आधार पर साहित्य संश्लिष्ट रचनाएँ करे। सर फ्रान्सिस पालग्रेव का कहना है कि ऐतिहासिक उपन्यास एक ओर इतिहास का घात करता है दूसरी ओर कहानी का भी शत्रु है। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसा लेखक इतिहास पर आघात करता है और उसकी कहानी भ्रष्ट हो जाती है। ऐसी ही सम्मति अन्य बहुत विद्वानों की है, फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रष्ट इन कथानकों का साहित्य में काफ़ी सम्मानपूर्ण स्थान है। इसका आरम्भ एक अनिर्दिष्ट रस है।

ऐतिहासिक रस—

साहित्य के धुरीण विद्वानों ने नौ मूल रसों को साहित्य-सर्जन में महत्त्व दिया है। परन्तु उनके अलावा कुछ अन्य अनिर्दिष्ट रस भी हैं। उनमें एक 'साहित्य-रस' भी कहा जा सकता है।

जगत् में जीवन पाकर मनुष्य अनेक सुख-दुःखों की घाटियों को पार करता है। उसे अनेक बार रोना और अनेक बार हंसना पड़ता है। उसका जो अपना छोटा सा सुख और दुःख है, वह उसे बहुत बड़े रूप में दीख पड़ता है। क्योंकि वह उसी में अभिभूत हो जाता है। उस सुख दुःख की समता में वह संसार की बड़ी घटनाओं को छाया मात्र मानता है। एक नगण्य व्यक्ति भी जब राम, सीता, हरिश्चन्द्र, नल-दमयन्ती के उपाख्यान में उनकी महती सम्पद्-विपद् की कहानी पढ़ता है तो वह उसका मुकाबिला अपने जीवन के छोटे से

छोटे दुःख-सुख से कर डालता है। उसे अपना ही सुख-दुःख भारी और बड़ा प्रतीत होता है। इसलिये उपन्यास या कहानी अथवा काव्य में जब वह विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन, उत्थान-पतन का ठीक २ वर्णन पढ़ता है तो उसके हृदय में रसावेश का प्रवाह उत्पन्न हो जाता है, जो उसके अति निकट आकर उस पर आक्रमण करता है। छोटे २ उपन्यासों और कहानियों में जिन पात्रों के सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति की झांकी दिखाई जाती है, वह प्रायः ऐसी होती है जिसमें जीवन का क्षोभ बन्धु परिवार और कुछ घनिष्ट व्यक्तियों में ही समाप्त हो जाता है। इसी से पाठक उसे अपनी ही पारिवारिक सम्पत्ति-विपत्ति समझ कर हर्ष-विषाद में डूब जाता है। परन्तु संसार में कुछ ऐसे महापुरुष भी जन्मते हैं, जिनके सुख दुःख विश्व की महत् घटनाओं के साथ सम्बन्धित होते हैं। उन में महाराज्यों के उलट-फेर होते हैं, रक्त की नदियां बहती हैं, प्रलय की मेघ-गर्जना के समान महाकाल की नियति-परम्परा में उनका राग-विराग अंकित होता है। और कवि की भाव-कल्पना के सहारे जब उनकी कहानी मनुष्य के लिये गीत बन जाती है तो उसे देख सुन कर मानव-लोक भाव-विमोहित हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे, जातियों के इतिहास के निर्माता कवि यदि हमारे नेत्रों के सामने जीवित होते हैं तो अपने अल्पजीवन में उनका विराट्रूप हम नहीं देख सकते हैं, इसी से उन्हें उनकी यथार्थ प्रतिष्ठा-भूमि पर स्थापित भी नहीं कर सकते। उन्हें महाकाल की नियति के एक अंग के रूप में देखने के लिये हमें उनसे दूर खड़ा रहना पड़ता है। इसी से अतीत में उनकी स्थापना होती है और उन्हें अकेले नहीं, वे जिस बृहत् नाटक अभिनय के एक पात्र थे, उसके साथ देखते हैं। तब हमें अनुभव होता है कि विश्व-पथ पर मानव-कुल के ये महारथी किस अलौकिक कौशल और सामर्थ्य से काल-रथ के पहिये को घुमाते चले जा रहे हैं। उस समय हम आवेशित होकर जीवन की क्षुद्र परिधि से क्षण भर के लिये मुक्त हो जाते हैं। उनसे हम अपने परिमित सुख दुःख का मुकाबिला नहीं कर सकते। तब हम तथाकथित अनिर्दिष्ट रस 'इतिहास रस' के स्वाद की एक बूंद का आनन्द प्राप्त करते हैं।

इस अनिर्दिष्ट 'इतिहास-रस' के उदय का एक और कारण भी है। इस में रस का एक श्रोत मिश्रित है। वह साधारण भी है और असाधारण भी। वह है नारी-प्रणय। जहां इतिहास-रस का प्रादुर्भाव होता है, वहां प्रायः यही देखने को मिलता है कि हृदय-विप्लव के बाद राष्ट्र-विप्लव होता है। इतिहास के बहुत असाधारण नरवरों ने नारी की माया के वशीभूत होकर जीवन भंग किया है। मानव-कुल के जीवन के ऐसे करुण भग्नावशेषों से संसार-पथ भरा पड़ा है।

शेक्सपियर के 'एन्टानी' और 'क्लिओपेट्रा' एक समर्थ चित्र हैं। क्लिओपेट्रा के रंगमहल में विलास की वीणा बज रही है, उधर सुदूर समुद्र की तूफ़ानी लहरों पर भैरव-संहार की भेरी बजती है। कवि के कौशल ने करुण और इतिहासरस का यहां ऐसा मिश्रण किया है कि पाठकों के मन पर जादू हो जाता है। अब आप इसमें प्रमाणों के प्रबल धक्के देकर हज़ार ऐतिहासिक भूलें निकालिए, उसे भ्रान्त और विकृत कहिए, पर कवि ने जिस 'ऐतिहासिक रस' की सृष्टि की है, वह इतिहास के लाख नये सत्य प्रकट होने पर भी फीका नहीं होगा। उपन्यास और कहानीकार ऐतिहासिक सत्य के लालची नहीं हैं। इतिहास को तो केवल स्वाद के लिये साथ रखते हैं जैसे तरकारी में हींग, जीरा, हल्दी, मिर्च डाली जाती हैं। अब कोई शाक न चख कर उस में से मसाले के कण बीन २ कर खाना चाहे तो उसे तरकारी का स्वाद नहीं आ सकता। अभिप्राय यह है कि लेखक चाहे इतिहास के सत्य की रक्षा करे या उनकी विकृत आकृति बना कर काम में लावे, परन्तु यदि वह ऐतिहासिक रस की सृष्टि कर सकता है तो वह सफल कृति है।

तीसरा खण्ड

हिन्दी भाषा और साहित्य का क्रमिक विकास-काल

(ईस्वी सन ७६० से १७७२ तक = १०१२ वर्ष)

अध्याय पहला

अपभ्रंश युग

(७६०—१३०० ई०)

पुरानी संस्कृत या छन्दस् (वैदिक) भाषा १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक कुछ परिवर्तन के साथ बोली जाने वाली जीवित भाषा थी। ५०० ई० पू० में बुद्ध के समय उसने मूल पाली का रूप धारण किया और मसीह की पहली शताब्दी तक यत्किंचित् परिवर्तनों के साथ प्रचलित रही। मसीह की प्रथम शताब्दी से 'प्राकृत' का आरम्भ हुआ और वह लगभग छठी शताब्दी के अन्त तक चलती रही। इस प्रकार इन बीस शताब्दियों में भाषा के जो ये तीन मूल रूप बने, उनमें परस्पर भेद होने पर भी वे एक दूसरे से संश्लिष्ट थीं।

पाली ने तत्सम शब्दों का एक दम बहिष्कार किया और संस्कृत के कठिन शब्दों को सरल बनाकर तद्भव शब्दों की रचना प्रारम्भ की। संस्कृत के व्याकरण-विस्तार को भी उसने कम किया, द्विवचन हटा दिए और भी कुछ प्रयोगों को कम किया। संस्कृत सीखने के लिये जहां ६ हजार से ऊपर सूत्र, वार्तिकों को रटना पड़ता था, वहां पाली में ८-९ सौ सूत्रों ही से काम चलने लगा।

प्राकृत ने व्याकरण के नियमों की संख्या में तो कुछ ऐसी कमी नहीं की, किन्तु उच्चारण के सरलीकरण में उसने बहुत उद्योग किया। परन्तु यह सब होने पर भी शब्दरूप और धातुरूप की शैली में पाली और प्राकृत दोनों ने ही संस्कृत का साथ नहीं छोड़ा। यही कारण है कि पाली और प्राकृत को संस्कृत रूप देने में अधिक दिक्कत नहीं उठानी पड़ती। तद्भव को तत्सम कर देने तथा द्विवचन और आत्मनेपद के प्रयोग बदल देने ही से प्राकृत और पाली दोनों ही संस्कृत क पुराने रूप को ग्रहण कर लेती हैं।

परन्तु अपभ्रंश की बात बिल्कुल दूसरी है। यहां भाषा में आमूल परिवर्तन हो गया। उसने नए शब्द और धातुरूपों की रचना की। उसका ढांचा ऐसा

बदला कि वह संस्कृत, पाली और प्राकृत से एक दम पृथक् हो गई । और उसी का विकसित रूप हिन्दी हुआ । संस्कृत से पाली और प्राकृत तक भाषा-विकास का क्रमिक प्रवाह अविच्छिन्न रहा परन्तु इसके आगे वह क्रमिक न रह कर विच्छिन्न विकास का रूप धारण कर गया और इससे भाषा की जाति ही बदल गई । इसी कारण संस्कृत-ज्ञान के बल पर पाली और प्राकृत तो समझी जा सकती हैं परन्तु अपभ्रंश नहीं समझी जा सकती ।

प्रारम्भ में अपभ्रंश ने अपनी पृथक् भाषा (क्रिया-विभक्ति) बनाकर भाषा की नवीन जाति तो बना ली थी पर तत्सम शब्दों के बहिष्कार में पाली और प्राकृत का ही साथ दिया था । परन्तु अन्तर्कालीन अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) और हिन्दी ने इस परिपाटी को छोड़ दिया और उसने अधिकाधिक संस्कृत तत्सम शब्दों को लेना प्रारम्भ कर दिया । धीरे २ लोग तद्भव शब्दों के प्रयोगों को भूलते गए और इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी की मूल भाषा 'अपभ्रंश' हिन्दी-भाषा-भाषियों से अपरिचित हो गई ।

अपभ्रंश में तत्सम शब्दों का प्रयोग १४ वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ । इसके कुछ गम्भीर कारण थे । तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस्लामी तुर्कों ने उत्तरी-भारत को आक्रान्त किया और उनके एक सदी के प्रभुत्व का प्रभाव प्रतिक्रिया के रूप में भाषा पर पड़ा । ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशी जनों के सम्पर्क से भाषा में कुछ उत्तेजना आई, समाज के एक नए दृष्टिकोण का विकास प्रारम्भ हुआ, जिसमें धर्म, राजनीति और समाज तीनों के प्रति सतर्क जागरण की भावना का अंकुर विचारों में जमा और उन्हें व्यक्त करने के लिये नए शब्दों की आवश्यकता बढ़ी । विदेशी नए और अपरिचित शब्द अपनी राजनीतिक सम्पन्नता से बोलते थे । ऐसी दशा में भारतीयों को अपने पुराने घिसे हुए तद्भव शब्द बड़े ही निर्बल और निस्तेज प्रतीत हुए । उनके लिये भाषा में गर्मी लाने के लिये दो ही मार्ग थे । या तो वे विदेशी शब्दों को अङ्गीकार करें या कुछ नए शब्द भाषा में प्रविष्ट करें । ये दोनों ही कार्य दुष्कर थे । इनकी अपेक्षा संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग सुकर था, क्योंकि देश भर में उस समय संस्कृत के विद्वान् भरे थे, संस्कृत हिन्दुओं की धर्म-भाषा थी और उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों ही से भाषा को अधिक गौरव देकर सम्पन्न करना प्रारम्भ किया था । संस्कृत पण्डित जो प्रायः ब्राह्मण थे और हिन्दुओं के धर्म और समाज का नेतृत्त्व करते थे, अपभ्रंश को अभी तक भी अपभ्रष्ट (अत्यन्त बिगड़ी हुई) भाषा के अर्थों में समझते थे। इस के सिवा और भी एक बात थी वह यह कि तत्सम शब्दों का ही नवीन निर्माण हो सकता था क्योंकि शब्दों का निर्माण संस्कृत धातु के मूल आधार पर ही किया जाता था । तद्भव शब्दों का नया निर्माण सम्भव नहीं था, एक शब्द को संस्कृत

धातु के आधार पर निर्मित करना फिर उसका तद्भव (भ्रष्ट) रूप बना कर अंगीकार करना एक अव्यवहार्य बात थी। इससे नए नए तत्सम शब्द संस्कृत धातु के मूल आधार पर बनते और अपभ्रंश में स्थान पाते गए। अपभ्रंश भाषा भी धीरे २ हिन्दी का रूप धारण करती गई।

एक बात यह भी हमें जान लेनी चाहिए कि जैसी पुरानी हिन्दी अपभ्रंश है वैसी ही पुरानी मराठी, उड़िया, बंगला, आसामी, गोरखा, पंजाबी और गुजराती भी हैं। वास्तव में उन्हें भी अपभ्रंश को उसी प्रकार अपनी वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं की माता कहने का अधिकार है, जिस प्रकार हम उसे वर्तमान हिन्दी की माता कहते हैं। ये सभी प्रान्तीय भाषाएं बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से पृथक होती दीख पड़ती हैं। अपभ्रंश वास्तव में भारत की सभी भाषाओं की सम्मिलित सम्पत्ति है। और यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी तक द्रविड़-भाषा-भाषी आंध्र, तामिल, केरल और कर्नाटक को छोड़कर सम्पूर्ण भारत की एक सम्मिलित भाषा थी।

इस भाषा को अपभ्रंश इसलिये कहा गया था कि इसमें संस्कृत शब्दों के अपभ्रष्ट (बहुत ही भ्रष्ट) रूप ग्रहण किए गए थे। संस्कृत पंडितों ने इसे तिरस्कार भाव से यह नाम दिया था परन्तु आगे चलकर यह 'अपभ्रष्ट' रूप ही भाषा का भूषण हो गया। इन अपभ्रष्ट रूपों ने भाषा के उच्चारण ही में कोमलता नहीं उत्पन्न की प्रत्युत अर्थों में भी मार्मिकता का समावेश किया। अपभ्रंश के कवियों ने संस्कृत के महारथी कवियों का अनुकरण नहीं किया, काव्यक्षेत्र में नए छन्द, नई शैली, नया चमत्कार और नए भाव उत्पन्न किए। काव्य-निधि को समृद्ध और भाषा को पुष्ट किया। विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी और तुलसी ही इसके प्रेरक और उज्जीवक थे।

नवीं और दसवीं शताब्दी में राज्य में ३ चक्रवर्ती क्षेत्र थे।

१—गौड़-चक्रवर्ती-क्षेत्र—जिसने हमें चौरासी सिद्धों का अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का साहित्य दिया। २—राष्ट्रकूट-चक्रवर्ती-क्षेत्र—जिसमें प्राकृत के अनेक कवि तथा अपभ्रंश के स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे उत्कृष्ट कवियों को आश्रय दिया गया। ३—कान्यकुब्ज चक्रवर्ती क्षेत्र—जहां राजशेखर और श्रीहर्ष जैसे संस्कृत के महाकवि हुए। मार्के की बात यह है कि इस क्षेत्र में संस्कृत का ही बाहुल्य रहा।

दसवीं शताब्दी का अन्त होते २ उत्तर भारत में पालों, गहरवारों, चालुक्यों, चन्देलों और चौहानों के अतिरिक्त सोलंकी और परमारों के राज्य स्थिर हो गये थे। ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दी में भारत की शक्ति ७ दर्बारों में विभाजित थी जो सब स्वतन्त्र थे। पाल अब भी सिद्ध कवियों का सत्कार

करते थे, गहरवार भी लोक-साहित्य के पोषक थे, यही बात कलचुरी चालूक्यों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। कलचुरी कर्ण के दर्बार में बब्बर और दूसरे कवि प्रतिष्ठा पा रहे थे। कालिंजर के चन्देल कुछ पिछड़े हुए थे, चौहान पृथ्वीराज के दर्बार में चन्दबरदाई अपना पृथक् स्थान रखते हैं। गुर्जर सोलंकियों ने सब से अधिक अपभ्रंश के कवियों को उत्पन्न किया और अपभ्रंश-कृतियों की रक्षा की।

ईसा से पहले की दो तीन शताब्दियों में यवन, शक, आभीर, गुर्जर आदि जातियां भारतवर्ष में घुसीं। उस समय बौद्धों की विजय-वैजयन्ती देश में फहरा रही थी। उन्होंने इन जातियों को समाज में समानता का स्थान देकर मिला लिया। ब्राह्मणों ने प्रथम तो 'म्लेच्छ' कह कर इनका तिरस्कार किया पर जब उन्होंने इन म्लेच्छों में 'कनिष्क' और 'मिनान्दर' जैसे श्रद्धालुओं को देखा जो मठों और मन्दिरों में सोने का ढेर लगा देते थे तो उन्होंने भी इन आगन्तुकों का स्वागत किया। बौद्धों ने जहां उन्हें समानता का अधिकार दिया था, वहां ब्राह्मणों ने उन्हें अत्यन्त ऊंचा—केवल अपने से एक दर्जे नीचा क्षत्रिय का स्थान दिया। उन्हें क्षत्रिय बनाया और इन विदेशी नवनिर्मित क्षत्रियों के लिये अपना प्राचीन दार्शनिक धर्म छोड़, नया मोटा धर्म भी निर्माण कर लिया, जिसे समझने और उस पर आचरण करने में उन्हें दिक्कत नहीं हुई। इन क्षत्रियों की टोलियां सामंत और राजाओं के रूप में संगठित हो गईं और ये पुरोहित उनके धर्म-गुरु और राजनीति के मन्त्री होगए। इस प्रकार धर्म में प्रथम पुरोहित और उसके बाद ये सामंत राजा और राजनीति में प्रथम राजा और उसके बाद ब्राह्मण रहे।

ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी में जब ये सामंत और उनके पुरोहित सुगठित हो चुके थे—बौद्ध धर्म निस्तेज हो गया था। सामंतों के हाथ में देश की सम्पूर्ण राजसत्ता थी और वे सम्पूर्णतया ब्राह्मणों के अधीन थे। बौद्ध लोग दिङ्नाथ और धर्मकीर्ति के दर्शनों पर अभी भी गर्व करते थे। कभी कभी वे योग, समाधि, तन्त्रमन्त्र, भूत-प्रेत, डाकिनी के चमत्कार दिखाने लगते थे। सिद्धों के विचित्र जीवन और लोक-भाषा की उनकी कविताएं कुछ लोगों को आकर्षित करती थीं परन्तु सामाजिक जीवन में उनका कुछ भी हाथ नहीं रह गया था। ब्रह्मचर्य और भिक्षुजीवन जो बौद्धों की सब से बड़ी धर्मसम्पदा थी, अब केवल ढोंग मात्र रह गई थी।

सातवीं शताब्दी के पूर्व ही बौद्धधर्म का एक विकृत रूप 'वज्रयान' के नाम से देश के पूर्वी भागों में फैल गया था। बिहार के नालन्द और विक्रमशिला के विश्वविश्रुत विद्यालय इसके अड्डे थे और इनका प्रसार बिहार से आसाम तक

था। ये बौद्ध 'तान्त्रिक सिद्ध' कहलाते थे और वामाचारी होते थे। ऐसे 'चौरासी सिद्ध' प्रसिद्ध हैं जिनकी अलौकिक शक्तियों और सिद्धियों पर सर्वसाधारण को विश्वास था। इन सिद्धों में थोड़े पढ़े-लिखे नीच जाति के डोम, चमार, चाण्डाल, कहार, दर्जी, शूद्र तथा अन्य ऐसे ही आदमी अधिक होते थे। कुछ अधपढे होने के कारण और कुछ इस लिए कि वे जनता पर अपना प्रभाव कायम रखना चाहते थे—प्रचलित लोक-भाषा में कविता रचते थे।

इसी वज्रयान का एक अधिक विकृतरूप 'सहजयान' (सम्प्रदाय) भी था। इसका धर्मरूप महासुखवाद था। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'सरहपा' थे। इन्होंने प्रथम गुह्य समाज की स्थापना की। उसमें अत्यन्त गुप्त रीति से मुक्तयौन सम्बन्ध के पोषक चक्र संवर आदि देवता, उनके मन्त्र और पूजा अनुष्ठान की प्रतिष्ठा हुई। शक्तियों सहित देवताओं की 'युगनद्ध' मूर्तियां अश्लील मुद्राओं में पूजी जाने लगीं। साथ ही मन्त्र, तंत्र, मिथ्या विश्वास और ढोंग का भी काफी प्रसार हुआ। परन्तु जब मुहम्मदबिन-बख्तियार खिलजी ने इन पाखण्ड केन्द्रों को ध्वंसकर हजारों वर्षों से संचित स्वर्णरत्न की अपार सम्पदा को तारा, कुरुकुल्ला, लोकेश्वर और मंजुश्रीके मन्दरों और मठों से लूट लिया और वहां के पुजारियों, भिक्षुओं और सिद्धों का एक सिरे से क़त्ले-आम किया तब ये सारी दिव्य शक्तियां दुनियां से अन्तर्धान हुईं। इस क़त्ले-आम में बौद्धों का ऐसा विनाश हुआ कि उसके बाद बौद्ध-धर्म का नाम लेने वाला भी कोई पुरुष भारत में ढूंढे न मिला। इस प्रकार इस सर्वनाश से जो भिक्षु बच रहे, उन्हें न तो खड़े होने को जगह थी, न उनका कोई संरक्षक ही था और न जनता का ही उन पर विश्वास रहा। तब वे तिब्बत, चीन, बर्मा और लंका को भाग गए। उनके इस प्रकार अन्तर्धान होने पर गृहस्थ बौद्ध अपने धर्म-कृत्यों को भूल गए। नालन्द और विक्रमशिला के ध्वंस होने के कुछ ही पीढ़ियों बाद बुद्ध की जन्म-भूमि भारत में बौद्ध-धर्म का सर्वथा लोप हो गया।

जैनधर्म—बुद्ध के साथ ही महावीर स्वामी ने जैनधर्म की स्थापना की थी। बहुधा ये दोनों आचार्य एक ही काल में एक ही नगर में रहे हैं। पीछे ई० आठवीं शताब्दी में राष्ट्रकूटों पर और ९वीं से १३वीं शताब्दी तक गुजरात के सोलंकियों पर जैनधर्म का बड़ा भारी प्रभाव रहा। इस प्रकार के जैनाचार्यों में हेमचन्द्राचार्य जो चालुक्य राजा कुमारपाल के गुरु थे, का स्थान सर्वोपरि है। जैनों का प्रभाव सामन्तकुल के उन लोगों पर अधिक पड़ा जो राजवर्गी न होकर व्यापारी हो गए थे। यद्यपि वे हिन्दू-धर्म की दृष्टि से एक सीढ़ी नीचे उतर कर वैश्य हो गए थे परन्तु जैनधर्म में वे ओसवाल, पोरवाल

और श्रीपाल आदि नाम धारण कर नगर-सेठ के पद को पहुंच गए थे । जैन मुनियों का इन वणिक् सामन्तों पर, जो खुल्लमखुल्ला जैनधर्म में दीक्षित हो गए थे—और उन राजवर्गियों पर भी—जो जैन तो नहीं परन्तु जैन प्रभाव में आए हुए थे, पूरा शासन था । जैन यतियों के प्रयत्न और सामर्थ्य से इन जैन नगर-सेठों का स्थान उन हिन्दू अर्धजैन राजाओं के राज्य में आर्थिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगया और ये नगर-सेठ शीघ्र इन सामन्त राजाओं के महामन्त्री बन गए जो कि वास्तव में ब्राह्मणों का सुरक्षित स्थान था उन्होंने अपभ्रंश साहित्य की रक्षा और रचना सब से अधिक की । उनके मुनियों के मूल-ग्रन्थ संस्कृत में नहीं—प्राकृत में थे । व्यापारी होने के कारण ये जैन प्रचलित भाषा के ज्ञान ही को अधिक महत्त्व देते थे, खास कर उस हालत में जब कि उनके धर्म-ग्रन्थ भी मूलतः उसी भाषा में थे । महाभारत, रामायण, पुराण की कथावार्ता से प्रभावित होकर जैन-यतियों ने अपभ्रंश में जैन-पुराण बनाए ।

पुरोहित ब्राह्मण—हम बता चुके हैं कि किस प्रकार समाज के कर्ता-धर्ता राजा और सामंत थे और पुरोहित उनके साथ थे । ये सामंत सब से अधिक अपने इन पुरोहितों पर विश्वास करते थे, क्योंकि उन्हें इन से विद्रोह या विश्वासघात द्वारा राज्य छीन लेने का बिल्कुल भय न था । ब्राह्मण भी राजाओं ही की भांति ऐश्वर्य और अधिकार का भोग करते थे । यह सब राजतन्त्र के आधार पर ही सम्भव था इस लिये ये ब्राह्मण पुरोहित जनतन्त्र के समर्थक नहीं थे । इसी से वे छुआछूत, जातपांत, तन्त्रमन्त्र और मिथ्या विश्वासों के फैलाने में सहायक रहते थे ताकि जनसमुदाय की बाल-बुद्धि क़ायम रहे ।

अध्याय दूसरा

इस काल के कवि

इस काल में ब्राह्मण, बौद्ध, जैन और मुसलमान इन चारों ने काव्य-रचना की । ये रचनाएं तीन प्रकार की थीं—१. रहस्यवाद २. निराशावाद ३. वीररस । साहित्यिक दृष्टिकोण से यह वह काल था जहां वातावरण में बाण और हर्षवर्धन का प्रभाव बना हुआ था । लोग अभी भी अश्वघोष, भास, कालीदास, दण्डी, भवभूति की कृतियों को समादर की दृष्टि से देखते थे । सान्ध्य अपभ्रंश में कविता करने वाले सिद्धों में सरहपा, तिलोपा, शान्तिपा जैसे अनेक संस्कृत के धुरन्धर पण्डित थे । जब वे अपभ्रंश की रचना करने बैठते थे तब संस्कृत को भूल जाते थे । सामन्तों के दर्बारों में ब्राह्मणों का ज़ोर था और वे प्रायः सभी संस्कृत कवि थे । ये राजा लोग तथा सर्व

साधारण भी उनकी पूजा करते थे। सिद्धों की कविता रूढ़िबद्ध लक्षणों से युक्त न थी परन्तु लाखों जन उसमें अभिरुचि और विश्वास रखते थे। इनकी कविताओं में रहस्यवाद का पुट था। यह रहस्यवाद वास्तव में आध्यात्मिक भूलभुलैयां था। इस भूलभुलैयां से लाभ उठाने वाले लोग जनता में न थे। सिद्धों के इस रहस्यवाद में एक विशेषता यह थी कि उसमें निराशावाद नहीं था। इन्द्रियों की वासनाओं को पूर्णरीत्या तृप्त करके आनन्द भोगने का विधान था।

अब हम इस काल के कवियों की रचनाओं के कुछ उदाहरण यहां देते हैं। यद्यपि हमारी आज की भाषा और मसीह की ८ वीं शताब्दी की भाषा में बहुत अन्तर है, परन्तु मूलतः दोनों एक ही हैं। भाषाओं के रूप का परिवर्तन तो निरन्तर होता ही रहता है। यदि हम आज से ५०० वर्ष पूर्व की भाषा पर विचार करेंगे तो उसमें और आज की भाषा में काफ़ी अन्तर दीख पड़ेगा। आज हमारे पास उस काल की भाषा के रूप को समझने के पूरे साधन नहीं हैं क्योंकि ठीक उसी समय की कोई प्राचीन हस्तलिपि हमें उपलब्ध नहीं, जो हैं वे शताब्दियों बाद की लिखी हुई हैं और वे भी विदेशों में विद्यमान हैं। उपलब्ध साहित्य के नक़ल करने वालों ने मूल भाषा में बहुत परिवर्तन कर दिया है। क्योंकि संस्कृत की भांति इस अपभ्रंश भाषा का व्याकरण द्वारा दृढ़ बद्ध रूप नहीं था।

यहां हम ८ वीं शताब्दी से अन्त तक के सिद्धों, जैनियों, ब्राह्मणों, नाथों तथा चारणों की भाषा के मूल तथा उनके परिवर्तित हिन्दी रूपों के उदाहरण देते हैं। ये हिन्दी रूप राहुल सांकृत्यायन के किये हुए हैं। इन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश वास्तव में हिन्दी ही का प्रारम्भिक रूप है, संस्कृत का भ्रष्ट रूप नहीं। इन उदाहरणों में एक उदाहरण मुसलमान कवि का है, जो कदाचित् अब तक ज्ञात सबसे प्रथम मुस्लिम हिन्दी कवि है।

आठवीं शताब्दी

सरहपा—ई० स० ७६०। ये ब्राह्मण थे। बौद्ध भिक्षु तथा प्रसिद्ध सिद्ध थे। नालन्द विश्वविद्यालय के ख्यातनामा महापण्डित थे। इन्होंने भिक्षु-जीवन को त्याग एक नीच जाति की युवती को लेकर 'सहजयान' सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इस में शारीरिक भोगों को ही महत्त्व दिया गया था। इनकी रचनाओं में कायकोष-अमृत-वज्रगीति, चित्तकोष-अज-वज्रगीति, डाकिनी-गुह्य-वज्रगीति; दोहाकोष-उपदेश गीति, तत्त्वोपदेश-शिखर-दोहाकोष, भावना फल-दृष्टिचर्या-दोहाकोष, वसन्ततिलक-दोहाकोष, चर्या गीति-दोहाकोष, महामुद्रोपदेश-दोहाकोष, सरहपाद-गीतिका प्राप्त हैं।

(मूल उदाहरण—सहज संयम)

इअ दिवस णिसहि अहीणि मइ, तिहु जासु णिमाण।
सो चित्त सिद्धी जोइणि, सहज संवरु जाण॥
अक्खर बाढ़ा सअल जगु, णाहि णिरक्खर कोइ।
ताव से अक्खर घोलिआ, जाव णिरक्खर होइ॥
जिम बाहिर तिम अब्भन्तरु। चउदह भुवणे ठिअउ गिरन्तरु।
असरिर काहे सरीरहि लुक्को। जो तहि जाणइ सो तहि मुक्को।
रुअणे सअल' बि जो हि णउ गाहइ। कुन्दुरु खणहि महासुहे साहइ॥
जिम तिसिओ मिअ-तिसिणे धावइ। मरइ सो सहिँ णभ-जलु कहिँ पावइ।
कन्ध-भूअ-आअत्तण इन्दिअ-विसअ-विआर अप हुअ।
णउ णउ दोहाच्छन्देण, कहवि किम्पि गोप्पु।
पण्डिअ लोअहु खमहु महु, एत्थु ण किअइ विअप्पु!
जो गुरु बअणे मइ सुअउ; तहि किं कहमि सु गोप्पु।
(८७–९३ दोहाकोष)

(हिन्दी रूपान्तर)

इमि दिवस निशहिँ अभिमानै, त्रिभुवन जाँसु निर्माण।
सो चित सिद्धा योगिनी, सहज संवरा जान।
अक्षर बाढ़ा सकल जग, नाहिं निरक्षर कोइ।
तौलौं अक्षर घोलिया, जौ लौं निरक्षर होइ।
जिमि बाहर तिमि अभ्यन्तर। चौदह भुवने थितउ निरन्तर।
अशरिर कोई शरीरे लूकेउ। जो तेहिं जानेउँ सो तहँ मुंचेउ।
रूपणे सकलउ जो ना गहियै। कुंदुरु क्षणहिँ महासुख साधै।
जिमितृषितो मृगतृष्णे धावै। मरे सोखहिं, नभ-जल कहँ पावै।
स्कन्ध-भूत-आयतन-इन्द्री-विषय-विचार आप हुव।
नव-नव दोहा-छन्देहिँ, कहब किछु गोप्य।
पण्डित लोगो क्षमहु मोहि, एहु न कियहु विकल्प।
जो गुरु-वचने मैं सुनेउँ, तेहि किमि कहब सुगोप्य।

शबरपा—ई० स० ७८०, ये क्षत्रियवंशी बौद्ध सिद्ध थे और विक्रमशिला (भागलपुर) विश्वविद्यालय के आचार्य थे। ये पालवंशी राजा धर्मपाल के काल में थे। इनकी रचनाएं जो उपलब्ध हैं वे ये हैं—

चित्त-गुह्य-गम्भीरार्थ-गीति, महामुद्रा-वज्रगीति, शून्यता-दृष्टि, षडंगयोग, सहज-सवर-स्वाधिष्ठान, सहजोपदेश-स्वाधिष्ठान।

(मूल रचना का उदाहरण—गीत-राग, बलाड्डि—रहस्यवाद)

ऊचा ऊचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरँगि पिच्छ परिहिण शबरी गीवत गुंजरि-माली।
उमत शबरो पागल शबरो मा कर गुली-गुहाड़ा।

तोहोँरि णिअ घरिणी नामे सहज-सुन्दरी।
नाना तरुवर मोँउलिल रे गअणत लागेँलि डाली।
एकेलि सबरी ए वण हिंडइ कर्ण कुँडल वज्रधारी।
तिअ-धाउ खाट पड़िला सबरो महासुहे सेज छाइली।
सबर भुजंग नैरामणि दारी पेक्ख राति पोहाइली।
चिअ ताँबोला महासुहे कापुर खाई।
सुन-नैरामणि कण्ठे लइआ महा सुहे राति पोहाई।

(२८ चर्यापाद)

(हिन्दी रूपान्तर—)

ऊँचा ऊँचा पर्वत, तँह बसै शबरी बाली।
मोर-पिच्छ पहिरले शबरी ग्रीवा गुंजा-माली।
उन्मत्त शबरो पागल शबरो ना करु गुली-गुहाड़ा।
तोँहार निज घरनी नामे-सहज-सुन्दरी।
नाना तरुवर मौरिल रे गगन ते लागल डारी।
एकली शबरी यहि बन हीँड़ै कर्ण कुँडल वज्रधारी।
त्रिधातु-खाटे पड़ल शबरो महाँसुखेँ सेज छाइल।
शबर भुजंग निरात्मा दारी पेखत राति बिताइल।
चित्त तांबूला महासुख कपूर खाई।
शून्य-नैरात्मा कंठे लेई महासुखे राति बिताई।

कविराज स्वयंभूदेव—ई० स० ७९०। स्वयंभू अपभ्रंश का महान् कवि है, जो अब तक विस्मृत था। वह भारत के इनेगिने महान् कवियों में एक है। उसके 'रामायण' और 'महाभारत' दोनों महाकाव्य अद्भुत कवित्व और विशाल आकार के हैं। उस की भाषा स्वाभाविक, प्रवाह युक्त और सरल है। शब्द नपेतुले और स्वर-योजना कर्णप्रिय है। उसका प्रकृति-दर्शन और विश्व-दर्शन अनोखा है। समुद्रों, बनों, महलों तथा सामन्तों के विग्रहों के उसके वर्णन बड़े सजीव और अद्वितीय हैं। भाव और रस का परिपाक भी उसकी कविता की एक बड़ी खूबी है।

यह एक जैन कवि था जो 'ध्रुव धारावर्ष' के राजकाल में था*। जाति से

*'ध्रुव राय राय व तइय भुअप्पणत्तिणत्तीसु याणुपायेण, (रामायण २०वीं संधि) यह ध्रुवधारावर्ष महान् विजेता राष्ट्रकूट वंश में से था। वह ८८० ई० के लगभग कन्नौज आया था। तभी सम्भवतः उसके अमात्य रयडाके साथ दक्षिण चला गया था।

ब्राह्मण था। इसके पिता का नाम माउर देव था। इस की रचनाओं में 'रामायण' (पउम चरिउ) महत्त्वपूर्ण है। इस में ९० संधियां (सर्ग) हैं जिन में ८३ 'स्वयम्भू' ने लिखीं और ७ उसके पुत्र 'त्रिभुवन' ने। कथा ८३ संधियों में ही पूरी हो जाती है। इस रामायण की सब से प्राचीन प्रति 'भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना' में है; जो गोपाचल (ग्वालियर) में सन १५६४ ई० में, अर्थात् तुलसीदास के जीवन-काल में लिख कर समाप्त की गई थी। दूसरी प्रति जयपुर में मिली है। स्वयंभू की यह रामायण तुलसीकृत रामायण ही के समान चौपाई (पज्झडिया) में है, और आठ आठ पांतियों (अर्धालियों) के बाद दोहा या दूसरे छन्द में 'घत्ता' (विश्राम) है।

रामायण के बाद स्वयंभू का दूसरा महाकाव्य 'हरिवंशपुराण' है जिसमें कृष्ण चरित्र है। इस में ९२ संधियां स्वयंभू की अपनी रचना हैं, जिनमें १२००० श्लोक हैं। आगे ९३ से १०८ तक उसके पुत्र 'त्रिभुवन' की रचना है। पर कथा ९२ में ही पूरी हो जाती है। ये दोनों ही ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। इसके सिवा इस कवि का एक और ग्रन्थ 'स्वयंभू छन्द' भी है। इस महान् विस्मृत कवि को प्रकाश में लाने का श्रेय राहुल सांकृत्यायन को है। इसके उदाहरण—

(मूल मन्दोदरी-वर्णन)

घत्ता—सहसत्ति दिट्ठु मंदोयरिए, दिट्ठिएँ चल-भउहालइ।
दूरहो जे समाहउ वच्छयले, णं णीलुप्पल मालइ।
दीसइ तेण वि सहसत्ति वाल। णं भसले अहिणव-कुसुममाल।
दीसंत चलण-णेउर रसंत। णं महुर-राव बंदिण पठंत।
दीसइ णियंब-मेहल-समग्ग। णं कामएव - अत्थाण - मग्ग।
दीसइ रोमावलि छुडु चडंति। णं कसण-बाल-सीप्पणि ललंति।
दीसंति सिहिण उवसोह देंत। णं उरयलु भिंदिव हत्थि-दंत।
दीसइ पप्फुल्लिय वयण-कमलु। णीसासामोवासत्त - भसलु।
दीसइ सुणा (सु) अणु हुव सगंधु। णं णयण-जलहो किउ सेयउबंधु।
दीसइ णिट्ठलु-सिरु चिहुर-छण्णु। ससि-बिम्बु' व णव-जलहर-णिमण्णु।
घत्ता—परिभमइ दिट्ठि तहो तहि जि तहिँ, अण्णहि कहि' मि ण थक्कइ।
रस-लंपडु महुयर-पंति जिम, केयइँ मुइवि ण सक्कइ।
(रामायण—१०। २-३)

(हिन्दी स्वरूप)

घत्ता—सहसा दृष्ट मंदोदरिए, दृष्टिहि चल-भौं हा-लई।
दूरहुँ हि धारेंउ वक्षतले, जनु नीलोत्पल-मालई।
दीसइ तेहिहिं सहसा हि वाल। जनु भ्रमरे अभिनव-कुसुम माल।
दीसन्त चरण-नूपुर रसंत। जनु मधुर-राव बंदिन पठंत।
दीसइ नितंब - मेखल - समग्र। जनु कामदेव - दर्बार - मार्ग।
दीसइ रोमावलि छुड चढंति। जनु कृष्ण-बाल-सर्पिणि ललंति।
दीसन्त स्तनहु शोभ देंत। जनु उर-तल भिंदेउ हस्तिदंत।

दीसइ प्रफुल्लित बदन-कमल । निश्वासामोदासक्त - भ्रमर ।
दीसइ सुनास अनुभुत-सुगन्ध । जनु नयन-जलधि कियेँउ सेतुबन्ध ।
दीसइ निस्तर शिर चिकुर-छन्न । शशि-बिंबि' व नव-जलधर निमग्न ।

घत्ता—परिभ्रमै दृष्टि तहि तहँहि तही^ँ, अन्यहिं कहहि^ँ न थक्कई ।
रस-लम्पट मधुकर-पंक्ति जिमि, केतकि भूमि न सक्कई ।

दोनों नेत्रों को 'जलधि' और नासिका को 'सेतु' की उपमा अनोखी ही नहीं, अछूती भी है ।

अपनी रामायण के सम्बन्ध में स्वयंभू कहता है—

(मूल)

अक्खर - वास - जलोह - मणोहर । सुयलंकार - छन्द - मच्छोहर ।
दीह - समास - पवाहा - वंकिय । सक्कय - पायय - पुलिणा - लंकिय ।
देसी - भासा - उभय - तडुज्जल । कवि-दुक्कर-घण-सद्द - सिलायल ।
अत्थ - बहल - कल्लोला - णिट्ठिय । आसा - सय - सम - ऊह-परिट्ठिय ।
राम - कहा सरि एहँ सोहंती ।............

(रामायण)

(हिन्दी स्वरूप)

अक्षर - वास - जलोघ - मनोहर । सु - अलंकार - छन्द - मत्स्योधर ।
दीर्घ समास - प्रवाहहिं वंकित । संस्कृत - प्राकृत - पुलिनालंकृत ।
देशी भाषा दोउ - तट उज्ज्वल । कविदुष्कर - घन - शब्द-शिलातल ।
अर्थ - बहुल कल्लोलहिं सजित । आशा - शत - सम - ओघ-समर्पित ।
राम कथा सरि ऐहु सोहंती ।............

भूसुकुपा (शान्तिदेव) ई० स० ८००, नालन्द महापण्डित, बौद्ध सिद्ध । ये राजकुमार थे । इनकी एक कृति 'सहज-गीति' मिली है ।

(मूल उदाहरण—रहस्यवाद)

काहेरि घेणि मेलि अच्छहु कीस । वेठिल हाक पड़अ चउदीस ।
अप्पण मांसे हरिणा बइरी । खणह ण छाडअ भूसुकु अहेरी ।
तिण ण छुपइ पिबइ ण पाणी । हरिणा हरिणीर णिलअ ण जाणी ।
हरिणी बोलअ सुण हरिणा तो^ँ । ए बन छाडि होहु भान्तो ।
तरसँत हरिनार खुर न दीसइ । भूसुकु भणइ मुढ़ ! हिअहि^ँ पइसइ ।

(हिन्दी रूप)

काहेर भक्ष्य मेलि रहो^ँ कईस । वेठिल हाक पड़ै चौदीस ।
अपने माँसे हरिना बैरी । क्षणहुं न छाड़ै भूसुक अहेरी ।
तृण न छुवै पियै न पानी । हरिना हरिनी - निलय न जानी ।
हरिनी बोलै सुनु हरिना तो^ँ । ई बन छाँडि होवहू भ्रमन्तो ।
तृषित धावत हरिना खुर ना दीसै । भूसुक भने मूढ़ ! हियहि^ँ न पइसै ।

नवीं शताब्दी

लुइपा—ई० स० ८३०—जाति कायस्थ, बौद्ध सिद्ध, मगधवासी। इनकी रचनाएं—अभिसमय-विभंग, तत्त्वस्वभाव-दोहा कोष, बुद्धोदय भगवद्-अभिसमय, गीतिका।

(मूल रचना—रहस्यवाद)

काआ तरुवर पंच बि डाल। चंचल चीऐ पइट्टा काल।
दिढ करिअ महासुह परिमाण। लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।
सअल-समाहिहि काह करिअइ। सुख-दुखेतें निचित मरिअइ।
छडिअउ छंद बाँधकरण कपटेर आस। सुण्ण-पक्ख भिडि लेहु रे पास।
भणइ लुई आम्हे झाणे दिट्ठा। धमण चमण वेणि उपरि बइट्ठा।

(चर्यापद)

(हिन्दी रूपान्तर)

काया तरुवर पाँचउ डाल। चंचल चित्ते पइठा काल।
दृढ़ करि महासुख परिमान। लुई भने गुरु पूछिय जान।
सकल समाधिहिं काह करिजै। सुख-दुःखनतें निचित मरिजै।
छाड़ि छन्द-बन्ध कर ना कपटकी आश। शून्य-पक्ष भीडि लेहु रे पाश।
भनै लुई मैं ध्याने दीठा। धमन-चमन दोउँहि ऊपर बैठा।

इसी प्रकार की भाषा में नवीं शताब्दी के बौद्ध सिद्धों ने रहस्यवादी रचनाएं की हैं, जिनमें विरूपा, डोम्बिपा, दारिकपा, गुण्डरीपा, कुक्कुरीपा, कमरिपा, कण्हपा, टेण्डणपा, महीपा, भादेपा, धामपा प्रमुख हैं। इन सिद्धों की अपभ्रंश की रचनाओं में गीत की भाषा और उपदेश की भाषा में थोड़ा अन्तर है। उपदेश की भाषा तो प्रचलित लोक-भाषा से कुछ पुरानी काव्य-भाषा है, पर गीत आदि छन्दों की भाषा में अधिक प्रचलित भाषा काम में ली गई है—कण्हपा की रचनाओं का ही एक उदाहरण देखिए—

(मूल रचना—सहज-मार्ग)

णित्तरंग-सम सहज-रूअ सअल-कलुस-विरहिऐ।
पाप पुण्य-रहिऐ कुच्छ णाहिं काण्ह फुट कहिऐ।
बहिण-णिक्कालिआ सुण्णा सुण्ण पइट्ठ।
सुण्णासुण्ण-वेणि मज्झें रे बढ़! किम्पि ण दिट्ठ।
सहज एक्कु पर अत्थि तहि फुड काण्ह परिजाणइ।
सत्थागम बहु पढ़इ सुणइ बढ़! किम्पि ण जाणइ।

(हिन्दी रूप)

निस्तरंग सम सहज रूप, सकल-कलुष-विरहिए।
पाप-पुण्य-रहित किछु नाहि, काण्हे फुर कहिऐ।
बाहर निकालिय शून्याशून्य प्रविष्ट।
शून्याशून्य दोउ मध्ये मूढ़ा! किछुअ न दृष्ट।

सहज एक पर अहै तहँ फुर काण्ह परि-जानै ।
शास्त्रागम बहु पढ़ै सुनै मूढ़! किछुउ न जाने ।

अब इस भाषा से नीचे लिखे गीत की भाषा का अन्तर साफ़ दीख जाता है ।

(मूल गीत—भैरवी)

भव - णिब्बाणे पड़ह माँदला। मण पवण - वेण्णि कँरउ कशाला।
जअ जअ दुन्दुहि सद्द उछलिला। काण्हे डोम्बि - विवाहे चलिला।
डोम्बि विवाहिअ अहारिउ जाम। जउतुके किअ आणूतू धाम।
अहणिसि सुरअ-पसंगे जाअ। जोइणि जाले रअणि पोँ हाअ।
डोँबिएँ संगे जोई रत्तो। खणह ण छाडअ सहज - उमत्तो।

(हिन्दी रूप)

भव - निर्वाणे पटह माँदला। मन - पवन दोऊ करौं कशाला।
'जय' 'जय' दुंदुभि शब्द उचरिला। काण्हे डोम्बि - विवाहे चलिला।
डोम्बि वियाहि अहारेउँ जन्म। जौतुक - कियउ अनुत्तर - धर्म।
अहनिशि सुरतप्रसंगे जाय। जोगिनि-जाले रजनि बिताय।
डोम्बी-संग जोउ रक्त। क्षण ना छाडै सहजुन्मत्त।

दसवीं शताब्दी

पुष्पदन्त—दसवीं शताब्दी में कई जैन कवि भी इन सिद्धों में आ मिलते हैं, जिनमें इस शताब्दी का महाकवि पुष्पदन्त (पुष्फयन्त) उल्लेखनीय है । नवीं शताब्दी में स्वयंभू अकेला ही जैन कवि है, परन्तु इस शताब्दी में वे अनेक हो जाते हैं। पुष्पदन्त किसी दशा में स्वयंभू से कम नहीं प्रतीत होता। इस महाकवि का काल ईस्वी सन ६५९-७२ है । यह राष्ट्रकूट कृष्ण का समकालीन था, जिसने चोल युवराज राजादित्य को मारकर कुमारी तक सम्पूर्ण देश पर दखल कर लिया था। इस कवि का जन्म दिल्ली रोहतक के आसपास हुआ, पर रचना मान्यखेट (मालखेड़-हैदराबाद, दक्षिण) में की । यह कवि जन्म से ब्राह्मण और धर्म से जैन था। इसकी रचनाओं में महापुराण 'तिसट्ठि-महापुरिस गुणालंकार' 'जसहर चरिउ' (यशोधर-चरित्र) 'नायकुमार-चरिउ' (नागकुमार चरित्र) प्राप्त हैं।*

पुष्पदन्त को 'अभिमान मेरु' कहा गया है। इस दर्बारी कवि ने सामन्तों की बड़ी ही कठोर आलोचना की है । इसकी मनोवृत्ति स्वतन्त्र और स्वाभिमानी थी। इसने विरह-वर्णन अति सुन्दर किया है । तथा विविध विषयों पर अधिकारपूर्ण वर्णन किया है । सब जगह अपनी कवित्त्व शक्ति, विविध विषय

---

* पहला ग्रन्थ P. L. वैद्य द्वारा माणिकचन्द-दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला बम्बई में संपादित। दूसरा इन्हीं महाशय द्वारा करंजा जैन ग्रन्थ माला (करंजा, बरार) में संपादित तथा तीसरा देवेन्द्र जैन ग्रन्थ माला में प्रो० हीरालाल जैन द्वारा संपादित है।

व्यापकता और प्रौढ़ प्रतिभा का प्रकाश किया है। यहां हम कवि का 'संध्या वर्णन' उदाहरण के लिए उपस्थित करते हैं।

(मूल रचना—)

अत्थमिइ दिणेसरि जिह सउणा। तिह पंथिय थिय माणिय-सउणा।
जिह फुरियउ दवीय-दित्तियउ। तिह कंताहरणइ - दित्तियउ।
जिह संझा-राएँ रंजियउ। तिह वेसा-राएँ रंजियउ।
जिह भुवणुल्लउ संताविय उ। तिहँ चक्कुल्लुवि सँताबियउ।
जिह दिसि-दिसि तिमि रइँ मिलियाइँ। तिह दिसि-दिसि जारइ मिलियाइँ।
जिह रयणिहि कमलइँ मउलियाइँ। तिह विरहिणी-वयणइँ मउलियाइँ।
जिह घरइँ कवाइइँ दिण्णाइँ। तिह वल्लह—सवइँ दिण्णाइँ।
जिह चंदे णिय—कर पसरु किउ। तिह पिय—केसहिँ कर-पसरु किउ।
जिह कुवलय—कुसमइँ वियसियइँ। तिह कीलय—मिहुणइँ वियसियइँ।
जिह पीयइँ पाणइँ महुराइँ। तिह अहरहँ महु-रस-महुराइँ।
जिह जिह गलंति जामिणि-पहर। तिह तिह विइ्ण्ण मउरइ पहर।
जिह णहि सुक्कुग्गमु दरिसियउ। तिह चिडि सुक्कुग्गमु दरिसियउ।
घत्ता—ता चक्क-उलहँ पंकयहँ तंब-किरण-पूरिय-भुवणोयरु।
विरयहँ-णर-णारी-यणहँ जिविउ देंतु समुग्गउ दिणयरु।

(आदि पुराण)

(हिन्दी रूपान्तर—)

अस्तमे दिनेश्वरे जिमि शकुना। तिमि पंथिक ठिउ माणिक शकुना।
जिमि फुरियेउ दीपक - दीप्तियऊ। तिमि कान्ताभरणहिँ दीप्तियऊ।
जिमि संध्या - रागेँ रंजियऊ। तिमि वेशा-रागे रंजियऊ।
जिमि भुवनल्लउ संतापियऊ। तिमि चक्किल्लौ संतापियऊ।
जिमि दिशिदिशि तिमिरहिँ मिलियाइँ। तिमि दिशिदिशि जारहि मिलियाइँ।
जिमि रजनिहिँ कमिलिनि मुकुलिताइँ। तिमि विरहिनि-वदनइँ मुकुलिताइँ।
जिमि घरइ कपाटउ दिन्नाइँ। तिमि बल्लभ-संपति दिन्नाइँ।
जिमि चँदेहि निज-कर प्रसर कियेउँ। तिमि पियकेशहिँ करप्रसर कियेउँ।
जिमि कुवलय कुसुमा विकसियऊ। तिमि कीरय-मिथुना विकसियऊ।
जिमि पीयैँ पानहिँ मधुराइँ। तिमि अधरह मधुरस-मधुराइँ।
जिमिजिमि बीतै यामिनि-प्रहरा। तिमितिमि विकीर्णे मृदु-रति-प्रहरा।
जिमि नहिं शुक्रोदय दरसियऊ। तिमि चिड़ि शुक्रोद्गम दरसियऊ।
घत्ता—तो चक्रकुलहँ पंकजहँ ताम्रकिरण-पूरित-भुवनोदर।
विरही-नर-नारी जनहू जीवन देंत सम्-ऊगेउ दिनकर।

देवसेन—ई० स० ९३३, ये धारानगरी (मालवा) के निवासी तथा जैन साधु थे। इनकी एक रचना 'सावय-धर्म-दोहा' प्राप्त है।

तिलोपा—ई० स० ९६०, ये मगध (भिगुनगर) के बौद्ध भिक्षु जन्म से ब्राह्मण तथा द्वितीय विग्रहपाल के काल में थे। इनकी रचनाओं में निवृत्ति भावनाक्रम, करुणा भावनाधिष्ठान, दोहा-कोष, महामुद्रोपदेश प्राप्त हैं।

शान्तिपा—ई० स० १०००, इनका पूरा नाम 'रत्नाकर शान्तिपाद' था और ये 'कलिकाल सर्वज्ञ' के नाम से विख्यात थे। जन्म से ब्राह्मण और बौद्ध सिद्धों में समादरणीय थे। ये गौडराजा विग्रहपाल-महीपाल के गुरु और विक्रमशिला-विश्व-विद्यालय के अध्यक्ष थे। अपने समय के ये असाधारण पण्डित माने जाते थे। इनके कुछ दर्शन-ग्रन्थ और छन्द-शास्त्र का एक ग्रन्थ 'छन्दोरत्नाकर' प्राप्त है। एक ग्रन्थ 'सुख दुःख द्वय-परित्यागदृष्टि' प्रसिद्ध है। इनका एक गीत देखिए—

(मूलरचना)

तुला धुणि धुणि अंशूहि अंशू। अंशू धुणि धुणि णिरवर सेसू।
तउ से हेतुअ ण पाविअइ। सांन्ति भणइ किं स भाविअइ।
तुला धुणि धुणि सुण्णे आहारिउ। पुण लइअ अप्पण चटारिउ।
वहल वढ़! दुइ भाग ण दीशअ। सान्ति भणइ वालग्ग ण पइसइ।
काज ण कारण ण एहु जुगती। सअ-संवेअण बोलथि सान्ती।

(हिन्दी रूप) **(चर्यापद)**

तुला धुनि धुनि रेशहि रेशा। धुनि धुनि निरवर शेषू।
तउ सो हेतु न पाइयइ। शान्ति भनै की सो भवियइ।
तुल धुनि धुनि शून्ये धारेउ। पुनि लेइय आपन चट्टारिउ।
बहुत मूढ़! दुइ भाग न दीसै। शान्ति भनै बालाग्र न पइसै।
कार्य न कारण न एहु जुगती। स्वक-संवेदन बोलै शान्ती।

योगीन्दु (जोइंदु)—ई० स० १०००, ये राजपूताने के जैन साधु थे। इनकी रचना परमात्म-प्रकाश-दोहा, योगसार-दोहा प्राप्त हैं।

रामसिंह—ई० स० १०००, राजपूताने के जैन साधु थे। एक कृति 'पाहुउ-दोहा' प्राप्त है।

धनपाल—ई० स० १००० गुजरात के जैन कवि थे। एक कृति 'भवि-सयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा) प्राप्त है। ये उत्तम कवि थे।

ग्यारहवीं शताब्दी

अब्दुर्रहमान ई० स० १०१०, ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ ही में एक मुसलमान जुलाहा अपनी भावभरी कविता सुनाकर बरबस हमारा मन अपनी ओर खींच लेता है। इस मुसलमान जुलाहे का नाम 'अब्दुर्रहमान' है। यह मुलतान का रहने वाला था और इसने ई० स० १०१० में अपनी श्रेष्ठ रचना रची है। यह कवि हिन्दी का प्रथम-ज्ञात मुसलमान कवि है। इसकी भाषा और कला खूब परिष्कृत है। शब्दों के माधुर्य और भाषा के प्रवाह के क्या कहने हैं? इसका केवल एक ग्रन्थ 'संनेह-रासय' (संदेश-रासक) मिला है, जो सम्भवतः अपूर्ण है। कवि का 'प्रोषित पतिका' का संदेश सुनिए—

(मूल रचना)

धम्मिलउ मुक्कमुह विज्जंभइ भरु अंगु मोडई,
विरहानलि संतविअ, ससइ दीह कर-साह तोडई।

इम मुद्धइ विलवंतियह महि चलणेहि छिहंतु,
अद्धुड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु।
तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअ - उक्कंखिरिया,
मंथर - गय सरलाइवि उत्तावलि चलिया।
तह मणहर चल्लंतिय चंचलरमणभरि,
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिणि-रव-पसरी।
तं जं मेहल ठवइ गंठि णिट्ठुर सुहय,
तुडिय ताव थूलावलि णवसर – हारलय।
सा तिवि किवि संवरिवि चइवि किवि संचरिया,
णेउर चरण-विलग्गिवि तह पहि पंखुडिया।

(हिन्दी रूपान्तर)—

केशमुक्तमुख जँभाये अरु अंग मोड़ई,
विरहानलें संत पिय, श्वसै दीर्घ-कर - शाख तोड़ई।
इमि मुग्धा विलपंती महिहिँ चरणेहिँ छुवन्ती,
अर्धोद्विग्ना सा पथिक पथँ जोयउ चलतो।
तहि पथिकहिँ पेखिया प्रियहिँ उत्कंठितिका,
मंथर-गति सरलाइय उत्तावलि चलिया।
तिमि मनहर चलन्ती चंचल रमण भरी,
छुटी खिसकि रसनावलि, किंकिणि - रव-पसरी।
ता मेखलहिँ राखि गाँठें निष्ठुर सुभगा,
टुटी तबहिं स्थूलावलि नव - सर - हार - लता।
वह तेहिँ किछुक उठाइ किछुक तजि संचलिता,
नूपुर चरण लपटिया इमि पथि आ-पड़िआ।

जैनाचार्य मेरुतुङ्ग—ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण ही भोज का काल है। इसी समय में चालुक्यराज तैलप ने मुंज को युद्ध में बंदी बनाकर उसे पींजरे में रखा था और उससे गली गली भीख मंगवाई थी। मुंज की इस विपत्ति का वर्णन वाक्पति मुंज ने अथवा तत्कालीन किसी कवि ने बड़ी ही मार्मिक भाषा में किया था। इसके कुछ उदाहरण जैनाचार्य मेरुतुङ्ग ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में दिए हैं। इनकी भाषा देखिए—

(मूल रचना)

झोली तुट्टवि किं न मुअ, किँ हुउ न छारहु पुंजु।
हिण्डइ दोरी दोरियउ, जिमि मंकडु तिमि मुंज।
चित्ति विसाउ न चिंतियइ, रयणायर गुण-पुंजु।
जिम जिम वायइ विहिपडहुः तिमि नाचिजइ मुंजु।
सायरु खाइँ लंकगढु, गढवइ दसशिरु राउ।
भग्ग खई सो भंजि गउ, मुंज म करिसि विसाउ।

गय गय रह गय तुरय गय, पायक्कडानिभिच्च।
सग्गट्ठिय करि मंतणउं, महता रुद्दाइच्च।
(प्र० चि०)

(हिन्दी रूप)

झोली टुट्टी की न मुअ, की हुअ न छारह पुंज।
हिंडै डोरी डोरियउ, जिमि मर्कट तिमि मुंज।
चित्ते विषाद न चिंतियइ, रतनाकर गुण-पुंज।
जिमि जिमि बाजे विधि-पटह, तमि नाचिज्जे मुंज।
सागर खाई लंक-गढ़, गढ़पति दस-सिर राव।
भाग्य क्षयी सो भंजिगउ, मुंज! न करहु विषाद।
गये गज रथ गये तुरग गये पायक डानउ भृत्य।
सर्गे ठिउ करि मंत्रणा, महता-रुद्रादित्य।

बब्बर—ई० स० १०५०, ये त्रिपुरी (चेदी) के निवासी और कर्णकलचुरि के दर्बारी कवि थे। 'प्राकृत पिंगल' में इनकी रचनाओं के उदाहरण मिलते हैं। इनकी कविता अत्यन्त मर्मस्पर्शी होती थी। एक उदाहरण देखिए—

(मूल रचना)

तरुण-तरणि तवइ धरणि, पवण वहइ खरा।
लग्ग णाहि जल वड मरुथल, जण-जिअण-हरा।
दिसइ चलइ हिअअ दुलइ, हम इकलि बहू
घर णहि पिअ सुणहि पहिअ! मण इछइ कहू।

(हिन्दी रूप)

तरुण-तरणि तपै धरणि, पवन वहै खरा।
लाग नाहिं जल बड़ मरुथल, जन-जीवन-हरा।
दिशचलै हृदय डुलै, हम एकली बधू।
घरें नहिं पिय सुनहि पथिक? मन इच्छै कहू।

कनकामर मुनि—ई० स० १०६०, बुंदेलखण्ड के ब्राह्मण, दिगम्बर जैन साधु थे। इनकी एक कृति 'करकंड-चरिउ' प्राप्त है। उत्तम कवि थे।

जिनदत्तसूरि—ई० स० ११००, गुजराती जैन साधु थे। इनकी रचनाएं चाचरि, उवएसरसायण (उपदेश रसायन), कालस्वरूप-कुलक प्राप्त हैं।

बारहवीं शताब्दी

हेमचन्द्र सूरि—इस शताब्दी के ऊषाकाल ही में हमें एक महाकवि के दर्शन होते हैं। ये विद्वान् कवि जैनाचार्य हेमचंद्र सूरि हैं। ये भी 'कलिकाल सर्वज्ञ' प्रसिद्ध हैं। इनका समय ई० स० १०८८-११७९ है। गुजरात के ग्राम धवकलपुर में इनका जन्म हुआ। अनहिलवाड़ा (पाटन) में इन्होंने साहित्य का कार्य किया। ये जन्म से वैश्य और धर्म से जैन साधु थे। अपभ्रंश की इनकी तीन रचनाएं उपलब्ध हैं। १ प्राकृत व्याकरण, २ छन्दानुशासन ३ देशीनाममाला (कोष)। ये अनहिलवाड़े के सोलंकी राजा कर्ण, जयसिंह सिद्धराज, कुमारपाल, अजयपाल,

मूलराज द्वितीय, और भीमदेव भोला के समकालीन रहे। कुमारपाल इन्हें गुरु मानते थे। इनका 'देशी-नाम-माला कोष' बहुत महत्त्व का है। इनकी अपनी रचना कम हैं। पूर्ववर्ती कवियों के उदाहरण अधिक हैं। एक उदाहरण शरद-वर्णन का देखिए—

(मूल रचना)

तरुणी किलकिंचि अइँ विसट्टहिँ, ससि-जोण्ह-समुज्जवल रत्तड़ी।
मल्लिअ फुल्लइँ परिमल-सारइँ, जउ तउ गय मग्गहु वत्तडी।
तुहु मुहुलायन्न-तरंगिणिएँ, झलकंतउ कंति–करंविअओ।
सोहइ निम्मल-वट्टुल-मंडलु, जल-मज्झिनाइ ससि-बिंबिओ।

(हिन्दी रूपान्तर) (छन्दो०)

तरुणी किलकिंचितैँ विसट्टैँ, शशि ज्योत्स्न-समुज्ज्वल-रातड़ी।
मल्ली फुलैँ परिमल सारैँ, जो तो गय मागहु बातड़ी।
तव मुख-लावण्य-तरंगिणिएँ-झलकंतउ कांति करंवितओ।
सोहै निर्मल-वर्तुल-मण्डल, जल-मांझ न्याइँ शशि-बिंबओ।

हरिभद्र सूरी—ई० सन ११५९। अनहिलवाडा (पाटन) के निवासी जैन साधु थे, और जयसिंह-कुमारपाल के मन्त्री पृथ्वीपाल के आश्रित थे। इनकी एक कृति 'नेमिनाथ चरिउ' प्राप्त है; जिसे जर्मन प्रो० हरमन जैकोबी ने संपादित किया था। इन्होंने विविध विषयों पर लेखनी चलाई है।

आमभट्ट—ई० स० ११४३। गुजरात के अनहिलवाड़ा के निवासी ब्राह्मण थे, जयसिंह-कुमारपाल के राजकवि थे। इनकी फुटकर रचनाएं प्राप्त हैं।

विद्याधर—ई० स० ११८०। ये कन्नौज के राजा जयचन्द के महा-मन्त्री थे। ब्राह्मण थे। इनकी फुटकर रचनाएं प्राप्त हैं।

शालिभद्र सूरि—ई० स० ११८४। गुजराती जैन साधु थे। एक रचना 'बाहुबलिरास' प्राप्त है।

सोमप्रभ सूरि—ई० सन ११५६। अनहिलवाड़ा (गुजरात) के जैन साधु थे। इन्होंने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुमारपाल-प्रतिबोध' लिखा है।

जिनपद्म सूरि—ई० स० १२००। जैन साधु थे, एक कृति 'थूलिभद्द-फाग, प्राप्त है।

'चन्दबरदाई' इसी काल के कवि हैं, उनका वर्णन आगे वीरकाल के प्रकरण में आवेगा।

तेरहवीं शताब्दी

लक्खण—ई० स० १२५७। ये आगरे के आसपास (रायवद्दिय—रायभा) के निवासी वैश्य, जैन यति थे। इनकी कृति 'अणुवयरयण पईव' (अनुव्रत-रत्नप्रदीप) मिली है जो स० १५१८ की हस्तलिखित और अप्रकाशित है।

अपने विषय में वे दीनतापूर्वक कहते हैं—

(मूल रचना)

मइं अमुणंते अक्खर विसेसु, न मुणमि पबन्धु न छंद-लेसु।
पद्धडिया बंधे सुप्पसणउ, अवगमउ अत्थु भव्वयणु तण्णु।
हीणक्खउ मुणे॑ वि इयरु तत्थु, संभवउ अण्णु बज्जे॑ वि अणत्थु।

(हिन्दी रूप)

मैं अबुझंता अक्षर-विशेष, न बुझौं प्रबन्ध न छन्दलेश
पद्धतिका बंधैं सुप्रसन्न, अवगमैं भव्यजन अर्थ तूर्ण।
हीनाक्षर जानी इतर तत्र, संभवउ अन्य वर्जेउँ अनर्थ।

जज्जल—ई० सन १२९०। यह उत्तरी राजस्थान के निवासी थे तथा हम्मीर के प्रधान मन्त्री और सेनापति थे। इन्होंने रणथम्भोर के वीर राजा हम्मीर की, जिस पर अलाऊद्दीन ने सन १२९६ में चढ़ाई की थी—वीरता का बखान ओज-पूर्ण भाषा में करते हुए 'हम्मीर रासो' लिखा था, जो अब उपलब्ध नहीं है। किन्तु 'प्राकृत पिंगल सूत्र' में इसके कई छन्द उदाहरण के तौर पर दिये गये हैं जिनमें से कुछ यहां लिखते हैं—

(मूल रचना)

मुंचहि सुंदरि पाअ अप्पहि, हसिऊण सुम्मुहि खग्गं मे।
कप्पिअ मेच्छ-सरीरं पेच्छइ वअणाइ तुम्ह धुअ हम्मीरो।
पअभरु दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ।
कमठ-पिट्ठ टरपरिअ मेरु-मंदर-सिरकंपिअ।
कोह चलिअ हम्मीर-वीर गअजूह-सँजुत्ते।
किअउ कट्ठ हा कंद ! मुच्छि मेच्छइ के पुत्ते॥
पिंधउ दिढ-सण्णाह वाह-उप्पर पक्खर दइ,
बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वअण लइ।
उड्डल णह-पह भमउ खग्ग रिउ-सीसहि डारउ,
पक्खर-पक्खर ठेल्लि-पेल्लि पव्वअ अप्फालउ।
हम्मीर कज्ज 'जज्जल' भणइ, कोहाणल मुह महं जलउ,
सुलताण-सीस करवाल दइ, तेज्जि कलेवर दिअ चलउ।

(हिन्दी रूपान्तर)

मुंचहि सुंदरि ! पाव अर्पेहि हँसियाउ सुमुखि खड्गहँ मे,
काटिय म्लेच्छ शरीरहँ पे॑ खिहँ वदनहँ तुम्ह ध्रुव हम्मीरो।
पग भर दरमरु धरणि तरणि रहधूलिय झंपिय,
कमठ-पीठ टरपरिय मेरु-मंदर-शिर कंपिय।
कोधि चलिय हम्मीर वीर गज-यूथ-सँयुत्ते,
कियउ कष्ट 'हाकंद' मूर्छि म्लेच्छन के पुत्ते।
पेन्हेंउ दृढ़ सन्नाह बाँह ऊपर पक्खर दइ,
बंधु समधि रण धँसेउ स्वामि हम्मीर वचन लइ।

उज्ज्वल नभ-पथ भ्रमेउ खड्ग, रिपु शीशहिं डारेउ,
पक्कड़ - पक्कड़ ठेलि - पेलि पर्वत उच्छालेउ।
हम्मीर-कार्य 'जज्जल' भनइ, क्रोधानल-मुख महँ ज्वलउ,
सुल्तान शीश करवाल दइ, त्यागि कलेवर दिवु चलउ।

हरिब्रह्म—ई० स० १३१४। ये बिहार के निवासी ब्रह्मभट्ट थे, और मिथिला-नेपाल के राजा हरिसिंह के मंत्री चण्डेश्वर के आश्रित थे। इनकी फुटकर रचनाएं मिलती हैं।

अंबदेव सूरि—ई० स० १३१४। ये अनहिलवाडा (गुजरात) के जैन साधु थे। इनकी एक रचना 'समर-रास' का वर्णन 'प्राचीन-गुर्जर-काव्य-संग्रह' में है।

राजशेखर सूरि—ई० स० १३१४। गुजरात के जैन साधु थे। एक कृति 'नेमिनाथ-फाग' मिली है।

नाथ सम्प्रदाय—

लगभग बारहवीं शताब्दी के अन्त और तेरहवीं के प्रारम्भ में सिद्ध सम्प्रदाय में से सिद्ध जलंधरनाथ भारत के पश्चिमी प्रान्तों में चले आए और उन्होंने नाथ सम्प्रदाय की नींव डाली। यह सम्प्रदाय कुछ बौद्ध और कुछ हिन्दू मत से मिश्रित था। इसमें ईश्वरवाद को लेकर हठयोग की साधना चलाई गई। ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों की उपेक्षा करके घट के भीतर ही ईश्वर-प्राप्ति पर ज़ोर दिया गया। वेद-शास्त्र का अध्ययन व्यर्थ, तीर्थाटन निरर्थक तथा विद्वानों का सत्सङ्ग सारहीन बताया गया। 'नाद' और 'बिंदु' संज्ञाएं जो वज्रयान में चली आती थीं, यहां भी स्थिर रहीं परन्तु उनकी व्याख्या बदल दी गई।

इन जलंधरनाथ के शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ (मच्छन्दरनाथ) और उनके शिष्य गोरखनाथ हुए, जिन्होंने राजा भर्तृहरि और राजा गोपीचन्द्र को विरक्त बनाया। इन नाथों की संख्या नौ है। 'नवनाथ और चौरासी सिद्ध' कहे जाते हैं।

सम्भवतः पञ्जाब के प्रान्तों में आकर मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ आदि का परिचय सिन्ध और मुलतान में बसे तत्कालीन सूफ़ी फकीरों से हुआ, और दोनों का दोनों पर प्रभाव पड़ा। मुसलमानों का ऐकेश्वरवाद नाथों पर और नाथों का चमत्कार-प्रदर्शन फ़कीरों पर प्रभाव कर गया। ये फ़कीर और पीर सदैव भारत में इस्लाम को प्रिय बनाने की चेष्टा करते थे। उन्होंने चमत्कार के कारण अपने को भारतीय जनता के और निकट कर लिया।

हम कह आए हैं कि सिद्धों में अनेक धोबी, चमार, डोम, कहार, लकड़हारे, दर्जी आदि छोटी जाति के आदमी थे, नाथों में भी यही हाल था। उन का भी बुद्धिज्ञान सामान्य और शास्त्र-ज्ञान कुछ नहीं था। इसी से वे रहस्यदर्शी होने का

ढोंग रच कर पण्डितों को फटकारते और गुरु के माहात्म्य का ढोल पीटते रहते थे। पंजाब से ये राजपूताने की ओर गए। और फिर इन्होंने इन्हीं प्रान्तों की भाषाओं में अपने ग्रन्थ भी लिखे। वे मुसलमानों को जिनकी बोली दिल्ली के आसपास की थी, अपनी वाणी सुनाना चाहते थे। इन सब कारणों से इनके साहित्य की भाषा नागर अपभ्रंश से पृथक् एक नई 'फक्कड़ी' भाषा बन गई। इसमें पञ्जाबी, राजपूतानी और दिल्ली की मुसलमानी भाषा का मेलजोल था। इसका फल यह हुआ कि हिन्दुओं के साथ २ मुसलमान भी इस सम्प्रदाय में भरती हो गए। सम्भव है इसी धर्म-एकत्व से प्रभावित हो कर आगे चलकर मुस्लिम सूफ़ियों ने हिन्दी में सूफ़ी साहित्य लिखा हो। आज जो जोगी भगवां कफ़नी पहिने, सारङ्गी बजाकर राजा भर्तृहरि और गोपीचन्द के गीत गाते घर २ फिरते हैं वे उन्हीं के वंशधर हैं। वे गोरखनाथ को गुरु कहते हैं।

गोरखनाथ की रचनाएं गद्य और पद्य दोनों भाषाओं में हैं। और वे सन १४०० के आसपास की हैं। जो पुस्तकें पाई गई हैं, उनमें गोरख गणेश-गोष्ठी; महादेव गोरख सम्बाद, गोरख जी की सत्रहकला, गोरखबोध, दत्तगोरख सम्बाद, योगेश्वरीसाखी, नरवईबोध, विराट्पुराण, गोरखसार और गोरखवाणी है। ये रचनाएं गोरख की नहीं उनके शिष्य सम्प्रदाय की हैं। इनमें अधिकतर संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हैं। संस्कृत में सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, विवेक-मार्तण्ड, शक्ति-सङ्गम-तन्त्र, निरञ्जन-पुराण, विराट्पुराण पाए जाते हैं। 'साखी और वाणी' के नाम से जो रचनाएं मिलती हैं, वे सम्भव है, गोरख की हों। इस सम्प्रदाय की रचनाएं उनकी साम्प्रदायिक शिक्षा से ही सम्बन्धित हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं इसलिये उन्हें शुद्ध साहित्यिक रचना नहीं कहा जा सकता। हम उनका उल्लेख केवल भाषा ही की दृष्टि से करना चाहते हैं। आप देख सकते हैं कि इस फक्कड़ी भाषा में बाहरी भाषाओं के मेल से बहुत अन्तर आगया है। देखिए—

यह संसार कुवधि का खेत। जब लग जीवे तब लग चेत।
आंख्या देखै काना सुणै। जैसा बाहे तैसा लुणै। (जलंधरनाथ)
माली लौ भल माली लौ, सींचे सहज कियारी।
उनमनि कला एक पहूपन पाईले आवागवन निवारी। (चौरंगीनाथ)
नखसिख पूर रहा ले पौन। आया दूधभात तो खाए कौन।
मेर डंड काठाकरिबंधि। बाईं खेलै चौसठि संधि। (घोड़ाचोली)
किसका बेटा किस की बहू। आप सवारथ मिलिया सहू।
जेता पूला तेती आल। चरपट कहै सब आल जंजाल। (चरपटनाथ)
साधी सूधी के गुरु मेरे। बाईं सूं ब्यंद गगन में फेरे।
मन का बाकुल चुणिया बोलै। साधी ऊपर क्यों मन डोले।
बाईं संध्या सकल जग बाईं किनहुं न बंध।

बाई विहूणा ढहि पड़ै जोरै कोई न संध। **(चुणकरनाथ)**
पाताल की मीड़ की आकास जंत्र बावे।
चंद सूरज मिलै तहां तहां गंग जमुन गीत गावे।
सकल ब्रह्माण्ड तब उल्टा फिरै महां अधर नाचे डीव।
सति सति ही भाषंत श्री सिद्ध गरीब। **(ग़रीबनाथ)**
अवधू रहिया हाटे बाटे रूख विरष की छाया।
तजिवा काम, क्रोध, लोभ मोह संसार की माया।
पवन गोरि का रहणि अकास, महिकाल अंतरि गगन विलास।
पयालनी डीकी सुन्नि चढ़ाई, कथत गोरखनाथ मछीन्द्र बताई।
(गोरखनाथ)

ये सब उदाहरण प्रचलित फक्कड़ी भाषा के हैं जो खड़ी बोली के अति निकट हैं। अब एक उदाहरण व्रजभाषा गद्य का लीजिए—

'मैं जु हौं गोरख सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वै मछन्दरनाथ। आत्मा जोति निश्चल है, अंतहकरन जिनिकौ अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानें।

इस काल के आगे अपभ्रंश का रूप प्रान्तीय विभाषाओं में बदल जाता है। हिन्दी के भी तीन रूप बनते हैं, एक मरुभाषा का, दूसरा व्रजभाषा का, तीसरा पुरानी हिन्दी का। अब हम आगे मरुभाषा की चर्चा करके वीर काव्यों पर थोड़ा सा विवेचन करेंगे।

अध्याय तीसरा

अपभ्रंश की जेठी बेटी मरुभाषा

मसीह की नवमीं शताब्दी से प्रारम्भ—

मारवाड़ में प्रचलित मरुभाषा अपभ्रंश की जेठी बेटी है। वह भारतवर्ष में प्रचलित लोकभाषाओं में द्राविड़ी भाषाओं को छोड़ कर सब से प्राचीन है। और अन्य भारतीय भाषाओं की जेठी बहिन है। वह अपभ्रंश से सब से अधिक निकट और अपभ्रंश से सब से अधिक समानता रखने वाली भाषा है।

भाषाविज्ञान के प्रमुख विद्वानों ने इस मरुभाषा को हिन्दी से पृथक् माना है। इनमें डाक्टर ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, डा० श्यामसुन्दर दास, डा० धीरेन्द्र वर्मा के नाम प्रमुख हैं। ये भाषा-शास्त्री खड़ीबोली, व्रजभाषा, बुन्देली और अवधी को तो हिन्दी के अन्तर्गत मानते हैं, परन्तु मरुभाषा को हिन्दी से बहुत दूर बताते हैं। कुछ विद्वानों के मत में उसका सम्बन्ध हिन्दी की अपेक्षा गुजराती से अधिक घनिष्ठ बताया गया है।

परन्तु सत्य यह है कि अपभ्रंश से पृथक् होकर मरुभाषा ने अपने बालकाल ही में प्रान्त सीमान्त के निकट होने से एक दूसरा लोकभाषा का रूप धारण कर लिया था जो पुरानी गुजराती कहाती है। राजपूताना एक ओर गुजरात

से और दूसरी ओर पंजाब प्रान्त से संश्लिष्ट होने के कारण मरुभाषा का आदिरूप प्राचीन गुजराती और प्राचीन पश्चिमी हिन्दी का मध्यवर्ती रूप रहा।

मरुभाषा की तीन शैलियां—

मरुभाषा की तीन शैलियों में चरनाडो उपलब्ध है।

(१) शुद्ध मरुभाषा, इस भाषा का साहित्य हमें जैनों और ब्राह्मणों के साहित्य के रूप में, लौकिक कवियों के साहित्य के रूप में और प्राचीन चारणी साहित्य के रूप में मिलता है।

(२) पिङ्गल—इसका स्वरूप शुद्ध व्रजभाषा है।

(३) डिंगल—यह मरुभाषा का वह रूप है जिसका ढांचा तो व्रजभाषा का है, परन्तु भाषा मरुभाषा की है, तथा इसमें भाषा-विज्ञान के विपरीत शब्दों को तोड़ मरोड़ कर और अनुस्वार का अधिक प्रयोग करके किया गया है।

प्राचीन चारणों ने शुद्ध मरुभाषा में ही रचनाएँ की हैं, परन्तु उत्तर-कालीन चारणों की भाषा डिंगल हो गई है। पृथ्वीराजरासो इसका सर्वप्रथम उदाहरण है, उत्तरकालीन कवियों ने तो प्राचीन शैली को त्याग कर डिंगल ही में प्रायः रचना की है।

डिंगल—

यह डिंगल शब्द बहुत आधुनिक है। हिन्दीभाषाविज्ञ बहुधा सम्पूर्ण मरुभाषा साहित्य को डिंगल साहित्य कहते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है, 'राव जैतसीरो छंद' 'कृष्ण रुक्मिणीरी वेलि' आदि रचनाओं को डिंगल नहीं कहा जा सका। प्राचीन मरुभाषा साहित्य में डिंगल शब्द प्राप्त नहीं होता।

डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता; फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि जब व्रजभाषा का अच्छा विकास होगया और उसकी रीति भावना परिपूर्ण हो गई, छन्द और अलंकारों से वह भली भांति आबद्ध और सज्जित हो गई तब मरुभाषा के उत्तरकालीन साहित्य को जिसने व्रजभाषा की शैली तो अपना ली थी, परन्तु जिसमें छन्द का अनुशासन और अलंकार का प्रसाद व्रजभाषा जैसा नहीं विकसित हो पाया था, पिङ्गल शब्द के मुकाबिले थोड़ी अवहेलना और उपहास की भावना से 'डिंगल' नाम व्रजभाषा के उन रीतिकालीन कवियों ने दिया है जो वीरकाल समाप्त होने पर मुगल साम्राज्य के वातावरण में, चैन की

बंशी बजाते हुए, राजपूत राजाओं के दरबार में, मुग़ल ऐश्वर्य और वासना की कवितामूर्ति की बढ़ी चढ़ी अत्युक्तियों से पूर्ण रचना करके उनकी विलास-वासनाएं जागृत कर रहे थे। उस समय अतीतकाल के चारण, बीते समय की पद्धति पर, पुरानी मरुभाषा में जो पराजित वीरत्व की रचना ब्रजभाषा से मांगी हुई शैली पर अनलंकृत और तेजहीन भाव से करते थे वह डिंगल काव्य कहाती थी। इन कवियों और इनके विलासी आश्रयदाताओं द्वारा अनादृत होकर ये 'डिंगल' के कवि कहाने लगे थे।

जैन-साहित्य—

मरुभाषा का बहुत अधिक साहित्य जैन विद्वानों का लिखा हुआ है। इन में अनेक जैन विद्वान् ९वीं शताब्दी से ही गुजरात के हिन्दु शैव राजाओं के आश्रित थे, और इसी कारण उनकी भाषा में प्राचीन गुजराती का पुट लग गया है। यह साहित्य चारण-साहित्य से कहीं बड़ा और सुसंगठित है। कारण यह है कि चारणों का ध्यान साहित्य को लिपिबद्ध करने की ओर बहुत कम गया। इस से उनका बहुत साहित्य नष्ट हो गया। परन्तु जैनों ने अपना साहित्य अत्यन्त सावधानी से सुरक्षित रखा।

यद्यपि जैन साहित्य धर्म-प्रधान फिर भी उसकी लौकिक रचनाएँ भी काफ़ी हैं। कथा साहित्य जैन साहित्य की एक अमूल्य निधि है। पुण्याश्रम कथाकोष, आराधनासार कथाकोष, आदिपुराण, पद्मपुराण, श्रीपाल-चरित्र ऐसी ही रचनाएँ हैं।

गद्य भी जैनों ने बहुत लिखा है। मरुभाषा के प्राचीनतम गद्य जैनों ही के मिलते हैं। इन में नीति, शान्त शृङ्गार आदि रसों के भावपूर्ण दोहे अधिक मिलते हैं। संग्रह करने से ६०।७० हजार दोहे प्राचीन जैन साहित्य के उपलब्ध हो सकते हैं।

ब्राह्मण साहित्य कम है और वह प्रधानतया धार्मिक है। ऐसा मालूम होता है कि ब्राह्मण विद्वानों की प्रवृत्ति संस्कृत साहित्य की ओर ही अधिक रही। परन्तु भागवत आदि धर्मग्रंथों के अनुवाद काफी मात्रा में मरुभाषा में किये गये मिलते हैं।

सन्त-साहित्य भी मरुभाषा में बहुत है। राजस्थान में अनेक सन्त महापुरुष तथा अन्य प्रचारक हुए, जिन की वाणियां भक्ति और वैराग्य से सम्बंधित हैं।

लोक-साहित्य—मरुभाषा का लोक साहित्य भी नगण्य नहीं है; परन्तु उसका बहुत अंश विस्मृत हो रहा है।

मरुभाषा का प्राचीन गद्य इतना अधिक है जितना अन्य किसी प्राचीन भारतीय भाषा का नहीं। यह गद्य तेरहवीं शताब्दी से लिखा जाना प्रारम्भ हुआ था।

मरु-भाषा-गद्य-साहित्य को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। १—बात, २—ख्यात।

'बात' कहानी को कहते हैं। मरुभाषा की बातों की संख्या हजारों में है। ये ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक, धार्मिक, नैतिक, शृङ्गारिक, हास्यरसात्मक, आदर्शवादी, यथार्थवादी सभी प्रकार की हैं। उनमें बहुत सी ऐसी हैं जिनका कहानी टैक्निक की दृष्टि से समादर किया जा सकता है।

'ख्यात, इतिहास को कहते हैं। ये भी सैंकड़ों की संख्या में मिलते हैं। नैणसी का ख्यात एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशाल इतिहास है—नैणसी को मरुभाषा का अब्बुलफ़ज़ल माना जाता है। बांकीदास की ऐतिहासिक रचनाओं का महत्त्व भी बहुत है।

चारणी साहित्य—

चारणी साहित्य प्रधानतया वीररसात्मक है। इसके तीन रूप मिलते हैं।

(१) दोहों के रूप में। (२) गीतों के रूप में। (३) वीर काव्यों के रूप में।

दोहों और गीतों की संख्या लाख तक पहुँच जाय तो आश्चर्य नहीं। सब से अधिक प्रभावशाली दोहा साहित्य है। 'गीत' का महत्त्व इतिहास के लिए है। ये गीत गाने के गीत नहीं विशेष लय से पढ़े जाने वाले गीत हैं। राजस्थान का कदाचित् ही कोई ऐसा प्रसिद्ध पुरुष बचा होगा जिसके सम्बन्ध में एकाध गीत न बना हो।

मरुभाषा का काल—

मरुभाषा का अपभ्रंश से पृथक् होने का ठीक २ काल नहीं कहा जा सकता।

भरत के नाट्यशास्त्र में लिखा है कि अर्बुदगिरि के आस-पास के लोगों की बोली 'तकारबहुल' है। इस 'तकारबहुल' भाषा के अनेक उदाहरण मसीह की छठी सातवीं और आठवीं शताब्दी के ग्रन्थों में दीख पड़ते हैं। दोहा छन्द के प्राचीनतम उदाहरण ३री ४थी शताब्दी की रचनाओं में मिलते हैं। ८वीं और ९मीं शताब्दी की कृतियों में 'चउपई' और 'छप्पय' के दृष्टान्त हैं इसके बाद १०वीं ११वीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच की तो बड़ी २ रचनाएँ हैं। १३वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी के अन्त तक जो मरुभाषा में रास भास, फाग चउपइ और प्रबन्ध इत्यादि पद्य ग्रंथों की रचनाएँ हुई हैं उनकी गणना भी नहीं हो सकती।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आठवीं शताब्दी के अंतिम चरण में मरुभाषा का रूप प्राकृत से विकसित होने लगा था और उसका पूर्ण विकसित रूप मसीह की दसवीं शताब्दी के बाद प्रकट हुआ।

मरुभाषा का जो साहित्य अब उपलब्ध है—उसका संक्षिप्त परिचय यह है।

मरुभाषा के गद्यग्रन्थ (अप्रकाशित)

(क) ख्यात आदि ऐतिहासिक ग्रन्थ (अपूर्णसूची)

	पृष्ठ संख्या
१ मुहणोत नैणसीरी ख्यात	५६५
२ दयालदासरीख्यात	७८८
३ दयालदासरीख्यात देसदर्पण	११४
४ दयालदासरीख्यात, आर्य-आख्यान कल्पद्रुम	३७२
५ जोधपुररै राठौडोंरीख्यात	५३८
६ जोधपुरा राठौडांरीख्यात	११७
७ ख्यात	६०४
८ फुटकर ख्यात	४८८
९ राठौडाँरी वंसावली नै पीढ़ियां	३७३
१० राठौडांरी वंसावलानै पीढ़ियां	३३४
११ राठौडोंरीख्यात तथा पीढ़ियां	१६६०
१२ राठौडांरी पीढ़ियां	७७८
१३ फुटकर पीढ़ियां	१८६
१४ फुटकर ख्यात	१०००
१५ फुटकर ख्यात	७००
१६ राठौडांरी खोपांरी पीढ़ियां	१५८
१७ रावमालदेव रै बेटापोतां रीविगत	५६
१८ जोधपुरा परगना गावांरी विगत	९०६
१९ मानसिंघजी री ख्यात	५६
२० तख्तसिंहजी री ख्यात	३५२
२१ फुटकर ख्यात	८०
२२ ख्यात	१८
२३ ,,	५८
२४ ,,	२६
२५ सिरदारां री पीढ़ियां री विगत	११४
२६ राठौडांरी वंसावली पीढ़ियां नै फुटकर बातां १६वीं शताब्दी	१६२
२७ बीकानेर रै पट्टों रा गांवाँरी-विगत	१५६
२८ राठौडां री बात तथा वंसावली	११४
२९ बीकानेर रै राठौर राजावों-नै बीजा लोकाँ री पीढ़ियां	१२२
३० बीकानेर री ख्यात	१९२
३१ बीकानेर रै पट्टा रै गाँवारी विगत	६८
३२ राठौडां री पीढ़ियां	४८९
३३ उदैपुर री ख्यात	११६
३४ जोधपुर री ख्यात	२४
३५ औरंगजेब री हकीकत	२०
३६ जैपर में सबै वैष्णवाँरी-झगड़ो हुऔ तैरो हाल	६२

ऐतिहासिक बातें—

१. राव अमरसिंह री २. नाथै सांखलै री ३. लाखैं जामरी ४. तुंवर रामदेव जी री ५. गोगैं जी री ६. गोगं जीरै जनमरी विगत ७. नागौर रैं मामलैरी ८. करणसिंह जी रै कैंप रौ री ९. से भावाराधणी राव लूणा री १०. गींदोली री ११. सुरताण देवड़ैरी १२. जैसे सरवहियैरी १३. कैवाट री १४. गोहिल अरजन-हमीर री १५. चहवाण सातल सोमरी १६. राव मंडलीक री १७. वालै चापै री १८. प्रतापमल देवडे री १९. हरदास मोकलोतरी २०. वीरमदे दूदावत री २१. गंगेव नींबावत खीची री बे पीहरो २२. खींवें वींजें धाड़वी री २३. रावधण भाटी री २४. रामसिंह खीवावत री २५. ठाकुरसी जैतसीहोत री २६. जैतै हमीरोत री २७. रावल लखण सेण री २८. राणगदे लखण सी ओतरी २९. नाराइण दास मीढा खांरी ३०. सोनगरै मालदे री ३१. राजा भीमरी ३२. सयणा चारणीरी ३३. पीरोज साह पति साह री ३४. राव हमीर लखै जामरी ३५. रिणधीर चूणावत री ३६. राहुल हमीर री ३७. राजसिंह खीयावत री ३८. कुंवर सीसांखलैरी ३९. गौड गोपालदास री ४०. सागण वाढ़ेलरी ४१. राघवदे सोलंकी री ४२. नानिगछावड़ा री ४३. अचलदास खीचीरी ४४. सोलंकी राजबीज री ४५. सुपियारदे री ४६. राव लखण सेण वीरमदे सोनगरे री ४७. रिणमल खावडि-वैरी ४८. छाहड़ पंवार री ४९. रिणमल महमदरी ५०. रिण धवलरी ५१. वीसल दे मैहव चैरी ५२. कुंवरियै जैपाल री ५३. दूदै जोधावतरी ५४. वड़ै रावरीबात ५५. अलावदी री उतपत री ५६. प्रथीराज री ५७. प्रथीराज सूहवदे री ५८. जगदेव पँवार री ५९. रामदास वैरावतरी आखड़ियां ६०. राव रिणमलरी ६१. रिणमल चूणावत अखै सोलंकीरी ६२ रिणमल अखै सोखलै रो बैर लियो तै री ६३. जैत माल सलखावत कोलियों री ६४. तीड़ै छाड़ावत री ६५. राव चूडै री ६६. रिणधीर चूडावत री ६७. जगमाल मालावत री ६८. कोंधलोत खैतली री ६९. मलीनाथ री ७०. राणी रतन सी राव सूरिजमल री ७१. राणै-खतैरी ७२. सूरिजमल कुंबर पृथीराज री ७३. बीकै जी री ७४. राव लूणकरण री ७५. ऊमादे मटियाणी री ७६. तुंवराँ री ७७. कछवाहाँ री ७८. मोहिलाँ री ७९. भाटियाँ री ८०. हाडॉरी ८१. खीचियां री ८२. बगड़ावतांरी ८३. सोनि-गरांरी ८४. बूंदी री ८५. जैसलमेर री ८६. मारवाड़ री ८७. वीरम जी री ८८. राव चूडै जी री ८९. गोगादे जी री ९०. अरड़मल चूड़ावत री ९१. राव जगमाल जी री ९२. राव रिणमल जी री ९३. राव जोधौ जी री ९४. राव बीकै जी री ९५. भटनेर री ९६. राव वीकै जी री बात वीकानेर बसायौ तै

समै री ९७. काँधल जी री बात ९८. राव तीडै जी री बात ९९. पताई रावल री १००. राव सलखैरी १०१. गढ़ मंडिया तै री १०२. गोगादे बीरम देवोतरी १०३. खेतसी रतन सी ओत री १०४. पाबू जी री १०५. राव गोगै बीरम दे री १०६. हरदास अहड़ री १०७. नरै सूजावत खींवै पोकरणैरी १०८. जैमल बीरमदेवोत राव मालदे री १०९. सीहै सींघल री ११०. नरवद सतावत री १११. सेतराम वरदाई सेनोत री ११२. चन्द्रव्रतौ री ११३. ऊदै उगवणावतरी ११४. दूदै भोजरी ११५. खाम खान्याँ री ११६. दौलताबाद रै उमरावाँ री ११७. संगम राव राठौड़ री ११८. दहियाँ री ११९. देवड़ों री १२०. भायलां री १२१. चहवाणां री १२२. खींचियो री १२३. अणहलवाड़ा पाटण री १२४. सोलङ्खियां पाटण आयां री १२५. जाड़ेचा लाखां सोलंकी मूलराजरी १२६. रुद्र मालौ प्रासाद करायो तिणरी १२७. राव सीहा री १२८. कान्हड़ दे री १२९. सगुणा सत्रुसल्ल री १३०. महमद गजनी री १३१. प्रतापसिंह मोहकम सिंघरी १३२. जैतसी ऊदावतरी।

(अपूर्ण सूची)

(ग) धार्मिक, नैतिक, श्रृङ्गारिक तथा काल्पनिक बातें (कहानियां)—

१. राजा भोज, माघ पिण्डत अरजे करी री २. दिनमानरै फल री ३. पलक दरियाव री ४. खुदाय वावली री ५. सोई कर रह्या तै री ६. राजा भोज खाफरै चोर री ७. चौबोली री ८. राजा भोजरी पनरमी विद्या ९. बिसनी बे-खरच री १०. आय ठहकी भाहिरी ११. सेखै नै भाती आयो तै री १२. सांई री पलक में खलक वसै तै री १३. न क्यूं हूरै न क्यूं सोखैं तैरी १४. हर राजरै नैणा री १५. बहलिमा री १६. सात बेटियां वाले राजा री १७. सच बोलैं सो मारियो जावे तै री १८. सूरां अर सत वादियाँ री १९. बगलै हंसणी री २०. कुतुब दीन साहिजादै री २१. बीरबल री २२. बड़ा वडी देवड़ै उहरू वानर री २३. मानधातारी २४. सोणा री २५. मामै भाणजै री २६. माल्हाली री २७. गंध्रवसेण री २८. पिंगला री २९. आसा री ३०. साह ठाकुरै री ३१. डूंगर जसा को तै री ३२. सदैव छ सावलंगा री ३३. पना बीरमदे री ३४. मोमल री ३५. दो कहाणियां ३६. राहब साहब री ३७. पमैघोरं धार री ३८. महिन्दर बीसलौत री ३९. ढोलामारू री ४०. च्यार मूरखां री ४१. खींवै बीजै री ४२. देवरै नायक री ४३. रतना हमीर री ४४. बीझै सोरठ री ४५. रावलदे सांखलैरी ४६. चंदणमलयगिरि री ४७. चंद कुँवैर री ४८. रिसालू राजा री

४९. जलाल गाहणी री ५०. राजा रै कँवर री ५१. जोगराज चारण री ५२. बीझै अहीर री ५३. पाहुवा री ५४. तमाइची पतसाह री ५५. दत्तात्रेय चौईस गुरू करया तै री ५६. वींजड़ विजोगण री ५७. कोकणंद री ५८. लाखें फूलाणी री ५९. साहूकार री ६०. जसमा ओडणी री ६१. वजीर री बैर री ६२. विणजारै विणजारी री ६३. सोमवती री ६४. राजानराउत री वात बणाव ६५. गुलाब भंवर री बात ६६ वीसा बोली री ६७. नाग जी नागवती री ६८. आसाडाभी री ६९. पातसाह मोजदीन महताब री ७०. ससिपना पातिसाहजादी री ७१. माम गडूकै री ७२. कंवर फुलवत्ती री ७३. दरजी मयाराम री ७४. मधुमालती बारता ७५ भारी जखड़ा मुखड़ा री ७६ अेकलगिड वराइडा ढालै री।

(अपूर्ण सूची।)

(६) अन्य गद्य ग्रन्थ—

१. वेताल पच्चीसी री कथा २. वेताल पच्चीसी ३. सिंघासण वत्तीसी री कथा ४. सिंघासन वत्तीसी ५. भागवतदसमस्कन्ध ६. भागवत दसम स्कन्ध ७. वचनका अचलदास खींची री ८. एकादसी महातम ९. कारतक महातम १०. गीता महातम। (अपूर्ण सूची)

अध्याय चौथा

वीर-युग

मसीह की १०वीं शताब्दी से १४वीं के प्रारम्भ तक

भारत के प्रथम साम्राज्य का भंग—

यह बात कही जा चुकी है कि अपभ्रंश अथवा प्राकृताभास की रचनाएँ लोक-भाषा या देशभाषा की रचनाएँ नहीं हैं, अपितु तत्कालीन प्रचलित भाषाओं से कुछ प्राचीन भाषाओं की रचनाएँ हैं जो कि साहित्यिक भाषा बन चुकी थीं। परन्तु कुछ ऐसी भी रचनाएँ होती रहीं जो प्रचलित लोकभाषा अथवा देशभाषा में थीं। यह रचनाएँ जनसाधारण की बोली में गीत, दोहा, छन्द आदि में थीं और पण्डित लोग इन रचनाओं को गँवारू समझते थे।

यहां पर हमें मसीह की सातवीं शताब्दी के मध्यकाल की भारतीय परिस्थिति पर विचार करना चाहिए। इसी समय सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु हुई। यह सम्राट् अपने प्रताप, शौर्य और साहित्य-प्रेम के कारण विक्रम के समान विख्यात हुआ। उसकी राजधानी कन्नौज थी और वह एक प्रसिद्ध बौद्ध था परन्तु ब्राह्मणों का भी पूरा सत्कार करने वाला था। प्रसिद्ध बाणभट्ट कवि इसका मित्र और दरबारी था। यह सम्राट् हर पांचवें वर्ष एक विद्या सम्बन्धी त्यौहार मनाता था। सातवीं शताब्दी के मध्य में इसकी मृत्यु हुई और उसके ५० वर्षों के अन्दर ही इस सम्राट् की गद्दी पर केवल एक छोटा सा राज्य रह गया, परन्तु प्रतापी विक्रमादित्य और हर्षवर्धन ने, जो दो शताब्दियों तक साहित्य का दीप जलाया उसकी प्रभा चमकती ही रही।

महान् विक्रमादित्य के काल में जो संस्कृत भाषा का शृंगार हुआ उससे आज भी संस्कृत वाङ्मय मुखरित है। इस बड़े सम्राट् की छत्रछाया में विज्ञान और ज्योतिष ने उन्नति की, कविता और नाटक ने प्रकाश फैलाया और हिन्दुओं की धर्म-भावना ने—जो बौद्धों के विस्तार के साथ दब गई थी नवीन जीवन पाया।

इस प्रकार यह महान् सम्राट् उस समय सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता का एक पथ-प्रदर्शक नेता और संरक्षक था और इस महान् सम्राट् की संरक्षकता में जो साहित्य और विज्ञान की निधि भारत ने प्राप्त की उसका महत्त्व बहुत अधिक है। कहना चाहिए कि आधुनिक सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य का निर्माण इसी बड़े सम्राट् के काल में हुआ, परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात जो थी वह यह है कि इसी राजा के प्रभाव में वर्तमान हिन्दूधर्म का स्वरूप-निर्माण हुआ और उसमें बल, विद्या और गुण के अधिकाधिक लक्षणों का विस्तार हुआ।

विक्रम के बाद शिलादित्य प्रभाकरवर्धन आदि अनेक राजा हुए परन्तु हर्षवर्धन उसका सांस्कृतिक उत्तराधिकारी था। उसके बाद देश में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। भारत का अन्तिम साम्राज्य खण्ड-खण्ड होगया और लगभग तीन शताब्दियों तक सम्पूर्ण भारत में राजनैतिक अन्धकार रहा। यही काल था जब प्राकृतकाल अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था को पहुँच रहा था।

राजपूतों के खण्ड राज्य—

इसके बाद भारत के पृथक् पृथक् खण्डों पर चौहान, राठौर, तुवँर आदि राजवंशों ने अपने छोटे छोटे माण्डलिक राज्य स्थापित किए। इन भिन्न

भिन्न प्रान्तों में अपभ्रंश से विकसित होकर अनेक विभाषाओं का जन्म हुआ। हिन्दी का एकरूप यद्यपि इस काल से पहले ही निर्मित हो चुका था परन्तु उसके साहित्य का प्रारम्भ वास्तविक रूप में इन्हीं राजवंशों के उत्थान के साथ हुआ।

मुसलमानों का प्रथम आक्रमण—

मुसलमानों का पहला आक्रमण सम्वत् ६९३ में सिंध पर हुआ। परन्तु वह क्षणिक था। मसीह की दशवीं शताब्दी के बाद भारत के पश्चिमोत्तर कोण से मुसलमानों के जो आक्रमण होने प्रारम्भ हुए तो फिर उनका एक तांता बन्ध गया और उसका प्रभाव भारतीय आचार-विचार पर पड़ने लगा। इन नवागन्तुकों का सामना तत्कालीन कुछ राजाओं ने वीरता-पूर्वक किया यद्यपि वे उन्हें सदैव ही पराजित न कर सके क्योंकि वे असंगठित थे। उनके इस प्रकार के युद्धों के वर्णन तत्कालीन कवियों ने वीरोल्लासमयी भाषा में किये। और इस प्रकार की रचनाएँ जिस युग में हुईं वह वीरयुग कहा जा सकता है।

यह वह समय था जिस समय पूर्वी भारत में सिद्धों की और पंजाब और राजपूताने के पश्चिमी भागों में नाथों की "फक्कड़ी भाषा" निर्माण हो रही थी। इसी समय मध्य देश की पश्चिमी सीमा पर तथा राजपूताने में चारण-साहित्य का विकास हो रहा था—ये चारण अपने अपने आश्रयदाता राजाओं की कीर्ति तथा विजय की ओजपूर्ण कविता कहते थे। जातीय-दर्प और कुलाभिमान के कारण ये राजपूत परस्पर लड़ते रहते थे। और उनके वीरत्व की अतिरंजित गाथाएँ ये चारण गान करते थे। यह वह समय था जब भारत पर पश्चिमोत्तर कोण के मुसलमानों के आक्रमण निरन्तर होने लगे थे और इस से भारत का पश्चिमी भाग सदा अशान्त और सशंक रहता था। गुप्त साम्राज्य के ध्वस्त होने पर मसीह की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत का यह पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बल-वैभव का केन्द्र हो गया था। यहीं पर कन्नौज, दिल्ली, अजमेर और अनहलवाड़े की समर्थ राजधानियां स्थापित हो गईं थीं। इन्हीं प्रान्तों की भाषा शिष्ट भाषा मानी जाती थी। बड़े बड़े कवि चारण जो इन राज-सभाओं में रहते थे, यहीं की भाषा में अपने अपने आश्रय-दाताओं के ओज, तेज और वैभव का वर्णन करते थे। जो गहरवार, चौहान, चन्देल और परिहार राजा इस भूभाग में बस गए थे वे अपनी अपनी राज्य-वृद्धि के लिए या कन्या-हरण के लिए और कभी कभी अपने शौर्य के प्रदर्शन के लिए भी परस्पर लड़ा करते थे। बीच बीच में आक्रमण करने वाले मुसलमानों से भी युद्ध होते रहे हैं। वह वास्तव में लड़ाई-भिड़ाई का ही युग था।

मसीह की ग्यारहवीं शताब्दी के तृतीय चरण में महमूद ग़जनवी का एक हाकिम लाहौर में रहता था। वह न केवल अपने आधीन प्रदेश पर शासन करता था प्रत्युत समय-समय पर आस-पास के प्रदेशों पर आक्रमण भी करता रहता था। राजपूताना वहां से निकट होने के कारण उस पर प्रायः चढ़ाईयां होती रहती थीं। सांभर के चौहान राजा दुर्लभराय द्वितीय मुसलमानों से युद्ध करते हुए वीरतापूर्वक काम आये थे। परन्तु अजमेर को बसाने वाले अजेय देव और उनके पुत्र अर्णोराज ने पुष्कर की घाटी में उन्हें पराजित किया था और उनके पुत्र बीसलदेव, विग्रहराज चतुर्थ ने तो मुसलमानों को मारकर दिल्ली और हिसार से भी भगा दिया था। यह मसीह की बारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण की बात है। इसके बाद शहाबुद्दीन ग़ौरी ने पृथ्वीराज चौहान पर पहली चढ़ाई सन् ११९१ में की पर वह हारकर लौट गया उसने सात बार पृथ्वीराज से युद्ध किया और अन्त में पृथ्वीराज को विजय कर उसने दिल्ली अधिकृत कर ली। परन्तु हिन्दू राजा उसके बाद भी मुसल्मानों से लड़ते रहे। इनमें सब से अधिक वीर रणथम्भौर के महाराज हम्मीरदेव थे जो चौहान थे। इन्होंने अलाउद्दीन का बड़े दर्प से सामना किया था। इन तमाम कारणों से इस युग में जो रचनाएँ हुईं, जिनके रचयिता इन राजाओं के आश्रित प्रायः चारणगण थे, वे सब वीर काव्य हैं; और इस लिये इस काल को वीरकाल कहा जा सकता है।

यह साहित्य कुछ पुरानी प्राकृताभास हिन्दी में है और अधिकांश मरुभाषा में। हम ने पीछे बताया है कि यह चारण-साहित्य हमें ३ रूपों में मिलता है। १. दोहों के रूप में, २. गीतों के रूप में, ३. वीर प्रबन्ध काव्यों के रूप में। साहित्यिक प्रबन्ध-काव्य के रूप में सब से पहला ग्रन्थ हमें पृथ्वीराज-रासो ही मिलता है। तथा वीर गीतों के रूप में पहला ग्रन्थ 'बीसलदेव रासो'; यद्यपि उसमें भाषा सम्बन्धी बहुत कुछ परिवर्तन हुए हैं।

अप्राप्त रासो-साहित्य—

रासो-साहित्य से सम्बन्धित सब से प्राचीन कवि, पुंड या पुष्प का नाम प्राप्त होता है। जिसका समय ८वीं शताब्दी कहा जाता है, परन्तु उसकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

रासो शब्द की व्युत्पत्ति—

'बीसलदेव रासो' में 'रसायण' शब्द बारबार आया है, जो 'काव्य' के

अर्थ में है। इस लिये मरुभाषा के काव्य ग्रन्थों को रासो के नाम से पुकारा गया और गद्य ग्रन्थों को 'बात' और 'ख्यात' के नाम से।

खुमान रासो—

ईस्वी सन् ७५४ से ९२४ तक चित्तौर पर रावल खुमान नाम से तीन राजा गद्दी पर बैठे। प्रथम खुमान सन् ७५४ और ७७९ के बीच। दूसरा ८१४ से ८३४ तक और तीसरा ९०९ और ९२४ के बीच। कर्नल टाड लिखता है कि कालभोज (बाप्पा) के पीछे खुमान गद्दी पर बैठा जिसका नाम मेवाड़ के राज्य में प्रसिद्ध है। इस पर बग़दाद के ख़लीफ़ा अलमामूँ ने चढ़ाई की थी। इस से चित्तौर के राजा खुमान ने अपने सहायक राजाओं की सहायता से भारी युद्ध किया और चित्तौर की रक्षा हो गई। खुमान ने २४ युद्ध किए और इसने ईस्वी सन् ८१७ से ८३७ तक राज्य किया।

टाड का यह वर्णन 'दलपत विजय' नामक किसी कवि के रचे हुए 'खुमान-रासो' के आधार पर लिखा गया है, जो अब अप्राप्य है।

टाड के इस लेख में एक भ्रम है, वह यह कि उसने तीनों 'खुमानों' को एक ही मान लिया है। अब्बासी वंश का 'अलमामूँ' ईस्वी सन् ८१४ से ८३४ तक ख़लीफ़ा रहा। इसके समय के पूर्व ही ख़लीफ़ाओं के सेनापतियों ने सिन्ध विजय कर लिया था और उधर से राजस्थान पर आक्रमण होने लगे थे। इस हिसाब से अनुमान होता है कि अलमामूँ ने दूसरे खुमान पर चढ़ाई की होगी। और खुमान-रासो की रचना उसी के नाम पर हुई होगी।

जो खुमानरासो मिलता है, उसमें यद्यपि द्वितीय खुमान ही का चरित्र वर्णित है परन्तु उसमें प्रताप के समय तक का वृत्त मिलता है। इस से यह स्पष्ट है कि उसका वर्तमान रूप सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। शिवसिंह-सरोज के कथनानुसार एक अज्ञात नामा भाट ने खुमान-रासो नामक ग्रन्थ लिखा था। जिस में श्री रामचन्द्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। अब यह ठीक २ नहीं कहा जा सकता कि दलपतविजय असली खुमान-रासो का रचयिता था या उस के परिशिष्ट भाग का।

वीसलदेव-रासो—

अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) बड़े वीर पुरुष थे। उनके पुत्र वीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समय में मुसलमानों की सेना किशनगढ़ तक

चढ़ आई थी। उसे बड़ी वीरता से वीसलदेव ने परास्त किया और वह आर्यावर्त से मुसलमानों को निकाल बाहर करने के लिये उत्तर की ओर बढ़ा। उसने दिल्ली और झांसी के प्रदेश अपने राज्य में मिला लिये और भारत के एक बड़े भूभाग से मुसलमानों को निकाल बाहर किया। इसका उल्लेख दिल्ली के अशोक लेख वाले शिवालिक स्तम्भ पर खुदे हुए वीसलदेव के विक्रम सम्वत् १२२० के लेख में है। इन्हीं वीर नरपति की जीवन-कथा का वर्णन नरपति नाल्ह कवि ने 'वीसलदेव-रासो' में किया है। यह ग्रन्थ गीत के रूप में लिखा गया है और छोटा सा केवल १०० पृष्ठों का ही है। रासो में कवि ने सर्वत्र वर्तमान काल का प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि वह वीसलदेव का समकालीन-सहयोगी था और उसने आंखों-देखा ही वर्णन किया है। अपने ग्रन्थ को उसने जो रचना काल दिया है वह इस प्रकार है—

बारह सै बहोत्तरां मझारि, जेठ बदी नवमी बुधवारि।
'नाल्ह' रसायण आरंभइ, सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि।

इसमें जो 'बारह सै बहोत्तर' दिया है उसका अभिप्राय १२१२ है। 'बहोत्तर' शब्द का अर्थ 'बरहोत्तर' 'द्वादशोत्तर' का रूपान्तर है। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि संवत १२१२ के जेठ वदी नवमी को बुधवार ही था। इसी प्रकार वीसलदेव के शिलालेख आदि भी संवत् १२१० और १२२० के प्राप्त होते हैं। अतः यह निश्चित है कि 'वीसलदेव-रासो' का निर्माता कवि नाल्ह वीसलदेव का ही समकालीन था। यह रासो ४ खंड और २००० चरणों में समाप्त होता है।

प्रथम खण्ड—

रासो में वर्णित कथा का सार यह है कि मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से वीसलदेव का विवाह।

दूसरा खण्ड—

वीसलदेव का राजमती से रूठ कर उड़ीसा की ओर प्रस्थान करना और वहां १ वर्ष रहना।

तीसरा खण्ड—

राजमती का विरह और वीसलदेव का लौट आना।

चौथा खण्ड—

भोज का अपनी पुत्री को ले जाना और वीसलदेव का वहां जाकर राजमती को फिर चित्तौड़ लाना।

इस रासो के सम्बन्ध में यह एक अत्यन्त विचारणीय बात है कि इस में इस वीर राजा की वीर विजयों का बिल्कुल वर्णन नहीं है। जो कुछ वर्णन है उसमें अधिकांश काल्पनिक प्रतीत होता है। यह वर्णन घटनात्मक नहीं, वर्णनात्मक है। अब यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वीसलदेव के इस तथाकथित विवाह पर विचार करते हैं तो वीसलदेव से १०० वर्ष प्रथम ही भोजराज का देहान्त हो चुका था। तथा उस समय मालवा में कोई भोज नाम का राजा था ही नहीं। परन्तु वीसलदेव की एक रानी परमार थी अवश्य। इसका समर्थन पृथ्वीराज-रासो से भी होता है। परन्तु इस परमार कन्या के विषय में स्वयं वीसलदेव-रासो का कवि ही कहता है—

जनमी गोरी तू जैसलमेर, गोरड़ी जैसलमेर की

सम्भव है आबू के जो परमार वंश राजस्थान में फैले थे उनमें से किसी की राजमती कन्या हो और भोज नाम परमार होने से कल्पित कर लिया हो—परन्तु 'माघ अचारज' और 'कवि कालिदास, आदि नाम भी भोज के साथ ही आए हैं।

वीसलदेव के वीर चरित्र का वर्णन राजकवि सोमदेव ने 'ललित-विग्रह-राज' नाटक में किया है जो संस्कृत में है और शिलाओं पर खुदा हुआ अजमेर के राजपूताना म्यूजियम में सुरक्षित है। जो हो यह गीतिकाव्य 'श्रृंगार रस, और 'प्रोषितपतिका' के वर्णन के लिये रचा गया है। उसमें वीर रस तो नहीं है परन्तु एक वीर पुरुष की श्रृङ्गारिक चर्चा है।

वीसलदेव-रासो की भाषा भी साहित्यिक नहीं है। भाषा में गुजरातीपन मालवापन और अन्य भाषाओं का मेल है। पाठण थीं (पाटण से) भोजतणां (भोज का) आदि प्रयोग और मरुभाषा भी साधारण है। सूकइ छै, (सूखता है) खण्ड खण्डरा (खंड खंड का) बीच २ में व्रजभाषा और पुरानी हिन्दी का भी पुट है। मेलवि (मिलाकर), रणि (रण में), प्रापिजइ (प्राप्त हो), ईणी विधि (इसी प्रकार), ईसउ (ऐसा), नयर (नगर), पसाउ (प्रसाद), पयोहर (पयोधर) आदि फ़ारसी, अरबी तुर्की शब्द भी हैं। जैसे महल, इनाम, नेजा, ताजनो (ताजियाना) आदि। मियां ताजदीन का नाम भी है—

महल पलाण्यो ताजदीन, खुरसाणा चदि चाल्यो गौड़।

हिन्दी का मिश्रण, सोना की चोरी, मोती की माल, आदि।

एक पद्य भी सुनिए—

कुँवरि कहइ सुणि, सांभरयाराव। काइँ स्वामी तू उलगइँ जाइ।
कहेउ हमारउ नइ सुणउ। थारइ छइ साठि अंतेवरी नारि।
... ...
जीभ न जीभ बिगोयनो। दव का दाधा कुपली मेल्हइ।
जीभ का दाधा नु पांगुरइ। नाल्ह कहइ सुणीजइ सब कोइ।

पृथ्वीराज-रासो—

यह ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है। जिस में ६९ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। यह एक परिपूर्ण प्रबन्ध-काव्य है और इस में प्रायः सभी प्राचीन प्रचलित छन्दों का प्रयोग हुआ है; पर मुख्य छन्द कवित्त हैं, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या छन्द भी हैं। कहा जाता है कि इसका पिछला भाग जल्हण ने जो रासो के रचयिता का पुत्र था पूरा किया। रासो ही के कथनानुसार जब पृथ्वीराज को शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी कैद करके गजनी ले गया तो कुछ दिन पीछे चन्द कवि भी वहीं चले गए और रासो का अपूर्ण ग्रन्थ अपने पुत्र को सौंप उसे पूर्ण करने का संकेत भी कर गए।

पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।

❀ ❀ ❀

रघुनाथ चरित हनुमंतकृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराज-सुजस कवि चंद कृत चंद-नन्द उद्धरिय तिमि।

रासो में आबू के यज्ञकुण्ड से चार क्षत्रियकुलों की उत्पत्ति, तथा चौहानों के अजमेर में राजस्थापन से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तर वर्णन है। इस ग्रन्थ के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र, अर्णोराज के पौत्र और तोमर राजा अनंगपाल के नाती थे। अनंगपाल ने पृथ्वीराज को गोद लिया तब से दिल्ली और अजमेर का एक राज्य होगया और पृथ्वीराज दिल्लीपति होगये। कन्नौज का राजा जयचन्द इनका मौसेरा भाई था। उसने एक राजसूय-यज्ञ रचा और अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर भी करना चाहा। पर पृथ्वीराज उसमें नहीं गये—इस से चिढ़कर उस ने उनकी स्वर्णमूर्ति बनाकर द्वारपाल के रूप में रख दी। संयोगिता ने उसी मूर्ति को वरमाला पहनाई। इस पर पृथ्वीराज छद्मवेश में जाकर संयोगिता को हर ले गये। इस अभियान में उनके बहुत सामन्त कट गये। इसी समय शहाबुद्दीन गौरी ने उन पर आक्रमण कर दिया जो कई बार आक्रमण करके भी सफल नहीं हुआ

था, इस बार सफल हुआ और पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर गज़नी ले गया। वहां चन्द के पहुंचने पर चन्द के संकेत से शब्द-बेधी बाण से सुलतान को मार कर दोनों एक दूसरे को कटार मार कर स्वयं भी मर गये।

रासो में अनेक प्रकार के वर्णन आये हैं जिन में युद्ध और शृङ्गार प्रमुख हैं। मंगलाचरण में कवि ने एक छन्द में अग्निदेव गुरु आदि की स्तुति करके फिर तीन षड् पद्य में जिन्हें वह कवित्त कहता है धर्म कर्म एवं मुक्ति की स्तुति की है। इसके पीछे पुराने कवियों की स्तुति करते हैं, जिन में व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास, डंडमाली और जयदेव का उल्लेख हुआ है। इनमें सब कवि संस्कृत के हैं, पर शायद डंडमाली प्राकृत का हो। चंद ने कहा है कि इसने गंगा नदी का वर्णन प्राकृत में किया है :—

सतं डंडमाली उलाली कवित्तं, जिनै बुद्धि तारंग गंगा सरित्तं।

तदनन्तर चंद की स्त्री उन से प्रश्न करती है, और तब वह ईश्वर-प्रभाव, पुराणादि का वर्णन करते हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में चन्द ने प्रथम तो एक निराकार, निर्गुण ब्रह्म का कथन किया, पर अंत में ब्रह्मा की उत्पत्ति कहकर अन्य देवताओं की भी चर्चा की है। ईश्वर-वर्णन १८५ पृष्ठ पर अच्छा है। उदाहरण-स्वरूप दो पद्य देखिए :—

(शार्दूलविक्रीड़ित छन्द)

आदी देव प्रनम्य नम्य गुरुयं वानीय वंदे पयं
सिष्टं धारन धारयं वसुमती लच्छीस चर्नाश्रयं।
तंगु तिष्ठति ईस दुष्ट दहनं सुर्नाथ सिद्धिश्रयं
थिर्चजंगम जीव चंद नमयं सर्वेस वर्दामयं॥

यह रासो का प्रथम छन्द है।

अष्टादशपुराण कहने के बाद चन्द ने अपनी लघुता बताते हुए और फिर खल-स्वभाव कहकर सरस्वती, शिव तथा गणेश की स्तुति की है। इस प्रकार ९४ छंदों में वंदना तथा भूमिका कहकर आपने क्रमशः परीक्षित, वसिष्ठ, आबूगिरि-उत्पत्ति, ऋषियों के यज्ञ, चहुवान-उत्पत्ति तथा क्षत्रियों के ३६ वंशों की उत्पत्ति आदि की कथाएँ कही हैं। इसके पश्चात् चहुवानों के वंश का वर्णन किया और वीसलदेव की उत्पत्ति कहकर आना का जन्म कहा।

चंद ने पृथ्वीराज की कथा अपनी स्त्री की इच्छा के अनुसार कही। मंगलाचरण में प्रायः साठ पृष्ठों में, दशावतार की कथा कही गई है, ये सब

उपर्युक्त वर्णन २५४ पृष्ठों में समाप्त हो गए हैं। शेष ग्रंथ में पृथ्वीराज की कथा सविस्तर वर्णित है। 'रासो' में अधिकतर पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों एवं मृगया के ही वर्णन हैं।

रासो प्रायः संवत् १२२५ से १२४८ तक बनता रहा। यह वह समय था, जब प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं का अंत हो रहा था, और हिंदी का प्रचार।

चंद की भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद की मात्रा कम तथा ओज की अधिक है। प्राकृतरूप मिश्रित भाषा लिखने के कारण चंद ने अनुस्वार से द्वितीया के स्थान प्रथमा का भी काम लिया है। इन्होंने संस्कृत के अच्छे २ शब्द लिखे तथा पुराणों का ज्ञान दिखाया है। रासो की भाषा बड़ी कठिन है। इस भाषा में कई भाषाओं का मिश्रण एवं प्राकृत-प्राधान्य होने के कारण वह वर्तमान हिंदी से बहुत भिन्न है, और मिलित वर्णों तथा अनुस्वारों का बाहुल्य एवं चंदह, नरिंदह आदि शब्दों के प्राचीन रूपों का प्रयोग होने से, पढ़ने में, एक प्रकार की दूसरी ही भाषा जान पड़ती है, परन्तु फिर भी वर्तमान हिन्दी से बहुत कुछ मिलती-जुलती भी है।

चंद ने कई स्थानों पर, तुलसी की भांति, देवताओं की विनतियां बहुत ही अनूठी चित्रित की हैं। पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि के चित्रण में भी नख-शिख बड़ा ही हृदयग्राही रहा है। वियोग का भी यत्र-तत्र विशद वर्णन हुआ है। १५६ पृष्ठ पर पृथ्वीराज की शोभा-वर्णन में चन्द ने उपमाएँ अच्छी-अच्छी दी हैं।

कैमास जिस स्त्री पर लुब्ध होकर, कुछ समय के लिए पृथ्वीराज का साथ छोड़ भोराभीमंग का साथी होगया था, उसके वर्णन का एक छन्द यहां देखिए :—

> चंद वदन, चख कमल, भौंह जनु भ्रमर गंधरत;
> कीर-नास, बिंबोष्ठ दसन दामिनी दमक्कत।
> भुज मृनाल, कुच काक, सिंह-लकी, गति वारुन;
> कनक-कति-द्युति देह, जंघ कदली-दल आरुन।
> अलसंग नयन मयनं मुदित, उदित अनंगह अंग तिहि;
> आनी सुमंत्र-आरंभ-वर, देखत भूलत देव जिहि।

यह युद्ध-प्रधान ग्रंथ होने से इसमें युद्ध का वर्णन बहुत बार और कितने ही प्रकार का हुआ है। चंद ने युद्ध तो प्रायः उचित कहे हैं, पर सेना-संख्या में

अत्युक्ति कर दी है। जयचन्द एवं सुलतान के दल की गणना में चंद ने क्रमशः ३० और १८ लाख मनुष्य कहे हैं, जो असंभव प्रतीत होता है।

रासो की ऐतिहासिकता—

सब से बड़ी कठिनाई यह है कि रासो में दिये संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाता। इसी से मुख्य विद्वान् उसे १६वीं शताब्दी में लिखा कहते हैं। इसकी अपेक्षा विद्वानों के मत में काश्मीरी कवि जयानक का 'पृथ्वीराज विजय' काव्य, जो संस्कृत में है अधिक ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण है, परन्तु वह अपूर्ण है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सोमेश्वर का तोमर राजा अनंगपाल की लड़की से विवाह होना, पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना, राणा समरसिंह का पृथ्वीराज का समकालीन होना, संयोगिताहरण आदि बातें असंगत हैं। चौहान आदि चार कुलों की उत्पत्ति अग्निकुण्ड से होना भी कल्पित है। सोलंकी चौहान आदि नरपतियों के जो शिलालेख आदि मिले हैं वह इसका प्रमाण हैं। इन्हीं शिलालेखों और दानपत्रों की तिथियों से रासो की तिथियां नहीं मिलती हैं। उल्टे इन दानपत्रों तथा शिला-लेखों में जो तिथि संवत् वर्णित हैं उनका समर्थन फ़ारसी इतिहासकार भी करते हैं।

यह ग्रन्थ लगभग ३५० वर्षों से भारतीय विद्वानों को आकर्षित करता आ रहा है। इसकी सैकड़ों प्रतियां राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़ आदि में हैं। कलकत्ते की रायल एशियाटिक सोसाइटी ने आज से ७० वर्ष पूर्व इसे सब से प्रथम प्रकाशित करना प्रारम्भ किया था। सन् १८७३-८६ में इस के अनेक खण्डों का अंग्रेज़ी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ था। पीछे जब सन् १९०६ में उदयपुर के कविराजा श्यामलदास ने इसे १७वीं शताब्दी का साबित करते हुए एक लेख रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में छपाया तो सोसाइटी ने फिर इसे छापना बन्द कर दिया। पीछे बा० श्यामसुन्दर दास और मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया ने इसे सम्पादित करके सन् १९१५ में नागरी-प्रचारिणी से प्रकाशित कराया। श्री अमरचन्द नाहटा ने इसकी लगभग ८०-८५ प्रतियों का पता लगाया है। जो प्रति नागरी प्रचारिणी ने प्रकाशित की है उसमें खण्डों की संख्या ६९ और श्लोकों की ३५००० है।

जो हो, रासो की वास्तविकता को लेकर बहुत वादविवाद हो चुका है। परन्तु हम केवल भाषा-सम्बन्धी विवाद पर कुछ विचार करना चाहते हैं। भाषा में व्याकरण की व्यवस्था नहीं है। अनुस्वारांत शब्दों की बहुत भरमार है। कहीं २

नई क्रियाएँ दीख पड़ती हैं। पर कहीं भाषा अपने असली प्राकृत अपभ्रंश साहित्यिक रूप में पाई जाती है, शब्दों और विभक्तियों के चिह्न भी पुराने ढंग के हैं।

रासो की भाषा के उदाहरण देखिए—

कुट्टिल केस सुदेस पोह परिचियत पिक्क सद।
कमलगन्ध, वयसंध, हंसगति चलति मंद मद।
सेत वस्त्र सोहै सरीर नष स्वाति-बूँद जस।
भमर भवहिँ भुलहिँ सुभाव मकरंद बास रस।
प्रिय प्रिथिराज नरेस जोग लिषि कग्गर दिन्नौ,
लगन बरग रचि सरब दिन्न द्वादस ससि लिन्नौ।
सै ग्यारह अरु तीस साष संबत परमानह।
जो पित्री-कुल सुद्ध बरन, बरि रक्खहु प्रानह।
दिक्खंत दिट्ठि उच्चरिय वर, इक पलक्क बिलँब न करिय।
अलगार रयनि दिन पंच महि ज्यों रुकमिनि कन्हर बरिय।

❀ ❀ ❀

पुरासान मुलतान खंधार मीरं
वलष स्यो बलं तेग अच्चूक तीरं
रुहंगी फिरंगी हलब्बी सुमानी,
ठटी ठट्ट भल्लोच ढालं निसानी।

चंद बरदाई—

इन्हें हिन्दी का प्रथम कवि माना जाता है। ये राजा पृथ्वीराज के राजकवि और अन्तरंग सखा कहे जाते हैं। ये जाति के भट्ट थे। इनकी जन्मभूमि पंजाब थी। इनका जन्म लाहौर में हुआ था। कहते हैं पृथ्वीराज का जन्म भी इसी दिन हुआ था। दोनों का मरण भी एक ही दिन एक साथ हुआ। कहा जाता है ये व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्दशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक, आदि अनेक विद्याओं के पारंगत थे और अदृष्ट दर्शन की सामर्थ्य रखते थे।

परन्तु जो विद्वान् रासो को जाली बताते हैं उन का मत है कि चन्द कवि नाम का कोई व्यक्ति पृथ्वीराज की सभा में था ही नहीं। तत्कालीन प्रामाणिक ग्रन्थों में उसका कोई उल्लेख ही नहीं मिलता। उधर हरप्रसाद शास्त्री ने जो खोज की है वे उपर्युक्त बातों का समर्थन करते हैं। उनका कहना है—चन्द बरदाई के वंशज अभी भी नागौर में हैं जो पृथ्वीराज ने बसाया था और जहां बहुत सी धरती चन्द को दी थी।

भट्ट केदार, मधुकर कवि (सन् ११६८ से ११८७)—

कहा जाता है कि ये महाराज चन्द के दर्बारी राजकवि थे। रासो में एक स्थान पर भट्ट केदार और जयचन्द में सम्वाद होने का भी वर्णन है। इन्होंने 'जयचन्द-प्रकाश' नाम का एक महाकाव्य लिखा था, जिस में महाराज जयचन्द के प्रताप और पराक्रम का वर्णन था।

ऐसा ही एक काव्य मधुकर कवि ने 'जयमयंक-जसचन्द्रिका' नाम से लिखा था।

ये दोनों ही ग्रन्थ आज नहीं मिल रहे हैं, इनका केवल उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठौडां री ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भण्डार में सुरक्षित है।

इस ख्यात में लिखा है कि दयालदास ने कन्नौज का सम्पूर्ण वर्णन इन्हीं दो ग्रन्थों के आधार पर लिखा है।

जगनिक ११७४—

तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तराखण्ड में दो प्रबल राज्य स्थापित थे। एक दिल्ली के चौहानों का, जिसका प्रभाव अजमेर तक मरुदेश-व्यापी था; दूसरा कन्नौज के गहरवारों (राठौरों) का, जिसका प्रभाव बुन्देलखण्ड के राजाओं पर था। दोनों में कन्नौज के गहरवार अधिक समर्थ, समृद्ध और सुगठित थे और उन्हों ने एक प्रकार का छोटा सा साम्राज्य ही संगठित कर लिया था। इनकी एक राजधानी काशी भी थी।

बुन्देलखण्ड के कालिंजर या महोबे के चन्देल राजा पर्मार्दिदेव (परमाल) जयचन्द के माण्डलिक राजा थे, जो दिल्लीपति से निरन्तर कन्नौज के पक्ष में लड़ते रहते थे।

इन्हीं महोबे के पर्मार्दिदेव के आश्रित जगनिक भाट थे। इन्होंने महोबे के दो वीरों—आल्हा और ऊदल के वीर चरितों का विस्तृत वर्णन एक वीर गीतात्मक काव्य के रूप में लिखा है जो अब भी प्रायः सम्पूर्ण उत्तरीय भारत में अतिशय लोकप्रिय है। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और बरसात में गाए जाते हैं। गांव देहातों में प्रायः अल्हेत लोग ढोलक बजा कर बड़े ओज और ठाठ से बादल की गर्ज के साथ जब आल्हा गान करते हैं तब एक खास समा बंध जाता है।

परन्तु इस समय जो आल्हा की प्रति मिलती है वह जगनिक की कृति नहीं प्रतीत होती। उस में एक ही भाव और एक ही ढंग का बारंबार उल्लेख किया गया है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आजकल के आल्हा गीत जगनिक के प्राचीन आल्हाखण्ड के आधार पर, हिन्दी भाषी प्रान्तों के गांव २, जनता के कण्ठ में जगनिक के वीरदर्पपूर्ण संगीत की प्रतिध्वनि बन कर गाए जाते हैं।

उसकी भाषा, भाव, शब्द सब बदल गये हैं। उसमें 'बंदूक', 'किरच', 'फिरंगी' आदि शब्द दीख पड़ते हैं। इसकी असली प्रति का कहीं पता नहीं मिलता है। यह वास्तव में प्रबन्ध-काव्य तथा एक लोक-गीत था, और 'बैसवाड़े' में जहां इसका केन्द्र था इसका बहुत प्रचार है।

इन्हें आल्हा-खण्ड कहा जाता है। इस से यह ध्वनित होता है कि ये गीत उस विशाल काव्य के एक खण्ड के अन्तर्गत होंगे जो चंदेलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। इसके नायक आल्हा और ऊदल परमाल के सामंत थे और वनाफर क्षत्रिय थे।

इस आल्हाखण्ड का एक अंग्रेजी अनुवाद ६०–७० वर्ष पूर्व मि० चार्ल्स इलियट ने, जो उन दिनों फर्रुखाबाद के कलक्टर थे, छपवाया था।

वर्तमान आल्ह के छन्द का एक उदाहरण यह है—

चलें बंदूकें बादलपुर की जो नब्बे की एक विकाय।
मघा नखत सम गोली बरसै डोलि न छहिया जाय उठाय।
को गति बरणें बन्दूखन की हमरे बूत कही न जाय।
सूंड लपेट हाथी भिड़िगै अंकुश भिड़े महौतन क्यार।
हौदा हौदायक भिलि हैगे दामिन खैंचि लई तलवार।
भाला बरछिन सों कउ मारै कोऊ लेय ढाल की वार।
सूंढ़ि लपेटे जंजीरन को हाथी रण में रहे घुमाय।

श्रीधर सन् १३९८—

इन्होंने ईडर के राठौर राजा रणमल्ल के उस विजय का वर्णन किया है, जो पाटन के सूबेदार जफरखां पर उन्होंने प्राप्त की थी।

इनकी भाषा का नमूना—

ढमढमइ ढमढमकार, ढंकर ढोल ढोली जंगिया।
सुर करहि रण-सहणाइ समुहरि सरस रसि समरंगिया।
कलकलहि काहल कोडि कलरवि कुमल कायर थरहरइ।
संचरइ शक सुरतौण साहण साहसी सवि संगरइ।

विचारणीय—

यह बड़े ही दुःख का विषय है कि हमें 'वीर-गाथा' के केवल तीन ही ग्रन्थों का पता चला गीति-काव्य—वीसलदेव-रासो, प्रबन्ध-काव्य—पृथ्वीराज रासो और एक आल्ह-खण्ड। ये तीनों ही संदिग्ध और विकृत हैं तथा इस काल के वीर साहित्य की बहुत कम खोज जांच की गई है।

'रासो' शब्द का अर्थ 'काव्य' है। यह हमने बताया है। परन्तु इस वीर-युग में इन वीर काव्यों की तीसरी पद्धति दोहों की है। अनगिनत दोहे स्फुट भिन्न २ समय में भिन्न २ कवियों के रचे हमें मिलते हैं जिन में से कुछ का परिचय यहां हम देते हैं।

संयम-राय की प्रशंसा में ११७४ ई०—

जब सन् ११७४ में चौहान पृथ्वीराज ने महोबा पर चढ़ाई की, तब घोर संग्राम में वे मूर्छित और घायल होकर गिर गये। उसी समय गीधों ने आकर उनकी आंख निकालना चाहा। संयमराय राठौर जो उनके सामंत थे घायल अवस्था में पास ही पड़े थे पर उनमें उठकर राजा की रक्षा करने की सामर्थ्य नहीं थी—तब उन्होंने अपने शरीर का मांस काट २ कर गिद्धों को फेंकना प्रारम्भ किया और गीध उसे खाने लगे। इतने ही में राजा होश में आगए। उस पर यह दोहा है—

गीधन कों पल भख दिये, नृप के नैन बचाय।
सैंदेही वैकुण्ठ में, गयेजु 'संयम-राय'।

रावल भोजदेव के सम्बन्ध में ११४८ ई०—

रावल भोजदेव ११४८ में जैसलमेर की प्राचीन राजधानी 'लुद्रवा' की गद्दी पर बैठे। तब इनके ताया जैसलदेव ने शहाबुद्दीन गौरी की सहायता लेकर इन से गद्दी छीनने को युद्ध किया। भोजदेव ने सुलतान के सेनापति मजेजखां के बारह हजार योद्धाओं से ५ हजार सैनिक लेकर युद्ध किया और खेत रहे। पर मजेजखां का भी एक योद्धा जीवित न छोड़ा तब यह दोहा लिखा गया—

तोड़ां थट तुरकाण री, मोड़ों खान मजेज।
दाखै अनमी 'भोजदे' जादम करै न जेज।

पाबू जी राठौर सन् १२०४—

पाबू जी एक राठौर क्षत्रिय थे—जो वीर और धर्मात्मा थे। लोग इनपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। उस समय नागौर के पास 'जायल' नामक गांव में

जिनराज, खीची ठाकुर था । वहां एक चारणी रहती थी जिसका नाम 'देवलजी' था । उसे लोग देवी का अवतार मानते थे । चारणी के पास 'कालिमी' नाम की घोड़ी थी जो अत्युत्तम थी । जिनराज ने उसे चारणी से मांगा पर चारणी ने इन्कार कर दिया । इस पर ठाकुर बिगड़ गया और चारणी को हर तरह कष्ट देने लगा । एक बार उसने चारणी की गायें चुरा लीं । तब चारणी पाबू जी के गांव में रहने लगी । और पाबू जी से कहा—जो क्षत्रिय मेरी गोधन की रक्षा में सिर देने को तैयार हो उसे यह घोड़ी दूँगी । पाबू जी ने स्वीकार किया और चारणी ने घोड़ी दे दी । यह सुनकर जिनराज खींची और चिढ़ गया और चारणी तथा पाबू जी दोनों को दण्ड देने का सुयोग देखता रहा । इसी बीच 'उमरकोट, के सोढा क्षत्रियों ने पाबू जी के पास अपनी कन्या की सगाई भेजी। परन्तु पाबू जी ने कहा—मैं चारणी को सिर दे चुका हूँ न जाने कब उसकी आवश्यकता हो—अतः मेरे साथ विवाह करना ठीक नहीं । परन्तु कन्या ने इसी वीर को हठपूर्वक वरण किया । जब पाबू जी ब्याहने जाने लगे तो चारणी से विदा लेने गये—चारणी ने कहा—जाओ, यदि पीछे कोई विपत्ति आई तो यही घोड़ी तुम्हें सूचना देगी ।

उधर पाबू जी की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर जिनराज देवल जी चारणी का सब गोधन लूट ले गया । ठीक उस समय जब उमरकोट में पाबू जी की भांवर पड़ रही थी । घोड़ी पहुंचकर हिनहिनाने और उत्पात मचाने लगी । यह देख पाबू जी तुरन्त कन्या का हाथ और चँवरी छोड़ घोड़ी पर सवार हो तलवार ले चल दिये और खींचियों से भिड़ गये तथा चारणी का सब गोधन छीन लाए । लौटने पर चारणी ने कहा—एक बछड़ा रह गया है, तब ये फिर लौटे—और इस बार काम आए । सोढा राजपुत्री उनके साथ सती हुई । उन पर यह रचना की गई है—

गीत

प्रथम नेह भीनो महा क्रोध भीनो पीछे,
लाभ चमरी समर झोंक लागे।
राय-कँवरी वरी जेण वागे रसिक,
वरीघड़ कँवारी तेण वागे।

❀ ❀ ❀

हुवे मझ्झल धमल दमंगल बीर हथ,
रंग तूठो कमध जंग रूठो।

सघण बूठो कुसुम बोह जिण मोड़ सिर,
विषम उण मोड़ सिर लोह बूठो।

❀ ❀ ❀

करण अखियात चढ़ियो भलां कालमी,
निवाहण वयण भुज बांधियों नेत।
पँवारों सदन वरमाळ सूँ पूजियो,
खलां किरमाल सूं पूजियों खेत।

❀ ❀ ❀

सूर बाहर चढ़े चारणां सुरहरी,
इतै जस जितै गिरनार आबू।
विहँड खल खींचियां तणा दल विभाडे,
पोढियो सेज रण भोम 'पाबू'।

(प्रसिद्ध कवि बांकीदास)

गीत

नेह निज रीझरी बात चित ना धरी,
प्रेम गवरी तणो नाहिं पायो।
राजकँवरी जिका चढ़ि चँवरी रही
आप भँवरी तणी पीठ आयो।

काँधल जी सन् १४७१

कॉंधल जी जोधपुर महाराज जोधाजी के छोटे भाई थे। एक दिन वे अपने भतीजे बीका जी का हाथ पकड़े जोधा जी महाराज के पास गये। महाराज ने हँस कर कहा—आज तो भतीजे का ऐसा हाथ पकड़ा है जैसे कहीं का राज्य ही उसे दिला देंगे। यह सुनकर काँधल जी जोधपुर से चल दिये और जाटों के १४ भूमिचारों को जीतकर एक नया राज्य बसाया। और अपने भतीजे बीका जी के नाम पर नगर 'बीकानेर' बसाया। तथा बीका जी को वहां का राजा बना आप उन्हें अपना स्वामी मान साधारण वृत्ति से जीवन भर रहे। इस पर यह दोहा है—

कमधज राज भतीज को, सज बांधे बलसार।
जिण 'काम्हल, भांजेजवर, चौदह भूमिचार॥

ये चारणजन केवल राजा महाराजाओं ही की प्रशंसा नहीं करते थे। गरीब किन्तु वीर भावपूर्ण पुरुष के ऊपर भी दृष्टि रखते थे—

सांगा गौड़ सं० १५२४—

ईश्वरदास बारहट एक प्रसिद्ध चारण हो गये हैं। वे घूमते फिरते एक गांव में जा निकले। बारहट केवल क्षत्रिय का ही अन्न ग्रहण करते थे। इस गांव

में केवल एक अति दरिद्र युवक 'सांगा गौड़' ही का क्षत्रिय घर था। घर में एक बूढ़ी मां थी। सांगा १४-१५ वर्ष का बालक था। वारहट जी ने उसकी झोंपड़ी पर जाकर उस से भोजन कराने को कहा। इस पर माता पुत्र बड़े संकोच में पड़ गये, परन्तु एकाध बर्तन गिरवी रख वारहट को प्रसन्नता से भोजन कराया। और फिर बड़े संकोच से कहा कि इस समय भेंट देने को कुछ नहीं है, पर जब मेरी भेड़ों की ऊन उतरेगी तब एक कम्बल बुन कर आपकी भेंट करूंगा।

वारहट उसे आशीर्वाद देकर चले गये। इधर एक दिन सांगा नदी किनारे भेड़ चरा रहा था, नदी में बाढ़ आगई और भेड़ों की रक्षा करते हुए नदी में बह गया। तब डूबते २ उसने अपने साथियों से कहा—मेरी मां से कहना वारहट जी को कम्बल दे दें।

कुछ दिन बाद जब वारहट जी फिर उसकी कुटिया के द्वार पर आए तो वृद्धा ने चुपचाप उन्हें भोजन परस दिया। इसपर वारहट जी ने कहा—'सांगा' कहां है, तब बुढ़िया ने रो-रो कर उसके डूब जाने का एक वृत्तान्त कहा तथा उस का संदेश भी सुना दिया तब बारहट ने यह दोहा पढ़ा—

जल डूबन्ते जाय, सादज संगरिये दियो।
कह ज्यो मोरी माय, कवि ने देवे कामली।

इस प्रकार चारणों की वीर काव्य की लड़ी निरन्तर बहुत काल पीछे तक चली आती रही।

ख्यात—

कविता की भांति ही इस वीर काल की वीरतापूर्ण चर्चाएं 'ख्यात' रूप में हैं जो चारणों का इतिहास साहित्य है। ख्यातों में—'मुहणोंत नैणसी री ख्यात, 'दयालदास री ख्यात, दयालदास री ख्यात देसदर्पण' 'जोधपुर रै राठौडां री ख्यात, 'राठोरां नी पीढ़िया फुटकर ख्यात' 'राठौरां री वंसावली पीढ़िया नै फुटकर वातां (सोलवीं शताब्दी) उदैपुर री ख्यात, 'जोधपुर री ख्यात' आदि अनेक ऐतिहासिक हस्तलिखित ग्रन्थों का पता चला है।

बात—

'बात' का अर्थ कहानियां है। चारणों की कहानियों में अर्धसत्य का आभास मिलता है, चारण साहित्य में 'बात' सम्बन्धी साहित्य बहुत है जिन्हें खोज करना, सम्पादन करना और इनकी घटनाओं पर तिथिक्रम से विचार करना विद्वानों का काम है।

अध्याय पांचवां

शार्ङ्गधर, खुसरो और विद्यापति

(मसीह की १४ वीं शताब्दी के मध्य में)

त्रिधारा—

अब हम एक ही काल के इन तीन रचयिताओं का विशेष प्रकार से उल्लेख करना चाहते हैं, जो एक ही काल के कवि हैं परन्तु जिनकी भाषा और भावों की तीन पृथक् २ धाराएं तीन दिशाओं में प्रवाहित हुई हैं। शार्ङ्गधर पुरानी अपभ्रंश शैली और भाषा में लिपटा हुआ है। खुसरो परिक्लृप्त खड़ी बोली की हिन्दी भाषा बोलता है और विद्यापति पूर्वी हिन्दी की आदि भाषा में जिसमें अर्धमागधी का सान्ध्य प्रदेश सम्बन्धी पुट भी है, जिससे वह बंगला की ओर अभिमुख होती है—अपनी वाग्धारा बहाता है।

शार्ङ्गधर—

ये रणथम्भोर के वीर महाराज हम्मीरदेव के प्रधान सभासद् और राघवदेव के पौत्र थे। ये हम्मीरदेव अलाउद्दीन से युद्ध करते हुए सन १२९९ में काम आए थे। अलाउद्दीन की इस चढ़ाई का कारण यह था कि एक मुसलमान अमीर मीर-मुहम्मद और उसके साथियों को हम्मीर ने शरण दी थी, तथा अलाउद्दीन के मांगने पर उन्हें देने से इन्कार कर दिया था।

शार्ङ्गधर एक मार्मिक कवि और सूत्रकार थे। उनका एक वैद्यक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। कुछ विद्वानों का विचार है कि इन्होंने एक 'हम्मीर-रासो' की रचना की थी जो अब उपलब्ध नहीं है। 'हम्मीर रासो' की जो प्रति अब उपलब्ध है वह बहुत बाद की रचना है। 'प्राकृतपिङ्गल सूत्र' में उदाहरण के तौर पर प्राचीन 'हम्मीर रासो' के कुछ छन्द मिलते हैं। परन्तु उन छन्दों को पढ़ने से पता लगता है कि यदि वे ही छन्द प्राचीन 'हम्मीर रासो' के छन्द हैं तो अवश्य ही वह ग्रन्थ शार्ङ्गधर की रचना नहीं, हम्मीर के वीर और विद्वान् कवि मन्त्री 'जज्जल' की रचना है। प्राकृतपिंगल के उदाहरणों में उद्धृत छन्द तो निश्चय ही 'जज्जल' की रचना हैं। यह 'जज्जल' उस कठिन अभियान में स्वयं उपस्थित थे, और उन्होंने हम्मीर का यह उत्सर्ग अपनी आंखों से देखा था, जब शार्ङ्गधर हम्मीर के बाद तीसरी पीढ़ी के व्यक्ति थे।

यह वह समय था जब अपभ्रंश की रचनाओं का अन्त हो रहा था। और शुद्ध हिन्दी का रूप भी बन चुका था जैसा कि हम खुसरो के प्रसंग में देखेंगे। परन्तु शार्ङ्गधर राजस्थान में रहकर अपने समकालीन चारणों की अपेक्षाकृत परिष्कृत मरुभाषा न लिख कर अपभ्रंश भाषा लिख रहा था। इस लेखक का एक ग्रन्थ 'शार्ङ्गधर-पद्धति' नामक सुभाषित संग्रह है। उसमें के एक चित्र-काव्य का उदाहरण देखिए, जो राजा मल्लदेव की प्रशंसा में लिखा गया था।

नूनं बादल छाइ खेहपसरी निःश्राण शब्दः खरः,
शत्रुं पाडि लुटालि तोडि हनि सौं एवं भणन्त्युद्भटाः।
झूठे गर्व भरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे।
कण्ठे पाग निवेश जाहि शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम्।

इसमें छन्द संस्कृत है तथा भाषा संस्कृत और हिन्दी है।

इसी ग्रन्थ में लेखक ने सर्प-विष उतारने के कुछ मन्त्र दिये हैं। उनकी भाषा देखिए—

'ओं गुरु के पाय शरणो। ओं चवि चवि चारि भार विसुमाटि।'

सांप के विष से बचने का भी एक मन्त्र है।

'ओं दृष्ट कर अष्ट कर कालिङ्ग नाग हरिनाग।
सर्पकुंडी बिसु दाह बंधन शिव गुरु प्रसाद'।

खुसरो—

मार्के की बात यह है कि खुसरो ने पृथ्वीराज की मृत्यु के लगभग ७० वर्ष बाद ही अपनी रचनाएं की हैं। इस कलाकार का जन्म ईस्वी सन १२५६ में हुआ और मृत्यु १३२५ में। इसने ६६ वर्ष की पूर्णायु पाई। यह फ़ारसी का प्रसिद्ध कवि और लेखक था। इसने ९४ ग्रन्थ लिखे, जिन में अब केवल २२ प्राप्त हैं। इसके जीवन में दिल्ली के सिंहासन पर ११ सुलतान बैठे जिन में से ७ का यह दर्बारी रहा। यह गायन वादन का उस्ताद, विनोदप्रिय और सभा-चतुर विद्वान् अमीर था।

इसने तत्कालीन प्रचलित हिन्दी में बहुत रचनाएं कीं जो अभी तक कम उपलब्ध हैं। इसकी पहेलियां और मुकरनियां प्रसिद्ध हैं। इसकी कविता में दो प्रकार की भाषाएं मिलती हैं। गीत आदि में ब्रज का पुट है। उसने यद्यपि हिन्दी कविता की है पर हिन्दी की परम्परा के बाहर। इस लिए इसकी कविता में यद्यपि बोलचाल की भाषा का प्राधान्य है, पर काव्य-भाषा का मेल है। इसने खालिकबारी नामक एक मिश्रित कोश भी लिखा जिसमें फ़ारसी, तुर्की तथा अरबी

शब्दों के पर्याय 'हिन्दी या हिन्दुई' में दिए गए हैं । इसकी पहेली की भाषा इतनी परिष्कृत है कि वह आजकल की भाषा से मिलती जुलती है । अमीर-खुसरो की हिन्दी को जब हम देखते हैं और उसका शार्ङ्गधर या रासो की भाषा से मुक़ाबिला करते हैं तब हम यह तो अनायास ही कह सकते हैं कि यहां भाषा के धीरे विकसित होने का प्रश्न ही नहीं है । यदि अमीर खुसरो की भाषा तत्कालीन प्रचलित देश भाषा थी तो निस्सन्देह शार्ङ्गधर की भाषा प्राचीन प्राकृत और अपभ्रंश-रूढ़िवाद से जकड़ी हुई अपने समय से कहीं दूर की पुरानी भाषा थी, जिसे साहित्यिक लोक-भाषा समझ कर अपनाया गया था, और खुसरो ने जिसका दर्पपूर्ण रीति से त्याग किया था । फिर भी शार्ङ्गधर की कविता में 'रे कंत मेरे कहे' जैसे पद इस बात के साक्षी हैं कि शार्ङ्गधर भी इस या प्रचलित लोकभाषा से अज्ञात न था ।

पहेलियों, मुकरनियों और दो सुखनों में यद्यपि खुसरो ने काव्यभाषा का परित्याग किया था --पर वह गीतों और दोहों में ऐसा न कर सका। उसमें वह तत्कालीन व्रजभाषा न सही, मुखप्रचलित काव्यभाषा अवश्य काम में लाया ।

खुसरो की पहेलियों में तथा अन्य कविताओं में भी बहुत सी पीछे से मिलायी गई हैं । कुछ सैकड़ों वर्ष तक अनेक मुखों में जाकर परिवर्तित हो गई हैं, फिर भी उसका ढांचा कवियों और चारणों द्वारा व्यवहृत प्राकृत की रूढियों से जकड़ी काव्यभाषा से बिल्कुल ही अलग था ।

खुसरो से दो सौ वर्ष बाद कबीर ने अपनी बानी में जिस भाषा का व्यवहार किया है उसमें कुछ पंजाबी और कुछ मरुभाषा के शब्द अवश्य मिले हैं पर पुराने नमूनों की ही अधिक भरमार है । जैसे सप्तमी विभक्ति के रूप में इ (घरि—घर में) 'चला', 'समाया' के स्थान पर 'चलिया', 'समाइया', 'उनई आई' के स्थान पर 'उन मिवि आई' इत्यादि के प्रयोग हैं । यह बात विचारने योग्य है कि खुसरो से दो सौ वर्ष बाद कबीर तो पुरानी भाषा-पद्धति से जकड़ा हुआ है परन्तु खुसरो की भाषा साफ़ और उनसे परिष्कृत है ।

खुसरो के समय में 'इट्ठ' 'वसिट्ठ' के रूप 'ईठ' 'वसीठ' हो गये थे। इस से स्पष्ट है कि बोलचाल से पुराने प्रत्यय उठ गये थे और बोलचाल की भाषा खुसरो के काल में उसी ही रूप में आगई थी जिसमें खुसरो ने लिखा है। तब कबीर और खुसरो की इस भाषा के चिन्त्य अन्तर का एक ही उत्तर हो सकता है कि खुसरो का दृष्टिकोण लोकरंजन था और दिल्ली के मुसलमान सुलतानों का दर्बारी, अलमस्त आदमी था—पर कबीर संत था, धर्मप्रचारक था, और वह

काशी के तत्कालीन साहित्यिकों, विचारकों, संतों का परमुखापेक्षी था। अपढ़ होने के कारण वह सब ज्ञान कानों ही से अर्जन करता था तथा अपनी रचनाओं को पुस्तकी भाषा के रूप में रचता था। इसी से उसे भाषा में प्रचलित साहित्यिक परंपरागत बन्धन लाने पड़े।

खुसरो की व्रजभाषा-मिश्रित बोलचाल की भाषा का नमूना देखिए—

श्याम वरन और दाँत अनेकन, लचकत जैसे नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे, और कहे तू आरी॥
पहेली—(आरी)

यह स्पष्ट है कि यह मुसलमानों की खड़ी-बोली शिष्टों की भाषा हो गई थी और खुसरो ने खड़ी-बोली की कविता का प्रारम्भिक उदाहरण उपस्थित किया था। कहना चाहिए कि खुसरो ने आधुनिक खड़ा-बोली की जड़ जमाई थी।

इसके दो सौ बरस बाद कबीर के सामने पूर्व-वर्णित कारणों के सिवा—इस काल में परिष्कृत अवधी पूरबी-भाषा भी उसके चारों ओर चक्कर काट रही थी, इस लिये उसने अपने काल की भाषा का आश्रय लिया। देखिए—

घर वारी तो घर में राजी, फक्कड़ राजी बन में।
ऐंठा धोती पाग लपेटी, तेल चुआ जुलफन में।

निस्सन्देह यह साहित्य की तत्कालीन भाषा नहीं, बोलचाल की भाषा थी। परन्तु कविता इस भाषा में भी होती थी और उसका उन कविताओं में शिष्ट प्रचलितरूप दीख पड़ता है।

देखिये बिल्कुल वर्तमान की भाषा की भांति ही यह भाषा है—

एक तरुवर का फल है तर। पहिले नारी पीछे नर।
वा फल की यह देखी चाल। बाहर खाल और भीतर बाल।
रोटी जली क्यों? घोड़ा अड़ा क्यों? पान सड़ा क्यों?
उत्तर—(फेरा न था।)

एक थाल मोती से भरा। सब के सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे।
(आकाश)

अब खुसरो की मुखप्रचलित काव्य-भाषा भी देखिए—

उज्ज्वल वरनु, अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान।
देखत में तो साधु है, निपट पाप की खान।

❋ ❋ ❋

खुसरो रैन सोहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए एक रंग।

❀ ❀ ❀

गीत

मोरा जोवना नवेलरा, भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस, मोरी माल।
सूनी सेज डरावन लागे, बिरहा-अगिन मोहि डस-डस जाय।

अपने गुरु हजरत निज़ामुद्दीन की मृत्यु होने पर इन्होंने यह भावपूर्ण दोहा कह कर प्राण त्याग दिये थे—

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई इहि देस।

विद्यापति—

विद्यापति ईस्वी पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में काव्य-रचना करते हैं। यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश-रचना की परम्परा समाप्त हुए पचास-साठ साल तब बीत चुके थे। फिर भी विद्यापति ने अपभ्रंश की पद्य-रचना की थी।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने विद्यापति की दो प्रशस्ति सम्बन्धी पुस्तकों का पता लगाया था जिनका नाम 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' था। पर पुस्तकें उनके हाथ नहीं लगी थीं। श्री हरप्रसाद शास्त्री को नैपाल में 'कीर्तिलता' की एक प्रति मिल गई थी जिसकी नकल उन्होंने कराई थी।

इस पुस्तक में तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह की वीरता, उदारता और गुणग्राहकता का वर्णन अपभ्रंश के दोहों में और प्रचलित भाषा के पद्यों में है। चौपाई, छन्द, छप्पय और गाथा का भी उपयोग है। इस अपभ्रंश में यह ख़ास बात है कि वह पूर्वी अपभ्रंश है।, ख़ासकर क्रियाओं के रूप पूर्वी हैं।

एक उदाहरण देखिए—

रज्ज-लुद्ध असलान बुद्धि विक्कम बले हारल।
पास बइसि बिसवासि राय गयनेसर मारल।
मारंत राय रणरोल पड़ु, मेइनि हाहा सद्द हुअ।
सुर राय नयर नर अर रमणि बाम नयन पप्फुरि अघुअ।

एक बात यह भी है कि इस में संस्कृत के तत्सम शब्दों का उपयोग है और देशभाषा अधिक है। वह प्राकृत की रूढ़ियों से उतनी बंधी नहीं है।

देखिए—

कतहुँ तुरुक बर कर। बार जाए ते बेगार धर।
धरि आनय बाभन बरुआ। मथा चढ़ावइ गायक चुरुआ।
हिन्दू बोले दूरहि निकार। छोटउ तुरुका भभकी मार॥

इस उदाहरण से भी वही बात ध्वनित होती है।

अब विद्यापति की पदावली को देखना चाहिए जिस कारण उनका इतना नाम हुआ। पदावली उन्होंने तत्कालीन मिथिला भाषा में रची। सर जार्ज ग्रियर्सन इस मैथिल को मागधी की पुत्री मानते हैं। और हिन्दी से उसे पृथक् करते हैं। पर इस प्रकार केवल भाषा-शास्त्र के आधार पर ही संश्लिष्ट भाषाओं की जाति का विचार नहीं किया जा सकता। उसकी शब्दावली का भी इस में भारी प्रभाव होता है। खड़ी-बोली, मरुभाषा, बांगडू, ब्रज, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी आदि में रूपों और प्रत्ययों का काफ़ी भेद है, फिर भी वे हिन्दी ही के अन्तर्गत हैं। इनके बोलने वाले एक दूसरे की बोली समझते हैं। शब्दावली की एकता ही इस में प्रधान कारण है। इस लिए हिन्दी का 'बीसलदेवरासो' पर जितना अधिकार है उतना ही कवितावली पर भी है।

कवितावली के पद श्रृंगार रस के हैं। उनमें राधाकृष्ण नायक नायिका हैं। सम्भवतः इनकी रचना जयदेव के संस्कृत गीतों से प्रभावित होकर की गई है। इन पदों का माधुर्य अपूर्व है। मार्के की बात यह है कि विद्यापति स्वयं शैव थे। इसलिए उनकी गीतावली में एक भक्त की भावना नहीं है, एक श्रृङ्गारी कवि की भावना है। विद्यापति कृष्णभक्तों की परम्परा में नहीं हैं।

उनका एक पद पढ़िए—

सरस बसंत समय भलपावलि, दछिन पवन वह धीरे।
सपनहुँ रूप वचन इक भाषिय, मुख से दूरि करु चीरे।
तोहर वदन सम चांद हो अथि नाहिं, कैयो जतन बिह केला।
कै बेरि काटि बनालय नव कै, तैयो तुलित नहिं भेला।
लोचन तू अ कमल नहिं भै सक, से जग के नहिं जाने?
से फिरि जाइ लुकैलन्दह जल भए, पंकज निज अपमाने।
भन विद्यापति सुनवर जोवित ई सभ लछमि समाने।
राजा शिवसिंह, रूपनरायन 'लखिया देइ, प्रति भाने।

एक ही कवि जब भाषा के आग्रह से दो विभिन्न भाषाओं में रचना करता है तब भाषा का रूप-विस्तार चाहे जैसा भी हो, कवि की एक ही आत्मा उसके काव्य में आ जाती है और यह हम विद्यापति के अपभ्रंश काव्यों और प्रचलित मिथिला-भाषा-काव्यों में देख पाते हैं।

अध्याय छठा

दक्षिण से नवीन हिन्दू-धर्म का उत्तर-भारत की ओर प्रवाह

मसीह की ८ वीं शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक—

भारतीय धर्मक्षेत्र की यह असाधारण घटना है कि वैदिक काल से बुद्ध तक उत्तर-भारत ही हिन्दू-सभ्यता, संस्कृति और धर्म का केन्द्र रहा। हिन्दूधर्म और संस्कृति मूलक साहित्य—वेद, उपनिषद, दर्शन, ब्राह्मण और सूत्र उत्तर-भारत में ही रचे गये, उत्तर-भारत ही में धर्म और समाज के नेता उत्पन्न हुये और सहस्रों वर्षों तक उत्तर-भारत से दक्षिण की ओर हिन्दूधर्म और संस्कृति की गंगा का प्रवाह निरन्तर बहता रहा।

परन्तु मसीह की आठवीं शताब्दी में यह नवीन घटना घटती है। दक्षिण से नवीन हिन्दूधर्म का सबसे प्रथम प्रवाह उत्तर-भारत की ओर प्रवाहित होता है, शंकराचार्य-प्रथम दक्षिण से नवीन धर्मतत्त्व को लेकर उत्तर-भारत में आये और अपने असाधारण सामर्थ्य से उत्तर-भारत में उन्होंने अपने नवीन धर्म का आरोप किया।

शंकराचार्य के कार्यों के महत्व का वर्णन करने से पूर्व हम यहां तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालेंगे तथा धर्म के पेचीले मार्ग पर एक दृष्टि डालेंगे जिस से शंकर के महत्त्व का हमें ज्ञान प्राप्त हो जाय।

तत्कालीन परिस्थिति—

आठवीं शताब्दी के लगभग सम्पूर्ण उत्तर-भारत में बौद्धों के ह्रास के चिन्ह प्रकट हो गये थे। उनके मठों और विहारों की संख्या तो प्रायः सभी बड़े २ नगरों में थी, और उनमें बहुत भिक्षु भिक्षुणियाँ रहती थीं, पर वे अधिकतर अनाचार और अनैतिक पाखण्ड के केन्द्र हो रहे थे। गान्धार-जनपद उजड़ रहा था। वहां बौद्धों के विहार उजड़ रहे थे और हिन्दुओं के मन्दिर बन रहे थे। अफ़गानिस्तान-गन्धार और बलोचिस्तान पर हिन्दू राज्य था। काश्मीर में भी बौद्धों की बहुतायत थी। यही हालत मथुरा, पाटलीपुत्र कान्यकुब्ज की थी। नालंद विश्वविद्यालय वज्रयान सम्प्रदाय का केन्द्र था। पश्चिम देशों की अपेक्षा भारत के पूर्वीय देशों में बौद्ध धर्म अभी सम्पन्न था। केवल प्रयाग और काशी में बौद्धों का अधिक तिरस्कार होता था और शिवलिङ्ग की पूजा नगर नगर में होने लगी थी।

इस समय सम्पूर्ण उत्तर-भारत में प्राचीन वैदिक धर्म के स्थान पर नवीन हिन्दूधर्म स्थापित हो रहा था। वैदिक धर्म से इस नवीन हिन्दूधर्म में दो बड़े भेद थे, एक सिद्धान्त सम्बन्धी दूसरा आचार सम्बन्धी। पुराने धर्म से नए धर्म का सिद्धान्त सम्बन्धी भेद यह था कि पुराने धर्म में तत्त्वों के देवता माने गये थे और सर्वव्यापक ईश्वर की कल्पना की गई थी। नए धर्म में ये देवता मूर्तिमान थे और इन पर परमेश्वर का एक मूर्त 'त्रिदेव' समूह था। यह 'त्रैकत्त्व' नवीन हिन्दूधर्म की एक नई वस्तु थी।

आचार सम्बन्धी नयी बात मूर्तिपूजा थी। वैदिक धर्म में जो महत्व 'यज्ञ' का था, वही महत्व नये धर्म में 'देव-मन्दिर' का हो गया था। और प्रतिमा-पूजन प्रारम्भ हो गया था।

इस काल में राजनैतिक अन्धकार था। कोई प्रबल स्वराज्य-सत्ता देश में न थी। विशेषकर ९ वीं और १० वीं शताब्दी अन्ध-रात्रि थी। इसके बाद ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में जो दिल्ली और अजमेर में राजपूत राज्य स्थापित हुए, उनकी चाल, व्यवहार, पद्धति सब विक्रम और शिलादित्य से निराली थी। इस प्रकार इस अन्ध-रात्रि ने प्राचीन को अर्वाचीन से पृथक् कर दिया था।

धर्म का आधार—

धर्म का आधार आचार है, विचार नहीं। किसी के विचार चाहे जितने उच्च हों और वह चाहे जितना ज्ञानी हो यदि वह घातक, लम्पट और चोर है तो वह महापुरुष या धर्मात्मा नहीं कहा जा सकता। इसीसे नवीन धर्म में विविध क्रियाओं का प्रसार किया गया। क्योंकि क्रिया-कलाप ही से आचार का निर्माण होता है। वह क्रिया-कलाप मानव-अनुभव के आधार पर आचार का निर्माण करता है। भजन, पूजन, भक्ति और ज्ञान आदि स्वयं पुण्य कर्म नहीं, विविध क्रिया-कलाप है, परन्तु परहित-भावना पुण्य है, और उसकी भावना 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' में निहित है, इसलिये यदि पूर्व क्रिया-कलापों से परहित-भावना उदय हो जाय तो वह धर्म-मार्ग है, यह तत्कालीन आचार्यों ने विचार किया।

धर्म का त्रिरूप—

उपनिषदों में 'ज्ञान' प्रधान कर्म है, बौद्धों और गीता का धर्म कर्तव्य-पालन या कर्म-पथ को प्राधान्य देता है। परन्तु विदेशी ईसाई और इस्लामी-धर्म 'विश्वास' को प्राधान्य देते हैं।

प्रथम गीताकार ने, और उसके बाद 'बुद्ध' ने उपनिषद् के ज्ञानधर्म के ऊपर अपना 'सक्रिय-धर्म, प्रवर्तित किया। उपनिषद् का 'निरग्नि', और अक्रिय ज्ञानतत्त्व, सुकर्मों की वृद्धि करता है। इसकी अपेक्षा गीता का कर्म-योग निष्काम-कर्म, और बुद्ध का आचार-सार-गर्भित बौद्ध-धर्म अधिक सार्वजनिक हो गए। परन्तु विदेशियों का विश्वास धर्म इनसे पृथक् था जिसमें मोमिन (विश्वासी पुरुष) की सी प्रतिष्ठा अधिक है, चाहे उसने उस विश्वास के आधार पर कुछ भी काम न किया हो।

विदेशियों का मिश्रण—

यह एक और महत्वपूर्ण बात है जिसकी हम यहां चर्चा करना चाहते हैं। वह यह कि प्राचीन हिन्दुओं ने विदेशी आक्रामकों को अपने धर्म और जाति में मिला लिया था। सबसे प्रथम वैदिक आर्यों ने जब द्रविणा-असुरों आदि से युद्ध किये तो युगान्तर में ये दोनों जातियां मिल गईं। अभी भी द्रविणा ब्राह्मण आर्य ब्राह्मणों के समान ही सामाजिक स्थिति रखते हैं। इसी प्रकार शक, तुर्क, आभीर, सीरियन, गुर्जर, हूण आदि जातियों को आर्यों ने अपने भीतर मिला लिया था। यह काम आर्यों ने राजनैतिक उन्नति और सामाजिक संगठन के विचारों से किया। परन्तु इन जातियों के मिश्रण से आर्यों का प्राचीन धर्म बिल्कुल विकृत हो गया। इन विदेशीय जातियों में अनेक समृद्ध-विचार वाली तथा उन्नत आचार वाली थीं, और वे अपने साथ अपने धर्म के संस्कार, अपने कुल, आचार और परम्परागत विचारों को लेकर हिन्दू-धर्म में मिलकर एक हुए। हिन्दुओं ने आगे चलकर इस जाति-मिश्रण का विरोध मुसलमानों के साथ प्रकट किया और उन्हें सर्वप्रथम अपने से बहिष्कृत किया। इस का कारण यह था कि वे केवल भारत की राजनैतिक सत्ता को अधिकृत करके संतुष्ट नहीं हुए, उन्होंने तलवार के बल पर जबर्दस्ती हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की भी चेष्टा की। इसी से हिन्दू-धर्म का उनके साथ मेल होने की अपेक्षा विरोध ही बढ़ गया।

मूर्ति-पूजन—

ये पश्चिमी एशिया से आई हुई विदेशी जातियाँ जो अनेक आचार साथ लाईं, उन में एक मूर्तिपूजा भी थी।

मिश्र देश में सूर्य की पूजा 'रा' नामक मूर्ति से होती थी। असीरिया में छः हजार वर्ष मसीहपूर्व शिला-लेख मिले हैं जो मूर्तिपूजन की साक्षी देते हैं।

ईसा से १५०० वर्ष पहले इश्तार की मूर्ति मैसोपेटोमिया से मिश्र को धूमधाम से लाई गई थी।

भारत में मूर्तिपूजन—

इसमें सन्देह नहीं कि अब से ५।६ हज़ार वर्ष पूर्व, मसीहपूर्व की तीसवीं-चालीसवीं शताब्दी में भारत की अनार्य जातियां मूर्तिपूजन करती थीं। हरप्पा और मोहेन्जोदड़ो की खुदाई में इस बात के चिह्न मिले हैं कि वहां के अनार्यगण 'शिश्न-पूजक थे। अनार्यों की इस शिश्नपूजा का संकेत हमें ऋग्वेद में भी मिलता है परन्तु हिन्दुओं ने छठी शताब्दी के मध्य तक भी मूर्तिपूजा को नहीं अपनाया था।

फ़ाहियान विदेशी यात्री जिस ने मसीह की ४थी शताब्दी में भारत-यात्रा की थी, क़ाबुल से लेकर आसाम तक कहीं एक भी मूर्ति या मन्दिर नहीं देख पाया। उसने सिर्फ़ पाटलीपुत्र में बौद्धों की रथ-यात्रा देखी थी जिसे बौद्ध निकालते थे और जिसमें बुद्ध की बैठी हुई मूर्ति बनाई गई थी।

परन्तु ह्वेनसांग चीनी यात्री जिसने सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारत में प्रवेश किया, गान्धार से लेकर पूर्वी और दक्षिणी सुदूर सीमाओं तक अनेक देव-मन्दिर प्रत्येक बड़े नगर में देखता आया था। उसने बौद्धों के विहारों का उजड़ता और हिन्दुओं के मन्दिरों का पनपता हुआ रूप देखा था।

बौद्धों की महायान शाखा ने बुद्ध की मूर्ति की सांकेतिक प्रतिमाएँ प्रारम्भ में बनाईं। इनके उदाहरण हम सांची के स्तूपों में देख सकते हैं जो मसीह से पूर्व दूसरी शताब्दी के हैं।

शैवमत—

शैव मत की सब से प्रथम स्थापना दक्षिण में हुई। अनार्य लोग नवीन हिन्दू धर्म में प्रविष्ट हुए तो वैदिक 'रुद्र' का प्रतीक उन्होंने 'शिवलिङ्ग' कल्पित किया। इसमें दो भावनाएँ थी। ये प्राचीन अनार्यजन भूतप्रेत का भी पूजन करते थे। यह पूजन भयमूलक था। इधर वैदिक देवताओं में सभी सौम्य, दिव्य गुण वाले देवता थे केवल 'रुद्र' ही भयमूलक था। 'रुद्र' का अर्थ है—रुलाने वाला। इसी से उन्होंने शैव धर्म का स्वरूप बनाया और कुछ वैदिक और कुछ द्रविड़ अनार्य पद्धति पर रुद्र-लिङ्ग की पूजनविधि प्रचलित की और अपने भूतप्रेतों को उनके गणों में मिश्रित कर दिया। इस प्रकार रुद्र के प्रतीक देवता का प्रभाव यजुर्वेद के काल तक बहुत बढ़ गया था। रुद्र और शिव इस काल में मिश्रित हिन्दू-जाति के देवता बन चुके थे तथा स्थान २ पर उनके मन्दिर बनने लगे थे।

ईसाइयों के रौमनकैथलिक सम्प्रदाय में ईसा और मेरी की मूर्तियां केवल साम्य के लिए दिखाई जाती हैं, पूजी नहीं जातीं । वे उनके आगे मोमबत्ती जलाते हैं और प्रणाम भी करते हैं परन्तु यह पूजन नहीं है । किन्तु हिन्दूधर्म में मूर्ति-स्थापन के बाद उसमें विशिष्ट-देवता का वास कराने के अभिप्राय से उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कराई जाती है । और तब वे देवता के समान मानी जाती हैं ।

तीर्थों की स्थापना—

इन देव-मन्दिरों, तथा नदी, तालाब आदि के उपकूलों पर भी बहुत तीर्थस्थान बन गए और लोगों ने वहां देवता के दर्शन के लिए यात्राएँ प्रारम्भ कर दीं और उनके माहात्म्य भी कहे जाने लगे ।

शंकराचार्य—

इस प्रकार प्राचीन आर्यों के धर्म के नाश होने पर बौद्धों के क्षीयमाण प्रकाश में जब इस नवीन हिन्दूधर्म का यह स्थूल-रूप निर्माण हो रहा था तभी शंकराचार्य ने दक्षिण से उत्तर में प्रवेश किया । उन्होंने प्राचीन उपनिषद् का 'ज्ञानतत्त्व' और अर्वाचीन गीता का 'कर्मयोगतत्व' मिला कर एक नवीन तर्कसम्मत मत प्रकट किया ।

प्राचीनकाल के आर्यों की दो वैदिक शाखाएँ थीं । एक ज्ञानकाण्डी, जो उपनिषद्पन्थी थे—दूसरे कर्मकाण्डी जो 'ब्राह्मण-पन्थी' थे । बौद्धों ने जब वैदिक धर्म को छिन्न-भिन्न कर दिया तो नई संक्षिप्त भाषा में दर्शनों का निर्माण हुआ । इन दर्शनों में प्राचीन वैदिक दोनों पन्थों पर दो नए दर्शन लिखे गये । उपनिषद् के 'ब्रह्मतत्त्व' पर उत्तरमीमांसा या वेदान्त और ब्राह्मणों के 'कर्मकाण्ड' पर पूर्वमीमांसा । ये पूर्वमीमांसाकार जैमिनि-उपनिषद्-पन्थ के परम शत्रु थे । एक बात और थी । उपनिषद् का 'ब्रह्मतत्त्व' क्षत्रियों ने और ब्राह्मणों का 'कर्मकाण्ड' ब्राह्मणों ने अपना लिया था । और दोनों ही वेदों को अपना समर्थक बताते थे । उपनिषद्पंथी राजा लोग जनक विदेह जैसे यद्यपि ब्राह्मणों की कर्मकाण्ड-विधि पर यज्ञ करते थे परन्तु वे अपने 'ब्रह्मज्ञान' की बातें ब्राह्मणों से छिपाते रहते थे, आसानी से बताते नहीं थे ।

मण्डनमिश्र—

शंकर जब उत्तर-भारत में आए तब उनकी मुठभेड़ काशी के धुरन्धर पण्डित मण्डनमिश्र से हुई, जो पूर्वमीमांसावादी थे । उन्होंने उन्हें

शास्त्रार्थ में हराया और उन्हें अपने वेदान्त-भाष्य पर वार्तिक लिखने को विवश किया।

शंकर का मत—

यद्यपि शंकराचार्य दक्षिण से शैव सम्प्रदाय के सन्यासी होकर चले थे पर उन्होंने पाशुपत मत का भी खण्डन किया; और शिवलिङ्ग पूजन का विरोध किया जो तंत्र-मूलक था। तत्कालीन पाशुपत आम्नाय के शिरोमणि आचार्य नीलकण्ठ को उन्होंने शास्त्रार्थ में परास्त किया। शंकर ने छान्दोग्य उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' वाक्य से 'अद्वैतसिद्धान्त' स्थापित किया। इसके अनुसार जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध की। उनके धर्म-सिद्धान्त का निष्कर्ष यह था कि—जीवात्मा की सत्ता व्यावहारिक मात्र है। प्रकृति का शुद्ध रूप 'बुद्धि' है और शुद्ध बुद्धि ग्राही है। सो वह परमात्मा का प्रतिबिम्ब ग्रहण करके जीवात्मा का रूप बनाती है। यह जीवात्मा अविद्या के कारण अपने को परमात्मा से पृथक् मानता है, और अपने विचारों के अनुसार शरीर पाकर पुनर्जन्म पाता हुआ जब सुकर्मों द्वारा अविद्या से दूर हो जाता है तब जल में जल की भांति परमात्मा से अभिन्न हो जाता है।

प्रकृति को शंकर ने व्यावहारिक सत्ता मान कर संसारोत्पादन के परिणाम-वाद को 'विवर्तवाद' के रूप में वर्णन किया और 'मायावाद' का सिद्धान्त स्थापित किया।

शंकर के इस तर्कपूर्ण धर्म का विद्वानों ने स्वागत किया। उपनिषद् और गीता का यह मिश्रण विचारशील जनों को पसन्द आया। शंकराचार्य ने अपने चार प्रमुख शिष्यों को भारतवर्ष की चार दिशाओं में चार मठ स्थापित कर वहां 'अद्वैत सिद्धान्त' के प्रचार की आज्ञा दी। उनका एक मठ दक्षिण में शृङ्गेरीमठ के नाम से, दूसरा पूर्व में जगन्नाथ मठ के नाम से, तीसरा पश्चिम में द्वारिका में और चौथा बद्रीनारायण के पास अब तक स्थापित है।

शंकर के बाद—

शंकर के बाद २-३ सौ वर्ष तक कोई पूर्ण पण्डित भारत में शंकर जैसा प्रबल नहीं उत्पन्न हुआ। ११वीं तथा १२वीं शताब्दी में बिहार तथा बंगाल में तान्त्रिक मत की प्रबलता हुई और दक्षिण में १०वीं शताब्दी में वैष्णव भावना का प्रभाव अंकुरित हुआ।

दक्षिण के वैष्णव—

दक्षिण के वैष्णव आचार्यों में ४ प्रमुख हैं। १ रामानुजाचार्य २ मध्वाचार्य ३ निम्बार्कस्वामी ४ विष्णुस्वामी।

रामानुजाचार्य १०१६ ई०—

आपने नारायण को प्राधान्य दिया और मूर्ति को आराध्य, सेव्य और उपास्य माना। आपने आत्मा के बद्ध, मुक्त और नित्य तीन रूप माने। और शंकर के अद्वैत में थोड़ा परिवर्तन करके अपना धर्म-सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत बनाया। इन्होंने जैनों से बहुत शास्त्रार्थ किये। अवतारों को प्रधानता नहीं दी। और न कृष्ण पूजा को। केवल नारायण की ही मुख्यता रखी।

निम्बार्क स्वामी ११६२—

आप रामानुजाचार्य के शिष्य थे। इनके समय में दक्षिण में शैव मत का बहुत प्राबल्य था। आपने कृष्ण के साथ राधा का जोड़ा मिलाकर परकीया विधि पर एक प्रकार के वाममार्ग की पूजा प्रचलित की। आपने पूर्वी भारत में अपने सम्प्रदाय को बहुत विस्तार दिया और अन्त में वृन्दावन में निवास ग्रहण किया। आप ही के प्रभाव से जयदेव पण्डित और विद्यापति ने राधाकृष्ण सम्बन्धी शृङ्गारी रचनाएँ रचीं तथा उत्तरकालीन कवियों ने उनका अनुसरण किया।

मध्वाचार्य ११९०—

आपने शंकर के मायावाद और अद्वैतवाद के विपरीत लक्ष्मी और विष्णु की पूजा प्रचलित की। कृष्ण को भी मान्य किया, परन्तु राधा को नहीं। दक्षिण में कृष्ण, रुक्मिणी-वल्लभ प्रसिद्ध हैं जिस प्रकार उत्तर-भारत में राधाकृष्ण। आपने द्वैतमत स्थापित किया। माध्व-सम्प्रदाय में राम और कृष्ण पूजन की भी शाखाएँ हैं।

विष्णु स्वामी १२००—

ये मध्वाचार्य के शिष्य थे। ये शिव और विष्णु दोनों को मानते थे। बंगाल के चैतन्य प्रभु और वृन्दावन के हितहरिवंश जी इन्हीं के सम्प्रदाय में हैं। विष्णुस्वामी राधाकृष्ण को मानते थे।

मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना—

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैवमत दक्षिण से चलकर बङ्गाल और युक्त-प्रान्त के मध्यभाग तक प्रचलित हो गया और वैष्णव-मत भी वहीं से चलकर बंगाल, बिहार

तथा अवध में फैलता हुआ मथुरा वृन्दावन पहुँचा और वहां से मारवाड़ और गुजरात तक विस्तार पा गया। इसी समय अर्थात् १२वीं शताब्दी के अन्त में मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हो गया। इन्होंने भारत की राज्य-सत्ता से संतुष्ट न होकर भारत में बलपूर्वक मुसलमानी मत फैलाने के प्रयत्न, साढे तीन सौ वर्षों तक जारी रखे। परन्तु हिन्दुओं का धर्म, जीवन और संस्कृति उनके राज्य-सामर्थ्य से कहीं अधिक संगठित थी। मुसलमानों को उन्हें आत्मसात् करने में पूरी सफलता नहीं मिली, जैसी कि अन्य पश्चिमी एशिया के अन्य देशों में उन्हें प्राप्त हो चुकी थी। फिर भी हज़ारों जन मुसलमान हो गये। और निरन्तर एक शताब्दी-भर तो ऐसा अशान्त वातावरण रहा कि इस बीच एक भी कवि, लेखक या कलाकार देश में उत्पन्न नहीं हुआ।

मुसलमानों ने जब बलपूर्वक हिन्दुओं को मुसलमान बनाना आरम्भ किया, तब हिन्दुओं को सामाजिक संगठन की आवश्यकता हुई, और इन दक्षिण के धर्माचार्यों के नेतृत्व में हिन्दुओं ने अपनी पुरानी परिपाटी, जो नवागन्तुक अनार्य-जातियों को समाज का अङ्ग बनाकर तथा उनके साथ रोटी-बेटी के सम्बन्ध स्थापित कर सामाजिक सङ्गठन करने की थी, त्यागकर मुसलमानों का पूर्ण सामाजिक बहिष्कार किया। यहां तक कि उनको अस्पृश्य घोषित कर दिया और इनके प्रतिरोध में भक्ति-वाद के सामूहिक रूप में छोटे-बड़े, नीच-ऊँच पंडित और मूर्ख सभी को एक घेरे में घेर कर सुरक्षित कर लिया जिससे वे हिन्दू-धर्म और समाज से च्युत न होने पावें। इस प्रकार छोटे से बड़े तक धर्म का रूप सबको स्पर्श कर गया। इससे धर्म में मोटापन तो आ गया, परन्तु सङ्गठन दृढ़ हो गया। इस काल में मुसलमानों का बहिष्कार करके जो उन्हें अपने से अलग रखने की विधि निकाली थी, इसने सामाजिक नियम का रूप धारण किया।

तर्कवाद और भक्तिवाद की १० वीं शताब्दी—

शङ्कराचार्य ने यह चेष्टा अवश्य की कि हिन्दू-समाज की धर्म-भावना में गीता और उपनिषद् की सूक्ष्म भावना का विस्तार किया जाय। परन्तु मुसलमानों के धर्म-आन्दोलन के कारण उसका आगे समर्थन नहीं हुआ, और १० वीं शताब्दी में वैष्णव संघ ने शांकर तर्कवाद को थोड़ा साथ रखकर भक्तिवाद का मेल करके इच्छापूर्वक धर्म में स्थूल तत्व कायम किया।

इसमें धर्म-नेताओं ही का बस नहीं था। समाज की रुचि और आवश्यकता भी ऐसी ही थी क्योंकि उपदेश सदैव लोक-स्वीकृति पर ही चलते हैं।

संसार की जैसी दशा होती है और लोगों की मानसिक शक्ति जितनी होती है वैसे ही उपदेशों को जनता पसन्द करती है।

इसी से हम देखते हैं कि शंकर के काल तक समाज-संगठन की प्रधानता, सीरियनों, तुर्कों, शकों, गुर्जरों, आभीरों, हूणों आदि की हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज में मिला लेने की आवश्यकता तथा उन लोगों की मानसिक उन्नति के अनुसार समय के साथ धर्म बदलता रहा। और जब शंकर ने उसमें स्थूल, तर्कहीन आचार तथा निष्प्राण जीवन पाया तो सूक्ष्म तर्कवाद और सोहंतत्व प्रतिपादन करके उसे शुद्धतर करना चाहा। उसका प्रभाव भी पड़ा। उससे हिन्दू-धर्म का बड़ा उत्थान हुआ। परन्तु तभी मुसलमानों के आने और उत्पात करने से यह तार्किक-धारा रुक गई और भक्तिवाद का उदय हुआ जिसने समाज को संगठित तो किया, पर धर्म-तत्व की कुछ उन्नति नहीं हुई।

रामानन्द स्वामी; १५वीं शताब्दी—

मसीही १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रामानन्द स्वामी ने उत्तरी-भारत में फिर एक नई बलवती धार्मिक लहर उत्पन्न की। वे बड़े भारी वक्ता और दृढ़ स्वभाव के पुरुष थे। इन्होंने समाज-संगठन की रही-सही त्रुटियों को भी पूरा कर दिया। रामानुजाचार्य के वैश्यधर्म में शूद्रों और अन्त्यजों का प्रवेश न था। परन्तु रामानन्द ने शूद्रों और मुसलमानों तक को संतों में दाख़िल कर लिया। फिर भी उन्होंने यह काम ऐसी चतुराई से किया कि गृहस्थों के जातिवाद को तनिक भी बाधा नहीं पहुंचाई। यदि उस समय रामानन्द स्वामी जातिवाद के विरुद्ध आन्दोलन करते तो आज हिन्दू जाति का कहीं पता भी न लगता। आप ही ने सर्वप्रथम हिन्दी में प्रचार किया। इसका फल यह हुआ कि युक्त-प्रान्त और विहार जो मुस्लिम साम्राज्य के उन दिनों केन्द्र थे, की छयासी प्रतिशत जनता में हिन्दुत्व की रक्षा हो गई। पंजाब और बंगाल यद्यपि उन दिनों मुस्लिम प्रभाव से दूर थे फिर भी सिखों ने जो जाति-निन्दा की उसके कारण और बंगाल में शूद्रों के सामाजिक अपमान के कारण इन प्रान्तों में अधिक हिन्दू मुसलमान हो गये। युक्त-प्रान्त के धार्मिक प्रभाव से मध्यभारत मुसलमानी संख्या-वृद्धि से बच गया।

रामानन्द की शिष्य परम्परा—

रामानन्द स्वामी ने हनुमान आदि की वीरपूजा भी प्रचलित की तथा सीताराम की ऊँची भक्ति का मान किया। साथ ही भरत, शत्रुघ्न, लक्ष्मण के व्यूह-पूजन को अपनाया और राम रहीम की एकता का प्रचुर प्रचार किया।

इनके शिष्यों की परम्परा में कबीर और तुलसी जैसे महापुरुष आए। आज हम कह सकते हैं कि आज का हिन्दू-धर्म 'तुलसी-धर्म' है।

कबीर आपकी शिष्य-परम्परा की दूसरी विभूति हैं। ये भक्त भी थे, पर निर्गुणवाद इनकी विशेषता थी। इनके विचार अद्वैत-पद्धति पर और उपनिषद् को स्पर्श करते हैं। सूफ़ी भावना भी इनमें थी। ये तीखे पाखण्ड-खण्डन करने वाले, साफ़ दिल के संत थे। जात-पांत और हिन्दू-मुस्लिम झगड़े से तटस्थ थे। इन्हीं के प्रभाव से नानक ने प्रभावित होकर पंजाब में सिख-सम्प्रदाय स्थापित किया।

इनके सिवा पीपा, (गागरौनगढ़ के राजा) भवानन्द, सेन नाई, नामदेव आदि भी इनकी शिष्य-परम्परा में थे।

वल्लभाचार्य १५००—

वल्लभाचार्य पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उत्तर-भारत के धर्मक्षेत्र में पदार्पण करते हैं। इनके समय तक कृष्ण-पूजा सम्बन्धी वैष्णव-सम्प्रदायों की अनेक शाखाएँ स्थापित हो गई थीं। रामानन्द के बाद आप ही ऐसे आचार्य हैं जिनका महान् प्रभाव हिन्दी साहित्य के निर्माण पर पड़ा है। कहना चाहिए कि व्रजभाषा का सम्पूर्ण कृष्ण-साहित्य आप ही की शिष्य-परम्परा में है। इनके भक्ति सम्बन्धी विचार निम्बार्क स्वामी की समता के तथा दार्शनिक विचार विष्णु स्वामी की समता के हैं। आपके प्रभाव से मारवाड़ और गुजरात में वैष्णव पन्थ का बड़ा भारी संगठन हुआ।

इस प्रकार युक्तप्रान्त में, कहना चाहिए भारत की प्राचीन विद्या-नगरी में, रामानन्द और वल्लभाचार्य के नेतृत्व में वैष्णवों की दो धाराएँ प्रवाहित हुईं—एक राम-भक्ति दूसरी कृष्ण-भक्ति धारा।

वल्लभाचार्य की शिष्य-परम्परा में सूरदास (अष्टछाप के कवि) हरिदास स्वामी, और मीरा जैसे सरस कवि प्रकट हुए।

अध्याय सातवां

निर्गुण-बानी

बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय से पृथक् होकर नाथ-पंथी योगियों ने एक नवीन पंथ खड़ा किया था, जिस की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। आगे बढ़ कर उन्होंने पंजाब और राजपूताने में अपना प्रभाव जमा लिया था। इनका क्रम १५वीं शताब्दी के मध्य तक चला आता रहा। इस सम्प्रदाय के कनफटे योगी घट के भीतर के चक्र-सहस्र-दल-कमल, इला-पिंगला नाड़ियों इत्यादि की ओर संकेत वाली बानी रहस्यमयी भाषा में सुनाते थे, वेद-शास्त्र पढ़ना, ज्ञान-अर्जन करना, पूजा-विधि, सब की निन्दा करते तथा हिन्दू, मुसलमान, नीच, ऊँच सब पर समभाव रखते थे।

इस सम्प्रदाय में वज्रयानियों का वाम-मार्ग, शाक्तों और शैवों का भी कुछ मिश्रित रूप लेकर तथा हठ-योग के साथ वज्रयान के शून्यवाद को मिला कर एक 'अलखनिरंजन' पंथ का स्वरूप बना लिया गया था।

ज्ञानेश्वर १३वीं शताब्दी—

तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इस पन्थ के प्रसिद्ध नाथ, गोरखनाथ के शिष्य गहनीनाथ दक्षिण में पहुंचे। उन से प्रसिद्ध विद्वान् निवृत्तिनाथ ने दीक्षा ली। ज्ञानेश्वर इनके छोटे भाई और शिष्य थे। ये पंढरपुर के निवासी थे, जहां बिठोवा या बिट्ठलनाथ जी का मन्दिर है। यह अद्वैतवादी पंथ का मन्दिर है। इसमें भक्ति को मूल और ज्ञान को फल माना है। इसमें महाराष्ट्र के अनेक संत हो गये हैं, जिन्होंने ज्ञान और भक्ति की अनेक रचनाएँ कीं।

इनकी-हिन्दी-रचना का उदाहरण देखिए—

निर्गुन सागर अथक पसारा, वाको तरंग सकल संसारा।
उद्भव परलय बातें होई, लेना एक और देना दोई॥

नामदेव जन्म १२७०—

इनके सहस्रों मराठी पद्य अभंगतया हिन्दी में पाए जाते हैं। आप जाति से छीपी थे और दर्जी का कार्य करते थे। आपकी बाल्यावस्था से ही ईश्वर-भक्ति की ओर अभिरुचि थी। आपने भक्ति का खूब प्रचार किया। भक्ति-क्षेत्र में इन्होंने जाति-भेदभाव का बहिष्कार रखा। भक्ति-रस से प्लावित होकर आपने बड़े ही अच्छे-अच्छे पदों की रचना की। उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित रचना देखिए—

भाई रे इन नैनन हरि पेखो।
हरि की भक्ति साधु की संगति, सोई यह दिल लेखो॥
चरन सोई जो नचत प्रेम से, कर सोई जो पूजा।
सीस सोई जो नवै साधु को, रसना और न दूजा॥
यह संसार हाट की लेखा, सब कोउ बन जहिं आया।
जिन जस लादा तिन तस पाया, मूरख मूल गंवाया॥

नामदेव की हिन्दी रचनाएँ दो प्रकार की पाइ जाती हैं। एक सगुण भक्ति की, जो व्रजभाषा या परम्परागत काव्य-भाषा में है। दूसरी निर्गुन बानी। यह नाथपंथियों के समान फक्कड़ी भाषा में है। सगुण भक्ति की एक कविता का उदाहरण ऊपर दिया है, अब इनकी फक्कड़ी भाषा की भी बानगी देखिए—

पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लैकरि ठैंगा ठेंगरी तोरी लंगत लंगत आती थी॥
पांडे तुम्हारा महादेव धौल बलद चढ़ा आवत देखा था।
पांडे तुम्हारा रामचन्द्र सो भी आवत देखा था॥
रावन सेती सरबर होई, घर की जोय गंवाई थी।
हिन्दु अन्धा तुरकौ काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना॥
हिन्दु पूजै देहरा, मुसलमान मसीत।
नामा सोई सेविया, जहं देहरा न मसीत॥

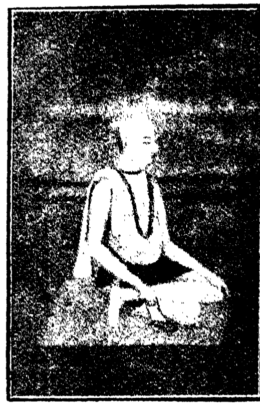
इन उदाहरणों से आप देख सकते हैं कि मूल वस्तु ईश्वर के प्रति भक्ति-भावना तो इन संतों के हृदयों में अंकुरित रही। परन्तु भेद थोड़ा बहुत पड़ता गया। इस भेद के कारण भक्ति के अनेक रूप हो गए, जो इस प्रकार विभाजित किये जा सकते हैं।

भक्तिवाद
- निर्गुण
  - ज्ञानाश्रयी
  - प्रेमाश्रयी
- सगुण
  - कृष्ण-भक्ति
  - राम-भक्ति

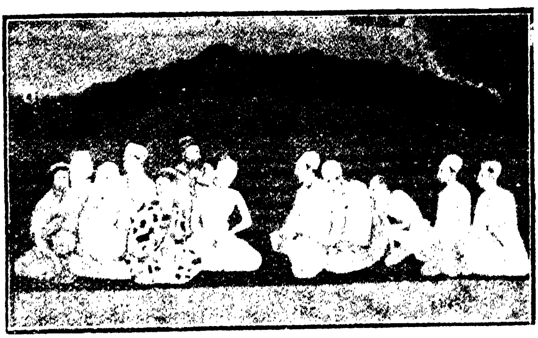
ईश्वर-भक्ति के कुछ मार्ग प्राचीन काल से भारत में प्रचलित थे। उन में योग-मार्ग, कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और उपासना-मार्ग भी थे। योग-मार्ग और कर्म-मार्ग प्राचीनतर थे। यही योग-मार्ग बौद्धों पर वज्रयान और सहजयान शाखा में विकृत रूप धारण कर के, तान्त्रिक और वामाचार के रूप में बहुत दिनों तक फैला। उसी में से कुछ योग कुछ ज्ञान लेकर नाथों ने नया पंथ राजपूताना और



मीराबाई



धर्मध्वज तुलसीदास



ज्ञानी कबीर अपनी शिष्य-मंडली में बैठे उपस्थित परिषद्
को अपनी वाणी से व्यामोहित कर रहे हैं



नवाब अब्दुलरहीम ख़ानख़ाना



महाकवि वृन्द

पंजाब में फैलाया, अब इन्हीं की शिष्य-परम्परा में दक्षिण में निर्गुण-मार्ग का ज्ञान और उपासना-मार्ग से मिश्रित एक स्वरूप प्रकट हुआ जिसके प्रवर्तक ज्ञानदेव और नामदेव थे। पर नामदेव ने निर्गुण पंथ को कोई व्यवस्थित रूप नहीं दिया। व्यवस्थित रूप उसे कबीर ने ही दिया यद्यपि इन कर्महीन निर्गुण पंथियों के विरोधी भी कम न थे, तुलसीदास जी कहते हैं—

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि, निन्दहिं वेद पुरान॥

अध्याय आठवां

ज्ञानी कबीर

जन्म ई० सन् १४००; मृत्यु सन् १५१९, पूर्णायु ११९ वर्ष

आपने देखा कि नाथ सम्प्रदाय से 'नामदेव' पृथक् हो गये हैं। वे उनकी भांति योग के चमत्कारों की कोई चर्चा नहीं करते। उनकी भांति उनमें शैवतत्त्व और फक्कड़पन भी नहीं है। हां खरी बात कहने का साहस है, परन्तु वे दूसरी ओर भगवद्भक्ति के सामने नत-मस्तक हैं, वे एक सगुण संश्लिष्ठ निर्गुण उपासना का मार्ग अन्वेषण करते हैं। वे सिद्धियों और चमत्कारों से पाक साफ़ हैं। यद्यपि उन्हीं की सिद्धियों की लोग चर्चा करते हैं, पर वे अपने को सिद्ध नहीं, 'भक्त' व्यक्त करते हैं। फिर भी वे शुद्ध निर्गुण तत्त्व के प्रचारक नहीं रह जाते। उनमें सगुण भक्ति कहीं-कहीं उदय होकर उन्हें सगुण और निर्गुण दोनों ही धाराओं में खींच ले जाती है।

कबीर—

नामदेव के बाद इस मार्ग पर चलकर ज्ञानमार्ग को परिष्कृत करने वाले कबीर हैं। वे रामानन्द के शिष्य होने के कारण तथा काशी के दिग्गज पण्डितों के संसर्ग और संघर्ष में रहने के कारण, दार्शनिक और अद्वैतवाद के सूक्ष्मदर्शी हो जाते हैं। साथ ही मुसलमान होने से और सूफ़ियों के संस्पर्श से 'प्रेमतत्त्व' और अमूर्त भावना से ओतप्रोत हो जाते हैं। वैष्णव-सम्पर्क में अहिंसा और प्रपत्तिवाद को

हृदयंगम करते हैं। फक्कड़ों की लहर में नाड़ी-चक्र और इड़ा पिंगला नाड़ी पर भी विचार करते हैं। इस प्रकार इन में नाथों, वैष्णवों, सन्तों, मुसलमानों और सूफ़ियों की भावनाओं का एक मिश्रण पाया जाता है, इन सब के ऊपर इनका अपना व्यक्तित्व है जो निर्भय द्रष्टा और सामर्थ्यवान है । उसके आधार पर ये हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रतिपादन और रूढिवाद का खण्डन करते हैं । उसी रूढ़िवाद के खण्डन के चपेट में हिन्दुओं का मूर्तिपूजन, व्रत, अवतारवाद और मुसलमानों के पैगम्बर रोज़ा, नमाज़, कुरबानी सब कुछ आजाता है । कबीर इन दिखाऊ झंझटों से दूर हट कर जब ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद, सृष्टि और प्रलय की चर्चा एक ब्रह्मज्ञानी दार्शनिक की भांति करते हैं तो पूरे ज्ञानमार्ग के पददर्शक के रूप, में हमारे सामने उपस्थित होते हैं; संक्षेप में वे शुद्ध ईश्वर-तत्त्व और सात्विक-जीवन के प्रचारक हैं।

परिचय; जन्म सन १४०० ई०—

उनके विषय में कहा जाता है कि वे किसी विधवा ब्राह्मणी की संतान थे। जिसने उन्हें जन्मते ही एक तालाब के पास फेंक दिया था । अकस्मात् नीरू जुलाहे की उस बालक पर नजर पड़ गई और वह उसे उठा लाया, यही बालक सयाना होने पर साधु संतों की संगत करता, और काशी के गंगा घाट पर घूमता रहता था । एक दिन अकस्मात् रामानन्द स्वामी से साक्षात् होगया और उन्होंने उसे राम नाम का उपदेश दिया ।

बड़े होने पर कबीर ने जुलाहे का धन्धा भी किया, और कविता भी रचने लगे । धीरे धीरे उनकी प्रतिभा से चमत्कृत होकर इनके चारों ओर काफी भक्त-मण्डली जुटने लगी । वे अपने को रामानन्द का शिष्य कहते थे । परन्तु शीघ्र ही इन्होंने अपने राम को रामानन्द के राम से पृथक् रूप दे दिया । उन्होंने खूब देसाटन किया । हिन्दू और मुसलमान दोनों ही संतों का संसर्ग किया । जिनमें उजी के पीर और शेखतकी प्रमुख थे । यह सत्संग ही उनका अध्ययन था। उनकी असाधारण प्रतिभा के कारण शीघ्र ही उनके मुख से तीखी, व्यंग्यपूर्ण, मर्मभरी और रहस्यपूर्ण वाणियां निकलने लगीं । जो आज भी वैसा ही आदर पा रही हैं जैसा उस समय, जब कि यह संत उनका निर्माण कर रहा था ।

कबीर का व्यक्तित्त्व अत्यन्त अद्भुत है—वे अशिक्षित थे । उन्होंने जितनी कविता की वह मौखिक थी । बीजक में आपने स्वयं लिखा है :—

मसि कागज छूयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ युग का महातम, कबिरा मुखहिं जनाई बात ॥

कबीर ने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे किंतु केवल मुख से कहे । इनके शिष्यों ने उन्हें लिपि-बद्ध किया । ऐसी दशा में उनमें बहुत कुछ अदल-बदल हो जाना संभव है । उन्होंने एक ही विचार को सैकड़ों प्रकार से कहा है, उसमें एक ही भाव प्रतिध्वनित होता है । उसमें वे राम-नाम की महिमा गाते हैं, एक ही ईश्वर को मानते हैं, कर्मकांड के घोर विरोधी और सख्य-भाव के अविचल भक्त हैं । अवतार, मूर्ति, रोजा, ईद, मसजिद, मंदिर आदि को नहीं मानते । अहिंसा के कट्टर उपासक हैं ।

कबीर के ग्रन्थ—

इन्होंने बहुत से ग्रन्थ रचे । उनमें ७५ ग्रंथ अब तक खोज से प्राप्त हुए हैं, इनके मुख्य ग्रंथ बीजक और आदि ग्रंथ हैं । कबीर के बीजक में ८४ रमैनी, ११५ शब्द, ३५३ दोहों की साखी तथा ज्ञान चौतीसा, विप्रबतीसी, कहरा, वसंत, चांचरा, वेलि, विरहुली और हिंडोल सम्मिलित हैं । उपर्युक्त तीनों भागों के अतिरिक्त शेष भाग बहुत छोटे-छोटे हैं । कबीर के सब ग्रंथों का विषय एक ही है । किसी में कोई कथा-प्रसंग नहीं, सब में मुक्तकों द्वारा तथा नये २ छन्दों में कबीर के सिद्धान्तों का कथन है ।

कबीर ने अपने ग्रंथों में ईश्वर का सब से अधिक वर्णन किया है । यथा—

मोको कहां ढूंढता बंदे, मैं तो तेरे पास में ।
ना मैं छगरी, ना मैं मेंठी, ना मैं छुरी-गंडास में ॥
नहिं खाल में, नहिं पूँछ में, ना हड्डी, ना मांस में ।
न मैं देवालय, ना मैं मसजिद, ना कावे-कैलास में ॥
मैं तो रहों सहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में ।
कहै 'कबीर' सुनो भई साधो, सब सांसों की सांस में ॥

कबीर ने उल्टवांसियां बहुत सी कही हैं । इनमें देखने को तो उल्टा कथन किया जाता है, किन्तु आध्यात्मिक अर्थ लगाने से वह ठीक बैठ जाता है । इसीलिये इन्हें उल्टवांसी कहते हैं । इन्हीं से मिलते हुए बहुत-से ऐसे कथन हैं, जो संकेत में किए गए हैं; और जिनका अर्थ साधारण पाठक कठिनता से लगा सकते हैं । 'पांच पचीस को दमन करौ' एक ऐसा ही वाक्य है । वैदिक-साहित्य का कुछ स्वाद कबीर की रचना में कहीं-कहीं मिलता है । यथा—

'बांधे अष्ट कष्ट नौ सूता' यहां अष्ट से योग, कष्ट से ज्ञान, नौ से नवधा-भक्ति और सूत से जीव का प्रयोजन है ।

चिउंटी जहां न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय।
आवागमन कि गम नहीं, तहं सकलो जग जाय॥

यहां चिउंटी से बानी का प्रयोजन लिया गया है, और राई से बुद्धि का। उल्टवांसी के एक-दो उदाहरण देखिए:—

पहले जनम पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पीछे।
बाप सूत की एकै नारी, ई अचरज कोई काछे॥
इंदुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी।
स्वान वापुरा घरनि ढ़ाकनो, बिल्ली घर में दासी॥
कार दुकार कार करि आगे, बैल करै पटवारी।
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, भैंसे न्यात्र निवारी॥

इत्यादि सब कथनों से आध्यात्मिक अर्थ न केवल निकाले गए हैं, वरन् कबीर ने जान-बूझकर उपदेशों को भड़कीला बनाने के विचार से उल्टे कथनों द्वारा भी गूढ़ धार्मिक अर्थ निकालने की विधि रखी है।

उपमा और तत्तुल्य अलंकार का समावेश भी कबीर की रचना में जहां-तहां पाया जाता है। यथा—

पतिबरता पति को भजै, और न आन सुहाय।
सिंह-बचा जो लंघना, तो भी घास न खाय॥
संत न छांड़े संतई, कोटिक मिलै असंत।
मलय भुजंगन बेधिया, सीतलता न तजंत॥
'कबिरा' संगति साधु की, ज्यौं गंधी की वास।
जो कुछ गंधी दे नहीं, तो भी मिलै सुबास॥ इत्यादि।

कबीर ने कर्मकांड पर सदैव घोर अश्रद्धा प्रकट की है:—

मूड़ मुड़ाए हरि मिलै, सब कोइ लेइ मुंड़ाय।
बार-बार के मूड़ते, भेड़ न बैकुंठ जाय॥
पूजा, सेवा, नेम, व्रत, गुड़ियन का-सा खेल।
जब लग पिउ परसे नहीं, तब लग संसय मेल॥ इत्यादि।

अहिंसा—

अहिंसा का कबीर ने सदा प्रतिपादन किया। मुसलमान होकर भी कबीर ने हिंसा से घृणा दिखलाई:—

मैं तुहिं पूछौं मूसलमाना, लाल जर्द का ताना-बाना।
काजी काज, करौ तुम कैसा, घर-घर जबै कराओ वैसा॥

बकरी, मुरगी, किनकर माया, किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।
दर्द न जानै पीर कहावैं, वैता पढ़ि-पढ़ि जग समुझावैं।
कह 'कबीर' सैयद कहलावैं, आप सरीखा जगत भुलावैं॥

उपदेश—

कबीर ने उपदेश और चेतावनियाँ भी बहुत अच्छी कही हैं:—

मांगन गे सो मरि रहे, मरे सो मांगन जाहिं।
तिनसे पहिले वे मरे, होन कहन जे नाहिं॥
अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप॥
गो-धन, गज-धन, बाजि-धन, और रतन-धन-खान।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान॥ इत्यादि।

चेतावनी—

ऐसी गति संसार की, ज्यौं गाड़र की ठाट।
एक पड़ी जेहि गाड़ में, सबै जाय तेहि बाट॥
चलती चक्की देखिकै, दिया 'कबीरा' रोय।
दुइ पट भीतर आयकै, साबुत गया न कोय॥ इत्यादि।

मन—

मनके विषय में भी कबीर ने अच्छे २ छन्द कहे हैं:—

केसन कहा बिगारिया, जो मूंडौ सौ बार।
मनको क्यों नहिं मूंड़िए, जामें विषय--विकार॥
मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, सो साधू कोउ एक॥ इत्यादि।

उसका व्यक्तित्व—

कबीर का व्यक्तित्व जीवन की ज्योति से जगमग था। वह आदर्श कवि और भावुक व्यक्ति था। उसका जुलाहे का धन्धा करते रहना उसकी महान् निष्ठा थी। वह प्रतिभा और श्रम को मिलाना चाहता था और उसका एक उदाहरण मनुष्य जाति के सामने रखना चाहता था।

वह सांसारिक हुआ, पति और पिता बना। परन्तु उसके संत हृदय ने कहा—

नारी तो हम भी करी, कीया नहीं विचार।
जब जानी तब परि हरी, नारी बड़ा विकार॥

काशी जैसे रूढ़ि और कट्टरता के केन्द्र में, विद्वानों और दार्शनिकों के सन्मुख अभय होकर कट्टर मुसलमान और कठोर हिन्दू दोनों ही के पाखण्डवाद

को उसने उच्च स्वर से धिक्कारा, उसका जीवन एक विद्रोह और प्राण स्वतन्त्रता, समानता और पवित्रता से ओत-प्रोत था। उसने अभय वाणी से मन्दिर, मस्जिद प्रतिमा, तीर्थ, शास्त्र, हदीस, पुराण, पुरोहित, मुल्ला सभी को 'ठग' कहा। उसने कहा—

जिन दुनियां में रची मजीद,
झूठों रोजा झूठी ईद।
करता किरतिम वाजी लाई,
हिन्दु तुरक दुइ राह चलाई।

इन सब गुमराहियों से अलग—जो मन्दिरों, मस्जिदों और रोजे-नमाज़ में ब्रह्म को ढूंढते हैं—वह एक निराली ही खोज करता है। वह कहता है—

कहां गयो तन वीछुरे, दूरि बसे जे वास।
नैना ही अन्तर पड़ा, प्राण तुम्हारे पास।

विरोधियों और दुख देने वालों से खीज कर वह कहता है—

मारी मरे कुसंग की, केरा के ढिंग बेर।
वह हालै वह अंग चिरै, विधिने संग निवेर।

अकारण ही केला बेरी के पास रहने के कारण उसके कांटों से चिपटा जा रहा है, यह विधाता की धांधली है। फिर भी कबीर कोरा भाग्यवादी नहीं है, वह जीवन के युद्ध में डटा हुआ है। वह उद्ग्रीव होकर कहता है।

सूरा सोइ सराहिऐ, लड़े धनी के हेत।
पुरजा पुरजा होइ रहे, तऊ न छांड़े खेत।

❀ ❀ ❀

सूरा सोइ सराहिए, अंग न पहिरे लोह।
जूझे सर बन्द खोलकर, छाड़े तन का मोह।

इन दोहों में कबीर का सम्पूर्ण साहस केन्द्रित है।

वह व्यक्ति और विश्वात्मा को किस भांति एकीभूत करता है। यह भी देखिए—

यह तत वह तत एक है, एक प्राण दुई गात।
अपने जिया से जानिये, मेरे जिय की बात।

❀ ❀ ❀

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकाश।
तिनका तिनके से मिला, तिनका तिनके पास।

वह उस अदृश्य-प्रिय की ओर भी कैसी लालसा रखता है। देखिये—

नैनों की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय॥

❀ ❀ ❀

नैनों अन्तर आव तू, नैन झांपि तोहि लेव।
ना मैं देखूं और को, ना तोहि देखन देव।

❀ ❀ ❀

जब मैं था तब गुरु नहीं, जब गुरु है हम नाहिं।
प्रेमगली है सांकरी, ता में दो न समाहिं॥

कबीर के इस उत्कट शुद्ध-प्रेम को देख कर डा० सूर्यकान्त कहते हैं—

"वह परमात्मा को प्रणयी, पति, गुरु के रूप में भजता है, उसकी भावना प्रेममयी है, स्वर्ग का सुगन्धित-उच्छ्वास है, कबीर की दुनिया स्वर्गधाम का टूटा हुआ एक टुकड़ा है। जिस पर वह और उसका प्रणयी बैठे हुए केलि करते हैं और संसार की किशोरावस्था का आनन्द लूटते हैं। प्रेम की इस आभा में विज्ञान का क्षेत्र रुचिर बन जाता है और उसमें समदृष्टि का आलोक खिल जाता है। कबीर का संसार प्रणयी की प्रणय-लीला है, केलि-क्रीड़ा है, उसके प्रमोद का उपवन है, इसमें भेद नहीं, रोक-टोक नहीं, कुल परंपरागत रूढ़िवाद नहीं, यह है प्रेम का दरबार, रसिकों का अन्तःपुर, और मतवालों का रासमण्डल। इसमें प्राणों की बाजी है।.........उसकी दृष्टि में प्रेम परमात्मा का प्रकाश है। और आनन्द इसकी क्रिया है"। (हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास)

कबीर का भावयोग—

कबीर का भावयोग त्रैगुणातीत है। वह भय और प्रेम के भावयोग में मगन है। वह अपने उस प्रिय के अत्यन्त निकट होने पर भी उसे पा नहीं सकता है। यही उसका वैकल्य है। उसी वैकल्य में वह कहता है।

अस जोलाहा का मर्म न जाना, जिन जग आइ पसार लताना।
महि अकास दुइ गाड़ बनाई, चन्द्र सूर्य दुइ नए भराई।
सहसतार लै पूरिन पूरी, अजहूँ बिनै कठिन है दूरी।
कहहि कबीर करम सो जोरी, सूत कुसूत विनै भल कोरी।

(रमैनी)

जीवन्मुक्त कबीर—

कबीर जीवन्मुक्त होने पर भी कर्म-योग का हामी है। वह कहता है—

निराकार थी आरसी, साधौ ही की देह।
लखा जो चाहे अलख को, इन ही में लख लेह।
हरि से तू जनि हेतकर, कर हरिजन से हेत।
माल मुलुक हरि देत हैं हरिजन हरि हीं देत।

परन्तु प्रेम के इन मधुर उपदेशों की अवहेलना पर वह खीझ भी उठता है। खीझ कर वह कहता है—

हंसा हो चित चेतु सवेरा,
इन्ह परपंच करत-बहुतेरा।
पाखण्ड रूप रच्यो इन्ह तिरगुन,
यहि पाखण्ड भूला संसारा।
घर को खसम वधिक औ राजा,
परजा काधों करै विचारा।

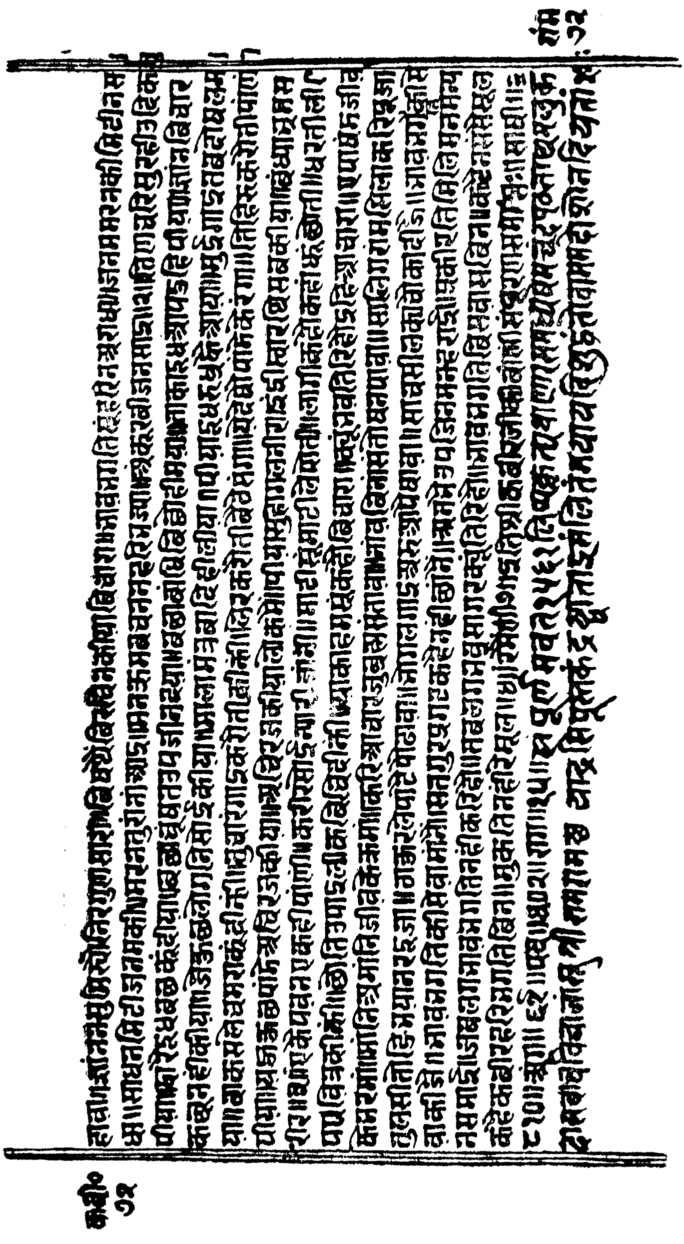
इस क्रुद्ध प्रबोधन में कबीर आत्म-विस्मृत हो जाता है।

इस सन्त तत्त्वदर्शी को जादूगर, पाखण्डी कह कर काशी के लोगों ने तत्कालीन बादशाह सिकन्दर लोदी के पास पेश किया था। बादशाह ने यह जान कर कि यह पण्डित, पण्डा, मुल्ला, मन्दिर-मस्जिद सब की निन्दा करता है, उसे काशी से देश-निकाला दे दिया। उस समय इस महात्मा का शरीर जरा जर्जर हो चुका था। काशी छोड़ते समय यह ज्ञानी प्रेम-पन्थी इस प्रकार रोया जैसे नई बाला पहिली बार पीहर के विछोह में रोती है—

मोरे बाबुल दीन्हों गवनवाँ, मैं तो चली हूँ सइयाँ के नगरवा।
आ मोरी गुइयाँ गरे लागो हमरे, फेर के न होइ है मिलनवा॥
अंत विदा हो चली है दुलहिन पिय पिय लगी रटनवा।
कहे कबीर सुनरी दुलहिन पिय के घर ले चरनवा॥

और फिर वह देश-देश घूमता हुआ अपने जीवन की सन्ध्या में अपनी पीड़ा इस भांति बिखेरता फिरा।

कबिरा जंत्र न बाजई,
टूटि गये सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करे,
चला बजावन हार॥



'कबीर की वाणी' की संवत् १५६१ में लिखी प्राचीन प्रति का एक पृष्ठ।

कबीर की महान् प्रतिभा से चमत्कृत होकर प्रसिद्ध भाषाविद् सर जार्ज-ग्रियर्सन मानों असंयत होकर कह उठे—

"ओह, क्या ही आश्चर्य का पुतला यह कबीर था ? एक तुच्छातितुच्छ मुसलमान जुलाहा—जिसने चालाकी से वैष्णव-सम्प्रदाय में प्रवेश पाया, हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जिसे घृणा की दृष्टि से देखते थे, एक मुसलमान बादशाह ने जिसे अपने हाथों सताया, बनारस के पुजारी जिसके पीछे हाथ धोकर पड़े रहते थे, अदम्य उत्साह के साथ हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के विरोध में अपने को खड़ा करता है और अन्त में विजय प्राप्त करता है। दोनों धर्मों के निर्बल पहलुओं पर उसने आक्रमण किए, दोनों ही के प्रकारवाद तथा कर्मठता का उस ने प्रत्याख्यान किया, दोनों ही के ऊपर उसने विजय-वैजयन्ती फहराई, और दोनों धर्मों के अनुयाइयों में से लाखों को अपना चेला बनाया। उसने अद्वैतवाद ही की स्थापना नहीं की, प्रत्युत् सिख-धर्म के संस्थापक नानकदेव को भी धर्म की दीक्षा दी और अपना चेला बनाया।"

(J. R. A. S. 1918, The Bijak of Kabir)

अध्याय नवाँ

ज्ञान-पन्थ

कबीर का प्रभाव—

कबीर का समाज पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा, इसका हमें पता तब चलता है जब हम कबीर के विचारों के संस्पर्श से अनेक दृढ़व्रती सन्तों को उसी परम्परा पर अपने सम्प्रदाय स्थापित करते देखते हैं। हमें इन सम्प्रदायों की चर्चा इस लिये करनी पड़ी है कि इन सब सम्प्रदायों का सम्पूर्ण साहित्य लगभग हिन्दी भाषा में ही है।

कबीर पन्थ—

कबीर-पन्थ की दो शाखाएँ हैं। एक का केन्द्र बनारस में कबीर-चौरा है—दूसरी का मगहर, जहां कबीर का स्वर्गवास हुआ था।

दोनों शाखाओं के साहित्य में काफ़ी भेद है। कबीर मूर्ति-पूजा के विरोधी थे, माला भी नहीं पहनते थे, पर इन पन्थों के महन्त और भक्त माला पहिनते हैं और कबीर साहब की मूर्ति को ईश्वर के प्रतिनिधिरूप में पूजते हैं । कबीर-पंथियों के साहित्य के केवल दो ग्रन्थ मिलते हैं । एक 'सुख-निधान' जिसका संकलन १८वीं शताब्दी में हुआ और दूसरे का नाम 'अमर-मूल' है जिस का काल भी वही है ।

गुरु नानक; ई० स० १४७०—



गुरु नानक और उनका सिख सम्प्रदाय कबीर के प्रभाव वाले सम्प्रदायों में सब से अधिक सबल और महत्त्वशाली है ।

नानक का जन्म लाहौर के निकट एक छोटे से गांव में हुआ, थोड़ी ही अवस्था में आप का विवाह हो गया, तथा दो पुत्र भी उत्पन्न हुए। ज्येष्ठ पुत्र श्रीचन्द ने आगे चलकर सिखों की शाखा में उदासी पन्थ प्रचलित किया ।

गुरु नानक बचपन ही से साधु प्रकृति के थे। पंजाब में मुसलमानों की अधिकता होने से हिन्दू लोग भी एकेश्वरवाद के महत्त्व पर ध्यान देने लगे थे। नानक के मन में भी मूर्तिपूजन की अपेक्षा एकेश्वरवाद का बीज अंकुरित हुआ। उन्होंने जब देश-देश का भ्रमण किया, तब काशी में कबीर के पास जाकर उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई । और वहां से लौटकर समन्वयात्मक सिख धर्म की पञ्जाब में स्थापना करने के लिये अपने शिष्य मर्दाना को साथ लेकर वे पञ्जाब के गाँव गाँव में अपने और अन्य सन्तों के निर्गुण पद गाते फिरे। वे यद्यपि अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे, पर भक्ति के आवेश में वे जो पद गाते थे, वे ही गुरु मन्त्र हो गये, और उन्हें सन् १६०५ में संकलित करके लिख लिया गया, तथा वही ग्रन्थ साहब अब तक सिखों का पूज्य धर्म-ग्रन्थ है। उन्होंने अपने शिष्यों के लिये 'जपी' नामक एक ग्रन्थ और रचा, जिसमें प्रतिदिन की पूजा पाठ के लिये अच्छे-अच्छे पद एकत्रित किये गये ।

उनकी भाषा में पञ्जाबीपन मिला है। पद और भाव सीधे सादे हैं। उनमें संसार की अनित्यता, भगवद्भक्ति और सत्स्वभाव की बातें कही गई हैं।

एक उदाहरण देखिये—

> **काहे रे बन खोजन जाई।**
> **सर्व निवासी सदा अलेपा, तो ही संग समाई॥**

पुष्प मध्य ज्यों वास बसत है, मुकर माहिं जस छाई।
तैसे ही हरि बसत निरन्तर, घर ही खोजो जाई॥
बाहर भीतर एकै जानो, यह गुरु ज्ञान बताई।
जन नानक बिन आपा चीन्हें, मिटै न भ्रम की काई॥

\+ × +

यह संसार रैन दा सुपना, कहीं देखा कहिं नाहिं दिखाया।
सोच विचार करो मत मन में, जिन ढूंढा तिन पाया॥

इस सम्प्रदाय में आगे दश गुरु हुए, और सामाजिक संघर्ष के कारण सिखों का सीधा-सादा भक्त-धर्म वीरों का सिंह-धर्म बन गया।

नानक के पश्चात् सिखों के ९ गुरु हुए। वे प्रायः सब अच्छे कवि थे। सिखों के ग्रन्थ साहब का सन् १५४९ में छठे गुरु अर्जुनदेव ने संकलन किया। इसमें दसों गुरुओं की वाणियों का संग्रह है। गुरुओं की वाणी के सिवा उन चरणों के भी पद जो गुरुओं की सेवा किया करते थे, तथा नामदेव, कबीर, आदि भक्तों की भी रचनाएँ सम्मिलित कर ली गई हैं। पदों का संग्रह कर्ताओं के कालक्रम से नहीं है, गान विद्या के ३१ रागों के अनुसार है।

दसवें गुरु के सिवा अन्य सब गुरु नानक को अपना आराध्य देव मानते हैं। नानक की बनाई 'जप्पी' ग्रन्थ के आदि में लगी है। उसके बाद सोदरू, सोपुर्खु, तथा सोहिले रखे गये हैं। ये सब गीत भक्ति के हैं। रागों के बाद भोग भाग है जिसमें स्तुति तथा श्लोक सम्मिलित हैं। यह ग्रन्थ साहब एक भारी पोथा है, और उसकी अधिकांश भाषा प्राचीन हिन्दी है।



गुरु गोबिन्दसिंह—सिखों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह अंतिम गुरु हैं। ये व्रजभाषा के भी अच्छे कवि थे। पंजाबी और फारसी में भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं। इन्हें वीरतापूर्वक औरंगज़ेब के अत्याचारों का सामना करना पड़ा और इन्होंने सिख धर्म को नया वीर रूप दिया, तथा इन्होंने भक्ति के स्थान पर वीर रस की उत्तेजनापूर्ण कविताएँ रचीं। इनकी वाणियों का संग्रह सन १६७८ में किया गया। जो दसवें गुरु जी का ग्रन्थ कहाता है और उत्तेजना दिलाने को पढ़ा जाता है। इस संग्रह में एक नाटक भी सम्मिलित है जिसमें गुरु गोविंदसिंह के जीवन तथा उनके उद्देश्यों का वर्णन है।

दादू दयाल; ई० स० १५५४—

आपकी जाति के विषय में बड़ा विवाद है। दादूपंथी आपको गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और किंवदन्ती में धुनियां प्रसिद्ध हैं। आपने कबीर-पंथ से मिलता-जुलता अलग अपने 'दादू-पंथ' का सूत्रपात किया। इनके ५२ शिष्य थे, जिन्होंने ५२ ही दादू-द्वारों की स्थापना की। इनका मुख्य केन्द्र राजस्थान ही है। दादू जी की वाणी लगभग ५००० पदों का संग्रह है। इसमें ३७ अध्याय हैं। इसमें दैवी, गुरु, स्मरण, वियोग, सम्मिलन, मन, सत्य, भलाई, विश्वास, प्रार्थना आदि विषय प्रमुख हैं। ये रचनाएँ राग और ताल के अनुकूल होने से घर-घर गाई जाती हैं जो अधिकतर मौखिक हैं। दादू पंथी वैरागी और गृहस्थी दोनों रूपों में मिलते हैं। भाषा राजस्थानी से प्रभावित पश्चिमी हिन्दी है। खड़ी बोली की भी उसमें पुट मिलती है। इनके भक्ति विषयक पद रसीले और गम्भीर हैं। यथा—

हरि रस माते मगन भये।
सुमिरि सुमिरि भये मतवाले, जीवण मरण सब भूलि गये॥
निर्मल भगति प्रेम रस पीवैं, आन न दूजा भाव धरैं।
सहजैं सदा राम रंगि राते, मुकुति बैकुंठै कहा करैं॥

इनके पदों की भाषा मिलती जुलती, पश्चिमी हिन्दी है। कुछ पद गुजराती और मरुभाषा के भी हैं। इनकी रचना में पूर्वी हिन्दी नहीं है।

सुन्दरदास; ई० स० १५९७—

सुन्दरदास जयपुरान्तर्गत द्यौसा नामक ग्राम निवासी थे। जाति के वैश्य थे। और दादू के प्रधान शिष्य थे; और शिक्षित थे। भक्त के साथ ये कवि भी उच्च कोटि के थे। ये राग-रागिनियों से युक्त पदावली के अतिरिक्त प्रथम श्रेणी के साहित्यिक कवित्त और सवैये ही अधिक मात्रा में रचते थे। इन का हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी, संस्कृत और फ़ारसी पर समान अधिकार था। इनका काव्य सर्वत्र साहित्यिक, परिमार्जित, सरस एवं भावपूर्ण है। इनकी सी भाव-विविधता अन्य सन्त कवियों में कम ही मिलती है। उदाहरण-स्वरूप इनकी रचना का नमूना देखिए—

देषौ भाई आज भलौ दिन लागत।
वरिषा रितु को आगम आयौ बैठि मलारहि रागत॥
राम नाम के बादल उनये घोरि घोरि रस पागत।
तन मन मांहि भई शीतलता गये विकार जुदागत॥
जा कारन हम फिरत वियोगी निश दिन उठि उठि जागत।
सुन्दरदास दयाल प्रभु सोइ दियौ जोइ मांगत॥

रैदास जी; १४वीं शताब्दी—

आप महात्मा कबीर के समकालीन और रामानन्द स्वामी के १२ प्रमुख शिष्यों में से एक थे, और जाति के चमार थे। आपने अपने व्यवसाय के लिए पवित्र तीर्थ काशी को चुना था। जितने भी सन्त कवि हुए उन सब में आपके पद सरस और भावपूर्ण हैं। आप एक सिद्ध सन्त थे। यद्यपि आपने अपने पदों में सगुण नामों को ही प्रयुक्त किया है, किन्तु भावना निर्गुण ब्रह्म की ही है। उदाहरण-स्वरूप आपकी रचना का एक अंश देखिए—

अब कैसे छुटै नाम रट लागी ॥ टेक ॥
प्रभु जी तुम चंदन हम पानी। जाकी अंग अंग बास समानी ॥
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती। जा की जोति बरै दिन राती ॥
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा ॥
प्रभु जी तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ॥
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥

इनका नाम धन्ना और मीराबाई ने बड़े सत्कार से लिया है। काशी से पश्चिम की ओर आपका विशेष प्रभाव पड़ा। साध नाम का एक सम्प्रदाय फ़र्रुखाबाद और मिर्जापुर में है जो रैदास ही की शिष्य-परम्परा में है।

इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। फुटकर पद बहुत हैं। कोई कोई तो बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं—

जब हम होते तब तू नाहीं। अब तू ही, मैं नाहीं।
अतल अगम जैसे लहरि मह उदधि, जल केवल जल मांहीं।

लालदास; ई० १५९२—

इस पन्थ के प्रवर्तक लालदास हैं। ये अलवर रहते थे। इनके मत में राम-भक्ति ही मुक्ति का साधन है। 'बानी' नामक एक ग्रन्थ आपने रचा है।

साध-सम्प्रदाय; ई० १६०२—

इस पंथ के स्थापक बीरभान थे। इनकी रचना शब्द तथा साखियों के रूप में 'आदि-उपदेश' नामक ग्रन्थ में है। पंथ की संगत में ये पद गाए जाते हैं।

धरणीदास; ई० १६००—

जात के कायस्थ छपरा-निवासी थे। इनका ग्रन्थ 'सत्यप्रकाश' है। इनका अलग सम्प्रदाय है।

इनका एक पद यह है—

हरिजन हरि के हाथ बिकाने।
भावै कहो जग धिक् जीवन है, भावैं कहो बौराने॥
जाति गंवाय अजाति कहाए, साधु संगति ठहराने।
मेरो दुख दारिद्र परानो, जूठन खाय अघाने॥
पांच जने परबल परपंची, खलहि परे वे दिखाने।
वट मजूरी भये हजूरी, साहब के मनमाने॥
निरममता निरबैर सभन तैं, निरसंका निरबाने।
धरनी काम राम अपने तैं, चरन कमल लपटाने॥

यारी साहब; ई० १५५६—

ये दिल्ली में रहते थे। केशवदेव और बुल्ला साहब इनके शिष्य थे। बुल्ला साहब के शिष्य गुलाल साहब और इनके शिष्य भीखा साहब हुए। ये दोनों १८वीं शताब्दी के मध्य में हुए। इनका एक पद—

हौं तो खेलौं पिया संग होरी॥
दरस परस पति बरता पिय की, छवि निरखत बौरी॥
सोरह कला संपूरन देखौं, रवि ससि भे इक ठौरी॥
जब तें दृष्टि परो अविनासी, लागो रूप ठगौरी॥
रसना रटत रहत निस बासर, नैन लगो यहि ठौरी॥
कह यारी भक्ती करु हरिको, कोई कहै सो कहौरी॥

बुल्ला साहब; ई० सन् १६९४—

देखो पिया काली घटा मो पै भारी॥
सूनी सेज भयावन लागी, मरौं विरह को जारी॥
प्रेम प्रीति यहि रीति चरन लगु, पल छिन नाहिं बिसारी॥
चितवत पंथ अंत नहिं पायो, जन बुल्ला बलिहारी॥

केशवदास; ई० सन् १६९४—

निरमल कंत हम पाया। कोटि सूर जाकी निर्मल काया॥
प्रेम विलास अमृत रस भरिया। अनुभौ चंवर रैन दिन ढरिया॥
आनंद मंगल सोहं गावैं। सुख सागर प्रभु कंठ लगावैं॥
सत्य पुरुष धनि अति उजियारी। कोटि भानु ससि छवि परवारी॥
तेज पुंज निर्गुन उजियारा। कह केसो सोई कंत हमारा॥

चरणदास; ई० सन् १६४७—

ये दूसर बनिये थे। इन्होंने दिल्ली में अपने सम्प्रदाय की स्थापना की, जिस की परंपरा अब तक है। इनका मत भी कबीर से मिलता है। इस पंथ में संस्कृत

का उपयोग नहीं होता, हिन्दी का ही होता है। भागवत और भगवद्गीता का अनुवाद आंशिक रूप से चरणदास जी ने किया था। उन्होंने और भी रचनाएँ कीं। इनकी दो शिष्याएँ सहजोबाई तथा दयाबाई अच्छी भक्त-कवि हुई। दयाबाई ने सन् १७०० के लगभग दयाबोध बनाया था।

शिवनारायण जी; ई० सन् १६७८—

इन्होंने गाजीपुर के पास अपने पंथ की स्थापना की। इसमें हिन्दू मुसलमान दोनों ही का प्रवेश है। कहते हैं मुग़ल बादशाह मुहम्मदशाह ने भी यह सम्प्रदाय अंगीकार किया था। कहा जाता है इन्होंने १६ काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं परन्तु प्राप्त नहीं हैं।

गरीब दास जी; ई० सन् १७१०—

ये कबीर की शिष्य परंपरा में थे। इनका पृथक् पन्थ है। इसमें केवल द्विज ही प्रविष्ट हो सकते हैं। गरीबदास जी के रचे ग्रन्थसाहब में २४००० साखी और चौपाइयां हैं। ये रोहतक जिले के छुरनी गांव के निवासी थे।

रामसनेही; ई० सन् १६६२—

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामचरण राजपूताना में रहते थे। पहिले ये मूर्तिपूजक थे, पीछे इन्होंने रामसनेही पंथ स्थापित किया। इनके पन्थ वाले साधु कहाते हैं। इनका उपदेश 'वाणी' नामक पुस्तक में संग्रहीत है। सम्प्रदाय के तीसरे गुरू दूल्हाराम ने सन् १७२० में १० हजार शब्द तथा ४००० साखी रचीं।

सतनामी और जगजीवनदास; १६५६ ई०—

यह सम्प्रदाय स्थापित तो प्रथम से था, परन्तु इसका सङ्गठन जगजीवनदास ने किया। ये लखनऊ और अयोध्या के बीच कोटवा नामक स्थान में रहते थे। ये नाम मात्र के निर्गुणी हैं। अवतार और देवताओं को मानते हैं।

इनके ग्रन्थों में 'महाप्रलय' और 'ज्ञानप्रकाश' प्रसिद्ध हैं। इनके शिष्य दुलनदास अच्छे कवि थे। इस पन्थ के अनुयायी जलालीदास और देवीदास ने कविता की है।

प्राणनाथ; ई० १८ वीं शताब्दी—

प्राणनाथ पन्ना निवासी थे, और छत्रसाल के गुरु थे। जाति के क्षत्रिय थे। उनके सम्प्रदाय में हिन्दू मुसलमान और ईसाइयों का भी समीकरण है।

इस सम्प्रदाय के जन 'धामी' भी कहलाते हैं। क्योंकि ये परमात्मा को धाम के नाम से पुकारते हैं। इस पन्थ के हिन्दू मुसलमान पंगत में साथ बैठकर खाते-पीते हैं, पर घरों में अपने अपने रीति रिवाजों को ही मानते हैं। प्राणनाथ ने पद्यों में १४ ग्रन्थ बनाए। इनमें फ़ारसी अरबी शब्दों की बहुतायत है। इन सब सम्प्रदायों का आदि मूल कबीर का उपदेश है। ये सब मूर्तिपूजा के विरोधी हैं, और कबीर की भांति सूक्ष्म-ब्रह्म की उपासना करते हैं।

अध्याय दसवां

ज्ञान-पन्थी सन्त

सदना—

आपको नामदेव का समकालीन समझा गया है। आप जाति के कसाई थे। आपकी शालिग्राम जी में अटल भक्ति थी और उसी से मांस तोला करते थे। अन्त में सांसारिक क्षणिक सुखों से पराङ्मुख होकर ईश्वर-भक्ति में तल्लीन हो गए। आपके पद भक्ति-रस से लबालब भरे हुए हैं। एक नमूना देखिए

नृप कन्या के कारने, एक भयो भेष धारी।
कामारथी सुवारथी, वाकी पैज संवारी॥
तव गुन कहा जगत-गुरा, जो कर्म न नासै।
सिंह सरन कत जाइये, जो जंबुक ग्रासै॥
एक बूंद जल कारने, चातक दुख पावै।
प्रान गये सागर मिलै, पुनि काम न आवै॥

पीपा जी—

आप गागरौनगढ़ के राजा थे, और आरंभ में श्री दुर्गादेवी के अनन्य उपासक थे। तत्पश्चात् आप श्री रामानन्द की संगति के प्रताप से विरक्त होकर श्रीकृष्ण के उपासक बन गए। श्रीकृष्ण के दर्शनों की लालसा से आप समुद्र में कूद पड़े, किन्तु सात दिवस के पश्चात् निकल आए। आप भी उच्च कोटि के भक्त माने जाते हैं। आपके पदों में अखिल भक्ति-स्रोत प्रवाहित हो रहा है :—

काया देवा काया देवल, काया जंगम जाती।
काया धूप नैवेद्य, काया पूजों पाती॥
काया बहु खंड खोजते, जब सिद्धि पाई।
ना कछु आइवो, ना कछु जाइवो, राम की दुहाई॥
जो ब्रह्मण्डे सोई पिंडे, जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रनवै परम तत्त्व ही सतगुरु होय लखावै॥

धर्मदास—

आप जाति के वैश्य थे। आप कबीर के प्रधान शिष्य थे, और कबीर के पश्चात् गद्दी के उत्तराधिकारी आप ही बनाए गए। आप भी कबीर की तरह बचपन से ही भक्ति-धारा में बह चले थे। पहले आप सगुणोपासक थे, बाद को कबीर की संगति से कबीर-पंथ के अनुयायी हो गए थे। आपका भक्तों में बड़ा आदर-सम्मान है। आपकी भाषा भी कबीर की अपेक्षा कोमल और भावपरिपूर्ण है। आपने भी अनेक ग्रंथों की रचना की। आपकी रचना में रहस्यवाद और प्रेमतत्त्व का ही प्राधान्य है। यद्यपि आपने होली, बारहमासा, बसन्त आदि पर अपनी लेखनी चलाई। इनके पदों में भाषा स्वाभाविक है और संगीत का अधिक प्रवाह है। उदाहरण स्वरूप आप की रचना का नमूना देखिए—

नैन दरस बिन मरत पियासा॥टेक॥
तुम हीं छाड़ि भजूं नहिं औरै, नाहिं दूसरी आसा॥
आठों पहर रहूँ कर जोरी, करिलेहु आपन दासा॥
निसु बासर रहूँ लवलीना, बिनु देखे नहिं बिश्वासा॥
धरमदास बिनवै कर जोरी, दो निज लोक निवासा॥
गुरु पैयां लागौं नाम लखा दीजोरे॥टेक॥

मलूकदास—

आप जाति के खत्री थे। आप निर्गुणपंथियों में सर्वश्रेष्ठ भक्त थे। आपकी गद्दियां देश भर में चारों ओर फैली हैं—कड़ा, जयपुर, गुजरात, सीताकोपल (दक्षिण), नेपाल, तथा काबुल तक में मिलती हैं। आपके पदों की भाषा सुव्यवस्थित और सरस है। ओज और स्वाभाविकता की पर्याप्त मात्रा है। अरबी और फ़ारसी के शब्दों का स्वाभाविक-सा प्रयोग किया है। आपने पदों के अतिरिक्त कुछ कवित्त-रचना भी की है जो बहुत ही भावपूर्ण है।

तेरा मैं दीदार दिवाना।
घड़ी घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहिब रहमाना॥
हुआ अलमस्त खबर नहिं तन की, पीया प्रेम पियाला॥

ठाढ़ होऊं तो गिरि गिरि परता, तेरे रंग मतवाला ॥
खड़ा रहूँ दरबार तुम्हारे, ज्यों घर का बंदा जादा।
नेकी की कुलाह सिर दीये, गले पै रहन साजा ॥
तौजी और नमाज न जानूं, ना जानूं धरि रोजा।
वांग जिकिर तब ही से बिसरी, जब से यह दिल खोजा ॥
कहैं मलूक अब कजा न करिहौं, दिल ही सों दिल लाया।
मक्का हज्ज हिये में देखा, पूरा मुरसिद पाया ॥

रज्जब; जन्म सन् १५३९—मृत्यु सन् १५९९—

आप महात्मा दादूराम के शिष्य थे। इनकी एक पुस्तक 'रज्जब की बानी' मिलती है, जिसका रचना-काल सं० १६२५ से १६५० तक के बीच में जान पड़ता है। इनकी रचना में उर्दू और फ़ारसी के शब्दों का बाहुल्य है। इनकी बानी में भिन्न-भिन्न विषयों पर की गई कविताएँ हैं। गुरु दादूराम की प्रशंसा में लिखे गये कुछ दोहे नीचे लिखे जाते हैं—

"रज्जब रहिए राम में, दादू के प्रसाद।
नातरु जाता देख तू, जनम अमोलक वाद ॥
गुरु दादू देखत कटे, जीव के कोटि जंजीर।
जन रज्जब मुकते किये, पाया पूरा पीर ॥

ईश्वर की स्तुति-विषयक लिखे गये दोहे भी बड़े सुन्दर हैं—

रज्जब राम रहीम कहि, आदि पुरुष करि याद।
सदा सनेही सुमिरिये, जनम न जावे बाद ॥
दरद बिना क्यों देखिये, दरसन दीन दयाल।
रज्जब विरह वियोग बिन, कहां मिले सो काल ॥
जाति-पांति कुल सब गए, राम-नाम के रंग।
रज्जब लागा लाह ज्यों, पारस का परसंग ॥

रज्जब भी साधु ही थे, अतः साधुओं की प्रशंसा इन्होंने खूब की है। उदाहरणार्थ कुछ दोहे दिये जाते हैं :—

सज्जन सुधा सुसंपती, सकल सुखन की रासि।
दुर्जन दुख दारुण दुसह, पीड़ा प्राणहु पासि ॥
साधू घट अमृत भई, संसारी विष बेलि।
जन रज्जब गुण समझिकै, पीछे मुख में मेलि ॥

दरिया साहब; (बिहार वाले) ई० स० १६७५—

अबके बार बकस मोरे साहब। तुम लायक सब जोग हे ॥
गुनह बकसिहौं सब भ्रम नसिहौं। रखि हौं आपन पास हे ॥

अवै बिरिछि तरि लै बैठै हो। तहवां धूप न छांह हे॥
चांद न सूरज दिवस नहिं तहवां। नहिं विसु होत विहान हे॥
अमृत फल मुख चाखन दैहौ। सेज सुगन्धि सुहाय हे॥
जुग जुग अचल अमर पद दैहौ। इतनी अरज हमार हे॥
भौ सागर दुख दासन मिटि है। छुटि है कुल परिवार हे॥
कह दरिया यह मंगल मूला। जह फूले फुलवार हे॥

दरिया साहब (मारवाड़ वाले); ई० सन् १५७७—

नाम बिन भाव करम नहिं छूटै ॥टेक॥
साधु संग औ रामभजन बिन, काल निरन्तर लूटै॥
मल सेती जो मल को धोवै, सो मल कैसे छूटै॥
प्रेम का साबुन नाम का पानी, दुई मिलि तांता टूटै॥
भेद अभेद भरम का भांडा, चौड़े परि परि फूटै॥
गुरु मुख सबद गहै उर अन्तर सकल भरम से छूटै॥
राम का ध्यान धरहु रे प्रानी, अमृत का मेंह बूटै॥
जन 'दरियाव' अपर ये आया, जरा मरन तब टूटै॥

तुलसी साहब; ई० सन् १७८९—

जिन हिरदे गुरु संत नहीं। उन नर औतार लिया न लिया॥
सूरत बिमल विकल नहिं जाके। बहु वक ज्ञान किया न किया॥
करम काल बस उम्र निहारा। जग बिच मूढ़ जिया न जिया॥
अगम राह रस रीति न जानी। बहु सत्संग किया न किया॥
नाम अमल घट घोंटि न पीया। अमल अनेक पिया न पिया॥
मोरे मात जात जिंदगी में। सिर धरि पैर छुवा न छुवा॥
तुलसीदास साध नहिं चीन्हा। तन मन धन न दिया न दिया॥

पलटू साहब; ई० सन् १७९४—

साहब के दास कराय पारो, जगत को आस न राखिये जी।
समरथ स्वामी को जब पाया, जगत से दीन न भाखिये जी।
साहिब के घर में कौन कमी, किस बात की अंतै आखिये जी।
पलटू सुख दुख लाख परै, यहि नाम सुधा रस चाखिये जी।

अक्षर अनन्य; ई० सन् १६५४—

ये दतिया रियासत के कायस्थ थे। कुछ दिन दतिया के दीवान रहे। फिर विरक्त होकर रहने लगे। प्रसिद्ध राजा छत्रसाल इनके शिष्य थे। ये वेदान्त के ज्ञाता और पंडित थे। इन्होंने वेदान्त योग पर कई ग्रन्थ राजयोग, विज्ञान-

योग, ध्यान-योग, सिद्धान्त-योग, विवेक-दीपिका, ब्रह्म-ज्ञान, अनन्य-प्रकाश आदि लिखे हैं और दुर्गासप्तशती का हिन्दी अनुवाद किया है। एक पद्य देखिए—

यह भेद सुनौ पृथ्वीचन्दराय, फलचारहु को साधन उपाय।
यह लोक सधै सुख पुत्र बाम, परलोक नसै बस नरक धाम॥
परलोक लोक दोउ सधै जाय, सोई राज जोग सिद्धान्त आय।

इन ज्ञानपन्थी सन्तों की परम्परा में एक ही दो ऐसे हैं जिनकी रचनाओं में साहित्य का विकास हुआ है। उनमें मानवजीवन और भावनाओं की व्यञ्जना नहीं है। इन सन्तों की रचना में किसी प्रकार की दार्शनिक व्यवस्था भी नहीं है, और न द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत का पृथक्करण ही किया जा सकता है। किसी में ज्ञानतत्त्व, किसी में साधना-तत्त्व किसी में प्रेमतत्त्व और किसी में व्यावहारिक भक्ति का प्रदर्शन होता है। इस पंथ का ज्ञानतत्त्व वेदान्त से, प्रेमतत्त्व सूफ़ियों से, और अहिंसा तथा प्रपत्ति वैष्णवों से ली गई है। 'सुरति' और 'निरति' शब्द बौद्ध सिद्धों के हैं।

अध्याय ग्यारहवां

प्रेम-तत्त्व

सूफ़ी प्रेमधारा—

यह धारा इस देश में मुसलमान साधुओं के साथ आई। इनका उद्गम-स्थान ईरान की सुसंस्कृत कोमल भावुक कल्पना में अरब धर्म-विजेताओं का लादा हुआ इस्लाम धर्म है। जो आगे चलकर भारतीय संस्कृति के प्रभाव से कोमलतम और दार्शनिक स्वरूप धारण कर गया। इस परम्परा के कवियों ने लौकिक प्रेम और लौकिक सौन्दर्य को अलौकिक रूप में देखा और ध्वनित किया है। इनकी रचनाएं चौपाई और दोहों की पद्धति पर प्रबन्ध-काव्य के रूप में मिलती हैं।

प्रेम-काव्यों का प्रारम्भ—

प्रेमकाव्यों का आरम्भ अलाउद्दीन के समय में मुल्ला दाऊद की 'नूरक' और 'चन्दा' नामक प्रेम-कथा से होता है। परन्तु 'पद्मावत' की प्रस्तावना में मलिक

मुहम्मद-जायसी इससे प्राचीन कुछ और प्रेमकथाओं का भी उल्लेख करता है। देखिए—

बिक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयेउ पतारा॥
मधूपाछ मुगधावति लागी। गगन पूर होइगा बैरागी॥
राजकुंवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधे कुंवर खँडावत जोगू। मधुमालती कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरवर साधा। उषा लागि अनिरुध बर बाँधा॥

यह प्रेमी और प्रेमिकाओं की चर्चा दृष्टान्त के रूप में है। इनमें कुछ कथाएं काव्यबद्ध भी हैं। विक्रम और अनिरुद्ध की कथा तो पौराणिक है ही। मृगावती, मधुमालती, प्रेमावती और मुग्धावती ये चार प्रेमकथा रह जाती हैं। इनमें मृगावती और मधुमालती का पता चलता है। इससे हम यह कह सकते हैं कि यह प्रेमकाव्यों की परंपरा हिन्दी में ज्ञानमार्गी निर्गुणपंथी कवियों के बराबर ही पुरानी है।

प्रेम-काव्यों की दो धाराएँ—

इन प्रेम काव्यों की हम दो धाराएँ पाते हैं। एक शुद्ध प्रेम-काव्य की और दूसरी सूफ़ी रहस्य-काव्य की। हिन्दी में प्रेम काव्यों का यह प्रचलन विदेशी भी नहीं है। इसका सम्बन्ध संस्कृत के प्रेम काव्यों से है।

पतंजलि ने अपने महाभाष्य में भैमरथी, सुमनोत्तरा, बासवदत्ता, आदि कई प्रेम काव्यों का उल्लेख किया है। इनके नामों से पता चलता है कि ये प्रेमकाव्य कल्पित थे। आगे चलकर वाण ने 'कादम्बरी' और सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' दो प्रेम काव्य लिखे, वे भी इसी परम्परा में आते हैं। इसके बाद भी लगभग १२ वीं शताब्दी तक गद्य में लिखी प्रेम कहानियों का सिलसिला हम पाते हैं। इसकी बहुत सम्भावना है कि अपभ्रंश और प्राकृत में भी कुछ ऐसे प्रेमकाव्य रहे हों जो मौखिक रूप धारण करके और कुछ विकृत होकर सूफ़ी भावना वाले कवियों तक पहुंचे हों जिन्हें उन्होंने अपने ढंग पर वर्णन किया। यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि इस प्रकार की कहानियां योगी सम्प्रदाय में भी प्रचलित हों जिनमें राजाओं के योगसाधन की चर्चा की गई हो। राजा गोपीचन्द और भर्तृहरि की कहानियां हमारे इस सन्देह को अधिक पुष्ट करती हैं। अब विचारणीय एक बात यह है कि इन प्रेममार्गी कवियों ने अपनी कथाओं में घुमा-फिरा कर सिंहल और वहां की पद्मिनी जाति की स्त्रियों की चर्चा की है। वह सिंहल द्वीप में पद्मिनी स्त्रियों की कल्पना योगियों ही की है। यह कहां से ली गई है यह हम अगले अध्याय में जायसी की काव्य विवेचना में बतावेंगे।

संस्कृत के प्रेम-काव्य और प्रेम-मार्गी-काव्य—

संस्कृत के प्रेम-काव्यों में शुद्ध प्रेम ही का वर्णन है, इस लिये वे शुद्ध साहित्यिक ग्रन्थ हैं, परन्तु प्रेम-मार्गी सन्तों के ये हिन्दी प्रेम-मार्गी काव्य ऐसे नहीं हैं। उनमें रहस्यवाद और साम्प्रदायिक पृथक्ता साफ़ दीख पड़ती है। इन्होंने तो काव्य का सहारा केवल प्रेम-भावना के प्रसार के लिये ही लिया है। यही कारण है कि उनके काव्यों में साहित्य के विधि-विधानों का पूरा समावेश नहीं हो पाया। उन्होंने केवल प्रेम के दोनो पक्षों; संयोग और वियोग के अन्तर्गत आने वाली उन्हीं साहित्यिक विधियों को ग्रहण किया है जो पुराने काव्यों में गृहीत हो चुकी थीं, अथवा जो मौखिक कथाओं में बच रही थीं। उदाहरण के लिये नखशिख का संयोग में और बारहमासे का वियोग में।

काव्य-पद्धति—

इन प्रेम-मार्गी कवियों की काव्य-पद्धति अवश्य अभारतीय है। फ़ारसी में जो मसनवी लिखने की रीति है, ये प्रेम-काव्य उसी शैली पर लिखे गये हैं। किन्तु छन्द इन्होंने हिन्दी के दोहे-चौपाई ही लिये हैं। परन्तु इन दोहे-चौपाइयों में छन्द-शास्त्र के नियमों की परवाह नहीं की गई है। मात्राएँ न्यूनाधिक हैं। इसके सिवा इन्होंने अर्धाली को ही चौपाई मान कर दो दोहों के बीच कहीं सात कहीं नौ तथा कहीं ग्यारह अर्धालियां रखी हैं।

इन काव्यों का ढांचा भी प्रबन्ध-काव्य की पद्धति पर नहीं है। इसी से कथाएं सर्गबद्ध नहीं हैं। उन का वर्णन मसनवी की पद्धति पर, बीच बीच में प्रसंगों के शीर्षक रख कर किया गया है।

मसनवी की शैली ही पर ईश्वर-वन्दना, मुहम्मद साहेब की स्तुति, शाहेवक्त की प्रशंसा, गुरू-परम्परा, अपने मित्रों आदि का वर्णन प्रारम्भ में दिया गया है, बाद में कथारम्भ है।

प्रत्येक कथा में किसी देश का राजा दूसरे देश की रूपवती राजकुमारी का रूप-वर्णन सुन कर उसे प्राप्त करने के लिये योगियों का वेश धारण करके निकल पड़ता है। राजा और राजकुमारी के बीच का सम्बन्ध जोड़ने वाला कोई पक्षी (प्रायः तोता) हुआ करता है। अन्त में बड़े बड़े विघ्नों को पार कर राजा राजकुमारी को पा जाता है। रनवास में आने पर कहीं युद्ध और कहीं किसी दूसरे कारण से राजा मर जाता है और राजा की परिणीता या प्रेमिका सती हो जाती है।

काव्यदृष्टि और प्रेमी मार्ग का अन्तर—

इस प्रकार काव्य की दृष्टि में यह वियोगान्त कहानी है और दुःखान्त दृश्य है, परन्तु प्रेमी मार्ग में साम्प्रदायिक भावना से उन्हें सुखान्त माना गया है। राजा साधक, राजकुमारी ब्रह्म-ज्योति, पक्षी मध्यस्थ या गुरु निरूपित किया गया है। मार्ग में पड़ने वाली विघ्न बाधाएं साधना-मार्ग के प्रत्यूह हैं। इसी कारण राजा योगियों के वेश में राजकुमारी की खोज में निकलते हैं। प्रेम-कथा के लौकिक पत्त के साथ आत्मा और ब्रह्म के अलौकिक पक्ष की योजना कर लेने से साधक साध्य तक या प्रेमी राजकुमारी तक पहुंचने के पूर्व ही प्रेम की पीड़ा का घोर रूप देखता है। इन कवियों द्वारा प्रदर्शित राजकुमारियों की यह पीड़ा लौकिक दृष्टि से कामपीड़ा तथा प्रबन्ध की दृष्टि से भद्दी-सी वस्तु मानी जायगी। परन्तु ब्रह्म की अलौकिक दृष्टि से उसका स्वरूप ही बदल जाता है।

इन प्रेमकाव्यों का 'तोता', कादम्बरी का 'तोता', इन काव्यों के 'जोगी', कादम्बरी के ऋषिकुमार, इन काव्यों के 'राजा' 'राजानल', उनकी राजहंस से संदेश की प्राप्ति, और प्रिया-वियोग। कादम्बरी की अमानुषी स्त्री-कल्पना, तथा जन्म के निरन्तर प्रवाह, यह सब इन प्रेमकाव्यों की भूमिका पर प्रभाव डालते हुए प्रतीत होते हैं। हम अगले अध्याय में बताएँगे कि जायसी ने अपनी 'पद्मावत' का मसाला कहां से चुराया है।

सूफ़ी सिद्धान्त और ब्रह्म—

सूफ़ी सिद्धान्तों में ब्रह्म की दो स्वरूप में भावना की जाती है। एक तो उसका 'जमाल' देखा चाहते हैं, दूसरा, 'जलाल'। जमाल का अर्थ सौन्दर्य, और जलाल का अर्थ ऐश्वर्य है।

भक्ति में प्रेम और श्रद्धा का मिश्रण है। प्रेम का सम्बन्ध सौन्दर्य, (जमाल) से और श्रद्धा का वैभव (जलाल) से है।

इन हिन्दी प्रेममार्गी कवियों ने ब्रह्म की सौन्दर्यभावना जमाल को ही प्रदर्शित किया है।

सूफी प्रेमतत्त्व और हिन्दुधर्मतत्त्व—

अब इस बात पर विचार करना चाहिए कि इन मुसल्मान सूफ़ी साधुओं ने किस कारण हिन्दी भाषा में ये प्रेमकाव्य रचे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं

कि वे कट्टर मुसलमान थे। यद्यपि उनका पन्थ सूफ़ी था तथापि वे कबीर की भांति सुधारक न थे। इन प्रेमकाव्यों में उन्होंने न हिन्दू-मुसलिम ऐक्य की कोई बात कही, न दोनों जातियों के गुण दोष की विवेचना की, न उन्होंने किसी प्रकार के उपदेश ही दिए। वे एक मुसलमान-सूफ़ी-सम्प्रदाय के फ़कीर थे, और इन प्रेमकाव्यों में उन्होंने अपने विशुद्ध सूफ़ी धर्म का प्रतिपादन किया है। इस में विचारणीय बात यह है कि सूफ़ी धर्म का प्रतिपादन करने के लिये उन्होंने हिन्दी भाषा, हिन्दी छन्द और हिन्दुओं के सर्वसाधारण में प्रचलित और प्रिय आकर्षक चरित्रों का आश्रय क्यों लिया। यही नहीं, उन्होंने अपने 'सूफ़ी खुदावाद' को—'एकेश्वरवाद' की आड़ में हिन्दू-धर्मतत्त्व के पूर्व-प्रतिपादित 'अद्वैत ब्रह्म' और 'सोऽहंतत्त्व' का बाना पहिनाया। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी भाषा और हिन्दी छन्दों के माध्यम से हिन्दू पात्रों के चरित्रों में अपने मुस्लिम सूफ़ी भाव को आरोपित किया। यद्यपि यह प्रयास बड़े कौशल से किया गया, फिर भी उसकी अस्वाभाविकता और विरसता छिपी न रही। जायसी ही को देखिये—वह अपनी 'पद्मावत' की प्रेम-कहानी कहकर उस पर कितने भोंडेपन से सूफ़ी सिद्धान्तों को आरोपित करता है—

तन चित उर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुद्धि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पन्थ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सो हम एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू॥

वास्तव में यह अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना है और इस भावारोपण में तनिक भी रसोदय नहीं। इस कथा में ऐतिहासिक पात्रों को यद्यपि बहुत तोड़ मरोड़ कर रखा गया है फिर भी उनका इतिहास-रस इतना नहीं नष्ट हो पाया कि उन चरित्रों में विशुद्ध आध्यात्मतत्त्व की कोरी अलंकारिक-कल्पना की जा सके।

अब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन सूफ़ी साधुओं ने हिन्दी भाषा, हिन्दी छन्द और हिन्दू चरित्रों का आश्रय लेकर हिन्दू जनता को अपने सूफ़ी सिद्धान्तों पर विमोहित करके 'खुदावाद' की ओर आकर्षित करने की चेष्टा की। वे स्वयं एक कट्टर मुसलमान पीर बनकर उनके गुरु बनना चाहते थे। उनका मुस्लिम कट्टरता का भाव इन ग्रन्थों की प्रारम्भिक खुदा की बन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, शाहेवक्त की प्रशंसा तथा गुरु-महिमा और मित्रों के विवरण से स्पष्ट हो जाता है। तथा उनका 'जमाल' और 'जलाल' और 'शैतान' इस बात को स्पष्ट

कर देता है कि वे वाक्छल द्वारा ही अपने सूफ़ीतत्त्व को हिन्दुओं की 'ब्रह्म भावना' या 'सोऽहं तत्त्व' में आरोप करते हैं।

वास्तव में यह इन सूफ़ी साधुओं की हिन्दू जनता में मुस्लिमधर्म-प्रचार की एक कौशलपूर्ण योजना थी। पाठक जानते हैं कि कुछ मुस्लिम साधुओं ने प्राचीन सिद्धों और नाथों के अनुकरण पर 'चमत्कारवाद' का प्रचार किया था, और अपनी अलौकिक शक्तियों और चमत्कारों का सर्वसाधारण में प्रचार करके हिन्दू जनता में पीर की भांति पूज्य-स्थान ग्रहण करने की चेष्टा की थी। सूफ़ी साधुओं की यह दूसरे प्रकार की चेष्टा थी जिसमें उन्होंने सिद्धों और योगियों के चमत्कारों का तो नहीं, अपने युग के निकट के प्रभावशाली शंकर प्रतिपादित बुद्धि-तत्त्व-प्रधान ब्रह्मवाद का सहारा लिया। और इस प्रकार उनके ये उद्योग हिन्दू जनता को मुस्लिम प्रभाव में लाने के लिये ही थे। हम आगे चलकर बतावेंगे कि हिन्दू जनपद को इन सूफ़ी साधुओं के मुस्लिम प्रभाव से बचाने में सूरदास की भक्ति-भावना और तुलसी की धर्म-सम्पदा ने कितना महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इतना ही नहीं, इन्होंने रहीम और रसखान जैसे सच्चे, सहृदय और प्रतिष्ठित, भावुक, मेधावी मुसलमानों को विशुद्ध हिन्दूतत्त्व से प्रभावित करके अपने इष्टदेव कृष्ण और राष्ट्रभाषा व्रजभाषा के चरणों में नतमस्तक किया। इन सूफ़ी साधुओं ने अपना मतलब साधने को जहां हिन्दी भाषा, हिन्दी छन्द और हिन्दू चरित्रों को उधार मंगनी लिया था, वहां रहीम और रसखान जैसे मुसलमानों ने हिन्दी भाषा, हिन्दी छन्द और हिन्दू देव-चरित्र पर अपनी सम्पूर्ण चेतना का विसर्जन कर दिया।

अध्याय बारहवां

सूफ़ी-साहित्य

सन् १५०१ में कुतुबनशेख ने मृगावती नाम की प्रेम-कथा अवधी भाषा में लिखी जो दोहे चौपाइयों में थी। यह सूफ़ी-साहित्य का प्रथम प्राप्य-ग्रन्थ समझा जाता था। जिसके द्वारा सूफ़ीवाद का प्रवेश हिन्दी साहित्य में हुआ। परन्तु हिन्दी साहित्य में सूफ़ी साहित्य को प्रौढ़ रूप देने वाले प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी थे। इनका रचनाकाल ईस्वी सन् १५१८ से १५४५ तक है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती चार ऐसे ही ग्रन्थों के नाम लिये हैं। १ मुग्धावती, २ मृगावती,

३ मधुमालती, और ४ प्रेमावती। इनमें से अभी तक केवल मधुमालती की एक प्रति तथा मृगावती की एक खण्डित प्रति मिली है, जो मंझन कवि की रचना है। मंझन ने अपनी रचना में एक विशेषता यह की है कि अपनी प्रेमकथा में नायक नायिका के साथ एक उपनायक और उपनायिका की भी कल्पना की है। इससे मंझन की रचना में आदर्शवाद भी आ गया है। मधुमालती का रचना-काल सन् १५०२ से १५३८ के बीच अनुमान किया जाता है।

जायसी; ई० सन् १५२०—

मलिक मुहम्मद जायसी सूफ़ी फ़कीर शेख़ मोहिदी (मुहीउद्दीन) के शिष्य थे। और जायस में रहते थे। ये एक आँख के काने और अत्यन्त कुरूप थे। इनके समय में भारत में पठान बादशाह शेरशाह का राज्य था। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक पद्मावत सन् १५२० में लिखी, ऐसा अनुमान है। इसका एक बंगला अनुवाद अराकान राज्य के वज़ीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० के लगभग कराया था। पद्मावत की हस्तलिखित प्रतियां फ़ारसी अक्षरों में मिली हैं। ये अपने समय के सिद्ध फ़कीर माने जाते थे। अन्त समय अमेठी जा बसे थे, और वहीं इनकी मृत्यु हुई। इनके जीवनकाल ही में इनके शिष्य इनके बनाए भावपूर्ण दोहे चौपाई गाते फिरते थे। इनकी शैली में गूढ़ता, गम्भीरता और सरसता है। इनकी भाषा देखिए—

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी॥
उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहि न गने। वै सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढ़े॥
बरुनि-बान अस ओपहँ, बेधें रन बनढाँख।
सौजहिं तन सब रोवा, पंखिहि तन सब पांख॥

जायसी की विशेषता—

मलिक मुहम्मद जायसी की परम्परा में अन्य सब प्रेममार्गी कवियों की परम्परा से अन्तर है। जहां अन्य प्रेममार्गी संतों ने केवल कल्पित कथाओं का ही आश्रय लिया है, वहां जायसी ने उसमें इतिहास का जरा सा मिश्रण कर दिया है। उनकी पद्मावत के पूर्वार्ध में व्यक्तिपक्ष है परन्तु उत्तरार्ध में कवि प्रेमियों के व्यक्ति-पक्ष से हट कर लोक-पक्ष पर आगया है। इसके सिवा उसने अलाउद्दीन और पद्मिनी का ऐतिहासिक आख्यान उस में जोड़ दिया है, इस कारण जायसी की

पद्मावत अन्य प्रेममार्गी साहित्य से पृथक् हो गई है। प्रबन्ध की दृष्टि से भी वह औरों से बढ़ कर है। अन्य सूफ़ी कवि जहां प्रेम, करुणा, श्रद्धा, भक्ति तथा कोमल भावों ही को व्यक्त करते हैं वहां जायसी ने लोक-दृष्टि से समन्वित होकर युद्ध, उत्साह, क्रोध, खीझ आदि भाव भी प्रदर्शित किये हैं। इस कारण से उसमें प्रबन्धत्त्व की अपेक्षा सामग्री अधिक हो गई है।

पद्मावत का मूल आधार—

राजस्थान के इतिहास लेखक कर्नल टाड ने चित्तौड़ के इतिहास से सम्बन्धित 'पद्मिनी' की कथा लिखी है। उस कथा का सार यह है:—

पद्मिनी चित्तौड़ के राणा भीमसिंह की रानी थी। वह लोकोत्तर सुन्दरी थी। उसके रूप की ख्याति सुनकर दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने राजा से उसे अपनी बेगम बनाने को मांगा और राजा के इन्कार करने पर चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। वह बहुत दिन तक चित्तौड़ को घेरे पड़ा रहा। पर चित्तौड़ का अजेय-दुर्ग विजय न हुआ। तब उसने राणा के पास एक सन्देश भेजा, उसमें उसने कहलाया कि यदि वह रानी के रूप की एक झलक दर्पण में उसे दिखा दे तो वह संतुष्ट होकर दिल्ली लौट जायगा। सुलतान की यह मांग यद्यपि राजपूत मर्यादा के विपरीत और अपमान-जनक थी, फिर भी राजा ने परिस्थित से लाचार होकर मान ली और उसने सुलतान को जवाब दिया कि यदि वह मित्रभाव से एकाकी किले में आवे तो राणा उसकी इच्छा पूरी करेगा। अलाउद्दीन अकेला किले में चला गया। राणा ने उसका मित्रभाव से सत्कार किया और प्रतिज्ञा के अनुसार रानी का प्रतिबिम्ब शीशे में दिखा दिया। ऊपर से सुलतान ने बहुत मित्र-भाव प्रकट किया और जब वह वहां से चला तो राणा शिष्टाचार के विचार से किले के बाहर तक सुलतान के साथ चला आया, जहां सुलतान के साथी घात लगाए बैठे थे। उन्होंने अकस्मात् राणा को पकड़ लिया और ले भागे। किले से राणा को सहायता प्राप्त करने का समय नहीं मिला। इस पर पद्मिनी ने एक कौशल रचा और अपने सम्बन्धी गोरा बादल की उसने सहायता ली, तथा सुलतान को सूचना दी कि वह यदि राणा को मुक्त कर दे तो रानी उसके पास आने को राज़ी है। सुलतान ने यह शर्त स्वीकार कर ली। रानी ने सात सौ डोलियां तैयार कराईं, प्रत्येक में दो दो योद्धा भीतर बैठे और चार-चार योद्धा कहार के भेष में डोली उठाकर चले। सब के शस्त्र छिपे हुए थे। एक बढ़िया पालकी में गोरा रानी बनकर बैठा। और बादल एक

बढ़िया घोड़े पर सवार होकर उसके साथ २ चला। ये सब डोलियां पर्दे में कनात के भीतर उतारी गईं। तब रानी ने प्रार्थना की कि वह राणा से अन्तिम भेंट करना चाहती है, जिसकी सुलतान ने आज्ञा दे दी। अवसर पाकर राणा को गोरा ने अपने हथियार दे दिए और बादल ने घोड़ा देकर उसे चित्तौड़ की ओर दौड़ा दिया। उधर सब योद्धा तलवार सूंत २ कर सुलतान की सेना पर पिल पड़े। उनके सम्हलते २ बहुतों को काट डाला। इस पराजय से खीझ कर अलाउद्दीन उस समय तो दिल्ली लौट गया, परन्तु कुछ दिन बाद ही फिर आया। इस बार घनघोर युद्ध हुआ और राणा तथा सब सीसोदिया खेत रहे, तथा रानी पद्मिनी अपनी पांच हजार रनवासों के साथ जौहर करके जल मरी। और जब अलाउद्दीन ने उसे प्राप्त करने की इच्छा से महल में प्रवेश किया तो वहां उसे गर्म राख के ढेर में दहती पद्मिनी की चिता के अंगारे मिले।

यह तो हुई राजस्थान की एक ऐतिहासिक कथा। अब एक कथा पौराणिक सुनिए—जिसका वर्णन कल्कि-पुराण में है। कल्कि-पुराण का यह उपाख्यान चौथे अध्याय के २७वें श्लोक से प्रारम्भ होकर लम्बा चला गया है। बीच २ में इसमें और बातें भी आई हैं, परन्तु इस उपाख्यान का सार भाव यह है—

शिवदत्त नामका एक बड़ा वाचाल विद्वान् तोता था। उसने कल्कि के पास एक सन्ध्या-काल में आकर कहा—मैं सिंहल द्वीप से आरहा हूँ जो समुद्र के बीच में है। वहां के राजा बृहद्रथ की पद्मिनी नाम की एक त्रैलोक्य-सुन्दरी कन्या है। उसे शिव ने वर दिया है कि तेरे पति नारायण हैं, दूसरा जो कोई पुरुष तुझे पत्नी भाव से देखेगा वही स्त्रीरूप हो जायगा। कुछ दिन हुए राजा ने उसके स्वयम्वर की योजना की थी, जिसमें देश देश के रूप गुण-सम्पन्न राजा आए, पर वे स्वयंबर में कुमारी को देखते ही स्त्री हो गये और अब दासीभाव से उसी की सेवा में रहते हैं। और वह कुमारी इसी चिन्ता में दुखी है कि कैसे उसे वर प्राप्त होगा।

इस पर कल्कि ने कहा—हे तोते, मैं ही वह विष्णु का अवतार हूं—तू सिंहल द्वीप में जा और राजकुमारी को हमारी ओर से प्रबोध कर। तोता उड़ कर सिंहलद्वीप में पहुंचा और राजकुमारी को कल्कि जी का संदेश कहा। राजकुमारी ने प्रसन्न होकर कहा—अरे शुक, मैं तुम्हारी चोंच में उत्तम पद्मराग मणि बंधवाऊंगी और कण्ठ में सूर्यकान्त मणि पहनाऊंगी और तुम्हारे पंखों को और शरीर

को कुंकुम से चित्रित कराऊंगी, पूंछ में मणि गूथूंगी और पैरों में नूपुर सजाऊंगी। तू जाकर कल्कि से यहां का सब हाल कह और उन्हें यहां ला।

शुक कुमारी से सत्कार पाकर उड़ चला और सम्भलग्राम में कल्कि जी के पास पहुंचा तथा सब हाल वर्णन किया। सब सुनकर कल्कि जी घोड़े पर चढ़कर सिंहलद्वीप में पहुंचे। और एक सरोवर के निकट ठहर कर शुक को कुमारी के पास भेजा। राजकन्या तोते को देखकर और प्रिय के आ पहुंचने का संदेश सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई, तथा कुछ विश्वस्त सखियों को संग ले सरोवर में स्नान के लिये चली।

सरोवर तट पर उसका कल्कि से प्रेमालाप हुआ और उसने महल में लौट कर राजा से सब सन्देश कहा। राजा ने आदरपूर्वक कल्कि का स्वागत किया तथा पद्मिनी उनसे ब्याह दी।

कल्कि जी कुछ दिन सिंहल में ठहर कर अपने घर सम्भलपुर पद्मिनी सहित आए, जहां उनकी आज्ञा से विश्वकर्मा ने उनके लिये बढ़िया महल बना रखा था।

कुछ दिन बाद वे दिग्विजय करने निकले। जैनों, बौद्धों तथा म्लेच्छों से युद्ध किया। रमा से विवाह किया, फिर लौटकर सम्भलग्राम में यज्ञ किया। समय पर उनके पुत्र-पौत्र हुए फिर उनका वैकुण्ठवास हो गया। तथा पद्मिनी और रमा दोनों स्त्रियां सती हो गईं।

जायसी के पद्मावत का 'कथासार' यह है—

सिंहल द्वीप के राजा गन्धर्वसेन की कन्या पद्मावती अति रूपवती थी। परन्तु उसको योग्य वर नहीं मिलता था। उसके पास हीरामन नाम का एक तोता था जो पूरा पण्डित और वाचाल था। वह तोता दैवगति से उड़ता हुआ एक बार एक बहेलिये के जाल में फँस गया, जिसने उसे चित्तौड़ के एक ब्राह्मण को बेच दिया। उस ब्राह्मण से एक लाख रुपये में वह तोता राजा रत्नसेन ने खरीद लिया। एक बार राजा की रानी ने उससे पूछा कि कोई मुझ से भी अधिक सुन्दरी स्त्री दुनिया में होगी, तब तोते ने पद्मिनी का बड़ा बखान किया। इस पर रानी ने डाह से उसे मार डालने के लिये एक दासी को दे दिया। पर उसने उसे मारा नहीं, छिपा लिया और राजा को सौंप कर सब हाल भी कह दिया। राजा ने जब पद्मिनी के रूप का वर्णन सुना तो वह उसके प्रेम में व्याकुल हो योगी बन कर सिंहल की ओर चला। साथ में १६

हजार योगी लिए। हीरामन मार्ग दिखाता चला। योगियों का यह काफ़ला कलिंग से जहाज में सवार हो सिंहलद्वीप में पहुंचा। वहां तोते से संदेश पाकर पद्मिनी शिवपूजन के बहाने आई, उसे देखकर राजा मूर्च्छित होगया। पीछे शिव से सिद्धि पाकर राजा ने योगियों सहित गढ़ में घुसने की चेष्टा की, पर पकड़ा गया; और उसे सूली पर चढ़ाने की आज्ञा दी गई। पीछे सोलह हजार योगियों सहित शिव ने गढ़ को घेरा तथा सब देवता उनकी सहायता को आए। उन से गन्धर्वसेन ने पराजित हो पद्मावती राजा को ब्याह दी। और दोनों चित्तौड़ आ गये। चित्तौड़ के एक द्वेषी ब्राह्मण ने दिल्ली जाकर अलाउद्दीन से पद्मिनी की बहुत तारीफ़ की। इसपर अलाउद्दीन ने पहले रानी को मांगा; पीछे चढ़ाई की। और छल करके संधि कर ली। राजा ने एक बार उसे दावत दी और जब दोनों शतरंज खेल रहे थे, अलाउद्दीन ने पद्मिनी की एक झलक शीशे में देख ली। और जब राजा विदा करने बाहरी फाटक पर आया, उसे पकड़ लिया गया; और दिल्ली ले जाया गया। पद्मिनी ने ७०० डोलियों में सैनिक छिपाकर दिल्ली भेजे और सुलतान से कहलाया कि पद्मिनी राजा से एक बार मुलाकात करके हरम में जायगी। आज्ञा पाते ही रानी की पालकी राजा की कोठरी में ले जाई गई। वहां पालकी में से एक लुहार ने निकल कर राजा की हथकड़ी-बेड़ी तोड़ डालीं—और राजा घोड़े पर चढ़कर निकल भागा। सैनिक शाही सेना से युद्ध करने लगे। रतनसेन जब चित्तौड़ पहुंचा, तो पद्मिनी ने राजा से कुम्भलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूती भेजने की बात कही। इस पर रतनसेन ने कुम्भलनेर पर चढ़ाई की और इस लड़ाई में वे दोनों राजा मारे गये। रतनसेन का शव चित्तौड़ लाया गया और दोनों रानियां उसकी चिता पर जल मरीं। जब अलाउद्दीन चित्तौड़ पहुंचा तो वहां राख के ढेर के सिवा कुछ न पाया।"

इन तीनों कथानकों को मिलाने से आप अनुमान कर सकते हैं कि जायसी की पद्मावत के पूर्वार्ध में कल्किपुराण की, और उत्तरार्ध में आईने-अकबरी में वर्णित राजस्थान की प्राचीन ऐतिहासिक घटना का सहारा लिया गया है, जिसे टाड ने आगे चलकर व्यवस्थित कहानी का रूप दे दिया था। टाड ने पद्मिनी के पति का नाम भीमसिंह दिया है परन्तु आईनेअकबरी में उसे रतनसिंह ही कहा गया है जहाँ से जायसी ने वर्णन लिया है।

इस कथा में कुछ योगियों की पुरानी करामातें, कुछ शिवधर्म का प्रभाव और कुछ कल्पना मिलाकर उसका एक ऐसा स्वरूप बना दिया है कि यदि उसके ग्रन्थ में से कवि द्वारा आरोपित सूफ़ी प्रेमतत्त्व की भावना निकाल दी जाय तो वह एक

अस्तव्यस्त, अस्वाभाविक और अति साधारण बिलकुल पुराने ढर्रे की कहानी मात्र रह जायगी।

कवित्त्वगुण और भाषा की दृष्टि से निस्सन्देह जायसी में अपने अन्य सूफ़ी सन्तों से श्रेष्ठता है।

उसने 'अखरावट' और 'आखिरीक़लाम' दो पुस्तकें और लिखी हैं। इनमें भी वह अपने सहमार्गियों से बढ़ गया है।

प्रेममार्गी प्रमुख कवि—

प्रेममार्गी कवियों की परम्परा में मृगावती के कर्ता कुतुबन (ई० स० १४६४ में) मधुमालती के रचियता मंझन (१५०४ में) पद्मावत के प्रणेता मलिक मुहम्मद जायसी (१५२१ में) चित्रावली के लेखक उसमान (सन १६१४ में) ज्ञानदीप के लेखक शेखनबी (१६२० में) और इन्द्रावती के लेखक नूरमुहम्मद (सन १७४५ में) हुए। इनके सिवा छोटे-मोटे और भी कवि हुए। परन्तु मुल्लादाऊद और रज्जन इस परंपरा के सब से प्राचीन कवि हैं।

दाऊद—

मुल्लादाऊद सर्वप्रथम-ज्ञात प्रेममार्गी कवि है। उसकी पुस्तक 'नूरक और चन्दा' या 'चंदावन' का उल्लेख अब्दुलकादिर बदायूनी ने अपने इतिहास-ग्रन्थ 'मुन्तख़ाबुतुत्तवारीख़' के भाग १ पृष्ट २५० पर इस प्रकार किया है—

"किताब 'चंदावन' जो हिन्दवी भाषा में एक मसनवी है और जिसमें नूरक और चन्दा नाम के प्रेमी व प्रियतमा के प्रेम का वर्णन है, वास्तव में अनुभवपूर्ण है। मौलाना दाऊद कविता में लिखता है जो उस प्रान्त में अत्यन्त मशहूर होने के कारण परिचय देने की आवश्यकता नहीं रखता। मखदूम शेख़ तक़ीउद्दीन वाएज़ रब्बानी दिल्ली में इसके कुछ प्रारम्भ के पद 'मेम्बर' से पढ़ता था और उससे श्रोताओं पर बहुत असर पड़ता था। उस समय के कुछ विद्वानों ने जब शेख़ से पूछा कि इस हिन्दी मसनवी के पढ़ने का क्या कारण है। तो उसने उत्तर दिया कि यह दैवी सत्यता से भरा है"।

रज्जन इस्वी स० १४९२—

इनका पूरा नाम शेख़ रिजक़ुल्लामुश्ताकी था। इनका जन्म सन १४९२ में हुआ। ये लगभग ९० वर्ष की आयु तक जीवित रहे। फ़ारसी और हिन्दी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। सूफ़ी साधु थे। फ़ारसी के लिए 'मुश्ताक़' और हिन्दी के लिये 'रज्जन' उपनाम रखते थे। इनकी 'प्रेम बन जोब निरंजन' हिन्दी की विख्यात रचना है। जायसी ने अपने पूर्व के प्रेम-कथा कहने वालों

का उल्लेख करते हुए 'प्रेमावति कहँ सुर सर साधा' में जिस 'प्रेमावती' का संकेत है, वह सम्भवतः इसी 'पेम बन जोव निरंजन' की नायिका है।

कुतुबन; ई० स० १५०४—

ये शेख बुरहान चिश्ती के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के दर्बार में रहा करते थे। इन्होंने अपनी मृगावती चौपाई दोहों में लिखी। इनकी भाषा का नमूना यह है—

साह हुसैन अहैं बड़ राजा। छत्र सिंहासन उनको छाजा।
पंडित औ बुधिवंत सयाना। पढ़े कुरान अरथ सब जाना।
रुकिमनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंती सत सों सति भई।
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई।

मंझन; ई० स० १५०४—

इनका 'मधुमालती' नामक एक खण्डकाव्य-ग्रन्थ मिला है। इस ग्रन्थ की भाषा अवधी है। प्रेम का निरूपण इसमें भी 'मृगावती' की भांति पांच-पांच चौपाइयों (अर्द्धालियों) में रोचक ढङ्ग से किया गया है। परन्तु 'मृगावती' की अपेक्षा इसकी कल्पना विशद एवं वर्णन भी विस्तृत तथा हृदय-ग्राही है। कहानी जटिल और लम्बी है। इनकी वर्णन-शैली देखिए—

बिरह-अवधि-अवगाह अपारा, कोटि मांहि एक परै त पारा।
बिरह कि जगत अबिरथा जाही, बिरह रूप यह सृष्टि सबाही॥
नैन-बिरह अंजन जिन सारा, बिरह रूप दरपन संसारा।
कोटि मांहि बिरला जग कोई, जाहि सरीर बिरह-दुख होई॥
रतन कि सागर सागरहि, गज-मोती गज कोइ।
चन्दन-कि बन-बन उपजै, बिरह कि तन-तन होइ॥

जमाल; ई० सन् १५६९—

इनका पूरा नाम जमालुद्दीन था। इनका 'जमाल-पचीसी' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ मिलता है। इनकी कविता साधारण श्रेणी की होती थी। कुछ उदाहरण देखिए :—

यह तन तो लंका भई, मन भयो रावन राय।
बिरह रूप हनुमंत भयो, देत लगाय-लगाय॥
पिय बिन दिया न बारिहौं, मो अंधियारे सुक्ख।
करि उजियारो हे सखी, काको देखूं मुक्ख॥

ताला जड़िया ब्याह, कूची ता परसे रही।
ऊघड़े सिश्रा मांह, जड़िया रहसी जेठ वा॥
भादौ अति सुख दैन, कह चन्द गोविन्द सो।
घन अरु तिय के नैन, दोऊ बरसै रैन-दिन॥

उपर्युक्त दोहों और सोरठों के अतिरिक्त इनका यह छप्पय भी पाया जाता है :—

जदपि कुसंग संग लाभ, तदपि वह संग न कीजै।
जदपि धनिक है निधन, तदपि घट प्रकृति न कीजै॥
जदपि दान नहिं शक्ति, तदपि सनमान न खूटे।
जदपि प्रीति उर घटे, तदपि मुख बात न टूटे॥
सुन सुजस द्वार की बार दै, कुजस 'जमाल' न मूकिये।
जिय जाय जदपि मलपत करत, तऊ न मलमन चूकिये॥

इसी प्रकार आपने बहुत से दोहे, कवित्त, छप्पय आदि लिखे हैं।

अहमद; जन्म ई० सन् १६०४—

आपके दोहे, सोरठे बहुत ही चुटकीले तथा रसीले हैं। 'शिवसिंह-सरोज' ग्रन्थ के अनुसार इनका मत सूफ़ी अर्थात् प्रेममार्गियों से मिलता जुलता था। इनका कविता-काल सन् १६९६ के लगभग माना गया है। स्फुट-रचना के अतिरिक्त काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने अपनी खोज में 'रस-विनोद' नामक एक कोक-शास्त्र विषयक ग्रंथ का पता लगाया है। सरोजकार के कथनानुसार इनकी रचना सरस तथा सुन्दर है :—

अहमद अपने चोर को, सब कोउ डारत मार।
चोर मिलै मो चित्त को, सब कोई कहे हनेऊ॥
मन में राखो मन जरै, कहो तो मुख जरि जाय।
'अहमद' बातन विरह की, कठिन परी दुहुं भाय॥

उसमान; ई० स० १६१३—

ये ग़ाज़ीपुर के रहने वाले थे। आपने जहांगीर बादशाह के शासन-काल में 'चित्रावली' नामक पुस्तक लिखी। पुस्तक के आरम्भ में सूफ़ी-सम्प्रदाय के कवियों की परम्परा अनुसार आपने भी ईश-स्तुति, पैग़म्बर और चार खलीफ़ों की, बादशाह जहांगीर की तथा शाह निज़ामुद्दीन की और हाजी बाबा की प्रशंसा लिखी है।

आपने अपनी 'चित्रावली' की रचना जायसी की पद्मावत के ढङ्ग पर की है। 'चित्रावली' के दोहे चौपाइयों का क्रम ठीक उसी प्रकार है। कहीं-कहीं शब्द-विन्यास भी वही है।

उसमान ने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जायसी ने सात-सात चौपाइयों के बाद दोहा का जो क्रम रखा है, उसमान ने भी ठीक वैसा ही किया है। जायसी की ही तरह नगर, सरोवर, यात्रा, दान-महिमा आदि का वर्णन 'चित्रावली' में है। पद्मावत के आरम्भ में जैसी ईश-स्तुति की गई है ठीक वैसी ही उसमान ने भी की है। नई बात यह है कि इसके जोगी अंगरेजों को भी देख आए थे।

बलंदीप देखा अंगरेजा, तहां जाइ जेहि कठिन करेजा।
ऊंच-नीच धन-संपति हेरा, मद बराह भोजन जिन्ह केरा॥

शेख नबी; ई० स० १६२०—

ये जौनपुर प्रान्त के 'मऊ' नामक स्थान के निवासी थे। इन्होंने 'ज्ञानदीप' नामक एक आख्यान-काव्य लिखा है, जिसमें राजा 'ज्ञानदीप' और रानी 'देवयानी' की कथा वर्णित है। शेखनबी उसमान कवि के समकालीन प्रतीत होते हैं।

जटमल; ई० स० १६२४—

ये जाति के ओसवाल जैन थे और लाहौर के निवासी थे। इन्होंने 'गोरा-बादल की बात' और 'प्रेमलता-चौपाई' नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं। इनकी और भी फुटकर रचनाएँ मिलती हैं। इनकी भाषा में पंजाबीपन है पर कवित्त्व-सौष्ठव अधिक है। एक नमूना देखिए—

कहत कुँवर सूं इक दिन कुंवरी। तेरे प्रेम भई हूं बवरी।
कबही पिता मोहि परणावे। तेरे बिरह मरण मुझ आवे।
अरी सखी छाती जरी, कर कुछ अब उपचार।
हाथा में मर जाहुगी, पछतावे तिहां बार॥

प्रेमी—

यह काश्मीरी सूफ़ी संत थे। इनकी रचना 'पेम-परकास' की एक हस्त-लिखित प्रति प्राप्त हुई है। इसमें ६०।६२ पृष्ठ हैं। भाषा खड़ी-बोली की मिश्रित है, इसमें प्रेमविरह वर्णन है। उदाहरण—

औरंगज़ेब के राज में, भई ग्रन्थ की आस।
प्रेमी नावँ विचार के, धरौ पेम परकास॥

पेमी हिन्दू तुरक में, हर रंग रह्यो समाइ।
देवल और मसीत में, दीप एक है भाइ॥

जहां पीत तहां विरह है, जहां सुख दुख देख।
जहां फूल तहां कांट है, जहां दरब तहां सेख॥

क़ासिम शाह; ई० स० १७३२—

ये दरियाबाद जिला बाराबंकी के निवासी थे। इन्होंने 'हंसजवाहिर' नाम की कहानी लिखी है, जिसमें राजा 'हंस' और 'जवाहर' की कथा है। कहानी के आरम्भ में बन्दना जायसी-कृत पद्मावत के ढंग की है। इसकी प्रति फ़ारसी अक्षरों में छपी हुई मिली है। रचना साधारण है। देखिए—

कथा जो एक गुपुत महं रहा। सो परगट उघारि मैं कहा॥
हंस जवाहिर बिधि औतारा। निरमल रूप सो दई सँवारा॥
वलख नगर बुरहान सुलतानू। तेहि घर हंस भए जस भानू॥
आलमसाह चीनपति भारी। तेहि घर जनमी जवाहिर बारी॥

नूर मुहम्मद; ई० स० १७४५—

ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समकालीन और जौनपुर जिला के निवासी थे। फ़ारसी के पण्डित थे। इन्होंने ३० वर्ष की अवस्था में 'इन्द्रावती' आख्यान-काव्य लिखा।

इन्होंने जायसी की भांति ठेठ अवधी में कविता की है, परन्तु फिर भी उसमें एकदम काव्य-छटा का अभाव नहीं है। इनके भाव उच्च, भाषा अच्छी तथा कल्पना की उड़ान भी उत्तम है। आपने स्तुति, फुलवारी-गमन तथा नहान-खंड आदि में जायसी का अनुकरण किया है। कहीं-कहीं पर तो शब्दों और वाक्यों का विन्यास बिल्कुल जायसी-सा जान पड़ता है।

इनकी रचना का उदाहरण—

आगम पुर इन्द्रावती, कुँवर कलिंजर राय।
प्रेम हुँते दोउन्ह कहँ दीन्हा अलख मिलाय॥

इन्होंने चौपाइयों के बीच में दोहे न रखकर बरवै रखे हैं। प्रयोग भी काव्य-भाषा के अधिक निकट हैं। देखिए—

अहंकार तेहि तीसर सखा निरंत्र।
रहेउ चारि के अंतर नैसुक अंत्र॥

इन्होंने 'अनुराग-बांसुरी' एक और ग्रंथ भी लिखा है।

इनके सिवा कुछ और कवि भी हुए हैं—

फाज़िलशाह; ई० स० १७४९—

ये महाराजा प्रतापसिंह छत्रपुर-नरेश के दरबार में थे। इन्होंने 'प्रेम-रतन' नामक कहानी लिखी है, जिसमें नूरशाह और माहे-मुनीर की कथा है।

आशी; ई० स० १८४४—

इनका पूरा नाम मौलाना शाह-अब्दुल-अलीम 'आशी' था। इन्होंने वैराग्य, विरह और प्रेम का सुन्दर वर्णन किया है। प्रिय-मिलन की उत्कण्ठा में इनका एक दोहा देखिए—

भुज फरकत तोरे मिलन को, स्रवन सुनन को बैन।
मन माला तब नाम को, जपत रहत दिन रैन॥
काजर दूं तो किर-किराय, सुरमा दिया न जाय।
जिन नैनन मो. पिय बसैं, दूजा कौन समाय॥
मैं चाहूं के उड़ि चलूं, पर बिन उड़ा न जाय।
काह कहौं करतार को, पर ना दिया लगाय॥
ओस ओस सब कोई कहे. आंसू कहे न कोय।
मोहिं बिरहिन के सोग में, रैन रही है रोइ॥

खड़ी बोली की प्रेमाश्रयी रचनाएं

हमने बताया है कि इन कवियों ने दोहा और चौपाई के हिन्दी छन्दों में मसनवी पद्धति पर जो कविता की, उसमें भाषा भी भारतीय काव्य-परम्परा की अवधी, व्रज आदि मिश्रित थी, और उसका सारा ढांचा हिन्दी काव्य जैसा था। परन्तु कुछ कवियों ने खड़ी बोली में विदेशी छन्दों में भी प्रेम-मार्गी कविता की है।

कुली कुतुबशाह गोलकुन्डे के बादशाह ने जिसने हैदराबाद बसाया था, तथा मुहम्मदकुलीकुतुबशाह के भतीजे तथा दामाद मुहम्मदकुतुबशाह ने भी कविताएं की हैं। इसी समय में और कवि भी हुए हैं, जिनकी रचनाओं में कुछ ऐसी प्रेम-कथाएं भी हैं जैसी पद्मावती, मृगावती आदि। पर वे फ़ारसी छन्दों में लिखी गई हैं। परन्तु भाषा खड़ी बोली की हिन्दी है। इनमें इब्न निशाती की

'फूलवान' और तहसीनुद्दीन की 'किस्सए-काम रूप और कला' ऐसी ही रचनाएं हैं। मौलाना वजीह का गद्य-ग्रन्थ, 'सब रस' ऐसी ही प्रेम-कहानी लेकर लिखा गया है। नसरती की मसनवी 'गुलशने इश्क' में मनोहर और मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। हाशिमी की 'यूसुफ़ जुलेखां' भी ऐसी ही है।

अध्याय तेरहवाँ

कृष्ण-भक्ति-धारा

श्रीकृष्ण

यह बात विचारने योग्य है कि श्रीकृष्ण, कालिदास (५ वीं शताब्दी ई०) भारवि (६ ठी शताब्दी) वाणभट्ट (७ वीं शताब्दी) और भवभूति (८ वीं शताब्दी) से अधिक परिचित नहीं हैं। उनसे ११ वीं और १२ वीं शताब्दी में भास और जयदेव का परिचय हुआ है। और वे मुसलमानी राज्य में हिन्दुओं के सर्वाधिक पूज्य देवता हो गये हैं।

पुराणों में और महाभारत में श्रीकृष्ण का बहुत बार नाम आया है। परन्तु ईश्वर भाव से उनकी पूजा का प्रसङ्ग कहीं नहीं है। युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को अपने राजसूय में सर्वप्रथम पूजित किया था, पर वह पूजा भी ईश्वर भाव की नहीं थी। महाभारत शान्ति पर्व में एक पंचरात्र मत का उल्लेख है, जिसमें कृष्ण-पूजन का संकेत है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रसंग किस युग में महाभारत में मिल गया है।

परन्तु श्रीकृष्ण की जो परिपूर्ण मूर्ति १५ वीं शताब्दी में निर्मित होकर देवभाव से पूजित हुई, वह सर्वथा नवीन भावमूर्ति थी।

कृष्ण-भक्ति-धारा—

इस धारा में अनेक परम्पराएं विकसित हुईं, जिनमें सब से महत्त्वपूर्ण वल्लभाचार्य की है, जिसमें अप्रतिम भावुक कवि सूरदास का आविर्भाव हुआ। यह कहा जा सकता है कि उनकी रचनाएं एकांङ्गी हैं, और जीवन की बहुरूपता

उसमें नहीं है, पर यह कहना ही पड़ेगा कि उन्होंने जिस जीवन-क्षेत्र को अपनाया उसमें हद कर दी। बाल-चरित्र और मातृ-हृदय के चित्रण में संसार के सभी कवियों से सूरदास बाजी मार ले गये हैं। संयोग और बिरह जो प्रेम के दो स्वरूप हैं इनका जितना पूर्ण और मनोरम प्रदर्शन सूरदास ने किया वह हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि है। इसमें सन्देह नहीं कि इस परम्परा के कवियों ने गीति-काव्य को इतना सम्पन्न किया जिसका कोई हिसाब ही नहीं हो सकता।

वल्लभाचार्य—

कृष्ण-भक्ति परम्परा की रचनाओं का आरम्भ हिन्दी में वल्लभाचार्य के समय से ही होता है। वल्लभाचार्य ने प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, और गीता) पर भाष्य लिखा है। इन्होंने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। वे ब्रह्म में दो अचिन्त्य शक्तियां मानते हैं—एक आविर्भाव की दूसरीतिरोभाव की। वह अपनी शक्ति द्वारा जगत् के रूप में परिणत भी हो जाता है और परे भी रहता है। वह अपने रूप का कहीं आविर्भाव और कहीं तिरोभाव किये रहता है। जीव के रूप में उसका 'सत्चित' रूप आविर्भूत रहता है और 'आनन्द' तिरोभूत। जड़ में सत् ही आविर्भूत रहता है शेष दोनों तिरोभूत।

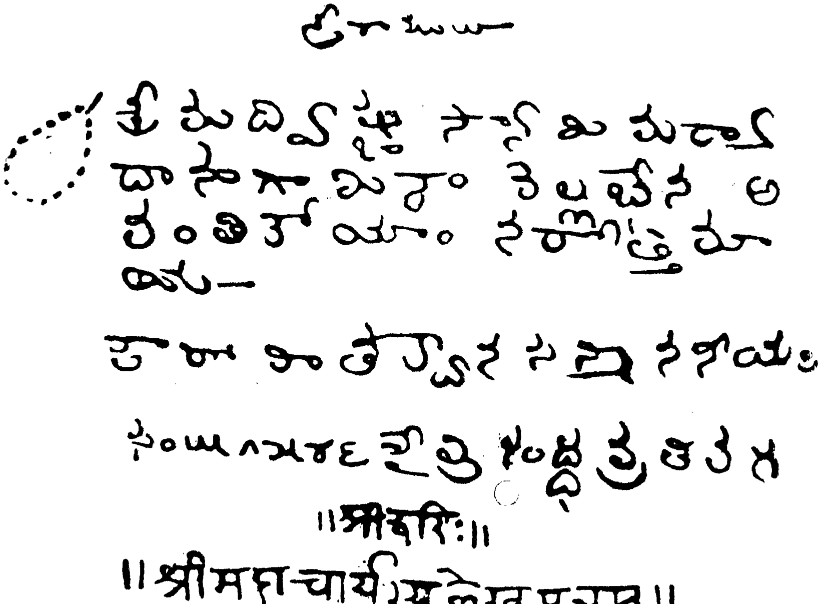
इन्होंने कृष्ण को परब्रह्म और दिव्यगुण सम्पन्न 'पुरुषोत्तम' माना है। उनके लोक को व्यापी बैकुण्ठ, और गोलोक को उस व्यापी बैकुण्ठ का एक खण्ड माना है। इसके अन्तर्गत वृन्दावन, यमुना, गोवर्धन, निकुंज आदि सभी नित्य हैं। और इनमें कृष्ण अलक्षभाव से गोचारण रासक्रीड़ा किया करते हैं। इस नित्य-लीला में जीव यदि प्रविष्ट हो पाता है तो उसे परमगति प्राप्त होती है। जीव का इस में प्रविष्ट होना भगवान् की कृपा ही से होता है। ये भगवदनुगृह को पोषण या पुष्टि मानते थे। इसी से इनका सम्प्रदाय पुष्टिमार्ग कहाया। शंकर ने जहां निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मार्मिक बताया था, वहां इन्होंने उस भाव को उलट कर सगुण को असल पारमार्थिक और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप कहा है। इन्होंने अपने सम्प्रदाय में केवल प्रेमलक्षणा भक्ति को अङ्गीकृत किया है।

वल्लभाचार्य के पुत्र और उत्तराधिकारी विट्ठलनाथ जी थे। इन्होंने उनके अपूर्ण अणुभाष्य की पूर्ति की। और कृष्ण-लीला गान करने को आठ कवियों का चुनाव किया, जो अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनमें मुख्य सूरदास हैं।

वल्लभाचार्य ने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया, बहुत शास्त्रार्थ किये, और सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपने पाण्डित्य और हिन्दू-प्रेम की धाक जमा दी। फिर

कृष्ण की जन्मभूमि में जाकर उन्होंने अपनी गद्दी की स्थापना की। और अपने सम्पन्न शिष्य पूरनमल खत्री के द्वारा गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी का भव्य मन्दिर स्थापित कराया। तथा सेवा का बड़ा भारी मंडान बांधा। उस सेवा-पद्धति में भोग, राग और विलास की प्रभूत सामग्रीप्रदर्शन की प्रधानता रही। और इसकी खूब बढ़ा चढ़ा कर प्रशंसा होने लगी। फिर जब सूरदास प्रमुख अष्टछाप के कवियों ने प्रेमसंगीत की धारा बहाई, तो हिन्दू जनता मोहित हो गई। अन्य कृष्ण-मार्गी भक्तों ने भी इनके साथ योग दिया।

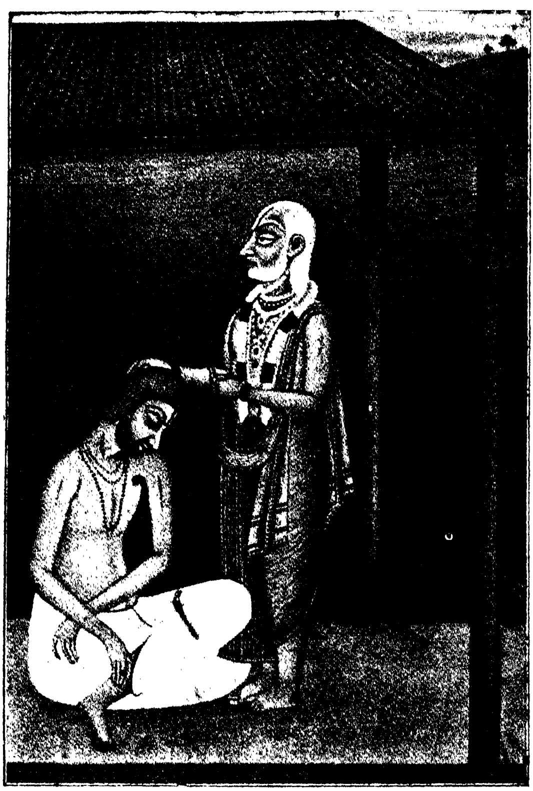
बल्लभाचार्य से पहले अन्य जो कृष्णमार्गी सम्प्रदाय थे। वे भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले। क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेम लक्षणा भक्ति के लिये कृष्ण का मधुर-स्वरूप ही पर्याप्त समझा। कृष्ण के लोक-रक्षक या धर्म-संस्थापक स्वरूप को सामने नहीं रखा। इसका फल यह हुआ कि कृष्णभक्ति का विकास नहीं हुआ और साहित्य भी फुटकर शृङ्गारी पदों तक ही रह गया। उनमें न अनेकरूपता आई, न जीवन के अन्य गम्भीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुटित हुए। कृष्ण का इतना चरित ही नहीं लिया कि खण्डकाव्यों और महाकाव्यों का निर्माण होता। कवियों की गति राधाकृष्ण की प्रेमलीला-गान ही तक रह गई।



महाप्रभु वल्लभाचार्य की हस्त लिपि का नमूना।



गुसाईं विट्ठलनाथ जी सूरदास प्रमुख सर्वोत्तम आठ कवियों को चुनकर अष्टछाप की प्रतिष्ठा कर रहे हैं



सूरदास जी की गुसाईं जी से अन्तिम भेंट

श्रीनाथ जी का गोवर्धन का मन्दिर १५२० ई० में पूरा हुआ। इसे तैयार होने के ग्यारह वर्ष बाद बल्लभाचार्य की मृत्यु हुई।

मंदिर तैयार हुआ ही था कि बल्लभाचार्य की भेंट सूरदास से हुई। उस समय दोनों दोनों पर प्रभावित हुए। तब सूरदास ने आचार्य के हाथ अपने को सौंप दिया। आचार्य ने प्रसन्न हो उन्हें शिष्य बनाया और मंदिर में कीर्तन करने का काम उन्हें सौंपा।

अध्याय चौदहवाँ

अदृष्ट-दृष्टा सूरदास

जन्म ई० सन १४७९; मृत्यु—१५८६—पूर्णायु १०७ वर्ष—

सूरदास ब्रजभाषा के आदि कवि और अप्रतिम गायक हैं। इनके विषय में भक्तमाल में सत्य ही लिखा है—

उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अतिभारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी।
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनमकरम गुन रूप सबै रसना परकासी।
विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरे।
सूर-कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करे।

सूरदास ही की कविता ने ब्रजभाषा की गणना विश्वसाहित्य में कराई है। सूर के कविता-काल को सौर-काल कहा जाता है। इस काल की गणना सन् १५०३ से १५७३ तक है। यह ब्रजभाषा का काल हिन्दी का परम समृद्ध युग था। इसी काल में हिन्दी का साहित्यश्रृङ्गार हुआ। इसी काल में ब्रजभाषा अकस्मात् अपने सम्पूर्ण माधुर्य और कोमलगात को लेकर हिन्दी साहित्य के सिंहासन पर अभिषिक्त हुई। इसका श्रेय अकेले सूर को है।

सूरदास अन्धे थे और महाकवि चन्द वरदाई के वंशज थे। इनके ६ बड़े भाई युद्ध में काम आये थे। सूरदास विरक्त भाव से मथुरा और आगरा

के बीच गऊघाट पर रहते थे। एक बार वल्लभाचार्य अडैल जाते हुए गौघाट पर उतरे। इसकी सूचना सूरदास के किसी सेवक ने उन्हें दी। सूरदास चल कर आचार्य के पास पहुंचे। इन की प्रशंसा सुन आचार्य ने कुछ भगवत्कीर्तन करने को कहा—इसपर सूरदास ने यह पद गाया—

हौं हरि, सब पतितन को नायक।

को करि सकै बराबरि मेरी, इते मान को लायक।
जो तुम अजामेल सों कीन्हीं, सो पाती लिख पाऊँ।
होय विस्वास भयो जिय अपने, औरहु पतित बुलाऊँ।

इस करुण दास्यभाव के पद को सुन कर वल्लभाचार्य द्रवित हो गये। उन्होंने सूरदास को श्रीकृष्ण की अशेष-लीला-विस्तार का भेद बताया और भागवत दशमस्कन्ध की 'सुबोधिनी' टीका के मंगलाचरण का यह श्लोक कहा—

नमामि हृदय ये शेषं, लीला क्षीराब्धि शायिनम्।
लक्ष्मी सहस्र लीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्।

सूरदास ने यह सुनकर उसी समय यह पद गाया—

चकई री, चलि चरन सरोवर, जहां न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निसा होत नहिं कबहूं, वह सागर सुख जोग।
जहां सनक से मीन हंस सिव, मुनि जन नख रवि प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि उर, गुंजत निगम सुवास।
जिहि सर सुभग मुक्तिमुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै।
लछमी सहित होत नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास।
अवन सुहात विषय रस छीलर, वा समुद्र की आस।

वल्लभाचार्य अत्यन्त संतुष्ट हुए और सूरदास को गोकुल ले गए, जहां उन्होंने कृष्ण के वात्सल्यभाव भरे सहस्रों पद गाये। अपने अन्त समय में वे पारसौली ग्राम में रहने लगे थे। एक बार गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी वहां पहुंचे तब सूर ने प्रेम पुलकित हो यह पद गाया।

बलि बलि बलि हो कुंवर राधिका नन्द सुवन जासों रति मानी।
वै अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि, प्रीति करी किमि होत है छानी।

यह पद सुनकर विठ्ठलनाथ जी पुलकित हो उठे। एक वैष्णव ने तब कहा—सूर, तुमने सवालक्ष पद रचे, पर गुरु के लिए एक पंक्ति भी नहीं लिखी। तब सूरदास ने गद्गद कण्ठ से गाया—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ-नख चन्द-छटा बिनु, सब जग मांझ अंधेरो।
साधन और नहीं या कलि में, जासों होत निवेरो।
सूर कहा कहि दुविध आंधरो, बिना मोल को चेरो।

यह पद गाते २ सूरदास मूर्छित से हो गये। यह दशा देख गुसाईं जी ने पूँछा—'सूरदास या समय तिहारी नेत्रवृत्ति कहां है'? तब सूर ने गाया—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि पलटि ताटंक फंदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते।

और यह पद गाते २ उन्होंने जीवन-लीला समाप्त की।

सूरदास की रचना—

सूरदास ने ५ ग्रंथ बनाए—१. सूरसागर, २. सूर सारावली, ३. साहित्य लहरी (दृष्ट कूट) ४. नल-दमयन्ती और ५. व्याहला। पिछले दो अप्राप्य हैं।

सूर-सारावली में सूरसागर की सूची सी है। इसमें ११०७ पद हैं जिनके छन्द एक ही हैं।

सूर-सागर १२ स्कन्धों में समाप्त हुआ है, परन्तु दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध को छोड़कर शेष बहुत छोटे हैं, और रोचकता भी वैसी नहीं है, जैसी दशम के पूर्वार्द्ध में है। जिस प्रकार तुलसीदास के बाल-काण्ड तथा अयोध्या-काण्ड निकाल डालने से उनके कवित्व-गौरव का एक बृहदंश खंडित हो सकता है, उसी प्रकार यदि सूरसागर के दशमस्कंध का पूर्वार्द्ध निकाल डाला जाय, तो सूरसागर का सारा महत्व ही समाप्त हो जायगा।

सूरसागर और श्रीमद्भागवत—

साधारणतया यह समझा जाता है कि सूरदास का सूरसागर भागवत का एक स्वतन्त्र अनुवाद है। बाहरी दृष्टि से दोनों ग्रन्थों में कुछ समता पाई भी

जाती है। दोनों ग्रन्थ बारह स्कन्धों में समाप्त हुए हैं प्रत्येक स्कन्ध की कथा-वस्तु में भी दोनों ग्रन्थों में साम्य है। सूरदास स्वयं कहते हैं—

श्री मुख चारि श्लोक दिये, ब्रह्मा को समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ।
व्यास कहे शुकदेव से, द्वादश कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै, पद भाषा करि गाइ।
(सूर सागर. स्क. १।११३)

परन्तु यदि हम गम्भीर विवेचना करके देखें तो सूरसागर और श्रीमद्भागवत के भेद को सहज ही जान सकते हैं। इस भेद की सब से प्रधान बात तो यह है कि श्रीमद्भागवत में कृष्ण को अन्य अवतारों की अपेक्षा प्रमुखता अवश्य दी गई है, परन्तु सूरसागर में तो सचमुच श्री कृष्ण ही हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भागवतकार की दृष्टि में राम, कृष्ण तथा अन्य अवतारों के प्रति कुछ कम अधिक आस्था है, पर वह अवतारवाद का ग्रन्थ है। लेकिन सूरसागर अवतारवाद का नहीं—कृष्णपूजा का ग्रन्थ है।

यदि भागवत के विषयों पर दृष्टि डाली जाय तो उस से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भागवत का मुख्य विषय विष्णु के २४ अवतारों तथा उनके द्वारा विष्णु की सर्वशक्तिसत्ता का प्रदर्शन है। भागवत के प्रथम दो अध्यायों में प्रस्तावना है। महाभारत की अन्तिम घटना का उल्लेख कर परीक्षित का शुकदेव से भागवत कथा सुनने का वर्णन है। ग्रन्थ के लक्षण आदि भी यहीं दिये गये हैं। तीसरे स्कन्ध से आठवें स्कन्ध तक वराह, ऋषभ, नृसिंह, वामन, मत्स्य और कच्छप आदि अवतारों का वर्णन है। नवम में राम का और दशम स्कन्ध में कृष्ण के अवतार का वर्णन है। ग्यारहवें तथा बारहवें स्कन्ध में हंस तथा भावी कल्कि अवतार का वर्णन है। और मूलकाव्य का उपसंहार है।

इसमें सन्देह नहीं कि भागवत भर में दशमस्कन्ध की ही महत्ता है। और उसमें कृष्णावतार को प्रमुखता प्राप्त होती है। भागवत राम और कृष्ण दोनों ही को महत्ता देता है परन्तु कृष्ण को और भी अधिक, इसी से कृष्ण स्कन्ध का विस्तार भी उसमें खूब है।

भागवत के ३३५ अध्यायों में से ९० अध्याय कृष्णावतार से सम्बन्धित हैं। परन्तु सूरसागर के ४००० पदों में से ३६०० में कृष्ण का वर्णन है। शेष ४०० पदों में विविध विषय तथा अन्य अवतारों की चर्चा है।

भागवत और सूरसागर दोनों ही में दशमस्कन्ध दो भागों में विभक्त है—एक पूर्वार्ध और दूसरा उत्तरार्ध । पूर्वार्ध में गोकुल-भूमि की लीला वर्णित है और उत्तरार्ध में द्वारिका-भूमि की । भागवत में कृष्णचरित पूर्वार्ध की कथा ६० में से ४९ अध्यायों में, तथा उत्तरार्ध की कथा ४१ अध्यायों में दी गई है । किन्तु सूरसागर में पूर्वार्ध की कथा लगभग ३५०० पदों में है, तथा उत्तरार्ध की केवल १३८ पदों में ही समाप्त हो गई हैं । इस से स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास के इष्टदेव सम्पूर्ण कृष्ण नहीं किन्तु गोकुल-भूमि के लीला-विलासी व्रजवासी कृष्ण ही हैं । द्वारिका-प्रवासी, महाभारत के नेता, योगिराज कृष्ण की सूरसागर के रचयिता की दृष्टि में कोई महत्ता नहीं है ।

अच्छा, एक बात और भी है । यह दशम स्कन्ध का पूर्वार्ध जो सूरसागर का प्राण है और जिस में कवि ने अपने कौशल और कवित्त्व के ओज को समाप्त किया है, भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध से सर्वथा ही भिन्न है । भागवत में पूतनावध, कालीमर्दन, तथा अनेक असुरों के वध की असाधारण और अलौकिक कथाओं का उल्लेख करके विष्णु के कृष्णावतार तथा असुर-संहार की अमोघ एवं दैवी शक्ति का प्रदर्शन किया गया है परन्तु सूरसागर में उनकी राधा और गोपियों के संग प्रेमलीलाओं का विस्तृत वर्णन है । जिस में वात्सल्य रस प्रधान बाललीला, संयोगश्रृङ्गार, राधा तथा गोपीविहार-वर्णन और विप्रलंभ श्रृङ्गार गोपी-विरह तथा भ्रमरगीत हैं । भागवत में इन बातों का वर्णन बहुत कम और भिन्न दृष्टिकोण से मिलता है । जहां कृष्ण की बाल-लीला संक्षेप से भागवत के २.३ पृष्ठों में ही दी गई है, वहां सूरसागर में उसने ३० पृष्ठों को रोका है । उसमें कवि ने अपनी प्रतिभा से अपने समाज के बालभाव की मनोवृत्तियों का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और नैसर्गिक वर्णन किया है, यहां तक कि माखनचोरी और मिट्टी खाने के भावों को भी मौलिक विस्तार दिया है ।

एक बात और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । भागवत में केवल कृष्ण के साथ गोपियों की प्रेम-लीला का ही वर्णन है । राधा का वहां कहीं नाम भी नहीं है । परन्तु सूरसागर में राधाकृष्ण के प्रेम का आरम्भ, विकास तथा परिणाम बड़े ही सुन्दर ढंग से अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । उद्धव-संदेश जहां भागवत में एक साधारण निष्प्राण सी वस्तु है, वह सूरसागर में एक हृदयग्राही वस्तु बन गई है । सूरदास गोपियों की विरह-व्यथा वर्णन में बहुत सफल हुए हैं तथा उन्होंने इसका उपयोग भक्ति-मार्ग तथा सगुणोपासना में करने में भी

सफलता प्राप्त की है। तब क्यों सूरदास ने सूरसागर को भागवत का 'भाषा' रूप कहा ? इस पर विचार करना चाहिए।

यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'वर्तमान सूरसागर' कोई एक ग्रन्थ नहीं है। सूर की भिन्न २ समयों में की गई कृतियों का संग्रह है। इस संग्रह का मूल ढांचा भागवत के १२ स्कन्धों की पद्धति पर उसके अवलम्ब से ही रचा गया है, जिसमें कवि के कृष्ण सम्बन्धी मौलिक, साम्प्रदायिक विचार उसके अपने हैं, जो अधिकांश में दशमस्कन्ध में मिलते हैं, और सूरसागर के प्राण कहे जा सकते हैं। इन पदों में मौलिकता है, रस है और एक प्रकार का धार्मिक विकास का भाव भी है। कहीं २ एक ही विषय को कई बार कहा गया है, जैसे सूरसागर में ३ भ्रमर-गीत मिलते हैं, प्रथम भागवत के आधार पर, दूसरा मौलिक पद संग्रह, तीसरा एक छोटा सा छन्दोबद्ध भ्रमरगीत। 'सागर' का वर्णनात्मक अंश काव्य की दृष्टि से बहुत साधारण है। और उसका कोई साम्प्रदायिक महत्व भी नहीं है। प्रथमस्कन्ध में विनय सम्बन्धी जो पद हैं (जो सूर की विनयपत्रिका कहाती है) उनमें दासभाव अधिक है। सम्भव है, वे पद उन्होंने वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने से प्रथम लिखे हों।

कहा जाता है कि विट्ठलनाथ जी के कहने से इन्होंने भागवत-पुराण के आधार पर 'सागर' के पद रचने प्रारम्भ किये थे। इनकी कवित्वप्रतिभा देख आचार्य इन्हें 'सागर' कह कर पुकारने लगे थे। इससे इन्होंने अपने पद संग्रह का नाम 'सूरसागर' रख दिया। कहा जाता है कि सूरसागर की पद-संख्या सवा लाख है, परन्तु दशमांश भी उपलब्ध नहीं है। इस समय सूरसागर के कई संस्करण प्रकाशित हैं।

कविता की सरलता में सूर ने वाल्मीकि ऋषि का अनुगमन किया है। विश्व-दर्शन का जो सच्चा वर्णन उन्होंने किया है, उससे उनके जन्मान्ध होने पर सन्देह होता है। केवल कल्पना द्वारा ही ऐसा सम्पूर्ण वर्णन आश्चर्यजनक है।

सूरदास का वात्सल्य रस—

सूरदास को सबसे बड़ी सफलता वात्सल्य रस के वर्णन में मिली है। वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में कृष्ण का केवल बाल्यभाव ही पूजा जाता है और अष्ट-छाप में दीक्षित होकर सूरदास ने अपने इष्टदेव कृष्ण के केवल बालभाव को उनकी अपरिमित शक्तियों से ओत-प्रोत देखा है।

इस सम्बन्ध में डा० सूर्यकान्त कहते हैं—उसने लीलामय भगवान् की सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा बालक तथा अबला में, ईश्वर की मौलिक उत्पादिका शक्ति, सूक्ष्म-श्रृङ्गार का प्रतिफलन न करके भगवान् को भगवान् से मिलाया है; स्त्रीत्व को पुंस्त्व, में मिलाया है और कामार्त प्रकृति का साम्यावस्था रूप विशुद्ध ब्रह्म में लोकोत्तर समन्वय किया है।..........बाल्य तथा यौवन में सरलता तथा ऐन्द्रीयता, रति तथा विरति विलास तथा निरास सब कन्धे से कन्धा मिलाए उसी एक राज-पथ पर चल रहे हैं जो प्रणय रूप निर्वाण पर, तथा उपनिषदों के 'सत्य ज्ञानमानन्द ब्रह्म' पर पहुंचने का सरल एवं सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।"

अन्धे होने के कारण सूर विश्व की रंगस्थली में क्रियात्मक भाग नहीं ले सकते थे, इस लिये उनकी दृष्टि लौकिक सौंदर्य से परे आत्म-ज्योति से पूजित प्रेम और वात्सल्य-मूर्ति को ही प्रिय भाव से देखती है। कालीदास और वाल्मीकि ने भी जीवन के सरल और परिष्कृत चित्र खींचे हैं, पर सूर उनसे बाजी मार ले गए हैं। इसका कारण कदाचित् उनकी असीम भक्ति-भावना है, जो कालीदास और वाल्मीकि के हृदय में न थी। वे भक्त न थे, कवि थे, सूर भक्त पहिले और कवि बाद में थे। यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं, कि वाल्मीकि के बाद किसी कवि ने वात्सल्यभाव से तन्मय होकर शिशु के अधरों को परखा, उसकी तोतली वाणी को सुना, उसके धूल-धूसरित देह को प्रेम से गद्गद् हो देखा तो सूर ने। उसी ने मां को झिड़की देते देखा—

इक करि सों भुज गहि गाढ़े करि इक कर लीने सांटी।
मारति हों तोहि अबहिं कन्हैया वेगिन उगलौ माटी।

और इस सूर की अंधी आंखों से देखी माता और पुत्र की मूर्ति को न जाने कितनी आंख वाली माताएं देखकर हृदय में गुदगुदी अनुभव करेंगी।

देखिए तो—

मैया मैं माखन नहिं खायो।
मैं बौना पाइन तैं छोटो, छीको हाथ न आयो।

कृष्ण के पर्यङ्कशयन का वर्णन देखिए—

जसोदा हरि पालने झुलावैं।
हलरावै, दलरावै, मलरावै, जोइ सोइ कछु गावे।
मेरे लाल को आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावे।
तू काहे न वेगी सों आवे, तो कों कान्ह बुलावे।

कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावे।
सोवत जान मौन ह्वै ह्वै रहि, करि करि सैन बतावे।
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावे।

सूर की ऐन्द्रीयता—

सूर की ऐन्द्रीयता भी लोकोत्तर है। उसमें भौतिक सुषमा तो है किन्तु वासना नहीं है। प्रेम ही की वहां बहुलता है। एक पद पढ़िए—

देखेहु अनदेखे से लागत।
यद्यपि करत रंग भरे एकहि, इकटक रहे निमिष नहिं त्यागत।
इत रुचि दृष्टि मनोज महासुख, उत सोभागुन अमित अनागत।
बाढ़े वैर कर्ण अर्जुन ज्यों, दुइ मँह एक भूलनहिं भाजत।
उत सन्मुख सों सावधान सजि, इत सनाह अंग अंग अनुरागत।
ऐसे सूर सुभट ऐ लोचन, अधिकौं अधिक स्यामसुख पावत।

सूर का विरह भी देखिए—

नैनां भए अनाथ हमारे।
मदनगुपाल वहां ते सजनी, सुनियत दूर सिधारे।
वे जलसर हम मीन वापुरी, कैसे जिवहिं बिनारे।
हम चातक चकोर स्यामघन, वदन सुधानिधि प्यारे।
मधुवन वसत आस दरसन की, जोह नैन मगहारे।
सूरज स्यामकरी प्रिय ऐसी मृतकहुँ ते पुनि मारे।

अब एक भ्रमर-गीत भी सुनिए।

मधुकर काके मीत भए।
दिवस चारि करि प्रीति सगाई, रस लै अनत गए।
डहकत फिरत आपने स्वारथ, पाखण्ड अग्रदए।
चाहु सरै पहिचानत नाहीं न, प्रीतम करत नए।
मुडउ बांटि मेलि बौराए, मन हरि हरि जुलए।
सूरदास प्रभु दूत धर्म ढिंग, दुख के बीज बए।

प्रेम की विकलता का मार्मिक वर्णन है। सूर के विरह में एक ऐसी मर्म-स्पर्शी अनुभूति है जिसका हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। विरह और प्रेम दोनों ही स्थानों पर वह सूक्ष्म आत्मा और स्थूल देह की सत्ता के भेद को भूल जाता है। भ्रान्ति के लिये उसकी दृष्टि में स्थान ही नहीं है। विरह पीड़ा उसे अवदात बना देती है। वह विषाद में आनन्द और आनन्द में विषाद को आत्मसात करता

है, इस आनन्द और विषाद के तादात्म्य का तुलसी तथा अन्य कवियों ने भी वर्णन किया है—पर उसमें सूर जैसी वह विकसित सुषमा नहीं है। जहां श्याम के विरह में गायें रोती हैं, वृक्ष स्तम्भित हो जाते हैं, जमुना काली हो जाती है। प्रतीपी भावों के ऐक्य, भेदाभेद के विवर्त को सिद्ध करने की जैसी सरल तथा परिपक्क प्रक्रिया सूर ने व्यक्त की है, वैसी विरले ही कवि कर पाए हैं।

सूर और तुलसी—

सूर और तुलसी की काव्य-शैली में हम एक सबसे भारी अन्तर यह पाते हैं कि जहां तुलसी कविता को भावमयता में समाप्त करता है, वहां सूर उसमें सरलता और ऐन्द्रीयता का तादात्म्य कर संयोगात्मक शृङ्गार द्वारा मानव की नैसर्गिक कृतियों का विकास करता है। तुलसी के रामवर्णन में जीवन के भीतर होने वाले भावों के क्रूरतम संघर्ष हैं, और उन्हें राम अपनी अदम्यशक्ति और अप्रतिम सहिष्णुता से आक्रान्त करते हैं, तथा लोकोत्तर श्रद्धा के अधिकारी होते हैं। परन्तु सूर के कृष्ण अपनी रुचिर वृत्तियों के निरन्तर उत्थान पतन से यह ध्येय प्राप्त करते हैं। संक्षेप में, तुलसी भावमयता से ओतप्रोत हैं और सूरदास ऐन्द्रियता के प्राधान्य से।

जहां व्यक्तिगत विकास का प्रश्न है, भावमयता और ऐन्द्रियता दोनों ही समान हैं। परन्तु लोकहित की दृष्टि से ऐन्द्रियता से भावमयता का ही स्थान ऊंचा है क्योंकि भाव-संघर्ष में ही धर्म सक्रिय होता है। इसी भाव-संघर्ष का स्वरूप पाप और पुण्य के संघर्ष के रूप में हम रामायण में देखते हैं। इसी भाव-संघर्ष में राम सीता को त्याग कर चरमकोटि का आदर्श उपस्थित करते हैं।

परन्तु सूर के कृष्ण जैसे अपने किसी कार्य के लिये उत्तरदायी ही नहीं हैं। विश्व के सचराचर सत्त्व अपने असंख्य स्पन्दनों द्वारा उसमें कह रहे हैं, अरे हम तुझसे प्यार करते हैं। अरे ओ प्रिय तू कहां है?

सूर ने जो जगह-जगह पर कूट लिखे हैं, उनमें उनकी अनूठी कवित्व-सत्ता प्रकट होती है—

जनि हठ करहु सारंग-नैनी;
सारंग ससि सारंग पर सारंग, ता सारंग पर सारंग-बैनी।
सारंग रसन दसन गुनि सारंग, सारंग-सुत दृढ़ निरखनि-पैनी;
सारंग कहो सु कौन विचारो, सारंगपति सारंग रचि सैनी।
सारंग सदनहि लै जु बहन गए, अजहुं न मानत गतभइ रैनी;
'सूरदास' प्रभु तव मग जोवै, अंधकरिपु तारिपु सुख दैनी।

अब सूर के नायिका भेद का भी एक उदाहरण देखिए—

अतिहि अरुन नैन तिहारे;
मानहुं रति-रस भए रंगमगे, करत केलि पिय पलक न पारे।
मंद-मंद डोलत संकित से, राजत मध्य मनोहर तारे;
मनहुं कमल-संपुट महं बींधे, उड़ि न सकत चंचल अलि-वारे।
झलमलात, रति नैनि जनावत, अतिरस-मत्त भ्रमत अनियारे;
मानहुं सकल जगत जीतन को, काम-वान खर सान संवारे।
अटपटात, अलसात, पलक-पुट मूंदत, कबहूं करत उघारे;
मनहुं मुदित मरकत-मनि-अंगन खेलत खंजरीट-चटकारे।
बार-बार अवलोकि कनखियन, कपट-नेह मन हरत हमारे;
'सूर' स्याम सुख दायक रोचन, दुख-मोचन लोचन रतनारे।

गीति-काव्य—

संस्कृत में गीत गोविन्द लिखकर काव्य में गीतों की परम्परा जयदेव ने चलाई। उसपर विद्यापति ने अपनी गीतावली मैथिली हिन्दी में लिखी। उसी गीत-पद्धति को अपना कर सूर ने शुद्ध संगीत के पद व्रजभाषा में लिखे।

ये जो पद लिखे गये, इनमें कुछ लोक-गीत हैं और कुछ साहित्यिक। पहिले त्रिगुण धारा के कवियों ने भी गीत-पद्धति पर रचना की थी, पर उनको सच्चा साहित्यिक रूप सूर ने ही दिया जिसका अनुसरण सौर-काल के कृष्ण-भक्त कवियों ने किया।

विद्यापति और सूरदास दोनों ही ने गेय पदों में कृष्ण-स्तवन किया है। पर दोनों में अन्तर यह है कि विद्यापति की रचना में शुद्ध काव्य-परम्परा ही है, और सूरदास की रचना में भक्ति के उपास्यदेवरूप में कृष्ण का वर्णन है। वे शृंगार को स्पर्श करते हुए भी कृष्ण को प्रभु, स्वामी आदि कह कर पुकारते हैं।

यद्यपि सूरदास सख्य भाव के कवि हैं तदपि उनकी गहरी भक्ति उन्हें सेव्य-सेवक तक खींच ले जाती है। आगे अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी कृष्ण की बाललीला का वर्णन किया पर उसमें सूरदास जैसी तन्मयता नहीं आई। उन्होंने अधिकतर किशोर-लीला ही ग्रहण की है पर सूर ने बाल और किशोर दोनों लीलाओं का परिपूर्ण वर्णन किया।

सूरदास की वर्णन-सामग्री बहुत कम है। पर उसी में उसने अनेक प्रसंगों की उद्भावना की है। वह वर्ण्य-सामग्री के साथ जब उद्दीपक सामग्री सजाते हैं

तो यमुना के कछार, ब्रज के बन, करील के कुंज, अपनी प्रकृत विभूतियों के विस्तार करने लगते हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर इस उद्दीपक सामग्री को भी वर्ण्य-सामग्री बना लिया है। सूर के आलम्बन उद्दीपन भी कम नहीं हैं। उसने अपनी चमत्कारिक प्रतिभा के बल पर नवीन उद्भावनाएं प्रत्येक प्रसंग के अनुसार वर्ण्य-सामग्री के सामने सजाई हैं। इस प्रकार प्रबन्ध-काव्य का लम्बा चौड़ा मैदान न मिलने पर भी सूर ने जो अनेक पद गाए हैं, वे उनकी कल्पनातीत कल्पना-शक्ति के परिचायक हैं।

अप्रस्तुत की योजना में सूर ने चमत्कार दिखाया है। प्रत्येक प्रसंग पर उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त आदि साम्यमूलक अलंकारों के व्याज से एक पर एक लादे गये हैं। इस प्रकार उस अति छोटे से दायरे में वे एक लम्बी चौड़ी काव्य-भूमि प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं।

अध्याय-पन्द्रहवाँ

सौर-काल

(ईस्वी सन् १५०३ सं० १५७३ तक ७० वर्ष)

जिस समय सूरदास ने अपनी साहित्य-सुधा से ब्रजमण्डल को मुखरित किया उस समय हमारी भाषा काफ़ी उन्नत और सम्पूर्ण हो चुकी थी। यह सुकवियों के प्रादुर्भाव का प्रकृत काल था। मुस्लिम विभीषिका क्षीण हो चली थी, और हिन्दू समाज बहुत कुछ सङ्गठित हो चुका था। अवतार, त्रिमूर्ति, प्रतिमा, तथा तीर्थ हिन्दू-धर्म के प्रतीक हो गए थे। तर्कवाद और श्रद्धावाद की प्रतियोगिता समाप्त हो चली थी। तर्कवाद अपना काम कर चुका था और उसने बौद्ध और जैन प्रभाव से पौराणिक धर्म को मुक्त कर दिया था। सूफ़ीवाद को लेकर मुस्लिम संत जो हिन्दू-तत्व में मुस्लिम खुदावाद का मिश्रण करना चाहते थे, विफल हो चुके थे। और मुस्लिम तलवार पाण्डित्यपूर्णवाद में परास्त खुदावाद को बलात् हिन्दू समाज में प्रविष्ट करने के प्रयास में दो सौ वर्ष तक रक्त-स्नान करके कुण्ठित हो चुकी थी। और अब पौराणिक धर्म का सामना

करने वाला देश में कोई नहीं था। अब लोगों को धार्मिक सिद्धान्त समझने की उतनी आवश्यकता नहीं थी जितनी सङ्गठित होने की। रामानन्द स्वामी ने दार्शनिकों और सूफियों पर विजय पाई और हिन्दू समाज को तर्कवाद और एकेश्वरवाद से हटाकर श्रद्धापूर्ण किया; तथा सीताराम को धर्म-बिन्दु बनाकर उन्हीं की भक्ति का उपदेश दिया तथा समाज का चातुर्वर्ण्य रूप ही में सङ्गठन किया। आगे उन्हीं की परम्परा में कबीर और नानक ने अथक साहस कर जनता की जड़ता दूर करने के मूल्यवान् प्रयास किये, परन्तु अभी भी एक सामर्थ्यवान् धर्म-नेता की आवश्यकता थी। इसी समय वल्लभाचार्य ने वाम-मार्गी भक्ति का मार्ग प्रदर्शन किया-जो अनायास ही अधिक लोक-प्रिय हो गया।

वल्लभीय तल्लीनता--

वल्लभीय भक्तिवाद का प्राण वल्लभीय तल्लीनता थी। इस तल्लीनता में सूर एक वारगी ही डूब गये। उनके नेत्रहीन घोर अन्धकार-पूर्ण संसार में मानव शैशव उत्पात मचाता हुआ, उनकी निराश प्रसुप्त भावनाओं को जगाकर उन्हें गुदगुदा गया। उन्होंने चमत्कृत मानस नेत्रों से उस शैशव का श्याम सलोना रूप देखा, उसकी मधुर किलकारी सुनी, उसका मचलना, इठलाना तुतलाना देखा, उनका घुटनों के बल चलना, और धवल हास्य देखा—तो सूर की सम्पूर्ण मानव सत्ता जाग उठी। उन्होंने मानव मेदिनी पर अपने संस्कृत हृदय का वात्सल्य-रस बखेरना प्रारम्भ किया, और अपने हृदय की दुर्धर्ष आनन्द-ध्वनि से जनपद को मुखरित कर दिया। मानव-जनपद ने भावावेश में जब उस श्यामल बालमूर्ति को देखा—जिसमें, कोमलता, विश्वास, पवित्रता तथा प्यार और आनन्द ही भरा था, तो वह उस बालमूर्ति को सिर पर उठा कर आनन्दातिरेक से उन्मत्त हो नाच उठा।

हिन्दी साहित्य का भाग्योदय हुआ। व्रज-साहित्य में प्राण-प्रतिष्ठा हुई। कृष्णस्तवन में जब भक्ति की तल्लीनता मिली, तब साहित्य का सम्पूर्ण श्रृङ्गार हो गया।

सौरकाल के ये ७० वर्ष वल्लभीय प्रभाव से ओतप्रोत हैं। इसमें सूरदास, अष्टछाप के अन्य कवि, विट्ठलनाथ, गोकुलनाथ, मीरा, हितहरिवंश, हरिदास, विट्ठलविपुल, रसखान आदि प्रमुख कवि हैं। विट्ठलनाथ वल्लभाचार्य के पुत्र तथा उनकी गद्दी के अधिकारी थे। इन्होंने अष्टछाप का निर्माण किया था; जिसमें चार पिता के तथा चार अपने सत्कवि शिष्य छांटे गये थे। आज हम इनकी रचनाओं को साहित्यिक दृष्टिकोण से देखते हैं। परन्तु वास्तव में ये कविगण भक्त प्रथम थे

और कवि पीछे। इन कविगणों के प्रभाव ही से हिन्दी में मुसलमान सूफ़ी प्रणाली के कवियों की परिपाटी ख़त्म हो गई और हिन्दुओं की पौराणिक कथा प्रणाली भी जहां की तहां रुक गई। छीहल कवि ने 'पंच सहेली' नाम से एक औपन्यासिक ग्रन्थ लिखा पर उसमें वह उत्कर्ष नहीं ला सके। कृपाराम के दोहों ने आचार्य प्रणाली पर अलङ्कार ग्रन्थ रचा, परन्तु उसका भी विशेष स्वागत नहीं हुआ। जैनों और भाटों में दो-चार कवि हुए परन्तु वे प्रभावशाली न बन सके। जायसी इस काल में जीवित थे, परन्तु सूर के प्रभाव ने एक दूसरा मुसलमान कवि रसखान उत्पन्न कर दिया जो वल्लभीय प्रणाली का श्रेष्ठ कवि था। साम्प्रदायिक भक्ति से बहिर्भूमि में दो और भी कवि इस काल में उत्पन्न हुए, एक निपट-निरञ्जन और दूसरे नरोत्तमदास।

सौरकाल के इस छोटे से ७० वर्ष के काल में अष्टछाप सहित ११२ कवि उत्पन्न हुए। गद्य का भी कुछ विकास इस युग में हुआ।

अध्याय सोलहवाँ

सौरकाल-अष्टछाप—

सूरदास के सिवा अष्टछाप के शेष सात सत्कवियों में नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, और गोबिन्द स्वामी सम्मिलित थे। इन में सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास तथा कुम्भनदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे और शेष चार विट्ठलनाथ जी के। ये सब समकालीन थे। सूरदास के अतिरिक्त सब समान थे। परन्तु कवित्त्व के उत्कर्ष में परमानन्ददास और नन्ददास के नाम अग्रगण्य हैं। ये आठों सत्कवि अपने काल के श्रेष्ठ भक्त-कवि थे और वल्लभीय सम्प्रदाय पद्धति पर श्रीनाथ जी के मन्दिर में हरिगुण गान करते थे।

नन्ददास; ई० स० १५६६—

गोस्वामी तुलसीदास के गुरु भाई थे। अष्टछाप में सूर के बाद इन्हीं की कविता का उत्कर्ष है। इनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। एक 'भ्रमर-गीत' और दूसरा 'रास-पंचाध्यायी'। आप जैसे कवि थे वैसे ही गायक भी थे। इनका 'भ्रमर-गीत' सूर के भ्रमर-गीत से कुछ विशेषता रखता है।

भ्रमर-गीत—

सूर और नन्ददास के भ्रमरगीतों की कल्पना इसलिए की गई कि निर्गुणवादी सन्त कवियों के ज्ञानमार्ग और निर्गुण ईश्वरवाद के ऊपर भक्तिवाद और साकारोपासना को स्थापित किया जाय । भ्रमरगीतों का कथानक विरह भावपूर्ण होने से बहुत तीव्र और प्रभावशाली था । सूर और नन्ददास दोनों ही का भ्रमर काव्य विरह प्रधान काव्य है । काव्य का सृजन आनन्द प्राप्ति के पूर्व ही होता है पीछे नहीं ।

कृष्ण जब गोपियों को छोड़कर मथुरा चले जाते हैं, तब वहां से उद्धव को उन्हें सांत्वना देने भेजते हैं । इस सांत्वना के बहाने उद्धव निर्गुण ब्रह्म की प्रशंसा कर कृष्ण को उनका स्थानापन्न कहते हैं । और गोपी उसका खण्डन कर भक्ति की महिमा गाती हैं । उद्धव के मुंह से संत कवियों के सिद्धान्त कहलवाए जाते हैं और गोपियों के मुंह से उनका खण्डन कराकर वैष्णवभक्तों के उद्देश्य का प्रतिपादन कराया जाता है । नन्ददास के भ्रमरगीत में ७५ पद्य हैं, उनका भ्रमरगीत भागवत और सूर दोनों के भ्रमरगीत से भिन्न है । भागवत में उद्धव के समझाने से गोपियां संतुष्ट हो जाती हैं । पर नन्ददास की गोपियां सन्तुष्ट नहीं होतीं । तर्क करतीं और अन्त में उद्धव को प्रभावित कर छोड़ती हैं । उद्धव के हृदय पर यह अंकित हो जाता है कि भक्ति-मार्ग ज्ञान-मार्ग से श्रेष्ठ है । इससे यह ध्वनित होता है कि नन्ददास का भ्रमरगीत साम्प्रदायिक है । भागवत में भ्रमरगीत का उतना विस्तार भी नहीं है । भागवत में उद्धव का मथुरा जाने का वर्णन तो केवल एक ही श्लोक में है । नन्ददास से भी अधिक विस्तार सूर की रचना का है। नन्ददास का भ्रमरगीत सूर से भी भिन्न है । सूर के भ्रमरगीत में गोपियों की मानसिक अवस्था का सूक्ष्म विश्लेषण है, परन्तु नन्ददास के भ्रमरगीत में ज्ञान और भक्ति पर विवाद है। और भी एक बात है, सूर के भ्रमरगीत में उद्धव कृष्ण का संदेश ही प्रकट करते हैं, पर नन्ददास के भ्रमरगीत में वे स्वयं उपदेश देते हैं ।

लेकिन नन्ददास का उद्धव-गोपी सम्वाद बहुत सुन्दर है। उद्धव कहते है—

वे तुम ते नहिं दूरि ज्ञान की आंखिन देखौ ।
अखिल विश्व भरि पूरि ब्रह्मसबरूप विसेखौ ।
लोह, दारु, पाषाण में जल, थल महि, आकास ।
सचर अचर बरतत सबै ज्योतिहि रूप प्रकास ।
सुनौं ब्रज नागरी ।

इस पर गोपियां कहती हैं—

नैन बैन, स्रुति, नासिका, मोहन रूप लखाय।
सुधि बुधि सब मुरली हरी, प्रेम ठगोरी लाय।
सखा सुनु स्याम के।

सूरदास की गोपियां भी ऐसा ही कहती हैं—

चरन कमल कर नयन कमल कर नयन कमल वर भावत।
सूरदास मनु अलि अनुरागी केहि विधि हो बहरावत।

कृष्ण-प्रेम में रंगी हुई गोपिकाएं उद्धव की बातों को इस कान से उस कान उतार देती हैं। वे कहती हैं—

ताहि बताओ जोग जोग ऊधौ तहँ जाओ।
प्रेम सहित हम पास स्याम सुन्दर गुन गाओ।
नैन, बैन, मन, प्राण में मोहन-गुन भरपूर।
प्रेम पियूषै छाँड़ि के कौन समेटै धूर।
सखा सुनु स्याम के।

सूरदास की अपेक्षा नन्ददास की गोपिकाएं तर्क करने में बहुत पटु हैं। वे कृष्ण पर उलाहनों की जो बौछार छोड़ती हैं वे देखने ही योग्य है। वे कहती हैं—

इनके निर्दय रूप में, नाहिन कछू विचित्र।
पय पीवत प्रानन हरे, पूतना बाल चरित्र।
मीत ये कौन के।

बड़ी गहरी फटकार है।

तर्क और संवाद के बाद जब गोपियों के उद्वेग का चित्रण आता है, उसमें नन्ददास की अपेक्षा सूरदास अधिक सफल हुए हैं। सूरदास ने उन पशु-पक्षियों तक का ध्यान रखा है, जो कृष्ण के साथ रह चुके हैं। नन्ददास के कृष्ण वियोग में अकेली गोपियां ही हैं। परन्तु सूरदास के वियोग में सम्पूर्ण प्रकृति है। सूर कहते हैं—

मधुकर इतनी कहियो जाइ।

अति कृश गात भई ये तुम बिन परम दुसारी गाइ।
जल समूह बरसति दोउ आंखैं, हूंकति लीने नाउँ।
जहां जहां गोदोहन कीन्हो सूंघति सोई ठाउँ।

परति पछार खाइ छिन ही छिन, अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु सूर कादि डारी है, बारि मध्य ते मीन।

नन्ददास की रचना में पदार्थ मुख्य है, छन्द के चुनाव में ये मौलिक हैं। भ्रमर-गीत के प्रथम दो पदों में इन्होंने भिन्न छन्द दिये हैं। उसके बाद दोहा और रोला। पांचवीं पंक्ति देना इनकी मौलिकता है। जैसे दोहों के लिखने में बिहारी, पद-रचना में सूर, कुण्डलियों में गिरिधर और चौपाई में तुलसी हैं उसी प्रकार रोला लिखने में नन्ददास प्रमुख हैं।

शब्दों के चुनाव में भी वे बड़े सफल हैं। भाषा इनकी शुद्ध व्रजभाषा और खूब परिष्कृत है। उस में शब्दध्वनि खूब है। रस की दृष्टि से भ्रमर-गीत में विप्रलंभ शृंगार है, पर उसमें वर्णन अधिक है; रस कम। फिर भी अमर्ष, उपालम्भ और अन्य संचारी भावों के साथ हास्य का भी पुट है।

कोउ कहै रे मधुप, तुम्हैं लज्जा नहिं आवै।
सखा तुम्हारो स्याम, कूबरी नाथ कहावै।
यह नीची पदवी हुती गोपीनाथ कहाय।
अब यदु कुल पावन भयो दासी जूठन खाय।

इनकी कविता की तारीफ़ में यह कहा जाता है—'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।'

इनकी रचनाएँ—

भागवत दसमस्कन्ध, रुक्मिणी-मंगल, सिद्धान्त-पंचाध्यायी, रूपमंजरी रसमंजरी, मानमंजरी, विरहमंजरी, नामचिंतामणि माला। अनेकार्थनाममाला (कोश) दानलीला, मानलीला, अनेकार्थमंजरी, ज्ञानमंजरी, श्यामसगाई, भ्रमर-गीत, सुदामा-चरित। दो ग्रन्थ गद्य में भी लिखे हैं—एक हितोपदेश दूसरा नासिकेत पुराण। इनके सिवा २०० से ऊपर फुटकल पद्य भी मिलते हैं। परन्तु इनके केवल चार ही ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

१—रासपंचाध्यायी २—भ्रमरगीत ३—अनेकार्थ मंजरी ४—अनेकार्थ नाममाला।

कृष्णदास; ई० स० १५७०—

ये शूद्र थे। परन्तु वल्लभाचार्य के प्रिय शिष्य और भक्त थे। इसीसे श्रीनाथ जी के मन्दिर के अधिकारी नियुक्त हुए। एक बार किसी बात पर अप्रसन्न होकर

इन्होंने स्वयं विट्ठलनाथ जी की ड्योढ़ी बंद करदी। विट्ठलनाथ जी ने भी अधिकारी का मान रखा। जब महाराजा बीरबल ने यह सुना तो उन्होंने कृष्णदास को कैद कर लिया। इस पर विट्ठलनाथ जी ने अन्न-जल त्याग दिया, तब बीरबल ने कृष्णदास को छोड़ दिया। पीछे विट्ठलनाथ जी से मामला सुलझ गया और उनकी ड्योढ़ी खोल दी गई।

इन्होंने शृङ्गार-वर्णन अधिक किया है। इनके 'जुगल-मान-चरित्र' का अधिक सम्मान है। इनकी 'भ्रमर-गीत' और 'प्रेमतत्त्व-निरूपण' ये दो पुस्तकें और मिलती हैं। इनकी रचना सूर और नन्ददास से हल्की है। इनकी रचना का एक उदाहरण देखिए—

मो मन गिरिधर छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै, चिबुक चारु गढ़ि ठटक्यो।
सजल स्याम घन बरन लीन ह्वै, फिर चित अनत न भटक्यो।
'कृष्णदास' किए प्राण निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो।

परमानन्ददास; ई० स० १५५७—

ये वल्लभाचार्य के शिष्य और कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। भक्तों में इनका उच्च स्थान है। ये तन्मयता और भक्ति की विह्वलता में बड़े ही सरस और भावपूर्ण पद गाया करते थे। जिनका भक्तों में अब भी प्रचार है। आपने शृंगाररस में संयोगपक्ष के साथ वियोगपक्ष को भी अपनाया है। इनके ८३५ पद 'परमानन्द सागर' में हैं। उदाहरण देखिए—

ब्रज के बिरही लोग बिचारे।
बिनु गोपाल ठगे-से ठाढ़े, अति दुर्बल तन हारे॥
मात जसोदा पंथ निहारत, निरखत सांझ-सकारे;
जो कोई कान्ह-कान्ह कहि बोलत, अंखियन बहत पनारे।
यह मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे।
'परमानन्द' स्वामी बिनु ऐसे, ज्यों चंदा बिनु तारे॥

कुंभनदास; ई० सन् १५५८—

ये जमुनावती गांव के निवासी थे। इनकी संसार के प्रति पूर्ण विरक्ति थी। न सवारी में बैठते न दान लेते थे। इनके गुरु भी वल्लभाचार्य थे। ये कवि होने के अतिरिक्त गायक भी उच्च कोटि के थे। एक बार इन्हें सम्राट् अकबर के बुलाने

पर फ़तहपुर सीकरी जाना पड़ा था। वहां इनकी खातिर तो खूब हुई पर ये सन्तुष्ट न हुए। तब इन्होंने एक पद गाया—

संतन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पन्हैया टूटी, बिसरि गयो हरि नाम।
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबै परी सलाम।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम।

इनकी केवल फुटकर कविताएं मिलती हैं। इनका एक पद देखिए—

माई गिरिधर के गुण गाऊँ।
मेरे तो व्रत यही निसिदिन और न रुचि उपजाऊँ।
खेलन आंगन आउ लाडिले नेकहु दर्शन पाऊँ।
'कुंभनदास' इह जग के कारण लालच लागि रहाऊँ।

चतुर्भुजदास; ई० सन् १५६५—

ये कुंभनदास के पुत्र और विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनकी भाषा सरल, स्वाभाविक और सुव्यवस्थित है। इनकी पदावली में विशेषकर कृष्णलीला विषयक गानों का बाहुल्य पाया जाता है—इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—१. द्वादशयश, २. भक्तिप्रताप, ३ हितजू को मंगल।

मङ्गल आरती गोपाल की।
नित उठि मङ्गल होत निरखि मुख चितवन नैन विशाल की॥
मंगल रूप स्यामसुन्दर को मंगल छबि भृकुटी माल की।
'चतुर्भुजदास' सदा मंगल निधि बानिक गिरधर लाल की॥

छीत स्वामी; ई० सन् १५५६—

आप श्री विट्ठलनाथ के शिष्य थे। अष्टछाप कवियों में इनका आदरणीय स्थान है। पहले ये राजा बीरबल के यहां पण्डा थे, किन्तु बाद में पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर परम शांत भक्त होगए। इनके पद सरस और प्रेमानुभूति-मिश्रित हैं। इनकी विशेषता है, व्रज-भूमि के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति।

इनका एक छन्द देखिए :—

मेरी अंखियन के भूषण गिरधारी।
बलि-बलि जाऊं छबीली छबि पर, अति आनन्द सुखकारी॥
परम उदार चतुर चिन्तामणि, दास परस दुखहारी।
अतुल सुभाव तनक तुलसीदल मानत सेवा भारी॥

'छीतस्वामी' गिरिधर विशद यश गावत कुल नारी।
कहा वरण गुण गाथ नाथ के श्री विट्ठल हृदय बिहारी॥

गोविन्दस्वामी; ई० सन् १५५९—

आप श्री बिट्ठलनाथ के शिष्य थे। उच्चकोटि के गायक थे। यहां तक कि प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन भी आपका गाना सुनने आया करते थे। अतएव इनके पदों में संगीत का विशेष प्रवाह है।

कहा करौं वैकुण्ठहि जाय।

जहं नहिं कुंजलता अलि कोकिल, मंद सुगंध न वायु बहाय॥
नहिं सुनियत श्रवनन वंसी धुनि, कृष्ण न मुरली अधर लगाय।
सारस हंस मोर नहिं बोलत, तहं को बसिवो कौन सुहाय॥
नहीं वहां वृन्दावन वीथिन, गोपीनंद जसोदा माय।
'गोविंद' प्रभु गोपी चरनन की वृज रज तजि वहां जाय बलाय॥

अध्याय सत्रहवाँ

सौर-काल के कृष्ण-भक्त कवि

सूरदास ने जब रचना प्रारम्भ की तब हिन्दी की उत्पत्ति हुए आठ सौ वर्ष बीत गए थे। परन्तु इन ८०० वर्षों में लगभग सवासौ कवि हुए जिनमें निम्नलिखित चार को छोड़ कर प्रथम श्रेणी का कोई कवि नहीं था। चन्दबरदाई, खुसरो, कबीर और विद्यापति, केवल ये चार नाम ही हमें इन ८०० वर्षों के दीर्घकाल में सबसे ऊपर दीख पड़ते हैं।

सूर की रचनाओं में जो वल्लभी-तल्लीनता है उसी ने उनकी रचना में भावावेश का आधिक्य किया। यही तल्लीनता हमें थोड़ी बहुत चन्दबरदाई में दीख पड़ती है। चाहे जिस कारण से भी हो, चन्द की पृथ्वीराज के प्रति गहरी तल्लीनता थी—उसी से आवेशित होकर वे बरबस मुक्तकण्ठ से पृथ्वीराज की प्रशंसा करने में उत्साहित होते रहते थे। उनकी उर्वरा मेधा-शक्ति, दीप्तिवती प्रतिभा, दूरदर्शिता, अनुभूति तथा भाषा पर अधिकार, उनकी कविता को ओज देने में सहायक था। इसी से वे इतना उत्तम-काव्य उस काल में रच सके।

कबीर की रचनाएं अनूठी थीं, तथा उन में एक वैकल्य था। परन्तु तल्लीनता नहीं थी। कबीर के भाव-समुद्र में जब ज्वार उठता था तो वह उसे प्रकट करने को शब्द नहीं ढूंढ पाता था। उसे बहुत थोड़े शब्दों द्वारा ही अपने भावावेश को प्रवाहित करना पड़ा था। उसने अथक प्रयास तो किया, पर अपनी शिष्यमण्डली मे साहित्य का सिक्का नहीं जमा सका। न कबीर को, और न उसके शिष्यों की तल्लीनता कविता में प्रविष्ट हो पाई। इस तल्लीनता की प्रशंसा में मिश्रबन्धु कहते हैं—

"तल्लीनता एक भारी बल है, जिसके सन्मुख कोई भी वस्तु असंभव नहीं। इसी के वश योगीजन कंचन को पत्थर के ढेले की भांति समझ कर ईश्वरानन्द में निमग्न रहते, और कठिन से कठिन तपस्या में भी परमानन्द का अनुभव करते हैं, इसी के वशीभूत होकर शूरवीर रणक्षेत्र में तिल २ अंग कट जाने पर भी मुंह न मोड़ कर सहर्ष स्वर्ग-यात्रा करते हैं।"

(हिन्दी साहित्य का इतिहास)

इष्टदेव की भक्ति-भावना की तल्लीनता के कारण सूरदास और उनके साथी कविगणों ने व्रजभाषा को मुखरित कर दिया। तुरन्त ही वह मुग़ल दर्बार की दर्बारी साहित्य की भाषा बन गई। बादशाहों तक ने उसका आदर किया, उन्होंने स्वयं व्रजभाषा में रचना की। फ़ैज़ी, अब्बुलफ़ज़ल, बीरबल, टोडरमल आदि ने उस में कविताएं लिखीं। सूरदास ने पदों में कथा लिखने की रीति चलाई। जायसी ने कथा-प्रसंग की, और कृपाराम ने रीतिग्रन्थों की, प्रणाली की नींव डाली। १५वीं शताब्दी के पूर्व भाग में अनेक कविजनों ने कृष्णभक्ति की मोहभरी रचनाएं कीं जो 'भक्त-कल्पद्रुम' 'राग-सागरोद्भव' आदि ग्रन्थों में संगृहीत हैं।

दामो, दामोदर, बासुदेव लाल, गोपालदास, केशवदास, (दूसरे) नारायण, खेम, निर्मल, पद्मनाभ, माधवदास, कल्यानदास, मदनमोहन, मुरारी दास, श्याम, धौंधे, श्री भट्ट, अग्रदास, जगन्नाथ, तानसेन, जगजीवन, द्वारिकेस, विष्णुदास, त्रैलोक, चतुर विहारी, नरसैयां, रसिक विहारिनदास, श्री स्वामी विट्ठलनाथ, कान्हर दास, स्वामी हरिदास, व्रजपति, व्यास, भगवानहित, विट्ठल विपुल, गदाधर, आसकरन, रामदास, वृन्दावनदास, गोपालदास, दामोदरदास, रामराय, नरवाहन, केवलराम, रघुनाथ, वंसीधर, चन्द्र सखी, रसरंग, बलराम, माणिकचन्द, सगुनदास, करुनानिधि, अजानानन्द, विद्यादास, परशुराम, नवलसखी, संतदास, ललितकिशोरी

आदि कविवरों ने कृष्ण-कीर्तन से मानव-मेदिनी को आप्यायित कर दिया। कविता के प्रति समादर भावना इतनी बढ़ी कि स्वयं श्रीवल्लभाचार्य, हित जी, हरिदास जी, तथा विट्ठलदास जी भी कविता रचने लगे थे। इन्हीं वैष्णव संप्रदाय वालों की प्रेरणा से भारत में कृष्णलीला, रास और रामलीला का प्रचलन हुआ। बादशाह अकबर और ख़ानख़ाना रहीम ने व्रजभाषा में रचनाएं कीं। ख़ानख़ाना ने फ़ारसी मिश्रित, उर्दू मिश्रित, व्रज, ग्रामीण भाषा आदि सभी प्रकार की रचना की। यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण मुग़ल दरबार ने व्रज-साहित्य को अपना लिया।

हमने बताया है कि पिछले ८०० वर्षों में, जबसे हिन्दी का जन्म हुआ, सूरदास के काल तक केवल चार ही प्रमुख कवि देखने को मिलते हैं यद्यपि धर्म ने इस काल में अच्छी उन्नति की थी। भाषा भी समृद्ध हो चली थी परन्तु उसमें साहित्यिक सौन्दर्य नहीं आ पाया था। सौरकाल में धार्मिक अभिवृद्धि भी हुई तथा साहित्यिक सौन्दर्य भी उत्पन्न हुआ। कहना चाहिए कि साहित्यिक सौन्दर्य ही मुख्य रहा। इसीसे व्रजभाषा ने प्रान्त विभाषा के स्थान से बढ़कर राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर लिया। और भाषा का ऐसा सौंदर्य प्रसार हुआ तथा शृङ्गार सौंदर्य का ऐसा विस्तार हुआ कि उसका विषय—कृष्ण और राधा के रहते हुए भी धर्म-संदेश एक प्रकार से उसमें से खो ही गया।

सौरकाल से प्रथम हमें चार सूफ़ी कवि मिलते हैं। पर सौरकाल में केवल दो सूफ़ी कवि रह गए। मंझन और जायसी। जायसी की रचना कविता की दृष्टि से प्रशंसनीय थी। पर कृष्ण प्रभाव से वह ऐसी दबी कि फिर उसका महत्व ही न बढ़ा। कबीर और नानक द्वारा जो निर्गुणधारा बढ़ाई गई थी, वह इस समय दादू और उनके अनुयायी चला रहे थे। फिर भी सगुणवाद घर २ बढ़ रहा था। रामानंद और वल्लभाचार्य की राम और कृष्ण सम्बन्धिनी दक्षिण और वाममार्ग की भक्ति प्रथम ही चल चुकी थी, परन्तु सौरकाल में रामानंदी भक्ति पंगु हो गई और वल्लभी सिद्धांत काव्य-क्षेत्रों में अपनाए गये जिसका। प्रतिनिधित्त्व सूर, मीरा, अष्टछाप के कवि, हितहरिवंश, हरिदास आदि सामर्थ्यवान् वाक्पति करते जा रहे थे। तुकाराम, और एकनाथ महाराष्ट्र में साहित्य रच रहे थे। गंगभट्ट ने खड़ी बोली मिले पदों का उदाहरण प्रकट किया। तानसेन और हरिदास गायनाचार्य थे। अष्टछाप के कवि भी संगीत-साधना में निपुण थे। इस काल के कविगण जोधपुर, गुजरात, जायस, असनी, मेवाड़, वृन्दावन, तिरहुत, दिल्ली, आगरा, तिकवांपुर, ओरछा, बीकानेर और महाराष्ट्र प्रान्तों में फैले हुए थे। व्रजमण्डल उनकी

मुख्य भूमि थी। अष्टछाप से पृथक्, कवियों में भक्तों, सूफियों, कथाकारों, गद्य-लेखकों, रीतिकारों, सन्तों, गायकों और सम्प्रदाय के अनेक सुकवियों को हम पाते हैं जिनमें कुछ प्रमुखजन ये हैं।

हितहरिवंश; ई० सन् १५०३—

ये राधावल्लभी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। इस सम्प्रदाय में वाममार्ग-का प्राचुर्य था। अष्टछाप के कवियों के उपरान्त भक्ति-क्षेत्र में इनका ही स्थान है। ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे, और व्रजभाषा में बड़ी ही सरस और सुन्दर रचनाएं करते थे। इनकी रचना में मौलिकता भी खूब है। इन के पदों का संग्रह 'हित चौरासी' नाम से विख्यात है, अपनी रचना की मधुरता के कारण ये कृष्ण की बंसी के अवतार कहे जाते हैं। इन्होंने कृष्ण भगवान् की रासलीला और माधुरी मूर्ति का कैसा सुन्दर चित्रण किया है—

आजु बन नीको रास बनायौ।
पुलिन पवित्र सुगम जमुना-तट, मिलि रस-सिंधु बढ़ायौ॥
ताल मृदंग उदंग मुरज डफ, मिलि रस–सिन्धु बढ़ायौ।
विविध–विरुद वृषभानु-नन्दिनी, अंग–सुढंग दिखायौ॥

गदाधर भट्ट; ई० सन् १५४५—

ये दक्षिणी ब्राह्मण थे और चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे। ये भागवत को गा-गाकर सुनाया करते थे। संस्कृत के विद्वान् होने के कारण आपकी रचना में संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। आपकी भाषा परिमार्जित, सुन्दर, सरस तथा सारगर्भित है। आपके पदों में 'विनय-पत्रिका' के पदों का सा आभास लक्षित होता है। आपके पदों में साहित्यिक सौष्ठव के साथ अनुराग, भक्ति और त्याग की मात्रा अधिक है। आपकी रचना का एक नमूना देखिए:—

झूलति नागरि नागर लाल।
मंद मंद सब सखी झुलावति, गावति गीत रसाल॥
फरहरात पट पीत नील के, अंचल चंचल चाल।
मनहुँ परस्पर उमगि ध्यान छवि, प्रगट भई तिहिंकाल॥
सिल सिलात अति प्रिया सीस तें, लटकति वेनी भाल।
जनु पिय मुकुट बरहि भ्रमबस तहँ, ब्याली बिकल बिहाल॥
मल्ली-माल प्रिया के उरकी, पिय तुलसी-दल माल।
जन सुरसरि रवितनया मिलिकै, सोभित श्रेनि-मराल॥
स्यामल गौर परस्पर प्रति छवि, सोभा बिसद बिसाल।
निरखि गदाधर रसिक कुंवरि मन, परयौ सुरस जंजाल॥

स्वामी हरिदास; ई० सन् १५४४—

ये वृन्दावन में रहते थे तथा निम्बार्क सम्प्रदाय में थे। इन्होंने टट्टी सम्प्रदाय की शाखा निकाली। इस सम्प्रदाय में विट्ठलविपुल, विहारिनिदास, दोनों नागरीदास, सरसदास, नवलदास, नरहरिदास. चौबे ललितकिशोरी, मौनीदास आदि अच्छे कवि हुए। यह प्रसिद्ध भक्त, गायक और विरक्त थे। तानसेन इन्हें अपना गुरु मानते थे। अकबर छद्मवेश में आकर इनका गाना सुनते थे। ऐसी किम्वदन्ती है। इनके पद गेय तो हैं पर उनमें कवित्व माधुरी की कमी है। इनके पदों के ३।४ संग्रह छपे हैं।

एक पद देखिए—

ज्योंहि ज्योंहि तुम राखत हौं, त्यों ही त्यों ही रहियत हौं, हे हरि।
और अपरचै पाय धरौ सुतौ, कहौ कौन के पैंड़ भरि।
जदपि हौं अपनो भायो कियों चाहों, कैसे करि सकौं जो तुम राखो पकरि।
कहे हरिदास पिंजरा के जनावर लौं तरफराय रह्यो उड़िबे को कितोऊ करि।

सूरदास मदनमोहनः—

ये अकबर बादशाह की ओर से संडीले के अमीन थे। गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव थे। ये साधुसंतों को खूब खिलाते पिलाते रहते थे। एक बार संडीले तहसील की मालगुजारी के कई लाख रुपये सरकारी खजाने से लेकर साधुओं को खिला दिये। और खजाने के संदूक में पत्थर भर कर यह पुर्जा लिख कर रख दिया।

तेरह लाख संडीले आए, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदनमोहन आधी रातहिं खिसके।

और आधीरात को भाग खड़े हुए। पीछे बादशाह ने इन्हें क्षमा करके बुलाना चाहा, पर ये विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे। इनकी कोई पुस्तक नहीं है। पर पद सरस होते थे। देखिए—

मधु के मतवारे स्याम, खोलो प्यारे पलकैं।
सीस मुकुट लटा छुटी, और छुटी अलकैं॥
सुरनर मुनि द्वार ठाढे, दरस हेतु कलकैं।
नासिका के मोती सोहैं, बीच लाल ललकैं॥
कटि पीताम्बर मुरली कर श्रवन कुण्डल झलकैं।
सूरदास मदनमोहन, दरस दैहों भलकैं।

श्री भट्ट; ई० सन् १५३९—

ये निम्बार्क सम्प्रदाय के विद्वान् केशव काश्मीरी के प्रधान शिष्य थे। इनकी कविता सीधी-सादी होती थी। इनका एक ग्रन्थ 'युगल-शतक' १०० पदों का आदर से देखा जाता है। एक पद देखिए—

भीजत कब देखौं इन नैना।
स्यामजू की सुरंग चूनरी, मोहन को उपरैना॥
स्यामा स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैंना।
श्रीभट उमड़ि घटा चहुं दिसि तें घिरि आई जल सैना॥

व्यास जी; ई० सन् १५६४—

इनका पूरा नाम हरिराम व्यास था। ये ओरछा निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे तथा ओरछा नरेश मधुकरशाह के गुरु थे। पहिले ये गौड़ सम्प्रदाय के वैष्णव थे। पीछे हितहरिवंश जी के शिष्य होकर राधाबल्लभी हो गये थे। ये संस्कृत के शास्त्रार्थी पण्डित थे। इन्होंने वृन्दावन जाकर हितहरिवंश जी को एक बार शास्त्रार्थ के लिये ललकारा था, तब उन्होंने यह पद बनाया।

यह जो एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनै सचु पायो।
जहँ तहँ विपति जार जुबती ज्यों प्रगट पिंगला गायो॥

इस पर वे उनके भक्त हो गए और पीछे दीक्षित भी हो गये और वृन्दाबन में ही बस गये। इनकी रचना बहुत हैं और उनमें सामाजिक बातें भी हैं। ये रसगान के अतिरिक्त तत्त्वनिरूपण भी करते थे।

प्रेम को ये 'अतन' कहते थे। इन्होंने रामभक्ति और वैराग्य पर अनेक पद, और साखी लिखी हैं। इन्होंने एक 'रास-पंचाध्यायी' की भी रचना की है। उदाहरण देखिए—

आज कछु कुंजन में बरषा सी।
बादल-दल में देखि सखी री!
चमकति है चपला सी।
नान्ही बूँदन कछु धुरवा से।
पवन बहै सुख रासी।
मन्द मन्द गरजनि सी सुनियतु,
नाचत मोर-सभा सी।
इन्द्र धनुष बगपंगति डोलति,
बोलति कोककला सी।

इन्द्र वधू छवि छाइ रही मनु,
गिरि पर अरुन घटा सी।
उमगि महीरुह स्यों महि फूली,
भूली मृग माला सी।
रटति प्यास चातक ज्यों रसना,
रस पीवत हू प्यासी।

निपट निरंजन; ई० सन् १५३८—

इन से सम्राट् अकबर ने भेंट की थी। ये कबीर की भांति स्पष्टवादी और ज्ञान व्याख्याता थे। इनकी भाषा में व्रजभाषा और खड़ी बोली का पुट रहता था। एक उदाहरण देखिए—

छन मन छाका जाके छके से अछक होत,
अछन छका है, घूम घूमत घुमारी का।
दिन निसि, निसिदिन, जब सुधि आवति है,
तब उपजावे सुधि साहब सुमारी का।
निपट निरंजन अमर मरने का नहीं,
एक मार मारूँ नाम आवे ना दुवारी का।
हौं तो ओछे मद का न लेन वाला,
पूर करूँ प्याला, खोज रहे ना खुमारी का।

नरोत्तम; ई० सन् १५२४—

ये जिला सीतापुर के वाड़ी नामक स्थान के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। आपका एक छोटा सा सुदामाचरित्र मिलता है, जिस में उच्च कोटि का कवित्व-प्रदर्शन हुआ है। देखिए—

तैं तो कहै नीकी सुनु मोसौं बात जीकी,
यह रीति मित्रयी की नित प्रति सरसाइये।
चित के मिले ते वित चहिए परसपर,
जेइये जुमीत के तो आपने जिमाइये।
वे हैं महाराज जोरि बैठत समाजभूप,
तहां यहि रूप जाय कहा सकुचाइये।
दुखै सुखै अब तौं बनत दिन भरे भूलि,
विपति परे पै द्वार मीत के न जाइये।

ध्रुवदास ई० स० १६२५—

ये हितहरिवंश जी के स्वप्न शिष्य थे। वृन्दाबन में बहुत रहते थे। इन्होंने छोटे बड़े मिला कर ४० ग्रन्थ रचे हैं। जिन में भक्ति और प्रेमतत्त्व का दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैये आदि छन्दों में वर्णन किया है। इनकी कविता सरस होती थी। एक उदाहरण देखिए—

बहु बीती थोरी रही, सोऊ बीती जाय।
हित ध्रुव वेगि विचारिके, बसि वृन्दाबन आय।
बसि वृन्दाबन आय त्यागि लाजहि अभिमानहि।
प्रेमलीन ह्वै दीन आपको तृन सम जानहि।
सकल सार कौ सार, भजन तू करि रस-रीती।
रे मन सोच विचार, रही थोरी बहु बीती।

छीहल; ई० स० १५१९—

ये राजपूताना के निवासी थे। इनकी एक छोटी सी पुस्तक 'पंचसहेली' और 'बावनी' मिलती हैं। प्रथम में पांच सखियों की विरह-वेदना वर्णित है। उदाहरण—

देख्या नगर सुहावना, अधिक सुचंगा थानु।
नाऊँ चंदेरी परगटा, जनु सुरलोक समान।
ठांइँ ठांइँ सर पेखिय, सूभर भरे निवाण।
ठांइँ ठांइँ कुवा बावरी, सोहइ फकटि सवाँण।
पन्द्रह सै पचहत्तरे, पूनिम फागुन मास।
पंच सहेली वर्णई, कवि छीहल परगास।

लालदास; ई० स० १५३१—

ये रायबरेली के हलवाई थे। इन्होंने 'हरिचरित्र' और 'भागवत दशमस्कन्ध भाषा' अवधी मिश्रित भाषा में लिखी। इनकी कविता साधारण श्रेणी की है। 'दशमस्कन्ध भाषा' का उल्लेख प्रसिद्ध फ्रेन्च विद्वान् गार्सों-द-तासी ने किया है, और यह भी लिखा है कि उसका अनुवाद फ्रेन्चभाषा में हुआ है। इनका उदाहरण—

सकल संत कह नावौं माथा,
बलि बलि जैहौं जादव नाथा।
रायबरेली बरनि अबासा,
लालच रामनाथ कै आसा।

कृपाराम; ई० स० १५४२—

इन्होंने रस रीति पर एक ग्रन्थ 'हिततरंगिणी' दोहों में लिखा है। लक्षण-ग्रन्थों में यह बहुत पुराना है। इसमें अपने से प्राचीन छन्दविस्तार सम्बन्धी हिन्दी रचनाओं का उल्लेख किया है, जो अब अनुपलब्ध हैं। 'हिततरंगिणी' के दोहे बहुत सरस और भावपूर्ण हैं। एक उदाहरण—

लोचन चपल कटाच्छ सर, अनियारे विष पूरि।
मन-मृग बेधैं मुनिन के, जग-जन सहत बिसूरि।

बलभद्र मिश्र; ई० स० १५४४—

ये ओरछा निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका 'नखशिख' शृङ्गार का अच्छा ग्रन्थ है। ये केशवदास के समकालीन थे। इन्होंने नायिका के अंग-वर्णन को स्वतन्त्र विषय बनाया है। रचना इनकी परिमार्जित और प्रौढ़ है। गोपाल कवि ने इनके 'नखशिख' पर सन १८३५ में टीका लिखी थी। उन्होंने इनके तीन ग्रन्थों का और उल्लेख किया है बलभद्री व्याकरण, हनुमन्नाटक, और गोवर्धन सतसई। पीछे इनकी एक और पुस्तक 'दूषण विचार' मिली है। इनके 'नखशिख' का एक उदाहरण लीजिए।

मरकत के सूत, कैधों पन्नग के पूत अति राजत अभूत तमराज कैसे तार हैं।
मखतूल गुन-ग्राम सोभित सरस स्याम, काम-मृग कानन, कै कुहू के कुमार हैं॥
कोपकी किरन, कै जलज-नाल नील तंतु, उपमा अनंत चारु चंवर सिंगार हैं॥
कारे सटकारे भीजे सोंधे सों सुगंध बास, ऐसे बलभद्र नवबाला तेरे बार हैं॥

बनारसीदास; ई० स० १५८३—

ये गोस्वामी तुलसीदास के मित्र थे और आगरे में रहते थे। इनका जन्म जौनपुर में हुआ था। खोज में इनके अनेक ग्रन्थ मिले हैं। हाल ही में बिना नाम का एक खण्डित ग्रन्थ मिला है। इसमें प्रहेलिका, कहरानामा की चाली, अजितनाथ के छन्द, श्रीशान्तिनाथ के छन्द, त्रिभंगी, नव-सेना-विधान, मिथ्यात्व वार्ता, प्रस्ताविक कर्म, चौदह विद्या, छत्तीस पौन, सप्तमिथ्यात्वदशा, गोरखवचनिका, वैद्यज्योतिषी, वैष्णव के लक्षण, मुसलमान के लक्षण, गब्बर के नाम, हिन्दू-मुसलमान-ऐक्य और उपदेश, चौदह नेम, वचनिका, निश्चय व्यवहार का विवरण, आगम अध्यात्म स्वरूप वर्णन, निमित्त, उपादान, रामजिनप्रतिमास्तुति, मूढ़शिक्षा, रामायण का आध्यात्मिक वर्णन, परमार्थ हिंडोलना, प्रस्ताव आदि विषयों पर सुन्दर वर्णन है। इन्होंने शैव, बौद्ध, वैदिक, नैयायिक, मीमांसक और जैन मतों को ही षड्दर्शन कहा है, इस ग्रन्थ में गद्य पद्य दोनों हैं, गद्य परिमार्जित एवं विराम-चिह्नों सहित है। एक प्रसंग के अन्त में संवत १६७० वि० लिखा है। गद्य का नमूना देखिए—

'एक जीव ताके अनंत गुन अनंत पर्याय···जीवपिण्ड की अवस्था याहि भांति। अनन्त जीव द्रव्य सपिण्ड रूप जाने। एक जीव द्रव्य अनन्त पुद्गल द्रव्य करि संयोजित मानते। ताको व्यौरो। अन्य अन्य रूप जीव-द्रव्य ताकी परनति।'

इन्होंने सर्वप्रथम 'आत्मचरित' लिखा, और सम्भवतः ये ब्रजभाषा के सर्वप्रथम जैनकवि हैं। इनकी भाषा बहुत प्राञ्जल है, इनकी ब्रजभाषा की रचना १७वीं शताब्दी की परिमार्जित ब्रजभाषा का उत्तम नमूना है, वह सुन्दरदास जी के समान है। इनकी ध्रुव-वन्दना का एक छन्द देखिए—

काया सों विचार प्रीति, माया ही में हार जीत,
लिये हठ रीति जैसे हारिल की लकरी।
चंगुल के जोर जैसे गोह गहि रहै भूमि,
त्योंही पाँय गाड़ै पै न छाँड़ै टेक पकरी।
मोह की मरोर सों मरम को न ठौर पावे,
धावे चहुँ ओर ज्यों बढ़ावे जाल मकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूलि झूठ के झरोखे झूलि,
फूली फिरे ममता जंजीरन सों जकरी।

प्रसिद्ध है कि ये पहले शृंगारी कविता लिखा करते थे, तबियत के भी रंगीले थे। पीछे वे सब रचनाएं गोमती नदी में फैंक कर ज्ञानपूर्ण रचनाएं करने लगे। ये अच्छे विद्वान् थे। इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का पता लगा है—बनारसी विलास, नाटक समयसार, नाममाला (कोश), अर्धकथानक, बनारसी पद्धति, मोक्षपदी, ध्रुव-वंदना, कल्याण मन्दिर भाषा, वेद निर्णय पंचाशिका, मारगनविद्या।

सेनापति; ई० स० १५९०—

ये अनूपशहर के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये महाकवि थे। तुलसीदास के बाद जिन सत्कवियों ने अपनी पीयूष वाणी से हिन्दी का सत्कार किया उन में सेनापति का नाम सर्वप्रथम है। इनके तीन ग्रंथ मिलते हैं। १ कवित्तरत्नाकर, २ हजारा, ३ काव्यकल्पद्रुम। ऋतुवर्णन इनका बड़ा हृदयहारी है। शिवसिंह-सरोज में लिखा है कि इन्होंने क्षेत्र-संन्यास ले लिया था। इनके भक्ति-भावपूर्ण कवित्त का एक उदाहरण देखिए—

महा मोह कंदनि में जगत जकंदनि में, दिन दुख दंदनि में जात हैं बिहाय कै।
सुख को न लेस है, कलेस सब भांतिन को, सेनापति याही तें कहत अकुलाय कै।
आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजौं, डारौं लोककाज के समाज बिसराय कै।
हरिजन पुंजनि में, वृन्दावन कुंजनि में, रहौं बैठि कहूँ तरवर तर जाय कै।

'कवित्तरत्नाकर' इनका सब से पिछला ग्रन्थ है। एक और उदाहरण—

वृष को तरनि, तेज सहसौ करनि तपै, ज्वालनि के जाल विकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जग झुरत झुरनि सीरी-छांह को पकरि पंथी पंछी बिरमत हैं।
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत, धमका विषम जो न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू, घरी एक बैठि कहू घामैं बितवत हैं।

लब्धोदय या लालचन्द; ई० स० १६२५—

ये मेवाड़ निवासी जैन श्रावक थे। इन्होंने जायसी के समान ही 'पद्मिनी-चरित्र' मरुभाषा में लिखा है। कथानक में जायसी से भेद है, रचना गीतिकाव्य के ढङ्ग पर हुई है। एक उदाहरण देखिए—

सिंहलदीपनो राजियो रे सिंहल सिंह समान रे ।
तसु बहण छै पद्मिणी रे, रूपे रंभ समान रे ॥
जोवन लहरयाँ जाय छै रे, ते परणू भरतार रे ।
परतज्ञा जे पूरवै रे, तासु वरै वरमाल रे ॥

अध्याय अठारहवाँ

सौरकाल से प्रभावित मुस्लिम-कवि

यह सच है कि मलिक मुहम्मद जायसी और उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सूफ़ी कवि हिन्दी भाषा में हिन्दू-चरित्रों को लेकर रचना करते आए थे, परन्तु यह भी सच है कि उस कविता में हिन्दू-धर्म-तत्त्व नहीं था। न उस कविता की काव्य-परिपाटी ही हिन्दू भावना से संश्लिष्ट थी। यदि खूब गहराई से विचार किया जाय तो यह एक प्रयास था--जो ये सूफ़ी फ़क़ीर हिन्दू जनता के पूज्य, विश्वस्त और आध्यात्मिक गुरू बनने के लिये करते आए थे। इन रचनाओं में प्रचलित हिन्दूचरित्र-प्रधान दन्तकथाएं कह कर उनमें अपने सूफ़ीतत्त्व की फ़िलासफ़ी आरोपित की गई थी और इस प्रकार वे अक्षुण्ण मुस्लिम सन्त रहते हुए भी हिन्दू जनता के पीर बना चाहते थे। एक हद तक मलिक मुहम्मद इस कार्य में सफल भी हो गये थे। और वे अपने जीवनकाल में पीर की भांति पूजे जाने लगे थे। हिन्दू-मुस्लिम दोनों ही उन्हें पूज्यदृष्टि से देखने लगे थे।

इन मुस्लिम सूफ़ी सन्तों के अलावा मुस्लिम सन्तों ने हिन्दुओं के निकट विश्वस्त होने और आदर के पात्र बनने के दो और भी उपाय किए थे। एक उपाय यह कि प्राचीन बौद्धों, सिद्धों और नाथों के ढंग पर वे अपने को सिद्ध प्रकट करते थे। अपनी चमत्कारिक अलौकिक शक्तियों का जनता में प्रचार करते और करामाती बनते थे। यद्यपि यह सब उसी प्रकार का ढोंग था जैसा कि हम प्राचीन सिद्धों का देख आये हैं, हिन्दू जनता इन सिद्धियों पर विश्वास करने पर भी उनके प्रति पूर्णरूप से आश्वस्त नहीं हुई। यद्यपि उन्हें तत्कालीन मुसलमान बादशाहों का पूरा आश्रय मिला, तथापि वे साधु असफल ही रहे।

दूसरे प्रकार का प्रयास कबीर का अद्भुत प्रयास था। यह मुसलमान जुलाहा काशी जैसी जगह में हिन्दुओं की नाक पर बैठकर हिन्दू-मुसलमान दोनों को खरी २ सुना रहा था। कबीर ने अपना एक महत्व अवश्य स्थापित किया, परन्तु इतना नहीं कि वह हिन्दुओं का आध्यात्मिक नेता बन जाता। कबीर के जीवन में केवल छोटी ही जाति के लोग उससे प्रभावित रहे। परन्तु इन सूफ़ी सन्तों को अधिक से अधिक सफलता मिली और वे हिन्दी भाषा में हिन्दू चरित्रों के द्वारा हिन्दुत्व के विश्वासों में अपने मुस्लिम सूफ़ी-सिद्धान्तों को अपेक्षाकृत अधिक सफलता से प्रवेश कर सके। एक बात और है—ये सिद्ध फ़क़ीर, सूफ़ी साधु तथा कबीर भी हिन्दू धर्मतत्त्व के आधीन कभी नहीं हुए। ये हिन्दुओं के गुरू, उपदेष्टा, पूज्यपुरुष और महान् ही होने का प्रयत्न करते रहे।

सूरकाल में पहिले पहिल रसखान के रूप में मुस्लिम हृदय ने हिन्दू धर्मतत्त्व और हिन्दू देवता के आगे सिर झुकाया। और अपने को एक निरीह अपदार्थ समझकर सम्पूर्ण भक्ति निवेदन की। मुस्लिम कवियों में सूरकाल का यह प्रभाव सूरकाल के बहुत बाद तक चलता ही चला गया। हम यहां उसका यत्किंचित् आभास आपको देंगे। आलम और रसखान से यह हिन्दू धर्मतत्त्व के प्रति जो आत्मार्पण प्रारम्भ हुआ सो आगरे के प्रसिद्ध कवि नज़ीर तक शताब्दियों को लांघता हुआ चला ही गया। अब आप इन कवियों की भाव-व्यंजनाओं की बानगी देखिए—

रसखान; जन्म सं० १५८४—

ये दिल्ली के एक पठान सरदार थे। इन्होंने लिखा है—

देखि ग़दर हित साहबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-बंस की, ठसक छाँडि रसखान।

'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में इनका उल्लेख है। ये विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। इन्होंने सौरकाल की परम्परा में प्रचलित गीति-काव्य की शैली त्याग कर कवित्त-सवैये की शैली पर उत्तम रचना की।

अभी तक इनके 'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान' नामक दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। पहले में केवल ५२ दोहे एवं सोरठे हैं, जिनमें प्रेम का हृदयहारी विशुद्ध चित्र अङ्कित किया गया है—

प्रेम प्रेम सब कोउ कहत, प्रेम न जानत कोय।
जो जन जानै प्रेम तो, मरै जगत क्यों रोय॥

प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर सरिस बखान।
जो आवत यहि ढिँग बहुरि, जात नाहिं रसखान॥
प्रेम वारुनी छानि के, वरुन भये जब धीस।
प्रेमहि ते विषपान करि, पूजे जात गिरीस॥
दम्पति सुख अरु बिषय रस, पूजा निष्टा ध्यान।
इनते परे बखानिये, शुद्ध प्रेम' रसखान॥

इनके अन्य ग्रन्थ 'सुजान रसखान' में १२९ छन्द हैं, जिनमें प्राय: १० दोहे, सोरठादि और शेष कवित्त सवैया हैं। शुद्ध व्रज-भाषा में, इन्होंने प्रेम का जैसा सुन्दर निदर्शन किया है, वैसा सुन्दर निदर्शन हिन्दी के दो चार कवियों को छोड़ कर अन्य कोई भी नहीं कर सका। प्रेम और भक्ति का सामंजस्य इन्होंने अपनी कविता में खूब किया है। देखिए—

मानुष हों तो वही रसखान
बसौं संग गोकुल गांव के ग्वारन।
जो पसु हों तो कहां बसु मेरो
चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन॥
पाहन हों तो वही गिरि को
जो कियो व्रज छत्र पुरन्दर कारन।
सो खग हों तो बसेरो करौं वही
कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥

या लकुटी अरु कामरिया
पर राज तिहूं पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौं निधि के
सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं॥
नैनन सों रसखान जबै
व्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतिक हू कलधौत के धाम
करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

अन्य कवियों की तरह रसखाम ने भी कृष्ण के बाल-चरित्र का वर्णन किया है। बाल-सुलभ-भावों की चपलता और चंचलता का कैसा सुन्दर चित्र इन पदों में खींचा गया है—

धूर भरे अति सोहित स्याम जू,
तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।

खेलत खात फिरै अंगना पग,
पैंजनी बाजती पीरी कछोटी॥
वा छबि को 'रसखान' बिलोकत,
वारत काम कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि,
हाथ सौं लै गयो माखन रोटी॥

कहीं-कहीं इनका पद-लालित्य और विषय-प्रतिपादन इतना सुन्दर हुआ है कि लेखनी लिखने में अपनी असमर्थता प्रकट करती है। इनके इस सवैया को पढ़िए—

कौन ठगोरी भरी हरि आज,
बजाई है बांसुरिया रस भीनी।
तान सुनी जिन हीं जित हीं,
तिनहीं तित लाज बिदा करि दीनी॥

समाराधन के ताप से द्रवीभूत भक्त रसखान के हृदय में कितना स्नेह आया था, ये पंक्तियां इसका हाल बयान कर रही हैं। सवैया के योग्य शब्द-योजना करने में जितने कुशल ये थे, उतने कुशल हिन्दी-कवियों में शायद ही कोई हो। इनके कवित्तों में भी एक प्रकार का आनन्द मिलता है—

कहा रसखान सुख सम्पत्ति सुमार कहा,
कहा तन जोगी ह्वै लगाये तन छार को।
कहा साधे वंचानल कहा सोये बीचनल,
कहा जीति लाये राज सिन्धु आरपार को।
जप बार बार तप संयम बयार-ब्रत,
वीरथ हजार अरे बूझत लवार को।
कीन्हों नहीं प्यार सेयो दरबार चित्त,
चाह्यो न निहार जो पै नन्द के कुमार को।

रसखान की कृति यद्यपि परिमाण में अधिक नहीं मिलती पर जितनी मिलती है, उतनी ही से उनके सच्चे कवि-हृदय की सहृदयता तथा भावुकता का भली भांति परिचय मिल जाता है।

आलम; ई० सन् १५६४—

आप जाति के ब्राह्मण थे, पर शेख़ नामक एक रङ्गरेजिन के प्रेम-पाश में आबद्ध हो पीछे मुसलमान हो गये। इन्होंने 'माधवानलकामकन्दला' एक

प्रेम-कहानी दोहों चौपाईयों में लिखी। इसमें आध्यात्मिक दृष्टि नहीं है। कहानी अपभ्रंश काल की है।

'दोहा सार' भी आपका ग्रन्थ है—उसके कुछ दोहे ये हैं—

'आलम' प्रेम वियोग में, उठत अटपटी झार।
मन लागै जियरा जरै, लाज होत जरि छार॥
हित चित दै सब ही सुनौ, सांच कहत है शेख़।
सङ्गत तैसो होत फल, वामे मीन न मेख॥
शेख़ सुमन औसत पुरुष, तीजो ठौर न जायं।
कै सब के सिर पै रहै, कै बन मांझ विलायँ॥

आलम की कविताओं का एक संग्रह 'आलम केलि' के नाम से प्रसिद्ध है। आपने 'माधवानलकामकंदला' नाम की एक प्रेम-कहानी भी पद्य में लिखी है।

कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन इन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

झीनी सी झंगूली बीच झीनो आंगु झलकत।
झुमरि झुमरि झुकि ज्यों ज्यों झूलै पलना॥
घूंघुरू घुमत बने घुंघुरा के छोर घने।
कारे घुंघुरारे मानो घन कारे चलना॥
'आलम' रसाल जुग लोचन विशाल लोल।
ऐसे नन्दलाल अन देखे कहूँ कल ना॥
बेर बेर फेरि फेरि गोद लै लै घेरि घेरि।
टेरि टेरि गावैं गुन गोकुल की ललना॥

आलम का प्रकृति-पर्यवेक्षण भी बहुत अच्छा है। 'यमुना-निकुंज' के वर्णन में इसका अच्छा परिचय मिलता है। जैसे:—

अलि पतंग मृग मीन दीन छवि छीन नलिन पुनि।
गज वाजी कुन्दनहिं हंस सारस कदाली गुनि॥
कोकिल कीर कपोत कुन्द जो पटतर भाषहिं।
हौं क्यों बहि विधि कहौ बुद्धि अनचाहत नाषहिं॥
वृषभानु सुता सम कहन कहं, आलम त्रिभुवन में सुकुछ।
यह मन वच क्रम कै जानियहु, कहि कहि वीसो सबै तुछ॥

कारेख़ां फ़कीर—

ये जाति के रंगरेज तथा मस्त फ़क़ीर थे। कृष्ण के बड़े भक्त थे। इन्होंने कृष्ण पर १०८ कवित्त कहे हैं। एक उदाहरण देखिए—

वृन्दावन कीरत विनोद कुंज कुंजन में,
आनन्द के कंद लाल मूरति गुपाल की।
कालीदह कवि 'कारे' पताल पैठि नाग नाथ्यो,
केतकी के फूल तोरि लाए माला हार की।
परसत ही पूतना परम गति पाय गई,
पलक ही पार पारयो अजामिल नारकी।
गीद गुन गानहार, छाछ के उगाहन हार,
आयो ना अहीर क्यों हमारी बार बार की।

क़ादिर; ई० स० १५७९—

कादिर बख्श पिहानी ज़िला हरदोई के रहने वाले तथा सैयद इब्राहीम के शिष्य थे। ये अच्छी भाषा लिखते थे। एक उदाहरण देखिए—

गुनको न पूछै कोऊ, औगुन की बात पूछै,
कहा भयो दई! कलिकाल यों खरानो है।
पोथी औ पुरान ज्ञान ठहन में डारि देत,
चुगुल चवाइन को मान ठहरानो है,
'क़ादिर' कहत यासों कछु कहिवे की नाहीं,
जगत की रीति देखि चुप मनमानो है।
खोलि देखो हियो सब औरन सों भांति भांति,
गुन ना हिरानो गुन गाहक हिरानो है।

जमाल; ई० स० १५७१—

इनके नीति और शृंगार के दोहे राजपूताने में बहुत प्रसिद्ध हैं। एक उदाहरण यहां देते हैं।

मनसा तो गाहक भए, नैना भए दलाल,
धनी बसन बेचे नहीं, किस विध बने जमाल।
वालपणे धोंला भया, तरुण पणे भया लाल,
वृद्ध पणे काला भया, कारण कौन जमाल।

मुबारक; ई० सन् १५८४—

आप अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् होते हुए भी हिन्दी में अच्छी कविता करते थे। कहा जाता है कि इन्होंने नायिकाओं का सर्वांग वर्णन अलग-अलग एक-एक शतक में लिखा था। किन्तु इस समय उनमें से 'अलक-

शतक' और 'तिलशतक' ही पाए जाते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त और भी बहुत से कवित्त सवैये फुटकल रूप में मिलते हैं। नायिका-वर्ण्य-विषयक होने से इनका काव्य अधिक श्रृंगाररसपूर्ण हो गया है। उत्प्रेक्षा के मैदान में ये बहुत बढ़ गए हैं। इनकी कल्पना भी निराली होती थी। उदाहरणार्थ 'अलकशतक' के कुछ दोहे लिखे जाते हैं:—

लगी मुबारक झुकि अलक, काल बेंदुली भाल।
लेत मोल ससि ते सुधा, देत मोल मनि ब्याल॥
लपटि मुबारक लट रही, माथे चांवर चारु।
मनु फनि बैठे चन्द पर, चन्दन चौकी डारु॥
अलक मुबारक तिय बदन, लटक परी यों साफ़।
खुस नवीस मुनसी मदन, लिख्यो कांच पर काफ़॥
घूंघट नील निचोल में, लट लटकी तिय भाल।
लरत चन्द्रमा राहु चलि, बीच करत मनु ब्याल॥

रसलीन; ई० स० १७४६—

इनका पूरा नाम सैयद गुलामनबी था। आपका प्रथम ग्रन्थ 'अङ्ग-दर्पण' काव्य की दृष्टि से बहुत ही उत्कृष्ट है। उक्त ग्रन्थ में १७७ दोहे हैं, जिनमें नख-शिख-वर्णन बड़े अच्छे ढङ्ग से किया गया है। काव्य-रसिकों के लिए यह ग्रन्थ बड़ा ही अपूर्व तथा महत्त्वपूर्ण है। निम्नलिखित दोहा जिसे प्रायः लोग बिहारी का समझा करते हैं, इसी अपूर्व सरोवर की एक तरंग है:—

अमिय हलाहल मदभरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

इनका दूसरा ग्रन्थ 'रस-प्रबोध' है।

रसलीन ने मुसलमान होते हुए भी व्रजभाषा में बड़ी अच्छी कविता की है। इनकी कविता में चमत्कार तथा उक्ति-वैचित्र्य विशेष रूप से पाया जाता है। फ़ारसी के शब्द भी बहुत कम आये हैं। कल्पना की लम्बी उड़ान में भी खूब उड़े हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा के क्षेत्र में इन्होंने भी खूब उछल-कूद की है। उदाहरण-स्वरूप कुछ दोहे देखिये:—

'प्रिय मूरति मेरी सदा, राखत दृगन बसाय।
डरपति गोरी देह यह, मत कारी ह्वै जाय॥

हौं न सहौंगी बात अलि, तोसों कहति निसंक ।
मेरे मुख को चंदकहि, लावत लाल कलंक ॥'

महबूब; ई० स० १७०५—

इनके बारे में कुछ विशेष ज्ञात नहीं । काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज में इनका जन्म-काल सं० १७६१ दिया हुआ है । स्फुट कविता के अतिरिक्त इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता । इनकी रचना रसीली, अनुप्रास-पूर्ण तथा मनोहर है ।

मृगमद गन्ध मिलि चन्दन सुगन्ध बहै,
केसर कपूर धूरि-पूरत अनन्त है ।
मौर मद गलित गुलाबन बलित भौंर,
भनै 'महबूब' तौर और दरसन्त है ॥
रच्यो परपंच सरपंच पंचसरजू ने,
कर लै कमान तानि विरही हनन्त है ।
छीनि छिति लई ऋतु राजत समाज नई,
उनई फिरत भई सिसिर बसन्त है ॥

अहमदुल्लाह; ई० सन् १७१७—

जब दिल्ली की गद्दी पर मुहम्मदशाह शासन कर रहा था, इन्होंने महमद फाज़िल नामक अपने मित्र के लिए 'दक्षनविलास' नामक एक ग्रंथ बनाया । इसमें नवरस तथा नायिकाभेद का वर्णन अच्छे ढंग से किया गया है । इनका उपनाम 'दक्षन' था । ये फ़ारसी और अरबी भाषा के पूर्ण मर्मज्ञ थे । इन्होंने बहुत दूर-दूर के स्थानों का पर्यटन किया था ।, जैसा कि "दक्षनविलास" के प्रारम्भ में दिये हुए, निम्न छप्पय से ज्ञात होता है—

भाषा काव्य रसाल तामें दक्षन पद पायो ।
फारसी काव्य सुदेश सुभग वालिह पद लायो ॥
पढ़्यो मैं ग्रंथ अनेक फ़ारसी और अरब्बी ।
पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण देख्यो सब्बी ॥
अहमदुल्लाह निज नाम है, बासी बहरियावाद को ।
शुभवेश महेमारूफ का, करखी पद जो आदिको ॥

दीन दरवेश; ई० स० १८१८—

कहा जाता है कि अंग्रेज़ी फ़ौज में भिश्ती का कार्य करते थे । और फ़ौज ही के साथ रहा करते थे । संयोगवश, युद्ध में एक गोला आपके हाथ में

लग गया, तभी से इनका एक हाथ खराब हो गया। फलतः काम करने के योग्य न होने से आपने फ़ौजी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और फिर फ़क़ीर हो गये।

इसके पश्चात् इन्होंने भिन्न २ स्थानों में घूमना शुरू किया और कविता द्वारा जनता को उपदेश देने लगे। आपकी कविता सरल, पवित्र, भावपूर्ण तथा मनोहर है। कुछ लोगों का कथन है, कि इन्होंने 'दीन-प्रकास' नामक एक ग्रंथ कुंडलिया छंद में बनाया था। और कुछ लोगों का यह भी विचार है कि इन्होंने 'भजन-भड़ाका' नाम की कोई पुस्तक लिखी थी। परन्तु उपलब्ध केवल कुछ फुटकर रचनाएं हैं। इनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

बन्दा बहुत न फूलिये, खुदा खिवेगा नाहिं।
जोर-जुलुम कीजे नहीं, मिरत-लोक के माहिं॥
मिरत लोक के माहिं तजुरवा तुरत दिखावे।
जेहि नर करे गुमान सोइ नर खतरा खावे॥
कहे 'दीन दरवेश' भूल मत गाफिल गंदा।
मिरत लोक के माहिं फूलिये बहुत न बन्दा॥

नज़ीर ई० सन् १८८१—

इनका पूरा नाम शेख़ वलीमुहम्मद 'नज़ीर' था। इनकी सारी कविताएँ 'कुलियाते नज़ीर' में संगृहीत हैं। इन्होंने कृष्ण का बाल-चरित एक लम्बी कविता मे लिखा है। उसका एक अंश पढ़िए—

थे घर जो ग्वालिनों के लगे घर से जा बजा।
जिस घर को खाली देखा उसी घर में जा छिपा॥
माखन मलाई दूध जो पाया सो खा लिया।
कुछ खाया कुछ खराब किया कुछ गिरा दिया॥
ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन।
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन॥

❀ ❀ ❀

इक रोज मुँह में कान्ह ने माखन छिपा लिया।
पूछा जसोदा ने तो वहीं मुंह बना दिया॥
मुंह खोल तीन लोक का आलम दिखा दिया।
इक आन में दिखा दिया और फिर भुला दिया॥

ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन।
क्या क्या कहूं मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन॥

❀ ❀ ❀

सब मिल के यारो कृष्ण मुरारी की बोलो जय।
गोविन्द छैल कुंज बिहारी की बोलो जय॥
दधि-चोर गोपीनाथ बिहारी की बोलो जय।
तुम भी 'नज़ीर' कृष्ण बिहारी की बोलो जय॥
ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन।
क्या क्या कहूं मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन॥

आप उर्दू के बड़े अच्छे कवि थे और इसी के ढंग पर हिन्दी में कविता किया करते थे।

इफ़ज़ुल्ला ख़ाँ हाफ़िज़; ई० सन् १७५७—

ये फ़ारसी के प्रकाण्ड पण्डित थे, यही कारण है कि इनकी कविता में फ़ारसी के बहुत अधिक शब्द दृष्टिगोचर होते हैं। कविता में अपना नाम "हाफ़िज़" रखते थे। कुछ सवैये इन्होंने कृष्ण सम्बन्धी बनाये हैं। उदाहरणार्थ कुछ नीचे लिखे जाते हैं:—

आज बजी यमुना तट फेरि कहूँ मुरली जग-मोहिनी हारी।
ध्यान छुटे मुनि आदिन के अरु भूलि गई रम्भा नृतकारी॥
मोहि के 'हाफ़िज़' धाय चले सब ओर कहे मन में य विचारी।
हाय य तान पड़े जब कान रहे नहिं ज्ञान औ ध्यान सँभारी॥

❀ ❀ ❀

सांझ समय घर से निकसी लिये संग सखी वह सांवरी सूरत।
नाज़ो-नियाज़ नमूद बसे अज़ ताब शुदम् अफ़ज़ूद क़दूरत॥
मो तन ताकि दियो हंसि कै अभिमान भरी कछु भौंह मरूरत।
होशम रफ्त न मांद बदस्त शुदा दिलमस्त जे दीदने सूरत॥

❀ ❀ ❀

हर्गिज़ लाल किसी की नहीं, सब 'हाफ़िज़' है तक़सीर हमारी।
वक्ते विदा न किसी ने कहा, हम साथ चलैं कि रहैं बनवारी॥
मो कहते न बनी कछु हाय, करैं अब का व्रजनारि गंवारी।
देखि चले सो सबै कहियो, हम उद्धव सांवरे पै बलिहारी॥

इन्होंने अनेक पुस्तकें रची हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—
(१) प्रेम-तरङ्गिणी, (२) हजारा, (३) मनमोहिनी, (४) रसिक-संजीवनी और (५) नवीनसंग्रह।

अध्याय उन्नीसवाँ

सौरकाल का स्त्रीतत्त्व पर प्रभाव

श्रीकृष्णपूजन में राधातत्त्व का समावेश एक असाधारण कल्पना है। हमने पीछे बताया है कि श्रीमद्भागवत में राधा का कहीं नाम तक नहीं है। इधर सूरसागर में राधा नायिका के सर्वोच्च स्थान पर है। यह बात बड़े मार्के की है कि कृष्ण-अर्चना में कृष्ण की विवाहिता आठ पटरानियों में से किसी भी रानी को पूजन में न ग्रहण करके परकीया के रूप में राधा को लिया गया। उसी राधा के स्त्रीतत्त्व को लेकर कृष्ण-साहित्य में ऐसा असाधारण रसोदय हुआ है जिसे चमत्कारिक कहा जा सकता है। राधा के साथ गोपी विरह की पीर की मार्मिक अभिव्यंजना भी कृष्णचरित्र में अभूतपूर्व है। इन सब बातों के कारण कृष्ण पूजन का आध्यात्मिक ही नहीं, भौतिक प्रभाव भी अधिकाधिक स्त्रियों पर पड़ा है और हम कह सकते हैं कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां ही अधिक कृष्णप्रेम से प्रभावित हैं, और उनका वह प्रभाव तथा कृष्ण के प्रति मोह सूरदास के अप्रतिम वात्सल्य-भाव ने और भी बढ़ा दिया है।

स्त्री कवियित्रियाँ—

यद्यपि मीरा और दो एक अन्य कवियित्रियों की चर्चा प्राचीन हिन्दी साहित्य के इतिहास में है परन्तु सच पूछा जाय तो उनपर और उनकी विशेषताओं पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखेंगे तो हमें साहित्य के क्षेत्र में वीर, धर्म, और कला तीनों क्षेत्रों में स्त्री साहित्य की गम्भीर गंगा बहती दृष्टि पड़ेगी। संस्कृत के वैदिक वाङ्मय को भी अनेक स्त्रीपद धारिणी विभूतियों ने अलंकृत किया है, तथा मध्यकाल में भी ब्रह्मवादिनी गार्गी, गणित-आचार्या लीलावती और श्रीमती विकटनितम्बा तथा उभयभारती पण्डिता का नाम हमें दीख पड़ता है।

हिन्दी साहित्य में मीराबाई की काव्यधारा हमें सब से प्रथम मिलती है। वीरकाल में स्त्रियों ने वीर रचनाएं की थीं या नहीं इसका अभी साधन उपलब्ध नहीं है। युद्ध के विकट काल में और तत्कालीन विषम सामाजिक परिस्थिति में सम्भव है स्त्रियों की प्रतिभा को विकसित होने का अवसर न मिला हो, परन्तु उसी काल में उनके हंसते हुए सामूहिक रूप से जौहर की आग में भस्म होने के अनेक उदाहरण हैं। जहां प्राचीन महाभारत की वीरवधुओं को मृतपतियों और

पुत्रों की याद में करुण क्रन्दन करती हम देखते हैं, वहां राजपूती जीवन में हमें एक भी राजपूत बाला की आंखों में आंसू नहीं दिखाई देते। वीर पति की युद्ध-यात्रा के लिये कमर में तलवार बांधने के समय से लेकर अग्नि की धधकती हुई चिता पर शृङ्गार करके आरोहण करने तक हम उस में साहस, तेज और वीर-दर्प का ही दर्शन करते हैं।

वीरकाल के बाद जब भक्तिकाल का समय आता है तब समाज शान्त, सुखी और धर्मव्यस्त हो उठता है। स्वाभाविक बात है कि कोमल एवं भावुक होने के कारण स्त्रियां अधिक सरस; सरल और कोमल होती हैं। उनमें बोध-वृत्ति पुरुषों जैसी नहीं हो पाती। इस लिये उनमें प्रेम और भक्ति के भावों के अंकुर स्वभावतः ही पुरुषों की अपेक्षा अधिक होते हैं। और उनके जीवन पर पुरुषों की अपेक्षा इन दोनों चीजों का अधिक प्रभाव पड़ता है।

भक्तिकाल में सूर और तुलसी जैसे वागाधिराजों के कण्ठ से जो भक्ति रस का निर्झर झरा उससे भारत के स्त्री पुरुष सभी आनन्द-विमूढ़ हुए। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक।

हमने देखा है कि भक्ति की यह धार दो प्रवाहों में बही। एक राम-भक्ति दूसरी कृष्णभक्ति में। राम-भक्ति में जीवन की जटिल समस्याओं की भंवरें बहुत थीं और सम्मोहक सामग्री कम थी। कृष्णभक्ति-धारा में संगीत, कलरव, भक्ति, प्रेम, गाम्भीर्य, प्रेम पीयूषरस, काव्य का सुखद सौरभ तथा निश्चित विनोद का सम्पूर्ण विलास था। सबसे अधिक उसका वात्सल्य और गोपी विरह था, जिसने स्त्रियों को रामभक्ति की अपेक्षा कृष्णभक्ति की ओर अधिक मोहित किया। वे माता के रूप में और प्रेम-वियोगिनी के रूप में कृष्ण के अपार्थिव अस्तित्व में अपने पार्थिव स्त्रीत्व को लेकर ओतप्रोत हो गई। इसके सिवा कृष्णकीर्तन की भाषा व्रजभाषा थी, जो अधिक मृदुल, प्रवाह वाली और आकर्षक थी, तथा स्त्रियों के अधिक निकट थी। दूसरे, वहां गेय पदावलियां थीं, जो छन्द और अलंकार के जकड़बन्ध से मुक्त थीं। इसलिए कृष्ण-काव्य का संगीत-तत्त्व भी स्त्रियों के लिए आकर्षक हो गया।

फिर भी कुछ स्त्रियों ने राम-काव्य के आदर्श की पवित्रता को अपनाया। परन्तु अधिकांश में कृष्ण-काव्यधारा ही उन्हें प्रिय रही। यों रामधारा के पुरुष-कवि भी कम हुए। तुलसी ने यद्यपि अपनी महान् सामर्थ्य से आज के हिन्दूधर्म का एक रूप अवश्य बनाया, पर वह अपनी परम्परा में प्रबल कवि उत्पन्न न कर

सका। परन्तु सूर की परम्परा में एक से एक बढ़े चढ़े कवि हुए और उन्होंने व्रजभाषा को और कृष्ण-प्रेम को भारत के हृदयसिंहासन पर आसीन कर दिया।

एक बात पर और विचार करना होगा। भक्ति-काव्यों के केन्द्र वही थे, जहां भक्ति के मूल देव का लीला-स्थान था। वे स्थान तीर्थ बन गये थे। और उनके प्रति आकर्षित होकर हिन्दू यात्री आते रहते थे। स्त्रियां भी ऐसी यात्राएं करतीं थीं। वे भक्त-कवियों की कविताएँ वहां सुनतीं और अपने हृदयों में अंकित करके उन्हें ले जाती थीं। उनके घर के वातावरण राम कृष्ण के कीर्तन की ध्वनियों से भरपूर रहने लगे थे। और उन स्त्रियों के कण्ठों में सहस्रों भक्ति के पद चढ़ चुके थे।

मध्यकाल में अर्थात् १५।१६।१७ और १८ वीं शताब्दियों में स्त्रीशिक्षा की कैसी अवस्था थी, इस सम्बन्ध में हम ठीक २ नहीं कह सकते। अनुमान होता है कि भारत में उन दिनों स्त्रीशिक्षा की बहुत कमी थी, ख़ास कर सर्वसाधारण में। ऐसी दशा में काव्यशास्त्र और छन्दशास्त्र का पूरा ज्ञान प्राप्त करके और काव्य की साहित्यिक परम्परा से अवगत होकर स्त्रियां उस काल में पुरुषों की समता कर सकने योग्य नहीं हो पाती थीं, हां अपवादरूप वे स्त्रियां, जो या तो साहित्यिक कवियों के सम्पर्क में रहती थीं, या जिन्हें सत्संग और शिक्षा भी उपलब्ध हो सकती थी, उससे कुछ अवगत होती थीं। इन स्त्रियों ने प्रायः पदशैली पर रचनाएँ की हैं, क्योंकि एक तो यह उनकी प्रिय कृष्ण-भक्ति की शैली थी। दूसरे यह छन्दशास्त्र से उतनी अनुबन्धित न थीं। जिन इनी गिनी स्त्रियों ने छन्दात्मक काव्य लिखे हैं, उन्होंने भी सरल सुबोध और साधारण ही छन्द लिये हैं। फिर भी उन्होंने उन सब प्रधान साहित्य शैलियों में रचनाएँ कीं जो उस समय के साहित्य क्षेत्र में महाकवियों द्वारा प्रचलित थीं।

इन स्त्री कवयित्रियों की रचनाओं का विवेचन हम पुरुषों की रचनाओं के मान पर नहीं कर सकते। यह आवश्यक है कि कवि पर तत्कालीन समाज, उसके पूर्व साहित्य, लोक-संस्कृति एवं अन्य काल सम्बन्धी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, और वह उनके अनुसार ही रचना करने को बाध्य होता है। इन प्रभावों से अलिप्त रहकर अपना प्रभाव जनता पर डालने वाले महाकवि विरले ही होते हैं। भारत में स्त्रियां सदा से पुरुष प्रभाव में रही हैं। और उन्हीं के निर्दिष्ट मार्गों पर चलने की अभ्यस्त भी हैं। अतः साहित्य-क्षेत्र में भी उन्हें ऐसा ही करना पड़ा है। मीरा से लेकर जितनी स्त्रियों ने रचनाएं कीं वे सब उसी एक ढांचे में

ढली थीं जिसे सूर और अष्टछाप के कवियों ने घड़ा था। वही व्रजभाषा, वही पद-माधुर्य, वही संगीत-सुधा। प्रान्तीय प्रभाव इनमें भी पुरुषों की भांति आए। राजस्थानी स्त्रियों की कविता में राजस्थान के शब्दों और भावों की भी व्यंजना हुई। फिर भी उन्होंने साहित्यिक भाषा ही को प्रधानता दी। हां, उसमें व्यावहारिक भाषा का पुट अवश्य रहा।

मीरा के बहुत पद ऐसे हैं जिनमें वात्सल्य-भाव की अपेक्षा माधुर्य-भाव ही प्रधान है। उसने वियोग श्रृङ्गार को लेकर ही अधिक पद रचे हैं। उन पदों में हृदय की मर्मस्पर्शी वेदना, वियोगिनी की अनुभूति और दिल की बेकली ऐसे नैसर्गिक रीति से व्यक्त की गई हैं कि देखते ही बनता है। वह आपा खो कर कहती हैं—

हे री मैं तो भई हुं दीवानी मेरा मरम न जाणे कोय।
हे री मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विधि सोणा होय।
नभ मण्डल पे सेज पिया की किस विधि मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाने और न जाने कोय।
जोहरी की गति जोहरी जाने की जिन जोहर होय।
दरद की मारी बन बन डोलूं वैद मिल्या नहिं कोय।
मीरां की प्रभु पीर मिटे जब वैद सांवलिया होय।

यहां कृष्ण प्रेमतत्त्व पर भी एक दृष्टि डालनी योग्य है।

यह कृष्णमार्गी वैष्णव धर्म भागवत धर्म का विकसित रूप है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का वर्णन और गोपी प्रेम का वर्णन विरहरूप में वर्णित है। दक्षिण के मन्दिरों में इसी गोपी भाव से देवदासी प्रथा चली। इन देवदासियों को मन्दिर में प्रतिष्ठित भगवान् की उपासना पतिरूप में करनी विधेय थी। इनमें अनेक कवि और भक्त हो गई हैं जिनमें अंदाल की दक्षिणाचल में बहुत ख्याति है। यह सन् ७१७ में थी। इसने द्रविड़ भाषा में पद रचे हैं। वह कहती है—अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ, और कोई मेरा पति नहीं है।

पाठकों के सामने रहस्यवादी सूफ़ी कवियों की प्रेम-मधुर भावना का उल्लेख हो चुका है। इन स्त्री-कवियों की विरह-वेदना भी कुछ इसी ढंग की थी, अन्तर इतना ही था कि उसमें अमूर्त ब्रह्म की जगह श्रीकृष्ण की मूर्ति थी। इस सूफ़ी परम्परा में अभ्यन्तर मिलन, मूर्च्छा और उन्माद की जो योजना आई, वह हम मीराबाई और चैतन्य प्रभु के अन्दर भी देख पाते हैं।

मीरा के कुछ छन्द ऐसे भी हैं जिनके विषय में सन्देह किया जाता है कि वे किसी और की रचना हैं। जैसे—

कोई कहो कुलटा......

इसमें दो बातें विचारणीय हैं। एक तो यह छन्द विचारों की ऐसी धृष्टता उपस्थित करता है जो स्त्री के लज्जाशील सुलभ स्वभाव के प्रतिकूल है, दूसरे इसमें चौकस छन्दशास्त्र है जिसके ज्ञान की हम मीरा से आशा नहीं कर सकते। मिश्रबन्धु इस छन्द को (हिन्दी नवरत्न) देवरचित कहते हैं।

मीरा की भाषा मरुभाषामिश्रित व्रजभाषा है। जो पद अति शुद्ध व्रज के हैं उन पर भी यह सन्देह होता है कि वे मीरा के हैं या नहीं। अब यदि मीरा की तुलना किसी कृष्ण-भक्त कवि से की जा सकती है तो उसी से जिसने गीतिकाव्य की शैली पर भक्ति विषयक रचनाएँ की हों।

हम पहले कह चुके हैं कि मीरा ने भक्ति-भावना के पथ पर सूर और नंददास का अनुगमन नहीं किया। उसमें सूर और नन्द के समान वात्सल्य और सख्यभाव न हो कर माधुर्य भाव है। कृष्ण को अपना प्रियतम कह कर वे अपने को उनकी दासी या परिचारिका कहती हैं और कहीं कहीं 'पति' भी कहा है।

देखिए—

घड़ी एक नहिं आवड़े तुम दरसण बिन मोय

ऐसा प्रतीत होता है; इन पर तुलसीदास का भी प्रभाव पड़ा है। इनका उनसे परिचय तो था ही, उनके दास्यभाव का गहरा असर मीरा पर है। मीरा के किसी २ पद में जायसी जैसे सूफ़ी सन्तों की प्रेमपीर भी है। जैसे—

दरद की मारी बन बन डोलूं,......

कहीं २ कबीर के ज्ञानाभासात्मक विचार धारा का भी असर है। देखिए—

ना कोई मारे ना कोई मरता, तेरा यह अज्ञान।
चेतन जीव तो अजर अमर है, यह गीता को ज्ञान॥

सूर की पद्धति भी है—

करम गति टारै नाहिं टरे।......

इस प्रकार मीरा में सूर, तुलसी, जायसी, कबीर आदि के भावों का प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है, फिर भी यह तो सत्य ही है कि इन कवियों के समान

उसमें काव्यकौशल, भावोत्कर्ष, और भाषा का सौष्ठव नहीं है। वह एक भक्ति-भावपूर्ण, सहृदया कवयित्री है। भावुकता और प्रतिभा उनमें है। इसलिये उन्होंने अपने समय में प्रचलित सभी प्रधान शैलियों और भक्तिभाव पद्धतियों को लेकर रचना की है।

सूरकाल का यह स्त्रीतत्त्व पर प्रभाव अपनी काल-सीमा को उल्लंघन करके बहुत आगे बढ़ गया है। यहां हम मीरा का थोड़ा परिचय देकर कुछ उत्तरकालीन स्त्री कवयित्रियों की भी चर्चा करेंगे।

मीरा जोधपुर राज्य में मेड़ता के राठौर सरदार रतनसिंह की इकलौती बेटी थीं। इनका विवाह मेवाड़ के राजपुत्र भोजराज से सन् १५१७ में हुआ था। ये रैदास को गुरू मानती थीं। विवाह के १० वर्ष बाद ये विधवा हो गईं। तभी से ये गिरिधरगोपाल के भक्ति प्रेम में लीन रहने लगीं। साधु संतों की संगत भी करने लगीं। महाराणा को यह पसन्द न था। उन्होंने बहुत रोका, बल प्रयोग भी किया, विषपान भी कराया। परन्तु मीरा की कृष्ण-भक्ति बढ़ती ही गई। उन्होंने तुलसीदास को एक बार एक पद लिख कर इस अवरोध की बात लिखी, और उनका उत्तर पाकर ये पितृ-गृह मेड़ते चली गईं। वहां से वृन्दावन और कुछ दिन बाद द्वारिका गईं। और वहीं उनकी मृत्यु हुई।

इन्होंने कई ग्रन्थ रचे। उनमें एक 'नरसी जी का मायरा' है। दूसरा 'गीतगोविन्द की टीका' है, तीसरा 'रागगोविन्द' है। इनके पदों का एक संग्रह 'मीराबाई की शब्दावली' नाम से प्रकाशित हुआ है।

इनके कुछ पद उदाहरण के रूप में दिए गए हैं—

राम नाम रस पीजे मनुआ राम नाम रस पीजे।
तज कुसंग सतसंग बैठि नित हरि चर्चा सुण लीजे।
काम क्रोध मद लोभ मोह कूं चित से बहाय दीजे।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर ताही के रंग भीजे।

❀ ❀ ❀

भई हों बावरी सुन के बांसुरी।
स्रवन सुनत मोरी सुध बुध बिसरी, लगी रहत ता में मन की गाँसुरी।
नेम धरम कौन कीनो मुरलिया, कौन तिहारे पाँसुरी।
मीरा के प्रभु बस कर लीन्हे, सप्त सुरन ताननि की फाँसुरी।

सखि मोरी नींद नसानी हो ।
पिय को पन्थ निहारत सिगरी रैन बिहानी हो ।
सब सखियन मिलि सीख दई मन एक बनानी हो ।
बिन देखे कल नाहि परत जिय ऐसी ठानी हो ।
अंगछीन व्याकुल भई मुख में पिय पिय-बानी हो ।
अंतर वेदन मरी विरह की पीर न जानी हो ।
ज्यों चातक घन रटै माछरी जिमि बिन पानी हो ।
मीरा व्याकुल विरहिनि सुध बुध सब विसरानी हो ।

छत्रकुंवरि बाई; विवाह ई० सन् १६७५—

ये रूपनगर की राजकुमारी और प्रसिद्ध व्रजभाषा कवि महाराज नागरीदास की पौत्री थीं । अपने बाबा नागरीदास के साहित्य को पढ़ने से इन्हें बालकाल ही में साहित्य का चस्का लग गया था । अन्त में इन्होंने सलेमाबाद में निम्बार्क सम्प्रदाय की दीक्षा ली । इनकी रचना के उदाहरण देखिए—

फूलन संझा समय अति, फूले सुमन सुरंग ।
फूले नैन दुहून के, फूलि समात न अंग ।
फूलि समात न अंग, रंग तिहि सुगल सम्हारैं ।
साँझी सुरत सुझाय लैन, तब सुमन विचारैं ।
प्यारी झमक झुकात डार झूमत अलबेली ।
कर पहुँचै तहं नाहिं, चढ़ावंत कंध नवेली ।

❀ ❀ ❀

अरुझन में अरुझन नवल, गुरु जन रंग अपार ।
ज्यों डारन सों डार त्यों उर हारन सों हार ।
उर हारन सों हार, अलक अलकनि लपटानी ।
नैन नैन बैनान सुगल की अकथ कहानी ।
प्रेम सिन्धु छिल ललचि लहरि इत अति सरसानी ।
कुँवरि सकुचि सतराय झिझकि ढिग सखिन बुलानी ।

रसिक बिहारी; ई० स० १८२६—

ये महाराज नागरीदास की पड़दायत रानी थीं । इनका प्रचलित नाम 'बनी-ठनी' जी था । महाराज की संगति से इन्हें कविता का शौक हो गया । इनका पृथक् कोई ग्रन्थ नहीं है । परन्तु इनकी रचनाएं 'नागर-समुच्चयी में हैं । इनकी रचना का उदाहरण देखिए—

रतनारी हो थारी आँखड़ियां।

प्रेम छकी रस-बस अलसार्णी, जाणि कमल की पांखड़ियां ।

सुन्दर रूप लुभाइ गति मति, हो गई ज्यूं मधु मांखड़ियां॥

'रसिक बिहारी' वारी प्यारी, कौन बसी निसि कांखड़ियां।

❀ ❀ ❀

पावस ऋतु बृन्दावन की, दुति दिन दिन दूनी दरसै है॥

छवि सरसै है।

झूम झूम सावन घनो घन बरसै है॥

हरिया तरवर सरवर भरिया जमुना नीर कलोलै है।

मन मोलै है।

प्यारी जीरो बाग सुहावणों मोर बोले है।

आया आपा बीच चिमकै जलधर गहरो गाजे है॥

ऋतु राजै है।

इन्होंने ब्रजभाषा और मरुभाषा दोनों ही मे रचना की है। दोहा और पद शैली इन्होंने ग्रहण की है। इसी नाम के एक सुकवि और हुए है जिन्होंने शृंगारात्मक रचना कवित्त-सवैया शैली में की है। पर इन्होंने केवल भक्ति की ही गंगा बहाई है।

रानी रसिक विहारी जी के अलावा राजवंश की और भी रानियों ने अपनी कविता की एक परंपरा सी स्थापित करली थी। कहना चाहिए कि उनकी वंशपरंपरा की भांति ही कवयित्री रानियों की भी एक काव्य परंपरा की शृखला चलती गई। रानी बाकावती 'व्रजदासी' ने दोहा चौपाई शैली में प्रबन्धात्मक कृष्णभक्ति काव्य व्रजभाषा में लिखा। उन्हीं के वंश में सुन्दर कुंवरिबाई जैसी सत्काव्यशृङ्गारकारिणी हुई, जिन्होंने साहित्यिक विविध छन्दात्मक शैली से शृङ्गारात्मक काव्य भी लिखा है, और पद रचनाएं भी की हैं। इनके काव्य में उच्चकोटि के गुण पाये जाते हैं। इनकी कुण्डलियां 'छत्रकुंवरि बाई' की जैसी हैं। भाषा शिष्ट, स्वच्छ और सुव्यवस्थित है। लालित्य और भाव गाम्भीर्य तथा भावना का उत्कर्ष खूब है। इनका शृङ्गारात्मक काव्य तोष और दास की टक्कर का है। इनकी रचना में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, आदि अलंकारों की उत्कृष्ट योजना तथा अनुप्रास की अद्भुत छटा दीख पड़ती है। इनकी शान्त रस की कविता भी हृदयग्राही है। वीररस की कविता भी इनकी उच्चकोटि की है। इन्होंने ११ ग्रन्थों की रचना की है।

महारानी बाँकावती जी उपनाम 'ब्रजदासी' ई० स० १७१९—

ये जयपुर राज्यान्तर्गत लिवाण के कछवाहा राजा आनन्दराम जी बुदेरामोत की पुत्री थीं और कृष्णगढ़ के महाराज राजसिंह से ब्याही थीं। इन्होंने श्रीमद्भागवत का छन्दोबद्ध अनुवाद किया था जो 'व्रजदासी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें दोहा चौपाई अधिक हैं तथा व्रज और बेसवाड़ी भाषाओं का मिश्रण है। कहीं २ राजपूताना के शब्द मिल गए हैं, भाषा परिमार्जित और कविता निर्दोष है।

बाघेली विष्णुप्रसाद कुंवरि; ई० स० १८७०—

ये रीवां के प्रसिद्ध कवि महाराज रघुराजसिंह की पुत्री थीं। रीवां-महाराज तुलसी और केशव के पश्चात् रामकाव्य-क्षेत्र में असाधारण ख्याति-लब्ध हैं। इनकी यह विदुषी पुत्री भी वैसी ही थीं। इन्होंने तीन ग्रन्थ रचे— १ अवध-विलास, २ कृष्ण-विलास, ३ राधारासविलास। अन्तिम में गद्य पद्य दोनों हैं। सम्भवतः स्त्री-कवयित्रियों में ये प्रथम गद्य-लेखिका हैं। यद्यपि इनकी रचना बहुत परिमार्जित नहीं है, पर सरस और प्रभावशाली है। रामकाव्य में अवधी भाषा है और कृष्णकाव्य में व्रजभाषा। ये जयपुर ब्याही थीं, सम्भव है जयपुर जाने पर व्रजभाषा का प्रभाव इन पर पड़ा हो। कृष्णकाव्य में पद-रचना बहुत है। कहीं २ कवित्त आदि भी हैं। एक छन्द पढ़िए—

निरमोही कैसो जिय तरसावे।
पहिले झलक दिखाय हमें कूं, अब क्यों वेग न आवे।
कब सों तलफत मैं री सजनी, वाको दरद न आवे।
'विष्णु कुंवरि' दिल में आकर के ऐसो पीर मिटावे।

रत्नकुंवरि बीबी; ई० स० १८५०—

रत्नकुंवरि बीबी राजा शिवप्रसाद-सितारे-हिन्द की दादी थीं। और मुर्शिदाबाद के जगत्-सेठ के घराने की थीं। राजा साहेब ने लिखा है—वे संस्कृत की पण्डिता, छहों शास्त्रों की वेत्ता तथा फ़ारसी-मर्मज्ञ थीं। 'रूम की मसनवी' और 'दीवान शम्स तबरेज़ी' जब हमारे पिता सुनाते तो चाव से सुनती थीं। संगीत-वाद्य में निपुण तथा यूनानी-वैद्यक चिकित्सा में पारंगत थीं। योगाभ्यास

सिद्ध थीं, ७० वर्ष की अवस्था में भी बाल स्याह और नेत्र सतेज थे। इनका एक ग्रन्थ 'प्रेम-रत्न' राजा साहेब ने सन १८९० में प्रकाशित कराया था। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए—

वरन वरन वर तंबुवन, दीन्हो तान वितान।
अति फूले फूले फिरत, डेरा परत न आन॥
जब तें मथुरा तन चितै, तजि ब्रज जन यदुनाथ।
विरह व्यथा ब्रज में बढ़ी, तहँ सब भये अनाथ॥

* * *

तहँ राधा की कछु दशा, वर्णत आवे नाहिं।
मलिन वेष भूषण रहित, विवस रहित तन मांहि॥
कबहुं झुरावत विरह वश, पीत वरण ह्वै जाय।
कबहूं व्यापत अरुणता, प्रेम मगन मुद छाय॥

सुन्दरकुंवर; जन्म ई० स० १९३५—

ये रूपनगर कृष्णगढ़ के राजा की बेटी थीं। ये ३१ वर्ष की अवस्था तक कुंवारी रहीं। उन दिनों मरहटा और राजपूतों के झगड़े चल रहे थे, इससे जीवन बड़ा अनिश्चित था। विवाह होने पर इनके पति को सैंधिया सरदारों ने ग्वालियर-दुर्ग में बन्दी कर लिया था। इन्होंने ६३ वर्ष की आयु पाई। इनके रचे ११ ग्रन्थों का पता चलता है। इनकी रचना के उदाहरण देखिए—

कहत श्याम मेरे नहीं, तुम बिन कोऊ आन।
प्रानहुं तैं प्यारी प्रिया, काहि करत हौ मान॥
काहि करत हौ मान, चलहु पिय संग विहारो।
राधा राधा मन्त्र नाम वे रटत तिहारो॥
नायक नन्द कुमार, सकल सुभ गुन के सागर।
तिनसों मान निवार, बहुत विनवत सुनि नागर॥

* * *

नागरि गिरि है कोऊ सीस उघरी है कोऊ,
सुध विसरी है ते लगी है द्रुम डारि कै॥
डगमग ह्वै कै भुजधारीगर ह्वै कै काहू,
बैठि गई कोऊ सीस मटकी उतारि कै॥

मैन-सर पागी कोऊ घूमन लागी है कोऊ ।
मोती मणि भूषण उतारै डारै वारि कै ॥
ऐसी गति हेरि इन्हें ग्वार कहै टेरिटेरि ॥
मदन दुहाई जीति मदन मुरारि कै ॥

प्रताप कुंवरि बाई; १८५० ई०—

ये जोधपुर के जाखण परगना के भाटी ठाकुर गोयंददास की पुत्री और मारवाड़ के महाराज मानसिंह की रानी थीं। रामसनेही सम्प्रदाय के महन्त पूर्णदास के सत्संग से इन्होंने पढ़ने लिखने का अभ्यास किया, और उन्हें अपना गुरू मान भक्त-कवि हो गईं। विवाह के बाद आप निस्संतान ही रहीं। बाद में महाराज मानसिंह जब स्वर्गवासी हुए तो भगवत्भक्ति में दिन व्यतीत करने लगीं। ये रामभक्त थीं। इनको राज्य से कई गांव मिले थे जिसकी आय साधु-सेवा में खर्च करती थीं। इन्होंने अनेक मन्दिर तालाब भिन्न २ स्थानों में बनवाए, ब्राह्मणों, भाटों, चारणों को मुक्तहस्त से दान देती थीं। इन्होंने ७० वर्ष की आयु पाई। अन्त समय में अपनी करोड़ों की सम्पत्ति दान दे दी। इनकी प्रशंसा में एक चारण ने गाया—

कंजर दे उस कारणे, लाखो लाख पसाव।
यह रानी नृप मान री, हेरा वरि दरियाव ॥

इन्होंने १५ ग्रन्थ लिखे। इनकी रचना का उदाहरण देखिए—

आस तो काहू की नाहिं मिटी, जग में भये रावण से बड़ जोधा।
सावंत सूर सुयोधन से बल, से नल से रत बादि विरोधा।
केते भये नहिं जाय बखानत, जूझ मुए सबहीं करि क्रोधा।
आस मिटे परताप कहै, हरिनाम जपेऊ विचारत बोधा।

साईं ई० सन् १७१४ और नागरीदास की पौत्री छत्रकुँवरि:—

जैसे गिरधरदास और दीनदयालगिरि, पुरुष-कवियों में कुण्डलियां लिखने में विख्यात हुए वैसे ही स्त्रियों में साईं और छत्रकुंवरिबाई ने ख्याति प्राप्त की। छत्रकुंवरि ने तो कुण्डलियों का रूप ही दूसरा रखा है। दोहे के चतुर्थ चरण की आवृत्ति करके इन्होंने न तो पंचम चरण में अपना नाम या उपनाम ही रखा है और न कुण्डलियों के प्रारम्भिक शब्द की आवृत्ति उसके अन्तिम चरण में की है। अन्यत्र ऐसी कुण्डलियां कम मिलती हैं। छत्रकुंवरि ने भक्ति की रचना में इसी

छन्द का उपयोग किया है। यह भी एक विशेष बात है। प्रायः रीति-काव्य ही कुण्डलिया शैली पर लिखा गया है।

साईं गिरिधरराय कवि की पत्नी थीं। राय जी की मृत्यु होने पर इन्होंने उनकी संकल्पित कुण्डली-संख्या पूरी की और साईं उपनाम रखा। तथा अपनी कुण्डलियों में पति का भी नाम रखा। इनकी ये कुण्डलियां किसी भी दृष्टि से गिरिधरदास से घट कर नहीं हैं। सुन्दर कुंवरिबाई की कुण्डलियां साईं से दूसरे दर्जे ही की हैं। परन्तु बाई ने जो कवित्त, सवैया आदि रचे हैं वे अत्यन्त उच्च-कोटि के हैं। कवित्त की लय पद्माकर जैसी है। पदावली में भी उन्हीं की लटक है। इनका वचन-चातुर्य और मार्मिक व्यंजना, मधुर भाषा-सौष्ठव, अलंकार और अनुप्रास सब मिलकर इन्हें असाधारण कवि के रूप में उपस्थित करते हैं।

प्रवीण राय ई० सन् १५७२—

प्रवीणराय ओरछा के राजा इन्द्रजीतसिंह की पड़दायत थीं। यह गुणवती-स्त्री केवल उच्च श्रेणी की गायिका ही नहीं पूर्ण काव्यकलाकुशला और काव्य-रसिका थीं। केशवदास इसकी प्रशंसा करते अघाते नहीं थे। प्रवीण ने केशव के ही अनुकरण पर विविध छन्दात्मक श्रेणी में रचना की है। इनके छन्द काव्य-कौशल से ओतप्रोत हैं और वे केशव से शैली, भाषा और अभिव्यंजना में किसी भांति कम नहीं। इसने दोहा, कवित्त, सवैया, गारी छन्द लिखे हैं। केशव ने अपनी रामचन्द्रिका के लिए इस से रामकलेवा के प्रसंग में गारी लिखाई थी जो आज भी शिष्ट पर्दों में गाने योग्य है। केशव ने अपनी कविप्रिया लिख कर इन्हीं को समर्पित की थी। वे कवि की प्रिय शिष्या थीं। केशवदास कविप्रिया में कहते हैं—

तंत्री तुम्बुक सारिका, सुद्ध सुरन सों लीन।
देव-सभा सी देखिए, राय प्रवीन प्रवीन।

❀ ❀ ❀

सत्या राय प्रवीन युत, सुरतऽसुर-तरु नेह।
इन्द्रजीत तासों बंधे, केशवदास सनेह।

❀ ❀ ❀

रत्नाकर लालित सदा, परमानन्दहिं लीन।
अमल कमल कमनीय कर, रमा कि राय प्रवीन॥

प्रवीण के कवित्व और संगीत की प्रशंसा सुनकर गुणग्राही सम्राट् अकबर ने इन्हें एक बार बुला भेजा था तब इन्होंने महाराज इन्द्रजीत के पास जाकर यह सवैया पढ़ा था—

आई हौं बूझन मन्त्र तुम्हें निज स्वासन सों सिगरी मति गोई।
देह तजौं कि तजौं कुलकानि हिए न लजौं लजि हैं सब कोई॥
स्वारथ औ परमारथ को पथ चित्त विचारि कहो तुम सोई।
जामें रहे प्रभु की प्रभुता और मोर पतिव्रत भङ्ग न होई॥

इन्द्रजीतसिंह ने प्रवीण को अकबर के पास नहीं भेजा। इस पर अकबर ने क्रुद्ध हो १ करोड़ रुपया उन पर जुर्माना कर दिया और प्रवीण को ज़बर्दस्ती बुला भेजा। वहां उन्होंने बादशाह को अपनी वाक्‌चातुरी, कवित्व और सङ्गीत से प्रसन्न कर दिया और महाराज का जुर्माना माफ़ करा दिया। अकबर ने बहुत लालच देकर उन्हें अपने यहां रखना चाहा पर इन्होंने स्वीकार न किया। इनका कोई ग्रन्थ नहीं है। फुटकर रचनाएँ मिलती हैं। एक सुनिए—

कमल कोक श्रीफल मँजीर कलधोत कलशाहर।
उच्चमिलन अति कठिन दमक बहु वल्प नीलधर॥
सरबन शरबन हेम मेरु कैलास प्रकाशन।
निशि बासर तरुवरहिं कांस कुन्दन दृढ़ आसन॥
इमि कहि प्रवीन जल थल अपक अविध भजित तिय गौरि सङ्ग।
कलि खलित उरज उलटे सलिल इन्दु शीश इमि उरज ढँग॥

❀ ❀ ❀

चिबक कूप, मद डोल तिल, बँधत, अलक की डोरि।
दृग भिस्ती हित ललकितित, जल छवि भरत झकोरि॥

मुस्लिम कृष्णभक्त महिलाएँ

ताज और शेख़

जिस प्रकार कुछ मुस्लिम पुरुष कृष्णभक्ति से प्रभावित हुए, उसी प्रकार कुछ मुसलमान स्त्रियां भी हुईं। ताज उनमें सर्वप्रथम है। ताज की रचना भक्तिपूर्ण और सरस है। उसने मुसलमानी घरेलू भाषा काम में ली है। उसमें पंजाबी और फ़ारसी का भी पुट है। सम्भव है पीछे ताज ने ब्रजभाषा का अभ्यास किया हो। उसकी ब्रजभाषा की रचना अद्भुत है। इसने पदशैली का अनुसरण न करके दर्बारी कवियों की शैली कवित्त सवैया को ग्रहण की है। कवित्त इसके

जोरदार और शुद्ध हैं। भाषा अलंकृत और सानुप्रासिक है। किसी २ छन्द में खड़ी बोली का भी आभास मिलता है।

शेख़ ने प्रेमपूर्ण मधुरशृङ्गार की अच्छी सभ्य-सुषमा बिखराई है। ये बड़ी ही सहृदया और रसिका थीं। काव्य कलाकौशल भी उनका अद्भुत था। वाक्चातुर्यता भी उनमें प्रथम दर्जे की थी। यह बड़ी ही चमत्कारिक बात है कि वे व्रजभाषा पर इस प्रकार अधिकार कैसे कर सकीं? आलम का संयोग इसका कारण हो सकता है।

शेख़ नें कहीं २ फ़ारसी साहित्य के प्रेमरूप का भी रेखा-चित्र खींचा है। लैला और मजनू के आदर्श प्रेम को वह भूल नहीं सकी। उर्दू और फ़ारसी की नाजुक मिज़ाजी और बारीक ख़याली भी उसमें काफ़ी है। प्रेम के पीर की अभिव्यंजना भी मर्मस्पर्शी है। प्रेमव्यंजना का जो प्रसाद घनानन्द, बोधा और ठाकुर में है शेख़ के 'आलमकेलि' में उससे कम नहीं।

ताज; ई० स० १६४४—

इन्होंने कृष्ण को अपना प्रियतम मानकर कविता की है। इनकी कविता से ध्वनित हो जाता है कि ये स्त्री थीं। उदाहरण के लिए इनका छन्द नीचे लिखा जाता है—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं निमाज़ हू भुलानी,
तजे कलमा कुरान सारे गुनन गहूंगी मैं॥
स्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
तेरे नेह दाग़ में निदाग है दहूंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै,
हौं तो तुरकानी हिन्दुवानी है रहूंगी मैं॥

कृष्ण-प्रेम विषयक इनके कुछ छन्द नीचे लिखे जाते हैं—

छैल जो छबीला सब रंग में रंगीला,
बड़ा चित्त का अड़ीला कहूं देवतों से न्यारा है।
माल गले सोहै, नाक मोती सेत सोहै, कान-
कुण्डल मन मोहै लाल मुकुट सिर धारा है॥

दुष्ट जन मारे संत जन रखवारे "ताज",
चित्त-हित वारे प्रेम-प्रीति कर वारा है।
नन्द जू का प्यारा जिन कंस पछारा,
वह वृन्दावन वारा कृष्ण साहेब हमारा है॥

इनके निर्मित सवैयों की सुन्दरता को भी देखिये—

नाम तिहारो सुनौ जग में तुम गोकुल के ठग हो हम जानी।
सालस हौ अपने मन में चितचोर घने सों अबै हम ठानी॥
हेत बड़ो हम सों जु कियो छवि 'ताज' गुने इत लाल सुज्ञानी।
बैन बजावत हूं सुनियो तुक चारहिं आदि के अक्षर बानी॥

ताज को यदि मीराबाई का दूसरा प्रतिरूप कहें, तो अत्युक्ति नहीं। मीराबाई की भांति ये भी सर्वदा कृष्ण-प्रेम में निमग्न रहती थीं। इनकी उपासना भी 'माधुर्य-भाव' की समझनी चाहिए; क्योंकि ये कृष्ण को प्रियतम या पति मानती थीं। इनकी कविता बड़ी ही सरल और सरस है। इनकी कविता में कोई भी क्लिष्ट शब्द नहीं आने पाया है। हां, यत्र-तत्र खड़ी बोली मिश्रित कुछ पंजाबी शब्द अवश्य आये हैं। पुस्तक रूप में इनका कोई काव्य-ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता।

ताज के सैंकड़ों छन्द प्रसिद्ध गुर्जर हिन्दी लेखक गोबिन्दगिल्लाभाई ने संग्रह किए हैं। ताज के सम्बन्ध में शिवसिंहसरोज में जन्म सम्वत् १६५२ लिखा है। देवीप्रसाद मुंसिफ़ १७०० सं० के लगभग कहते हैं। गिल्लाभाई का कहना है कि वे नहा धोकर नित्य मन्दिर में भगवान् के दर्शन को जाती थीं। पीछे भोजन ग्रहण करती थीं। ये इन्हें करौली की निवासिनी बताते हैं। उन्होंने करौली जाकर स्वयं इसकी छानबीन की थी। उनका कहना था कि पहिले ताज मन्दिर में जाकर दर्शन करतीं, तब और भक्तजन करते थे।

शेख़; ई० सन् १६९४—

ये मुसलमान रंगरेजिन थीं, और एक भावुक कवयित्री थीं। कहते हैं कि एक बार आलम कवि ने इन्हें अपनी पगड़ी रंगने को दी, जिसके एक कोने में एक काग़ज़ का टुकड़ा भी बंधा हुआ चला गया था। शेख़ ने जब उसे खोलकर देखा, तो उसमें यह आधा दोहा लिखा पाया :—

"कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन"

इस पर शेख़ ने पगड़ी रंगकर तथा दोहे की निम्न प्रकार से पूर्ति कर उन्हें लौटा दिया :—

"कटि को कंचन काटि विधि, कुचन मध्य धरि दीन"।

इसे पढ़कर आलम कवि बहुत प्रसन्न हुए। अन्त में आलम कवि ने मुसलमानी मत ग्रहण कर शेख़ से विवाह कर लिया। इनकी कविता प्रेमरसपूर्ण है। कहीं २ आलम और शेख़ दोनों दम्पति ने मिलकर भी कविता की है। 'आलम-केलि' के बहुत से पद शेख़ के रचे हुए हैं। शेख़ द्वारा आलम के चौथे पद का बनना लिखा है। एक उदाहरण निम्नलिखित है:—

प्रेमरंग-पगे जगमगे जगे जामिनी के
जीवन की जोति जगि जोर उमगत हैं।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं॥
झूमत हैं झुकि झुकि झंपि उघरत हैं॥

शेख़ का कोई ग्रंथ नहीं मिलता, किन्तु इधर उधर संग्रहों में बहुत से स्फुट छन्द पाए जाते हैं। इन्होंने भिन्न भिन्न देवताओं के स्तुति-विषयक छन्द भी लिखे हैं। गंगा का भी इन्होंने बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है:—

नीके न्हाइ धोइ धुरि पैठो नेकु बैठो आनि,
धुरि जटि गई धूरिजटी लौ भवन में।
पैन्हि पैठ्यो अम्बर सु निकस्यो दिगम्बर ह्वै;
दृग देखौ भाल में अचम्भो लाग्यो मन में॥

ईश्वर स्तुति विषयक छन्द का नमूना भी देखिए—

मिटि गये मौन पौन सावन की सुधि गई,
भूली जोग जुगति बिसार्‌यो तप वन को।
'सेख' प्यारे मन को उजारो भयो प्रेम नेम,
तिमिर अज्ञान गुन नास्यो बालपन को॥
चरनकमल ही की लोचन में लोच धरी,
रोचन ह्वै राच्यो सोच मिट्यो धाम-धन को।
सोक लेस नेकहू कलेस को न लेस रह्यो,
सुमिरि श्री गोकलेस गो कलेस मन को॥

शेख़ की अधिकांश रचनाएँ श्रृंगार-रसपूर्ण हैं। उनमें से कुछ कृष्ण को आलम्बन मान कर की गई हैं और कुछ में लौकिक प्रेम प्रदर्शित किया गया है। यथा—

जब ते गुपाल मधुवन को सिधारे माई,
मधुवन भयो मधु दानव विषम सों।

'सेख' कहै सारिका सिखण्ड खंजरीट सुक,
कमल कलेस कीन्हीं कालिन्दी कदम सों॥

❀ ❀ ❀

रात के उनींदे, अरसाते, मदमाते राते,
अति कजरारे दृग तेरे यो सुहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरि लेत काढ़े जीउ,
केते भए घायल औ केते तलफात हैं॥
ज्यों ज्यों लै सलिल चख 'सेख' धोवै बार बार,
त्यों त्यों बल बुंदन के बार झुकि जात हैं।
कैबर के भाले, कैंधो नाहर नहन वाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी तें अघात हैं।

❀ ❀ ❀

कहूँ भूल्यो बैन कहूँ धाम गई धेनु कहूं,
पैन चैन कहूँ मोर पंख भूमि परे हैं।
मन को हरन को है अक्षरा छरन को है,
छाह की छुवत छकि छीन ह्वै के चुरे हैं॥
'सेख' कहै प्यारी तू जो कल्हि ही ते बनि गई,
तब ही ते कान्ह अंसुआनि सर करे हैं।
याते जानियतु हैं जु वेऊ नदी नारे नीर,
कहूं बर विकल वियोगी रोई मरे हैं॥

शेख़ के अलंकार यमक और भावोत्कर्ष अलंकार के उदाहरण तो देखे ही बनते हैं। शान्ति और भक्ति के छन्द भी उसके साधारण नहीं, शेख़ यदि आलम से बढ़ कर नहीं है तो कम भी नहीं। प्रेम की जो धारा का प्रवाह 'आलम' में है वही 'शेख़' में। ऐसा भाव, भावना-साम्य बहुत कम पाया जाता है। दोनों ही रचनाएँ ऐसी मिलती जुलती हैं कि उनका एक दूसरे से पृथक् करना कठिन हो जाता है। नायिका भेद और कलापूर्ण काव्य की दृष्टि से शेख़ को पुरुष कवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। उसकी सबसे भारी विशेषता उसकी शुद्ध भाषा, सरल पद्धति और सुव्यवस्थित भाव-व्यंजना है। शेख़ के प्रथम और बाद में भी बहुत दिन तक शेख़ जैसी व्रजभाषा किसी भी स्त्री कवयित्री ने नहीं कही। यह बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि ऐसी परिष्कृत व्रजभाषा और शिष्ट काव्यशैली में मुसलमान संस्कृति में

पलकर कैसे काव्य रचना की। उसकी रचना आलम, लछिराम, ठाकुर और दास से टक्कर लेती है।

दयाबाई और सहजोबाई; ई० सन् १७६०—

सीधी-सादी भाषा और सरल भाव में निर्गुण उपासना के पद इन संत स्त्रियों के भक्तिपूर्ण हृदयों के स्वच्छ उद्‌गार हैं। इनकी रचना में उच्च-कोटि का साहित्य तो नहीं है परन्तु सन्तों के समान विरक्ति, गुरु पूजा, निर्गुण उपासना आदि की अच्छी विचारावली है। संत जिस प्रकार सांसारिक जीवन को बियोग जीवन मानकर प्रेम की पीर से भरी मर्मस्पर्शी व्यंजना के साथ आत्मानुभूति का चित्रण करते हैं, उसी भांति इन सन्त स्त्रियों ने की है।

ये दोनों देवियां संत चरणदास की शिष्या तथा उन्हीं की जाति की थीं। दयाबाई की वाणी प्रकाशित हो चुकी है, जिसमें 'दयाबोध' और विनयमालिका' संग्रहीत हैं। इनकी रचना का उदाहरण देखिए—

जो पग धरत सो दृढ़ धरत, पग पाछे नहिं देत।
अहंकार को मारकर, रामरूप जस लेत॥
तात मात तुम्हरे गये, तुम हूं भये तयार।
आज काल में तुम चलो, दया होहु हुसियार॥
बड़ो पेट है काल को, नेक न कहूँ अघाय।
राजा रानी छत्रपति, सब को लीलो जाय।

सहजोबाई का भी एक संग्रह 'सहज प्रकाश' नाम से प्रकाशित है। सहजोबाई की रचना के उदाहरण—

धन छोटापन सुख महा, धिरग बड़ाई बार।
सहजो बन्दा हूजिए, गुरु के वचन सम्हार॥
सहजो तारे सब सुखी, गहैं चन्द औ सूर।
साधू चाहे दीनता, चहैं बड़ाई कूर॥
अभिमानी नाहर बड़ो, भरमत फिरत उजाड़।
सहजो नन्हीं बांकरी, प्यार करै संसार॥

अध्याय बीसवाँ

राम-भक्ति

ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में रामानुजाचार्य स्थापित वैष्णव-सम्प्रदाय की गद्दी के प्रधान आचार्य श्री राघवानन्द जी थे, जो काशी में रहते थे। उन्होंने अपने अन्त समय में रामानन्द स्वामी को दीक्षित किया और उन्हें वैष्णव-आम्नाय का आचार्य बनाया।

रामानन्द स्वामी विद्वान्, उदार और दूरदर्शी पुरुष थे। उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष में भ्रमण किया। भारत की तत्कालीन दशा देखी। बहुत जनों से वाद-विवाद किया। हिन्दू, मुस्लिम, ऊंच-नीच सभी की दशा को जांचा।

इस समय दिल्ली में सिकन्दर लोदी गद्दी पर था। देशाटन से लौट कर, सब ऊंच-नीच समझ देश और हिन्दुत्व के कल्याण के लिये उन्होंने वैष्णव-धर्म को एक नया रूप देने का संकल्प किया। इस रूप में तीन भावनाएँ थीं। (१) वह सब मनुष्यों के लिये आदर्श चरित्रमूलक हो। (२) वह सब मनुष्यों को संगठित करे। (३) वह मानव जीवन के अनुरूप हो।

इन बातों को ध्यान में रखकर उन्होंने विष्णु के स्थान में बाल्मीकि-बर्णित और देश-पूजित राम को इष्ट देवता का रूप दिया। पूर्वपूजित देवता विष्णु का उन्हें मनुष्यावतार कहा। उन्होंने अपना मूलमन्त्र 'राम-नाम' निर्धारित किया।

इस समय रामानुज की १४ वीं धर्म-पीढ़ी चल रही थी। और रामानुजाचार्य को स्वर्गवासी हुए ३०० वर्ष बीत चुके थे। राम की भावनाएं देश में प्रथम से प्रचलित थीं। उसी के आधार पर इन्होंने एक मजबूत सम्प्रदाय संगठित कर लिया। फिर उन्होंने मनुष्यमात्र को इस सुलभ सगुण भक्ति का अधिकारी माना। देशभेद, वर्णभेद, जातिभेद सभी को उन्होंने अतिक्रमण कर दिया। और इसके सम्बन्ध में महाभारत, रामायण के उदाहरण उपस्थित किये। इसके साथ ही इन्होंने एक समर्थ विरक्त दल का संगठन किया जो आज भी वैरागी कहाता है, परन्तु उन्होंने चतुराई यह की कि यह भेद-भाव उपासना तक ही मिटाया और उपासना का ही मनुष्यमात्र को समान अधिकार दिया। व्यावहारिक जगत में हिन्दू-जाति-मर्यादा को इन्होंने नहीं छोड़ा। इन्होंने दो संस्कृत ग्रन्थ

रचे, 'वैष्णवमताब्जभास्कर' और 'श्रीरामार्चन-पद्धति'। वे समय २ पर विनय और स्तुति के हिन्दी पद भी रचते रहते थे। एक पद हनुमान स्तुति पर उनका यह है--

आरति कीजै हनुमान ललाकी, दुष्ट दलन रघुनाथ कला की।
जाके बल भर ते महि कांपे, रोग सोग जाकी सीमा न चांपे॥
अञ्जनी सुत महाबल दायक, साधु संत पर सदा सहायक।
बाएं भुजा सब असुर संहारी, दाहिन भुजा सब संत उबारी॥

रामानन्द के नाम से अनेक रचनाएं प्रसिद्ध हैं जो उनकी प्रतीत नहीं होती। दो पद सिखों के ग्रन्थ साहेब में भी लिये गये हैं जिनमें एक यह है---

कहां जाइए होघरि लागो रङ्ग, मेरो चित्त चञ्चल मन भयो अपङ्ग।
जहां जाइए तहँ जल पषान, पूरि रहे हरि सब समान॥
वेद स्मृति सब मेल्हे जोई, उहां जाइए हरि इहां न होई।
एक बार मन भयो उमङ्ग, घसि चोपा चन्दन चारि अङ्ग॥
पूजत चाली भइँ ठाइँ, सो ब्रह्म बतायो गुरु आप माहिं।
सतगुरु मैं बलिहारी तोर, सफल विफल भ्रम जारे मोर॥
रामानन्द रमैं एक ब्रह्म, गुरु के एक सबद काटै कोटि क्रम्म।

भक्तमाल में रामानन्द जी के बारह शिष्य वर्णन किए गये हैं। अनंतानन्द सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भवानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धन्ना, रैदास, पद्मावती, और सुरसुरी। अनन्तानन्द के शिष्य कृष्णदास पयहारी हुए, जिन्होंने गलता (जयपुर राज्य) में सम्प्रदाय की गद्दी स्थापित की, यही इस सम्प्रदाय की प्रथम गद्दी थी, जिसका महत्व दक्षिण की रामानुजाचार्य की गद्दी तोताद्रि के समान ही था और इसे उत्तर तोताद्रि कहते थे।

कृष्णदास पयहारी को नाथों से बड़ा संघर्ष करना पड़ा। गलता की गद्दी उन्हीं के हाथ में थी। उनकी सिद्धियों की धाक राजपूताने भर में थी। पयहारी जी की शिष्यपरम्परा में कुछ सिद्धियों का पुट लग गया। और उनकी शाखा तपसी शाखा कहाई।

इस शाखा ने रामानन्द के भी योग साधने का प्रचार किया। उनके नाम से अनेक ग्रन्थ बनाए। जो उसी सधुक्कड़ी भाषा के थे। उनमें से अनेक में तो झाड़ फूक के मन्त्र हैं जिनका राजपूताने में अब तक संस्कार बना है।

परन्तु रामानन्द के दो ही अनुगामी युगान्तरकारी में भी हुए। एक कबीर, जिन्होंने भावना रामानन्द की रखकर एक पृथक् ही सम्प्रदाय चलाया। परन्तु उनकी

लोक-सत्ता का सच्चा संगठन करने वाले सर्वश्रेष्ठ तुलसीदास थे, जिन के विषय में हम कह सकते हैं कि आज का हिन्दू-धर्म तुलसी का हिन्दू-धर्म है।

महान् मुग़लसम्राट् अकबर जब आगरे में बैठकर भारत की छिन्न-भिन्न राजनीति के सूत जोड़ रहे थे, और ढहे हुए साम्राज्य की फिर से नींव रख रहे थे, तब हिन्दुओं की धर्मपुरी काशी में यह तुलसीदास साधु एक कुटिया में गङ्गातीर पर बैठ कर छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त हिन्दू-धर्म को सङ्गठित करने के लिये रामसूत्र रच रहा था। जिसमें गहन चरित्र, असाधारण धैर्य और असह्य तेज था। उसका यह रामसूत्र करोड़ों मुमूर्षु हिन्दू-जनों के लिये जीवन-पथ का दिव्य अलोक प्रमाणित हुआ।

अध्याय इक्कीसवाँ

धर्मध्वज तुलसीदास

जन्म ई० सन् १५३३ मृत्यु १६२४ पूर्णायु ९१ वर्ष

जन्म, वंश और जीवन—

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म सन् १५३३ में राजापुर-तहसील परगना मऊ ज़िला बांदा में हुआ। ये सरयूपारीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। इनका गोत्र पाराशर था। जन्म के बाद ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया था, और इनके पिता ने इन्हें मुनिया नामक दासी को पालने पोसने को दे दिया था, जो इन्हें लेकर अपनी सुसराल चली गई। उसने बालक का नाम रामबोला रखा। पांच वर्ष पीछे वह भी मर गई, और इनके पिता को खबर दी गई कि वे अपने पुत्र को ले जायँ, परन्तु उन्होंने पुत्र की कोई खोज खबर नहीं ली। कुछ दिन बालक रामबोला गांव में घर २ भटकता और जिस-तिस से रोटी टुकड़ा भीख मांग कर अपना पेट भरता रहा। फिर रामानन्दी बाबा नरहरिदास से उसकी भेंट होगई और उन्होंने उस पर तरस खाकर अपने पास रख लिया और अपने साथ काशी ले गए। काशी में वह अपने गुरु बाबा नरहरिदास के साथ पंचगंगा घाट पर स्वामी रामानन्द जी के स्थान पर रहने लगा। वहीं पर एक विद्वान् महात्मा शेष-सनातन जी रहते थे उन्होंने इस बालक का नाम तुलसीदास रखा और उसे व्याकरण, वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, इतिहास, पुराण और काव्य, नाटक पढ़ाया। इस प्रकार १५ वर्ष तक अध्ययन करके तुलसीदास बीस वर्ष की अवस्था में अपनी जन्मभूमि राजापुर में लौटे। वहां इनके परिवार में कोई नहीं रहा था, पैतृक घर गिर गया था। उसी समय इनकी भेंट यमुनापार एक गांव के निवासी

भारद्वाज गोत्री पं० दीनबन्धु पाठक से हो गई और उन्होंने इनका शील, पाण्डित्य और प्रतिभा देखकर अपनी सुन्दरी कन्या रत्नावली इन्हें ब्याह दी। ये अपनी पत्नी को बहुत प्यार करते थे और उससे एक क्षण का वियोग भी न सहते थे। कुछ दिन इन्होंने गृहस्थ का जीवन व्यतीत किया। थोड़े दिन बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो बचपन ही में मर गया। इनकी पत्नी सुन्दरी तो थी पर गर्वीले स्वभाव की और तीखी थी। एक दिन उसकी व्यङ्गोक्ति सुनकर तुलसीदास की प्रसुप्त वैराग्य-भावना जाग उठी और उन्होंने गृहत्याग कर दिया। उस समय इनकी आयु ३० वर्ष के लगभग थी। घर से निकल कर वे कुछ दिन काशी और फिर अयोध्या रहे। पीछे तीर्थाटन को निकल पड़े और जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम्, द्वारिका होते हुए बद्रिकाश्रम गए, वहां से कैलाश और मानसरोवर तक गए। अन्त में चित्रकूट में आकर रहने लगे। वहां इनका बहुत से साधु-सन्तों और विद्वानों से सत्संग हुआ। फिर वे वहां से चलकर ई० स० १५१५ में अयोध्या रहने लगे। जहां उन्होंने रामचरितमानस लिखना प्रारम्भ किया। बीच २ में काशी आते तो पं० गगाराम जोशी के यहां प्रह्लादघाट पर ठहरते थे। बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड और अरण्यकाण्ड वहां लिखने के बाद वे काशी चले आए और अस्सीघाट पर रहने लगे क्योंकि अयोध्या में अशान्ति अधिक थी। काशी आकर किष्किन्धाकाण्ड लिखना प्रारम्भ किया। इस बीच में भी वे पर्यटन करते रहते थे। खास कर प्रयाग पर इनका बहुत अनुराग था। वे बारंबार वहां जाते आते रहते थे। इसी प्रकार चित्रकूट से भी बहुत प्रेम था। रामायण की समाप्ति पर वे काशी ही में स्थिर होकर रहने लगे। काशी में पहिले वे हनुमान फाटक पर आकर रहे, वहां से मुसलमानों के उपद्रव के कारण हटकर गोपाल मन्दिर में चले आए, पीछे यहां वल्लभकुल के गुसांइयों से झगड़ा होने के कारण उठकर अस्सी चले गये। इस समय तक उनकी प्रसिद्धि हो चली थी। अनेक विद्वान् इनके पास आकर शास्त्रचर्चा करते थे। तत्कालीन विद्वान् मधुसूदन सरस्वती ने एक बार इनसे शास्त्रार्थ भी किया था और उनके पाण्डित्य और प्रगल्भ वाणी से मुग्ध होकर उनकी बहुत प्रशंसा की थी। अब ये भक्त और महात्मा माने जाने लगे थे। और इनकी मित्रता अम्बरनेरश महाराज मानसिंह, अकबर के मन्त्री अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना, हितहरिवंशजी, भक्त सूरदास, प्रसिद्ध भक्त नाभाजी तथा मधुसूदन सरस्वती से हो गई थी। रहीम से इनके पत्र-व्यवहार दोहों में होते थे। भदैनी के भूमिहार जिमींदार टोडर इन्हें बहुत मानते थे। उनकी मृत्यु पर इन्हें बहुत दुख हुआ था। सम्भवतः 'स्मार्त' होने

से इन्हें 'दशनामी गोस्वामी' की उपाधि प्राप्त हुई थी जो आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध हो गई। अब इनकी अवस्था पचास को पार कर गई थी।

रामचरितमानस को उन्होंने २ वर्ष ७ मास में सम्पूर्ण किया था। जहां उनकी प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा और जनता में उनके प्रति आदर की भावना बढ़ती जाती थी वहां उनके विरोधी भी काशी में कम न थे। इनमें शैवलोग ही विशेष तौर पर थे। काशी विश्वनाथ की पुरी और शिवभक्ति का केन्द्र था। वहां राम-भक्ति का प्रचार करना एक प्रकार का धर्म-विद्रोह था, इससे शिवभक्तों ने उन्हें काफ़ी मानसिक और शारीरिक कष्ट पहुंचाया। तुलसीदास भक्त, सन्त और शीलवान् होने पर भी तेजस्वी स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने इन पाखण्डी-साधुओं, अड्डधर गुसाइयों, नाथों और बकवाद करने वालों को खूब आड़े हाथों लिया था। वे सदा इन्हें फटकारते रहते थे रामभक्ति के विरोधियों को उन्होंने खूब खरी-खोटी सुनाई हैं। उन्हें सुअर, कुत्ता और गधा तक कहा है। विरोधियों से तंग आकर ही उन्होंने विनयपत्रिका लिखी थी। सम्भवतः विरोधियों से उनकी मार-पीट भी हो गई हो। लोग उनकी जाति-पांति पत्नी आदि के सम्बन्ध में भी काफ़ी अपवाद फैलाते रहते थे जिस से तुलसी काफ़ी खीझ जाते थे। पर लाठी का जवाब डंडे से देते थे, दबते न थे। मालूम होता है उन्हें चोरों और डकैतों के द्वारा भी काफ़ी कष्ट पहुँचा था। काशी में उन दिनों गोरखपंथी नाथों का बड़ा ज़ोर था। ये भी तुलसी के कट्टर शत्रु थे। मुसलमानों का राज्य-काल था, वे मूर्ति के धोखे में सिल और लोढ़े को भी तोड़ डालते थे। सम्भवत: उन दिनों काशी के आस-पास असभ्य गौड़ राजा राज करते थे। और काशी के नैतिक-जीवन का धरातल बहुत नीचा होगया था। इस पर तुलसीदास अत्यन्त क्षुब्ध रहते थे।

शरीरगठन और स्वभाव—

अपने अन्तिम दिनों में तुलसीदास बहुत बीमार हुए। उनके सारे शरीर में फोड़े निकल आए। उन्हें सन्देह था कि किसी दुष्ट ने कुछ खिला पिला दिया है। सम्भवतः इसी रोग में उनका शरीरान्त हो गया। उनका शरीर सुन्दर सुगठित और क्रियाशील था। वे स्वभाव के विनोदी और अत्यन्त निर्भीक थे। उनमें सहिष्णुता भी यथेष्ट थी। उनका संस्कृत-साहित्य का अनुशीलन अत्यन्त गहन था। फ़ारसी से भी सम्भवतः उनका परिचय था। वे केवल भावुक कवि या सन्त भक्त ही न थे, बल्कि विश्वदर्शी विचारक भी थे। वे स्मार्त-वैष्णव थे। उनकी हस्तलिपि स्पष्ट और सुन्दर होती थी।

काशी में अस्सी घाट पर, जहां वे अन्त समय तक रहे तुलसी घाट प्रसिद्ध है। यहां तुलसीदास द्वारा स्थापित हनुमान जी की मूर्ति भी है। उनके मन्दिर के बाहर एक बीसायन्त्र खुदा है जो पढ़ा नहीं जाता । यहीं गुसाईं जी की गुफा है जहां वे अन्त समय तक रहे।

टोडरमल भूमिहार से मैत्री—

गोपाल मन्दिर में जिस कोठरी में तुलसीदास रहते थे वह अब बन्द रहती है। झरोखे से उसके दर्शन लोग करते हैं। कहते हैं वहां उन्होंने 'विनयपत्रिका' के कुछ अंश लिखे थे। भूमिहार जमींदार टोडरमल के वंशधर अब भी अस्सी पर (भदैनी में) रहते हैं । इन्हींने तुलसीदास को जब उनका वल्लभकुल वालों से झगड़ा हुआ था-अस्सी में लाकर रखा था, जिस के कारण उन्हें गुसाइयों ने तलवार से काट डाला था । इन्हीं टोडरमल के पुत्र-पौत्रों के बीच जायदाद के बंटवारे के लिये एक पंचनामा लिखा गया था जिस पर तुलसीदास जी के हाथ की लिखी ६ पंक्तियां हैं। यह पंचनामा इस समय काशी महाराज के अधिकार में है। हम उसकी छाप अगले पृष्ठ पर देते हैं। टोडरमल के वंशधर प्रत्येक श्रावण शुक्लासप्तमी को तुलसीदास की पुण्यस्मृति में अब भी सीधा दिया करते हैं। इनकी मृत्यु पर तुलसी ने कहा था—

राम धाम टोडर गए, तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु, यह जानि संकोच।

मधुसूदन सरस्वती से संघर्ष—

ये प्रसिद्ध शांकर अद्वैतवादी वेदान्त निष्णात विद्वान् थे। तुलसीदास एक तो काशी में रहकर शिव की जगह राम की आराधना करते थे, दूसरे भाषा में रामचरित रचकर उसका प्रचार करते थे। इससे पण्डितमण्डली में उनके प्रति घृणा और द्वेष के भाव फैल गये थे। इसी सिलसिले में मधुसूदन स्वामी के साथ तुलसीदास का विवाद हुआ था जिसके अन्त में प्रसन्न होकर उक्त स्वामी जी ने तुलसी की प्रशंसा में यह श्लोक लिखा था—

आनन्द कानने ह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसी तरु!
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता।

श्री नाभा जी से भेंट—

भक्तमाल के रचयिता नाभाजी जब काशी जी आए तो तुलसीदास जी से मिलने उनके स्थान पर गये। परन्तु किसी कारणवश उस समय तुलसीदास से भेंट नहीं हो पाई। इस पर नाराज़ होकर नाभा जी वृन्दावन लौट गए और तुलसीदास की निन्दा करते हुए एक छप्पय भक्तमाल में लिखा जिसका पिछला चरण था—



तुलसीदास के हस्ताक्षरों सहित पंचनामा

कलि कुटिल जीव तुलसी भए वाल्मीकि अवतार धरि ।

पीछे जब तुलसीदास को नाभाजी का अपने घर आकर लौट जाने का समाचार मिला तो वे उनसे मिलने वृन्दाबन गए। जब वे वहां पहुंचे तब नाभाजी के यहां भण्डारा हो रहा था। नाभाजी तुलसीदास से खीजे हुए तो थे ही—उन्होंने उनकी कुछ भी अभ्यर्थना नहीं की। तुलसीदास अन्य साधुओं की पंक्ति में प्रसाद पाने के लिये बैठ गए। इन्हें पात्र भी नहीं दिया गया, तब ये एक साधु का जूता उठा कर उसमें खीर लेने लगे और कहा इससे अधिक उत्तम पात्र और कौन होगा। इसपर नाभाजी ने गद्गद् होकर इन्हें कण्ठ से लगा लिया। पीछे भक्त-माल के छप्पय से उक्त चरण बदल कर इस प्रकार कर दिया—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीकि तुलसी भयो।

मीराबाई से पत्र-व्यवहार—

कहते हैं प्रसिद्ध भक्त मीराबाई ने एक बार तुलसीदास को एक पत्र लिखा था। वह इस प्रकार था—

स्वस्ति श्री तुलसी गुन भूषन दूषन हरन गुसाईं।
बारहिं बार प्रणाम करहुँ अब हरव सोक समुदाई।
घर के स्वजन हमारे जेते सवनि उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाई।
बालपने ते मीरा कीन्ही गिरिधर लाल मिताई।
सो तो अब छूटत नहि क्यों हूं लगी लगन बरियाई।
मेरे मात पिता के समहो हरि भक्तन सुखदाई।
हमको कहा उचित करिवो है सो लिखिए समुझाई।

इसके उत्तर में तुलसीदास ने लिखा था—

जेहि के प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।
तात मात भ्राता सुत पति हित, इन समान कोउ नाहीं।
रघुपति विमुख जानि इव, तजतन सुकृत डराहीं।
तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण बन्धु भरत महतारी।
वलि गुरु तज्यो कान्त व्रजवनितन, भेसब मङ्गलकारी।
नातो नेह राम सों मानिय, सुहृद सुसेव्य जहां लौं।
अंजन कहा आंख जो फूटे, बहुतक कहौं कहां लौं।

तुलसी सोइ सब भांति आपनो पूज्य प्राण ते प्यारो।
जासों होई सनेह राम सों ऐतो मतो हमारो।

बनारसीदास जी से भेंट—

आगरे के प्रसिद्ध कवि बनारसीदास जी से एक बार तुलसीदास जी की भेंट हुई थी। तब उन्होंने उन्हें एक प्रति रामचरितमानस की भेंट की थी और उन्होंने पार्श्वनाथ की स्तुति दी थी। इसके बाद बनारसीदास जी ने रामचरितमानस की प्रस्तावना में यह चरण लिख भेजे थे—

विराजै रामायण घट माहीं।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख माने नाहीं।
आतम राम ज्ञानगुन लछमन, सीता सुमति समेत।
शुभ प्रयोग बानर दल मण्डित, वर विवेक रनखेत।
ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि, गई विषयदिति भाग।
भई भस्म मिथ्या मत लंका, उठी धारना आग।
जरे अज्ञान भाव राक्षस कुल, लरे निशंकित सूर।
जूझे राग द्वेष सेनापति, संसयगढ़ चकचूर।
बिलखत कुम्भकरण भवविभ्रम, पुलकित मन दरियाव।
थकित उदार वीर महिरावन, सेतुबन्ध समभाव।
मूर्छित मन्दोदरी दुरासा, सजग चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति परनति सेना, छुटे छपक गुनवान।
निरखि सकति गुन चक्र सुदर्शन, उदय बिभीषन दीन।
फिरे कबन्ध महीरावन को, प्रान भाव सिर हीन।
इह विधि साधु सकल घट अन्तर, होय सहज संग्राम।
यह विवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम।

इसके उत्तर में तुलसीदास ने यह पार्श्वनाथ की स्तुति लिखी थी—

पद जलज भगवान जू के बसत हैं उरमांहि।
चहुं गति विहंडन तरन तारन, देखि विघन विलाहि।
थकि धरनिपति नहिं पार पावत नर सु वपुरा कौन।
तिहि लसत करुना जन पयोधर, भजहिं भविजन तौन।
दुति उदित त्रिभुवन मध्य भूषन, जलधि ज्ञान गंभीर।
जिहि भाल ऊपर छत्र सोहत, दहत दोष अधीर।
जिहि नाथ पारस जुगुल पंकज, चित्त चरनन जास।
रिधि सिद्धि कमला अजर राजित भजत तुलसीदास।

अम्बराधिपति मानसिंह और महाराजा जगतसिंह की भक्ति—

ये दोनों नरपति तुलसीदास पर बहुत भक्ति रखते तथा बहुधा इनकी कुटी में आकर देर तक बैठे रहते थे। एक बार किसी ने हँसी में इन से कहा कि—आपके पास अब तो राजा महाराजा भी आते हैं तब आपने यह दोहा पढ़ा—

घर २ मांगे टूक पुनि, भूपति पूजे पाय।
ते तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय।

आत्म-कथन—

तुलसीदास जी ने अपनी रचनाओं में बीच बीच में अपने वृत्त का चमत्कारिक वर्णन किया है जिससे उनकी जीवन-धारा पर बहुत सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

अपने जन्म और दारिद्रय के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

जायो कुल मंगन, बधायो न सुनायो काहू,
भयो परिताप पाय जननी जनक को।
बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हों चरि फल चारहिं चनक को।
(कवित्तावली)

❀ ❀ ❀

पातक पीन कुदारिद दीन, मलीन धरे कथरी करवा है।
लोक कहै, विधि हू न लिख्यो, सपने हु नहीं अपने बर बाहै।
राम को किंकर सो तुलसी समुझेहि भलो कहिवो न रवा है।
ऐसे को ऐसो भयो कबहूँ न भजे बिन बानर के चर वाहै।
(कवित्तावली)

❀ ❀ ❀

जाति के कुजाति के सुजाति के पेटागि बस
खाए टूक सब के विदित बात दूनी सो।
(कवित्तावली)

गुरु के सामने बालक तुलसीदास ने जिस प्रकार परिचय दिया था, उसका मर्मस्पर्शी वर्णन है:—

राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यो राम।
काम यहै नाम द्वै हौं कबहुँ कहत हौं ॥
लोग कहैं पोचु सो न सोचु न संकोचु मेरे।
ब्याह न बरेखी जाति पांति ना चहत हौं ॥
बूझ्यो जों ही कह्यो हौंहूं चेरो ह्वै हौं रावरोजू।
मेरो कोऊ कहूं नाहीं चरन गहत हौं ॥
मींजा गुरु पीठि अपनाइ गहि बांह बोलि।
सेवक सुखद सदा विरद बहत हौं ॥

(विनय-पत्रिका)

रामचरित के विषय में लिखते हैं।

मैं पुनि निज गुरुसन सुनी, कथा सो सूकर खेत ॥
समुझ नहीं तसि बालपन, तब अति रहेउ अचेत।
तदपि कही गुरु बारहिं बारा, समुझि परी कछु मति अनुसारा।
भाषा बद्ध करब मैं सोई, मोरे मन प्रतीति असि होई ॥

(रामचरित मानस)

विवाह होने पर जो आप इन्द्रिय-वासना में लीन हो गये थे उसका वर्णन एक चरण में तुलसीदास इस प्रकार करते हैं:—

लरिकाई बीती अचेत चित, चंचलता चौगुनो चाय ।
जोवन जर जुवती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय ॥

(विनयपत्रिका)

मालूम होता है गृहस्थ होने पर आपने खेती और कुछ व्यापार भी किया था। वे लिखते हैं—

मध्य वयस धन हेतु गँवाई, कृषी बनिज नाना उपाई।

(विनयपत्रिका)

पीछे आसक्ति के अतिरेक के अवसर पर उनकी स्त्री ने उन्हें इस प्रकार प्रबोध दिया:—

अस्थि चर्म मय देह मम, तामे जैसी प्रीति ।
तैसी जो श्रीराम में, होति न तौ भवभीति ॥

रामचरित का रचनाकाल वे इस प्रकार कहते हैं:—

संवत सोरह सों इकतीसा, करों कथा हरि पद धर सीसा।
नवमी भौम वार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥

(रामचरित मानस)

इनको लोग भांति २ से तङ्ग करते और बदनाम करते थे, जात-पांत को लेकर भी उपहास करते थे, इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं:—

धूत कहौ अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलाहा कहौ कोऊ।
काहू कि बेटी सों बेटा न ब्याहव, काहू की जाति बिगार न सोऊ॥

❀ ❀ ❀

कोऊ कहे करत कुसाज दगाबाज बड़ौ।
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है॥
साधु जाने महासाधु, खल जाने महा खल।
बानी झूठी-सांची कोटि उठत हबूब है॥
चहत न काहू सौं, न कहत काहू की कछू।
सबकी सहत उर, अन्तर न ऊब है॥
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के।
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है॥
(कवित्तावली)

चित्रकूट और प्रयाग उन्हें बहुत प्रिय था। वे कहते हैं:—

'देव कहै अपनी अपना अवलोकन तीरथराज चलोरे।
(कवित्तावली)

अब चित चेति चित्रकूटहिं चलु।
(विनयपत्रिका)

वे वारिपुर और दिगपुर भी गये थे, जहां वाल्मीकि का आश्रम बताया जाता है। वे इस स्थान के विषय में कहते हैं:—

जहां बालमीकि भए ब्याधतें मुनीन्द्र साधु।
मरा मरा जपे मुनि सिख ऋपि सान की॥
सीय को निवास लवकुस को जनम थल।
तुलसी छुवत छाँह, तापहरे गात की॥
विटप महीप सुर सरित समीप सोहैं।
सीतावट देखत पुनीत होत पातकी॥
वारिपुर दिगपुर, बीच बिलसित भूमि।
अंकित जो जानकी चरन जल जातकी॥
(कवित्तावली)

अपने विषय में वे लिखते हैं:—

केहि गिनती में गिनती जस बन घास ।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास ॥
(बरवै रामायण)

* ❀ ❀ *

हौं तो सदा खर को असवार, तिहारोहि नाम गयंद चढ़ायो ।
(कवित्तावली)

अयोध्या छोड़ कर काशीवास करने का कारण वे तत्कालीन अयोध्या की राजनैतिक धांधलेबाजी बताते हैं । सम्भवतः तब वहां किसी गौड़ राजा का राज्य था, फिर मुसलमानों के अन्धेर का तो कहना ही क्या ? इसका वर्णन वे इस प्रकार करते हैं:—

सुर सदननि तीरथ पुरिन, निपट कुचालि कुसाज ।
मनहु मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज ॥
गौड़ गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल ।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दण्ड कराल ॥

* ❀ ❀ *

मृत्युकाल में तुलसी के हृदय से यह वाणी निकली थी :—

रामचन्द्र यश बरनि कै, भयो चहत अब मौन ।
तुलसी के मुख दीजिए, अब ही तुलसी सौन ॥

तुलसी; पण्डित और कवि—

तुलसी संस्कृत, हिन्दू दर्शन और धर्मशास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे । उनकी वर्णनशैली, परिमार्जित भाषा और दार्शनिक भावों से ओतप्रोत आध्यात्मवर्णन इस बात को प्रकट करता है । पर पीछे ज्यों २ वे जीवन में आगे बढ़ते गये विद्वान् की अपेक्षा कवि अधिक रह गये । उनकी प्रबन्धरचना, चरित्रचित्रण और भाव-प्रदर्शन अप्रतिम है । मानव-समाज के स्वभाव से उनका गम्भीर परिचय था । इसी से वे ज्ञान के संस्थापक और भक्ति के प्रतिष्ठाता के रूप में अमर हुए । अपनी कविता की धारा में उन्होंने सैकड़ों, हजारों नए भावों और मुहाविरों का सफल प्रयोग किया, जो सर्वथा मौलिक है । उनके हाथों में पड़ कर प्रांतीय अवधी बोली समस्त उत्तराखण्ड की पूजनीय भाषा हो गई । उनके स्पर्श से ब्रजभाषा भी निखर गई । उनके विचार स्पष्ट और निश्चल थे । उनमें न वंचक उक्ति थी न

अतिरंजना। उनकी कला में व्यापक सहृदयता का ऐसा प्रदर्शन है कि मानवहृदय उसपर मुग्ध हो जाता है। उनकी खूबी यह है कि उन्होंने केवल पुण्य के ही रेखाचित्र नहीं बनाए—पाप का भी यथार्थ अंकन किया, पर इस कौशल से कि वह विरोध सम्पूर्ण दैवी और मानवीय प्रवृत्तियों का नकार बन गया। पाप की भीषण से भीषण मूर्ति को उन्होंने मानवजन के सामने खड़ा करके उसके खण्ड २ कर डाले और उसे पूर्णतया पराजित कर दिया। उनमें एक खूबी यह है कि वे वस्तु में मौलिक नहीं भाव म मौलिक हैं। किसी कवि के लिये यह असाध्य कार्य है। यह उनकी कविता की प्राण-प्रतिष्ठा ही का चमत्कार है कि राम के वियोग में उनके साथ अयोध्या के पशु पक्षी और चित्रकूट की पर्वतश्रेणियां भी ठण्डी सांस लेने लगीं। और वहां के पशु पक्षी, वृक्ष तक रामकथा सुनकर विचलित हो गए। एक कवि की दृष्टि से तुलसीदास भारतीय संस्कृति की कीर्ति हैं. वे इन्द्रियों की चेतनाओं को मनकी संवेदनाओं से तपस्या के द्वारा आलिङ्गन कराते हैं। वास्तव में उनकी अन्तःप्रेरणा विश्व के व्यवहार-शास्त्र की नींव है।

वे लोकधर्मी भी हैं, और साधुधर्मी भी। इन दोनों धर्मों में जहां २ भी संघर्ष है वहां २ उन्होंने उसके निर्वाह में कमाल कर दिया है। राम शबरी के जूठे बेर खाते हैं, और वशिष्ठ अछूत निषाद को गले लगाते हैं। इसका केवल यही कारण नहीं कि उनका किसी जाति से विरोध न था-प्रत्युत् यह तो उनकी वैयक्तिक पवित्रता की प्रतिष्ठा की पराकाष्ठा प्रदर्शित करना है।

अध्याय बाईसवाँ

तुलसी की सम्पदा

तुलसीदास के कवित्व का उत्कर्ष और तल्लीनता—

यदि यह कहा जाय कि तुलसीदास की जोड़ का सत्कवि विश्व-साहित्य में दूसरा नहीं हुआ तो यह अत्युक्ति नहीं। हमारी भारतीय संस्कृति में संस्कृत के महाप्राण कवि बाल्मीकि, व्यास, भास, कालीदास, माघ, भवभूति और श्रीहर्ष के नाम अमर हैं। हिन्दी में भी सूर, केशवदास, मतिराम, देव और बिहारी का आसन बहुत ऊंचा है। विश्व-साहित्य में अंग्रेज कवि शेक्सपियर, ग्रीककवि होमर,

इटालियन कवि वर्जिल, फ्रेन्च कवि दान्ते, रूसी कवि पुश्किन, अरब कवि हम्मासा, फारसी कवि फिरदौसी, सादी, हाफ़िज़, अनवरी, खाकानी, उर्दू कवि गालिब, सौदा, बंगाली कवि मधुसूदनदत्त और रवीन्द्र, महाराष्ट्र कवि तुकाराम और गुजराती कवि दयाराम आदि महामेधावी कविवरों के नाम का भी माहात्म्य है। परन्तु कवि की हैसियत से तुलसी कदाचित इन सब से ऊपर उठ गये हैं।

कवि तुलसी की इस अमरत्व और विश्व-विशालता का एक कारण उसकी अखण्ड अपरिसीम तल्लीनता है। जिसमें भक्ति, पाण्डित्य, भाषा, अधिकार, चरित्र, कल्पना और प्रतिभा ने अमरत्व उत्पन्न कर दिया है। विषय का प्रतिपादन,, सद्-गुणों का विकास और दुर्गुणों के प्रति कुत्साप्रदर्शन, स्वच्छंदता से कथानक वर्णन की शैली, आद्योपान्त रस का निवाहन, कथनोपकथन की सजीवता, पात्रों के चरित्र का चित्रण, रूपकों का समावेश, अनूठी उपमाएँ, नैसर्गिक दृष्टिकोण, और पदार्थों का परिपूर्ण वर्णन, प्रच्छन्न प्रहसन, उत्कट उमंग, बहुज्ञता, प्रतिभा, अर्थ गौरव, पद-लालित्य, कथाओं और किम्वदन्तियों का सुन्दरता से कथा में प्रवेश, विविध भाषाओं और शैलियों का कुशल व्यवहार, ये सब तुलसी के अपूर्व गुण हैं—जो इकट्ठे किसी एक कवि में अन्यत्र नहीं मिलते। फिर तुलसी की अखण्ड और अपरिसीम तल्लीनता तो उसकी सम्पूर्ण कवित्व सत्ता से परे की वस्तु है। इन सब कारणों से तुलसीदास विश्वकवियों में सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित एवं सर्वाधिक अमर हैं। सूर वल्लभीय तल्लीनता से प्रभावित थे पर तुलसी की तल्लीनता उनकी अपनी है।

अब हम इस बात पर थोड़ा विचार करेंगे कि तुलसी में यह अलौकिक तल्लीनता कहां से उत्पन्न हुई। इसके लिये हमें तुलसी के चारों ओर के वातावरण को देखना होगा। कविता ही नहीं, साहित्यमात्र का निर्माण वास्तव में कवि के अपने समय के समाज की आकांक्षाओं, प्रवृत्तियों तथा जीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है।

तुलसीदास जिस युग में जन्मे थे। उस समय हिन्दू समाज पर एक नई भावना ने रंग जमाया था। यह नई भावना भक्ति-भावना थी। भक्ति-भावना का मुख्य उद्देश्य बुद्धिवाद का नियमन करके हार्दिक भावनाओं को प्रभावित बनाना था। उन दिनों एक ओर अनियन्त्रित विदेशी शासन ने हिन्दू-जनता को दलित और असहाय बना दिया था, दूसरी ओर ब्राह्मणों ने धर्म-भावना को बौद्धिक शक्तियों में केन्द्रित कर लिया था। कर्मकाण्ड और दार्शनिकता की हद हो गई थी।

बौद्धों और जैनों ने इसका विरोध किया, पर सफलता नहीं मिली । इन सब कारणों से जनसाधारण जैसे अपने सामाजिक जीवन में निरीह और असहाय था, वैसे ही आध्यात्मिक जीवन में भी तत्वज्ञान और निर्गुण ब्रह्म की उपासना उसके व्यक्तित्त्व से बहुत दूर थी । ऐसी दशा में जब भक्तिवाद ने सशरीर राम कृष्ण जैसे आदर्श पुरुषों को देवरूप में उनके घरों में ला धरा, और उनकी पूजा उपासना उनके लिये सुगम होगई तो समाज में तल्लीनता का उदय हुआ । और तुलसी अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से उस तल्लीनता के अप्रतिरथ उपासक हो गये । सिद्धान्त, भाव और भाषा ये तीन वस्तु कविता के प्राण हैं । तुलसी के सिद्धान्त में कवित्व का प्रवाह तभी होता है जब किसी देवपुरुष की उपासना उसमें ओतप्रोत हो । इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन में वे कहते हैं—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना ।
स्वाती सारद कहहि सुजाना ।
जो बरषै वरबारि विचारू ।
होहिं कवित मुक्ता-मनि चारू ।

युक्ति बन्धि पुनि पोइए, राम चरित वरताग ।
पहिरहि सज्जन विमल उर, शोभा अति अनुराग ।

भाव और भाषा के विषय में तुलसी की सम्मति यह है कि कविता में भाव ही प्रधान है । वे कहते हैं—

भनिति विचित्र न छविकृत जोऊ ।
राम नाम बिन सोह न सोऊ ।
विधुबदनी सब भांति सँवारी ।
सोह न वसन बिना वह नारी ।
भक्ति हेतु विधि-भवन बिहाई ।
सुमिरत सारद आवत धाई ।
राम चरित सर बिनु अन्हवाए ।
सो श्रम जाय न कोटि उपाए ।
कवि कोविद अस हृदय विचारी ।
गावहि हरिगुण-कलिमल हारी ।

शब्दों की चमत्कारिक शक्ति पर भी उन्हें पूरा विश्वास है । वे कहते हैं—

सपनेहु साँचहुँ मोहि पर, जौ हर-गौरि पसाउ ।
तौ फुर होउ, जो कहउँ मैं, भाषा भनित प्रभाउ ।

इस प्रकार वे भावसौन्दर्य के साथ २ शब्दसौष्ठव का भी पूरा खयाल रखते हैं। कदाचित् माधुर्य की प्रचुरता के ही विचार से वे अल्पप्राण वर्णों का प्रयोग अधिक करते हैं। देखिए—

सुकृत पुंज मंजुल अलिमाला।
ज्ञान - विराग विचार - मराला।
परम प्रेममय मृदु मसिकीन्ही।
चारु चित्त नीती लिख दीन्ही।
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा।
सुन्दर खग-रव नाना रूपा।

यहां अल्पप्राण वर्णों का चमत्कार तब प्रतीत होगा जब पाठक पूरा चरण पढ़कर अन्त के दीर्घोच्चारण पर विश्राम लेगा। तुलसीदास की कविता में तल्लीनता होने से ही भाव और शब्दों का उत्कर्ष स्वयंभूत हो गया है। देखिए—

कंकन-किंकिन नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।

पाठक देखें कि किस प्रकार कंकन-किंकन और नूपुर ध्वनि में सीता के मन्द-गमन का संदेश है।

तुलसीदास विशिष्ट जनों के लिये नहीं, सर्वजन के लिये कवित्व वितरण करते हैं। वे कहते हैं—

कीरति, भनिति; भूति भलि सोई।
सुरसरि-सम-सब, कहँ हित होई।

प्रसिद्ध अंग्रेज कवि वर्डसवर्थ भी ऐसा ही कहता है। वह कहता है कि "उसकी कविता से दुःखित जनों को आश्वासन मिले। मानव-जीवन सुखमय हो, और बालवृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी उसे पढ़कर धार्मिक बने।"

इन्हीं कारणों से तुलसी ने अपनी कविता की रचना सब लोगों की बोलचाल की भाषा में की। वह आज भी हिन्दी भाषा को अमरत्व प्रदान करती है। काल पाकर जैसे भाषा टूट फूट कर विकृत हो जाया करती है जब कभी हिन्दी पर यह संकट आएगा तो तुलसी की भाषा उसे अखण्डित रखने में बहुत सहायक होगी।

तुलसीदास की उपमाएँ—

संस्कृत साहित्य में कालीदास उपमा के लिये जैसे विख्यात हैं, हिन्दी साहित्य में तुलसी उन से कम नहीं। उपमा के सौष्ठव की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में कोई भी कवि तुलसी से टक्कर नहीं ले सकता है।

तुलसीदास की लेखनी ने जो भावमयी उपमाओं का सुधावर्षण किया है वह अत्यन्त हृदयग्राही है। उसमें जैसी सरलता है, वैसी ही स्वाभाविकता भी है। इसी चमत्कार के कारण वे हृदयग्राहिणी हो गई हैं। यहां हम थोड़े से उदाहरण देते हैं।

राम के सहज, सरल पितृभक्तिपूर्ण वचनों को केकयी किस प्रकार कुटिल समझती है, यह देखिए—

सहज सरल रघुपति वचन, कुमति कुटिल कर जान।
चलइ जोंक जिमि वक्रगति, यद्यपि सलिल समान।

यहां जल की सरलगति को देखिए और रक्त पीने के स्वभाव वाली जोंक की वक्रगति देखिए। इस उपमा में कुमति द्वारा कुटिलता की जो सृष्टि केकयी में हुई है उसका अति व्यापक भाव प्रकट हो गया है। वे ही कुटिल वचन राम के हृदयसागर में कुटिल भाव रहित ध्वनित होते हैं—

रामहि मातु वचन सब भाए, जिमि सुरसरि-गत सलिल सुहाए।

किस प्रकार राम को माता के वचन प्रिय लगे—जैसे गंगा में मिलकर सब जल गंगा जल हो जाते हैं। अपवित्र जल भी पवित्र हो जाता है।

राम की वन-यात्रा की व्यापक भावुकता की बहार देखिए—

नगर व्याप गइ बात सुतीछी। छुवत चढ़ी जनु सब तन बीछी।
सुनि भे विकल सकल नरनारी। विटप-बेलि जिमि देख दवारी।

अब आप राम के वनगमन के समाचार से उत्पन्न पीड़ा, वेदना और व्याकुलता को देखिए, और बिच्छू के काटने की वेदना-पीड़ा को देखिए। विधाता और केकयी को नागरिक कोसते हुए कहते हैं:—

यहि पापिनि बूझ का परेऊ। छाइ भवन पर पावक धरेऊ।
निज कर नयन काढ़ि चह देखा। डारि सुधा विष चाहत चीखा।
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। यह रघुवंस-वेनु-वन-आगी।
पालव बैठि पेड़ यहि काटा। सुख महँ सोक-ठाठ यहि ठाठा।

किस प्रकार सरल नैसर्गिक भाव प्रकट किये गये हैं।

राम-वनगमन का सबसे अधिक भावपूर्ण कोमल करुण चित्र वह है जहां आंखों में आंसू बहाती माता कौशल्या अर्धमूर्छितावस्था में पड़ी हैं और राम उन्हें अथाह धैर्य से सान्त्वना दे रहे हैं। इसी समय पतिप्राणा मैथिली सीता 'पति प्रेमपुनीता रूपराशि' चुपचाप सास के चरणों में सिर नवाकर बैठ जाती हैं। और अपने नख से पृथ्वी पर रेखा खींचती मूक वेदना के अवाक् आंसू बहाने लगती हैं। इस नवनीत कोमला पुत्र बधूटी के नीरव दुःख से कौशल्या हाहाकार कर उठती है। राम भी विचलित होते हैं। सीता का वह पदनख से चुपचाप भूमि-लेखन उनके मौन दुःख, शील, और करुण विषाद का इतिहास व्यक्त करता है। मर्यादा और शील-संकोच में बंधे राम माता के सन्मुख जो वाक्य उच्चारण करते हैं, उनमें तुलसी की अप्रतिम सजीव उपमाएँ देखिए—

हंसगमनि तुम नहिं बन जोगू। सुनि अपजस देहहिं मोहि लोगू।
मानस सलिल-सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवन-पयोधि मराली।
नव रसाल बन विहरिनि सीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला।

अब लज्जा की मूर्ति सीता जिनका आत्मभाव राममय ही है, गम्भीर मौन ही जिनका जीवनव्रत है फिर भी उन्हें बोलना ही पड़ा। परन्तु किस प्रकार ? यह देखिए—

जिय बिनु देह नदी बिनु वारी। तैसिय नाथ पुरुख बिनु नारी।
नाथ सकल सुख साथ तिहारे। सरद विमल विधु बदनु तिहारे।
छिन-छिन प्रभु पद कमल विलोकी। रहिहंहु मुदित दिवस जिमि कोकी।
प्रभु करुणामय परम विवेकी। तनु तजि रहति छाह किमि छेकी।

कैसी नैसर्गिक उपमाएँ पद २ पर हैं। इनके कारण रामचरित का यह वनगमन प्रकरण ऐसा भावुक कोमल और हृदयग्राही बन गया है कि जिसकी जोड़ का स्वाभाविकता, सदाशयता, गम्भीरता और सरसता से परिपूर्ण कथनोपकथन संसार के साहित्य में मिलना दुष्कर है। उपमाओं के कुछ और भी दो-चार उदाहरण यहां देते हैं—

लोचन जल रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना।
मन मलीन तन सुन्दर कैसे। विष-रस भरा कनक घट जैसे।
लखइ न रानि निकट दुख कैसे। चरइ हरित तृन बलि पशु जैसे।
गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देख जनु दव चहुँ ओरा।

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा।

अधिक उदाहरण विस्तारभय से नहीं दिए जाते। रामचरितमानस उपमाओं का समुद्र है।

तुलसीदास की सूक्तियां—

तुलसी वाङ्मय में भक्ति, नीति और उपदेश से भरी हुई जो अलौकिक सूक्तियां हैं उनके कुछ उदाहरण भी हम यहां देंगे--

राम नाम मणि दीपधर, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहु, जो चाहत उजियार॥
तुलसी अपने राम सों, सांचो कीजे नेह।
कहा लाज भरतार की, जिन देखी सब देह॥
रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गौ अंग।
तुलसी चातक प्रेम की, नित नूतन रुचि रंग॥
जलपय सरिस-विकाहि, देखहु प्रीतिकि रीति भलि।
बिलग होत रस जाइ, कपट खटाई परत ही।
तुलसी देख सुवेख, भूलें मूढ़ न चतुर जन।
सुन्दर केकी पेख, बचन सुधा-सम-असन आहि॥
तुलसी पावस के समय, धरी कोकिला मौन।
अब तो दादुर बोलि हौं, हमें पूछि है कौन॥
नीच चंग सम जानिये, सुनि लखि तुलसीदास।
ढील देत महि गिरि परत, खैंचत चढ़त अकास॥

तुलसीदास के छन्द और राग—

तुलसीदास ने गीतावली और विनय-पत्रिका के गीतिकाव्य के छन्दों को छोड़ कर निम्न छन्दों का उपयोग किया है। चौपाई, दोहा, सोरठा, चौपैया, डिल्ला, तोमर, हरिगीतिका, भुजङ्गप्रयात, मालिनी, त्रिभङ्गी, अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, तोटक, नगस्वरूपिणी, रथोद्धता, बसन्ततिलका, शार्दूल विक्रीड़ित, स्रग्धरा, सवैया, छप्पय, घनाक्षरी, झूलना, सोहर और बरवै।

गीतावली और विनय-पत्रिका में निम्नलिखित राग-रागिनियों के भेद हैं:—

आसावरी, भैरवी, विलाबल, केदारा, सोरठा, धनाश्री, कान्हरा, कल्याण, ललित, विभास, नट, टोडी, सारङ्ग, सूहो, मल्हार, गौरी, मारू, भैरव, भैरवी, चर्चरी, वसन्त, रामकली, और दण्डक।

रामचरितमानस—

रामचरितमानस तुलसीदास की सबसे प्रौढ़ और सर्वांगपूर्ण रचना है। वह सर्वगुणसम्पन्न प्रबन्ध-काव्य है। इसका प्रारम्भ उन्होंने सं० १६३१ में चैत्र की नवमी को किया था। इस काव्य-ग्रन्थ का अयोध्याकाण्ड सबसे उत्कृष्ट और प्रौढ़ है। उसमें उत्तम काव्य के सब गुण हैं। रसों का परिपाक और भावों का विकास उसमें खूब हुआ है। अलङ्कारों की जगमगाहट मानस-नेत्रों में चकाचौंध उत्पन्न करती है। वास्तव में मानस का अयोध्याकाण्ड तुलसी की कविता का बसन्त है। सम्भवतः यह काण्ड उन्होंने सबसे प्रथम अयोध्या में लिखा था। इसमें उन्होंने केवल राम और शिव को ही देवभाव से माना है। यह कल्पना की जा सकती है कि यह काण्ड लिखने के समय उनके मनमें किसी महा-काव्य की भावना न हो, यह भावना उनके मनमें पीछे जाग्रत हुई हो। इस काण्ड में करुण रस का अति प्रभावशाली प्रवाह है। केवल राम के विवाह-प्रसङ्ग पर थोड़ा शृङ्गार और हास्य है। अरण्यकाण्ड इस काण्ड के विषय से बहुत कुछ सम्बन्धित है। लंकाकाण्ड और सुन्दरकाण्ड में कवि की प्रतिभा थकी हुई सी दीख पड़ती है। उत्तरकांड में फिर कवि का तेज प्रकट होता है। यहां भक्तिरस का सुन्दर प्रदर्शन है।

यह काव्य रचने के बाद तुलसीदास ४९ वर्ष तक और जीवित रहे। सम्भव है इस लम्बे काल में उन्होंने उसमें बहुत काट-छांट की हो। उत्तरकाण्ड के अन्त में वे मानस की चौपाइयों की संख्या ५१०० बताते हैं।

रामचरितमानस में भौगोलिकता—

रामायण में भौगोलिक नाम ५० से अधिक नहीं हैं। इनमें से कुछ नाम बारम्बार आये हैं। अवध, अवधपुरी, अयोध्या, कोशल, कोशला, कोशला-पुरी, रामपुर, दशरथपुर ये नाम १०० से अधिक बार आये हैं। अकेले अयो-ध्याकाण्ड में अवध का नाम ५४ बार आया है। गंगा या गंगा के दूसरे नाम ५० बार। लंका ३५ बार, हिमगिरि २६ बार, प्रयाग २३ बार, चित्रकूट १८ बार, सरयू १६ बार, यमुना ११ बार, कैलास १० बार, मिथिला ८ बार, काशी और त्रिवेणी ७ बार, दण्डक और पंचवटी ५ बार, शृंगवेरपुर ४ बार, मंदाकिनी, विन्ध्याचल और गोदावरी ३ बार, तमसा, गोमती, प्रवर्षण गिरि त्रिकूटगिरि और अशोकवन, २ बार आये हैं। नन्दीग्राम, बदरीवन, नैमिष, केकय, भग, मरुदेश, मालव, उज्जैन, शोणनद, मानस, पम्पा-सरोवर, ऋष्यमूक, रामेश्वर आदि नाम कम से कम एक बार अवश्य आगये हैं। पौराणिक भौगोलिक नाम जैसे सुमेरु, सरस्वती, सप्तद्वीप, भोगवती, अमरावती, मन्दर, मेनाक आदि नाम भी आये हैं। अधिकांश में राजाओं के नाम भौगोलिक देशों के आधार

पर उच्चारण किये गये हैं जैसे—कौशलेश, मिथिलापति, मिथिलेश्वर, वैदेही, लंकेश्वर आदि। राम के वनवास संबन्धी प्रवासकाल में जितने भौगोलिक नाम चाहियें वे सब नहीं हैं। अवध के निकटस्थ स्थानों के नाम अधिक हैं। फिर ज्यों ज्यों फ़ासला बढ़ता गया है स्थलों के नाम कम होते गये हैं। वन-प्रवास के काल में राम के तीन मुख्य निवास-स्थान रहे हैं, चित्रकूट, पञ्चवटी और प्रवर्षणगिरि। चित्रकूट से पञ्चवटी तक बहुत कम भौगोलिक स्थलों के नाम आये हैं। केवल मुनियों के ही आश्रमों से राम के भ्रमण का पता चलता है। पञ्चवटी से लंका पहुंचने तक बहुत कम भौगोलिक नामों का उल्लेख किया गया है।

अयोध्या सब भौगोलिक स्थानों में प्रमुख है, परन्तु अयोध्या शब्द केवल उत्तरकाण्ड में एक ही बार मिलता है। अवध शब्द का उपयोग बहुतायत से किया गया है। किष्किन्धाकाण्ड को छोड़कर और सब काण्डों में अवध का नाम किसी न किसी रूप में आया है, परन्तु कोसलेश शब्द किष्किन्धाकाण्ड में भी है। मिथिला और उसके पर्यायवाची नाम बालकाण्ड में अधिक हैं। बालकाण्ड में जिन देवों के नाम आये हैं वे भौगोलिक दृष्टिकोण से नहीं, किन्तु स्थान की विशेषता प्रकट करने के लिए हैं जैसे—

शोण नदी का नाम सरयू की प्रशंसा के प्रकरण में आया है।

रामभक्ति सुरसरि तहँ जाई। मिलि सुकीरति सरजु सुहाई।
सानुज राम समर यश पावन। मिलेउ महानद शोण सुहावन॥

नर्मदा और शोण दोनों अमर कण्टक से निकलती हैं। एक खम्भात की खाड़ी में और दूसरी गंगा में जा मिली है। यहाँ शोण को पुलिंग वाची महानद से उच्चरित किया है। नैमिषारण्य का जो वर्णन है वह तीर्थ के रूप में है 'तीरथ वर नैमिष विख्याता'। यह स्थान अवध में सीतापुर के निकट गोमती के बायें किनारे पर है, और इसे आजकल नीमखारी या नीमसार कहते हैं। ककेय देश के महाराजा भानुप्रताप का वर्णन भी मिलता है। यह देश काश्मीर राज्य में है। और इसे आजकल 'कक्का' कहते हैं। अयोध्या के उत्तरीय अंचल के ४ नाम रामायण में विशेष रीति पर वर्णन किये गये हैं। हिमगिरि और उसके पर्यायवाची दूसरे नाम कैलाश या शिवशैल हिमालय की एक खास चोटी है, जो कि अब भी उसी नाम से प्रसिद्ध है। बदरीबन को अब बदरीनाथ कहते हैं। और मानसरोवर हिमालय के उस ओर मैदान में प्रसिद्ध झील है। उज्जयिनी नगरी का नाम रामचरित से पृथक् काकभुसुण्ड के भ्रमण-प्रसंग में आया है। इन स्थानों के अतिरिक्त अन्य समस्त भौगोलिक नाम राम के वनवास की यात्रा से सम्बन्धित हैं।

अब अवध से चित्रकूट तक के मार्ग पर विचार कीजिये। 'तमसा तीर निवास किय, प्रथम दिवस रघुनाथ'। यह तमसा एक छोटी सी नदी है जो अयोध्या के पश्चिम से निकलकर बलिया के पास गंगा में जा मिली है। दूसरा मुकाम श्रृंगवेरपुर में हुआ जिसे आजकल सिंगरोर कहते हैं। तीसरा मुकाम एक वटवृक्ष के नीचे और चौथा प्रयाग में। पांचवां मुकाम अज्ञात, छठा वाल्मीकि के आश्रम में और सातवां चित्रकूट में हुआ। वाल्मीकि ही उन्हें चित्रकूट में वास करने की सलाह देते हैं। यह चित्रकूट बाँदा ज़िले में प्रयाग से ७१ मील दूर है। यह दूरी ७ मुकामों में पूरी की गई तो लगभग प्रतिदिन २० ; २५ मील उन्हें चलना पड़ा। भरत ने राम के पास जाते हुए यह मार्ग ९ दिन में तय किया था, लेकिन वापसी में भरत ४ दिन में ही अयोध्या पहुंच गये। रामायण में चित्रकूट को रामगिरि भी कहा गया है, इससे गवेषणा करने में कठिनाई आती है। कालीदास ने मेघदूत में जिस रामगिरि का वर्णन किया है वह वास्तव में मध्य-प्रदेश के नागपुर ज़िले का रामटेक स्थान है जहां अगस्त्य का आश्रम था। यह चित्रकूट और पञ्चवटी के मार्ग में है। संभव है राम ने वहां पञ्चवटी जाते हुए कुछ दिन मुकाम किया हो, किन्तु चित्रकूट और रामटेक के बीच के भौगोलिक स्थानों का रामायण में उल्लेख नहीं है। केवल अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य के आश्रमों का वर्णन अरण्यकाण्ड में है। मालूम होता है विन्ध्याचल से गोदावरी के तट तक दण्डक वन का विस्तार था। रामटेक चित्रकूट से ३०० मील से कुछ अधिक दूर है। इस विस्तीर्ण वन में अत्रि और शरभंग के दो ही आश्रमों का उल्लेख है। रामटेक अगस्त्य का विख्यात आश्रम है। रामटेक से पञ्चवटी भी ३०० मील दूर है। परन्तु इस ३०० मील के लम्बे भूखण्ड में किसी वस्ति या आश्रम का उल्लेख नहीं है। राम अगस्त्य के आश्रम को छोड़कर फिर पञ्चवटी ही में विश्राम करते हैं।

सीता के हरण होने के बाद राम पम्पा सरोवर पहुंचते हैं। यह पम्पा सरोवर निज़ाम के राज्य में भारत के एकदम दक्षिणी किनारे पर अनगुण्डी गांव के निकट है। वहां तुंगभद्रा का किनारा है और उसके उस पार विजय नगर के खंडहर हैं। वहीं पर प्रवर्षण गिरि है। पम्पा से ही लगा हुआ ऋष्यमूक पर्वत है। इन स्थानों का वर्णन किष्किन्धाकाण्ड में है और यह स्थान पञ्चवटी से ३०० मील के फ़ासले पर है। राम ने यहीं सैन्य-संगठन किया था। फिर समुद्र तट पर आ सेतुबन्धन कर लंका को विजय किया। यहीं चार धामों में दक्षिण का धाम रामेश्वरम् है। रामेश्वरम् से २२ मील पर धनुष्कोटि है। वहां से अब लंका को रेल गई है जो संभवतः राम के ही सेतु की सीध में बनाई है। इस मार्ग से समुद्र केवल ४० मील ही पड़ता है। रावण की राजधानी कहां थी, आज यह नहीं कहा

जा सकता। और जिस सुवेल पर्वत पर राम की सेना ने विश्राम किया था उसका भी पता नहीं चलता। लंका त्रिकूट पर्वत पर बसी हुई बताई गई है। लंका शब्द का अर्थ दक्षिण भाषाओं में द्वीप कहा है। अनुराधपुर में एक बौद्ध स्तूप है जिसका नाम लंकाराम है परन्तु वह अत्यन्त प्राचीन नहीं है। इस द्वीप में पीडुरुतलागला नामक सबसे ऊँचा पर्वत है जिसके निकट दो और बड़ी-बड़ी चोटियां हैं, संभव है इसी को त्रिकूट पर्वत कहा जाता हो परन्तु यदि यहीं लंका थी तो राम को समुद्र तट से प्रायः पौने दो सौ मील चलना पड़ा होगा।

रामचरितमानस की भाषा, व्याकरण और शिक्षा—

तुलसीदास ने अपनी कविता की भाषा देश काल और परिस्थिति के अनुसार अधिकांश अवधी, कुछ व्रजभाषा कहीं २ बुंदेलखण्डी और थोड़ी भोजपुरिया रखी है।

अवधी का उदाहरण :—

राय सुभाय मुकर कर लीन्हा, वदन विलोकि मुकुर सम दीन्हा।
श्रवण समीप भये सित केसा, मनहु जरठपन अस उपदेसा।

(व्रजभाषा)

अवलोकि हौं सोच विमोचन को, ठगि सी रही जे न ठगे धिक से।

(बुंदेलखंडी)

ये दारिका परिचारिका गृह किंकरी करी मानवी।
अपराध छमिए बोलि पठए, बहुत हौं दीठी गई॥

(भोजपुरिया)

बाठौ सदा तुम मोर मरायल, अस कहि गगनपंथ कहं धायल।

(ग्राम्य-भाषा)

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए सांच।
काम तों आवे कामरी का ले करे कमांज॥

तुलसीदास ने जो विशुद्ध पद रचे हैं वे प्रगट हैं। कवि चन्द ने पृथ्वीराजरासो में जो संस्कृत के अभ्यासानुसार अनुस्वारान्त शब्दों का प्रयोग किया है वैसा प्रयोग तुलसीदास ने नहीं किया। तुलसीदास की भाषा में शुद्ध संस्कृत की संस्कृति और अपनी भाषा का प्रकटीकरण स्पष्ट है। उस काल में भाषा में कविता रचना पंडित लोग अपमान की वस्तु समझते थे परन्तु तुलसीदास की नैसर्गिक कवित्वशक्ति ने उन्हें बोलचाल की भाषा में रामचरितमानस लिखने के लिए वाध्य किया। मलिक मुहम्मद जायसी ने गोस्वामी जी से कुछ ही पहले अवधी भाषा में ही पद्मावत को लिखा था। पद्मावत और रामचरितमानस की

भाषा में बहुत अन्तर है। पद्मावत में शुद्ध तद्भव शब्द हैं किन्तु रामचरितमानस में अर्द्धतत्सम शब्द भरे हुए हैं। इसी से रामचरितमानस की भाषा और शैली अधिक परिमार्जित है । यह स्पष्ट है कि वह विद्वान् कवि की ग्रामीण भाषा है। उसमें संस्कृत काव्य का ही अनुकरण है । तुलसीदास गद्य में भी अवधी ही का प्रयोग किया करते थे। काशी के निवासी अब भी जो अवधी भाषा बोलते हैं वह वास्तव में भोजपुरिया से मिलती जुलती अर्द्धमागधी भाषा का ही रूपान्तर है। अवश्य ही गुसाईं जी के काल में यही भाषा बोली जाती होगी।

सोलहवीं शताब्दी में, जब तुलसीदास हुए, बड़े २ प्रतिभाशाली कवियों ने जन्म लिया। व्रजभाषा में गद्य पद्य में बहुत कुछ लिखा गया पर तुलसीदास ने व्रजभाषा और अवधी से मिश्रित एक बोलचाल की भाषा को ही अपनाया। उन्होंने असल में भाषा का बन्धन ही नहीं रखा। उन्होंने कहा—

सरल कवित, कीरति विमल, सोह आदरहिं सुजान।
गिरा ग्राम्य सियराम जस, गावहिं सुनहिं सुजान।

रामचरित मानस में फ़ारसी अरबी शब्द—

वह काल मुग़लसाम्राज्य के उदय का था । उस समय फ़ारसी का बोलबाला हो चला था । इसलिए तुलसीदास ने फ़ारसी अरबी शब्दों को भी अपनी कविता में लेने में संकोच नहीं किया। देखिए—

जे जड़ चेतन जीव जहाना। **सत्य कहउं लिख** कागद **कोरे। गई बहोरि गरीब** निवाजू। **असमंजस असमोहि** अंदेसा। **भइ** बकसीस जाचकन्ह **दीन्हा। किंकिनि ललाम** लगाम **ललित विलोक सुर नर मुनि ठगे। बना** बजारु **न जाय बखाना। जनवासे गमने मुदित सकल भूप** सरताज। **सनकारे सेवक सकल चले स्वामि** रुख **पाय। गवने भरत** पयादहिं **पाए।** खबर **लेन हम आयउ नाथा। जो कह झूठ** मसकरी **जाना। आज परेउ सठ काल** हवाले।

शैली—

केवल भाषा ही नहीं, उन्होंने कविता की शैली भी हिन्दी की परम्परा के अनुकूल दोहे और चौपाइयों में चुनी। जायसी ने भी यही किया है परन्तु दोनों ही ने दोहे के पहले और तीसरे चरण में १३ के बदले १२ ही मात्राओं का प्रयोग किया है जो प्रचलित छन्दःशास्त्र की दृष्टि से अशुद्ध है । चौपाइयों में भी छन्दःशास्त्र के नियमों का उल्लंघन देखा जाता है।

हस्तलिपि—

गोसाईं जी की हस्तलिपि बहुत सुन्दर थी । उनकी हस्तलिखित बाल्मीकि रामायण की एक प्रति काशी के सरकारी सरस्वती भवन में रखी हुई है। वे 'ब'

को आजकल के 'व' की तरह लिखते थे और 'व' का उच्चारण करने को 'व' के नीचे एक बिन्दु रख देते थे । 'श्री' को छोड़कर और कहीं भी उन्होंने तालव्य 'श' का प्रयोग नहीं किया और 'ख' की जगह मूर्धन्य 'ष' लिखा । अमृत को वे 'अमिय' लिखते रहे और 'ज्ञ' के स्थान में 'ग्य' और 'क्ष' के स्थान में 'छ' अथवा 'ष' लिखते थे 'ङ' 'ञ' और विसर्ग का उन्होंने प्रयोग नहीं किया । 'ऋ' 'ॠ' 'ऌ' 'ॡ' ये चारों अक्षर उन्होंने काम में ही नहीं लिये । संयुक्ताक्षरों का बहुत कम प्रयोग किया । 'धर्म' और 'कर्म' को 'धरम' 'करम' लिखते थे । पूर्वी और पहाड़ी बोलियां जो मागधी से प्रभावित हैं उनमें 'शकार' का ही प्रयोग है 'सकार' का अभाव है किन्तु शौरसेनी से प्रभावित बोली में 'सकार' से 'शकार' का अभाव है । इसी प्रकार शौरसेनी और पैशाची दोनों की ही वर्णमाला की भाषा में 'न' नहीं है 'ण' है, परन्तु मागधी में 'ण' नहीं है 'न' है । अवध का प्रान्त दोनों के बीच में है । इस लिए अवधी में शौरसेनी का तालव्य 'श' भी नहीं है और मागधी का 'ण' भी नहीं है । इनकी जगह 'स' और 'न' है । 'ऐ' और 'औ' के स्थान में 'अ' और 'इ' 'अ' और 'उ' का प्रयोग जायसी और तुलसी दोनों ने ही किया है ।

'ऋ' और 'ऌ' के ठीक उच्चारण का हमें पता नहीं है । हम 'ऋषि' लिखते हैं पर पढ़ते हैं 'रिखि' । संभवत: व्रजभाषा में 'ख' अक्षर है ही नहीं । सवत्रं मूर्धन्य 'ष' से ही काम लिया गया है । 'त्र' 'ज्ञ' के उच्चारण में संस्कृत भाषा-भाषियों में प्रान्त-भेद है । महाराष्ट्र में 'द्न', उत्तर भारत में 'ग्यँ', और बंगला में 'गें' कहते हैं । जायसी, तुलसी ने स्पष्ट 'ग्य' लिखा है । प्राकृत और अपभ्रंश में 'प्रतिज्ञा' शब्द 'पतिञ्ज्यो' 'पइज्जां' और फिर 'पइज्ज' में परिवर्तित होकर व्रजभाषा का 'पैंज' बनता है । इसी प्रकार 'क्ष' का भी प्राकृत में बहिष्कार है । जैसे 'लक्ष्मण', 'लक्खँन' लखन और लछिमन ये परिवर्तित रूप हुए। यह कहा जाता है कि तुलसीदास ने शब्दों को बहुत तोड़ा मरोड़ा है परन्तु बात यह है कि कवि का ज्यों २ विकास होता है वह एकदेशीयता की सीमा से निकल कर सार्वदेशिकता की परिधि में आता जाता है और इसलिए वह अधिक व्यापक शब्दों का प्रयोग अधिक करता है । तुलसीकृत रामायण के जो संशोधित संस्करण प्रकाशित हुए उनमें पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र और पं० रामेश्वरभट्ट के संस्करण बहुत पसन्द किये गये । परन्तु इन संस्करणों में रामचरितमानस का रूप ही बदल दिया गया है । रामचरितमानस के अब तक जितने संस्करण हुए हैं उनमें इण्डियन प्रेस का संस्करण अधिक शुद्ध है । उसमें केवल 'ख' और 'वा' का प्रयोग संस्कृत की तरह किया गया है । परन्तु 'विशेष' और 'देख' का अनुप्रास तभी हो सकता है जब 'ष' को 'ख' पढ़ा जाय । ऐसा मालूम होता है कि मानस और पद्मावत की रचना

के बहुत पहिले ही से दोहे और चौपाइयों के छन्द बहुत लोकप्रिय रहे हैं। ६०० वर्ष पहले 'खालकबारी' अमीरखुसरो ने चौपाइयों में ही लिखा है। देहाती अपढ़ जो गांव में विरहे गाते हैं वे दोहे से आरम्भ करके बीच में चौपाइयां कहते और अन्त में दोहे पर समाप्त करते हैं। तुलसीदास ने केवल भाषा ही नहीं छन्द भी लोक-प्रचलित ही चुना। इसीलिए रामचरितमानस दोहा, चौपाई में लिखा गया, लेकिन बीच २ में दूसरे छन्द भी काम में लाये गये।

मानस के अनुवाद--

तुलसीकृत रामायण के उत्कलभाषा में कई अनुवाद हुए हैं। जिनमें सबसे प्रथम अनुवाद गोविन्दसाब नामक एक तेली ने किया है उसके कुछ उदाहरण मूल सहित यहां उद्धरित किये जाते हैं।

(मूल)

नीति-निपुण सोई परम सयाना, श्रुति-सिद्धान्त ठीक सोई जाना।
सोई कवि-कोविद, सोई नरधीरा, जो छल छांडि भजै रघुवीरा॥

(उड़िया-अनुवाद)

नीति निपुण सेहि परम-चतुर, निगम-सिद्धान्ते दक्ष सेहि भाग्य धर॥
सेहिटि कवि कोविद, सेहि-नरधीर, छल त्यागि करि जेहू भजं रघुवीर॥

दूसरा अनुवाद खरयार के राजा वीरविक्रमसिंह ने करना प्रारम्भ किया था जिसकी पूर्ति उनके भाई और पुत्र ने की। तीसरा अनुवाद सम्भलपुर के बाबू रामप्रसाद वोहिबार के बड़े भाई ने, और चौथा अनुवाद सम्भलपुर के ही प्रसिद्ध कवि पण्डित स्वप्नेश्वरदास ने किया।

बंगला भाषा में सबसे पहले अनुवाद पुरुलिया के वकील श्री मदनमोहन चौधरी ने पयार और त्रिपदी छन्द में किया। दूसरा बंगला अनुवाद तुलसी चरितामृत नाम से किया गया, जिसमें मूल भी दिया है। जिसका नमूना नीचे दिया जाता है।

(मूल)

जेहि सुमिरत सिधि होइ, गणनायक, कवि वरबदन,
करौ अनुग्रह सोइ, बुद्धि राशि, शुभ-गुन-सदन॥

(बंगानुवाद)

स्मरिले जाहार नाम, पूर्ण हय मनस्काम सुरेर नायक गजानन।
करून आमार प्रति, अनुग्रह तिनि अति, बुद्धि-राशि, सद्‌गुण-सदन॥

संस्कृत अनुवाद—

इसकी १ हस्तलिखित प्रति इटावे के पं० सेवाराम के पास है। इसमें ग्रन्थकर्ता का नाम नहीं है। न समय का निरूपण है। काव्य भी साधारण है। इसके बालकाण्ड और अरण्यकाण्ड छप चुके हैं।

गुजराती अनुवाद—

सस्तु साहित्य वर्धक कार्यालय अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है जो पं० छोटालाल चन्द्रशंकर शास्त्री की टीका सहित है।

अंग्रेज़ी अनुवाद—

मि० एफ० एस० ग्राउस ने किया है। इसमें एक-एक शब्द अनुवाद करने की चेष्टा की गई है, मूल नहीं है।

रामचरित की टीकाएँ—

रामचरित पर अनेक टीकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं; फिर भी और प्रकाशित होती जा रही हैं। जिनमें मुख्य प्राचीन ये हैं।

१—ज्ञानी संतसिंह की टीका—मानस भाव प्रकाश ई० स० १८३२ इसकी भाषा का नमूना देखिए—

नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन बारिज नयन।
करों सु मम उर धाम, सदा छीर-सागर-सयन॥

अर्थ—इन्दीवर सम जिनका रुचिर रूप अरु रक्त कमलों सम दृग हैं, अरु खीरनिधि में जिनका सयन है सो मेरे रिदै विषै बसो। तत्त्व यह अपणा विश्राम करके मेरे रिदै को भी पयोनिधिवत उज्ज्वल अरु गम्भीर करो।

२—बैजनाथ जी की कूर्मबंसीटीका—जो नवलकिशोर प्रेस में सन् १८९० में छपी थी।

ध्वज कुलिश अंकुश कंज युत, वन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज गन्द मुकुन्द राम, रामेश नित्य भजामहे॥

अर्थ—जिन पायँन में ध्वजा चिन्ह जाके ध्यान में विजय मिलती है, पुनः कुलिश वज्र चिन्ह है, जाके ध्यान ते कमलपत्रवत भव जल नहीं छुइ जात...

३—शिवलाल पाठक की टीका श्री मन्मानस अभिप्राय दीपक। यह पद्यमय टीका है।

उदाहरण—

धर्म सनेह उभय मतिघेरी। भई गति सांप छछूंदर केरी॥

रामचरितमानस की प्रतियां—

मानस रचना के सौ वर्ष भीतर की अब तक केवल तीन प्रतियां ही मिली हैं। एक रामचरितमानस का बालकाण्ड, जो सं० १६५१ वै० शु० बुधवार को समाप्त हुआ। यह प्रतिलिपि गोस्वामी जी के जीवन-काल की है।

उसके लगभग बीस वर्ष बाद गोस्वामी जी की मृत्यु हुई। यह प्रति अयोध्या के महन्त श्री जनककिशोरी शरण जी के अधिकार में है। इस प्रति के ५ पत्र दूसरी श्रेणी के हैं। मालूम पड़ता है कि बालकाण्ड के उस खण्डित हिस्से को किसी दूसरी हस्तलिपि में लिखा गया है। इसकी समाप्ति पर यह पंक्ति लिखी गई है—'शुभमस्तु सं० १६६१ वै० शुदि ६ छठ बुधे।' पहले पन्ने पर हिन्दी में कुछ लिखा हुआ है जो साफ़ २ नहीं पढ़ा जाता पर उसमें सं० १८८९ कार्तिक कृष्ण रविवार लिखा हुआ है। रामचरित मानस की सम्पूर्ण दूसरी प्रतिलिपि सं० १७०४ के माघ मास में समाप्त हुई है और तीसरी प्रति सं० १७२१ में किसी तिथि को। तुलसीदास की हस्तलिखित प्रतियों के सम्बन्ध में बहुत विवाद है। अभी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि स्वयं उनकी लिखी कोई प्रति है या नहीं। अभी इस सम्बन्ध में विद्वान् गण खोज जांच कर रहे हैं।

अन्य रचनाएं—

'रामलला नहछू' में वर्णित नहछू के विषय से यह प्रगट होता है कि वह राम के विवाह के अवसर का है। यह नहछू अयोध्या में दशरथ के घर हुआ था। यह एक छोटा सा काव्य है जिसमें प्रबन्ध-दोष काफी हैं, और उसमें शृङ्गारपूर्ण वर्णन अधिक है। इससे सन्देह होता है कि कदाचित् वह गोस्वामी जी की रचना नहीं है। 'जानकी मंगल' में सीता के जन्म और कौमार्य का अति संक्षिप्त परिचय देकर स्वयंवर का वर्णन किया गया है। 'रामाज्ञा' की एक प्रति गोस्वामी जी के हाथ की लिखी मिली है। इसमें कथा राजा दशरथ के काल से आरम्भ होती है और इसका मुख्य विषय राम को बनवास जाने की आज्ञा देना है। 'वैराग्य-संदीपिनी' में दोहों के अतिरिक्त सोरठों और चौपाइयों का भी प्रयोग हुआ है। मालूम होता है कि सोरठों और चौपाइयों का प्रयोग इस से पूर्व तुलसीदास ने नहीं किया था। इसमें एक ही विषय के प्रतिपादन की चेष्टा की गई है और इसकी रचना पूर्वोक्त ग्रंथों से श्रेष्ठ है। कुछ विद्वानों का यह कहना है कि इसकी रचना विनयपत्रिका के साथ हुई।

'रामचरितमानस' का रचना-काल निर्विवाद है। सतसई में उसकी रचना का काल सं० १६४२ वै० शु० नवमीं माना गया है। यह सीता के जन्म की तिथि है। 'पार्वतीमंगल' में शिव के विवाह की विस्तृत चर्चा है।

'गीतावली' में काव्य का सुन्दर प्रदर्शन हुआ है। इसमें कुछ ऐसे विषयों को भी जोड़ दिया गया है जो रामचरित मानस में नहीं। गीतावली में लक्ष्मण के चरित्र का मानस की अपेक्षा अधिक विकास हुआ है। एक विशेष बात यह है कि इस गीतावली में चरित्रों की अलौकिकता नहीं है, उसमें वास्तविक

मानवविकास है। 'कृष्ण गीतावली' की रचना भी गीतावली के साथ की गई मालूम होती है । उसकी भाषा और बोली भी गीतावली की अपेक्षा परिमार्जित और प्रौढ़ है। गीतावली की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है वह ब्रजभाषा के शब्दों का भण्डार है, परन्तु 'कृष्ण गीतावली' में यह वस्तु और भी बढ़ी चढ़ी है और विशेष बात यह है कि कृष्ण गीतावली अधिक सफल गीतिकाव्य है। ऐसा मालूम होता है कि सूरदास के सम्मेलन से प्रभावित होकर तुलसी ने यह ग्रन्थ रचा है। 'विनयपत्रिका' में १७६ पद हैं; काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के द्वारा जो विनयपत्रिका संगृहीत हुई है उसमें अन्तिम पद-संख्या २७९ है किन्तु पद १५८ ही हैं। मानस में तुलसी की भक्ति एक सीमा तक ज्ञानाश्रित है। उसमें विनय बहुत कम है। सतसई में भी ऐसा ही है किन्तु 'गीतावली' में विनय की भावना का विकास प्रारंभ हुआ है और 'विनयपत्रिका' में उसका पूरा विस्तार देखा जाता है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि कवि के हृदय में विनय-भावना का सम्यक् उद्रेक होने में 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' के बाद ६-७ वर्ष लगे होंगे क्योंकि सौन्दर्य-माधुर्य-प्रधान भावना से विनय-प्रचुर भावना में परिवर्तित होना यह एक प्रकार से प्रवृत्ति का परिवर्तन है । जहां 'गीतावली' में सौन्दर्य-माधुर्य-प्रधान भावना भरी हुई है वहां 'विनयपत्रिका' में वैसा एक भी पद नहीं है । 'विनय-पत्रिका' में शक्ति, सौन्दर्य और शील इन तीन विभूतियों का प्रकटीकरण किया गया है। यद्यपि इन तीनों ग्रन्थों की शैली, भाषा और भावों के प्रदर्शन एक ही जैसे हैं फिर भी 'विनयपत्रिका' अत्यधिक प्रौढ़ और परिमार्जित है।

इस ग्रन्थ में तुलसीदास के आध्यात्मिक विचार सुरक्षित हैं । इस ग्रन्थ के रचने में कवि ने तल्लीनता और आत्म-विस्मृति का गहन प्रदर्शन किया है। ऐसा मालूम होता है कि जीवन के अन्तिम दिनों में तुलसीदास का हृदय वेदना और निराशा से परिपूर्ण हो गया था। और जहां पहले उन्हें संसार सुन्दर और सुखमय दीख पड़ता था अब उन्हें निस्सार प्रतीत होने लगा था।

नीचे के पद में हम इसका आभास पाते हैं।

मैं तोहि अब जान्यो संसार।
बांधि न सकहिं मोहिं हरि के बल प्रगट कपट आगार॥
देखत ही कमनीय कछु नाहिंन पुनि किए विचार।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुं न निकसत सार॥
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार।
महा मोह मृग जल सरितामहँ बोरयो बार हि बार॥

तुलसीदास की यह अनुभूति कि चित्त को कर्मकीच में लिप्त न करके उसे निर्मल करना चाहिए, नीचे के पद में हम को और भी स्पष्ट मिलेगी।

कबहुँ मन विश्राम न मान्यो ।

निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो ॥
जदपि विषम संग सहे दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो ।
तदपि न तजत मूढ़ ममतावस जानत हूँ नहिं जान्यो ॥
जनम अनेक किए नाना विधि करम कीच चित्त सान्यो ।
होइ न विमल विवेक नीर बिनु वेद पुरान बखान्यो ॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो ।
तुलसिदास कब तृपा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो ॥

इस मनःशुद्धि के लिए भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की आवश्यकता है । परन्तु इनकी प्राप्ति होने पर भी यदि अहंकार न छूटे तो तुलसीदास कहते हैं :—

हे हरि कवन जतन भ्रम भागै ॥

देखत सुनत विचारत यह मन निज सुभाव नहीं त्यागै ॥
भगति ज्ञान वैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई ।

और अन्त में उसका वे एक ही उपाय कल्पित करते हैं और वह है 'हरिकृपा'—

जप तप तीरथ जोग समाधी । कलिमति विकलन कछु निरुपाधी ॥
करत हुँ सुकृत न पाप सिराहीं । रकत बीज जिमि बाढ़त जाहीं ॥
हरनि एक अघ असुर जातिका । तुलसिदास प्रभुकृपा कालिका ॥

इस प्रकार वे अन्य साधनों की अपेक्षा सीधे भक्तिमार्ग पर ही आजाते हैं । वे कहते हैं :—

नाहिन आवत आन भरोसो ।

यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम फल निकरो सो ॥
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो ।
पाए हि पै जानिबो करम फल मरिमरि वेद परो सो ॥
आगम विधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो ।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग वियोग धरो सो ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान विराग हरो सो ।
बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ॥
बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहां तहां झगरो सो ।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो ॥
तुलसी बिनु परतीत प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो ।
राम नाम वोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो ॥

परन्तु तुलसीदास की भक्ति भी बहुत कठिन है । उसमें द्वैत-भावना का सर्वथा त्याग करना पड़ता है । वे कहते हैं—

रघुपति भक्ति करब कठिनाई ।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोई जेहि बनि आई ॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी ॥
सफरी सनमुख जलप्रवाह सुरसरी बहै गजमारी ॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महं बलतें न कोउ बिलगावै ।
अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै ॥
सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी ।
सोई हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी ॥
सोक मोह भय हरष दिवस निसि देस काल तहं नाहीं ।
तुलसिदास यहि दसा होत संसय निर्मूल मनाहीं ॥

आगे चलकर वे भक्ति को प्रीति में बदल देते हैं परन्तु उसमें सेव्य-सेवक-भाव क़ायम रहता है—

जानत प्रीति रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह-सगाई ॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई ।
ऐसे हु पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गुरुआई ॥
तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई ।
रन परयो बंधु बिभीषन ही को सोच हृदय अधिकाई ॥
वर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई ।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई ॥
तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई ।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई ॥

वे सत्संग की भी महिमा का बखान करते हैं और उनका विचार है कि बिना सत्संग के भक्ति नहीं हो सकती 'रघुपति भक्ति सुलभ सुखकारी'... ।

अन्त में वे अपने जीवन के आदेश को इस प्रकार वर्णन करते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौं गो ।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ संतोष सदा काहू सो कछु न चहौंगो ।
परहित निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ॥
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
विगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो ॥
परि हरि देह जनित चिंता दुख सुख समबुद्धि कहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि-भक्ति लहौंगो ॥

तुलसीदास की रचनाओं का समय—

मूल गुसाईंचरित के अनुसार तुलसी ने गीतावली ई० स० १५६६ में कृष्णगीतावली ई० स० १५७२ में रामचरित मानस सन् १५७७ में, विनयपत्रिका

१५८३ में, दोहावली १५८४ में, सतसई १५८६ में और बरवै स० १६१४ में लिखी। इसी के आसपास उन्होंने नहछू, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, बाहुक, वैराग्य संदीपनी और रामाज्ञा लिखीं। कवितावली, छन्दावली, पदावली, कुण्डलिया, छप्पै, कडखा, रोला, झूलना, संकटमोचन, हनुमान चालीसा, रामशलाका और कालि-धर्माधर्म-निरूपण भी इसी काल के लगभग लिखा गया। इस हिसाब से तुलसी-दास का कविता-काल ई० स० १५६० से प्रारम्भ होकर १६१४ में समाप्त होता है, जो कि ५३ या ५४ वर्ष का समय है। उनकी उत्तम रचनाएँ उत्तरकाल में हुईं।

शिवसिंहसरोज में तुलसी के ग्रन्थों की संख्या १८ है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने इन्डियन एण्टीक्वेरी सन् १८९३ के 'नोट्स आन तुलसीदास' में २१ ग्रन्थ गिनाए हैं। मिश्रबन्धु ग्रन्थ-संख्या २४ मानते हैं, परन्तु प्रामाणिक १२ ही ग्रन्थ मानते हैं।

अध्याय तेईसवाँ

तुलसी-काल

(ईस्वी सन् १५७३ से १६२३ तक)

सन् १५७३ से १६२३ तक पचास वर्ष का काल तुलसीकाल है। इस काल में तुलसी से प्रभावित हिन्दी साहित्य भारतीय हिन्दुओं के जीवन में प्रविष्ट हो गया। पीछे हमने सौरकाल के ७० वर्षों की प्रगति का वर्णन किया है। इस काल में वल्लभीय तल्लीनता को लेकर सूरदास और उनके सहयोगी कवियों ने कृष्णभक्ति का वाम विधान प्रचलित किया। इसकाल में दो महान् दैवी घटनाएँ हुईं—एक यह कि मुगलों का महान् सम्राट् अकबर अपने पूर्ववर्ती मुस्लिम सुलतानों की तल्वार-नीति को छोड़कर सहयोग-नीति पर मुग़ल साम्राज्य की स्थापना करने को आगरे में आसीन हुआ। दूसरी यह कि वल्लभाचार्य हिन्दुओं के धर्मक्षेत्र काशी को छोड़कर अपने इष्टदेव कृष्ण की लीलाभूमि व्रज में वैष्णव धर्म का मूल धर्मस्तम्भ स्थापित कर बैठ गये। इन दो ही घटनाओं से मथुरा और आगरे की प्रचलित विभाषा व्रजभाषा के भाग्य खुल गये। वल्लभाचार्य की धर्मनीति और अकबर की राजनीति इन दोनों ने व्रजभाषा में वह प्राण संजीवनी फूंकी कि देखते देखते ही व्रजभाषा राष्ट्रभाषा बन गई और मुग़ल साम्राज्य की छत्रछाया में उसे ऐसा अनुकूल वातावरण मिला कि व्रजभाषा का साहित्य सर्वाङ्गपूर्ण होगया, जिससे

ब्रजभाषा अमर हो गई । अपने ७० वर्ष के सौरकाल में सन् १५०३ से १५७३ तक सूर के प्रभाव से २०० के लगभग सुकवि उत्पन्न हुए जब कि इतने कवि गत ८०० वर्षों के हिन्दी साहित्य के निर्माण के सम्पूर्ण काल में भी नहीं हुए थे। यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि सूर की इस अचिन्त्य और अलौकिक महत्ता पर तत्काल ही कोई दूसरा कवि अपनी महत्ता स्थापित कर सकेगा, परन्तु तुलसी ने वह प्रभाव प्रकट किया कि जिसके कारण सम्पूर्ण हिन्दूजनपद राधाकृष्ण की वाममार्गपूर्ण भक्ति को पीछे ढकेल कर दक्षिण मार्गस्थ तुलसी के सीताराम का भक्त हो गया।

हम पहिले कह चुके हैं कि पुराने काल में हमें केवल चन्दबरदाई ही महाकवि मिलते हैं। परन्तु यह भी सच है कि रासो की पूरी रचना उनकी नहीं है। सम्भवतः वह इसी तुलसीकाल में रची गई है। वह गुप्त नाम अज्ञात महात्मा कौन था, जिसने स्वयं अप्रकट रहकर महाकवि चन्द के ग्रन्थ को इतना महान् स्थान दिया। भीतरी कारण चाहे जो भी हो यह तो हमें कहना ही पड़ेगा कि प्राचीन काल का एकमात्र ग्रन्थ पृथ्वीराजरासो ही है, जो सम्पूर्ण काव्यगुणों से परिपूर्ण है, परन्तु भाषा की प्राचीनता और भक्तिभाव से रहित होने से उसका कुछ भी प्रचार हिन्दूजनपद में नहीं हुआ। इसके बाद जो हमें विद्यापति और कबीर दो महाकवि मिलते हैं उन में विद्यापति प्रान्तीयता से बाहर नहीं आ पाए, क्योंकि उनकी रचना में भी शृङ्गार-काव्य रहा—भक्ति न रही। कबीर की भक्ति बहुत ऊँची और अटपटी होने तथा उसमें सांस्कृतिक अनुबन्ध न होने से उनका पन्थ उच्चवर्ग में सर्वमान्य न हो सका। प्रेम-मार्गी सन्तों का भी यही हाल रहा, और वे भी हिन्दुओं को अपनी ओर खींचने में असमर्थ रहे। सफलता मिली सूर को। परन्तु इस वल्लभीय तल्लीनता में जो वाम-मार्गी शृङ्गार बैठ गया, उसने सूरदास की कृष्णभक्ति को एकान्त भावनायुक्त बना दिया। लोगों में कृष्णभक्ति के प्रति तल्लीनता उत्पन्न हुई, कृष्ण प्रेम भी हुआ, पर वे कृष्ण-तत्त्व को जीवन के साथ ऐकीभूत न कर सके, क्योंकि वहां केवल प्रेम ही प्रेम था, रस ही रस था, कस कुछ न था। तुलसी ने जो शुद्ध दक्षिणमार्गी सीताराम की मूर्ति स्थापित की तो वह हिन्दू जनता के भीतर-बाहर सब ओर उनके जीवन में रम गई। पिता पत्नी, भाई, माता, मित्र, शत्रु, राजनीति, धर्मनीति, श्रद्धा, त्याग, आदर्श, मर्यादा, भाग्य, उद्योग, कर्तव्य और अधिकार न जाने क्या-क्या और कितने मानव-जीवन-तत्त्व मानव जनपद के सन्मुख बिखर गये, जिनकी उन्हें युग २ की भूख थी, और मानव भावमग्न हो कर उन्हें आत्मसात करने लगा।

यह निस्सङ्कोच भाव से कहा जा सकता है, कि तुलसीदास के समान प्रभावशाली उपदेशक शंकराचार्य के बाद भारत में दूसरा कोई नहीं हुआ। मध्य और

पश्चिमी तथा उत्तरी भारत में तुलसी की रामायण का प्रभाव आज सभी हिन्दू ग्रन्थों से बढ़ कर है। तुलसी जैसे बड़े उपदेशक थे वैसे ही महान् कवि भी थे। तुलसी ने हिन्दू-धर्म को जैसा बनाया वह वैसा ही आज भी है। संक्षेप में—हिन्दू धर्म का अन्तिम स्थायी सङ्गठन तुलसीदास ने ही किया है।

तुलसीकाल के ५० वर्षों में २७४ कवियों ने विविध रूप से साहित्य का भण्डार भी भरा और हिन्दू जाति का संगठन भी किया। इस काल में विविध विषयों का इतना विकास हुआ, और भक्ति तथा साहित्य का ऐसा उज्ज्वल रूप प्रकट हुआ, कि उसने भारत के इतिहास की ही धारा को पलट दिया। साहित्य में तुलसी और केशव के सहारे नवीन प्रणालियां स्थापित हुईं। विविध छन्दों के प्रयोग प्रचलित हुए। कथा-काव्य ने मान पाया, अवधी का मान बढ़ा, भजनानन्द शुद्ध सात्विक रूप में प्रकट हुआ। हिन्दू-मुसलमानों में ऐक्य बढ़ा, समाज में सहिष्णुता, मर्यादा, धैर्य, संगठन, शौर्य और आशा का बीज वपन हुआ। तुलसी के राम के प्रभावशाली झण्डे की छाया में आगे चल कर छत्रपति शिवाजी ने दक्षिण में बीजापुर गोलकुण्डा और दिल्ली को विमर्दित करके विशाल महाराष्ट्र राज्य की स्थापना की। इन्हीं के प्रभाव से राठोर महाराज जसवन्तसिंह से शह पाकर शिवाजी ने शाइस्ताखां की दुर्गति कर डाली। और महाराणा राजसिंह ने प्रचण्ड युद्धों में मुग़ल सम्राट् को पददलित किया। तुलसी ही के राम का बल पाकर ३० वर्ष तक राठोरों ने मुग़लों से लोहा लिया और महाराज अजीतसिंह ने तीन २ मुग़ल सम्राटों के भाग्य-निर्णय किए। इन्हीं तुलसी के राम का बल पाकर छत्रसाल ने केवल ५ सवारों और २५ पैदलों की सेना लेकर प्रतापी मुग़लों से लोहा लिया, और विजयों पर विजय प्राप्त करके २ करोड़ वार्षिक आयका विशाल राज्य बुन्देलखंड में स्थापित कर लिया। इसी तुलसी के रामाश्रय होकर दक्षिण में बालाजी विश्वनाथ और बाजीराव पेशवा ने मुग़ल साम्राज्य को ध्वंस कर ५०० वर्षों के खोए हुए हिन्दू साम्राज्य की फिर से स्थापना की। ये तुलसीदास के हिन्दू संगठन के महान् परिणाम थे कि दो ही शताब्दियों के भीतर हिन्दू साम्राज्य भारत में स्थापित हो गया। यह हिन्दुओं का दुर्भाग्य था कि १६वीं शताब्दी में उसकी झोंक सम्हालने वाला कोई प्रतापी संगठन-कर्ता उन्होंने पैदा नहीं किया।

विचारने की बात यह है कि गत ८०० वर्षों के सम्पूर्ण मध्यकाल में, जब से हिन्दी का स्वरूप निर्माण हुआ कुल ७५ कवि हुए, जिनमें गिनने योग्य केवल ४ हैं। परन्तु सौरकाल के ७० वर्षों में ११२ सुकवि तथा तुलसीकाल के ५० वर्षों में १७४ कवि हुए। जिनमें रहीम, रसखान, केशवदास और घासीराम अति उत्कृष्ट कवि हुए। इसकाल में हिन्दी कविता ने कार्ष्ण वैष्णवता को छोड़कर राम के साथ विविध विषयों की प्रणाली पर विचारधाराएं प्रवाहित कीं। सूफ़ी साहित्य की प्रगति

खतम हो गई । निर्गुण-भक्ति-प्रणाली में दादू, सुन्दरदास आदि हुए पर उनका विकास मन्द रहा । साहित्य में आचार्य भाव उत्पन्न हुआ । व्रज और अवधी दोनों भाषाएँ प्रभावशाली समझी जाने लगीं । महाराष्ट्र, युक्तप्रांत, राजपूताना, बुन्देलखण्ड और दिल्ली सुकवियों के मुख्य केन्द्र रहे ।

तुलसीकाल अकबर और जहांगीर के राज्यकाल के साथ चलता है । अकबर ने ई० स० १५५६ से १६०५ तक राज्य किया । तथा जहांगीर ने ई० सन् १६३० तक राज्य किया ।

मिश्रबन्धुओं ने इस तुलसीकाल को दो भागों में विभक्त किया है। १—पूर्व तुलसीकाल; दूसरा उत्तर तुलसीकाल । पूर्व तुलसीकाल का समय १५ वर्ष है। इन १५ वर्षों में ४२ कवियों की गणना है । जिनमें कृष्णमार्गी वैष्णव कवि केवल ८ हैं । इससे प्रकट होता है कि गेय पद रचने की परिपाटी समाप्त हो रही थी । इसकाल में तुलसी के अतिरिक्त श्रेष्ठ कवि अग्रदास, गदाधर, बलभद्र, रहीम और रसखान हैं । यह स्पष्ट है कि तुलसीकाल में सौरकाल से भी अधिक साहित्य उत्पन्न हो रहा था और केवल धार्मिक विषयों को छोड़कर लोग विविध विषयों की रचनाएँ करने लगे थे, जिनमें रहीम सर्वोपरि हैं, जिन्होंने नीति के अनमोल दोहे कहे हैं । रसखान आदर्श वैष्णव कवि हैं । करनेश और होलराय विविध विषयों के कवि हैं । अवधी और व्रजभाषा एक दूसरे से शब्दों और भावों का आदान प्रदान करके अधिक मधुर और सम्पन्न बनने लगी थीं । दोहा चौपाइयों की रचनाओं में अवधी की प्रधानता थी, तथा पदों, छप्पयों, षट्पदों, सवैयों और घनाक्षरी में व्रजभाषा की । दोनों भाषाओं में ऐसा मेल हो गया था कि जहां जैसे शब्द ठीक बैठ जाते थे ले लिये जाते थे । आगरा, दिल्ली, व्रज, गलता, ओड़छा, होलपुर इस काल में साहित्य-क्षेत्र बन गये थे । इसी काल में अन्य ग्रन्थों के सिवा मेवाड़ी कवियों ने छिन्न भिन्न पृथ्वीराज-रासो को वर्तमान रूप दिया ।

इस काल के वैष्णव कवियों में रसिक और गदाधरदास वल्लभसंप्रदाय में, तथा भगवान हित और हित रूपलाल गोस्वामी हित सम्प्रदाय में प्रमुख थे। गौड़ सम्प्रदाय में गदाधर भट्ट, बन्दीजन कवियों में करनेस, और होलराय प्रसिद्ध थे । महाराष्ट्र में इस समय सदानन्द स्वामी और कान्होबा कवि जो संत तुकाराम के छोटे भाई थे काव्य रच रहे थे । महापुरुषों में सम्राट् अकबर, इतिहासकारों में लालचन्द, लालदास, और अनंतदास साधुसाहित्य रच रहे थे ।

उत्तर तुलसीकाल ई० स० १५८८ से १६२३ तक कुल ३५ वर्षों का है । इन ३५ वर्षों में १३२ कवि इस काल में दृष्टिगोचर होते हैं, जो व्रज, सिरोही, आगरा, गाज़ीपुर, जौनपुर, डलमउ, मारवाड़, महाराष्ट्र, ओरछा, वृन्दावन, दौसा

मल्लावां आदि नगरों में फैले हुए हैं। इनम प्रमुख मुसलमान कवि क़ादिर, उसमान, शेख़नबी, मुबारक, नज़ीर, दादू, आदि प्रमुख हैं। सूफ़ी कवियों में उसमान और नबी हैं। अब तक हिन्दी कुल में कुल प्रमुख कविशिरोमणि चार नाम थे। चन्द-बरदायी, कबीरदास, सूरदास और तुलसीदास। इस काल में इस श्रेणी में एक और नाम जुड़ता है, वह है केशवदास। और अब इस काल में पांच हिन्दी के महाकवि हो जाते हैं। केशवदास सब से पृथक् होकर साहित्याचार्य हो जाते हैं। वे हिन्दी को साहित्यिक प्रौढ़ रूप देते हैं। संत कवियों में नाभादास प्रमुख हैं। गद्य की कुछ प्रवृत्ति इस काल में हुई है। गद्य की एक ही पूरी रचना आगरे के नज़ीर ने सन् १६०२ ई० के लगभग 'रानी केतकी की कहानी' खड़ी बोली की हिन्दी में रची थी। सम्भवतः उसी को देखकर सैयद इन्शाअल्ला ने इसी नाम की कहानी पीछे हिन्दवी में लिखी।

इस काल के कथाकार माधव, जिन्होंने १६५३ में 'विनोदसागर' रचा—जिसमें कृष्ण यशगान है, धर्मदास, जिन्होंने १६०४ में महाभारत लिखा और प्राणचन्द, जिन्होंने सन् १६१० में महानाटकभाषा लिखा, जिसमें रामायण की कथा है, प्रसिद्ध हुए।

संग्रहकारों में नागरीदास और प्रवीण हुए जिन्होंने हितहरिवंश, हित ध्रुव, व्यास, कृष्णदास, हितगोपीनाथ, रूपलाल हित, नरवाहन आदि के पदों तथा स्वरचित पदों का भी संग्रह किया। इतिहास-लेखकों में दुरसाचारण (१६०४, प्रतापचोहत्तरी) मंडावर, नाभादास (१६०२ भक्तमाल), वेनीमाधव (१६०१ तुलसीदास चरित्र) और भूपति (१६११ कविता श्री हजूरांरी) हुए।

विशिष्ट पुरुषों में ओरछा नरेश इन्द्रजीतसिंह (ई० स० १५६९) कोटा नरेश मुकुन्दसिंह हाड़ा (१६०४ ई०) आमेर अधिपति मानसिंह (१५३६ ई०) तथा ओरछा नरेश विक्रमाजीतसिंह (१६२४) हुए। इन्द्रजीतसिंह के दर्बार में महाकवि केशवदास रहते थे। इंद्रजीतसिंह स्वयं भी 'धीरज नरिंद' के उपनाम से कविता करते थे। कोटा नरेश जैसे वीर थे वैसे ही कवि भी थे। महाराज मानसिंह मुग़ल साम्राज्य के मुख्य स्तम्भ थे। उन्होंने स्वयं भी सुकवियों द्वारा मानचरित्र लिखवाया था। विक्रमाजीतसिंह ने लघुसतसई और माधवलीला रचीं। आपके दोहे बहुत अच्छे हैं।

श्रेष्ठ कवियों में केशवदास, प्रवीणराय, लालनदास, क़ादिरबख्श, अमरेश, मुबारक, बनारसीदास, उसमान, ताहिर और घासीराम हैं। इन कवियों में से प्रमुख जनों का विवरण यथास्थान अन्यत्र है।

अध्याय चौबीसवाँ

रामधारा के अन्य कवि

सच पूछा जाय तो रामभक्तिधारा में तुलसीदास के बाद कोई ऐसा प्रतिभाशाली कवि नहीं हुआ जिस का प्रभाव तुलसी के समान प्रबल हो। राम-भक्ति पर रचनाएं अवश्य हुईं पर तुलसी साहित्य के सामने डेढ सौ वर्षों तक उन पर रंग नहीं आया। केशवदास निस्संदेह दिग्गज कवि हुए। उन्होंने रामाश्रय तो लिया पर वे रामभक्त कवि न थे। उन्होंने अपने काव्य में भक्ति का आदर्श नहीं रखा। वे आचार्यत्व से सम्बद्ध कवि थे। अपनी रामचन्द्रिका के छब्बीसवें प्रकाश में उन्होंने वशिष्ठ के मुँह से राम-नाम का तत्व अवश्य वर्णन किया है परन्तु वह कवि का सिद्धान्त नहीं है। उनका रामकाव्य वास्तव में साहित्य-शास्त्र का काव्य है। इसी से वह इतना क्लिष्ट हो गया है कि बड़े २ विद्वान् कवि आसानी से उसकी अर्थ-संगति नहीं लगा पाते, इसी से उनके विषय में कवि यह कहने लगे थे कि—कवि कहँ दीन न चहै बिदाई, पूछे केशव की कविताई।

तुलसीदास के बाद रामभक्तिधारा में जो कवि हुए हैं उनका संक्षिप्त परिचय हम यहां देते हैं—

स्वामी अग्रदास, ई० सन् १५७६—

ये कृष्णदास पयहारी के शिष्य और नाभादास जी के गुरु थे। जयपुर के निकट गलता में पयहारी जी के ही पास रहते थे। ये अच्छे कवि थे। इन्होंने ४ पुस्तकें लिखीं। १ हितोपदेश उपखाणाबावनी, २ ध्यानमंजरी, ३ रामध्यान मंजरी, ४ कुण्डलिया। इनकी कविता का ढंग नन्ददास के समान है। एक उदाहरण देखिए—

कुण्डल ललित कपोल जुगल अति परम सुदेसा।
जिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा।
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए।
मुख पंकज के निकट मने अलि छौना आए।

नाभादास ई० स० १६०१—

ये अग्रदास जी के शिष्य थे। और प्रसिद्ध ग्रन्थ भक्तमाल के रचयिता थे। ये तुलसीदास की मृत्यु के बहुत बाद तक जीवित रहे। इनके ग्रन्थ भक्तमाल में २०० भक्तों के चरित्र छप्पयों में लिखे हैं। इन चरित्रों में केवल उनकी भक्ति, महिमा और भक्ति के प्रसाद से उन की अलौकिक शक्तियों और चमत्कारों का वर्णन किया है, जिससे भक्तों के प्रति जनता में श्रद्धाभाव बढ़े। इस प्रकार के भक्तों की करामातों और चमत्कारों को पढ़कर ही सर्वसाधारण आज तक विद्वानों से बढ़कर साधु महात्माओं का सत्कार करते हैं। भले ही वे मूर्ख, व्यसनी और दुराचारी ही क्यों न हों।

नाभाजी का असली नाम नारायणदास था और ये जाति के डोम थे। उनकी भक्तमाल पर प्रियादास ने सन् १७१३ में अच्छी टीका लिखी जिसमें मूल में वर्णित भक्तों का कुछ विस्तृत विवरण दिया है। यहां हम भक्तमाल से तुलसीदास सम्बन्धी छप्पय उद्धृत करते हैं—

त्रेता काव्य निबन्ध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्म हत्यादि परायन।
अब भक्तन सुख दैन बहुरि लीला बिस्तारी।
राम चरन रस मत्त रहत अहनिसि ब्रत धारी।
संसार अपार के पार को, सुगम रूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीकि तुलसी भयो।

इन्होंने रामचरित सम्बन्धी कुछ पद भी रचे हैं। दो अष्टयाम भी लिखे हैं। एक व्रजभाषा गद्य में, और दूसरा रामचरित की शैली पर दोहे चौपाइयों में। दोनों के उदाहरण देखिए—

१—"तब श्री महाराज कुमार प्रथम श्री वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिरि अपर वृद्ध समाज तिन को प्रनाम करत भए। फिरि श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भए।"

२—अवधपुरी की शोभा जैसी। कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी।
रचित कोट कलधौत सुहावन। विविध रंग मति अति मन भावन।
चहुं दिसि विपिन प्रमोद अनूपा। चतुर बीस जोजन रस रूपा।
सुदिसि नगर सरजू सरि पावनि। मनि मय तीरथ परम सुहावनि।
विकसे जलज भृंग रस भूले। गुंजत जल समूह दोउ कूले।
परिखा प्रति चहुंदिसि लसति, कंचन कोट प्रकास।
विविध भांति नग जगमगत, प्रति गोपुर पुरवास।

प्राणचन्द चौहान, ई० स० १६११—

इन्होंने संवाद-पद्धति पर एक रामायण महानाटक रचा है। ये जहांगीर के राज्यकाल में थे। इनकी रचना का ढंग यह है—

कातिक मास पच्छ उजियारा। तीरथ पुण्य सोम कर वारा।
तादिन कथा कीन्ह अनुमाना। शाह सलेम दिल्लीपति थाना।
संवत सोरह सैं सत साठा। पुण्य प्रगास पाय भय नाठा।
जो सारद माता करु दाया। बरनौं आदि पुरुष की माया।

हृदयराम, ई० स० १६२४—

इन्होंने एक भाषा हनुमन्नाटक लिखा है जो संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर है। इसकी भाषा परिमार्जित है। कवित्त और सवैयों में अच्छे सम्वाद

हैं। तुलसीदास ने सभी प्रचलित काव्य-पद्धतियों पर रामचरित गान किया है। केवल रूपक या नाटक के ढंग पर कोई रचना नहीं लिखी। परन्तु उनकी ख्याति और राम-भक्ति उनके जीवनकाल में ही इतनी फैल गई थी कि देश में रामभक्ति की तरंगें उठने लगीं। और तभी हृदयराम ने यह नाटक लिखा। इसकी भाषा देखिए—

सातों सिन्धु सातों लोक सातों रिषि हैं ससोक,
सातों रवि थोरे थोरे देखे न डरात में।
सातों दीप सातों ईति काँप्योई करत और,
सातों मत्त रातदिन प्रान हैं न गात में।
सातों चिरजीव बरराइ उठे बार बार,
सातों सुर हाय हाय होत दिन रात में।
सात हूँ पताल काल सबद कराल राम,
भेद सात ताल चाल परी सात सात में।

हनुमान की भक्ति भी रामभक्ति का ही एक अंग रही। तुलसीदास ने हनुमान बाहुक लिखा था। ई० सन् १६४० में रायमल्ल पाण्डे ने हनुमानचरित्र लिखा।

बलदास, ई० स० १६३१—इन्होंने ब्रह्म-सृष्टि-ज्ञान तथा योग-साधन वर्णन पर 'चित्राबोधन' ग्रन्थ लिखा।

लालदास, ई० स० १६४४—बरेली निवासी थे। इन्होंने अवध-विलास लिखा।

बालभक्त, ई० स० १७०४—इन्होंने 'नेह-प्रकाश' और 'दयाल-मंजरी' दो ग्रन्थ लिखे।

रामप्रियाशरण, ई० स० १७१४—ये जनकपुर के महन्त थे। इन्होंने 'सीतायण' लिखा।

जानकी रसिक शरण, ई० स० १७१४—इन्होंने 'अवधी-सागर' की रचना की। ये अयोध्या के निवासी थे। इसमें रामसीता का अष्टयाम वर्णन किया है। उसमें रास, नृत्य, विहार, कृष्ण-पद्धति पर वर्णित है।

प्रियादास, ई० स० १७१३—इन्होंने नाभादास के भक्तमाल पर महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है।

कलानिधि, ई० स० १७१३—ये बूंदी के राव बुद्धसिंह के आश्रित थे। इन्होंने ६ ग्रन्थ लिखे। १—शृङ्गाररसमाधुरी २—बाल्मीकि-रामायण के बालकाण्ड, युद्धकाण्ड, और उत्तरकाण्ड का पद्यानुवाद। ३—वृत्तचन्द्रिका (छन्द-शास्त्र) ४—रामायण सचूर्निका ५—नखशाई, ६—समस्यापूर्ति।

महाराज विश्वनाथ, ई० स० १७९०—ये रीवाँ के महाराज थ। अनेक कवियों के आश्रयदाता थे। प्रसिद्ध कवि महाराज रघुराजसिंह इन्हीं के पुत्र थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे। कुछ संत साहित्य से सम्बन्धित हैं, कुछ राम साहित्य से। रीवां में कबीरपंथियों की एक गद्दी है। कबीर के शिष्य धर्मदास ने स्वयं रीवां में आकर यह गद्दी स्थापित की थी। इसलिये रीवां में परम्परा से कबीर मत के प्रति मान रहा है। महाराज विश्वनाथसिंह पर भी उसका प्रभाव था : पर वे थे रामभक्त। यहां तक कि उन्होंने जो कबीरबीजक पर एक टीका लिखी है वह उन्होंने साकार राम पर घटाई है। इनकी ३२ रचनाएँ हैं जिनमें से कुछ विवरण यह है :—

संतकाव्य—शब्द, ककहरा, चौरासी रमैनी, बसन्त चौंतीसी और आदि मंगल।

रामकाव्य—आनन्द-रघुनन्दन-नाटक, संगीत-रघुनंदन, आनन्द-रामायण, रामचन्द्र की सवारी, गीता रघुनन्दन, रामायण आदि। ये बड़े भारी कवि, विद्याव्यसनी, और प्रेमी रसिक थे। इनके आनन्द-रघुनन्दन नाटक में एक विशेषता यह भी है कि उसमें पात्रों के सांकेतिक नाम दिए हैं। जैसे रामचन्द्र=हितकारी लक्ष्मण=डीलधराधर, रावण=दिक्शिरा आदि। इसमें राम-जन्मोत्सव से राम राज्य तक की कथा है। यहां हम उसकी भाषा-पद्धति का थोड़ा उदाहरण देते हैं—

त्रेतामल्ल। भुजभूषण देखो तो हितकारी के मण्डलाकार चांप
तें चारों ओर कैसे सर कढ़ै हैं जैसे चरखी तें
अनल के फुहारे सन्मुख धाइ धाइ सेना कैसी नास
होत जाइ हैं जैसे बाड़व वन्हि में बारिधि वारि।

भुजभूषण। त्रेतामल्ल, देखो देखो अस्त्र छोड़ि स्वामी बड़ो कौतुक
कियो ये निश्चर परस्पर पेखि आपुसि ही में लरिमरि गये।

(जय जय करके सब हितकारी की पूजा करते हैं)

सुगल—महाराज अपूर्व यह अस्त्र कौन है।
हितकारी—यह गन्धर्वास्त्र मौंको ही चलावै को आवे है।

(दिक्शिरा सेना समेत आता है)

रोला छन्द

महामोद की उमँग अंग भारिहुँ समाति नहिं।
उछलि-उछलि अकास पिले पादप पहार गहि।
जनु तकि प्रभु मुख चन्द वीर रस वारिधि भाए।
सहित सैन दिगसीस बेल थल बोरन धाये।

(राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, नया गुटका हिस्सा २)

प्रेमसखी, ई० सन् १७३५—ये सखी सम्प्रदाय में थे। इन्होंने ३ ग्रन्थ लिखे—प्रथम में जानकी-राम का नखशिख है और दूसरे तीसरे में क्रीड़ा, फाग आदि पर बरवै और कवित्त आदि हैं।

कुशलमिश्र ई० सन् १७७०—ये सारस्वत वैष्णव थे। इन्होंने गंगानाटक लिखा है। यह पद्य ग्रन्थ है, इसमें गंगा के साथ रामचर्चा भी है।

रामचरणदास ई० सन् १७८०—ये अयोध्या के महन्त थे। इनके ५ ग्रन्थ मिलते हैं। १. दृष्टान्त बोधिका, २. कवित्तावली रामायण, ३. पदावली ४. रामचरित और ५. रस मालिका। इनकी रचना अच्छी है।

मधुसूदनदास, ई० सन् १७८३—इन्होंने रामचरित मानस के आधार पर 'रामाश्वमेध लिखा है। भाषा शुद्ध और परिमार्जित है।

कृपानिवास ई० सन १७८७—इन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे हैं—भावनापच्चीसी, समय प्रबन्ध, माधुरी प्रकाश, जानकी सहस्रनाम, लगनपच्चीसी आदि।

गंगाप्रसाद उदैनिया ई० सन् १७८८—इन्होंने समथर के राजा विष्णुदास के आग्रह पर 'राम आग्रह' ग्रन्थ लिखा है।

सर्वसुखशरण, ई० सन् १८०१—इन्होंने दो ग्रन्थ लिखे १–बारहमासा, २–तत्त्व बोध।

इनके सिवा भगवानदास खत्री (ई० स० १७११) महारामायण। गंगाराम (ई० स० १७११) शब्द ब्रह्म। रामगोपाल (ई० स० १७११) अष्टयाम। परमेश्वरीदास (ई० स० १७१४) कवितावली। पहलवानदास (ई० स० १७१४) मसलेनामा। गणेशदास (ई० स० १७१४) श्लोकार्थ प्रकाश। रामसहायदास (ई० स० १७१४) रामसतसई। ललकदास (ई० स० १७२४) सत्योपाख्यान। रामगुलाम द्विवेदी (ई० स० १७२४) प्रबन्ध रामायण। जानकीचरण (ई० स० १७३१) प्रेमप्रधान, सियारामरसमंजरी। शिवानन्द (ई० स० १७३२) श्रीरामध्यान मंजरी। दुर्गेश (ई० स० १७४२) द्वैताद्वैतवाद। जीवाराम (ई० स० १७८७) पदावली, अष्टयाम। बनादास (ई० स० १८३४) ३२ ग्रन्थ लिखे जिन में अभी तक ये प्राप्त हुए हैं—अर्जपत्रिका, आत्मबोध, उभयप्रबोध, रामायण, खण्डन-खड्ग, समस्यावली, नामनिरूपण, ब्रह्मायण ज्ञानमुक्तावली, ब्रह्मायण तत्त्व-निरूपण, ब्रह्मायणद्वार, ब्रह्मायण पराभक्ति, परत्तु, ब्रह्मायण परमात्मबोध, ब्रह्मायण विज्ञान छतीसा, ब्रह्मायणशालि सुषुप्ति यात्रामुक्तावली, रामछटा, विवेक मुक्तावली सारशब्दावली, हनुमत् विजय। मोहन (ई० स० १८४२) चित्रकूट माहात्म्य। रसहरि (ई० स० १८४२) ४ ग्रंथ लिखे—दूरादूरार्थ दोहावली, जमक-दमक

मुग़ल सम्राट्–जिन्होंने हिन्दी को सम्मानित किया



अकबर



जहांगीर



शाहजहां



औरंगज़ेब



बहादुरशाह 'ज़फ़र'

दोहावली, रामरहस्य पूर्वार्ध, रामरहस्य उत्तरार्ध। रामनाथ (ई० स० १८४४) ३ ग्रन्थ लिखे—रस भूषण, महाभारत गाथा, जानकी पचीसी। जनक लाड़लीशरण (ई० स० १८४४) टीका नेह प्रकाश। जनक किशोरीशरण (ई० स० १८४४) ३ ग्रन्थ लिखे—अष्टयाम, सीताराम सिद्धान्त मुक्तावली, सीताराम सिद्धान्त अनन्य-तरंगिणी। गंगाप्रसाद दास (ई० स० १८५१) विनयपत्रिका पर टीका लिखी। हरबख्शसिंह (ई० स० १८५१) रामायण शतक, रामरत्नावली। लक्ष्मण (ई० स० १८५१) रामरत्नावली। रघुवर शरण (ई० स० १८५१) ३ ग्रंथ लिखे रामनन्त्र रहस्य, जानकी जी को मंगलाचरण, बना। गिरिधरदास (१७३४) में हुए। इनमें रामसहाय दास, रामगुलाम द्विवेदी, बनादास, रत्नहरि, हरबख्श सिंह, और गिरिधरदास प्रमुख हैं। ये गिरिधरदास भारतेन्दु के पिता थे। इनका रचना विवरण अन्यत्र है। बाबा रामचरनदास, रघुनाथदास और रीवां के महाराज रघुनाथसिंह ने भी अच्छी रचनाएं कीं।

१९ वीं शताब्दी के अन्त में रामभक्ति का एक और समुदाय स्थापित हुआ जिसमें शृङ्गारी अश्लील रचनाएं हुईं, जिनकी चर्चा हम तत्कालीन साहित्य के विवेचन में करेंगे।

अध्याय पच्चीसवाँ

मुग़ल-दर्बार और हिन्दी

ई० सन् ७१२ में बगदाद के खलीफ़ा की आज्ञा से अरब सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने ब्राह्मण राजा दाहर से सिन्ध छीन कर अधिकृत किया। इस अरब विजेता ने धर्म-द्वेष नहीं किया। उसने भारतीय विद्वानों, वैद्यों, ज्योतिषियों और शिल्पियों को बगदाद भेजा जहां खलीफ़ा ने उनका समादर किया। उन दिनों तक भी अफ़ग़ानिस्तान भारत का ही अङ्ग था, और काबुल में एक बौद्ध राजा राज्य कर रहा था। बाद में वहां ब्राह्मण राज्य स्थापित हुआ जिसे ध्वस्त करके पश्चिमी प्रान्तों के मुसलमानों ने अधिकृत किया। सिन्ध में अरबों ने हिन्दुओं के पूरे सहयोग से शासन किया।

सन् १००१ से १०२४ तक ग़ज़नी के महमूद ने भारत पर १२ आक्रमण किये। उसके इन आक्रमणों का अभिप्राय भारत की राजसत्ता लेने का नहीं था। उसके आक्रमण मन्दिरों को लूटने के अभिप्राय से किये गये थे। क्योंकि वह

जान गया था कि भारत के मन्दिरों में अटूट सम्पदा इकट्ठी हो गई है। अपनी इस लूटने की लिप्सा को उसने धर्म-युद्ध का रूप दिया, और अपने को बुतशिकन प्रख्यात किया। उसने अपने बर्बर धर्मान्ध सैनिकों द्वारा पञ्जाब, गुजरात, कन्नौज और बुन्देलखण्ड को जीतकर सोमनाथ के विख्यात मन्दिर को लूटा। ई० स० ११७५ तक इस ग़ज़नी वंश का पश्चिमी पञ्जाब में अधिकार रहा। विचारने योग्य बात यह है कि जिस समय महमूद केवल १४००० योद्धाओं को लेकर उत्तर भारत की दुर्दशा कर रहा था उसी समय ठेठ दक्षिण का चोल राजा ६ लाख सेना का अधिपति था, परन्तु उसने महमूद की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा, वह बर्मा और बंगाल को जीतने ही में लगा रहा। पंजाब के ब्राह्मण राजा की मध्य-भारत; बुन्देल-खण्ड, कन्नौज, अजमेर, दिल्ली और ग्वालियर के राजाओं ने सहायता की थी पर उसका फल अनुकूल न हुआ। महमूद का यह आक्रमण भारत को एक विज्ञप्तिमात्र थी। महमूद से पराजित होना उतना निन्द्य नहीं था जितना उसके निर्बल और पराजित उत्तराधिकारियों से राज्य न फेर लेना। सिकन्दर ने भी पंजाब को आक्रान्त किया था, पर उस समय भारत ६ ही साल में स्वतन्त्र हो गया था। यह चाणक्य और चन्द्रगुप्त जैसे महापुरुषों का चमत्कार था। ११७५ में शहाबुद्दीन गौरी ने पंजाब जय किया और ११६१ ईस्वी में पृथ्वीराज को बन्दी किया। ९३ में काशी, ६४ में ग्वालियर ६७ में पालों और गुजरात को और ६६ में सेनों को जीता। इस प्रकार हम देखते हैं कि सिकन्दर, महमूद और शहाबुद्दीन इन तीन आक्रान्ताओं से भारत ने लोहा लिया, जिस कारण उसकी शक्ति क्षीण होती गई। सन् १२०३ में बुंदेलखण्ड भी पराजित हुआ और सन् १२०६ में शहाबुद्दीन मारा गया। इसके बाद गुलाम वंश भारत का शासक हुआ। इस वंश में कुतुबुद्दीन अलतमश, और बल्बन मुख्य थे। गुलाम बादशाहों के काल में भारत पर मोंगोलों ने आक्रमण किए, जिनमें चंगेज़खां हलाकू का आक्रमण अत्यन्त भयानक था। इनके बाद सन् १२६४ से १३१४ तक खिलजी वंश का अधिकार रहा। इनमें अलाउद्दीन मुख्य था। इसने सन् १३०३ में चित्तौर, १३०४ में रणथम्भौर, तथा महाराष्ट्र का देवगिरि का यादव-साम्राज्य ध्वंस किया। उसने अपना राज्य बढ़ाया और हिन्दुओं पर कड़ाई की। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद सन् १३१४ में अकबर के राज्यारोहण तक मुस्लिम राज्य शक्तियां डांवाडोल और निर्बल रहीं। इस निर्बलता से लाभ उठाकर विजय नगर, वहमनी राज्य, जौनपुर, मालवा, गुजरात, दक्षिण, बङ्गाल आदि देशों में स्वतन्त्र राज्य कायम हो गए। काश्मीर सन् १२२५ में स्वतन्त्र हुआ।

ई० स० १३९८ में तैमूर के धावे ने दिल्ली के मुसलमान शासकों का रहासहा बल नष्ट कर दिया। और सन् १४१४ तक भारत में एक प्रकार की अरा-

जकता ही रही। सैयदों ने सन् १४४० तक दिल्ली के आसपास राज्य किया। यही हाल लोदियों का रहा। हां बहलोल ने सन् १४७३ में जौनपुर जीत कर दिल्ली में मिलाया। अन्त में सन् १५२६ में बाबर ने चित्तौर के बली राजा सांगा को हराया, तथा बंगाल और बिहार जीत कर मुग़ल साम्राज्य का सूत्रपात किया। उसका शेरशाह सूर से संघर्ष हुआ। वह और उसका पुत्र हुमायूँ कभी जीतते और कभी हारते रहे। अन्त में सन् १५५५ में हुमायूँ मुग़लराज्य स्थापन में सफल हुआ। इस प्रकार ई० सन् ७१२ से सन् १५५५ तक कुल ८४३ वर्ष का दीर्घ-काल संघर्षों, विचित्र परिवर्तनों तथा कठिनाइयों का काल रहा।

अब इस काल की भीतरी सामाजिक दशा पर भी एक विहंगम दृष्टि डालनी चाहिए। मुसलमानों के इस देश में आने के बाद देश भर में जो राज-नीतिक और सामाजिक अस्थिरता उत्पन्न हुई, वह बड़ी ही कष्टकर थी। केवल देश का शासन ही उनके हाथ में नहीं चला गया था—अपितु सामाजिक संस्थाओं, धार्मिक क्रियाओं, आर्थिक व्यवहारों तथा कला, व्यापार, स्थपत्य, विज्ञान और अन्यान्य राष्ट्रीय जीवन सम्बन्धी बातों में भी बहुत भारी परिवर्तन हो गया। हिन्दुओं की सैनिक वृत्ति नष्ट करदी गई। क्योंकि उन्हें सेना में कोई स्थान नहीं दिया गया। अरबी और फ़ारसी की शिक्षा प्रचलित कर दी गई। अब ब्राह्मण थोड़ी सी संस्कृत केवल धार्मिक अनुष्ठानों के लिये पढ़ते थे। यद्यपि सारे भारत पर मुसलमानों का अधिकार नहीं हुआ था, पर सारा देश मुसलमानों के शासन से प्रभावित अवश्य हो गया था। सम्पूर्ण देश में केवल उड़ीसा का प्रान्त ही अकबर के काल तक मुस्लिम प्रभाव से बच रहा था। मुस्लिम राज्य में हिन्दू नागरिकता के अधिकार से वंचित हो गए और उन्हें सामूहिक रूप से एक अर्धदास के रूप में रहना पड़ा। इस कारण उनके हृदय से आत्म-सम्मान के भाव जाते रहे। राज-स्थान में हिन्दुओं का राज्य अवश्य था परन्तु वे सब भी पूर्ण स्वेच्छाचारी थे और उनकी राज्यपद्धति सावंतशाही थी, वहां केवल गर्वीले राजपूत ही अधिकार-सम्पन्न थे, शेष सम्पूर्ण प्रजा उनके अनुग्रह पर निर्भर थी।

मुसलमानों के भारत में आने के प्रथम सारे देश में एक ही सभ्यता और संस्कृति थी। हिन्दू, बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव भिन्न-भिन्न मतों के होते हुए भी उनका सांस्कृतिक जीवन एक था। सब की एक भाषा, एक चलन और एक समाज था। सिद्धान्त की दृष्टि से हिन्दू और मुसलमानों के धर्म में कोई अन्तर न था। पर व्यवहार उनका हिन्दुओं से एक दम विपरीत था। सबसे ख़राब बात यह थी कि वे केवल भारत की राजसत्ता को लेकर ही संतुष्ट नहीं हुए। अरब के मुसलमानों ने तो ऐसा किया, पर पश्चिम प्रदेश के तुर्कों और पठानों ने हिन्दुओं की धर्मभावना और सामाजिक जीवन पर बलात् अपना प्रभाव डालना चाहा, जिससे भारी संघर्ष

हुआ। और उसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों से सब प्रकार का असहयोग हिन्दुओं का एक धार्मिक रूप धारण कर गया।

परन्तु इस संघर्ष में एक अत्यन्त आश्चर्य की बात यह थी, कि जिस मुस्लिम शक्ति ने इतनी सरलता से हिन्दुओं की राजशक्ति को धूल में मिला दिया, जिसके छूते ही हिन्दू राज्य बिखरते चले गये, उसका सारा बल समाज को दबाने में इतने दिन लगा रह कर भी अन्त में विफल हुआ। अल्बत्त बौद्धों का उन्होंने भारत से सर्वथा मूलोच्छेद कर दिया। एक समय जिनकी संस्कृति की धर्मपताका नील महानद से ब्रह्मपुत्र तक फहरा चुकी थी, इस्लाम ने उन्हें उनकी जन्मभूमि से एकबारगी ही बाहर निकाल दिया।

नालंद और विक्रमशिला के विश्वविश्रुत विद्यापीठ भूमिसात कर दिये गये। बौद्ध मठों और बिहारों को या तो ढहा दिया गया या उन पर मस्जिदें बना दी गई। पूर्वी भारत में इतने मुण्डित सिर काटे गये कि मुसलमानों को बौद्धधर्म का मर्म समझाने वाला एक भी व्यक्ति ढूंढे न मिला। जो मरने से बच गए वे तिब्बत, भोट और चीन की ओर भाग गये। कुछ नेपाल और उसके पड़ौसी देशों में बिखर गए।

ब्राह्मणों के हाथ से राजनीति, शिक्षा और न्याय शासन आदि छिन चुके थे। पर देश की धार्मिक व्यवस्था उनके ही हाथों में रही। गर्वीले राजपूत जिनके बड़े बूढ़े केसरिया बाना पहिन जूझ मरे थे और माता तथा दादियां जौहर की आग में भस्म होकर छार होगई थीं अपनी टूटी हुई तल्वार फैंक हल जोतने लगे—बहुत से समुद्र पार चले गए।

यद्यपि बौद्धों की नैतिकता का प्रथम ही पतन हो चुका था और हिन्दू निष्ठा में बहुत अन्तर आगया था, यहां तक कि धर्म में भी वाम-मार्ग और तन्त्र के प्रवेश के कारण, जो बौद्धों और द्रविड़ों की संस्कृति के प्रभाव से बहुत अंश में इस काल में प्रचलित हो गया था, कुत्सा का समावेश हो चला था। परन्तु यह आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक अर्धदासता जो मुस्लिम बलात्कार के कारण हिन्दू जनता में उत्पन्न हुई, उसने उनका बहुत कुछ नैतिक पतन कर दिया। विजय और अधिकार में प्रमत्त मुसलमानों के विलासी और व्यसनी जीवन का भी उनपर प्रभाव पड़ा। इसी से उस काल के नगर सदाचार-हीन स्त्री-पुरुषों से परिपूर्ण होगए। अकेले विजयनगर राज्य में १२ हजार फनाम वेश्याओं पर टेक्स लगाकर वसूल होता था और उससे पुलिस का खर्च चलता था। निकोली कौन्टी ने लिखा है कि—विजयनगर में बहुविवाह की कोई रोक नहीं है, वहां के निवासी जितनी स्त्रियों को चाहते हैं विवाह कर लेते हैं। और उस पुरुष के मरजाने पर

उन सब को सती होना पड़ता है। वही लेखक लिखता है, कि वहां का राजा भारत के सब राजाओं से शक्तिमान् है। उसके अन्तःपुर में १२ हजार स्त्रियां हैं। जिन में ४००० जहां राजा जाता है उसके साथ पैदल जाती हैं। पाकशाला का प्रबन्ध भी इन्हीं के जिम्मे है। ४ हजार स्त्रियां घोड़े पर सवार हो उत्तम पोशाक में, और शेष पालकियों में जाती हैं। इन में २।३ हजार ऐसी स्त्रियां हैं जो इस शर्त के साथ व्याही गई हैं कि वे राजा के मरने पर उसके साथ सती हो जावेंगी। जो कि उनके लिये सब से भारी प्रतिष्ठा का कारण समझा जाता है।

इसी हिन्दू राजा की भांति मुसलमान सुलतानों ने भी हरम में स्त्रियों की भीड़ भरी। बहमनी सुलतान फिरोज़शाह के हरम में ८०० स्त्रियां प्रतिदिन आती थीं, उसने अस्थायी विवाह-पद्धति पर एक निश्चित समय तक के लिये सैकड़ों स्त्रियों से विवाह किया। हिन्दू और मुसलमान छोटे सरदार और सावन्त भी इन बड़े बड़ों की तरह करते थे। मालाबार में खुल्लमखुल्ला बहुविवाह प्रचलित था। राजपूत अल्बत्त स्त्रियों की एक प्रकार से प्रतिष्ठा करते थे पर बहुविवाह वहां भी था।

इतना होने पर भी हिन्दू स्त्रियां परदा नहीं करती थीं। विजयनगर की स्त्रियां कुश्ती लड़तीं, ज्योतिष का धन्धा करतीं, चुङ्गी की वसूली करतीं तथा आय-व्यय का लेखा-जोखा रखती थीं। पर मुस्लिम राज्यकाल में स्त्रियों का यह सामाजिक और बौद्धिक विकास खो गया, और वे परदे में रहने को, सती होने को तथा जौहर करने को विवश हुईं। इन मुस्लिम शासकों ने भारतीय भाषाओं और भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि को रोक दिया था और अरबी-फ़ारसी की शिक्षा को उत्तेजन दिया था। हम इस काल में मुसलमान विद्वानों में अमीर खुसरो को छोड़ कर एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं पाते जिसके दिल में हिन्दुओं की पुस्तकों और साहित्य के प्रति आदर के भाव हों। महमूद गज़नवी के साथ आने वाले विद्वान् अलबरूनी ने अवश्य हिन्दू धर्म और धर्मशास्त्रों का मनन किया परन्तु उनसे सहानुभूति वह भी नहीं रखता, वह उनकी आलोचना मात्र ही करता है। इस प्रकार मुस्लिम शासकों की उपेक्षा-भावना होने पर भी हिन्दू निष्क्रिय नहीं रहे। इस काल में भास्कराचार्य के ज्योतिष ग्रन्थ, टीका और नियामक ग्रन्थों के अतिरिक्त और कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं हुई। नाटक-साहित्य तो बिल्कुल ही लुप्त रहा। १३वीं और १५वीं शताब्दी के बीच में मिथिला न्याय और स्मृति का केन्द्र रहा। रघुनन्दन ने १३वीं शताब्दी में बंगाल में नियमों में सुधार किए। १४वीं शताब्दी ही में कर्नाटक संस्कृत का प्रधान केन्द्र था। व्याकरण, अलंकार, छन्द आदि विषयों पर इस काल में रचनाएं हुई। सायण ने १४वीं शताब्दी में अपना प्रसिद्ध वेदभाष्य

लिखा। माधवाचार्य ने केवल वेदान्त पर ही ३७ ग्रन्थ लिखे। निम्बार्क ने अपना प्रख्यात ग्रन्थ 'वेदान्त पारिजात-सौरभ' भी इसी काल में लिखा। इसी काल में चन्द बरदाई का पृथ्वीराजरासो प्रगट हुआ। जगनिक ने आल्हा, शारंगधर ने हमीररासो और हमीर काव्य १४वीं शताब्दी में रचे। नामदेव, रामानन्द, कबीर और नानक ने १५वीं शताब्दी में प्रेम की धारा बहानी प्रारम्भ की। दक्षिण में तामिल, तेलगु और कनाड़ी भाषा का साहित्य समुन्नत हुआ। विजय-नगर के राजाओं ने तेलगु को आश्रय दिया। इनमें कई राज्य-प्रसिद्ध साहित्य-सेवी हुए। बंगाल में कृत्तिवास मालाधर ने महाभारत, भागवत और रामायण का अनुवाद किया। पदावलियां इसी समय लिखी गईं, जिनमें चण्डीदास और विद्यापति ने कमाल प्रदर्शन किया। विविध ललित कलाओं का भी अभ्यास जारी ही रहा। फ़ारस के संसर्ग से भारतीय संगीत और चित्रकला में अथ च स्थपत्य में नवीन प्राणप्रतिष्ठा हुई। खुसरो ने सितार का आविष्कार किया। दिल्ली की कुतुबमीनार, माण्डू का विजय-स्तम्भ तथा जहाज महल, गुलबर्गा के प्रासाद, आबू के जैन मन्दिर तथा बंगाल की राजधानी गौड़ की इमारतें, जिनके खण्डहर आज २० मील तक फैले हुए हैं इसी काल की स्थपत्य-कला के साक्षी हैं।

इस प्रकार हिन्दू मुस्लिम संघर्ष का यह दीर्घकाल बीत गया। ये दोनों जातियां एक देश में रह कर तथा सब प्रकार के स्वार्थों में सम्मिलित रह कर भी परस्पर सहयोग न कर सकीं। इस लम्बे काल में हम केवल सूर वंश को हिन्दुओं से सहयोग करते पाते हैं। उसने समाज का यह युद्ध समाप्त कर दिया। हिन्दुओं को राज्य में ऊंचे पद दिये। और सेनाओं में हिन्दू शक्ति प्रविष्ट हुई और व्यवस्था का राज्य कायम हुआ। यह मुस्लिम संसर्ग के इतिहास में सब से पहली घटना थी कि हम एक हिन्दू सरदार हेमू को सूर वंश के लिये प्राणपण से मुग़ल शक्ति का सामना करते देखते हैं। इसके बाद सम्राट् अकबर के सहयोग में तो हम सम्पूर्ण हिन्दू राष्ट्र को उत्साह के साथ उसके साम्राज्य के निर्माण करने में अपना लोहू और पसीना बहाते देखते हैं। वीर हिन्दू राजपूत एक के बाद एक देश विजय करके उसके चरणों में रखते जाते हैं, और कवीश्वर उसकी गुण गरिमा और प्रताप की तारीफ़ करते अघाते नहीं। हिन्दू मुत्सद्दी, मुन्शी, पण्डित, साधु, सन्त, महात्मा, सभी कोई इस बड़े सम्राट् के दर्बार की शोभा बढ़ाते हैं। हिन्दू राजा और हिन्दू सरदार केवल इस महापुरुष के दर्बारी राज-सेवक ही नहीं बनते, सम्बन्धी और धर्मशिष्य भी बनकर गर्व अनुभव करते हैं। और यह हिन्दू मुस्लिम जीवन का एक नवीन ही स्वरूप था जिसकी किसी ने कल्पना नहीं की थी।

मुग़ल साम्राज्य की स्थापना—

यह अपने युग की असाधारण घटनाओं में से एक है। केवल राजनीतिक दृष्टिकोण से ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से भी हम इस घटना को उतना ही महत्व देते हैं।

भारत में मुग़ल साम्राज्य की स्थापना का अर्थ भारत की हिन्दू जातियों का मुसलमानों से पराजित होना नहीं कहा जा सकता। यह काम तो पठानों और उनके पूर्वापरवर्ती आक्रान्ताओं और सुलतानों ही के राज्यकाल में हो गया था। मुग़ल साम्राज्य हिन्दू जनसाधारण के सामने आतंक, पराजय और क्रान्ति नहीं लाया। व्यवस्था, पद्धति और संस्कृति लाया।

तत्कालीन दशा—

जब सम्राट् अकबर फतहपुर सीकरी का शिलान्यास कर रहा था, उस समय भी भारत उस समय से पूर्व के उत्पीड़नों और अनिश्चित दशाओं में से गुज़रता हुआ भी तत्कालीन सब यूरोपियन देशों से अधिक आबाद था। किन्हीं किन्हीं प्रान्तों की आबादी तो आज के भारत से भी अधिक थी। निस्संदेह तब कलकत्ता, बम्बई और कराची के चमत्कारी महानगर नहीं थे, परन्तु आगरा, कन्नौज, विजयनगर, गोलकुण्डा, बीजापुर, मुलतान, लाहौर, दिल्ली, इलाहाबाद, पटना, उज्जैन, अहमदाबाद, अजमेर और सूरत अत्यन्त घने, सम्पन्न, आबाद और बड़े २ विद्या, संस्कृति और व्यापार के केन्द्रीय नगर थे। इन में से प्रत्येक उस समय के लण्डन और पैरिस से कई गुना समृद्ध और बड़ा था। मोरलैण्ड के हिसाब से उन दिनों फ्रान्स की आबादी इस समय से आधी थी, और इंग्लेण्ड की आबादी इस समय से ८ वां हिस्सा थी। विजयनगर के विषय में 'काण्टी' अब्दुल-रज़ाक, तथा पेज ने लिखा है कि–उसकी आबादी इतनी अधिक है जिस पर विश्वास करना कठिन है। वहां के हिन्दू राजाओं के पास २० लाख सेना सदा तैयार रहती थी। ऐसी ही घनी आबादी दक्षिण, गुजरात, पंजाब तथा शेष उत्तरीय भारत की भी थी। उन दिनों २ लाख सशस्त्र योद्धा चाहे जब आगरा से जमा किये जा सकते थे। बंगाल की राजधानी गौड़ के मकानों की संख्या १२ लाख थी। सूरत से लाहौर तक, लाहौर से आगरे तक, आगरे से गौड़ तक जिन २ यूरोपियन यात्रियों को घने बसे हुए गावों में होकर जाना पड़ता था—वे वहां की समृद्धि सम्पन्नता देखकर हैरान हो जाते थे। उनमें से बहुतों को कहना पड़ा है कि आबादी और खुशहाली दोनों ही दृष्टि से उस समय के भारत का केवल चीन ही मुकाबिला कर सकता था।

मुगल और उनके साथ जो विदेशी थे वे भारतीय हो चुके थे । उन्होंने भारतीय रहन-सहन, भारतीय वेश और भारतीय विचारों को अपना लिया था। भारत के मुसलमान भी अन्य देश के मुसलमानों से पृथक् भारतीय मुसलमान बन चुके थे। वे भारतीयों से पान खाना, हिन्दुस्तानी बोलना, हिन्दू पर्व त्योहारों को मनाना तथा हिन्दू धर्मग्रन्थों के प्रति आदर करना सीख चुके थे।

बाबर और हुमायूँ प्रारम्भ में ईरानी-तुर्की-मिश्रित भाषा बोलते थे, पर बाद में घरों में और दर्बार में बोलचाल की भाषा हिन्दुस्तानी, और साहित्यकी तथा राजभाषा फ़ारसी हो गई थी। सन् १७५० के बाद उन्होंने साहित्य के लिये भी हिन्दुस्तानी को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। सम्राट् अकबर के सम्बन्ध में इन्हीं सब बातों को विचार कर जदुनाथ सरकार लिखते हैं कि—

'अकबर ही के आधीन हिन्दी में तुलसीदास के द्वारा और बंगला में वैष्णव लेखक प्रताप के द्वारा एक ज़बर्दस्त हिन्दू साहित्य देशी भाषाओं में पैदा हुआ। सम्राट अकबर ही ने एक सच्चे राष्ट्रीय दरबार को जन्म दिया और उसके आधीन भारतीय मस्तिष्क का बहुत बड़ा उत्थान हुआ।' (मुगल एडमिनिस्ट्रेशन)

मुग़लों से प्रथम—

मुगल साम्राज्य से पहिले बंगाल और दक्षिण में जो मुसलमान बादशाह थे, उन्होंने प्रथम ही बंगला और मराठी भाषा को विविध साहित्य के इतिहास से सम्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया था। इन्होंने संस्कृत, हिन्दी फ़ारसी ग्रन्थों के देश-भाषाओं में अनुवाद कराए थे।

दिनेशचन्द्रसेन लिखते हैं—'इस तरह की बेहद मिसालें मिलती हैं कि जिनमें मुसलमान बादशाहों और सरदारों ने संस्कृत फ़ारसी ग्रन्थों का अपनी ओर से बंगला में अनुवाद कराया और दूसरों को इस काम में मदद दी। ······जब कि बंगाल के बलवान् बादशाहों ने देशभाषा को अपने दर्बारों में यह उच्च स्थान दिया तो कुदरती तौर पर हिन्दू राजाओं ने उनका अनुसरण किया······इस प्रकार हिन्दू राजाओं के दर्बारों में बंगाली कवियों की नियुक्ति का रिवाज मुसलमान बादशाहों की देखादेखी शुरू हुआ।'

(हिस्ट्री आफ़ बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर)

बहमनी बादशाहों ने दक्षिण में मराठी भाषा को समुन्नत करने में भी बहुत काम किया। अली आदिलशाह के दफ्तरों में मराठी भाषा काम में लाई जाती थी। मराठे उच्चपदों पर नियुक्त होते थे। कुतुबशाह स्वयं दक्षिणी भाषाओं तथा हिन्दी का अच्छा कवि था। इसी प्रकार पंजाबी और सिन्ध की भाषाएँ भी

उन्नत हुई। हम कह सकते हैं कि वह समय प्राचीन संस्कृत या उसकी अपभ्रष्ट भाषा के स्थान पर नई उत्पन्न देशभाषा के उत्थान का काल था। केवल भाषा ही का नहीं, उस समय भारत के प्रत्येक क्षेत्र में एक नवीन संकलनात्मक सभ्यता का विकास हो रहा था। जो न हिन्दू थी, न बौद्ध, न मुसलमान, न वैदिक, किन्तु शुद्ध भारतीय थी। और इन सब सभ्यताओं और संस्कृतियों के मेल से बनी थी। उसी ने आगे चलकर देश में राष्ट्रीयता तथा एकदेशीयता को जन्म दिया। और उस युग में शिल्प, साहित्य, कला, व्यापार और सामाजिक जीवन में उच्चतर आदर्शों का प्रादुर्भाव किया।

इस प्रकार जब भारत की विविध प्रान्तीय भाषाएँ पहिली बार अपने अन्दर उच्च तथा स्फूर्तिदायक साहित्य का सृजन कर रही थीं, तब भारत के मध्य केन्द्र में सम्राट् अकबर भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी को शृङ्गार और जीवन प्रदान कर रहा था।

हुमायूं—

अकबर के पिता हुमायूं एक विद्या व्यसनी पुरुष थे। वे जमकर अपना शासन भारत में न कर सके। भीतरी और बाहरी शत्रुओं ने उन्हें आजीवन प्रताड़ित किया। फिर भी उनके दर्बार में शेख अब्दुल वाहिब बिलग्रामी और शेख गदाई देहलवी उपस्थित थे, जो हिन्दी-काव्य-रचनाएँ करते थे। खेद है कि वे कविताएं उपलब्ध नहीं। परन्तु हुमायूं के दर्बारी कवि 'छेम' का एक छप्पय यहां हम देते हैं, जिसमें अली की वीरता का वर्णन है—

धरति थरनि थरहरति, डरति तरनी पलहट्टेहु ।
धूम धाम धुवलोक सोक सुरपति अति पट्टेहु ॥
गवन रहित सम्मीर नीर नद नदी निघट्टेहु ।
करि निकर डिकरि चिकरि कहरि खेंवर पर चट्टेहु ॥
हिम गिरि सुमेरु कैलास डिग, तब हहरि हहरि संकर हँस्यो ।
'छेम' कोपि हजरत अली, जब जुल्फकार कम्मर कस्यो ॥

शेरशाह--

शेरशाह भी हिन्दी का बड़ा प्रेमी था। वह 'फ़रीद' के नाम से हिन्दी कविता करता था और सिक्कों पर हिन्दी को स्थान देता था। फ़ारसी के जो फ़र्मान जाते वे फ़ारसी अक्षरों के साथ ही नागरी अक्षरों में भी लिखे जाते थे। इन्हीं शेरशाह को जायसी ने पद्मावत में आशीर्वाद दिया है। खेद है शेरशाह की कोई रचना उपलब्ध नहीं है परन्तु उसके औरस असलेमशाह सूरी के कुछ पद प्राप्त हैं। एक नमूना देखिए—

ऐ जेते दिन अन मिल गए तिय पिय ।
बिन मोकों तेते दिन मेरे आन लेखे ॥

और जो तपत वाके तन के तिनके सुख कों,
अँके भुज भर चाहत नैन कहूँ कब देखे ॥
न पीय पाती पठाई न आवत कीनो ।
मेरी एक न भई हो रही है रखे भेखे ॥
'असलेम शाह' पिय जी की ना समझत जोवन जात परेखे ।
(संगीत रागकल्पद्रुम, प्रथम खण्ड)

अकबर—

'अजवेश कवि ने अकबर के सम्बन्ध में एक कवित्त कहा है, जो १६ वीं शताब्दी की प्रारम्भिक व्रजभाषा का उत्कृष्ट नमूना है ।

बढ़ी बादशाही ज्योंही सलिल प्रलै के बढ़ें,
राना राव उमराव सब को निपात भो ।
बेगम बेचारी वही कतहूं न थाह लही,
बाँधो गढ़ गाढ़ौ गूढ़ता को पक्षपात भो ।
शेरशाह सलिल प्रले को बढ़्यो 'अजवेश,
बूड़त हुमायु के बड़ो ई उत्पात भो ।
बलहीन बालक अकब्बर बचाइवे को,
वीरभान भूपति अछैवट को पात भो ।

सम्राट् अकबर की भी एक रचना सुनिए—

शाह अकब्बर एक समै चले कान्ह विनोद विलोकन बालहिं ।
आहटतें अबला निरख्यौ चकि चौंकि चली करि आतुर चालहिं ।
त्यों बलि वेनी सुधारिधरी सु भई छबि यो ललना अरु लालहिं ।
चंपक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिये अहि बालहिं ।

अकबर संगीत के पारदर्शी ही न थे पद रचयिता भी थे । एक पद देखिए—

शिक्षा कार अनुकाररंचक, भावक गायन तान प्रमाण ।
धात, मात, योग ध्यान इन भेद न भेद, ध्यान शरीर की सुर न मन्त्र बखान ।
जे अलंकार सुरताल प्रस्तार विस्तार, जानत सब बहुविध अंग अंग सुजान ।
शाह अकबर गुरुन गुरु संगीत कला निपुणन किए भए न गान ।
(संगीत राग कल्पद्रुम)

अकबर के दर्बारी गायक प्रसिद्ध तानसेन की एक रचना देखिए—

चढ़ो चिरंजीव साह अकबर साहनसाह,
बादसाह तख़त बैठो छत्र फिरे निशान ।
दिल्लीपति तुम नबीजी को नायब अति सुन्दर सुलतान,
चारों देश लिये कर जोर कमान
राजा राव उमराव सब मानत तोरी आन ।

कहे 'मियां तानसेन' सुनिये महाजान।
तुमसे तुमही और नाहीं दूजो-गुणी जनन के राखत मान।

अब आप देख रहे हैं कि आगरे में मुगल राजधानी होने के कारण वहां की जन-भाषा व्रजभाषा के किस प्रकार भाग्य फिरे। वह भारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्य-भाषा होती गई। अकबर के दर्बारी उच्चाधिकारी और प्रतिष्ठित उमराव विद्वान् भावुक कवि अब्दुर्रहीम खानखाना ने जैसी मार्मिक रचना व्रजभाषा में की है, वह आज भी अपना जोड़ नहीं रखती।

खानखाना; जन्म ई० सन् १५५४—

ये अकबर सम्राट् के अभिभावक मुगल सरदार बैरमखां के पुत्र थे। इनके विषय में सम्राट् जहांगीर ने लिखा है—वह अर्बी, तुर्की, फ़ारसी, संस्कृत और हिन्दी के ज्ञाता थे। फ़ारसी और हिन्दी में कविता करते थे और हिन्दू तथा मुस्लिम विद्याओं से अभिज्ञ थे।

(ओरियंटल कालेज मैगज़ीन अगस्त १९३१ ई०)

ये मार्मिक कवि और उदारदाता थे। इनकी दानशीलता की बड़ी २ कहानियां हैं। गंग कवि को इन्होंने एक छन्द पर प्रसन्न होकर ३६ लाख रुपये दे डाले थे। रहीम अकबर के प्रसिद्ध सेनापति और मन्त्री भी थे।

अकबर सम्राट् की मृत्यु के बाद सम्राट् जहांगीर इनसे क्रुद्ध हो गये और इनकी जागीर जब्त करके इन्हें कैद कर लिया। कैद से छूटने पर ये बड़ी दीन दशा में रहे। इनके सब पुत्रों की मृत्यु भी इनके सामने ही हो गई। इनकी दान-शीलता की चर्चा पहले ही फैल चुकी थी। अब भी याचक इनके पास आते थे, जिससे इन्हें बड़ा संताप होता था। एक बार दुःखित होकर इन्होंने कहा था—

तबहीं लों जीबो भलो, दैवो होय न धीम।
जग में रहिवो कुंचित गति, उचित न होय रहीम।

विपत्ति में मित्रों ने भी इन्हें त्याग दिया था, इस पर इन्होंने कहा—

ये रहीम दर दर फिरें, मांग मधुकरी खाहिं।
यारों यारी छोड़िए, वे रहीम अब नाहिं।

एक बार ऐसी ही दीनदशा में एक याचक ब्राह्मण ने इन्हें आ घेरा। आपने उसे यह दोहा लिखकर रीवां नरेश के पास भेजा—

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेस।
जापर विपता परत है, सो आवत यहि देस।

रीवां नरेश ने पढ़कर १ लाख रुपया याचक को दिया।

गोस्वामी तुलसीदास से रहीम का बड़ा प्रेमभाव था। एक बार एक ब्राह्मण अपनी कन्या के ब्याह के लिये धन की इच्छा से गोस्वामी जी के पास आया। उन्होंने उसे रहीम के पास यह आधा दोहा लिखकर भेज दिया।

सुरतिय नरतिय नागतिय यह चाहत सब कोय।

रहीम ने ब्राह्मण को बहुत धन दिया और दोहे की यह दूसरी पंक्ति गोस्वामी को लिख भेजी—

गर्भ लिये हुलसी फिरें, तुलसी सा सुत होय।

रहीम बड़े भारी विजेता थे। उन्होंने बड़ी बड़ी मुहिम विजय की थीं। और मुग़ल साम्राज्य का बहुत विस्तार बढ़ाया था। इन्हें जागीर में बड़े बड़े गढ़ और सूबे मिले थे। ये बड़े अनुभवी, मिलनसार और भावुक पुरुष थे। इनकी रचनाएं ऐसी सर्वप्रिय हुईं कि वे सर्वसाधारण के मुंह पर चढ़ गईं। तुलसी के बाद यह लोकप्रियता रहीम ही को प्राप्त हुई। इनके दोहे गिरधर और वृन्द के समान कोरी नीति का प्रदर्शन ही नहीं करते, उनमें एक चोट करने वाली कुछ वस्तु है। उनमें जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की ऐसी क्षमता थी कि उन्हें कल्पना की उड़ान उड़ानी ही नहीं पड़ी।

उनके दोहों का उदाहरण—

जो तू चाहे अधिक रस, सीख ईख से लेहु।
जेतो आधिक पेरिए तेतो ही रस देहु।

❀ ❀ ❀

ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारो उजियारो लगै, बढ़ै अंधेरो होय।

❀ ❀ ❀

कोऊ रहीम जनि काहु के, द्वार गए पछिताय।
संपति के सब जात हैं, विपति सबै लै जाय।

इनका 'बरवै नायिका भेद' शृङ्गार की उत्कृष्ट रचना है। देखिए—

लहरत लहर लहरिया अजब बहार। मोतिन जरी किनरिया बिथुरे बार।
जस मदमातल हथिया हुमकत जात। चितवन जात तरुनिया मन मुसकात।
ओरहिं बोलि कुइलिया बढ़वति ताप। घरी एक भरि अलिया, रहु चुपचाप।
बाहर लै कै दियवा बारन जाइ। सासु ननद घर पहुंचत देति बुझाइ।
लै कै एक खुरपिया पिय के साथ। छइवै एक छपरिया बरसत पाथ।
पीतम इक सुमरनिया मोहिं देइ जाहु। जेहि जपि तोर बिहरवा करब निबाहु।

पूर्वी छन्दों का प्रयोग बरवे की जान है, सो देखिए रहीम ने किस सफ़ाई से उन्हें काम में लिया है। खड़ी बोली की भी बानगी देखिए—

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन वाला चांदनी में खड़ा था।
कटि तट विच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला।

(मदनाष्टक)

विनोद-व्यंग में गहरी मज़ाक भी देखिए। चारों वर्णों की स्त्रियों पर एक एक तीर फेंका है—

उत्तम जाति है बाम्हनी, देखत चित्त लुभाय।
परम पाप पल में हरत, परसत वाके पांय।
रूप रंग रतिराज में, छतरानी इतरान।
मानो रची विरंचि पचि, कुसुम कनक में सान।
बनियाइन बनि आइ के, बैठि रूप की हाट।
पैम पंक तन हेरि कै, गरुवै टारत वाट।
गरव तराजू करति चख, भौंह मोरि मुस्काति।
डाँडी मारत विरह की, चित चिन्ता घटि जात।

रहीम की अन्योक्तियां भी चुटकीली होती थीं, एक परखिए।

रहिमन जग की रीति, मैं देख्यो इस ऊख में,
ताहू में परतीति, जहाँ गाँठ तहाँ रस नहीं।

इनके श्रृङ्गार में भी एक ऐसा चमत्कार है कि अश्लीलता भी नहीं आ पाई और चुभ भी गया।

नैन सलोने अधर मधु, कहु रहीम बढ़ कौन।
मीठो भावे लौन पै, मीठे हू पै लौन।

भाषा पर रहीम को तुलसी के समान ही अधिकार था। वे व्रज, पच्छिमी। अवधी, पूर्वी सब भाषाओं में स्वाभाविक गति से काव्य-रचना करते थे। इसी से बिहारी जैसे कवि भी इनकी लुभावनी उक्तियों को अपहरण करने का लोभ संवरण न कर सके।

अच्छा अब आप रहीम के इस दोहे को कबीर के दोहे से मिलाइये कितनी समता है—

प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहां समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर जाय।

कबिरा रेख सिन्दूर अरु, काजर दिया न जाय।
नैनन प्रीतम रमि रहा, दूजो कहां समाय।

और देखिए—

रहिमन गली है सांकरी, दूजो ना ठहराय।
आपु अहै तो हरि नहीं, हरि तो आपुन नाहिं।
जब मैं था तब गुरु नहीं, जब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली है सांकरी, ता में दो न समाय॥

कबीर और रहीम दोनों ही मग्नप्रेमी हैं। परन्तु जैसे कबीर पा चुका और रहीम अभी ढूंढ ही रहे हैं।

इन्होंने सन् १६२७ में ७४ वर्ष की आयु में शरीर त्यागा। इन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे।

खानखाना की प्रशंसा में बहुत से प्रसिद्ध कवियों ने उत्कृष्ट कविता रची हैं। उनमें से कुछ का वर्णन हम यहां करते हैं। महाकवि केशवदास से रहीम का घनिष्ट परिचय था। उन्होंने सन् १६६९ में 'जहांगीर चन्द्रिका' नामक एक पुस्तक रची थी। उसमें रहीम के विषय में लिखा है—

'साहि जू की साहिबी को रच्छक अनन्त गति।
कीनो एक भगवन्त हनुमन्त वीर सों॥
जाको जस केसोदास, भूतल के आस पास।
सोहत छबीलो छीर सागर के छीर सों॥
अमित उदार अति पावन विचारि चारु।
जहां तहां आदरिवो गंगा जी के नीर सों॥
खलन के घालिवै कौं खलक के पालिवै कों।
ख़ानख़ाना एक रामचन्द्र जू के तीर सों॥

आसकरण नामक एक प्रसिद्ध चारण ने, जिसे मोटा होने के कारण 'जाडा' कहा करते थे—रहीम की प्रशंसा में कुछ डिंगल के उत्कृष्ट दोहे लिखे थे, जिन पर प्रसन्न होकर खानखाना ने प्रत्येक दोहे पर एक लाख रुपया देना चाहा था पर चारण ने उसे अस्वीकार कर नवाब के द्वारा बादशाह से महाराणा प्रताप के भाई को जहाजपुर का परगना दिलवाया था। एक दोहा उनमें का सुनिए—

खान खाना नवाब रे, खांडे आग खिवत। जल वाला नर प्राजलै, तृण वाला जीवंत।

अर्थात् हे नवाब खानखाना, तेरी तलवार से अद्भुत आग बरसती है। जिस में 'पानी वाला' (आबरूवाला) तो जल कर खाक हो जाता है, पर तृण धारण करने वाला (शरणागत) बच जाता है।

इस चारण की प्रशंसा में ख़ानख़ाना ने भी एक दोहा डिंगल भाषा में लिख कर दिया था, वह यह है—

धर जड्डी अम्बर जड़ा, जड़ा महंगू जोय। जड़ा नाम अल्लाह दा, और न जड्डा कोय॥

अर्थात् यह पृथ्वी जाडी है, आकाश जाडा है, यह कवि जाडा है और अल्लाह का नाम जाडा है और कोई जाडा नहीं है।

गंग कवि इनकी प्रशंसा में कहते हैं—

'बांधिवे को अञ्जलि, विलोकिवे को काल ढिंग।
राखिवे को पास जिय, मारिवे को रोस है॥
जारिवे को तन मन, भरिवे को हियो आंखि,
धरिवे को पग मग, गनिवे को कोस है॥
खाइवे को सोहैं, भौहैं चढ़िवे उतारवे को।
सुनिवे को प्रान घात किए अपसोस है॥
वैरम के खान खाना, तेरे डर वैरी वधू।
छीवे को उसास, मुख दीवै ही को दोस है॥

महापात्र नरहरि बंदीजन; जन्म ई० सन् १५०२—

ये असनी फतहपुर के निवासी थे और अकबर के दर्बारी कवि थे। अकबर ने इन्हें महापात्र की उपाधि दी थी। इन्होंने छप्पय और छन्द कहे हैं। इनके जिस छन्द पर अकबर ने गोबध बन्द किया था वह यह है :—

अरिहु देत तिनु धरें ताहि नहिं मारि सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, बचन उच्चरहिं दीन होई।
अमृत पद नित स्रवहि वच्छु महिं थंभन जावहिं।
हिन्दुहि मधुर न देहि, कटुक तुरकहिं न पियावहिं।
कह कवि नरहरि अकबर सुनो विनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन।

महाराज टोडरमल; जन्म ई० सन् १५८४—

पहले ये शेरशाह के मीर-मुन्शी थे। पीछे अकबर के भूमि-कर-विभाग के मन्त्री हो गये। कुछ दिन ये बंगाल के सूबेदार भी रहे। इन्होंने मुग़ल दफ्तरों की भाषा फ़ारसी की। इन्होंने नीति सम्बन्धी पद कहे हैं। एक उदाहरण देखिए—

जार को विचार कहा, गनिका को लाज कहा,
गदहा को पान कहा, आंधरे को आरसी।
निगुनी को गुन कहा, दान कहा दारिद को,
सेवा कहा सूम की अरंडन को डार सी।
मदपी को सुचि कहा, सोच कहा लंपट को,
नीच को वचन कहा, स्यार की पुकार सी।

टोडर सुकवि ऐसे हठी तौ न टारें टरें,
भावे कहौ सूधी बात भावे कहौ फ़ारसी।

बीरबल ई० स० १५७६—

प्रयाग के किले में जो अशोक-स्तंभ है उसपर एक लेख खुदा है—"संवत १६३२ शाके १४९३ मार्ग० वदी ५ सोमवार गंगादास सुत महाराज बीरबल श्री तीरथराज प्रयाग की यात्रा सुफल लिखितं", यह लेख बहुत करके इन्हीं बीरबल के सम्बन्ध में है। ये बड़े हाज़िर-जवाब और व्रजभाषा के उत्तम कवि थे। अकबर इन्हें बहुत मानते थे। केशवदास को इन्होंने ६ लाख रुपये दिये थे। और उनकी सिफ़ारिश पर ओरछा के राजा का १ करोड़ रु० का जुर्माना माफ़ करवा दिया था। इनकी रचना का एक उदाहरण देखिए—

पूत कपूत, कुलच्छन नारि, लराक परोसी लजायन सारो।
बंधु कुबुद्धि; पुरोहित लंपट, चाकर चोर अतीति धुतारो।
साहब सूम, अड़ाक तुरंग, किसान कठोर, दिवान नकारो।
ब्रह्म भनै सुनु साह अकब्बर बारहौं बांधि समुद्र में डारो।

इनकी मृत्यु पर दुखी होकर अकबर ने यह सोरठा पढ़ा था।

दीन देखि सब दीन, रावन दीनो दुसह दुःख।
सो अब हम कहँ दीन, कछु नहिं राख्यो बीरबल।

कहा जाता है इनके कई सौ कवित्तों का भरतपुर में संग्रह एकत्रित है।

गंग कवि; ई० स० १५८०—

यह अकबर के दर्बारी कवि तथा रहीम के मित्र थे। कहा जाता है कि इन्हें किसी नवाब ने हाथी से चिरवाकर मरवा डाला था। ये अपने समय के उत्कृष्ट कवि थे। इन्हें जिस छप्पय पर रहीम ने ३६ लाख रु० दिये थे वह छप्पय यह है—

चकित भंवर रहि गयो, गमन नहिं करत कमल वन।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन घन॥
हंस मान सर तज्यो चक्क चक्की न मिलैं अति
बहु सुन्दरि पद्मिनी पुरुष न चहै न करै रति।
खल मलत सेस कवि गंग मन, अमित तेज रवि रथ खस्यो।
खानान खान बैरम सुवन जबहिं क्रोध करि तंग कस्यो॥

इनका यद्यपि कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, पर पुराने संग्रहों में इनके बहुत कवित्त मिलते हैं। ये वीर और शृंगार रस के सुकवि थे। वाग्वैदग्ध्य भी इन में खूब था। अन्योक्तियां भी मजे की हैं। इन्होंने अतिशयोक्तिपूर्ण वस्तुव्यंग-पद्धति पर विरहताप का वर्णन भी किया है।

मनोहर कवि; ई० स० १६६४—

ये भी अकबर के दर्बारी और मनोहर कवि थे। फ़ारसी संस्कृत के पण्डित थे। उपनाम 'तौसनी' रखते थे। इन्होंने शतप्रश्नोत्तरी लिखी तथा अनेक फुटकर छन्द लिखे हैं एक दोहा देखिए—

> **इन्दु वदन नरगिस नयन, संबुल वारे वार।**
> **उर कुंकुम कोकिल वयन, जेहि लखि लाजत मार॥**

होलराय; ई० स० १५७०—

ये भी कभी २ अकबर के दर्बार में जाते थे। अकबर से इन्होंने ज़मीन पाई थी। उस पर होलपुर गांव बसाया। इन्हें एक बार तुलसीदास ने अपना लोटा दिया था, इन्होंने चट कहा—

> **लोटा तुलसीदास को, लाख टका को मोल।**

गोस्वामी ने तुरन्त कहा—

> **मोल तोल कछु है नहीं, लेहु राय कवि होल।**

इनका एक कवित्त सुनिए—

> **दिल्ली तें न तख्त ह्वै है, बख्त ना मुग़ल कैसो,**
> **ह्वै है ना नगर बढ़ि आगरा नगर तें।**
> **गंग तें न गुनी तानसेन तें न तानबाज,**
> **मान तें न राजा और न दाता बीरबर तें।**
> **ख़ान ख़ानख़ाना तें न नर नरहरि तें न,**
> **ह्वै है न दिवान कोऊ बेडर टुडर तें।**
> **नवों खण्ड सात द्वीप; सातहू समुद्र पार,**
> **ह्वै है ना जलालुद्दीन साह अकबर तें।**

शाही दरबार के इन कवियों की उस नियमितता का हिन्दी कविता पर प्रभाव पड़ रहा था जो दरबार और राजनीति में पाई जाती है। ये कवि भक्त न थे, कवि थे। इनकी रचना में प्रतिभा की उड़ान की कम गुंजाइश थी। नीति-भावना का अधिक समावेश था, मुसलमानों का लालित्य, कलाप्रियता, दर्बारी सौरभ, और गरिमा, इन सब ने इन कवियों की कविता को एक मानसिक वृत्तियों के संकोच में बांधना प्रारम्भ कर दिया था। इनकी पद्धति सूर और तुलसी से जुदी थी, उनमें दिव्य भावना थी, इनमें लोकभावना। इसीसे इस दर्बारी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी कविता पर नियमों की छाप पड़ने लगी।

जहांगीर; ई० स० १६०५ से १६२७ तक—

जहां अकबर की हिन्दी देशभाषा थी वहां जहांगीर की मातृभाषा थी। उसकी हिन्दी निष्ठा इसीसे अत्यधिक थी। उसकी फ़ारसी भी हिन्दी की छाया

प्रतीत होती थी। वह हिन्दू संतों का बड़ा भक्त था। वह उज्जैन के गुसाईं जदुरूप के पास कई बार पैदल चलकर गया था।

एक चारण का छन्द जहांगीर को इतना भाया कि उसने चट उसका फ़ारसी अनुवाद करने का हुक्म दिया, और चारण को पुरस्कृत किया। एक बूढ़े भाट की कविता से प्रसन्न हो उसका नाम 'बूटा' से 'वृक्षराय' कर दिया। यह मनमौजी बादशाह मनकी मौज में कविता भी रचता था। उसका एक उदाहरण देखिए--

अति छवि छाजत हैं ललना लोचन तिहारे
रंग रंगीले रसाल छवीले सोहत लजीले
सौं हैं खात जात,
झुकी है कछू उझकी है ऐसे सोहन होत हमारे।
अद्भुत रूप गोप वरनो न जाय कोटिक,
काम द्युति सुधबुध विसारे
साह जहांगीर जानबूझ कर सकुचावत
इन नैनन में रैन बिहारे।

(संगीत राग कल्पद्रुम)

जहांगीर अपने भाई दानियाल के विषय में कहता है—

'हिन्दी संगीत का अनुरागी है, कभी २ हिन्दी वालों की भांति उन्हीं के ढंग की कविता भी करता था जो बुरी नहीं होती थी'।

(ओरियंटल कालेज मैगज़ीन)
अगस्त १९३१

पुहुकर कवि; ई० सन् १६१७—

ये गुजराती थे। इन्हें जहांगीर ने किसी कारण से कैद कर लिया था। कैद ही में इन्होंने 'रस-रतन' लिखा जिसमें रंभावती और सूरसेन की प्रेमकथा दोहे चौपाई तथा विविध छन्दों में है। इस पर प्रसन्न होकर बादशाह ने इन्हें छोड़ दिया था। यह कल्पित कथा प्रबन्धकाव्य के ढंग पर लिखी गई है। इसका एक उदाहरण देखिए—

चन्द की उजारी प्यारी नैनन तिहारे परे,
चन्द की कला में दुति दूनो दरसाति है।
ललित लतानि में लतासी गहि सुकुमारि,
मालती सी फूलै जब मृदु मुस्काति है।
पुहुकर कहै जित देखिए विराजै तित,
परम विचित्र चारु चित्र मिलि जाति है।

आवे मन मोहि तब रहे मन ही में गढ़ि,
नैनन विलोके बाल नैननि समाति है।

शाहजहाँ—

ये हिन्दी के उस्ताद कवि थे। इनके पैदा होने पर जब रंगमहल में जश्न मनाया गया, तब तमाम राजपूती रीति बर्ती गई। दाई को जब थाल भर मोती दिए जाने लगे, तब उस ने ऐंठ कर नहीं लिए और कहा—

मांगे हैं जोधा जी का राज, लला जी का नाल न छवावै।
थाल भर मोती जोधारानी लाई, वह भी लेवै न यह दाई।

जहांगीर ने एक दिन शाहज़ादा खुर्रम के सम्बन्ध में कहा था—

'यदि कोई मुझ से पूछे कि उसमें कौन सा सद्गुण नहीं है, तो मैं कहूंगा कि उसे तुर्की भाषा नहीं आती।'

(शाहजहांनामा, ओरिएंटल कालेज मेगजीन अगस्त सन् ३१)

इस पर शाहजहां ने तुर्की सीखना प्रारम्भ किया, पर वह उसकी भाषा नहीं बनी। उर्दू के अन्वेषक हाफ़िज महमूद शेरानी लिखते हैं—

"ब्रज इस वक्त तमाम ज़िला आगरा, रियासत भरतपुर, मथुरा, ग्वालियर मशरक़ी इलाक़ए रियासत जैपुर, गुड़गांव, बुलन्दशहर, अलीगढ़, ऐटा, मैनपुरी, बदायूं, बरेली, और तराई परगनाएनैनीताल में बोली जा रही है, मुसलमानी अहद में इस ज़बान में मौसीक़ी व शेअर का बहुत रिवाज रहा है। इब्तदा में इस ज़बान को महज़ मुक़ामी हैसियत हासिल थी, लेकिन नवीं सदी हिजरी में मुंतसफ दोम याने लोदियों के ज़माना में मौसीक़ी की बिना पर इस ज़बान ने हिन्दुस्तान में अदबी इम्तियाज़ हासिल कर लिया। इस सिलसिले में महाराज मानसिंह ग्वालियरी का नाम हमेशा याद रहेगा। सब से बड़ा इन्क़िलाब इसने यह किया कि संस्कृत को हटा कर मौसीक़ी में ग्वालियरी ज़बान को दाख़िल कर दिया। ताकि अवामुन्नास राग के साथ ज़बान को भी समझ लें।

(ओ० का० मै० अगस्त ३१)

शाहजहां के काल में पण्डितराज जगन्नाथ ने उसे 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरोवा, घोषित कर दिया था। उसने लालखां कलावन्त को 'गुणसमुद्र, या 'गुनसमन्दर, की उपाधि दी। जगन्नाथ को पण्डितराज, और सुन्दर को 'कविराज' की पदवी दी। पण्डितराज जगन्नाथ के शिष्य कुलपति मिश्र हिन्दी कविता करते थे। तथा तैलंग भ्रष्ट भाषा भाषी थे। सुन्दरराय की कविता का उदाहरण देखिए—

नगर आगरा बसत है जमनातट सुभथान,
तहां बादशाही करे बैठो शाहजहान।
साह बड़ो कवि मुख तनिक क्यों गुन बरनै जाहि,
ज्यों तारे सब गगन के मूठी में न समाई।
तीन पहर लौं रवि चले जाके देसन माहि,
जीत लई जगती इती शाहजहां नर नाह।

शाहजहां प्रत्येक शुभ अवसर पर हिन्दी कवियों का सत्कार करता और दान देता था। एक कवि के कवित्त पर रीझकर उसने उसको १ हथिनी और २ हज़ार रुपया दिया था। वह हिन्दी में पत्र व्यवहार भी करता था, जिसका उल्लेख औरंगज़ेब ने किया है। अब शाहजहां की एक रचना भी देखिए—

माई काहे को कहो अब ही जो मोहि जिन बरजौ, लाल तन कोरी चितवो।
मन मोहन प्राणेश्वर की छवि रीझत अति मति गति सुधबुध बिसारी,
सब अजहूँ भूल जैहैं री तोहि सिख देवो, लगन सों फलताकी कहा कहिए री।
अब लोगन सुन्दर सखि भायो प्रेमबीज को बोयेवो
परम रुचिर हो शाहजहां तिनको पंच सरहूते सरस,
अपवस करके मति गति मनहर लेवो।

(संगीत राग कल्पद्रुम)

औरंगजेब की कैद में पड़ कर उसने जो खत दारा और शुजाको लिखे थे, वे हिन्दी भाषा में थे। वे खत औरंगजेब के हाथ लग गये थे। उसने बादशाह को लिखा था।

"आँ फ़र्माने आली कि दरज़बाने अह्ले हिन्द अज़ दस्तखत
ख़ास रक़मी फरमूदाः शाहिद ईमानी अस्त।"

अर्थात् यह श्रेष्ठ फ़र्मान जो हिन्दियों की भाषा में आपके ही हस्ताक्षरों में लिखा गया है—इसका प्रमाण है।

(मुग़ल और उर्दू)

अल्लामा शिवली नुमानी कहते हैं—

"व्रजभाषा की जिस क़दर इसके ज़माने में तरक्की हुई, मुसलमानों ने जिस कदर इसके ज़माने में हिन्दी किताबों के तर्जुमे किये और खुद जिस क़दर व्रजभाषा में नज़्म व नस्र लिखी, किसी ज़माना में इस क़दर हिन्दी की तरफ़ इल्तेफ़ात नहीं ज़ाहिर किया गया था।"

(मुलाक़ाते शिवली, जिल्द दो)

आगे शिवली कहते हैं—

"ज़मीर ईरान का एक मशहूर शाइर था। वह आलमगीर के ज़माना में ईरान से आया और शाही मनसबदारों में मुक़र्रिर हुआ। उसने भाषा ज़बान में इन्तहा दरजा का कमाल पैदा किया। अगरचे भाषा व संस्कृत के इल्फाज़ का वह सही तलफ़फ़ुज़ नहीं कर सकता था, ताहम उस ज़बान में निहायत बरजस्ता अशयार कहता था। हिन्दी में उसका तखल्लुस 'पन्थी' था। 'यारजातक' जो मौसीकी में हिन्दी ज़बान की मशहूर किताब है, उसका तर्जुमा उसीने फ़ारसी ज़बान में किया।"

(मुलाक़ाते शिवली)

बरजस्ता अशयार से प्रगट है कि वह आशुकवि था।

वृन्द कवि को आलमगीर १० रुपये प्रतिदिन देता था। और भी कवि उसके दर्बार में रहते थे।

औरंगज़ेब को कट्टर मुसलमान कहा जाता है, पर वह स्वयं हिन्दी रचनाएं करता था। देखिये—

चरण धर धर मेरे गृह लाल न भये हरखाए आए मेरे
तनके दुःख सब दूर गए सुख आए मेरे नेरे।
मृदंग बजावहु मंगल गावहु भागन ही पाऐ
कर रहो प्रथम ही जतन बहुतेरे।
"साह औरंगज़ेब प्रीतम अब मैं धन जनम कर
मानत जब आँखन भर हेरे।

अपनी उदयपुरी बेगम के प्रति उसने कहा था—

तुव गुण रवि उदै कीनो याही ते कहत तुम को बाई उदैपुरी।
अनगिन गुणगायन के अलाप विस्तार सुर जोत दीपक
जों तोलों सों विद्या है दुरी।
जब जब गावत तब तब रस-समुद्र लहरें उपजावत;
ऐसी सरस्वती कौन कों पुरी।
जान नमन जान शाह औरंगजेब, रीझ रहे
याही तें कहत तुमको विद्यारूप चातुरी।

(संगीत-कल्पद्रुम)

कहा जाता है कि हिन्दू और संगीतद्वेषी औरंगज़ेब कैसे यह संगीत की प्रशंसा हिन्दी भाषा में कर सकता था ? इस पर संगीतकल्पद्रुम के सम्पादक श्री जितेन्द्रनाथ वसु कहते हैं—

'जिस औरंगजेब को कितने ही लोग दारुण देवद्वेषी और हिन्दू विद्वेषी समझते हैं उनके रचित पद पढ़ने से इस विषय में घोरतर संदेह होता है कि

वास्तव में वह हिन्दू विद्वेषी था या नहीं। शायद लोग कहें कि औरंगज़ेब का नाम रहते भी ये पद औरंगज़ेब के ख़ास बनाए नहीं, किसी हिन्दू ने ही लिखे होंगे। इस बात का यह उत्तर दिया जाता है कि यदि ऐसा होता तो उसके समय उसी के नाम से ऐसे गान प्रचलित न होते।

औरंगज़ेब ने जो अपने तख़्त पर बैठने के ग्यारहवें वर्ष में संगीत के जनाज़े को खूब गहरा दफ़नाने का हुक्म दिया था। सम्भव है उसका कारण अनधिकृत अश्लील संगीत हो जिसकी मुग़ल दर्बार में बहुत वृद्धि हो गई थी। स्वयं औरंगज़ेब अपने राज्यारोहण का वर्णन इन शब्दों में करता है—

उत्तम लगन शोभा सगुन गिन गिन ब्रह्मा विष्णु महेश,
व्यास कीनो शाह औरंगज़ेब जसन तख्त बैठो आनंदन।
नगरबैठ दाम बिसात वर गायन मोहन युत ब्रह्म रंचौतिन,
मध्य गायन गुनी जन गावत तिनके हरत दुख दंदन।
एक निर्तत निर्तत लास तांडव रंग भावन डफबजवावत,
बेदिक पंडित कर कवि सरस पूरण चंदन।
'शाह औरंगज़ेब' जगतपरि हरण लोक तारे।
निस्तारे फन्दे ही रहत दरिद्र के गंजन।

औरंगज़ेब ने अपने शाहज़ादा आज़मशाह को हिन्दी की अच्छी शिक्षा दिलाई थी। यह शाहज़ादा व्रज भाषा का बड़ा प्रेमी था, इसे पढ़ाने के लिये मिरज़ाखां ने 'तोहफ़ुतुलहिन्द, नामक पुस्तक लिखी थी जो व्रजभाषा के व्याकरण की पुस्तक है इसमें लिखते हैं—

'बज़बान अहल बृज अफसह ज़बानहा अस्त औ चेमियान दोआब गंगा व जमुना कि दो रूद मशहूर अंद वाक़ाशुदः अस्त मिस्ल चंदवार वग़ैरः, बफ़साहत मंसूब अस्त। व चंदवार नाम मौज़ए अस्त मारूफ़ व मशहूर। व चूँई ज़बान शामिल। अशआर रंगीन व इबारत शीरीं व वस्फ़ आशिक़ व माशूक़ अस्त; व बरज़बान अहलनज़्म व साहब तबा बेश्तर मुस्तामल व जारी अस्त। बिनांबरां बकवायद कुल्लियः आँ परदा ख़्तः आमद।

अर्थात् व्रजवासियों की भाषा सभी भाषाओं में श्रेष्ठ है। गंगा और जमुना के बीच में जो देश हैं, जैसे चंदवार आदि, वह भी शिष्ट गिना जाता है। चंदवार एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित प्रान्त है, चूँकि इसी भाषा में प्रियतमा की प्रशंसा और सरल एवं अलंकृत कविता है, तथा यही भाषा शिष्टों और काव्य की व्यापक भाषा है, इस लिये इसके व्याकरण की रचना की जाती है।

(ए ग्रामर आफ़ व्रजभाषा, विश्वभारती बुकशाप, कलकत्ता)

इन बातों से पता चलता है कि मुगल शाहज़ादों को अरबी फ़ारसी, तुर्की और व्रजभाषा की ही शिक्षा दी जाती थी। जिसमें व्रजभाषा देश भाषा थी, शेष विदेशी भाषाएं थीं। अरबी मज़हबी ज़बान थी, और तुर्की मुग़लों की मातृभाषा थी। फ़ारसी राजकाज की शाही भाषा थी।

शाहज़ादा आज़मशाह ने भी रचनाएं की हैं। एक उदाहरण देते हैं—

'निपट कर जो दुराव करत मोसों हो नहीं जानत पीय अधिक चतुर तुमही और हौं हो अयानी,

कोटि यतन करत हैं नित गुण कर प्यारे तुम्हारे देखीयत जे करत फिरत घर-घर मनमथ के बस ज्यों तिया अंग संग रंग करत बहु ज्ञानी।

अटपटी पाग पेच लटपटे कीन्हें बोलत मन्द वचन चक कहत कहानी।

'शाह आज़म' विचित्र छत्रपति की बातें तेऊ मेरे जानपाई तब त्योंही मुबारक ना आवत तुम्हारी, गत हम मन वचक्रम कर पहिचानी।

(संगीत राग कल्पद्रुम)

बादशाह आलमगीर की मृत्यु के बाद उनके शाहज़ादे मौज़मशाह 'शाहे आलम बहादुरशाह' के नाम से तख़्त पर बैठे।

ये व्रजभाषा और संस्कृत के प्रेमी थे। संगीतप्रिय थे, सहृदय थे। स्वयं रचना करते थे। इनकी रचना अन्य बादशाहों और शाहज़ादों से कहीं परिष्कृत थी। एक उदाहरण देखिए—

'दिन गिनत हारी कठिन भई कर पल्लव री अब
कौन सों कहौं हौं री मैं यह दुख बतियाँ।
कौलौं धीरज धरौं अपराधन पीत लगन नया
दुख होरी धन धन मेरी निठुर छतियाँ।
जौलौं दरशन देखूं प्राणपति को तौलौं आनन्द
लहौं आलीरी, बस सुप्यास कैसी होत कहा भयो
जो पीय पठाई पतियाँ।
'शाह आलमशाह' के बिन मिले कहा ठाकुर होत है
और दूसरे अब आवत री बैरिन रतियाँ।'

शाहआलम बेचारा केवल ५ वर्ष ही सिंहासन पर बैठा। आलमगीर के जीवनकाल में इससे पिता का मन नहीं मिलता था। शाहआलम के बाद मुग़ल तख़्त लड़खड़ाने लगा। किसी तरह मुईजुद्दीन जहांदारशाह बादशाह हुए; पर एक ही वर्ष तख़्त पर बैठ पाये और कत्ल कर दिये गये। यह भाग्यहीन बादशाह अत्यन्त रसिक और सुकवि था। यह 'मौज' नाम से कविता करता था। इसकी भी एक रचना सुनिए—

मोरे गरवां फुलनवा को हरवा ।
रात चोर चोरी आन कर डार गये प्यार से सुन्दर मीत पियरवा ।
हों तो ऐसी नींद की माती करवटियां न लई सारी रतवा ।
नैक जागती जो अपने 'मौज' से न छोड़ती मैं उसको आँचरवा ।

इनकी मृत्यु पर बादशाह फ़र्रुख़सियर गद्दी पर बैठे जो ६ वर्ष बादशाह रहे । यह अभागा बादशाह अति सुरूपवान् और युवक था । इसे अन्त में अंधा करके क़ैद किया गया, और एक २ बूंद पानी को तरसता हुआ अपनी ही बेगमों के सामने घसीट कर चीत्कार करता हुआ मार डाला गया ।

इसके बाद एक के बाद दूसरा, कुल तीन बादशाह गद्दी पर बैठे और उतारे गये । बादशाहत में हुरदंग मच गया । अन्त में चौथे की बारी आई, और सैयद बन्धुओं ने उसे किसी दूर के कोने से खोज-खाज कर गद्दी पर बैठा दिया । इसने अपना नाम मुहम्मदशाह रखा और यह २९ वर्ष गद्दी पर बैठा । यह 'रंगीला बादशाह' प्रसिद्ध था । प्रसिद्ध नादिरशाह ने इसी के समय में दिल्ली को लूटा । इस का असली नाम मुहम्मद रोशन अख़्तर था । यह टोडी राग का बड़ा शौकीन था । ख़्याल और टप्पा इसी ने आविष्कृत किये । तथा 'उर्दू' भाषा की जड़ इसी के राज्य में जमी । इसके राज्यकाल में सैयद-बन्धुओं का प्राबल्य था । औरंगजेब की धर्मविरोधी नीति से मुग़ल राज्य के सब प्रधान पदों पर ईरानी, तूरानी छा गए थे । सैयद बन्धुओं ने इन विदेशी मुसलमानों को हटा कर भारतीय मुसलमानों की प्रधानता की नीति ग्रहण की । बहादुरशाह अपने को इनके प्रभाव से 'शीया' कहने लगा था । सैयद-बन्धुओं की कूटनीति सफल न हुई और वे मारे गये । उधर मरहटे और फ़रंगियों के भी संगठन हो गये थे । बादशाह की माँ भी राजनीति में दख़ल रखती थीं । उसने जब बेटे को सैयद-बन्धुओं के हाथ की कठपुतली बना देखा तो विदेशियों से षड्यन्त्र करके उन्हें मरवा डाला । परन्तु विदेशी मुसलमानों के नेताओं ने बादशाह की सत्ता का उल्लंघन करना प्रारम्भ कर दिया । निज़ामुल्मुल्क ने हैदराबाद हथिया लिया, सआदत ने अवध । उनके वज़ीर अमीनख़ां ने दर्बार में उर्दू की स्थापना की । बादशाह स्वयं उर्दू कविता पढ़ते थे । पर वे हिन्दी के भी सुकवि थे । देखिए उनकी रचना—

होरी की ऋतु आई सखी री चलो पियापै खेलिए होरी ।
अबीर गुलाल उड़ावत आवत सिर पर गागर रस की भरोरी ।
'महम्मदशा' सब मिल मिल खेलैं मुख पर अबीर मलोरी ।

(संगीतराग कल्पद्रुम)

इस बादशाह की साहित्य-सेवा के सम्बन्ध में नसीर हुसनखां साहब कहते हैं—

"यह इसी बादशाह की खुशमज़ाकी थी कि मौसीकी का फ़न जो आलमगीर के वक़्त में मर चुका था जी गया। बेख़बर जो चाहें कहें; मगर बाख़बर यही कहते चले आए हैं और यही कहते चले जाएंगे कि मौसीक़ी आवाज़े-फ़ितरत को बलंद करती है...और इसी लिए मुहम्मदशाह की तारीफ़ की जायगी कि उसकी तवज्जह से वह फ़न जो हिन्द का एक क़ीमती तोहफ़ा है, यहां के और फ़नों की तरह बेआवाज़ न होने पाया"।

(मुग़ल और उर्दू)

इस बादशाह की आज्ञा से इसके समय में अनेक भाषाओं के ग्रन्थ हिन्दी में अनुवाद किये गये। अनुवाद का यह काम जयपुर बसाने वाले मिर्ज़ा राजा जयसिंह जी की देख-रेख में होता था। बैतालपचीसी और सिंहासनबत्तीसी का हिन्दी अनुवाद सबसे प्रथम इसी समय में हुआ। आगे चलकर ई० स० १८०० में जब कलकत्ते में फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई, उसमें जो उल्थाघर क़ायम हुआ, उसमें इन्हीं पोथियों से बहुत से अनुवाद किये गये।

इस समय तक फ़ारसी बहुत कुछ मुग़ल परिवार में अपरिचित हो रही थी। अमीर लोगों को अपनी ही पड़ी थी, वे फ़ारसी को कहां तक पोसते। फ़ारसी के स्थान पर वे 'उर्दू' को पनपाने लगे। धीरे-धीरे फ़ारसी केवल शिक्षा की भाषा हो गई। उसको समझने के लिये अब कुछ पढ़ने की आवश्यकता पड़ने लगी। बेगमात फ़ारसी मर्सिए पढ़ना पसन्द नहीं करती थीं, वे चाहती थीं कि उन्हें हिन्दी में मर्सिये दिए जायं। लाचार फ़ज़ली को 'करबला-कथा' हिन्दी भाषा में लिखनी पड़ी। अपनी इस 'करबला-कथा' के सम्बन्ध में नवाब फ़ज़ल अलीखां 'फ़ज़ली' लिखते हैं—

लेकिन मानें उसके (वाक़आ शहादत शाह करबला) औरतों की समझ में न आते थे और फ़िक़रात पर सोज़ व गदाज़ इस किताब मज़कूरा के बसबबलुग़ात फ़ारसी उनको न रुलाते थे। अक्सर औक़ात बादेकिताबख़्वानी यह सब कहतीं कि सदहैफ़ व सद हज़ार अफ़सोस जो हम कमनसीब इबारत फ़ारसी नहीं समझते और रोने के सवाब से बेनसीब रहते हैं। ऐसा कोई साहबेशऊर होवे कि किसी तरह मिनबअन हमें समझावे और हम से बेसमझों को समझाकर रुलावे। मुझ अहक़ारे अहक़र की ख़ातिर में गुज़रा कि अगर तरजुमा इस किताब व रंगीन इबारात और हुस्ने इस्तआरात हिन्दी क़रीबुलफ़हम और आम्वाम मोमनीन व मोमनात कीजिए तो बड़ा सवाब लीजिए"। (मुग़ल और उर्दू)

मुहम्मदशाह के बाद उनका पुत्र अहमदशाह गद्दी पर बैठा। यह एक स्त्रैण पुरुष था और राजकाज के योग्य न था। दिन रात रंग महल में रहता था। इसकी आँखें फोड़ दी गईं, और कैद कर दिया गया। यह ६ साल बादशाह रहा। इस ने भी हिन्दी रचनाएं कीं—

घटानें छोड़ी लटा बूंदन की अब कहाँ जाऊँ माई।
बिजुरी चमके कोयल कुहुक कुहुक डरावे
रंग रस भरे 'अहमदसा' को देखरी मेरो ध्यान बटावै।

इसके बाद सुलतान अज़ीज़ुद्दीन आलमगीर सानी बादशाह हुआ। पर ५ ही वर्ष बाद मार डाला गया। इसके बाद शाहजहांसानी और उसके बाद मिर्ज़ा जवाँबख्त बादशाह बना। पीछे अहमदशाह अब्दाली ने उसे हटाकर अलीगोहर को शाहे आलम सानी के नाम से बादशाह बनाया। उसने भी हिन्दी को आश्रय दिया। उसकी गद्दीनशीनी के जश्न पर मोहम्मदशाह 'अदारंग' ने गाया—

हिन्द में आनन्द भयो कोटि दुरजन गए बैठे तख्त वली आलमगीर सानी।
बाजे निशान फहरात सुने गढ़पति फरर नई गई धाक उर हुकुम मानी।
चले चहुं ओर को ते मिलन को जोर जोर आगे चहुं डोलादार सुघर रानी।
अदल बदलो उन सपत अदारंग कहां लग कहूँ जाके कादर करीम की मेहरबानी।

अज़ीज़ुद्दीन की भी एक रचना सुनिए:—

खुलेतोकों जब तेहनकों सवार।
ग्रीष्म भरी ऋतु की प्यास बुझावो दर्शो लगावो वार।
निधि की ऋद्धि सिद्ध हो तब हीं के जो बुझै हैं अहङ्कार।
बारह हैं बाट अठारह हैं पैंडा और चालैं हैं हज़ार॥
तू चल गुरु की बताई चाल याही ते उतरेगो पार।
अब तू रङ्क कर रङ्क रहो जो न करत तकरार॥
जाकों जाको सत्रह सोलह है कौन करे पिय को प्यार।
युग युग जिए 'अजीजुद्दीन' ऊपर उठना है एक बार॥

मुन्शी करीमुद्दीन का बादशाह शाहआलम के विषय में कहना है कि बादशाह की तसनीफ़ में कवित्त और दोहरे भी बहुत हैं। परन्तु उनकी प्राप्ति नहीं हुई है। हां उनके एक गीत को सुनिए—

अब तुम जागो क्यों न मेरे मीत,
पियरव हमारी प्रीत तुम सन लागी।
नींद के माते साह आलम सुरजनुमा,
भवनुमा सगरी रैन रंग रस पागी॥

आलम के बाद उनके बेटे अकबर सानी बादशाह हुए। और उनके बाद अन्तिम बादशाह बहादुरशाह सानी हुए। ये 'ज़फ़र' नाम से कविता करते थे। इनकी हिन्दी कविता के उदाहरण देखिए—

सुन री सहेली मोरी पहेली
बाबल घर मैं रही अलबेली, मात-पिता ने लाड़ से पाला।
समझा मुझे घर का उजियाला, एक बहिन थी एक बहनेली।
यों ही बहुत दिन गुड़ियां खेली, कभी अकेली कभी दुकेली।
जिससे कहा चल मेला दिखा ला, उसने उठाकर गोद में लेली।
कुछ कुछ मोहि समझ जो आई, एक जा ठहरी मोरी सगाई।
आवन लागे बाह्मन नाई, कोई ले रुपैया कोई ले धेली।
ब्याह का मोरे समां जब आया, तेल चढ़ाया मंढ़ा छबाया।
सालू सूहा सभी पिन्हाया, मेंहदी से रंग दिए हाथ हथेली।
सासुरे के लोग आए जो मेरे, ढोल दमामे बजे घनेरे।
सुभ घड़ी सुभ दिन हुए जो फेरे, सैंया ने मोहि साथ में लेली।
आए बराती सब रस रंग के, लोग कुटुंम के सब हँस हँस के।
चाहत थे सब घर से निकले, और के घर में जाय धकेली।
लेके चले पी साथ जब अपने, रोवन लागे फिर सब अपने।
कहा कि तू नहीं बस की अपने, जा बच्ची तेरा दाता है बेली।
सखी, पिया के साथ गई मैं, ऐसी गई फिर वहीं रही मैं।
का से कहूँ दुख हाय दई मैं, सैंया ने मोरी बांह गहेली।
सास जो चाहे सोई सुनावै, ननद भी बैठी बात बनावे।
क्या करूं कछु बन नहीं आवे, जैसी पड़ी मैं वैसी ही झेली।
जिया बियाकुल रोवत अंखियां, कहां गई सब संग की सखियां।
शौक रंग गुड़ियां ताक पै रखियां, ना वो घर है ना वो हवेली।

अध्याय छब्बीसवाँ

अलङ्कृत-काल

ईस्वी सन् १६२३ से १८३३ तक—२१० वर्ष

अलंकृत साहित्य की यह धारा आमूल साहित्यिक परम्परा थी। रस और अलङ्कार इस धारा के दो कूल थे। इसमें राधा और कृष्ण को नायक और नायिका के पद पर आसीन करके उन्हें शृङ्गार रस के ही आलंबन के रूप में ग्रहण किया गया। नायक-नायिका का यह रूपक यद्यपि नया न था, परन्तु इस परम्परा में

नवीन बात यह थी कि वर्ण्य-विषय कृष्ण या राधा का चरित्र न हो कर नायक नायिका भेद ही था। इस लिये इस परम्परा में रस-विवेक उतना ही रहने पाया जितना नायक-नायिका भेद के लिये पर्याप्त समझा गया। इस परम्परा में एक ध्यान देने योग्य बात यह थी कि इस धारा का कवि-समुदाय साहित्य की सृष्टि कर रहा था—साहित्यशास्त्र की नहीं। उसका मुख्य लक्ष्य काव्य-रचना ही था—काव्य शास्त्र का विवेचन नहीं। इसी लिये शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से तो यह धारा सामान्य ही रही, परन्तु उदाहरणों की सरसता और काव्योचित उदाहरणों की बहुलता में यह असाधारण हो गई। इस धारा के कवियों ने कवित्त और सवैया छन्दों ही को ख़ास तौर पर अलंकृत किया है।

ईस्वी १९ वीं शताब्दी के आरम्भ से इस धारा का ह्रास होने लगा और कविता का स्थान रूढ़िवाद लेने लगा। मध्यशताब्दी तक पहुँचते २ उसका सम्पूर्ण ह्रास हो गया।

शृङ्गार का प्रारम्भ—

ईस्वी सन् १५४२ में 'कृपाराम' ने कुछ रस निरूपण किया था। उसी समय चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगार-सागर' नामक ग्रन्थ लिखा। नरहरि कवि के साथी करनेस कवि ने भी 'कर्णाभरण' 'श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' नामक ३ ग्रन्थ अलंकार सम्बन्धी लिखे। इस प्रकार रसनिरूपण और अलंकार-विस्तार का सूत्रपात हुआ।

ईस्वी सन् १६०० के लगभग केशवदास ने काव्यों के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। केशव का यह काव्य रीति का प्रथम सम्यक समावेश था। केशव में आचार्यत्व के भी गुण उपस्थित थे। परन्तु केशव की परंपरा हिन्दी में आगे नहीं चली। वह केशव से ५० वर्ष बाद एक भिन्न आदर्श को लेकर चली।

संस्कृत साहित्य शास्त्र में भी अनेक परम्पराएँ चली आती थीं। इनमें भामह और उद्भट की परम्परा प्राचीन थी और आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ की उत्तरकालीन। भामह और उद्भट के काल में सम्भवतः साहित्यशास्त्र का पूरा विकास नहीं हुआ था। उनके काव्याङ्ग-निरूपण की यह पद्धति थी कि अलंकार और अलंकार्य भेद स्पष्ट नहीं हो पाया था। रस, रीति, अलंकार सभी को इन आचार्यों ने अलंकार ही कहा है। केशव ने भी इन्हीं आचार्यों का अनुसरण किया। अपनी कविप्रिया में उन्होंने भी रस रीति आदि सब को 'अलंकार' ही कहा है। हां, अलंकार के दो भेद 'सामान्य' और 'विशेष' करके सामान्य के

अन्तर्गत 'वर्ण्यविषय' और 'विशेष' के अन्तर्गत 'वास्तविक अलंकार' रख दिये हैं।

सन् १६५० के लगभग चिन्तामणि त्रिपाठी ने हिन्दी रीतिग्रन्थों मे अखण्ड परंपरा चलाई। उन्होंने उत्तरकालीन संस्कृत आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और आनन्दवर्धनाचार्य की रीति अपनाई। उन्होंने 'काव्यविवेक' 'कविकुलकल्पतरु' और 'काव्यप्रकाश' ये तीन ग्रन्थ लिखे, और सम्पूर्ण काव्याङ्ग का निरूपण किया। छन्दशास्त्र पर भी एक ग्रन्थ लिखा।

इसी प्रणाली पर हिन्दी में लक्षण ग्रन्थों के लिखने की परिपाटी चल गई। बहुत ग्रन्थ लिखे गये परन्तु शैली प्रायः सब की एक सी थी। वे प्रायः पहिले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखते और फिर उसके उदाहरण के रूप मे कवित्त या सवैया लिखते थे। यह हिन्दी में एक नवीन परिपाटी थी जो संस्कृत की प्राचीन और उत्तरकालीन परिपाटी से सर्वथा भिन्न थी।

कवि और आचार्य—

संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य भिन्न २ हैं। जो आचार्य हैं, वह कवि की रचना के अलंकारों और रस-व्यंजना की जांच पड़ताल करते हैं, कविता नहीं करते। परन्तु हिन्दी में कवि और आचार्य मिलकर एक हो गये।

अभेद का प्रभाव—

कवि और आचार्य के इस अभेद का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिये जितनी पर्यवेक्षण और सूक्ष्म-विवेचन की शक्ति दरकार थी उसका विकास इस में नहीं हो पाया। प्रायः कविजन एक ही दोहे में अपूर्व और अपर्याप्त लक्षण देकर प्रवृत्त हो गए। काव्याङ्गों पर ऊहापोह, तर्क-विवेचना, तथा नए सिद्धान्तों की आलोचना आदि कुछ नहीं हुआ। तब सब कुछ पद्य में ही लिखा जाता था, इस लिये वक्तव्य और भी संक्षिप्त और अस्पष्ट हो गया। हिन्दी कवियों ने चन्द्रालोक की यह सरल पद्धति पकड़ ली कि एक श्लोक या एक चरण में लक्षण कह कर बात समाप्त की। इसी से हिन्दी के सैंकड़ों कवि जिन्होंने लक्षण ग्रन्थ की परिपाटी पर रचनाएँ की, आचार्य कोटि में नहीं आ सके। और उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्य-शास्त्र का सम्यग् बोध करा भी न सके। शब्द शक्ति के विषय पर बहुत कम कवियों ने ध्यान दिया। इन कवियों ने दृश्य-काव्य का तो निरूपण ही नहीं किया। इस से हिन्दी-साहित्य-शास्त्र का स्वरूप अपूर्ण और अधूरा रहा। दूसरे उत्तर कालीन हिन्दी के लक्षण ग्रन्थों के निर्माताओं ने भी अपनी रचना-

सामग्री केशव के समान संस्कृत आचार्यों ही से ली । इससे वे न तो अलंकार ही का ठीक विवेचन कर पाए, न रसों ही का ।

केशवदास ने काव्याङ्गों का विस्तृत समावेश अपने 'काव्यनिर्णय' में किया । और अलंकारों को भी छोटे २ प्रकरणों में बांटा, पर वास्तव में वे उनका वर्गीकरण नहीं कर पाए । हां, केशवदास ने अन्त्यानुप्रास का विचार मौलिक किया । वह संस्कृत साहित्य में नहीं था ।

भूषण का 'भाविक छन्द' भी संस्कृत ग्रन्थों के 'भाविक' का ही एक परिवर्धित रूप था । अन्तर इतना रहा कि संस्कृत में 'भाविक' का सम्बन्ध 'कालगत' दूरी से है और इसका 'देशगत' से । केशव के 'अतिशयोक्ति' के ५ भेदों में ४ तो भेदों के भिन्न २ योग हैं, पांचवा 'संभावनातिशयोक्ति' संबन्धातिशयोक्ति ही है । देव का संचारियों के बीच 'छल' 'रसतरंगिणी' से ही अपहृत है, छल का अन्तर्भाव अवहित्था में हो जाता है ।

संस्कृत के बाद—

संस्कृत साहित्य में अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद आदिवाद हैं । इनका हिन्दी-साहित्य-शास्त्र में प्रचलन नहीं हुआ । इसका कारण यह था कि काव्याङ्गों का हिन्दी में स्वतन्त्र विवेचन नहीं हुआ । केवल केशव को हम 'अलंकारवादी' कह सकते हैं, क्योंकि उसने अलंकार की आवश्यकता ध्वनित की है, परन्तु अन्य रीति-कवियों ने किसी वाद का निर्देश नहीं किया । वे रस को ही काव्य को प्रधान वस्तु मान कर चले । महाराज जसवन्तसिंह ने 'चन्द्रालोक' के आधार पर 'भाषाभूषण' की रचना की । पर उसके अलंकार की अनिवार्यता वाले सिद्धान्त की परवा नहीं की । वास्तव में इन ग्रन्थों के कर्ता कवि थे, भावुक थे, उनमें कवित्व शक्ति तो थी—पर काव्याङ्गों का शास्त्रीय-पद्धति पर मौलिक निरूपण करने की क्षमता न थी । संक्षेप में वे कवि थे आचार्य नहीं ।

हिन्दी का रसोत्कृष्ट—

फिर भी उनके द्वारा इतना तो हुआ कि रसों और अलंकारों के अनगिनत उदाहरण इकट्ठे हो गए । विशेष कर शृङ्गार रस के । इन उदाहरणों की प्रचुरता और सरसता ने संस्कृत-साहित्य को भी पीछे छोड़ दिया । इन कवियों का अलंकारों की अपेक्षा नायिका भेद की ओर अधिक ध्यान रहा । और शृंगार रस की बहुत उत्तम मुक्तक रचना हुई । शृङ्गार रस का हिन्दी साहित्य में इतना विस्तार हुआ कि इसके एक २ अंग को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गए । और नायिका भेद के भीतर कवियों ने अपनी प्रतिभा के द्वारा शृङ्गार का पूरा वैभव प्रदर्शित किया ।

रस ग्रन्थ जो लिखे गए उन्हें हम नायिका भेद के ग्रन्थ ही कह सकते हैं। उसी की उनमें प्रधानता रही। अन्य रसों का तो गौण और अति सूक्ष्म विवेचन रहा। केवल 'नखशिख' पर ही न जाने कितने ग्रन्थ लिखे गए। उद्दीपन के रूप में षड्ऋतु-वर्णन पर भी अलग ग्रन्थ बने और विप्रलम्भ सम्बन्धी बारहमासे भी लिखे गये।

साहित्य विकास की बाधा—

इस प्रकार कवियों की वृत्ति एक शृङ्गार ही की ओर अधिक जाने से यह हुआ कि साहित्य का विकास रुक गया। प्रकृति की अनेक रूपता, जीवन की अन्य अभिव्यंजनाएं कवियों की दृष्टि पर नहीं चढ़ीं। शृंगार और नायिका-भेद ही साहित्य-शास्त्र का सार हो गया। इस समय जब कि व्रजभाषा सैंकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित और प्रौढ़ हो रही थी, उसके व्याकरण की व्यवस्था नहीं हुई जिस से भाषा की सफ़ाई भी नहीं हुई। और व्रजभाषा में 'भाषा-तत्व' के पूर्ण लक्षण प्रस्फुटित नहीं हुए, न शब्दों के रूप स्थिर हुए। कवि उन्हें तोड़ मरोड़ कर मनमाने ढंग पर काम में लाते रहे।

भाषा का मिश्रण—

व्रजभाषा और अवधी भाषा का मिश्रण प्रायः कवि करते रहे, यह भी भाषा सम्बन्धी गड़बड़ी का कारण है। सूर की व्रजभाषा में पूर्वी के प्रयोग जैसे—मोर, हमार, कीन, अस, जस इत्यादि, और बिहारी की भाषा में कीन, दीन आदि शब्द मिलते हैं। चूंकि साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण अधिकतर व्रजभूमि में नहीं हुआ इसलिए भी इन ग्रन्थों की व्रजभाषा में अवधी का मिश्रण होगया। केशव ने भाषा के इस मिश्रण का समर्थन किया। और तुलसी और गंग ने भी यही किया। यहां तक कि अरबी फ़ारसी के शब्दों का भी उन्होंने मिश्रण किया। रीतिकालीन कवि भी इस भाषा-मिश्रण से न बच सके। उन्होंने फ़ारसी काव्य के शब्दों का भी मिश्रण किया। कहीं २ तो 'खुसबोयन' जैसे विकृत और गंवारू शब्दों का प्रयोग किया गया। रसनिधि के 'रतनहजारा' में तो इश्क शायरी की पूरी सामग्री ही उठाकर भर दी गई। बिहारी भी फ़ारसी भावों के प्रभाव से न बच सके। पर उनके कौशल से रस भंग नहीं हुआ। इन रीतिकालीन कवियों को छन्द कवित्त और सवैये ही प्रिय रहे।

रीति या शृङ्गार—

जब हम इन सब साहित्य-शास्त्र की रचनाओं पर विचार करते हैं तो अनायास ही यह बिचार उठता है कि इन रचनाओं को हम रीति-रचना कहें या शृङ्गार की रचनाएँ। रीति कहने का अभिप्राय तो यह है कि उसमें सब रसों,

अलंकारों, शब्दशक्ति, नायक, नायिका, पिंगल आदि काव्य रीति अवश्य वर्णित हो। परन्तु हम देखते हैं कि रीति की सीमा में जितनी कृति समाविष्ट हैं, वे अधिकतर शृङ्गार की हैं, कुछ भक्ति और वीर रस की भी हैं। जिन्होंने नव रस का भी प्रतिपादन करना चाहा है, उन्होंने एक-एक उदाहरण देकर अन्य रसों से पीछा छुड़ाया है, मुख्य वर्णन शृङ्गार का किया है। केशव, देव, पद्माकर, दास आदि सभी आचार्यों की यही दशा है। भूषण ने निस्संदेह वीर रस का काव्य रचा है, पर उनकी अन्य रचनाओं का अभी पता नहीं चला। उनके शृङ्गार के फुटकर छन्द बहुत मिलते हैं जो रीति के पूरे क़ायदे कानून से निर्मित हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रीति के समस्त ग्रन्थों की छानबीन करने पर शृङ्गार की ही प्रधानता है। एक दो ग्रन्थ ही इसके अपवाद हो सकते हैं। भक्ति के ग्रन्थ भी सच पूछिए तो शृङ्गार से वंचित नहीं हैं।

रीतिकाल के बहिर्कवि—

रीतिकाल के कुछ कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने रीतिशास्त्र पर तो कोई ग्रन्थ नहीं लिखे, पर वे रीति के प्रतिनिधि-कवि माने जाते हैं। इनमें बिहारी प्रमुख हैं। पर उनकी सम्पूर्ण रचना को टीकाकारों ने शृङ्गार के आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव आदि के भेदोपभेदों में खतिया रखा है। फिर भी यह लक्षण रचनाओं से भिन्न हैं। अलबत्त रीतिबद्ध अवश्य हैं।

रीति-ग्रन्थकारों की शास्त्र-वर्णित सामग्री की योजना करने की सावधानी करनी पड़ती है। लक्ष्य-लक्षण का समन्वय भी करना पड़ता है। पर 'सतसई' 'हज़ारा' आदि लिखने वाले अपनी रचना स्वच्छन्दता से करते हैं। बन्धन ढीले होने से इनकी रचनाएं भी उत्कृष्ट होती हैं।

बिहारी ने यद्यपि अपनी सतसई लक्षण ग्रन्थ के रूप में नहीं लिखी, पर 'नख-सिख' नायिका-भेद, षड्ऋतु के अन्तर्गत उनके सब शृंगारी दोहे आजाते हैं। अनेक टीकाकारों ने दोहों को इस प्रकार साहित्यिक क्रम के साथ रखा भी है। इस में सन्देह नहीं कि दोहों की रचना करने के समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। अब यदि टीकाकारों की दृष्टि से इन बहिर्भूमि कवियों को देखा जाता है, तो आलम, ठाकुर, घनानन्द आदि को भी प्रतिनिधि कवि मानना पड़ेगा।

शृंगारकाल—

शृंगारकाल वास्तव में उन ग्रन्थों के रचना काल का बोधक है, जिन की राशि 'रीति' के नाम पर एकत्र हुई थी। परन्तु हम कह चुके हैं कि वे शृंगारी कवि थे, रीति का पल्ला सहारे के लिए पकड़े हुऐ थे। इन्होंने वास्तव में

संस्कृत शास्त्र की सारी जुटी जुटाई सामग्री हिन्दी पद्यों में ढाल दी है। जहां यह आवश्यक था कि संस्कृत के आचार्यों की भांति वे प्रत्येक विषय के विमर्श में लगते, केवल दोहों में लक्षण देकर ही काम न चलता करते वहां हिन्दी के कवियों ने यह किया है कि काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यादर्श, रसतरंगिणी, रसमंजरी, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, वृतरत्नाकर में से एक या दो ग्रन्थ सामने रखकर उनके लक्षणों का पद्यबद्ध बहुधा अस्पष्ट संस्कृत उद्धरण से मिलता जुलता उदाहरण तैयार कर दिया है। उदाहरण के लिये केशवदास की रामचन्द्रिका ही में प्रसन्नराघव के 'प्रियतम-पदैरङ्कितान्भूमिभागान्' का अनुवाद किया गया है—'प्यौपद-पंकज ऊपर'। अलङ्कार की सीमा में न होने से इसकाल के उत्कृष्ट शृंगारी कवि, आलम, ठाकुर, घनानन्द, बोधा, द्विजदेव आदि की उत्कृष्ट रचनाओं को पृथक् करने की आवश्यकता हुई।

मिश्रबन्धुओं ने इस अलङ्कार के २१० वर्ष के काल को निम्नलिखित रीति पर तीन भागों में विभक्त किया है।

१—मुग़ल प्रभावित काल सन् १६२३ ईस्वी से १६६८ तक ४५ वर्ष।

२—हिन्दू पुनरुत्थान काल सन् १६६८ से १८१८ ई० तक १५० वर्ष।

३—ब्रिटिश प्रभावकाल सन् १८१८ ई० से १८३३ तक १५ वर्ष।

मुग़ल प्रभावित अलंकार काल—ई० स० १६२३ से १६६८ तक ४५ वर्ष।

इस काल में सूर और तुलसी के प्रभाव से व्रज हिन्दी और हिन्दूधर्म दोनों ही का अच्छी तरह मान हुआ। इससे प्रभावित होकर सभी बड़े आदमियों में उसका प्रचार हो गया। इस से हिन्दी साहित्य में शृङ्गार का अंकुर जो सौरकाल ही में उग आया था और तुलसीकाल में प्रस्फुटित हुआ था मुग़लप्रभाव-विस्तार के साथ ही दर्बारी विलास का प्रकाश पा, और अरबी फ़ारसी के भावों से सिंचित होकर समृद्ध हो चला। शृङ्गार की इस परम्परा ने जो धर्म का दामन पकड़ा था वह बहुत कुछ तो सौरकाल ही में छूट चुका था, केवल नाम मात्र को कृष्ण का नाम लेकर शृङ्गारी कवि अभक्ति भाव से कोरे शृङ्गार का ही वर्णन करने लगे थे। यहाँ तक कि सेनापति ने पहिले पहिल प्रतिमा की निन्दा की। इस मुग़ल प्रभावित अलंकृत काल के ४५ वर्षों में मिश्रबन्धुओं ने १८५ कवियों का होना लिखा है, जिन में सेनापति, ध्रुवदास, व्यासजी, गुरु रामदास, और प्राणनाथ प्रमुख भक्त-कवि हैं। सेनापति, विहारीलाल और मतिराम महाकवि हैं। तथा सुन्दरदास, पुहुकर, चिन्तामणि, बनवारी, हरिनाथ, और कवीन्द्राचार्य मुग़लदरबार से सम्बन्धित हैं, और चिन्तामणि और तोष आचार्य कहे गये हैं। मुसलमान सुकवियों में ताज है। अन्य कवियों में मलूकदास, जायसी, बेनी, नीलकण्ठ, नरहरि दास, मरमी, जयराम, भीष्म, मण्डन और सबलसिंह प्रमुख हैं। कवि

राजाओं में जसवन्तसिंह, परशुराम, जगतसिंह, शिवाजी, शम्भूजी, रावरतन और अमरसिंह हैं।

हिन्दु पुनरुत्थान प्रभावित अलंकार काल—ई० स० १६६८ से १८१८ तक १५० वर्ष—

इस काल में मुग़ल साम्राज्य डगमगा गया था। राजस्थान के राजसिंह प्रमुख राजपूत, बुन्देलखण्ड के छत्रसाल, महाराष्ट्र के शिवा जी तथा पंजाब के सिखों ने हिन्दुओं की पुनरुज्जीवित शक्तियों का प्रदर्शन किया था।

इस काल में मिश्र-बन्धुओं की खोज के अनुसार १०१४ कवि हुए। जिनमें भगवान हित, अक्षर अनन्य, रामप्रिया शरण, सीताराम, जानकी रसिक शरण, शिवनारायण, ललित किशोरी, चाचा वृन्दावन, रसिक अली, जगजीवनदास, दरिया साहेब, रसिक गोविन्द, जतनलाल तथा ललकदास अच्छे भक्त कवि हुए। कलानिधि ने धार्मिक विषयों पर उत्कृष्ट रचना की। शिवनारायणी सम्प्रदाय के संस्थापक गाजीपुर निवासी शिवनारायण ने १३ ग्रन्थ लिखे। सत्यनामी पन्थ के नेता जगजीवनदास, दरिया साहेब, तथा रसिक गोविन्द भी अच्छे कवि हुए। ईश्वरीप्रसाद, छत्रसिंह कायस्थ, जोधराज, नूरमुहम्मद, गुमानमिश्र, व्रजवासीदास, मंचित, मधुसूदनदास, सरयूराम, नवलसिंह, हरनारायण, मनियार, क्षेमकरण, मून, गणेश, और हरनाथ इस काल के अच्छे कथा प्रासङ्गिक कवि हैं। गोकुल-नाथ, गोपीनाथ, और मणिदेव ने इसी काल महाभारत का महत् अनुवाद किया। राजस्थान के श्रेष्ठ ऐतिहासिक नेणसीमूता, कुम्भकरण, और केवलराम इसी काल के इतिहास लेखक हैं। राजाओं में छत्रसाल, चतुरसिंह, महाराणा जयसिंह, गुरु गोविन्दसिंह, राजसिंह (कृष्णगढ़) अजीतसिंह (मारवाड़) नागरीदास, पंचम-सिंह (पन्ना) बहादुरसिंह (कृष्णगढ़) गुरुदत्तसिंह (अमेठी) हितराम कृष्ण (कालिंजर) शिवदास (जयपुर) लखपति (महाराव कच्छ) महादजी सिंधिया, रामसिंह (नरवलगढ़) दौलतराव सिंधिया, (ग्वालियर) विक्रमादित्य (चरखारी) जसवन्तसिंह (तेरबां) मानसिंह (मारवाड़) सुन्दरसिंह (बनारस) जैसिंह (रीवां) बलवानसिंह (बनारस) भगवन्तराय खींची (असोथर) अच्छे कवि हुए। जिनमें नागरीदास और गुरुदत्तसिंह 'भूपति' (अमेठी नरेश) की काव्य रचना उत्कृष्ट है। इन राजाओं के अनगिनित आश्रित कवि थे।

शृङ्गारी कवियों में रामजी, ऋषिनाथ, यशोदानन्दन, गंजन, शिव, किशोर, दत्त, पुखी, शिवनाथ, तीर्थराज, देवकीनन्दन, थान, भौन, और बेनीप्रवीन मुख्य हैं। सुकवियों में नेवाज, पृथ्वीसिंह, बैताल, मोहन भट्ट, आलम, कवीन्द्र, घनानन्द, कुमार, कृष्ण, हंसराज, दत्त, ठाकुर, बोधा,

रामचन्द्र, चन्दन, जनगोपाल, भंजन और घनश्याम गणनायोग्य हैं। स्त्री लेखिकाओं में कविरानी, शेख, प्रियासखी, बनीठनी जी, ब्रजदासी, सहजोबाई, सुन्दर कुँवरि और छत्र कुँवरि के नाम प्रमुख हैं। मुसलमान कवियों में रहमतुल्ला, रहमान, मीर, अहमदुल्ला, महबूब, प्रीतम, याकूब, आज़म, रसलीन, और आलम के नाम आदर से लेने योग्य हैं। रसलीन आचार्य हैं। अहमद बादशाह के राजकवि बखत राठौर बखतेश भी सुकवि हैं। आचार्य कवियों में कुलपति, सुखदेव, देव, कालिदास, सूरतिमिश्र, श्रीपति, दास, सोमनाथ, मनीराम, गुरुदीन, बलवानसिंह (राजा) रघुनाथ, दूलह, बैरीसाल, रतन, भूषण और जगतसिंह (राजा) प्रमुख हैं। सुखदेव मिश्र और मनीराम मिश्र पिङ्गलाचार्य हैं। श्रीपति गुणदूषणाचार्य। सोमनाथ और देव पदार्थ निर्णय करने वाले। देव, कुलपतिमिश्र और दास रस एवं भाव भेदों के आचार्य हैं। राजा बलवानसिंह चित्रकाव्य के ज्ञाता हैं। दूलह, रघुनाथ वैरीसाल और भूषण अलंकाराचार्य हैं। अन्य अङ्गों के भी कई आचार्य हैं।

ब्रिटिश प्रभावकाल; सन १८१८ से १८३३ तक, १५ वर्ष—

इस १५ वर्ष के अल्पकाल में १२० कवियों की गणना मिश्रबन्धुओं ने की है। इस काल के वीर कवि पद्माकर और चन्द्रशेखर बाजपेयी हैं। नायिका भेद के रचयिता पद्माकर, माहराज, रामसहायदास, और ग्वाल हैं। आचार्य प्रतापसाहि, तथा बाबा दीनदयालगिरि, और गुरुदत्त शुक्ल हैं। संग्रहकार श्रीधर तथा द्विज कवि मन्नालाल, और भक्त महन्त जुगलान्य शरण हैं।

अध्याय सत्ताईसवाँ

रीति प्रस्तोता केशवदास; ई० स० १५५६—

ये बलभद्र मिश्र के छोटे भाई थे, और ओरछा के महाराज इन्द्रजीतसिंह की सभा में रहते थे। ये अपने समय के अधिकृत साहित्य-मर्मज्ञ माने जाते हैं। इनके समय से कुछ ही प्रथम रस-अलंकार आदि काव्यों पर ग्रन्थ लिखने प्रारम्भ हुए थे। केशवदास संस्कृत के पण्डित थे। हम कह चुके हैं कि इनसे पूर्व कृपाराम ने 'रसनिरुपण' तथा चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृङ्गार सागर' ग्रन्थ लिखा था। तथा अकबर के दरबारी कवि नरहरि के सहयोगी करनेस ने 'कर्णाभरण' 'श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' नामक तीन ग्रन्थ लिखे थे जो अलंकार सम्बन्धी थे। परन्तु अभी तक किसी ने संस्कृत की पद्धति पर हिंदी में काव्याङ्गों का परिचय नहीं

कराया था। केशवदास ने यह किया। ये अलंकार को काव्य में प्रमुख वस्तु समझते थे। अपनी इसी मनोवृत्ति के अनुसार इन्होंने 'भामह, उद्भट और दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों के पद-चिन्हों पर कदम रखा जो रसरीति सब कुछ अलंकार के अन्तर्गत ही समझते थे। मम्मट, आनन्दवर्धनाचार्य और विश्वनाथ को जो साहित्य शास्त्र को अधिक व्यवस्थित और समुन्नत रूप देने के पक्ष में हैं—की इन्होंने उपेक्षा की। अलंकार के सामान्य और विशेष दो भेद करके इन्होंने उसी के भीतर वर्णन के विषयों को भी ले लिया। 'अलंकार' शब्द का प्रयोग भी इन्होंने व्यापक अर्थ में ही किया। इन्होंने दण्डी के 'काव्यादर्श' से अलंकारों के लक्षण और अमर के 'काव्य-कल्पलता-वृत्ति' से तथा केशव मिश्र के 'अलंकार-शेखर' से अनेक प्रमुख बातें ली हैं।

लक्षण ग्रन्थों की बाद की परंपरा—

केशव से ५०।६० वर्ष बाद जो लक्षण ग्रन्थों की परंपरा हिन्दी में चली वह केशव के मार्ग पर नहीं चली। जहां तक काव्य के स्वरूप का सम्बन्ध था—वह रस की प्रधानता मानने वाले काव्य-प्रधान और साहित्यदर्पण के पथ पर रही। पर अलंकारों के निरूपण में उस ने अधिकतर चन्द्रालोक और कुवलयानन्द का ही अनुसरण किया। इसी से केशव की अलंकार परंपरा हिन्दी में नहीं चली। इन्होंने 'कवि-प्रिया' अलंकारों पर और 'रसिक प्रिया' रसों पर लिखी।

केशव की सामग्री—

केशव की सारी सामग्री संस्कृत ग्रन्थों से ली हुई है। केवल नामों में थोड़ा हेर-फेर है। उपमा के जो जो भेद उन्होंने लिये हैं, उन में १५ दण्डी के ज्यों के त्यों हैं। ५ केवल नाम भर बदल दिये हैं। शेष 'विपरीतोपमा' और 'संकीर्णोपमा' दो रह गए। सो इन में विपरीतोपमा को तो उपमा ही नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आक्षेप के नौ भेदों में ४ दण्डी के, पांचवां 'मरणक्षेप' दण्डी का मूर्छाक्षेप है। कविप्रिया का 'प्रेमालंकार' दण्डी के 'प्रेयस' का नामान्तर-मात्र है। उत्तर अलंकार के चारों भेदों को दण्डी से लेकर केशव ने उन के दूसरे अर्थ कर लिये हैं।

केशव के ग्रन्थ—

केशव के रचित ७ ग्रन्थ मिलते हैं। १—कविप्रिया २—रसिकप्रिया ३—राम चन्द्रिका ४—वीरसिंह-देवचरित ५—विज्ञानगीता ६—रतन बावनी ७—जहांगीरजसचन्द्रिका।

केशव की रचना—

केशव की रचना में पाण्डित्य है पर भावुकता नहीं। उन में रचना-कौशल है पर भाषा पर अधिकार नहीं। उन्होंने संस्कृत काव्यों की जो उक्तियां अपनी रचनाओं में भरी हैं, भाषा की असामर्थ्य ही से वे उन्हें सम्पूर्ण रीति पर स्पष्ट नहीं कर सके। उनकी भाषा में पदों और वाक्यों की न्यूनता है। फ़ालतू शब्दों की भरती है, इस से उनकी भाषा प्रवाह और प्रसाद गुण से रहित लद्दड़ हो गई है।

इसी से उनकी काव्यशैली कठिन होगई है, कुछ मौलिक भावनाओं की गम्भीरता के कारण नहीं। 'रामचन्द्रिका' में प्रसन्नराघव' हनुमन्नाटक, अनर्घ-राघव, कादम्बरी, नैषध की अनेक उक्तियों के अनुवाद हैं, जो बहुधा स्पष्ट नहीं हैं। जहां समासबहुला भाषा नहीं है, वहां कुछ ठीक है।

केशव के प्रबन्ध-काव्य—

केशव ने दो प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं। १—वीरसिंहदेव चरित २—रामचन्द्रिका। पहिला तो काव्य नहीं कहा जा सकता। उसमें दानलोभ के सम्वाद ही अधिक हैं, चरित्र कम। 'रामचन्द्रिका' अवश्य प्रसिद्ध ग्रन्थ है, परन्तु उसमें उक्ति वैचित्र्य और क्रीड़ा प्रेम ही ध्वनित है, जीवन के मर्म का विवेचन कम। वास्तव में वे प्रबन्ध-रचना में सफल नहीं हुए। प्रबन्ध-रचना में तीन बातें प्रमुख हैं। १—सम्बन्ध निर्वाह, २—कथावस्तु का मर्म स्पर्श, ३—दृश्यों की विशेषता। केशव तीनों ही का निर्वाह नहीं कर सके। उनकी रामचन्द्रिका अलग २ वर्णनों का संग्रह जैसी प्रतीत होती है। वर्णनप्रवाह समीचीन न होने के कारण ही उन्होंने नाटकीय पद्धति पर वक्ता का नाम देकर भाषण कराए हैं। राम कथा के प्रति केशव की धर्म-भावना या कोमल कवि भावना भी नहीं प्रतीत होती, उन्हें एक उदात्त-चरित्र की आवश्यकता थी सो उन्होंने रामचरित्र को लेकर रामचन्द्रिका प्रबन्धकाव्य लिख डाला, सीता और राम को बनवास जाते हुए देखकर लोगों के मन में सहानुभूति या सात्विक अनुराग न होकर संदेह होता है। वे कहते हैं—

"किधौं मुनि शाप हत, किधौं ब्रह्म दोषरत, किधौं कोऊ ठग हो,,

केशव प्राकृतिक दृश्यों में कोई दिलचस्पी ही नहीं लेते। इससे दृश्यों की विशेषता उनकी रचनाओं में ही नहीं। पंचवटी और प्रवर्षणगिरि ऐसे मनोहर स्थानों को स्मरण करके भी केशव पुलकित नहीं होते वे केवल श्लेष का एक खिलवाड़ सा करते हैं। सादृश्य या साधर्म्य की दृष्टि से दृश्य-वर्णन में जो उपमाएं, उत्प्रेक्षाएं आदि लाई गई हैं, वे सौन्दर्य-भावना को नहीं, कौतूहल को उत्पन्न करती हैं, यों कहीं कहीं सौन्दर्य सुषमा भी है। परन्तु वास्तव में परम्परा से आते हुए नियत

विषय युद्ध, सेना, उपवन, राजदर्बार, शृङ्गार, वीर रस आदि को अलंकारों से लाद लूद कर ही उन्होंने प्रबन्धकार्य पूर्ण किये हैं। बहुत वर्णन अप्रासंगिक भी हैं। जैसे भरत की चित्रकूट-यात्रा के समय सेना की धूमधाम का बढ़ा चढ़ा वर्णन। उनके बीच-बीच में उपदेश भी बड़े रूखे लगते हैं, जैसे राम का बनगमन के समय माता कौशल्या को पातिव्रत का उपदेश। जो हो, रामचंद्रिका में हमें जीवन के गम्भीर चिन्ह नहीं दीख पड़ते, वहां तो दर्बारी ठाठ-बाठ, नगरों की सजावट और चहल-पहल का ही बोलबाला है। फिर भी उन्हें सम्वादों में अधिक सफलता मिली है। संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह और राजनीति के दांवपेच, तथा वाक्-पटुता का अच्छा आभास व्यक्त हुआ है। अंगद-रावण-संवाद खूब बन पड़ा है।

रसिक-प्रिया—

यह रचना अपेक्षाकृत प्रौढ़ है। पदविन्यास अच्छे हैं। उदाहरणों में वाग्वैदग्ध्य के साथ सरसता भी काफ़ी है। 'विज्ञानगीता' प्रबोधचन्द्रोदय के ढंग की पुस्तक है। रतनबावनी वीर-रस का अच्छा काव्य है, इसमें इन्द्रजीत के बड़े भाई रत्नसिंह की वीरता छप्पयों में वर्णित की गई है।

अब केशव के उदाहरण देखिए—

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय,
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेम मय।
परिपूरन सिन्दूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ़्यो मानिक मयूखपट।
कै सोनित-कलित कपाल यह, किल कापालिक कालको,
यह ललित लाल कैधौं लसत, दिग-भामिनी के भालको।

(रामचन्द्रिका)

कैटभ सो, नरकासुर सों, पल में मधुसों, मुरसो जिन मार्‍यो।
लोक चतुर्दश रक्षक केशव पूरन वेद पुरान विचार्‍यो।
श्री कमला-कुच कुंकुम-मंडन पंडित देव अदेव निहार्‍यो।
सोकर मांगन को बलि पै करतारहु ने करतार पसार्‍यो।

अध्याय सत्ताईसवाँ

लक्षणकार चिन्तामणि और जसवन्तसिंह

केशव की कविप्रिया—

केशव ने 'कविप्रिया' लिखकर काव्य-रचना का मार्ग सुगम कर दिया। कवि-शिक्षा की समस्त आवश्यक सामग्री को लेकर 'कविप्रिया' लिखने वाले हिन्दी साहित्य के प्रथम लक्षणकार केशव ही हैं। बहुत दिनों तक उनका प्रभाव हिन्दी में रहा भी, परन्तु उत्तरकालीन लक्षणकार उनके अनुगामी नहीं हुए। इसकी चर्चा हम यथास्थान कर चुके हैं।

हिन्दी कवियों का ध्यान मुक्त रचना की ओर ही अधिक था। इसलिये उसमें प्रकृत कल्पना की अपेक्षा उड़ान भरने से अधिक चमत्कार प्रकट होता है। फ़ारसी साहित्य के सम्पर्क से हिन्दी की उड़ान को और पर लगे। ये कविताएं प्रायः दर्बारदारी के लिए होती थीं और शेअरों और गजलों की उड़ानों की प्रायः प्रतिद्वन्द्विता की जाती थी। गद्य का विकास न होने से लक्षण-ग्रन्थ पद्य में लिखे गए और लक्षण और लक्ष्य दोनों पद्य ही में प्रस्तुत हुए।

केशव से ५० वर्ष बाद दो प्रमुख लक्षणकार हुए जिनकी परंपरा आगे हिन्दी में चली—ये थे चिन्तामणि त्रिपाठी और जसवन्तसिंह महाराज।

चिन्तामणि त्रिपाठी; जन्म ई० सन् १६१०—

कानपुर के निकट तिकवांपुर के निवासी थे। ये चार भाई थे। चिन्तामणि भूषण, मतिराम और जटाशंकर। चारों कवि थे। प्रथम तीन अधिक यशस्वी हुए। भूषण इनके भाई न थे ऐसा सन्देह कुछ लोग करते हैं। ये बहुत दिन तक नागपुर में भौंसला मकरन्दशाह के यहां रहे। उन्हीं के नाम पर 'छंदविचार' लिखा जो छन्दशास्त्र का बड़ा ग्रन्थ है। इसके सिवा 'काव्यविवेक' 'कविकुल कल्पतरु' 'काव्यप्रकाश' और रामायण ये ग्रन्थ इनके और मिलते हैं। इनकी रामायण कवित्त तथा विविध छन्दों में है। रुद्रसाही सोलंकी, शाहजहां बादशाह और जैनदी अहमद ने इन्हें अनेक बार दान दिए। इनकी भाषा शुद्ध है। एक उदाहरण—

> **येई उधारत हैं तिन्हैं जे परे मोह-महोदधि के जलफेरे।**
> **जे इनको पल ध्यान धरै मन, ते न परैं कबहूं जम घेरे।**
> **राजै रमा-रमनी उपधान अभै बरदान रहै जन नेरे।**
> **हैं बलभार उदण्ड भरे हरि के भुजदण्ड सहायक मेरे।**

जसवन्तसिंह; जन्म ई० सन् १६२७—

जोधपुर के विख्यात वीर महाराज थे। इनका 'भाषाभूषण' अलंकार का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसे इन्होंने आचार्यरूप में लिखा है कविरूप में नहीं। यह ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' की छाया पर बना है। उसी की प्रणाली का इस में अनुसरण किया गया है। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। इन्होंने पद्य में और भी ग्रन्थों की रचना की है जिन में—१. अपरोक्ष-सिद्धान्त, २. अनुभवप्रकाश ३. आनन्द विलास, ४. सिद्धान्तबोध, ५. सिद्धान्तसार, ६ प्रबोधचन्द्रोदय नाटक आदि हैं।

इनकी अलंकार-निरूपण-पद्धति इस प्रकार है।

अत्युक्ति—**अलंकार अत्युक्ति यह, बरनत अतिसय रूप**
जाचक तेरे दान तें भए कल्पतरु भूप।

इनके 'भाषाभूषण' पर तीन टीकाएं हुई हैं—पहली 'अलंकार रत्नाकर, बंसीधर की सन् १७३६ में, दूसरी प्रतापसाहि की और तीसरी गुलाब कवि की भूषणचन्द्रिका।

मतिराम, ई० स० १६१८—

ये चिन्तामणि और भूषण के भाई प्रसिद्ध हैं तथा रीति-पद्धति के प्रमुख कवि हैं। ये बूंदी के महाराव भावसिंह के आश्रित रहे। वहीं अपना 'ललितललाम' अलंकार ग्रन्थ बनाया। इसके बाद इन्होंने अपना 'छन्दसार' ग्रन्थ महाराज शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित किया। इनका 'रसराज' ग्रन्थ समर्पित नहीं है। इनके सिवा इनके दो ग्रंथ और हैं। १ साहित्यसार, २ लक्षण-शृङ्गार। विहारी के ढंग पर इन्होंने मतिराम सतसई भी बनाई थी जो अब मिल गई है। मतिराम की रचना सरस, स्वाभाविक और शब्दाडम्बर से रहित है। भाव और भाषा में कहीं कृत्रिमता नहीं है। अनुप्रास अलबत्त कहीं २ दीख पड़ता है परन्तु वहां भी अनावश्यक शब्दों की भरती नहीं है, शब्द और वाक्यों का प्रयोग भाव-व्यंजना में ही प्रयुक्त हुआ है।

एक उदाहरण इनकी रचना का देखिए—

दोऊ अनन्द से आंगन मांझ बिराजैं आसाढ़ की सांझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई।
आई उनै मुँह माँहि हँसी कहि तिय पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आंखिन तें गिरी आँसु की बूंद, सुहास गयो उड़ि हंस की नांई।

श्रीपति; ई० स० १७२१—

ये कालसी के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होंने ७ ग्रन्थ रचे। १ काव्य-सरोज, २ कविकल्पद्रुम, ३ रस-सागर, ४ अनुप्रास-विनोद, ५ विक्रम-विलास, ६ सरोज-कलिका, ७ अलंकार-गंगा। काव्यसरोज प्रौढ़ ग्रन्थ है। वर्णन चमत्कारिक है।

बेनी प्रवीण; ई० स० १८१८—

ये लखनऊ के वाजपेयी थे और लखनऊ के बादशाह नसीरउद्दीन गाजी हैदर के दीवान, राजा दयाकृष्णकायस्थ के पुत्र, नवलकृष्ण उर्फ़ ललन जी के आश्रय में रहते थे। इन्होंने 'नवरसतरंग' नामक रस ग्रन्थ बनाया। पहिले 'श्रृङ्गारभूषण' नामक ग्रन्थ बना चुके थे। ये नानाराव पेशवा के पास विठूर भी गये थे और उन के नाम पर 'नानाराव प्रकाश' लिखा था, जो अलंकार का बड़ा ग्रन्थ कविप्रिया के ढंग पर था। इनका नवरसतरंग उत्तम ग्रन्थ है। उसमें नायिका भेद के उपरान्त रस-भेद, भाव भेद का संक्षेप में निरूपण किया गया है।

अध्याय अट्ठाईसवाँ

सम्पूर्णकवि देव, जन्म ई० स० १६७४

इनका पूरा नाम देवदत्त था। ये इटावा निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। थोड़ी ही आयु से ये उत्कृष्ट कविता रचने लगे थे। ये आश्रयदाता की खोज में देश भर घूम फिरे पर कोई गुणग्राही आश्रयदाता नहीं मिला। अपने समस्त आश्रय-दाताओं में इन्होंने केवल राजा भोगीलाल का वर्णन श्रद्धा से किया है। उन्हीं के लिये 'रस-बिलास' ग्रन्थ तैयार किया। रीति के प्रतिनिधि कवियों में सब से अधिक ग्रन्थ इन्हीं ने रचे। कोई इन्हें २५ ग्रन्थों का और कोई ७२ ग्रन्थों का रचयिता कहते हैं। इन्होंने 'भाव-बिलास' और 'अष्टयाम' तैयार करके औरंगज़ेब के बड़े पुत्र आज़मशाह को सुनाए। पर उसने देव का कोई विशेष आदर नहीं किया। फिर देव ने भवानीदत्त वैश्य के नाम पर 'भवानी-विलास' की रचना की और कुशल-सिंह के नाम पर 'कुशल विलास' रचा। इससे औरंगज़ेब के काल की दशा पर प्रकाश पड़ता है और यह प्रकट होता है कि मुग़ल दर्बार में जो साहित्य की उन्नति का चाव था वह अब नहीं रहा था, और प्रतिभाशाली कवियों को जिस तिस

का मुँह ताकना पड़ता था। देव ने 'प्रेमचन्द्रिका' लिख कर राजा उद्योतसिंह को दी, पर उसने भी इनकी कुछ आवभगत नहीं की। अन्त में राजा भोगीलाल का इन्होंने आश्रय लिया और उससे ये कुछ सन्तुष्ट हुए। पीछे इन्होंने 'शब्दरसायन' ग्रन्थ बनाया, पर दिया किसी को भी नहीं। इनके बाद इन्होंने अपनी सम्पूर्ण रचनाओं का संग्रह 'सुख-सागर-तरंग' में एकत्रित किया और उसे पिहानी के अकबरअलीखां को समर्पित किया।

अभी तक देव के निम्नलिखित २७ ग्रन्थों का पता लगा है।

१ भावबिलास (खोज १९०३), २ अष्टयाम (खोज १९०० तथा १९०२ व १९०३), ३ भवानी-बिलास, ४ सुन्दरी-सिन्दूर, ५ सुजान-विनोद (खोज १९०३), ६ प्रेम तरंग (खोज १९०३), ७ रागरत्नाकर, ८ कुशलबिलास, ९ देवचरित्र, १० प्रेमचन्द्रिका, ११ जाति बिलास, १२ रसबिलास, १३ शब्द-रसायन, १४ सुखसागर-तरंग, १५ देवमाया-प्रपंच-नाटक (खोज १९०५), १६ वृक्षबिलास, १७ पावसबिलास, १८ देवशतक या वैराग्यशतक, १९ नीति-शतक, २० रसानन्दलहरी, २१ प्रेमदीपिका, २२ सुमिलविनोद, २३ राधिका-बिलास २४ नखशिखप्रेमदर्शन, २५ कृष्णगुणकर्मसूक्ष्मसूदन (खोज १९०४), २६ नायिका भेद (संस्कृत), जिस की प्रति काशी-नागरी-प्रचारिणी में है)।

सुख-सागर-तरंग में नायिका भेद का विस्तृत वर्णन है। देवमाया-प्रपंच कुछ २ नाटकीय-पद्धति पर लिखा गया है। रसबिलास और जातिबिलास में जातियों का वर्णन प्रधान है। प्रेमचन्द्रिका में प्रेम का अनूठा वर्णन है। देवचरित्र में कृष्णचन्द्र की कथा कंसवध पर्यन्त कुछ विस्तार से और उसके पीछे संक्षेप से कही है। सुन्दरी-सिन्दूर एक संग्रह है जो भारतेन्दु ने किया था। राग-रत्नाकर में राग रागनियों का अच्छा वर्णन है, अष्टयाम में दिन के प्रत्येक प्रहर और घड़ी पर शृङ्गारी कविता की गई है। भाव-बिलास, भवानी-बिलास, सुजान-विनोद, प्रेम-तरंग और कुशल-बिलास अच्छे रीति ग्रन्थ हैं। वृक्ष-बिलास में वृक्षों का और पावस-बिलास में पावस-वर्णन बहुत बढ़िया है।

देव जी ने घनाक्षरियां सवैयों से अधिक रची हैं। इनकी कविता में उत्तम छन्द अधिकता से मिलेंगे। इन्होंने ग्रन्थों में एक ही पद्य दो-दो, तीन-तीन बार रख दिए हैं, और कहीं-कहीं एक ही ग्रन्थ में वही पद्य दुबारा रख दिया है, यहां तक कि यदि किसी ने इनके कई ग्रन्थ देखे हों तो उसको किसी नवीन ग्रंथ के देखने पर नवीन पद्य बहुत कम मिलेंगे। इसका कारण एक यह भी है कि इनके पद्यों में कितने ही पृथक्-पृथक् भाव झलकते हैं अतः देव एक ही छन्द विविध काव्यांगों के उदाहरण में रख देते रहे हैं।

देव की भाषा शुद्ध ब्रज-भाषा है। भाषा-साहित्य में देव और मतिराम इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। भाषा की कोमलता और सरसता भी इनकी सबसे श्रेष्ठ है। देव की भाषा में अनुप्रास भरे पड़े हैं। किसी अन्य कवि की कविता में इतने अच्छे और अधिक अनुप्रास नहीं हैं। भाव भी इनकी कविता में अत्युत्कृष्ट बन पड़े हैं।

इन्होंने अमीरी ठाठ का खूब वर्णन किया है। और उपमा देने तथा रूपक बांधने में हद कर दी है। कवित्व की दृष्टि से तुलसी और सूर के बाद देव ही का नाम लिया जा सकता है। इनके अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए :—

आई बरसाने तें बुलाई वृषभानु सुता।
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई॥
चक-चकवान के चकाए चकचोटन सों।
चौंकत चकोर चकचौंधी सी चकै गई॥
'देव' नन्द—नन्दन के नैनन आनन्द भई।
नन्दजू के मंदिरन चंदभई छै गई॥
कंजन मलिन भई, कुंजन नलिन भई।
गोकुल की गलिन अलिन भई कै गई॥

भाषा की मनोहरता देखिए—

मंजु बजैं गुजरी-कर-कंजन, पायल पायं जराय लपेटी।
नासिका में झमकै मुकुता, सुतिहू झुमकी मन-कुंडल-जेटी।
लालन-माल, जरी-पट लाल, सखी संग बाल-बधू कुअंरेटी।
सेवक 'देव' सबै सुख-साजति, राजत है गिरिराज की बेटी॥

देव ने प्राकृतिक वर्णन भी बहुत अच्छा किया है। वास्तविक प्रकृति और मानव-प्रकृति का एक उदाहरण देखिए—

सुनि कै धुनि चातक-मोरन की, चहूं ओरन कोकिल-कूकन सों,
अनुराग-भरे बन बागन में हरि रागत राम अचूकन सों।
कवि 'देव' घटा उनई जुनई, वन-भूमि भई दल-दूकन सों,
रँग-राती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकन सों॥

अध्याय तीसवाँ

रीति के अन्य कवि

सुखदेव मिश्र; ई० स० १६७४—

इनका जन्म-स्थान कंपिला था। इनके सात ग्रन्थों का पता चला है। १ वृत्त-विचार २ छन्द-विचार ३ फ़ाज़िलअली-प्रकाश ४ रसार्णव ५ शृंगारलता ६ अध्यात्म-प्रकाश ७ दशरथराय। ये असोथर ज़िला फतेहपुर के राजा भगवन्तराव खींची तथा राव मर्दनसिंह के यहां रहे। कुछ दिन औरंगज़ेब के वज़ीर फ़ाज़िलअली-शाह के पास भी रहे। अन्त में मुरारमऊ के राजा देवीसिंह के कहने से दौलतपुर में बस गये। ये आचार्य और कवि दोनों थे। छन्दशास्त्र पर इन्होंने अधिकार से विवेचन किया है। इनके शृंगाररस के उदाहरण अति उत्तम हैं।
उदाहरण देखिये—

ननद निनारी, सासु मायके सिधारी,
अहै रैन अँधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन कविराज न सुहात भौन,
दारुन बहत पौन, लाग्यो मेघ झरु है।
संग ना सहेली; बैस नवल अकेली,
तन परी तलबेली महा, लाग्यो मैन सरु है।
भई आधीरात, मेरो जियरा डरात,
जागु जागु रे बटोही यहां चोरन को डरु है।

जो हैं जहां मगु नन्द कुमार, तहां चली चन्द मुखी सुकुमार है।
मोतिन ही को कियो गहनो सब, फूलि रही जनु कुन्द की डार है।
भीतर ही जुलखी सुलखी अब, बाहिर जाहिर होतिन दार है।
जोन्ह—सी जोन्हैं गई मिलि यों, मिलि जाति ज्यों दूध में दूध की धार है।

यों कछु कीन्ही अचानक चोट,
जुओट सखीन सकी कै दुकूल है।
देह कँपै, मुँह पीरी परी,
सो कह्यो नहिं जो ह्वै गयो हिय सूल है।
मांझ उरोज में आनि लग्यो, अंगिरात जहीं उचक्यो भुजमूल है।
कौन है क्याक ? खेलार अनेखे।
निसंक ह्वै ऐसे चलैयत फूल है।

भूषण; ई० सन् १६२४—

ये वीर रस के प्रसिद्ध कवि थे। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें 'कविभूषण' की उपाधि दी थी। इनके वास्तविक नाम का पता नहीं। शिवाजी और छत्रसाल के दरबारों में इनका बहुत मान हुआ। छत्रसाल ने तो इनकी पालकी में कंधा लगाया। शिवाजी ने इन्हें एक २ छन्द पर् लाखों रुपया दिया।

रीतिकाल के सब कवियों ने जहां शृंगार को ही अपनाया–वहां भूषण ने न केवल वीररस की रचना की, प्रत्युत् उन्होंने दो ऐसे तेजस्वी नरपतियों का वीर-स्तवनगान किया—जिन्होंने अपने समय में हिन्दू धर्म और राष्ट्र की बड़ी रक्षा की थी। इन्होंने शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के झूठे अत्युक्तिपूर्ण वर्णन नहीं किए, प्रत्युत् उनका स्मरण जिस उत्साह से जनता करती थी, भूषण ने उसी की व्यंजना की। ये अपने युग के हिन्दू जाति के प्रतिनिधि-कवि पद के अधिकारी हैं। इन्होंने अपना ग्रन्थ 'शिवराज भूषण' अलंकार के ग्रन्थ के रूप में बनाया है। परन्तु रीति ग्रन्थ की दृष्टि से उसे उत्कृष्ट नहीं कह सकते। भूषण ने व्याकरण की भी अवहेलना की है, भाषा भी अव्यवस्थित है, परन्तु ओज खूब है।

एक उदाहरण—

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिवे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे।
जानि गैर-मिसिल गुसीले गुसा धारि उर,
कीन्हों ना सलाम न बचन बोले सियरे।
भूषण भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे।
तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भयो,
स्याह मुख नौरंग सिपाह-मुख पियरे।

राम; ई० स० १६४३—

इनका एक ग्रन्थ 'नायिकाभेद' पर 'शृङ्गार-सौरभ' मिलता है। एक 'हनुमान-नाटक' की भी खोज मिलती है।

बेनी; ई० स० १६५०—

ये असनी के बंदीजन थे। इनके केवल फुटकर छन्द मिलते हैं। एक छन्द यह है—

कवि बेनी नई उनई है छटा, मोरवा बन बोलत कूकनरी।
छहरै बिजुरी छितिमण्डल छ्वै, लहरै मन में न भभूकन री।

पहिरौ चुनरी चुनकै दुलहो, संग लाल के झूलहु झूकनरी।
ऋतु पावस यों ही बितावति हौं, मरिहौं फिरि बापरि हूकनरी।

मंडन; ई० स० १६६०—

ये बुंदेलखण्डी कवि थे। राजा मंगदसिंह के दरबारी थे। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। फुटकर छन्द बहुत हैं। ५ ग्रन्थों का पता अलबत्त लगा है। दो-रसनिरूपण पर हैं, १—रस रत्नावली, २—रसविलास। शेष तीन में १—जनकपचीसी, २—जानकी जू का व्याह, ३—नैनपचासा है।

इनकी रचना का उदहारण—

आलि हौं तो गई जमुना जल कों सो कहा कहौं वीर विपत्ति परी।
घहराय के कारी घटा उनई, इतनेई में गागरि सीसधरी।
रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयो, कवि मंडन ह्वै के विहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को बारो अरी, गहि बांह गरीब ने ठारी करी।

कुलपति मिश्र; ई० स० १६७१—

ये आगेर के माथुर चौबे थे, और महाकवि बिहारी के भानजे थे। जयपुर के महाराज रामसिंह के दर्बार में रहते थे। इनका एक ग्रन्थ 'रसरहस्य' प्रकाशित है। 'द्रोण-पर्व' 'युक्तितरंगिणी' 'नखसिख' 'संग्रामसार' आदि ग्रन्थों का और पता लगा है। ये संस्कृत के पंडित थे। इनका रसरहस्य, मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का छायानुवाद है। इन्होंने गद्यवार्ता भी लिखी है पर वह परिमार्जित नहीं। इन्होंने प्राय: अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह की प्रशंसा के उदाहरण दिये हैं।

ऐसिय कुंज बनी छबि पुंज रहे अलि गुंजत यों सुख लीजै।
नैनविशाल हिए वन माल विलोकत रूपसुधा भरि पीजै।
जामिनि-जामकी कौन कहै जुग जात न जानिए ज्यों छिन छीजै।
आनन्द यों उमग्योई रहै पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै।

कवीन्द्र उदयनाथ; ई० सन् १६८०—

इनके ग्रन्थ—१—रस चन्द्रोदय, २—विनोदचन्द्रिका, ३—जोगलीला हैं। ये अमेठी के राजा हिम्मतसिंह और गुरुदत्तसिंह के यहां बहुत दिन रहे। इनका 'रस चन्द्रोदय' शृङ्गार का उत्तम ग्रन्थ है।

नेवाज़; ई० स० १६८१—

पन्ना के महाराज छत्रसाल के दर्बारी कवि थे। ये अन्तर्वेद के ब्राह्मण थे। ये औरंगज़ेब के शाहज़ादे आज़मशाह के पास भी रहे थे। इन्होंने शकुन्तलानाटक

का आख्यान दोहों चौपाइयों सवैया आदि छन्दों में लिखा है। इनकी भाषा परिमार्जित है और संयोग शृङ्गार का अच्छा वर्णन किया है। देखिये—

देखि हमें सब आपुस में जो कछू मन भावै सोई कहती हैं।
ये घरहाई लुगाई सबै निसिद्यौस नेवाज़ हमें दहती हैं।
बातें चबाब भरी सुनिके रिस आवति वै चुप ह्वै रहती हैं।
कान्ह पियारे तिहारे लिये सिगरे ब्रज को हँसिबो सहतीं हैं।

ये भी बिहारी की भान्ति लक्ष्यकार कवि हैं, लक्षणकार नहीं। ये उत्कृष्ट शृङ्गारी कवि हैं।

श्रीधर या मुरलीधर; ई० स० १६८१—

ये प्रयाग निवासी ब्राह्मण थे। इनका एक ग्रन्थ 'जंग नामा' छपा है जिसमें फर्रुखसियर और जहांदारखां का युद्ध वर्णित है। परन्तु इन के नायिकाभेद आदि कई ग्रन्थों का पता लगा है।

कालीदास त्रिवेदी; ई० स० १५८६—

ये अन्तर्वेद के कान्यकुब्ज ब्राह्मण और ये गोलकुण्डे की चढ़ाई के समय औरंगजेब की सेना में किसी राजा के साथ गये थे। ये जंबू के राजा जगजीतसिंह के यहां भी थे। उन के लिए इन्होंने 'वार-वधू-विनोद' लिखा था। यह नायिका भेद और नख-शिख की पुस्तक है। इनकी एक छोटी सी पुस्तक 'जंजीराबन्द' भी है जिस में ३२ कबित्त हैं। 'राधा-माधव-बुध-मिलन-विनोद' नाम के एक ग्रन्थ का भी पता लगा है। इनका एक बड़ा संग्रह-ग्रन्थ 'कालीदास हज़ारा' प्रसिद्ध है। जिस में २१२ कवियों के १८०० छन्द संग्रहीत हैं।

सूरति मिश्र; ई० स० १७१०—

ये आगरे के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होंने 'अलंकार-माला' लिखी, तथा बिहारी की सतसई पर अमरचन्द्रिका टीका की। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के दर्बार में आते-जाते थे। बिहारी सतसई की टीका के सिवा इन्होंने 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' पर भी टीका की है। टीका ब्रजभाषा के गद्य में है। वैताल-पच्चीसी का भी गद्यानुवाद किया है। इन के निम्नलिखित और ग्रन्थ मिलते हैं। रस-रत्नमाला, रस-रहस्य, रसग्राहकचन्द्रिका, नखसिख काव्य, सिद्धान्त-रसरत्नाकर। अभी इन के सब ग्रन्थ नहीं मिलते हैं।

वीर; ई० स० १७२३—

ये दिल्ली के कायस्थ थे। इनका ग्रन्थ कृष्णचन्द्रिका मिलता है जो रस और नायिकाभेद का ग्रन्थ है।

कृष्ण कवि; ई० स० १७२६—

ये कवि बिहारीलाल के पुत्र थे। इन्होंने बिहारी सतसई पर टीका की है जिस में इन्हों ने दोहों पर सवैये लगाए और वार्तिक में काव्यांग स्फुट किए हैं।

रसिक सुमति; ई० स० १७२९—

ये ईश्वरदास के पुत्र थे। इन्होंने 'अलंकार-चन्द्रोदय' अलंकार-ग्रन्थ कुवलयानन्द के आधार पर दोहों में बनाया है।

गंजन; ई० स० १७३०—

काशी के गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने 'कमरुद्दीनखां विलास' नामक शृंगार ग्रन्थ लिखा। इस में भाव भेद-रसादि और षड्ऋतु वर्णन हैं। कमरुद्दीन दिल्ली-पति के वज़ीर थे, गंजन ने इनकी बड़ी तारीफ़ की है।

रघुनाथ; ई० स० १७३४—

ये वंदीजन प्रसिद्ध कवि थे। काशीराज महाराज बरिवंडसिंह की सभा में रहते थे। महाराज ने उन्हें चौरा ग्राम दिया था। शिवसिंहसरोज में इन के चार ग्रन्थ गिनाए हैं।

१ काव्यकलाधर, २ रसिकमोहन, ३ जगतमोहन, ४ इश्कमहोत्सव। इनकी बिहारी पर एक टीका भी की बताते हैं। इनकी रचना उत्तम-कोटि की है। अलंकारों के उदाहरण सुन्दर और स्पष्ट हैं।

भूपति; ई० स० १७३५—

ये अमेठी के राजा थे। नाम था गुरुदत्तसिंह। इन्होंने एक 'दोहा-सतसई' लिखी थी। तथा 'कंठाभरण' और 'रस-रत्नाकर' नामक दो रीति-ग्रन्थ लिखे थे जो मिले नहीं हैं।

तोषनिधि; ई० स० १७३५—

ये सिंगरौर ज़ि० इलाहाबाद के निवासी थे। इन्होंने 'सुधानिधि' पुस्तक लिखी, जो रसभेद और भावभेद का उत्तम ग्रन्थ है। विनय-शतक और नखशिख इन की ये दो पुस्तकें और मिली हैं। इन्होंने काव्याङ्गों के बहुत अच्छे लक्षण और उदाहरण दिये हैं। एक छन्द पढ़िए—

तो तन में रवि को प्रतिबिम्ब परे किरनें तो घनीं सरसाती।
भीतरहू रहि जात नहीं, अखियां चकचौंधि ह्वै जाति हैं राती।
बैठि रहौ वलि, कोठरी में कह तोष करौ बिनती बहु भांती।
सारसी-नैनि लै आरसी-सों अंग काम कहा कढ़ि घाम में जाती।

दलपतिराय और बंसीधर; ई० स० १७२६—

प्रथम महाजन और दूसरे ब्राह्मण थे। दोनों गुजराती थे। इन्होंने उदयपुर के राणा जगतसिंह के नाम पर 'अलंकार-रत्नाकर' ग्रंथ रचा। इसका आधार महाराज जसवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण' है, इसमें इन्होंने गद्य का प्रयोग किया है।

सोमनाथ; ई० स० १७३८—

ये भरतपुर के महाराज बदनसिंह के छोटे पुत्र प्रतापसिंह के आश्रित थे। इन्होंने 'रसपीयूष' एक बड़ा ग्रंथ लिखा, जिसमें पिंगल, काव्य लक्षण, प्रयोजन, भेद शब्द-शक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष आदि सब विषयों का निरूपण है। इनका काव्याङ्ग-निरूपण केशवदास और श्रीपति के समान है। इनके ३ ग्रंथों का पता और चला है।

१—कृष्ण लीलावती पंचाध्यायी

२—सुजानविलास

३—माधवविनोद नाटक। (प्रेम-प्रबन्ध)

भिखारीदास; ई० स० १७३४—

अवध में प्रतापगढ़ के निवासी कायस्थ थे। इनके निम्नलिखित ग्रंथों का पता चला है। १. रस-सारांश २. छन्दार्णव-पिंगल ३. काव्यनिर्णय ४. शृंगारनिर्णय ५. नामप्रकाश ६. विष्णुपुराण भाषा (दोहे चौपाई में) ७. छन्दप्रकाश ८. शतरंज-शतिका ९ अमरप्रकाश (संस्कृत अमरकोष भाषा पद्य में) इन्होंने छंद, रस अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द, शक्ति, आदि काव्याङ्गों का विशेष वर्णन किया है।

दूलह; ई० सन् १७४४—

ये उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे। इनका एक अलंकार-ग्रन्थ 'कविकुल-कण्ठाभरण' प्रसिद्ध है। इनकी रचना संक्षिप्त है। पर अत्यन्त प्रौढ़ और मार्जित है।

कुमार मणि भट्ट; ई० सन् १७४७—

इन्होंने 'रसिक रसाल' एक अच्छा रीति-ग्रन्थ बनाया है।

शंभुनाथ; ई० सन् १७५०—

इन्होंने १ रसकल्लोल, २ रसतरंगिणी, ३ अलंकारदीपक नामक तीन रीति-ग्रन्थ लिखे हैं।

शिवसहायदास; ई० स० १७५३—

ये जयपुर निवासी थे। इन्होंने 'लोकोक्ति कौमुदी' और 'शिवचौपाई' दो ग्रन्थ बनाए। कौमुदी में कहावतों को लेकर नायिका भेद कहा गया है।

रूपसाहि; ई० स० १७५७—

ये पन्ना निवासी कायस्थ थे। इन्होंने 'रूपविलास' नामक रीतिग्रन्थ दोहों में लिखा है।

बैरीसाल; ई० स० १७६९—

ये असनी के ब्रह्म भट्ट थे। इन्होंने 'भाषाभरण' एक अच्छा अलंकार-ग्रन्थ लिखा है।

ऋषिनाथ; ई० स० १७७५—

ये असनी के बंदीजन थे। प्रसिद्ध कवि ठाकुर के पिता और सेवक के दादा थे। काशीराज के दीवान सदानन्द और रघुवर कायस्थ के आश्रय में इन्होंने 'अलंकारमणिमंजरी' लिखी, जिसमें अधिकतर दोहा छप्पय और अन्य छन्द हैं।

दत्त; ई० स० १७७५—

ये चरखारी के महाराज खुमानसिंह के दर्बार में रहते थे। इन्होंने 'लालित्य-लता, नामक अलङ्कार-ग्रन्थ लिखा।

कवि रत्न; ई० स० १७७५—

ये श्रीनगर के राजा फतहसिंह के यहां रहते थे। इन्होंने 'फ़तहभूषण' नामक अलंकार-ग्रन्थ लिखा, जिसमें लक्षणा, व्यंजना, काव्यभेद, ध्वनि, रस, दोष, आदि का विस्तृत वर्णन है।

हरिनाम; ई० स० १७७९—

ये काशी निवासी गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने 'अलंकारदर्पण' लिखा है।

मनीराम मिश्र; ई० स० १७७९—

ये कन्नौज निवासी थे। इन्होंने 'छन्दछप्पनी' और 'आनन्दमङ्गल' दो पुस्तकें लिखीं। दूसरी पुस्तक भागवत के दशमस्कन्ध का पद्यानुवाद है।

चंदन; ई० स० १७८२—

ये ज़िला सहारनपुर के बन्दीजन थे, और गौड़ राजा केसरीसिंह के पास रहते थे, इन्होंने शृङ्गारसागर, काव्याभरण, कल्लोलतरङ्गिणी, ये तीन रीतिग्रंथ लिखे।

इनके इन ग्रंथों का भी पता चला है—केसरीप्रकाश, चंदनसतसई, पथिकबोध। नखसिख, नाममाला (कोश), पत्रिकाबोध, तत्त्वसंग्रह, सीतबसंत (कहानी) कृष्णकाव्य, प्राज्ञविलास। 'सीतबसंत, प्रबंधकाव्य पद्धति पर हैं। ये फ़ारसी के भी अच्छे कवि थे। इनका दीवान संदल कहीं २ मिलता है।

महाराज रामसिंह; ई० सन् १७८३—

ये नरवलगढ़ के राजा थे। इन्होंने रस अलंकार पर ३ ग्रन्थ लिखे। १—अलंकार-दर्पण, २—रसनिवास, ३—रसविनोद। पहिला ग्रन्थ दोहों में है।

भान कवि; ई० सन् १७८९—

इन्होंने 'नरेन्द्रभूषण' नामक अलंकार-ग्रन्थ लिखा। ये राजा जोरावरसिंह के पुत्र थे।

थान कवि; ई० सन् १७९७—

चन्दन वंदीजन के भानजे थे। इन्होंने दलेलप्रकाश एक रीतिग्रन्थ लिखा।

वेनी बंदीजन; ई० सन् १७९८—

ये बैंती जि. रायबरेली के निवासी थे। अवध के वज़ीर महाराज टिकैतराय के आश्रय में रहते थे। इन्होंने 'टिकैत रायप्रकाश' एक अलंकार-ग्रन्थ बनाया। दूसरा ग्रन्थ रसविलास लिखा। इनका 'भडौवासंग्रह' बहुत प्रसिद्ध है।

देवकीनंदन; ई० सन् १८००—

इन्होंने 'श्रृङ्गार-चरित्र' 'अवधूत-भूषण' और 'सरफराज-चन्द्रिका' नामक रस और अलंकारग्रन्थ लिखे।

जसवंतसिंह द्वितीय; ई० स० १८००—

ये तेरवां के राजा थे। बड़े विद्याव्यसनी थे। इन्होंने दो ग्रन्थ लिखे। एक सालिहोत्र दूसरा श्रृंगारशिरोमणि।

यशोदानन्दन; ई० स० १७७२—

इनका एक छोटा सा 'बरवै' 'नायिका' रहीम के बरवै नायिका की समता का मिलता है। ९ बरवा संस्कृत में और ५६ अवधी भाषा में हैं। भाषा मृदुल और स्वाभाविक है। देखिए—

अहिरिनि मन कै गहिरिनि, उतरु न देइ।
नैना करे मथनिया, मन मथ लेइ।

तुरुकिनि जाति हुरुकिनि अति इतराइ।
छुवन न देइ इजरवा मुरि मुरि जाइ।

करन कवि; ई० स० १८०४—

ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण और पन्ना के दर्बारी कवि थे । इन्होंने 'साहित्य-रस' और 'रसकल्लोल' दो ग्रन्थ लिखे हैं।

गुरुदीन पाण्डे; ई० स० १८०४—

इन्होंने 'बाग मनोहर' नामक एक बहुत बड़ा रीति-ग्रन्थ लिखा है। जो कविप्रिया की शैली पर है ।

ब्रह्मदत्त: ई० स० १८०४—

ये काशी नरेश उदितनारायणसिंह के छोटे भाई दीपनारायणसिंह के आश्रित थे। इन्होंने 'विद्वद्-विलास' और 'दीपप्रकास' दो अच्छे अलंकार ग्रन्थ लिखे।

इन में देव की अपेक्षा अधिक रस विवेक है। इनकी रचना संयत और स्पष्ट है। इसमें संदेह नहीं कि वे उच्चकोटि के कवि थे। इनका एक छन्द पढ़िए—

नैनन कों तरसैये कहां लौं, कहां लौं हियो बिरहागि में तैए।
एक घरी न कहू कल पैए, कहां लगि प्रानन को कल पैए।
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहुं के घर जैए।
मान घटे तें कहा घटि है जु पै प्रान पियारे को देखन पैए।

रसिक गोविन्द; सन् १८१०—

ये वृन्दावन निवासी महात्मा हरिव्यास की गद्दी के शिष्य थे जिसका सम्बन्ध निम्बार्क सम्प्रदाय से है। जयपुर निवासी थे। इनके नौ ग्रन्थों का पता चलता है।

१. रामायण सूचनिका २. रसिक गोविन्दानन्दघन ३. लछिमन-चन्द्रिका ४. अष्टदेश भाषा ५. पिंगल ६. समय-प्रबन्ध ७. कलिजुगरासो ८. रसिक गोविन्द ९ युगल रसमाधुरी। इनमें रसिक गोविन्दानन्द-घन ७।८ सौ पृष्ठों का भारी रीति-ग्रन्थ है। इसमें लक्षण गद्य में हैं। इससे इसमें विवेचन अधिक स्पष्ट हो गया है, जो अन्य हिन्दी ग्रन्थों में कम मिलता है। पर भाषा पुराने टाइप की होने से समझने में अड़चन पड़ती है देखिए—

"अथ काव्यप्रकाश को मत—कारण कारज सहायक हैं, जे लोक में इनही को नाट्य काव्य में. विभाव संज्ञा है। अथ टीका कर्ता को मत तथा साहित्य

दर्पण को मत; सत्त्व, विशुद्ध, अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्द, चित, अन्य ज्ञान नहिं संग, ब्रह्म स्वाद सहोदर रस"

काव्य इनका सरस और उत्तम है, देखिए—

आलससों मन्द मन्द धरा पै धरति पाय, भीतर तें बाहिर न आवै चित चायकै।
रोकति दगनि छिन छिन प्रति लाज साज, बहुत हंसी की दीनी बानि बिसरायकै।
बोलति बचन मृदु मधुर बनाय उर, अंतर के भाव की गम्भीरता जनाय कै।
बात सखी सुन्दर गोविन्द की कहात तिन्हैं, सुन्दरि बिलोकै बंक भृकुटी नचायकै।

ग्वाल कवि; ई० स० १८२३—

ये मथुरावासी बंदीजन थे। ब्रजभाषा के मधुर कवि थे। इन्होंने रीति पर चार ग्रंथ लिखे, १ रसिकानन्द, अलंकार का २ रसरंग ३ कृष्णजू की नखसिख ४ दूषण-दर्पण। इसके सिवा यमुना-लहरी, भक्त-भावन, हमीरहठ और गोपी-पचीसी, राधा-माधव-मिलन, और 'राधा-अष्टक' कवि-हृदय-विनोद, ये ६ ग्रन्थ और लिखे हैं। इन्होंने यमुना-लहरी जैसी स्तुति-रचना में भी नवरस और षड्ऋतु का ध्यान रखा है। षड्ऋतु का अच्छा वर्णन किया है। वाग्विदग्धता, इनमें खूब है। श्रृङ्गारी उद्दीपन दीख पड़ता है। इन्होंने खूब देशाटन किया था। इससे भिन्न २ भाषाओं का पुट इनकी रचना में मिलता है।

ग्रीषम की गजब धुकी है, धूप धाम धाम।
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी॥
भीजे खस—बीजन झलेहू न सुखात स्वेद।
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी॥
ग्वाल कवि कहे कोरे कुम्भन तें कूपन तें।
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी॥
जब पियो तब पियो अब पियो फेर अब।
पीवत हूँ पीवत मिटै न प्यास पापिनी॥

जाकी खूब खूबी खूब खूबन की खूबी यहाँ,
जाकी खूबखूबी खूबखूबी नभ गाहना।
जाकी बदजाती वद जाती यहां चारन में,
ताकी बद जाती बद जाती ह्वां उराहना।
ग्वाल कवि वेही परसिद्ध सिद्ध जो हैं जग,
वेही परसिद्ध ताकी यहाँ ह्वां सराहना।
जाकी यहां चाहना है ताकी वहां चाहना है,
जाकी यहां चाहना है ताकी वहां चाहना।

अध्याय अट्ठाईसवाँ

रीतिमुक्त प्रमुख कवि

इन्हें प्रेम का स्वच्छन्द गायक कहना चाहिए। ऐसे कवि साहित्य के इतिहास में आदर के पात्र होते हैं। ऐसे कवियों में जहां भक्तिकाल में रसखान जैसे कलाकार हो गये वहाँ इस रीतिकाल में घनानन्द, बोधा, ठाकुर, आलम, शेख और द्विज अपना एक खास स्थान रखते हैं।

घनानन्द; ई० सन् १६९०—

घनानन्द इन सब में प्रमुख पुरुष हैं। वियोग की अन्तर्दशाओं तथा प्रेम की अनेकानेक अन्तर्वृत्तियों, रूप के विचित्र चित्रों, भाषा की शक्तियों और विरोध की चमत्कारिक उक्तियों का जैसा प्रदर्शन इन्होंने किया है, वैसा विरले कवि कर पाते हैं। घनानन्द स्वयं रसमूर्ति कहे जाते हैं।

ये दिल्ली के निवासी, जाति के कायस्थ और बादशाह मुहम्मदशाह के मीर-मुन्शी थे। एक बार बादशाह से इनके संगीत की बहुत तारीफ़ की गई—पर ये गाने पर राज़ी न हुए। लोगों ने कहा—इनकी प्रेमिका 'सुजान' यदि कहे तो गावेंगे। 'सुजान' बुलाई गई और उसके कहने पर उसकी ओर मुंह और बादशाह की ओर पीठ करके इन्होंने ऐसा गाना गाया कि तमाम दर्बार मुग्ध हो गया। बादशाह गाने से तो प्रसन्न हुए, पर बेअदबी से क्रुद्ध हो गए। उन्होंने इन्हें शहर से निकल जाने का हुक्म दिया। जब वे शहर त्यागने लगे तो सुजान से भी साथ चलने को कहा। पर वह न गई। इस पर ये विरक्त हो वृन्दावन में जा निम्बार्थक सम्प्रदाय के वैष्णव हो गये और वहीं विरक्त भाव से रहने लगे।

सन् १७४० में जब नादिरशाह ने दिल्ली को लूटा, तो किसी ने ईरानी सिपाहियों से कहा कि बादशाह का मीर-मुन्शी वृन्दावन में रहता है। उसके पास बहुत धन है। इस पर कुछ सिपाहियों ने इन्हें वहां जा घेरा, और कहा—ज़र, ज़र, ज़र। इस पर इन्होंने रज, रज, रज, कह कर तीन मुट्ठी धूल उन पर फेंकी। इससे क्रुद्ध होकर सैनिकों ने इनके हाथ काट डाले। मरते समय इन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था—

बहुत दिनान की अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मन भावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को।

झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वैहै,
अब ना घिरत घन आनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि के पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेसों लै सुजान कों।

इनके विषय में कहावत है—

नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ सुन्दरताहु के भेद को जानै।
योग वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठानै।
चाह के रंग में भीज्यो हियो, बिछुरे मिले प्रीतम सौंतिन मानै।
भाषा-प्रवीन, सुछंद सदा रहै सोघन जू के कवित्त बखानै।

इन्होंने कविता में अपनी प्रेमिका 'सुजान' को सम्बोधन करके रचना की है। विरक्त होने पर भी इन्होंने वह नाम नहीं छोड़ा। इसी से इनकी अन्तिम कविताओं में भी भक्ति कम और शृङ्गार अधिक मिलता है। इनकी कविता भाव-प्रधान है। विभाव पक्ष उसमें कम है। संयोग का भी कहीं-कहीं वर्णन किया है। पर प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा के वर्णन में इन्होंने कमाल कर दिया है। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य भी इनका ग़ज़ब का है। इनकी वचन-वक्रता के तो क्या कहने हैं। एक उदाहरण देखिए—

कारी कूर कोकिल कहाँ को वैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबहीं करेजो किन कोरि लै।
पैड़ परे पापी ये कलापी निति द्यौस ज्योंही,
चातक रे घातक ह्वै तूहू कान फोरि लै।
आनन्द के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानिके अकेली सब घेरो दल जोरि लै।
जौ लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे,
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै।

इनका एक प्रसिद्ध सवैया सुनिए—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नैकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं।
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौनसी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।

इन के इतने ग्रन्थों का पता लगा है—

सुजानसागर, विरह-लीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली, कृपाकाण्ड। इनके फुटकर सैकड़ों छन्द भी हैं। एक वृहत् ग्रन्थ कृष्णभक्ति सम्बन्धी छत्रपुर के

राजपुस्तकालय में है, जिसमें प्रिया प्रसाद, व्रजव्यवहार, वियोगबेली, कृपाकन्द-निबन्ध, गिरिगाथा, भावनाप्रकाश, गोकुलविनोद, धाम-चमत्कार, कृपाकौमुदी, नाममाधुरी, वृन्दावन मुद्रा, प्रेमपत्रिका, रसबसन्त आदि विषय वर्णित हैं। इनकी विरहलीला व्रजभाषा में किन्तु फ़ारसी छन्दों में लिखी गई है।

बोधा; ई० स० १७७४—

आलम और शेख़ का विवरण हम अन्यत्र दे चुके हैं। अब बोधा की काव्य-चर्चा पर विचार करेंगे। ये एक नया रंगढंग लेकर साहित्य में आए। इनकी रचना में घनानन्द, ठाकुर जैसी गहराई तो नहीं है; परन्तु वर्णन-शैली मीठी और सादगी से भरी है। इनकी भाषा में विदेशी शब्द अधिक हैं। और भावों में विदेशी असर है।

ये बाँदा ज़िले के निवासी ब्राह्मण थे। पन्ना दर्बार में रहते थे। इनका नाम बुद्धिसेन था, पर पन्ना-दर्बार प्यार से इन्हें बोधा कहा करते थे। ये संस्कृत फ़ारसी के भी ज्ञाता थे। ये बड़े रसिक जीव थे। एक सुभान नाम की वेश्या से इनका प्रेम था जो महाराज के दर्बार में थी। एक बार महाराज ने इन्हें ६ मास का देश-निकाले का दण्ड दिया, इस पर इन्होंने कालिदास के विरही यक्ष की भांति 'विरह-वारीश' लिख कर विरह-वेदना प्रकट की। जब ये लौटकर आए तो इसके कुछ छन्द महाराज को सुनाए, महाराज ने प्रसन्न होकर कुछ माँगने को कहा तब इन्होंने कहा 'सुभानअल्लाह'। महाराज ने खुश होकर 'सुभान' को इन्हें देदिया।

'विरह-वारीश' के सिवा इन्होंने एक 'इश्कनामा' भी लिखा। फुटकर कवित्त सवैये तो बहुत लिखे। ये प्रेम-काव्य के चतुर चितेरे थे। भाषा इनकी चलती और उछलती हुई होती थी। एक उदाहरण देखिए—

'कबहूँ मिलिबो' 'कबहूँ मिलिबो' यह धीरज ही में धरैबो करै।
उरतें कढ़ि आवै, गरे तें फिरै, मन की मन ही में सिरैबो करै।
कवि बोधा की चाँड सरी कबहूँ, नित ही हरवा सो हिरैबो करै।
सहते ही बनै, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै।

ठाकुर; ई० स० १७९४—

इस नाम के हिन्दी में तीन कवि हैं। तीनों की रचनाएं मिलती जुलती सी हैं। बारीकी से देखने पर ही भेद का पता चलता है। इनमें एक बुंदेलखण्डी हैं। उनकी रचनाएँ अधिक हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में बुन्देलखण्ड के मेलों, उत्सवों, समारोहों का बहुत बढ़िया वर्णन किया है। इन ठाकुर की लोकोक्ति-भावना भी बड़ी चोखी है। लोकोक्ति-वाङ्मय को काव्योपयोगी बनाने में इन्होंने ख़ास

सफलता प्राप्त की है। इन्होंने सवैये अधिक लिखे हैं। उनकी बहुधा ऐसी पद्धति रही है कि तीन चरणों में जो विषय प्रतिपादन किया है, उसकी पुष्टि चौथे चरण में लोकोक्ति से कर दी है।

एक उदाहरण देखिए—

यह चारहुँ ओर उदौ मुख चन्द की चांदनी चारु निहारि लैरी।
बलि जो पै अधीन भयो पिय प्यारी तौ ए तौ बिचार बिचारि लैरी।
कवि ठाकुर, चूकि गयो जो गोपाल, तौ तै बिगरी को सम्हारि लैरी।
अब रैहै न रैहै यहै समयो, बहती नदी पाँय पखारि लैरी।

इनका पूरा नाम ठाकुरदास था, और ये कायस्थ थे। इनका जन्म ओरछे में हुआ था। सयाने होने पर ये जैतपुर के राजा परीछत के आश्रित रहने लगे थे, बिजावर दर्बार में भी कभी २ जाते रहते थे। बिजावर राजा ने इन्हें एक गांव दिया था। ठाकुर की ख्याति फैल चुकी थी। बाँदे के गुसाईं हिम्मतबहादुरसिंह के दर्बार में कभी २ पद्माकर से ठाकुर की नोक-झोंक हो जाया करती थी। एक बार पद्माकर जी ने कहा—ठाकुर! कविता तो बहुत अच्छी करते हो पर पद कुछ हल्के पड़ते हैं। ठाकुर चट बोले—'तभी तो हमारी कविता उड़ी २ फिरती है।'

एक बार गोसाईं ने राजा परीछत को धोखे से बुला भेजा—गोसाईं के मन में बदी थी। ठाकुर को पता चल गया और उन्होंने ठीक समय पर राजा को सचेत कर दिया। इस पर राजा लौट गये। जब गुसाईं को इस बात का पता चला तो उसने क्रुद्ध हो ठाकुर को बुलाया। ये बेधड़क चले गये।

गुसाईं ने जब बुरा भला कह कर कवि का अपमान किया, तो झट आपने तलवार सामने निकाल ली और यह कवित्त पढ़ा—

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के।
दान जुद्ध जुरिबे में नैकु जेन मुरके॥
नीति देन वारे हैं मही के महिपालन कों।
हिए के विसुद्ध हैं, सनेही सांचे उर के॥
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफ़न के।
जालिम दमाद हैं अदानियाँ ससुर के॥
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महाराज।
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के॥

हिम्मतबहादुर खिसियाकर चुप हो गये। फिर कहा—मैं आपकी हिम्मत की जांच कर रहा था। इस पर आप बोले—हिम्मत तो हमारे ऊपर अनूप रूप से बलिहारी हो रही है, आज हिम्मत कैसे गिर जायगी।

इस पर हिम्मत बहादुर प्रसन्न हो गये। हिम्मत बहादुर का असल नाम अनूपगिरि था। इनकी मृत्यु सन् १८८० के लगभग हुई। इनकी कविताओं का अच्छा संग्रह 'ठाकुर ठसक' के नाम से ला० भगवानदीन जी ने संपादित किया था। पर इस संग्रह में दूसरे ठाकुर कवि की कविताएँ भी मिल गई हैं। ठाकुर प्रेमनिरूपक भी अच्छे थे और लौकिक व्यञ्जना भी खूब करते थे। वे अनेकांगदर्शी कवि थे। उनमें काव्य की सच्ची उमङ्ग थी। व्यर्थ का शब्दाडम्बर और कल्पना की झूठी उड़ान उड़ना पसन्द नहीं करते थे।

इनका एक उदाहरण देखिए—

दस बार, बीस बार बरजि दई है जहि,
ऐते पै न माने जौ तौ जरन बरन देव॥
कैसो कहा कीजै, कछु आपनो कहो न होय,
जाके जैसे दिन ताहि तैसोई मरन देव॥
ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखो,
प्रेम निहसंक रस रंग विहरन देव॥
विधि के बनाए जीव जेते हैं जहां के तहां,
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव॥

द्विजदेव; ई० स० १८७२—

इनकी विशेषता ऋतुवर्णन में है। ये रीति-बद्ध रचना करने वाले हैं। इन्होंने शास्त्र में गिनी गिनाई सामग्री के आधार पर ऋतु-वर्णन किया है। परन्तु अपनी प्रतिभा से काम लिया है। इनका विश्व-दर्शन अनोखा है, छन्दों का चुनाव भी वर्ण्य-विषय के अनुरूप है। इनका वैचित्र्य भावव्यंजना का सहायक है। भाषा की ओर रीति के थोड़े ही कवियों ने ध्यान दिया है, पर द्विजदेव की बात जुदा है। उन्होंने भाषा की सफ़ाई पर पूरा ध्यान रखा है, इन्होंने पूर्व में रह कर भी पूर्वीपन से अपनी कविता को बचाए रखा। इन्होंने दास की यह उक्ति चरितार्थ की है कि—व्रजभाषा व्रजवासियों ही की नहीं, हिन्दी की अखण्ड-परम्परा की भाषा है।

ये अयोध्या के महाराज थे। इनका नाम महाराज मानसिंह था। इन की दो पुस्तकें कही जाती हैं—१ शृंगारबत्तीसी २ शृंगारलतिका। शृंगारलतिका का एक विशाल संस्करण सटीक महारानी अयोध्या ने प्रकाशित किया है। इस के टीकाकार अयोध्या के भूतपूर्व महाराज प्रतापनाराणसिंह जू हैं। दूसरा ग्रन्थ भी छपा है। द्विजदेव के कवित्त पद्माकर की टक्कर के हैं। जिस प्रकार लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में पद्माकर ही अन्तिम कवि हैं, उसी प्रकार व्रजभाषा के शृंगारी

कवियों में द्विजदेव अंतिम कवि हैं। इन के बाद ऐसी भावमयी कविता किसी ने लिखी ही नहीं।

एक उदाहरण देखिए—

बोलि हारे कोकिल, बुलाय हारे केकीगन,
सिखै हारीं सखी सब जुगुति नई नई।
द्विजदेव कीसौं लाज—बैरिन कुसंग इन,
अंगनहूँ आपने अनीति इतनी ठई।
हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे श्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधा मई।
आवन समय में दुखदाइनि भई री लाजि,
चलन समैं में चल पल न दगा दई।

रीति-मुक्त वीरकवि—

रीति मुक्त कवियों ने शृङ्गार की भांति वीररस की भी रचनाएँ कीं। इन रचनाओं के नायक या तो देवी देवता होते थे या राजा लोग। देवी देवताओं में दुर्गा, हनुमान आदि पर भक्तिमिश्रित रचनाएँ हुई। वीर पुरुषों में दो प्रकार के पुरुषों का चुनाव किया गया। कुछ ने तो स्वार्थभाव से अपने आश्रयदाता राजाओं की विरद बखानी। परन्तु कुछ ने स्वच्छन्दभाव से लोक-सेवा के लिये उत्सर्ग होने वाले वीरों की विरदावली गाई। ऐसे कवियों में भूषण, लाल, जोधराज और चन्द्रशेखर का नाम लिया जा सकता है। इन्होंने क्रमशः शिवभूषण, छत्रप्रकाश, हम्मीररासो, और हम्मीरहठ नामक ग्रंथ लिखे।

आश्रित-कवियों में अपने आश्रयदाताओं के जस बखानने वालों में सूदन और पद्माकर हुए जिन्होंने क्रमशः 'सुजान-सागर' और 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' ग्रंथ लिखे। इन कवियों में भूषण के सिवा सब ने वीर-कथा-काव्य लिखे। यह समय वास्तव में वीरकाल के दूसरे उत्थान का था। इसकाल के वीर-काव्य में यह विशेषता रही कि वीररस में शृंगार का मिश्रण नहीं हुआ, प्रत्युत वीररस शृंगार से सर्वथा पृथक् रहा।

वीररस के सिवा नीतिकार, और सूक्तिकार भी हुए, जिनमें वृन्द, गिरिधर कवि राय, सम्मन और घाघ आदि प्रमुख हैं। सम्मन ने दोहों में नीति के तथ्य लिखे और गिरिधर ने कुण्डलियों में। हां नागरीदास जैसे कवियों ने भक्ति-मिश्रित शृंगार भी खूब बढ़चढ़ कर लिखा।

वृन्द; ई० स० १७०५—

पद्माकर का वर्णन अन्यत्र है। यहां वृन्द का परिचय देते हैं। ये मेड़ता (जोधपुर) के निवासी थे और कृष्णगढ़ नरेश के गुरु थे। उनके साथ एक बार

औरंगजेबी फौज में बंगाल तक भी गये थे। इन्होंने सतसई सन् १७०५ में लिखी, जिसमें नीति के सात सौ दोहे हैं। इनके दो ग्रन्थों का और पता चला है—१ शृङ्गार-शिक्षा, २ भाव-पंचाशिका। दोनों रस सम्बन्धी ग्रन्थ कहे जाते हैं। इनके दोहों की बानगी देखिये—

भले बुरे सब एक सम, ज्यौं लौं बोलत नाहिं।
जानि परत है कागपिक, ऋतु बसंत के माहिं।
हितहू की कहिए न तेहि, जो नर होय अबोध।
ज्यों नकटे को आरसी, होत दिखाए क्रोध।

गिरिधरकविराय; ई० सं० १७१४—

ये संभवतः भाट थे। इनकी नीति की कुण्डलियां बहुत प्रसिद्ध हैं, इनकी कविता की विशेषता-सीधी-सादी भाषा और भाव हैं। इन्होंने कोरा तथ्य कहा है।

एक उदाहरण देखिए—

रहिए लटपट काटि दिन, वरु घामहि में सोय।
छाँह न ताकी बैठिए, जो तरु पतरो होय।
जो तरु पतरो होय, एक दिन धोखा दै है।
जा दिन बहै बयार, टूटि तब जरसे जै है।
कह गिरधर कविराय, छाँह मोट की गहिए।
पाता सब झरि जाय, तऊ छाया में रहिए।

लाल कवि; ई० सं० १७०८—

लालकवि मऊ बुंदेलखण्ड के वासी थे। नाम था गोरेलाल पुरोहित। इन्होंने छत्रसाल की प्रशंसा में 'छत्रप्रकाश' लिखा है। ग्रन्थ महत्वपूर्ण तथा सत्य घटनाओं से परिपूर्ण है पर अधूरा है। यह ग्रन्थ नागरी-प्रचारिणी-सभा ने प्रकाशित किया है। ग्रन्थ की रचना प्रौढ़ है, भाषा विशद है, कवि की प्रबन्ध-पटुता उसमें प्रगट होती है। यह ग्रन्थ काव्य और इतिहास दोनों ही दृष्टि से उत्तम है।

इसका एक उदाहरण देखिये—

लखत पुरुष लच्छन सब जानै, पच्छी बोलत सगुन बखानै।
सत कवि कवित सुनत रसपागै, बिलसति मति अरथन में आगै।
रुचि सों लखत तुरंग जो नीके, बिहंसि लेत मोजरा सबही के।
चौंकि चौंकि सब दिसि उठैं, सूबा खान खुमान।
अबधौं धावै कौन पर, छत्रसाल बलवान।

जोधराज; ई० स० १८१९—

ये गौड़ ब्राह्मण थे। इन्होंने नीमराणा (अलवर) के राजा चन्द्रभान चौहान के अनुरोध से 'हम्मीररासो' लिखा था जो बड़ा प्रबन्ध-काव्य है जिसमें रण-थम्भौर के वीर हम्मीर की वीर-गाथा वर्णित है। इन्होंने पुराने कवियों की भाषा का भी जहां तहां व्यवहार किया है। काव्य की भाषा इनकी बड़ी ओजस्विनी है। घटना-वर्णन ठीक हैं।

एक उदाहरण देखिये—

सूर सोच मन में करौ, पदवी लहौ न फेरि।
जो हठ छोड़ो राव तुम, उत न लजे अजमेरि।
सरन राखि सेख न तजो, तजौ सीस गढ़ देस।
रानी राव हमीर कों, यह दीन्हौं उपदेस।

सूदन; ई० स० १७४६—

दूसरी धारा में मथुरा के चौबे सूदन थे और भरतपुर के सूरजमल के आश्रित थे। सूरजमल का असली नाम सुजानमल था, इन्हीं की प्रशंसा में सूदन ने 'सुजानचरित्र' लिखा है, जो प्रबन्ध-काव्य है। मुग़ल साम्राज्य की डगमग हालत में भरतपुर के जाटों ने बड़ा प्रभाव फैलाया था। उन्होंने शाही महलों और खज़ानों को लूट लिया था। पानीपत की अंतिम लड़ाई में भरतपुर के राजा पेशवा से रूठ न जाते तो इतिहास का कुछ और ही रंग होता। सूदन ने इन्हीं भरतपुर के एक राजा की वीरता का चित्र खींचा है। यह ग्रन्थ बहुत बड़ा है, और इसमें सन् १७४६ से १७५४ तक की घटनाएं वर्णित हैं। सूरजमल की वीरता का वर्णन अत्युक्तिपूर्ण नहीं है इस कवि ने वर्णन-विस्तार बहुत किया है, और साहित्यिक मर्यादा का कम ध्यान रखा है। भिन्न २ भाषाओं का भी खुलकर प्रयोग किया है। वर्णन अवश्य उत्साहपूर्ण है। एक उदाहरण देखिए—

दुहू ओर बंदूक जहँ चलत बेचूक, रव होत धुकधूक, किलकार कहूँ कूक।
कहुँ धनुष-टंकार जिहि बान झंकार, भर देत हुंकार संभार मुंह सूक।
कहूँ देखि दपटंत, गज बाजि झपटंत, अरि ब्यूह लपटंत रपटंत कहुं चूक।
समसेर सटकंत, सरसेल फटकंत, कहुं जात हटकंत, लटकंत लगि झूक।

कहीं कहीं इन्होंने भाषा से अच्छा मजाक किया है। देखिए—

धड़ धद्धरं, धड़ धद्धरं, भड़ भभ्भरं भड़ भभ्भरं,
तड़ तत्तरं तड़ तत्तरं, कड़ कक्करं कड़ कक्करं।
घड़ घघ्घरं, घड़ घघ्घरं, झड़ झझ्झरं झड़ झझ्झरं,
अररंरं, अररंरं, सररंरं सररंरं।

सम्मन; ई० स० १७७८—

ये ज़िला हरदोई के रहने वाले ब्राह्मण थे। इनकी नीति के दोहे स्त्रियाँ घर २ गाती सुनी जाती हैं। इन्होंने एक पिंगलग्रन्थ 'पिङ्गलकाव्यभूषण' भी बनाया है।

इनकी रचना के उदाहरण—

निकट रहे आदर घटै, दूरि रहे दुःख होय।
सम्मन या संसार में, प्रीति करौ जनि कोय।
सम्मन चहो सुखदेह को, तौ छाड़ो ये चार।
चोरी चुगली जामिनी, और पराई नार।

चन्द्रशेखर; ई० स० १८२०—

यह वाजपेयी ब्राह्मण थे और पटियाले के राजा कर्मसिंह के दर्बारी कवि थे। इन्होंने अपना वीरकाव्य 'हमीर हठ' बनाया। इनके अन्य ग्रन्थों में विवेक-विलास, रसिकविनोद, हरिभक्ति-विलास, नखसिख, वृन्दावन-शतक, ग्रहपंचासिका, ताजक ज्योतिष, माधवी-वसंत मिलते हैं। ये शृंगारी कवि भी अच्छे थे। ख्याति इनके हमीरहठ की हुई। इस ग्रन्थ की भाषा, भाव और शैली ऐसी ज़ोरदार तथा प्रवाहवाली हैं कि ऐसा बहुत कम कवि लिख पाये हैं। वीर रस का इसी कवि ने शिष्ट-भाषा में वर्णन किया है।

देखिए—

उगे भानु पच्छिम प्रतच्छ, दिन चंद प्रकासै।
उलटि गंग बरु बहै, काम रति प्रीति विनासै।
तजै गौरि अरधंग, अचल ध्रुव आसन चल्लै।
अचल पवन बरू होय, मेरु मंदिर गिरि हिल्लै।
सुर तरु सुखाय; लोमस मरै, मीर! संक सब परिहरौ।
मुख वचन वीर हम्मीर को, बोलि न यह कबहूँ टरौ।

भागे मीर जादे पीर ज़ादे औ अमीर जादे,
भागे ख़ान जादे प्रान मरत बचाय कै।
भागे गज बाजिरथ पथ सम्हारे परै,
गोलन पै गोल; सूर सहमि सकाय कै।
भागो सुलतान जान बचत न जानि बेगि,
बलित वितुण्ड पै बिराजि बिलखाय कै।
जैसे लगे जंगल में ग्रीषम की आगि,
चलै भागि मृग महिष वराह विललाय कै।

नागरीदास; जन्म ई० स० १७००—

इनका असली नाम महाराज सावन्तसिंह था। ये बड़े वीर और कृष्णगढ़ के राजा थे। पीछे घरेलू झगड़ों से विरक्त होकर वृन्दावन में आ बसे थे। इन्होंने लिखा है—

जहां कलह तहँ सुख नहीं, कलह दुखन को मूल।
सबै कलह इक राज में, राज कलह को मूल।
कहा भयो नृप हूं भए, ढोवत जग बेगार।
ले तन सुख हरि भक्ति को, सकल सुखन को सार।

जब ये वृन्दावन पहुंचे तब बल्लभाचार्य की ५वीं गद्दी चल रही थी। वहां इनके साथ इनकी पड़दायत रसिकबिहारी जी उर्फ़ बनीठनी जी भी गईं। इन्होंने सब छोटी बड़ी ७३ पुस्तकें लिखी हैं जिन के नाम ये हैं— १ मनोरथ-मंजरी, २ सिंगार-साज, ३ गोपीप्रेम-प्रकाश, ४ पदप्रसंग-माला, ५ ब्रजबैकुण्ठ-तुला, ६ ब्रजसार, ७ मोर-लीला, ८ प्रातरसमंजरी, ९ विहार-चन्द्रिका, १० भोजनानन्दाष्टक, ११ जुगलरस-माधुरी, १२ फूल-विलास, १३ गोधन-आगमन दोहन, १४ आनन्द-लग्नाष्टक, १५ फाग-विलास, १६ ग्रीष्म विहार, १७ पावस पचीसी, १८ गोपीबैनविलास, १९ रासरसलता, २० नैनरूप रस, २१ शीतसार, २२ इश्कचमन, २३ मजलिस मण्डन, २४ अरिल्लाष्टक, २५ सदाकीमांझ, २६ वर्षाऋतु की मांझ, २७ होरी की मांझ, २८ कृष्ण जन्मोत्सव कवित्त, २९ प्रिया जन्मोत्सव कवित्त, ३० सांझी के कवित्त, ३१ रास के कवित्त, ३२ चांदनी के कवित्त, ३३ दिवारी के कवित्त, ३४ गोवर्धन-धारन के कवित्त, ३५ होरी के कवित्त, ३६ फागगोकुलाष्टक, ३७ हिंडोरा के कवित्त, ३८ वर्षा के कवित्त, ३९ भक्ति मगदीपिका, ४० तीर्थानन्द ४१ फाग विहार, ४२ बाल-विनोद, ४३ वन विनोद, ४४ सुजानानन्द, ४५ भक्तिसार, ४६ देहदशा, ४७ वैराग्यवल्ली, ४८ रसिक रत्नावली, ४९ कलिवैराग्य वल्लरी, ५० अरिल्लपच्चीसी, ५१ छूटकविधि, ५२ पारायणविधि प्रकाश, ५३ शिखनख, ५४ नखशिख, ५५ छूटक कवित्त, ५६ चचरियाँ, ५७ रेखता, ५८ मनोरथ-मंजरी, ५९ राम चरित्र-माला, ६० पद-प्रबोधमाला, ६१ जुगलभक्ति विनोद, ६२ रसानुक्रम के दोहे ६३ शरद् की मांझ, ६४ साझीफूल बीनन संवाद, ६५ बंसत-वर्णन ६६ गोविन्द परचई, ६७ बनजन प्रशंसा, ६८ छूटक दोहा, ६९ उत्सवमाला, ७० पद- मुक्तावली। ७१ वैन-विलास, ७२ गुप्तरस प्रकास। अन्तिम एक अप्राप्य है। इस लम्बी सूची में की बहुत पुस्तकें छोटी २ हैं। यह भिन्न २ प्रसंगों के कुछ छन्द मात्र हैं। यदि इन्हें इकट्ठा किया जाय तो ८।१० अच्छी पुस्तकें बन सकती हैं। इनकी सरस और भक्तिमय भाषा देखिये—

भादौं की कारी अंध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावैं।
स्यामाजू आपनी ऊंची अटापैछ को रसरीति मलारहि गावैं।
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावैं।
पौन मया करि घूंघट टारै; दया करि दामिनि दीप दिखावैं।
(वर्षा के कवित्त)

इन्होंने कुछ काव्य सूफ़ी-भावपूर्ण फ़ारसी ढंग पर भी लिखा है—

सब मज़हब सब इल्म अरु सबै ऐश के स्वाद,।
अरे, इश्क के असर बिनु ये सब ही बरबाद।
आया इश्क लपेट में लागी चश्म चपेट।
सोई आया ख़लक में और भरें सब पेट।

बैताल; ई० सन् १८३०—

ये बन्दीजन थे और चरखारी के उन्हीं कवि राजा विक्रमसाहि की सभा में रहते थे जिन्होंने 'विक्रमसतसई' आदि कई ग्रन्थ लिखे हैं, तथा जो खुम्मान प्रताप आदि कवियों के आश्रयदाता थे। बैताल ने गिरिधरराय के समान नीति पर कुण्डलियां लिखी हैं।

एक उदाहरण देखिए—

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू।
बाम्हन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय, जो कुल में दाग़ लगावै।
अरु बेनियाब राजा मरै, तबै नींद भर सोइए।
बैताल कहै विक्रम सुनो, ऐते मरे न रोइए।

अध्याय बत्तीसवाँ

रीति के विरामकवि पद्माकर और प्रतापसाहि

पद्माकर भट्ट; जन्म ई० स० १७५४—

ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता कई राजाओं से पूजित जागीरप्राप्त थे। रीतिकाल के कवियों में इनका उच्च स्थान है। बिहारी को छोड़ कर और किसी कवि की इतनी लोकप्रियता नहीं जितनी पद्माकर की है। कहना चाहिए कि रीतिकालीन वाणी पद्माकर और प्रतापसाहि की वाणी द्वारा ओज प्राप्त कर सो गई। पद्माकर के बाद रीति का दूसरा प्रख्यात कवि देश में नहीं हुआ।

ये अपने जीवनकाल में भिन्न २ स्थानों पर रहे। गोसाईं अनूपगिरि जो हिम्मतबहादुर के नाम से प्रसिद्ध हैं, जब अवध के नवाब के सेनापति हुए तब ये उनके पास रहने लगे। उनके नाम पर इन्होंने 'हिम्मत-बहादुरविरदावली, लिख डाली। जो वीर रस की अपूर्व रचना है।

पीछे ये सतारे के प्रसिद्ध राघोबा के दर्बार में गए, और एक हाथी, एक लाख रुपया और १० गांव पाए। इसके बाद ये जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के पास गये वहां बहुत दिन रहे। महाराज के पुत्र महाराज जगतसिंह के समय में भी ये जयपुर रहे। उन्हीं के नाम पर 'जगद्विनोद' रचा। वहीं पर इन्होंने अपना अलंकार ग्रन्थ 'पद्माभरण' बनाया जो दोहों में है।

एक बार ये उदयपुर के महाराणा भीमसिंह के दर्बार में भी गये, वहां इनका अच्छा सत्कार हुआ। महाराणा की आज्ञा से इन्होंने 'गणगौर' के मेले का वर्णन किया। महाराणा की मृत्यु होने पर ये ग्वालियर के महाराज दौलतराव सेंधिया के दर्बार में गए। सेंधिया ने इनका अच्छा सन्मान किया। वहां के सरदार उदाजी के कहने से इन्होंने हितोपदेश का भाषानुवाद किया। ग्वालियर से यह बूंदी आए, वहां से अपने घर बांदा गए। फिर वहां रहने लगे। तभी उन्होंने 'प्रबोधपचासा' नामक वैराग्य और भक्ति का ग्रन्थ रचा। अपनी प्रसिद्ध 'गंगालहरी' इन्होंने अन्तिम काल में रची। 'राम-रसायन' नामक एक दोहे चौपाई का ग्रन्थ भी इन्हीं का रचा कहा जाता है, जो बाल्मीकि-रामायण के आधार पर है।

इनका 'जगद्विनोद' अति प्रसिद्ध हुआ। यह शृङ्गाररस का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इस में माधुर्य, स्वाभाविकता तथा सरलता अद्भुत है। ऐसा रचना सौष्ठव बिहारी को छोड़ और कवि में नहीं दीखा। पद्माकर जिस प्रकार भावुकता से कल्पना के साथ बाणी का संयोग करने में समर्थ हुए हैं वैसा विरले ही मेधावी जन कर सकते हैं। भाषा की यह सामर्थ्य या तो हमें तुलसीदास में ही दीख पड़ती है या पद्माकर में। पद्माकर अनुप्रास के प्रलोभन से बचे नहीं रहे, पर बहुत कम वे इस प्रपंच में पड़े हैं। उनकी भाषा का रंग तो वहां खुलता है जहां वे मधुर कल्पना के बीच सुन्दर कोमल भाव तरंगों में तैरते हैं। वहां उनकी भाषा साफ़, स्वच्छ, निर्मल-जलधारा सी दीख पड़ती है। लाक्षणिकता तो उनकी अपनी वस्तु है।

पद्माकर के कुछ उदाहरण देखिए—

आई सँग आलिन के ननद पठाई नीठि, सोहत सोहाई सीस इँडुरी सुपटकी।
कहै पद्माकर गँभीर जमुना के तीर, लागी घट भरन नबेली नेह अटकी।
ताही समय मोहन जो बांसुरी बजाई तामें मधुर मलार गाई ओट बंसी बटकी।
तान लागे लटकी, रही न सुध घूँघट की, घर की न घाट की, न बाट की न घट की।

एहो नंदलाल! ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तो चलौ, जोरे जुरि जायगी।
कहै 'पद्माकर' नहीं तौ ये झकोरे लगे,
औरे लौ अचाका बिनु घोरे घुरि जायगी।
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन सों,

देखत ही देखौ दामिनि लौं दुरि जायगी।
तौंही लगि चैन जौ लौं चेति है न चन्द्रमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी।

प्रताप साहि; ई० सन् १८२६—

ये रतनेस बन्दीजन के पुत्र थे, और चरखारी के महाराजा विक्रम-साहि के आश्रित थे। ये बड़े साहित्य-मर्मज्ञ और पण्डित थे। ये मतिराम, श्रीपति, और केशवदास की टक्कर के आचार्य थे। इन्होंने रीतिमार्ग को पूर्ण किया। पूर्ववर्ती किसी कवि ने लक्षणा व्यंजना का उदाहरणों द्वारा विस्तृत निरूपण नहीं किया था, इन्होंने इन पर एक पृथक् पुस्तक 'व्यंगार्थ-कौमुदी' नाम से रची जिसमें दोहे कवित्त सवैये सब मिल कर १३० पद हैं जो सभी व्यंजना या ध्वनि के उदाहरण हैं। इन्होंने बड़ी उलझन का सहारा भी लिया है। देखिए—

सीख सिखाइ न मानति है, बर ही बस संग सखीन के आवै।
खेलत खेल नए जल में; बिन काम वृथा कत जाम बितावै।
छोड़ि कै साथ सहेलिन कौ, रहिकै कहि कौन सवादहि पावै।
कौन परी यह बानि अरी, नित नीर भरी गगरी ढरकावै।

साधारण दृष्टि से तो यह एक अल्हड़पने के खेल का दृश्य है। पर वह घड़े के जल में जो अपने नेत्रों का प्रतिबिम्ब देखती है सो उसमें मछली का भ्रम होता है। यह जो एक प्रकार का भ्रम है, वही व्यंग है और यह 'सादृश्य-व्यंग्य' कहा जा सकता है। इसका अर्थ है, उसके नेत्र मछली के समान हैं। प्रतापसाहि ने रसग्रन्थ के अनुरूप नायिका-भेद के क्रम से सब पद्य रखे हैं। इससे उस ग्रन्थ को नायिका भेद का भी ग्रन्थ कह सकते हैं। इस कौशल के देखते इनके आचार्यत्व और कवित्व दोनों ही का उत्कर्ष प्रकट होता है। इनकी भाषा स्निग्ध, पद्धति सरल, कल्पना परिपूर्ण है जो मतिराम, श्रीपति और बेनी के समान है तथा प्रतिभा पद्मकार के जोड़ की है। अनुप्रास योजना में तो ये पद्माकर से भी आगे बढ़ गये हैं। इनकी भाषा में आडम्बर नहीं है—न गति-शैथिल्य ही है।

इनकी रचना का एक उदाहरण देखिए—

कानि करै गुरु लोगन की, न सखीन की सीखन ही मन लावति।
एड़ भरी अँगराति खरी, कत घूंघट में नए नैन नचावति।
मंजन कै दृग अंजन आँजति, अंग अनंग उमंग बढ़ावति।
कौन सुभाव री तेरो परयो, खिन आंगन में, खिन पौर में आवति।

इन्होंने इतने ग्रन्थ लिखे—

१. व्यङ्गार्थ-कौमुदी २. काव्य-विलास ३. जयसिंहप्रकाश ४. शृंगार-मंजरी ५. शृंगारशिरोमणि, ६. अलंकारचिन्तामणि, ७. काव्यविनोद ८. रसराज की टीका ९. रत्नचन्द्रिका १०. जुगलनखसिख, ११ बलभद्र नखसिख की टीका।

अध्याय तेतीसवाँ

लक्ष्यकार बिहारीलाल जन्म ई० स० १५९६.

बिहारीलाल इस युग के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। इन्होंने यद्यपि कोई रीति-ग्रन्थ नहीं लिखा परन्तु इन्होंने अपनी रचना रीति से इतनी बद्ध की है कि रीति की पूरी परंपरा से अपरिचित इनकी सम्पूर्ण रचनाओं का ठीक २ अर्थ नहीं लगा सकता। नायिकाओं और अलंकारों के वे मुख्य २ भेद जो मुक्तक रचना में खप सकते हैं बिहारी ने बड़ी ही निपुणता से खपाए हैं। विदग्धा, खण्डिता, अभिसारिका आदि नायिकाओं के चलते भेद, और साम्यमूल अथवा वैषम्यमूल अलंकारों को उन्होंने बड़े ही कौशल से ग्रहण किया है।

बिहारी की तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। १–चेष्टाओं और युक्तियों का विधान जिसके अन्तर्गत नायिकाओं के हावों का चित्रण भी आजाता है। २–व्यवस्थित भाषा। भाषा सम्बन्धी क्षमता में बिहारी की क्षमता उस काल तक का कोई कवि नहीं कर सकता। ऐसी परिपूर्ण व्यंजकता अन्यत्र दीख ही नहीं पाती। ३–विदेशी प्रभाव को भारतीय पद्धति के भीतर ग्रहण करना। इनके सिवा कल्पना और उड़ान दोनों ही में बिहारी की होड़ करने वाला कोई व्यक्ति नज़र नहीं आता। बिहारी ने केवल एक 'सतसई' ही लिखी। उसी से वे हिन्दी साहित्य की चोटी पर जा बैठे। उनकी सतसई पर जितना साहित्य निर्माण हुआ है उतना तुलसी को छोड़ कर किसी अन्य कवि की रचना पर नहीं हुआ। तुलसी की रचना में भक्ति का बड़ा भारी सहारा था। बिहारी की रचना में वह भी नहीं था। तुलसी के ऊपर वाङ्मय तुलसीभक्तों ने नहीं रामभक्तों ने किया। पर बिहारी के ऊपर जो वाङ्मय निर्मित हुआ वह रसिक साहित्यिकों द्वारा। तुलसी की रचना काव्य और धर्म के दोनों पहियों पर चली, पर बिहारी की रचना तो एक काव्य चक्र पर ही घूमती फिरी। कुछ यही नहीं कि बिहारी की उल्वण-शृङ्गारिकता ने लोगों को आकर्षित किया—उसका आकर्षण तो उसके काव्य का कलापक्ष और भावपक्ष का तुल्य-योग था। काव्य और भाव, दोनों की तुल्ययोगिता आसान नहीं है। जो रचना इस तुल्य-योग से संगठित होती है, वही साहित्य के उस उच्च शिखर पर पहुंच जाती है जहां से उसके वैचित्र्य के दर्शन करके सहृदय जन पुलकित होते रहते हैं।

कवि परिचय—

बिहारीलाल का जन्म सन् १५९६ ई० में ग्वालियर में हुआ। ये माथुर चौबे थे। उनके पिता का नाम केशवराय था। वे धर्मात्मा और पण्डित थे।

वे ग्वालियर से ओरछे चले आए और वहां के राजा रामशाह के भाई इन्द्रजीतसिंह के सम्पर्क में रहे। इन्द्रजीत रसिक और मर्मज्ञ पुरुष थे। उन्हीं के आश्रित केशवदास और प्रवीणराय थे। केशवदास ने बिहारी को साहित्य पढ़ाया। उन दिनों दसान नदी के किनारे 'गुढ़ौ' गांव में एक महात्मा श्री नरहरिदास रहते थे। बिहारी के पिता उनके पास आया जाया करते थे। वहां पर उनका परिचय वृन्दावन के गद्दीनशीन सरसदेव से हुआ जो नरहरि जी के दीक्षागुरु थे। पीछे जब ओरछा का इन्द्रजीतसिंह का अखाड़ा अस्तव्यस्त हो गया तो बिहारी के पिता पुत्र को लेकर वृन्दावन उक्त सरसदेव जी के पास चले आए और वहीं रहने लगे। बिहारीलाल विद्योपार्जन में लगे रहे। यहां वे साहित्य-संगीत में पारंगत हो गये। यहीं उनका विवाह एक सम्पन्न घर में हो गया। बिहारी के भाई और बहिन का विवाह भी यहीं हुआ। इन्हीं दिनों नरहरिदास भी वृन्दावन आ रहे। इनकी ख्याति सुनकर सम्राट् जहांगीर शाहजादा खुर्रम को लेकर मिलने आए, तब बिहारी की प्रतिभा भी फैलने लगी थी। वे संगीत तथा संस्कृत और हिन्दी काव्य के मर्मज्ञ समझे जाते थे। वहां शाहजादा खुर्रम का ध्यान इनकी ओर आकर्षित हुआ और वे इन्हें आगरे ले गये। शाहजादा संस्कृत, फ़ारसी और हिन्दी का मर्मज्ञ था और उस समय उसके सान्निध्य में जगन्नाथ पण्डितराज, महाकवि रायसुन्दर, आचार्य कुलपति मिश्र, कविवर दूलह आदि रहते थे। उन सब की संगति में बिहारी की प्रतिभा और निखरी। यहां उन्होंने फ़ारसी पढ़ी और जल्द ही फ़ारसी में काव्य रचने लगे। उनका आदर धनी मानी जनों में होने लगा। इसी बीच शाहजहां को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। इस अवसर पर शाहजादे ने बिहारी को बहुत धन-रत्न दिया। उस जशन में ५२ राजे सम्मिलित हुए थे। उन्हों ने भी बिहारी को बहुत दान भेंट दिया। अनेकों ने वार्षिकवृत्ति बांध दी। इसी समय उन्होंने नवाब खानखाना से भेंट की और कविता सुनाई। एक दोहा सुनकर खानखाना ने उन्हें कई हजार अशर्फ़ियां दीं। वह दोहा यह था—

गंग गौंछ, मौछैं जमुन, अधरन सरसुति रागु।
प्रगट खान खानान के, कामद बदन-प्रयागु॥

इसके कुछ दिन बाद जहांगीर का कोपभाजन हो खुर्रम को भागना पड़ा और तब बिहारी का भी आगरावास छूटा। वे बीच २ में वृत्ति लेने राजाओं के यहां आते जाते रहते थे। तब महाराज जसवन्तसिंह जोधपुर की गद्दी पर थे। वे काव्य साहित्य के आचार्य और कवि भी थे। कुछ दिन वे वहां रहते रहे, एक बार आमेर के महाराज जयसिंह के पास अपनी वृत्ति लेने गये। महाराज एक अल्पवयस्का बाला ब्याह लाए थे, और उसके सहवास में राजकाज भूल महलों में पड़े रहते थे। राजकाज की हालत खराब होती जाती

थी। कोई उन तक पहुँच न पाता था। बिहारी ने राजा से मिलने के बड़े २ उद्योग किये पर व्यर्थ गये। वे इस प्रतीक्षा में आमेर के पास ब्रह्ममण्डली के साथ ठहर गये कि राजा सूचना पाकर उन्हें बुलावेंगे क्योंकि वे बादशाह के कृपापात्र और राजदर्बारी कवि थे, साधारण व्यक्ति नहीं। यह भी बात थी कि खुर्रम तब बादशाह हो गये थे। परन्तु राजा ने बिहारी के आगमन पर कोई लक्ष्य नहीं किया। इस पर अनेक राजदर्बारी मन्त्री और प्रमुख पुरुषों ने उनके पास जाकर राजा की स्थिति वर्णन की। तब मानव स्वभाव के उस पारखी ने सोच विचार कर एक दोहा लिखा। दोहा शृंगारात्मक था। शृंगारात्मक कविता राजा के पास पहुंचाने का निषेध न था। इससे वह दोहा राजा के हाथ में पहुंच गया। वह दोहा यह था—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही तें बन्ध्यो, आगे कौन हवाल।

यह अन्योक्तिपूर्ण, मार्मिक ममता से भरा दोहा पढ़ते ही राजा जयसिंह रंगमहल से बाहर निकल आए और बिहारी का सत्कार कर इसी दोहे पर एक 'पसर' मुहर दी। तथा फिर उन्हें जाने नहीं दिया। अपने पास ही रख लिया।

इस दोहे में बहुत कुछ काव्य—बहुत कुछ अर्थ-गाम्भीर्य था। महाराज को भौंरा और मुग्धा रानी को कली बनाकर कितनी विदग्धता से यह दोहा कहा गया था और इस में भौंरे के प्रति कितनी गम्भीर हितकामना थी—कैसी हितकारी कातरोक्ति थी, इसे जितना जयसिंह ने समझा उतना और कोई नहीं समझ सकता।

इसके लिये उन दिनों के वातावरण पर विचार करना पड़ेगा। उन दिनों आमेर के राज को खालसा से छूटे थोड़े ही दिन हुए थे। आमेरपति महाराज मानसिंह जब निस्सन्तान मर गये तब जहांगीर ने जोधाबाई के खास अनुरोध करने पर आमेर की गद्दी महाराज मानसिंह के पोते इन जयसिंह को बख्श दी थी। ये गद्दीदार कुछ ही दिन बाद मुग्धा रानी के प्रेमरस में दीवाने हो राज्य की चिन्ता छोड़ बैठे थे। दोहे में 'अली कली ही तें बँध्यो' का व्यंग जो था वह तो था ही 'आगे कौन हवाल, बड़ा भारी महास्त्र था। जयसिंह जानते थे कि शाहजहां पर बिहारी का कैसा प्रभाव है। यदि वे रुष्ट होकर आगरे पहुंच बादशाह से मेरी इस दशा का वर्णन करेंगे तो मेरी क्या हालत होगी। राजा अपनी स्त्रैणवृत्ति तथा राजकाज में उदासी रखने की त्रुटि को समझ गये। वे वीर, दूरदर्शी और नीतिकुशल थे। उन्होंने सोचा 'बिहारी

का प्रवेश प्रत्येक राजदर्बार में है वे यदि हर राजा के घर में जाकर मेरी यह दशा बखानते फिरेंगे तो कितनी बदनामी होगी। इसी से—'आगे कौन हवाल' का यह चरण एक चाबुक की करारी चोट सा उन्हें लगा। और उन्होंने तुरन्त आकर कवि को दान मान से पुरस्कृत कर सदा के लिये बांध लिया। ओर कहा, कुछ दिन आप यहीं रहें और ऐसे ही दोहे रचें। उन्हें प्रति दोहा एक मुहर भेंट दी जायगी।

राजा की चौहानी रानी ने भी उन्हें ड्योढ़ियों पर बुला कर दान मान से सम्मानित किया और काली पहाड़ी ग्राम भेंट किया—इस प्रकार बिहारी लाल राजा, रानी, दर्बारी जन आदि सब से समादृत हो वहीं रहने लगे। इस के २।३ मास बाद ही चौहानी रानी के गर्भ से कुमार रामसिंह का जन्म हुआ जो राज्य के उत्तराधिकारी थे। इस अवसर पर भी बिहारी को खूब धनरत्न से पुरस्कृत किया गया। जब राजकुमार कुछ सयाने हुए तो बिहारी लाल ही उन्हें पढ़ाने के लिये नियत किये गये। इन्हें पढ़ाने को बिहारी ने दोहों का एक संग्रह तैयार किया, जिस में ५०० दोहे तो उनके थे—शेष अन्य कवियों के थे।

सन १६४८ ई० में महाराज जयसिंह औरंगजेब के साथ बलख की चढ़ाई पर गये और वहां ये बड़ी वीरता तथा चतुराई से शाही सेना को पठानों तथा बर्फ़ से बचा लाए। इससे आगरे में उनका बड़ा सम्मान हुआ। फिर आमेर लौटने पर भी बड़ा उत्सव मनाया गया। इस समय 'सतसई' पूरी हो चुकी थी। बिहारी ने इस घटना पर तीन दोहे लिखे और सतसई में जोड़ दिये। वे दोहे ये हैं—

सामां सेन सयानकी, सबै साहि के साथ।
बाहु-बली जय साहिजू, फतै तिहारे हाथ॥
यों दल काढ़े बलखतें, तैं जयसाह भुवाल।
उदर अघासुर के परे, ज्यों हरि गाय गुआल॥
घर घर तुरकिनि हिन्दुनी, देत असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर चुरी, तैं राखी जयसाहि॥

इस प्रकार सतसई पूर्ण कर बिहारी ने इसी समय जयसिंह महाराज को भेंट कर दी। महाराज ने उन्हें इस अवसर पर बहु-भांति पुरस्कृत किया।

इसी समय उनकी स्त्री का देहान्त हो गया। उनके कोई पुत्र न था। अतः दत्तक-पुत्र निरंजन कृष्ण या कृष्णलाल को जयसिंह तथा रामसिंह के आश्रय में छोड़ ये विरक्त से हो गये। और फिर वृन्दावन अपने दीक्षागुरू नरहरिदास के पास चले आए और कविता से भी विरत हो गए। बिहारी-बिहार में लिखा है—

डोरी लागी प्रेम की, वृन्दावन के मांहि।
आए स्वामी थान में, सुखयुत जन्म सिराहि॥
कविता सों मन हटि गयो, लग्यो कान्ह सों ध्यान।
लाल बिहारी ह्वै गये, दास बिहारी मान॥

इस प्रकार वहीं उनका देहावसान सन १६६५ ई० में हुआ।

मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने शिवा जी को मुगलवाहिनी लेकर पराजित किया। यह हिन्दू-विद्रोह बिहारी को पसन्द नहीं आया। उन्होंने इस वीरता की कुछ भी प्रशंसा नहीं की, उल्टे मिर्ज़ा राजा को शिवाजी पर चढ़ाई करने से रोकने की चेष्टा में यह दोहा लिखा—

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देख विहंग विचारि।
बाज पराए पानि पर, तू पंच्छीनु न मारि।

इसी दोहे से प्रभावित होकर मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने शिवाजी से सन्धि की और उन्हें समझाबुझा कर मनसबदारी दिलवाने दिल्ली ले आए। वे महाराज मानसिंह को हिन्दू-हित-रक्षक समझते और उनका सम्मान करते थे। एक बार उन्होंने एक कवित्त कह कर मानसिंह का आदर्श महाराज जयसिंह के सन्मुख इन शब्दों में रखा था—

महाराज मानसिंह पूरब पठान मारे,
सोनित की सरिता, अजौं न सिमिटत है।
सुकवि बिहारी, अजौं उठत कबंधकूदि,
आजु लगि रनतैरनोही ना मिटत है।
आजु लौं पिसाचन की चलन तें चौंकि चौंकि,
सची-मघवा की छतियां सों लिपटति है।
आजु लगि ओढ़ैं हैं कपाली आली-आली खालैं,
आजु लगि काली मुख लाली न मिटत है।

सतसई—

बिहारी की सतसई में सब मिलाकर सातसौ उन्नीस दोहे हैं। इसकी रचना मुक्तक पद्धति पर हुई है। इसमें मुक्तकों के गुणों का चरम उत्कर्ष है। इसका प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र है। इससे इसका कोई क्रम नहीं है। मुगल सम्राट् के शाहज़ादा आजमशाह ने इसका एक क्रम स्थिर कराया था जो आजमशाही-क्रम कहाता है। सतसई के अनेक टीकाकारों ने इसी क्रम को अपनाया है। इस काव्यरत्नमंजूषा में बिहारी ने अपना हृदय ही न्यौछावर कर दिया है। ऐसी लोकोत्तर कल्पना, बाह्य और आभ्यन्तर प्रकृति दर्शन, भावमाधुरी और भाव-प्रतिमा, ज्ञानगरिमा और भाषा-संस्कार, अर्थ गाम्भीर्य और पूर्ण प्रसाद, भावों का प्रवाह और अलंकारों का

सौन्दर्य शब्दचित्र निर्माण का कौशल और भावपूर्ण पद-स्थान प्रणाली, सब एक स्थान पर काव्य जगत् में अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

इन ७१९ दोहों में इस अप्रतिम कवि ने अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य सर्वतोमुखी प्रतिभा, दिव्य कवित्व-शक्ति और गम्भीर विश्वदर्शन का परिचय दिया है । इसमें नवरस, तेंतीस संचारी भाव, नौ स्थायी भाव, सम्पूर्ण कायिक, मानसिक और सात्विक अनुभाव, नायक-नायिका भेद, हाव, सखी, दूती, संयोग, विरह, विरहनिवेदन, मान, हास, परिहास, नखसिख, षड्ऋतु, भक्ति, धर्म नीति, अन्योक्ति, संपूर्ण अर्थालंकार, सम्पूर्ण शब्दालंकार ध्वनि और व्यंग सहित इस समर्थ कवि ने व्यक्त किए हैं। सतसई का शृङ्गारी रचनाओं में जो मान हुआ उससे इसकी पचासों टीकाएँ हुई जिन में ४१५ अति प्रसिद्ध हैं। अनेक कवियों ने इन दोहों पर छप्पय, कुण्डलिया और सवैया बनाए । इनमें पठान सुलतान की कुण्डलिया उत्तम हैं पर अपूर्ण हैं। भारतेन्दु ने भी कुछ कुण्डलिया रची थीं और अम्बिकादत्त व्यास ने सब दोहों पर रोला छन्द लगाए थे । परमानन्द ने उनका 'शृङ्गारसप्तशती' नाम से संस्कृत अनुवाद किया हैं । मुं. देवीप्रसाद पीतम ने उर्दू शेअरों में भी एक अनुवाद किया था। इस प्रकार बिहारी का एक पृथक् साहित्य ही हो गया है। बाबू जगन्नाथदास जी रत्नाकर ने इनका सब से उत्तम और प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित कराया था। बिहारी की ख्याति इसी एक सतसई से इतनी हुई । मुक्तक कविता का गुणोत्कर्ष बिहारी की रचनाओं में चरम सीमा तक पहुंच गया है । रस व्यंजना का सम्पूर्ण वैभव बिहारी के अनुभावों के विधान में दीख पड़ता है।

इनके भावव्यंजना के उदाहरण देखिए—

बतरस लालच लाल के, मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाइ ॥
ललन-चलन सुनि पलन में, अँसुआ झलके आइ।
भई लखाइ न सखिन्ह हूं, झूठे ही जमुहाइ ॥

बिहारी की वस्तुव्यंजना भी असाधारण है। उसने शोभा, सुकुमारता, हाव, विरह आदि के अद्भुत वर्णन किए हैं।

देखिए—

आडे दै आले बसन, जाडे हू की राति।
साहस कै कै नेहबस, सखी सबै ढिग जाति ॥

एक बिहारी की क्लिष्ट कल्पना देखिए—

डीठि परोसिनि ईठ ह्वै, कहे जु गहे सयान।
सबै सँदेसे कहि कह्यो, मुसुकाहट मैं मान ॥

अलंकारों की योजना का एक चमत्कार देखिए—

दृग् अरुझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥

एक रूपक व्यंग देखिए—

करे चाह सों चुटकि कै, खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाए तरफरत, करत खूंद सी नैन॥

शब्द-वैचित्र्य का एक उदाहरण—

तो पर वारों उरवसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर वसी, ह्वै उरवसी समान॥

पं० पद्मसिंह शर्मा ने यह प्रकट किया है कि बिहारी के बहुत से दोहे गाथासप्तशती और आर्यासप्तशती की छाया पर लिखे गये हैं। पर बिहारी ने उन पर भी अपनी प्रतिभा प्रकट की है। उसकी भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। उसने शब्दों की वैसी तोड़-मरोड़ नहीं की है जैसी कि देव और भूषण ने की है।

बिहारी की तुलना—

इस बात की चर्चा पहले हो चुकी है कि बिहारी ने 'गाथासप्तशती, और 'आर्यासप्तशती देखी थीं। ये दोनों ही रचनाएं अपने दिव्य माधुर्य और कवित्व के ओज के कारण सदा से सहृदयों के कण्ठ का हार रही हैं। खास कर गाथासप्तशती का विवेचक विद्वानों ने अधिक आदर किया है। उसकी आधी से अधिक गाथाएँ साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों में उद्धृत हैं। ध्वनिप्रस्थापन-परमाचार्य श्रीआनंदवर्धन अपने ध्वन्यालोक में, मम्मट अपने काव्यप्रकाश में, भोज अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में गाथा के उद्धरणों को लेकर धन्य हुए हैं। ये प्राकृत गाथाएँ वास्तव में प्राचीन साहित्य की अनमोल निधि हैं। आर्यासप्तशती के कर्ता गोवर्धनाचार्य की प्रशंसा में जयदेव पण्डित कहते हैं कि—शृंगार रस की उत्कृष्ट कविता करने वाला गोवर्धनाचार्य का प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं सुना गया। इन दो रचनाओं के अलावा तीसरी रचना अमरुशतक है जो हजारों में एक है। अमरुक के विषय में प्राचीन विद्वान् कहते हैं—अमरुक कवेरेकः श्लोकः प्रबन्ध शतायते, अर्थात् अमरुक का एक श्लोक सौ प्रबन्ध-काव्यों के समान है। इन तीनों ही काव्यों की रचना मुक्तक शैली में हुई है। इसी शैली में बिहारी ने अपनी सतसई रची है। सतसई के अनेक दोहे उक्त ग्रन्थों की सूक्तियों के आधार पर बने हैं।

सतसई शब्द संस्कृत की सप्तशती का रूपान्तर है । संस्कृत और प्राकृत में गाथासप्तशती और आर्यासप्तशती हमें मिलती हैं । इन ग्रन्थों का बिहारी ने भली भांति मनन किया था । इन ग्रन्थों के भावापहरण की झलक हम बिहारी में पाते हैं । पर भावापहरण का कौशल उससे अधिक चमत्कारिक है ।

बिहारी से पूर्व हिन्दी में तुलसी और रहीम ने दोहों में सतसई लिखी थीं । बिहारी के बाद भी मतिराम-सतसई, वृन्द-सतसई, शृङ्गार-सतसई, विश्व-सतसई आदि सतसईयों का तांता बंध गया । पर आगे पीछे की कोई भी सतसई बिहारी की गर्द को नहीं पहुंच पाई । उनकी सतसई, 'गाथासप्तशती' 'आर्यासप्तशती' और अमरुक शतक से भी श्रेष्ठ बन गई ।

इसी से साहित्य-मर्मज्ञ कहते हैं—

सतसइया के दोहरे, ज्यों नैंनन के तीर ।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर ॥
उदै अस्त लौ अवनि पै, सब को याही चाह ।
सुनत बिहारी सतसई, सबहि सराह सराह ॥

बिहारी के साहित्य परिजन—

रसनिधि, प्रीतम, महताब, नेवाज, पजनेस और बाबा दीनदयालगिरि आदि कवि भी बिहारी की रचना परम्परा के कारण उनके साहित्य परिजन की गणना में आते हैं । इन कवियों ने भी शुद्ध लक्षण-ग्रन्थ नहीं लिखे परन्तु लक्ष्य लक्षण रखा है । रचना मुक्तक हैं, इन्हें रीतिबद्ध रचयिता कहा जा सकता है और इनकी रचनाएँ रसभेद, नायिकाभेद तथा अलंकारों के भीतर आसानी से बांटी जा सकती हैं, इन कवियों का यहां हम संक्षिप्त परिचय देते हैं ।

रसनिधि; ई० सन् १६६१—

ये दतिया के जमींदार थे । इन्होंने बिहारी की सतसई की पद्धति पर 'रतनहजारा' लिखा है । इन पर बिहारी की बड़ी भारी छाप है । इनके दोहों का संग्रह छत्रपुर के बाबू जगन्नाथप्रसाद ने किया है । इनका एक ग्रन्थ 'अरिल्ल और माफी' भी मिला है । इनका शृंगार-वर्णन अपूर्व है । एक दोहा देखिए—

चतुर चितेरे तुव सवी, लिखत न हियठहराय ।
कलम छुवत कर आंगुरी, कटी कटाछन जाय ॥

अली मुहिबखां 'प्रीतम'; ई० स० १७३१—

इन्होंने 'खटमल बाईसी' नामक हास्यरस की एक छोटी सी पुस्तक लिखी है । यह हिन्दी का हास्यरस का प्रथम लाक्षणिक ग्रन्थ है । इनकी और कोई पुस्तक

नहीं मिलती । 'खटमलबाईसी' में २२ छन्द हैं, जिनमें से एक उदाहरण यहां देते हैं—

गढ़ जिन हाए बड़े रण बिडराये दस-दिसन को धाए बस कीने निज वर तें ।
भट जिन मारे देव छिन में पछारे काज कीने भार भारे सब आपने ही कर तें ।
काहू की न संक चित्त बीच काहू मन करि, 'प्रीतम' सुजान दबे नाहिं काहू भरि तें ।
नींद भरि सोवंत न ऐसे ऐसे बली निसि, चौंकि चौंकि उठे खटमल के डरि तें ।

महताब; ई० स० १७४४—

मिश्रबन्धुओं के कथनानुसार इन्होंने किसी हिन्दूपति की प्रशंसा की है, जिनके यहां दास कवि रहते थे । अपने पद्यों में इन्होंने हिन्दूपति को बादशाह नाम से विहित किया है । इनका 'नखशिख' एक अच्छा ग्रन्थ है । उदाहरणार्थ एक कविता यहां लिखी जाती है :—

सोहत सजीले सित असित सुरंग अंग, जनि सो दै अंजन अनूप रुचि हेरे हैं ।
सील भरे लसत असील गुन साज किये, लाज की लगाम काम कारीगर फेरे हैं ।
घूंघट फरस तामें फिरत कवित्त फूले, लोह 'महताब' अवलोकि भये चेरे हैं ।
मोर-वारे मन के त्यों पन के मरोर-वारे, त्योर-वारे तरुनी तुरंग दृग तेरे हैं ।

नेवाज़; ई० स० १७४८—

ये बिलग्राम (ज़िला हरदोई) के निवासी थे । इस नाम के और भी कई कवि हो चुके हैं । इनकी कविता शृङ्गार-रसपूर्ण है । इनका काव्यरूप में कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ । कुछ स्फुट रचनाएं ही मिलती हैं ।

पजनेस; ई० स० १८४४—

ये पन्ना के निवासी थे । इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिला । फुटकर रचनाएं मिली हैं । शिवसिंहसरोज में इनकी 'मधुरप्रिया' और 'नखशिख' नामक दो पुस्तकों का उल्लेख किया गया है । इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'पजनेस प्रकाश' प्रकाशित भी हुआ है । ये शृंगारी कवि हैं । फ़ारसी के भी ज्ञाता हैं । और ट वर्ग जैसे कठोर अक्षरों का भी व्यवहार करते हैं । पदविन्यास इनका अच्छा है ।

पजनेस तसद्दुक़ ता बिस्मिल, जुल्फ़े फुरक़त न क़बूल कसे ।
महबूब चुनाँ बदमस्त सनम, अज़दस्त अलाबल जुल्फ़ बसे ।
मजमूए, न क़ाफ़ शिग़ाफ़रुए, ख़म क्यामत चश्म से ख़ूँ बरसे ।
मिजगाँ सुरमा तहरीर दुताँ, जुक़ते बिन बकिन ते किन से ।

भिखारीदास (दास); ई० स० १७४३—

ये प्रतापगढ़ (अवध) ज़िले के निवासी थे । काव्याङ्गों के निरूपण में इनका नाम आदर से लिया जाता है । परन्तु इनके लक्षण व्याख्या न होने से

अपर्याप्त और कहीं २ भ्रामक हैं। कुछ उदाहरण भी अशुद्ध हैं। परन्तु भाषा परिमार्जित और कवित्व उच्चकोटि का है। इनके इतने ग्रन्थों का पता लगा है—

रससारांश, छन्दार्णव, काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय, नामप्रकाश, विष्णु-पुराणभाषा, छन्दप्रकाश, शतरंज-शतिका, अमर-प्रकाश (अमरकोष-हिन्दीपद्य में)।

बाबा दीनदयालगिरि; ई० स० १८०३—

ये गुसाईं थे। काशी में रहते थे। इनकी भारतेन्दु के पिता गिरिधरदास से बड़ी मैत्री थी। इनकी अन्योक्तियां बेजोड़ होती हैं। इनकी भाषा अत्यन्त परिष्कृत और सुव्यवस्थित है। कुछ पूर्वीपन उसमें अवश्य है। इनका 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' अनमोल ग्रन्थ है। एक उदाहरण देखिए—

बरखै कहा पयोद इत मानिमोद मनमाँहिं,
यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमिहै नाहिं।
अंकुर जमिहै नाहिं वरष सत जौ जल देहै।
गरजै तरजै कहा-वृथा तोरो श्रम जैहै।
बरनै दीन दयाल न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना बलाहक, ह्याँ तू बरखै।

इनके अनुराग-बाग, वैराग्य-दिनेश, विश्वनाथ नवरत्न, और दृष्टान्त-तरंगिणी ये ग्रन्थ और भी उपलब्ध हैं।

चित्रकवि लाला हरजसराय; ई० स० १८०४—

ये पञ्जाब के कसूर (जिला लाहौर) नगर के निवासी श्वेतांबर स्थानकवासी संप्रदाय के जैन गृहस्थ थे। इन्होंने जैन धर्म सम्बन्धित साहित्य उत्कृष्ट छन्दों में रचा। इनकी उपलब्ध रचनाएं ये हैं—१—देवाधिदेवरचना २—साधुगुणमाला ३—देवरचना। देवाधिदेवरचना में जैन तीर्थङ्करों का स्तवन है, साधुगुणमाला में जैन साधुओं के तप, त्याग और संयम का अच्छा वर्णन है। देवरचना में देवलोक के देवताओं की ऋद्धि सिद्धि ऐश्वर्य आदि का विस्तृत वर्णन है।

इनकी रचना में चित्रकाव्य का प्रकाश ख़ूब है। यों छन्दशास्त्र की छवि से सब छन्द चौकस और शुद्ध हैं, किन्तु भाषा में जैन परम्परा से आई हुई प्राकृत की ध्वनि है। हम यहां उनके कुछ चित्रकाव्य के उदाहरण देते हैं।

एक स्थानी कण्ठ्य वर्ण दोहा—

गाहा गाहा कहे कहा, अह आ अकह अगाह।
अहि अघ हा अह आ कहा, कहा कहे खग गाह॥

(देव रचना)

एक सकारवर्णी दोहा—

सुस्सू सासी सीससो, सससी सेसो सीस।
संसे सोस ससीससो, ससोसास सुसीस॥

नीचे के दोहे में ३ चरणों में प्रश्न और चौथे में उत्तर दिया है–परन्तु ज्ञात नहीं होता।

को करता अघजाल कों, को हरता हित मित्त।
का मरती डरती नहीं, का लगती अपवित्र॥

अब एक दूमल छन्द देखिए जिसमें आदि और अन्त में एक ही शब्द प्रयोग किया गया है––

बिगरे पय कांजि कि छींट पया, कलधौत कुधात पया बिगरे॥
बिगरे तप पुंज कषाय चढ़े, पद ऊँच कुसंगति तें बिगरे॥
बिगरे कुल जात कलङ्क लगै, नृपराज अनीति करी बिगरे॥
बिगरे हित मित्र जहाँ छल है, सुभ धर्म मृषा मति ते बिगरे॥

अब एक मत्तगयन्द छन्द देखिए। इसका एक चरण, दूसरे चरण का उल्टा है। और दूसरा प्रथम से उल्टा। यह छन्द स्वस्तिक बन्ध भी है—

तामस औ मद लोभ प्रहार, रहा प्रभलो दम औ समता।
ता मरयाद सधीमन दास, सदा नमधीस दया रमता।
ताम गही गरमातत संत, तसंतत मारग ही गमता।
ता मत नेह करो लख सोइ, इसो खल रोक हने तमता।

देखिए इस दोहे में बारह स्वर अनुक्रम से वर्णित हैं—

अलख आदि इस ईस कों, उत्तम ऊँचो एक।
ऐसो ओड़क और नहिं, अंत न अः जगटेक॥

(साधुगुणमाला)

अब एक मुक्ताक्षर छप्पय देखिए—

परम परम पद रमण करम रज वरज अमल सत।
अजर अमर अज अटल करण मन तन वच वरजत।
अचल अखय वर अनघ अलख जस अगम अकथभन।
थकन अमर नर सरव समनगण गणधर बरनन।
जस धरण समण सत घट सदन, अव गणहर भव जलतरण।
तस सरण परण सभ भय टरण, जय जय परम अभय करण॥

(देव-रचना)

एक सर्व लघु दोहा देखिए—

परम अनघ अविचल अरथ, शिवनिध शिवमग रचन।
अगम अलखगुण अतुल भव, जय जय जिनवर वचन।

अब सर्वगुरु दोहा देखिए—

थारी सोभा लोक में, फूली फैली बेल।
बंदौं वाणी मायजू साची साती गेल॥

अध्याय चौंतीसवाँ

आधुनिक काल के पूर्व का गद्य

यहां हम संक्षेप से इस युग के गद्य पर भी एक विहंगम दृष्टि डालते हैं। हिन्दी में प्राचीन गद्य के उदाहरण नाथगुरु गोरक्षनाथ और श्री ज्योतीश्वर ठाकुर के मिलते हैं। इन से पूर्व के केवल तीन उदाहरण हैं—

१—"जो अणी परवाना से कोई उलंगण करेगा जी में श्री एकलींग जी की आण है। दुवे पचोली जानकी दास सं० ११२९ (= सं० १२२९) काती बीद" ३।

२—"पञ्च परमेष्ठिनमस्कार। जिन शासनि-सार, चतुर्दशपूर्व-समुद्दार, संपादित सकल कल्याण संभार, विहित दुरिताप हार, क्षुद्रोपद्रव पर्वत बज्रप्रहार, लीला-दलित संसार, सुतुम्हि अनुसरहु"।

३—"भलउ पुल्लिंगु- भलि स्त्री लिंगु, भलु नपुंसक लिंगु"।

इन तीनों उदाहरणों में से पहिला ई० सं० १०८३ का, दूसरा ई० स० १२७४ का है और तीसरे का समय अज्ञात है, परन्तु वह लगभग तेरहवीं शताब्दी का ही प्रतीत होता है। पहला उदाहरण एक-एक प्राचीन परवाने का अंश है। इसे म० म० रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा जाली समझते हैं। दूसरे उदाहरण में लगभग संस्कृत की साहित्य-भाषा है। और तीसरा उदाहरण व्याकरण सम्बन्धी है। इन उदाहरणों से एक बात पर तो प्रकाश पड़ता है कि उन दिनों छन्दों में तो अपभ्रंश भाषा काम में लाई जाती थी परन्तु गद्य अपेक्षा कृत अधिक हिन्दी था।

ज्ञानेश्वर ने भी कुछ गद्य लिखा था। चक्रधर ई० स० १२७३ में बौद्धों की महानुभाव-शाखा के आचार्य थे।

इनके हिन्दी गद्य का एक उदाहरण देखिए—

'पवण पुरोहो मणस्थिर करो हो चन्द्रा मेली वा मान आवागमन ई जे वारो बुद्धि राखो अपनेय'।

ज्योतिरीश्वर ठाकुर मैथिलनरेश राजा हरिहर देव की सभा में थे। इन्होंने संस्कृत में बहुत रचना की। हिन्दी में 'वर्णरत्नाकर' नामक उत्कृष्ट साहित्य-गद्य ग्रन्थ ई० सन १३०१ में लिखा, जिस की भाषा का उदाहरण यहां देते हैं—

'काजर क भीति तेलें सींचलि अइसनि रात्रि, पछेवां कां वेगें काजर कमोट फूजल अइसन मेघ निविड़ मांसल अंधकार देषू'।

कवि शेखराचार्य ने ई० स० १३०३ में जो गद्य लिखा उसका उदाहरण देखिए—

'माहरउ नमस्कारु आचार्य हुऊ। किसा जी आचार्य? पंच विधु आचारु जि परिपालइति आचार्य भणियइ। तीह आचार्य माहरउ नमस्कारु हुउ'।

अब एक उदाहरण प्राकृत-मिश्रित भाषा का देखिए। यह ई० स० १०१३ का है—

"मृषावादि मृषापदेश दीधउ, कूड़ उलेख लिखिउ, कूड़ी साखिथापन मोसउ, कुणहइ—साउँ राणि मेलि कलहू, विद्वाविद्व जु कोई अतिचार मृषा-वादि वृत्ति भव सगलाइ याहि हुव त्रिविधि त्रिविधि। मिच्छामि दुक्कडं।"

एक उदाहरण ई० स० १३५५ के गद्य का यहाँ देते हैं—

"ईहीजि जंबूद्वीप माहि भरत-क्षेत्र माहि मगधि नामि जनपदु छइ। तिहाँ विजयवती नामि नगरी। तिहाँ नर वर्मि नाम राजा, रति सुंदरी नामि पट्ट महादेवी हुतीं"।

अब यहां ईसा की चौदहवीं शताब्दी के गद्य के कुछ और उदाहरण देते हैं—

ई० स० १३९५—"चन्द्र ऊगई—ऊगई इसी क्रिया। कउण उगई? चन्द्र। जु उगई, सु कर्ता; तिहाँ प्रथमा। जे की जइ, ते कर्म, तिहाँ द्वितीया"।

ई० स० १४०३—"दृढ़ प्रहार पल्लीपति धाड़ि सहित एकि गाभि पड़िओ। एक ब्राह्मण नइँ घरि क्षीरनु भोजन ब्राह्मणी अनइ बालक बाहावर्ता हूतां लीधइ"।

ई० स० १४१६—"महाराजा जी विसक्रमा जी बोलाया।········ हुक्म थारा। बिसन पुरी, रुद्रपुरी, ब्रह्मपुरी विचै अचलपुरी बसावउ। बसन पुरी का विसन लोक आया"।

ई० स० १४२५—"तोह मांहि बखाणी इह मरहट्ठ देस"। जीहण देसि ग्राम, अत्यन्त अभिराम। भलानगर, जिहाँ न भागीयइ कर। दुर्ग जिस्या हुइ स्वर्ग। धान्य, न नीपजइ सामान्य"।

ई० स० १४४४—राजसिंह कुमार रत्नावती सहित नाना प्रकार सुख-भोग वह छइ। घणउ काल हूओ। एक बार पिताईं मृगांक राजाईं प्रतीहार हाथि लेख मोकसीनइ कहाविउँ—वच्छु, अमे वृद्ध हुआ। राज्य छांडी दीक्षा लेवानी उत्कण्ठा करु छऊँ। घणाकाल लगइ ताहरा दर्शनिनी उत्कण्ठा छुइ।"

नाथ सम्प्रदाय के गोरखनाथ का समय ई० स० १४०० के लगभग कहा जाता है। उनकी अब तक प्राप्त नौ रचनाओं में एक रचना गद्य में है। यह सब से प्रथम शुद्ध व्रज का अब तक उपलब्ध गद्य है। यह भाषा न तो खुसरो की सी प्रांजल है न बोलचाल की ही है। यहां इसका एक उदाहरण देते हैं—

"सो वह पुरुष संपूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ अरु संपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि कौं दै चुकौ अरु सहस्र जज्ञ करि चुकौ अरु देवता सर्व पूजि चुको अरु पितरनि कौं संतुष्ट करि चुकौ स्वर्गलोक प्राप्ति करि चुकौ जा मनुष्य को मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो"।

१४वीं शताब्दी के अन्य गोरखपन्थी साधुओं के गद्य का भी एक उदाहरण देखिए—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द-स्वरूप है सरीर जिन्हि को। किन्हि के नित्य गाएतें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष अरु मछन्दरनाथ को दण्डवत् करत हौं। हैं कैसे वे मच्छन्दरनाथ, आत्मजोति निश्चल है अन्तहकरन जिनके अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानें"।

इसके पश्चात् १६वीं शताब्दी के मध्यभाग में वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलदास का 'श्रृङ्गाररस-मण्डल' नामक गद्यग्रंथ उपलब्ध होता है। इस गद्य का नमूना भी देखिए :—

प्रथम की सखी कहतु है। ओ गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि तो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मन्दहास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ताकरि निकुंज विषै श्रृङ्गाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।

इन्हीं विट्ठलदास के पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ के तीन ग्रंथ सन् १५६८ ई० और सन् १५६४ के बीच के बने मिले हैं। उन ग्रंथों के नाम हैं—चौरासी

वैष्णवों की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता और वनयात्रा। इन ग्रंथों की भाषा देखिए—

सो श्री नन्दगाम में रहतो हतो। संखण्डन ब्राह्मण शास्त्र पढ़यो हतो। "सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबकौ खण्डन करतो, ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खण्डन पारयो हतो। सो एक दिन श्री महाराज प्रभु जी के सेवक वैष्णव की मण्डली में आयो। सो खण्डन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कही जो तेरो शास्त्राथ करनो होवै तो पण्डितन के पास जा, हमारी मण्डली में तेरे आयवो को काम नहीं। इहां खण्डन-मण्डन नाहीं। भगवद् वार्ता को काम है। भगवद् यश सुननो होवै तो इहां आवो।"

इसमें से 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' पीछे के किन्हीं गोस्वामी जी के शिष्य के हाथ की लिखी मालूम देती है। क्योंकि इसमें गोस्वामी गोकुलनाथ जी का कई जगह बड़ी भक्ति से उल्लेख किया गया है, इसका रचना काल ईसा की १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता तो और भी आधुनिकतम मालूम होती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल का अनुमान है कि वह औरंगजेब के काल में बनी होगी। इनमें बोलचाल की ब्रजभाषा है, कहीं २ फ़ारसी अरबी के शब्द भी आए हैं, गोकुलनाथ जी के शिष्य विट्ठलनाथ जी थे, इनकी भाषा में पंजाबी, राजस्थानी और कन्नौजी के शब्द मिलते हैं इससे मालूम होता है इन्हें देश देश भ्रमण करना पड़ा होगा। इनकी भाषा का उदाहरण—

"सो वे ऐसे भगदीय हैं, इनकी वार्ता को पार नहीं, ताते कहाँ ताँई कहिए"।

नाभादासजी का अष्टयाम १६६० के गद्य का नमूना है देखिए—

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिरि अपर वृद्ध समाज तिनकों प्रनाम करत भए। फिर महाराजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ जी के निकट बैठत भए।"

इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ ही में ब्रजभाषा का गद्य व्यवहारिक रूप से साहित्य में प्रयुक्त होने लगा था। और ब्रजभाषा काव्य की प्रधानता होने पर भी उसमें ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न किया जाने लगा था, जिसका सर्वोत्तम उदाहरण नन्ददास का 'नासिकेत पुराण' है जो ब्रजभाषा में लिखा गया है। उसके गद्य की छटा देखिए—

हे ऋषीश्वरो ? और सुनो, मैं देख्यो है सो कहूं। कालै वर्ण महा-दुख के रूप जम किंकर देखे। सर्प बीछु रीछ व्याघ्र, सिंह बड़े बड़े ग्रध्र देखे। पन्थ में पापकर्मी को जमदूत चलाइ कै। मुदगर अरु लोह के दण्ड कर मार देते हैं। आगे और जीवन को त्रास देते देखे हैं। सुमेंरो रोम रोम खरो होत हैं।

सन १७११ में सूरतमिश्र ने बैताल पच्चीसी का व्रजभाषा गद्य में अनुवाद किया था जिस पर से लल्लूलाल जी ने खड़ी बोली में परिवर्तित किया—

सन् १८०० के लगभग आइनए अकबरी की भाषा वचनिका नामक एक बड़ी पुस्तक लाला हीरालाल ने जयपुर के सवाई राजा प्रतापसिंह के कहने से लिखी थी जिसकी भाषा का नमूना यह है—

"अब शेख 'अबल फ़जल' ग्रन्थ को करता प्रभु को निमस्कार करिके अकबर बादस्याह की तारीफ लिखने को कसत करें हैं। अरु कहे हैं याकी बड़ाई अरु चेष्टा अरु चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाहीं। तातें वाके पराकरम अरु भांति भांति के दसतूर वा मनसूबा दुनिया में प्रगट भए; ताको संक्षेप लिखत हैं"।

समय पाकर भी व्रजभाषा के गद्य का प्रसार और परिमार्जन नहीं हुआ। वैष्णव वार्ताओं की फिर भी कुछ अच्छी भाषा नजर पड़ती है। काव्यों की टीकाएँ तो अत्यन्त निराशाजनक हैं। इन टीकाओं में संस्कृत का 'इत्यमरः' कथंभूतं ? आदि के ढोन ने हिन्दी भाषा की मिट्टी पलीद की है। टीका मूल से भी लद्दड़ और दुरूह हो गई है। उनकी भाषा न परिमार्जित है न व्यवस्थित उदाहरण-स्वरूप 'शृंगार रस' के एक श्लोक की भाषा-टीका का नमूना देखिए:—

"अंगना जुहै स्त्रीसु। प्रेम के अति आवेश करि। जु कार्य करना चाहति है ता कार्य विषै ब्रह्मा ऊ। प्रत्यूहं आघातुं। अन्तराउ की वे कहां कातरो काइस है। काइस कहा वै असमर्थ। जुकछु स्त्री करयो चाहैं सु अवस्य करहिं। ताको अन्तराउ ब्रह्म पहँ न करयो जाइ और की कितीक बात"।

संस्कृत का यह निम्नलिखित श्लोक है जिसकी उपरिलिखित हिन्दी में टीका है:—

उन्मत्तप्रेमसंरंभादालभन्ते यदंगनाः।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः॥

रामचन्द्रिका का निम्नलिखित एक दोहा है:—

राघव शर लाघव गति, छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित, मानहु उडि कै गयो॥

इस की टीका देखिए:—

"सबल कहैं अनेक रंग मिश्रित हैं, अंसु कहैं किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानों कलिंद गिरि शृंग तें हंस कहे हंस समूह उड़ गयो है। यहां जाति विषै एक बचन है हंसन के सदृश श्वेत छत्र है और सूर्य के सदृश अनेक रंग जटित मुकुट हैं"।

कविप्रिया, रसिकप्रिया, सतसई आदि की टीकाएं सरदार कवि ने की हैं, जो बहुत अधिक आधुनिक काल की हैं, पर इन टीकाओं की भाषा का भी वही हाल है।

खड़ी बोली के गद्य का विकास—

खड़ी बोली के प्रारम्भिक रूप को हम सिद्धों, नाथों और कुछ २ मरुभाषा के संसर्ग में देख आए हैं। परन्तु इसके गद्य का पुष्ट रूप दक्षिण में पनपा। यह एक चमत्कारिक और महत्वपूर्ण बात है कि जिस खड़ी बोली का उद्भव स्थान दिल्ली और मेरठ है, वह अपने जन्मस्थान पर पल्लवित होने की जगह सुदूर दक्षिण में पल्लवित हुई। यह वास्तव में दक्षिण में मुसलमानों के फैलाव के साथ फैली। अमीर खुसरो ने खड़ी बोली में पद्यरचना तो की परन्तु गद्य नहीं लिखा। खड़ी बोली के गद्य का सब से प्रथम लेखक 'गेसू दराज़ बन्दानेबाज़ शहबाज़ बुलन्द' है। उसका जन्म ई० स० १३२२ है। उसकी मृत्यु १४२१ में हुई। वह १५ वर्ष की आयु में दिल्ली आया और बहुत वृद्धावस्था में दक्षिण लौटा। इस लिए उसका गद्य उस समय की दिल्ली की बोलचाल की असली भाषा का नमूना है। उसकी छोटी २ दो पुस्तकों का पता चला है १. मिराजुलआशकीन, २. हिदायतनामा। इनमें से प्रथम मिली है और वह प्रकाशित भी हुई है। वह सूफ़ी सिद्धान्तों की १९ पृष्ठों की छोटी सी पुस्तक है। भाषा खड़ी बोली है। उसमें फ़ारसी शब्द भी हैं और व्रजभाषा के रूप और कारक चिह्न भी। आगे चलकर इस भाषा को 'दकनी उर्दू' कहा गया है। किन्तु इस पुस्तक के सम्पादक मौलाना अब्दुलहक साहब इसे हिन्दी ही कहते हैं। वे लेखक के विषय में इस पुस्तक की भूमिका में कहते हैं—

"हज़रत उन बुज़ुर्गाने दकन में से हैं, जिन की तसनीफ़ातोतालीफ़ात कसरत से हैं और तक़रीबन सब की सब फ़ारसी में हैं। लेकिन तहक़ीक़ से यह भी मालूम हुआ है कि आपने बाज़ रिसाले हिन्दी यानी दकनी उर्दू में तसनीफ़ फ़रमाए हैं।"

अब मिराजउल-आशक़ीन की भाषा का नमूना देखिए—

"ऐ भाई सुनो जे कोई दूध पीवेगा सो तुम्हारी पैरवी करेगा शरियत पर क़ायम अछेगा। पानी पीवेगा सो विश्वास के कतरया में डूबेगा।"

एक ज्योतिष की पुस्तक संस्कृत में लिखी गई थी जिसका नाम 'भुवनदीपक' है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति मिली है जो स० १६१४ की लिखी हुई है। असली पुस्तक और वह टीका जो प्राचीन व्रजभाषा में हैं अवश्य ही इस काल से प्राचीन होगी। उसकी टीका के गद्य का एक उदाहरण देखिए—

'जउ विजइ शुक्र ग्रह होई तउ संभोग सुबह कहिवउ। चन्द्र सरिसउ होय। शुक्र होई तउ अधिक द्राव कहिवउ। शुक्र सरिसउ क्रूर ग्रह होइ तउ संभोग पीड़ा कहवी'

गंग कवि ने ई० स० १५८० में 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक एक छोटा सा गद्य ग्रन्थ लिखा था जिसमें खड़ी बोली का गद्य है। यह अकबर-काल की खड़ी बोली के गद्य का नमूना देखिए—

"सिद्ध श्री १०८ श्री पातिसाहि जी श्री दलपति जी अकबर साह जी आम खास में तख़त पर विराजमान हो रहे। आम खास भरने लगा है जिस में तमाम उमराव आय आय कुर्निस बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें, अपनी अपनी मिसल में"।

ई० स० १६२४ के लगभग जटमल की लिखी 'गोराबादल की कथा' पुस्तक का पता चला है। उसके गद्य का उदाहरण देखिए—

"उस जग आलीषान बाबा राज करता हे मसीह वाका लड़का है सो सब पठानों में सरदार हे जयेसे तारों में चन्द्रमा हे ओ ये सा बो हे ॥१४८॥ धरम सी नाव का वेतलीन का वेटा जटमल नाम कवेसर ने ये कथा सवल· गांव में पुरण करी ॥१४९॥

स० १७३२ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषायोगवासिष्ठ' नाम का गद्य ग्रन्थ साफ़ और परिमार्जित खड़ी बोली की हिन्दी में लिखा। ये पटियाला दर्बार में थे और महारानी को कथा बांच कर सुनाया करते थे। इनके गद्य को देखकर कहा जा सकता है कि इन्होंने सदासुखलाल से ६२ वर्ष पहले ही परिमार्जित गद्य लिख डाला था। इनकी भाषा का उदाहरण देखिए—

"अगस्त जी के शिष्य सुतीक्षण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम कर के बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप सब तत्त्वों और सब शास्त्रों के जानने हारे हो। मेरे एक संदेह को दूर करो"।

इसके बाद स० १७६२ में दौलतराम ने 'जैनपद्मपुराण' का भाषानुवाद किया जो ७०० पृष्ठों से भी अधिक था। इसकी भाषा 'योगवाशिष्ठ' के समान परिष्कृत तो नहीं पर, फ़ारसी उर्दू प्रयोगों से बिल्कुल साफ़ शुद्ध हिन्दी थी।

देखिए—

"जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र विषै मगधनामा देश अति सुन्दर है जहां पुण्याधिकारी बसे हैं। इन्द्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करें और भूमि विषै सांठेन के बाड़े शोभायमान हैं। जहां नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं"।

स० १७८५ के लगभग राजपूताने के किसी अज्ञात लेखक ने 'मंडोवर का वर्णन' खड़ी बोली में लिखा था जिसकी भाषा साधारण है। उसकी भाषा देखिए—

"अवल में यहां माण्डव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम माण्डव्याश्रम हुआ। इस लफ़्ज़ का बिगड़कर मंडोवर हुआ है"।

इस प्रकार यह खड़ी बोली व्रजभाषा से गद्य में आगे बढ़ गई। यह अपने काल के मिश्रित भारतीय समाज से अधिक परिचित थी। इसी से जब खुसरो तथा अन्य मुसलमान कवियों ने इस खड़ी बोली की भाषा को फ़ारसी पद्यों के सांचे में ढाल कर जनता के सामने रखा तो उसका खूब स्वागत हुआ। आगे खड़ी बोली में जब मुसलमानों ने केवल फ़ारसी, अरबी, तुर्की शब्दों ही को नहीं अपितु इन भाषा के व्याकरणों का प्रयोग भी मिश्रित कर दिया तब हिन्दी कवियों ने उसे मुसलमानों की भाषा समझना प्रारम्भ कर दिया। इसी से भूषण, सूदन आदि कवियों ने मुसलमानी दर्बारों ही के प्रसंग में या मुस्लिम पात्रों ही के मुंह से यह भाषा प्रयोग कराई है। परन्तु इस उदूग्रीव खड़ी बोली का बिल्कुल हिन्दी रूप व्यापारियों, दर्बारियों के साथ देश के चारों ओर विस्तार पाने लगा। बाद में मुग़ल-साम्राज्य का सूर्य अस्त होते २ मुग़ल दर्बार के उमराव और मुग़ल राज्य के व्यापारी खत्री और अग्रवाल जब उठते हुए पूर्वी भारत के राज्यों में आकर लखनऊ, बनारस, मुर्शिदाबाद में बसे तो वे अपनी इस नवीन भाषा को भी अपने साथ ले गये, फलतः वह समूचे देश की एक व्यावहारिक भाषा बन गई।

इसके बाद जब रीतिकाल की समाप्ति होते २ अंग्रेजी राज्य देश में विस्तार पाने लगा तो अंग्रेजों को यहां की भाषा सीखने में दिलचस्पी हुई। कुछ तो उनके अन्वेषी-स्वभाव के कारण और कुछ आवश्यकता के कारण। उन्होंने शिष्ट समाज में दो भाषाएँ देखीं एक खड़ी बोली के उस रूप में जो देश के शिष्टों की बोलचाल की भाषा थी और दूसरी वह दर्बारी भाषा जो धीरे २ फ़ारसी अर्बी बहुल तथा फ़ारसी अर्बी व्याकरण से प्रभावित होती जाती थी। इन्होंने विदेशी होने पर भी देश की प्रिय भाषा को पहचान लिया और उसके गद्य की खोज करने लगे। तब तक गद्य की पुस्तकें न उर्दू में थीं न हिन्दी में। अन्ततः अंग्रेज़ों ने फ़ोर्ट विलियम कालेज में एक महकमा कायम करके मतलब का साहित्य निर्माण कराना प्रारम्भ किया।

अध्याय पैंतीसवाँ

फुटकर-साहित्य

इस युग में वर्णित साहित्य के सिवा कुछ अन्य विषयों की भी रचनाएं हुईं जिन से साहित्य के विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण का पता चलता है—यहां हम संक्षेप से उनका परिचय मात्र देंगे।

नाम	रचयिता	रचनाकाल
१. ज्योतिष—		
तत्वमुक्तावलि	सितकंठ	ई० स० १६७१
समयबोध	कृपाराम	१७१६
मत चन्द्रिका	फतेहसिंह	१७५८
भाषा ज्योतिष	शंकर	अज्ञात
कर्म विपाक	श्री सूर्य	,,
२. वैद्यक—		
राम विनोद	रामचन्द्र मिश्र	ई० स० १४५०
वैद्य मनोत्सव	नैनसुख	१५९३
सार संग्रह	गंगाराम	१६६९
भिषज प्रिया	सुदर्शन वैद्य	१७२३
हिम्मत प्रकाश	श्रीपत भट्ट	१६७५
आयुर्वेद विलास	देवी सिंह राजा	१६८१
दया विलास	दयाराम	१७२३
सारङ्गधर संहिता	नेतसिंह	१७५२
चिकित्सा सार	धीरजराम	१७५४
वैद्य विनोद	हरिवंश राय	१७६६
औषधि विधि	धनन्तर	१७७०
औषधिसार	छत्रसाता मिश्र	१७७६
वैद्य मनोहर सञ्जीवनसार	नोनेशाह	१७९५
वैद्यक ग्रन्थ की भाषा	अनन्तराम	१८०१
वैद्यप्रिया	खेतसिंह	१८२९
नामचक्र	लछमनप्रसाद	१८४३
शिवप्रकाश	शिवदयाल	१८५३
निघंट भाषा	मदनपाल	अज्ञात

माधव निदान	चन्द्रसेन	,,
ज्वर चिकित्सा प्रकरण		
अमृत संजीवनी	बाबा साहेब	,,

३. गणित—

गुण प्रकाश	फतेसिंह	१७५१
गणितसार	भीमजू	१८१७
गणित चन्द्रिका	धीरजसिंह	१८४३
भाषा लीलावती	भोलानाथ	अज्ञात

४. राजनीति—

राजभूखन	कोविद	१७०१
सभा प्रकाश	बुद्धिसिंह	१८४१
नृपनीति शतक	राजा लक्ष्मणसिंह	१८४४
राजनीति	देवीदास	अज्ञात
राजनीति के भाव	देवमणी	,,

५. सामुद्रिक—

सामुद्रिक	रतनभट्ट	१७८९
,,	यदुनाथ शास्त्री	१८०१
,,	दयाराम	अज्ञात

६. संगीत—

सभाभूषण	गङ्गाराम	१७८८
रागरत्नाकर	राधाकृष्ण	११९३
रागमाला	रामसखे	१७४८
रागमाला	यशोदानन्दन	१७५६

७. कोष—

नाममाला नाममंजरी नाममाला अनेकार्थ मंजरी	नन्दनदास	१५६९
अमरकोष भाषा	हरिजू मिश्र	१९२६
शब्द रत्नावली	प्रयागदास	१८१३

८. उपवन विज्ञान—

बाग विलास	शिव कवि	१७६४
उपवन विनोद	भोज	१८३१

९. विविध—

दस्तूर चिन्तामणि (क्षेत्रमति)	धीरजसिंह	१८३३
भोजन विलास (पाकशास्त्र)	प्रयागदास	१८२१
जुद्ध जोत्सव (सेना-विज्ञान)	जगन्नाथ	१८३१
सिद्धसागर तंत्र (तंत्र विद्या)	शिवदयाल	१८४४
सार संग्रह (विविध)	दाराशाह	१६५१
धनुर्वेद	यशवंत सिंह	अज्ञात

वैद्यक विषय विशेष विस्तार से लिखा गया। इसके बाद क्रम से ज्योतिष, राजनीति, संगीत, कोष, गणित, सामुद्रिक आदि।

चतुर्थ खण्ड

आँग्ल-प्रभाव-काल

अध्याय पहला

आँग्ल-आगमन

भारत में अंग्रेज़ों का आना और उसे आक्रान्त करना भारतीय साहित्य के इतिहास में एक महान् और अभूत-पूर्व घटना है। यद्यपि अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना स० १७७२ ई० तक हुई कहनी चाहिये, जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से कलकत्ते में वारन् हेस्टिंग् प्रथम गवर्नरजनरल बनकर कौंसिल की मदद से राज काज चलाने लगे। परन्तु हम यहां संक्षेप में उस काल का वर्णन करेंगे जब कि योरुप के प्रथम चरण भारत पर पड़े, और मुग़लों का प्रताप-सूर्य धीरे धीरे अस्त होता गया।

योरुप का प्रथम चरण—

२० मई स० १४९८ में प्रथम योरुपियन वास्कोडिगामा भारत में पहुंचा, और कुछ व्यापार करके लौट गया। दो वर्ष बाद कालीकट में पुर्तगीज़ों की एक कोठी स्थापित हुई। इसके बाद ही डच, अंग्रेज़ और डेन लोग आये। सब के बाद में फ्रैंच आये, परन्तु सब से प्रथम फ्रेंचों ने ही भारतीय-सैन्यसंगठन करके, भारत-विजय का प्रयास प्रारम्भ किया। अन्त में अंग्रेज़ों को भारत पर अधिकार करने के लिये इन्हीं से युद्ध करने पड़े। धीरे धीरे अंग्रेज़ों का अधिकार बढ़ता गया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यापार छोड़ कर भारतीय साम्राज्य के प्रबंध में लगती गई, और अब उसका ध्यान राज-धर्म की ओर गया। ऐसी दशा में उसका ध्यान भारत की भाषाओं की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था।

बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना—

प्रारम्भ में संस्कृत और फ़ारसी की पाठशालाओं और मक़तबों को कुछ आर्थिक सहायता मिलने लगी, पर जब वारनहेस्टिंग नियमानुसार गवर्नरजनरल

बन गये तो उन्होंने इन भाषाओं की उन्नति और विकास पर खास नज़र डाली और फलस्वरूप बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई।

वेल्ज़ली योजना—

अब व्यापारिक कार्यों के उपयोगी दुभाषियों का समय बीत चुका था और अब उन अंग्रेज़ अफ़सरों के लिए जो भारत के विविध प्रान्तों में राज्यप्रबन्ध के लिए नियुक्त होते जाते थे यहां की भाषाओं का ज्ञान आवश्यक था। लार्ड वेल्ज़ली ने 'इण्डियन सिविल सर्विस' की शिक्षा की योजना बनाते हुए कहा कि—भारतीय जनता के इतिहास, भाषाओं, तथा रीति-रिवाज का ज्ञान इन अफ़सरों को होना अत्यन्त आवश्यक है।

इसी काम के लिये उसने स० १८०१ में फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की परन्तु सब से बड़ी कठिनाई यह थी कि पाठ्य-ग्रन्थों का अभी तक पूरा अभाव था। इस की पूर्ति का काम कालेज के तत्कालीन प्रिन्सिपल डाक्टर गिल क्राइस्ट को सौंपा गया।

स० १८१४ का चार्टर—

इस चार्टर में पहले पहल भारतीय प्रजा की शिक्षा के विकास पर ध्यान दिया गया और लार्ड कैसेलरी और चार्ल्स ग्रांट के प्रस्ताव तथा समर्थन पर एक लाख रुपया वार्षिक इसी काम में खर्च करना स्वीकार किया गया।

स० १८३४ का चार्टर—

२० वर्ष बाद फिर चार्टर बदला। अबतक अनेक स्थानों में संस्कृत कालेज खुल गये थे और सम्पूर्ण भारत के लिये कैसी शिक्षा प्रणाली हो यह भी नहीं निश्चित हो पाया था। इस चार्टर के साथ एक शिक्षा-कमीशन नियत हुआ जिसके प्रधान लार्ड मेकाले थे।

लार्ड मेकाले का सिद्धान्त—

इन्होंने एक लम्बी रिपोर्ट तैयार की और उसमें यह प्रतिपादन किया कि अंग्रेज़ी के माध्यम ही से शिक्षा-विस्तार किया जाय। फलस्वरूप संस्कृत फ़ारसी आदि की शिक्षा में जो व्यय हो रहा था वह कम कर दिया गया और अंग्रेज़ी शिक्षा में उसकी बचत का धन व्यय होने लगा।

स० १८५५ का चार्टर और लार्ड डलहौज़ी का उद्योग—

इसके बाद स० १८५५ में जो चार्टर तैयार किया गया वह अन्तिम था। उसके साथ शिक्षा-प्रसार के लिये तत्कालीन भारत सचिव सर चार्ल्स् वुड (लार्ड

हैलीफ़ैक्स) ने एक बड़ी स्कीम भेजी थी जिसमें वर्नाक्यूलर स्कूल, सहायता-प्राप्त स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालयों के स्थापित करने का पूरा आयोजन था। तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौज़ी ने इस आयोजन को कार्यरूप दिया। और उन्हीं के काल में सन १८५८ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में प्रथम ३ विश्वविद्यालय स्थापित हुए।

बीसवीं शताब्दी की धारा—

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही साहित्य से धर्म का संकुचित बाह्य-रूप और रीति-रूढता का रूप सर्वथा जाता रहा। इससे साहित्य का प्रत्येक अंग स्वस्थ रूप से विकसित होने लगा। जीवन क आदर्शों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, समालोचना, इतिहास, विज्ञान, भूगोल, चरित्र, आदि अंगों पर तेज़ी से साहित्य निर्माण होने लगा।

इस साहित्य में यह विशेषता है कि यह समाज के जीवन के अधिकाधिक निकट है। स्त्री अब पिछले काल की वासना-पूर्ति की वस्तु न रह कर हमारे जीवन की एक सर्वाधिक कोमल और मधुरतम भावनापूर्ण सत्व बन गई। धर्म का स्वरूप सम्प्रदाय की संकुचित दीवारों को तोड़कर व्यापक मानव धर्म बनने लगा। जीवन के आदर्श बदल गये। अज्ञात परलोक की आकांक्षा पर जीवन विसर्जन करने के विचार अब नहीं रहे। धीरे २ हमारा साहित्य मानवतावादी हो गया।

अध्याय दूसरा

'उर्दू', 'उर्दू बोली' और 'उर्दू की बोली'

उर्दू—

'उर्दू' का अर्थ और है, 'उर्दू बोली' का अर्थ और है, और 'उर्दू की बोली' का अर्थ और है।

'उर्दू' शब्द का अर्थ कुछ विदेशी भाषाओं में 'क़िला' है, कुछ भाषाओं में 'उर्दू' लश्कर या तम्बू तथा छावनी को कहते हैं। 'उर्दू बोली' का अर्थ है—'उर्दू भाषा' अर्थात् खड़ी बोली का वह स्वरूप जो फ़ारसी अक्षरों में फ़ारसी, अर्बी और तुर्की शब्दों की बहुतायत से इन्हीं तीनों भाषाओं के व्याकरण का

सहारा लेकर (ख़ास कर 'वचन' के सम्बन्ध में) बोली या लिखी जाय । और 'उर्दू की बोली' का अर्थ है, किले वालों या लश्कर वालों की बोलचाल की भाषा ।

उर्दू-ए-मुअल्ला—

उन दिनों जब कि मुग़ल सम्राट् ने पहले पहल शाहजहानाबाद को आबाद किया तो उनके लश्कर की छावनी को 'उर्दू' और लाल क़िले को 'उर्दू-ए-मुअल्ला' कह कर पुकारा जाने लगा । बाद में कुछ लोग दिल्ली नगर को भी जब शहर पनाह तैयार हो चुकी थी और दिल्ली एक सैनिक सुरक्षित नगर बन गया था इसी 'उर्दू-ए-मुअल्ला' नाम से पुकारने लगे थे । वास्तव में औरंगज़ेब के प्रारम्भिक समय तक दिल्ली एक स्थायी शहर न था मुग़लों की छावनी ही था । बादशाह की जब कहीं रण-यात्रा होती थी, सारी दिल्ली ही लगभग उनके साथ हो जाती थी जिनमें अधिकांश सैनिक और बाक़ी धोबी, तेली, तम्बोली, मोची, कहार, मछुए, घसेरे, कसाई, मोंदी, बजाज और उनके परिवार भी साथ ही रहते थे । मीर अमन देहलवी कहते हैं :—

हकीक़त उर्दू ज़बान की बुजुर्गों के मुंह यों सुनी है कि दिल्ली शहर हिन्दुओं के नज़दीक 'चौजुगी' है । उन्हीं के राजा प्रजा क़दीम से वहां रहते थे और अपनी भाषा बोलते थे । हज़ार बरस से मुसलमान का अमल हुआ । सुलतान महमूद ग़ज़नवी आया । फिर ग़ोरी और लोदी बादशाह हुए, इस आमदरफ़्त के बाइस कुछ ज़बानों ने हिन्दू मुसलमानों की अमेज़िश पाई । आख़िर अमीर तैमूर ने जिनके घराने में अब तक नाम निहाद सल्तनत का नाम चला आता है हिन्दुस्तान को लिया । उनके आने और रहने से लश्कर का बाज़ार शहर में दाखिल हुआ इस वास्ते शहर का बाज़ार उर्दू कहलाया ।..........जब अकबर बादशाह तख़्त पर बैठे तब चारों तरफ़ के मुल्कों से सब कौम क़दरदानी और फ़ैज़रसानी इस खांदान लासानी की सुनकर हुजूर में आकर जमा हुए, लेकिन हर एक की गोयाई और बोली जुदा २ थी । इकट्ठे होने से, आपस में लेन देन सौदा सुलफ़ सवाल जवाब करते २ ज़बान उर्दू मुक़र्रर हुई । जब हजरत शाहजहां बादशाह ने किला मुबारक, जामा मस्जिद और शहर पनाह तामीर फ़र्माया.......तब बादशाह ने खुश होकर जश्न फ़र्माया और शहर को अपना दारुल्ख़िलाफ़ा बनाया । तब से शाहजहानाबाद मशहूर हुआ...और वहां के शहर को उर्दू-ए-मुअल्ला खिताब दिया । अमीर तैमूर के अहद से मुहम्मदशाह की बादशाहत तक बल्कि अहमदशाह और आलमगीर सानी के वक्त तक पीढ़ी ब पीढ़ी सल्तनत यकसां चली आई । निदान ज़बान उर्दू की मंजते २ ऐसी मंजी कि किसी शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती ।

(बाग़ोबहार भूमिका)

सैयद इन्शाअल्लाह अपने एक फ़ारसी लेख में कहते हैं कि लाहौर, मुलतान, आगरा और इलाहाबाद की वह प्रतिष्ठा नहीं है जो शाहजहानाबाद की है। उसी शाहजहानाबाद में उर्दू का जन्म हुआ है—

"शाहजहानाबाद में खुशबयान लोगों ने एक मत होकर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को जुदा किया और कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेरफेर करके दूसरी भाषाओं से भिन्न एक अलग नई भाषा ईजाद की और उसका नाम उर्दू रक्खा"।

ताशकन्द और .खुक़न्द में उर्दू किले के अर्थों में प्रयुक्त होता है इसलिये नवाब सदरयार जंगबहादुर ने दिल्ली के किले को 'उर्दूएमुअल्ला' कहा है।

सैयद इन्शाअल्ला एक स्थान पर कहते हैं—"यह मजमां जहां जाता है, इसकी औलाद को दिल्लीवाला' और इसके महल्ले को दिल्लीवालों का महल्ला कहते हैं। और यदि इन लोगों ने सारे शहर को घेर लिया तो उसको उर्दू कहते हैं। किन्तु लखनऊ के अतिरिक्त और किसी शहर में उनका बस जाना सिद्ध नहीं होता। कहने को तो मुर्शिदाबाद और पटना में बसने वाले भी अपने को उर्दूदां और अपने शहर को उर्दू कहते हैं। (फ़ारसी से)।

(दरियाए-लताफ़त, अंजुमने-तरक़्क़ीए-उर्दू)

वास्तव में मुग़ल बादशाहों की यह परिपाटी रही कि वे जब कभी बाहर जाते सपरिवार जाते थे। उनके इसी बाहरी पड़ाव को उर्दू कहते थे। अकबर और जहांगीर के कुछ ऐसे सिक्के भी मिले हैं जिन पर टकसाल का नाम उर्दू लिखा है। जहांगीर के एक सिक्के पर तो 'उर्दू दर राहे दकन' मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुग़ल बादशाह शाहज़ादे और दरबारी जो हिन्दुस्तानी भाषा फ़ारसी और अरबी की भावना से ओतप्रोत हिन्दी पद-विन्यास से बोलने लगे थे वही उर्दू भाषा का मूल-स्रोत है।

अरशद गोरगानी का कथन है—

"यह बात सब ने तसलीम कर रखी है कि असली उर्दू शाहज़ादगाने तैमूरियः की ही ज़बान है, और लालकिलः ही इस ज़बान की टकसाल है, इसलिये सैयद ख़ास हमें और चन्द और अज़ीज़ शाहज़ादों को बुलाते थे। आम से ग़र्ज़ न थी"। (फरहंगे-आसफ़िया)

सैयद अहमद दहलवी को जब एम० डब्ल्यू० लन ने अपने कोश का हिन्दुस्तानी सहायक बनाया था तब उन्होंने एक सनद पेश की थी जो इस प्रकार थी—

"चूँकि यह शख़्स यहां का बाशिन्दा है और अक्सर शाहज़ादों की सोहबत से बहरयाब होता रहा है और इन्हीं लोगों पर यहां की ज़बान का दारोमदार है इस सबब से मैं यकीन करता हूं कि शायद इस से बेहतर कोई शख़्स इस बाज़ी को न ले" (फ़रहंगे आसफ़िया)

यदि आप शाह-हातिम के दीवानज़ादे की भाषा को देखें तो उस में यथेष्ट हिन्दवी-पन दीख पड़ेगा। निस्सन्देह हातिम की भाषा उस काल के चुने हुए दर्बारी लोगों की भाषा थी। जब कुछ कवि अपनी भाषा में जानबूझ कर फ़ारसी का पुट देने लगे तो 'सौदा' ने उन्हें फटकारा। उन्होंने मियां मज़हर पर यह फब्ती कसी—

मज़हर का शेर फ़ारसी और रेख़ते के बीच।
सौदा यक़ीन जान कि रोड़ा है बाट का।
आगाह फ़ारसी तो कहें उसको रेख़ता।
वाक़िफ़ जो रेख़ते से ज़रा होवे ठाट का।
अलकिस्सा इसका हाल यही है जो सच कहूँ,
कुत्ता है धोबी का कि न घर का न घाट का।

मज़हर को शाहमुबारक ने भी इस प्रकार नसीहत की थी—

वक्त जिनका रेख़ते की शायरी में सर्फ़ है।
उन सते कहता हूँ बूझो हर्फ़ मेरा जर्फ़ है।
जोकि लाए रेख़ते में फ़ारसी के फेल व हर्फ़।
लग़ो हैंगे फ़ेल उसके रेख़ते में हर्फ़ हैं।

मीरसाहेब ने एक बार लखनऊ की मजलिस में कहा था—

क्या जानूँ लोग कहते हैं किसको सरूरे क़लब।
आया नहीं है लफ़्ज़ यह हिन्दी ज़बां के बीच।

मुरादशाह ने कहा है—

नहीं हिन्दी सख़ुन में नुक्स मुमकिन।
लताफ़त है बहुत सी इसमें लेकिन।

एक बार इसी उर्दू के झगड़े को लेकर सैयद इन्शाअल्लाह और मसहफ़ी में एक झड़प होगई थी। इंशा ने मसहफ़ी की ज़बान पकड़ कर पूछा था।

मुश्फ़िक कड़ी कमान को कडरी न बोलिए।
चिल्ला के मुफ्त तीर मलामत न खाइए।
उर्दू की बोली है यह? भला खाइए क़सम।
इस बात पर अब आपही मसहफ़ उठाइये।
(मसहफ़ उठाना=कुरान छूकर क़सम खाना)

अन्त में 'मसहफ़ी' को स्वीकार करना पड़ा—

ख़ुदा रक्खे ज़बां हमने सुनी है मीर वो मिरज़ा की ,
कहें किस मुंह से हम ऐ 'मसहफ़ी' उर्दू हमारी है ।

अध्याय तीसरा

रेख़्ता

रेख़्ता—

"रेख़्ता कि शेरेस्त बतौर शेरे फ़ारसी बज़बाने उर्दूएमुअल्ला बादशाहे हिन्दोस्तान" । (मीर तक़ी)

इसका अर्थ यह है कि बादशाह हिन्दुस्तान के कैम्प या पायेतख़्त की भाषा में जो फ़ारसी ढंग पर कविता की जाती है वह रेख़्ता है। रेख़्ता का शब्दार्थ होता है—'पड़ी हुई' पड़ी हुई को खड़ी करने से 'खड़ी बोली' कहलाई । कुछ विद्वानों का मत है कि रेख़्ता का अर्थ है, मिश्रित । भिन्न २ जातियों और संस्कृतियों से मिश्रित हो जाने के कारण वह भाषा रेख़्ता कहलाई । एक छन्द ही रेख़्ता है । कहीं २ दक्षिणी हिन्दी को रेख़्ता कहा गया । मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपने जगद्विख्यात दीवान को 'रेख़्ता' का दीवान कहा है । वास्तव में यह मिश्रित भाषा ही थी । मुसलमानों के राज्यकाल में भारतीय कविताओं में बहुत से अरबी फ़ारसी शब्द प्रयुक्त होने लगे थे, जिनकी झलक हम चन्द, कबीर, नानक, तुलसी, सूर आदि की रचनाओं में पाते हैं । उसी प्रकार प्रेम-मार्गी सूफ़ी कवि जो प्रथम अवधी में रचना करते थे वे अब युग प्रभाव से वंचित न रहे और धीरे २ फ़ारसी, अरबी बहुल शब्द ही नहीं व्यंजनाएं भी विदेशी देशी मिश्रित करने लगे । और इस मिश्रित भाषा और भाव में जो काव्य-रचना हुई वही रेख़्ता कहाई ।

रेख़्ता का प्रारम्भ—

रेख़्ता का प्रारम्भ भी प्रथम दक्षिण से ही हुआ । दिल्ली के सूबेदार मुस्लिम संस्कृति को लेकर वहां पहुंचे । वहां के निवासी हिन्दू उत्तर-भारत के हिन्दुओं से संस्कृति में बहुत भिन्न थे, भाषा और भाव दोनों ही में द्रविड़ संस्कार का बाहुल्य था । ईरान से प्रताड़ित होकर सर्वप्रथम सूफ़ी साधु दक्षिण भारत ही में बसे थे । उनकी ऐकेश्वरवाद की भावना, और प्रेमतत्व की उपासना उन

मुस्लिम कवियों को अति परिचित प्रतीत हुई जो अपने शासकों के आश्रय में उस अपरिचित देश में पहुंचे थे। वे व्रज देश और अवधी प्रान्तों से दूर पहुंच गये थे। उनके चारों तरफ़ के हिन्दू कनाड़ी, तैलगू, तामिल बोल रहे थे। उन पर उनकी भाषा का कोई सीधा संस्कार पड़ना सरल न था, उनकी अपेक्षा वे विदेशी विद्वानों और उनकी रचनाओं से अधिक परिचित हो पाए जिन्होंने फ़ारसी और अरबी को धन्य किया था। परन्तु वे अपनी भारतीय व्रजभाषा और अवधी की अभ्यस्त परम्परा को भी नहीं भूल सके, और इस प्रकार व्रज, अवधी, फ़ारसी, अरबी, सूफ़ी सिद्धान्त मुस्लिम-धर्म सब के मिश्रण से दक्षिण में 'रेख़्ता' की रचना का प्रचलन हुआ।

कुलीकुतुबशाह—

सन १५८० में जब आगरे में सम्राट् अकबर का साम्राज्य निर्माण हो रहा था मुहम्मद कुलीकुतुबशाह गोलकुण्डा की गद्दी पर बैठा और ३१ वर्ष राज्य करके सन १६११ में मरा। उसकी मृत्यु के समय जहांगीर के राज्य का छठा वर्ष चल रहा था। कुछ दिन इस ने बीजापुर से युद्ध किया फिर हैदराबाद नगर बसाया जिसका पुराना नाम भागनगर था। यह अच्छा कवि था और अपना उपनाम 'कुतबा' और 'मुआनी' रखता था। यही बादशाह फ़ारसी के ढंग पर हिन्दी में कविता करने वाला प्रथम कवि है। इसकी कविता उच्चकोटि की नहीं है। भाषा में भी दक्षिणी शब्दों की भरमार है। फ़ारसी के कवियों की मै (शराब) की बू काफ़ी है। इश्क का वर्णन भी बहुत है, पर मानवीय विचार, प्रकृति, फल फूल पक्षी आदि विषयों पर भी इसने लिखा है। उदाहरण—

'सदा फूल बन और मद है मुँजे।
नहीं है खुमारी अभी होर दे।
संपूरन है तुज जोत सों सब जगत,
नहीं खाली है नूर से कोई शै।

निसि के समुन्दे स्याम में सोने का रोजक डूब्या।
डूबने में तिरने लगे बुड़बुड़े कई लख हज़ार।

जिल्ले अल्लाह और अन्य उनके समकालीन कवि—

कुलीकुतुबशाह के भतीजे और दामाद मुहम्मद कुतुबशाह ने भी जिल्ले अल्लाह उपनाम से रचनाएं की हैं। इनके समय में अन्य कवियों ने भी फ़ारसी छन्दों में मिश्रित हिन्दी में पद्मावती-मृगावती जैसी प्रेमगाथा लिखी है

इब्न निशाती की 'फूलवानी' तहसीनुद्दीन की 'किस्सएकामरूप और कला' इसी प्रकार की रचनाएं हैं। मौलाना वजीह का 'सबरस' प्रेमकथा का एक गद्य ग्रन्थ है। अबुलहसन कुतुबशाह, इब्राहीम आदिलशाह, अली आदिलशाह द्वितीय स्वयं कवि और गुणग्राहक थे। इनके दर्बार के अनेक कवियों ने अनेक ग्रन्थ ऐसी ही भाषा में लिखे हैं। नसरती की मसनवी 'गुलशने इश्क' में मनोहर और मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। 'अलीनामा' एक वीर-काव्य है जिस में अली आदिलशाह बीजापुरी के युद्धों का वर्णन है। हाशिमी ने 'यूसुफ़ जुलेखां' नाम से मसनवी लिखी है तथा अन्य कवियों की भी मसनवी पाई जाती हैं।

सादी; ई० स० लगभग १५५५—

'सादी' एक प्रसिद्ध कवि होगया है।

यह सोलहवीं शताब्दी (ईस्वी) के मध्य में था। सम्भवतः शाहजहां उन दिनों आगरे के तख़्त पर विराजमान थे। इनकी एक कविता का नमूना यह है—

हमना तुमन को दिल दिया तुम दिल लिया औ दुख दिया,
हम यह किया तुम वह किया, ऐसी भली यह रीत है।
सादी कि गुफ़्तः रेख़्तः दर रेख़्तः दुर रेख़्तः।
शीरो शकर हम रेख़्तः हम रेख़्तः हम गीत हैं।

जाइ बज़ार में बेच दिया, तब दोनों भई मन में हरखानी।
बानर न्याय कियो अति सुन्दर, दूध को दूध औ पानी को पानी।

अफ़ज़ल; ई० स० लगभग १६४०—

महम्मद अफ़ज़ल ने कुछ हिन्दी और कुछ आधी फ़ारसी में एक बारहमासा लिखा है जिसमें आत्मकथा के रूप में प्रेमविरह-वर्णन किया है। पुस्तक में हिन्दी छन्द ही अधिक हैं। फ़ारसी के सिर्फ़ १०।१२ शेअर हैं। उदाहरण—

सुनो सखियों विकट मेरी कहानी, भई हूँ इश्क के ग़म में दीवानी।
न मुझको भूख है न नींद राता, विरह के दर्द से सीना पिराता।
मेरे गले में पड़ी है प्रेम फांसी, भया मरना मेरा औ लोग हांसी।

इसी काल में लिखी किसी 'फ़क़ीरा' नामक व्यक्ति की 'हिन्दीमनायलदीनी' और दूसरी किसी अज्ञात लेखक की 'नूरनामः' हस्तलिखित मिली है। इनके उद्धरण इस प्रकार हैं।

अल्ला नाम जपो हर सांसा, जो चाहो बैकुण्ठ का बासा।
इसकी कदर मैं बहतर जानी, किस बिरते पर तत्ता पानी॥
जब जम जी लेने को आवें, तेरे कोई काम न आवें।

ओछे पीर सों जो मिले, क्यों ना होवे ख्वार ।
पूंछ जो पकड़े भेड़ की, वार रहे ना पार ॥

दूसरी पुस्तक का उद्धरण—

ज़बाने अरब में तो था यह कलाम ।
किया नज़्म हिन्दी में मैंने तमाम ॥
समझ उसकी हरएक को दुश्वार थी ।
कि हिन्दी ज़ुबां उनको दरकार थी ॥
इसी के सबब मैंने कर फ़िक्र ग़ौर ।
लिखा नूरनामे को हिन्दी के तौर ॥

पाठक ऊपर के उदाहरण पर 'अल्ला जपना' और 'जमजी' का आना ध्यान से देखें कि भाषा और भाव दोनों ही में हिन्दू-मुस्लिम-मिश्रण स्पष्ट होता है ।

वली; ई० स० १७७५ (मृत्यु)

शम्शवलीउल्ला औरङ्गाबाद में जन्मे और अहमदाबाद के मौलाना वजीहुद्दीन अलवी की मुरीदी ग्रहण की । बाद में स्वदेश लौटकर दक्खिनी हिन्दी में और फ़ारसी छन्दों में कविता रची । बाद में स० १७२० में दिल्ली आये । उस समय बादशाह मुहम्मदशाह दिल्ली के तख्त पर थे । तब फ़ारसी के सूफ़ी कवि शाह सादुल्ला के कहने पर सरल हिन्दी छोड़ कर फ़ारसी मिली हिन्दी में कविता करने लगे । उनकी यह पिछली कविता 'बाबएरेख़्तः, कहलाई ।

इनकी कविता का उदाहरण देखिए—

इस रैन अंधेरी में मत भूल पड़ूं तिससूं ,
टुक पांव के बिछुओं की आवाज़ सुनाती जा ।
मुख बात बोलता हूं, शिकवः तेरे कपट का ,
तुझ नैन देखने को दिल ठांठ कर चुका था ।
दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन ,
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सों ।

ज़रा इनके अलंकारों में हिन्दू-भावना और मुस्लिम-पद्धति देखिये—

कूचए यार एन कासी है ,
जोगी दिल वहां का बासी है ।
पीके वैराग की उदासी सों ,
दिल भी वैरागी व उदासी है ।
ऐ सनम तुझ जबीं ऊपर यह ख़ाल ,
हिन्दुए हरद्वार बासी है ।
ज़ुल्फ़ तेरी है मौज जमना की ,
पास तिल उसके सन्यासी है ।

परन्तु जब वली दिल्ली आए उस समय तक दिल्ली में फ़ारसी भाषा का ह्रास हो चला था और फ़ारसी-मिश्रित हिन्दी जिसे 'उर्दूएमुअल्ला' कहते थे चल चुकी थी। वास्तव में यह बादशाहों, शाहज़ादों और दर्बारियों की हिन्दी भाषा थी जो चिरकाल तक भारतवर्ष में रहने के बाद तुर्की और फ़ारसी के मिश्रण से बनी थी। दिल्ली के शाह शादउल्लाह गुलशन को फ़ारसी का यह ह्रास बहुत खल रहा था। उन्हें वली का 'हिन्दीपन' बहुत बुरा प्रतीत हुआ। उन्होंने वली से कहा—

"ईं हमः मज़ामीन फ़ारसी कि बेकार उफ्तादह अंद दर रेख़तः बकार बबर। अज़ तू के मुहासिब ख्वाहिद गिरफ़्त"

(उर्दू रिसाला)

(यह फ़ारसी के इतने मज़मून जो बेकार पड़े हैं उनको अपने रेख़्ते में इस्तेमाल कर। तुझ से कौन हिसाब लेगा) उसका जो प्रभाव वली पर पड़ा वह उनकी इस कविता के उदाहरण से प्रकट है—

'जब सनम को ख़याल बाग़ हुआ'
तालिब नशः ए फ़ुराग़ हुआ।
फ़ौज उश्शाक़ देख हर जानिब,
नाज़नी साहबे दिमाग़ हुआ।
रश्क सो तुझ लबां की सुर्ख़ी के,
जिगर लालः दाग़ दाग़ हुआ।
दिले उश्शाक़ क्यों न हो रोशन,
जब ख़याले सनम चिराग़ हुआ।
ऐ 'वली' गुलबदन को बाग़ में देख,
दिल सद बर्ग बाग़ बाग़ हुआ।

(कुल्लियात नं० ५८)

शाहे हातिम ने वली को अपना उस्ताद स्वीकार किया था। उन्होंने बड़े यत्न से फ़ारसी और अरबी के आधार पर तत्कालीन 'शाही ज़बान' को जो 'उर्दू-ऐ-मुअल्ला' कहाती थी, पकड़ कर उसमें से हिन्दी भावना और शब्दों को दूर करके उर्दू का एक स्वतन्त्र परिष्कृत रूप स्थापित किया और इस हिसाब से उन्हें उर्दू का प्रथम कवि कहा जाता है। परन्तु इस उर्दू भाषा का—जो आगे चलकर मुसल्मानों की भाषा बनी—श्री गणेश 'वली' ने ही दिल्ली आकर किया। जहाँ उनकी 'रेख़्ता' भाषा बन संवर कर 'उर्दू' बन गई।

परन्तु इतना होने पर भी दक्षिण के मुसलमान उर्दू लिखना नापसन्द करते रहे और वे वही पुरानी 'रेख़्ता' लिखते रहे। मौलवी मुहम्मद बाक़र आगाह साहेब ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है—

"...और इन सब रिसालों में शायरी नहीं किया हूँ बल्कि साफ़ और सादा कहा हूँ और उर्दू के भाके में नहीं कहा, क्या वास्ते कि रहने वाले यहां के (दक्षिण) इस भाके (भाषा) से वाक़िफ नहीं हैं ए भाई यह रिसाले दक्खिनी ज़बान में हैं"।

नज़ीर; ई० सन् १८३० (मृत्यु)—

दक्षिण ही में नहीं, ख़ास दिल्ली ही में एक धारा चली आ रही थी जो रेख़्तः की पुरानी परम्परा को निबाह रही थी। इन कवियों में नज़ीर का नाम विशेषरूप से लिया जायगा। यह दिल्ली निवासी मुहम्मद फ़ारूक के पुत्र थे। अहमदशाह अब्दाली की चढ़ाइयों के समय आगरे आ बसे थे। आगरे का शाही नाम अकबराबाद था। इस से इन्होंने अपने को 'नज़ीर अकबराबादी' कहा। ये अरबी और फ़ारसी के पण्डित, संतोषी, विनोदप्रिय, तथा संगीतकला के प्रेमी थे। अन्तिम दिनों में सूफ़ी हो गए। बहुत वृद्ध होने पर इनकी मृत्यु हुई। शाही निमन्त्रण मिलने पर भी लखनऊ नहीं गए—लड़कों को पढ़ाकर पेट भरते रहे। इनके ६ हज़ार के लगभग शेअर संग्रह हो चुके हैं। 'रोटीनामा' 'पैसानामा' 'बंजारानामा' 'कन्हैया का बालपन' आदि कविताओं में भावोत्कर्ष और कवित्व-शक्ति तथा तत्त्वज्ञान की काफ़ी झलक दिखाई देती है। इनमें हिन्दू-मुस्लिम द्वेष नहीं होने से इनकी कविता काफ़ी लोकप्रिय हो गई। इनकी वर्णनशैली सहज और स्वाभाविक थी और उसमें स्वानुभूति की झलक थी। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए—

हर मन की हो के मोहनी और चित्त लुभावनी।
निकली जहां धुन उसकी वह मीठी लुभावनी।
सब सुनने वाले कह उठे जै जै हरी हरी।
ऐसी बजाई किशन कन्हैया ने बांसुरी।

❀ ❀ ❀

जब चलते २ रस्ते में यह गून तेरी ढल जावेगी,
इक बछिया तेरी मिट्टी पर फिर घास न चरने पावेगी।
क्या गेहूं चावल मोठ मटर क्या आग धुंआ और अंगारा।
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बंजारा।
खोटी खरी जो कुछ कि है तिसका परेखा है यहां।
जौ जौ पड़ा तुलता है दिल तिल तिल का लेखा है यहां।

अन्य कवियों के भी कुछ ऐसे ही उदाहरण हैं जो १७वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी के अन्त तक रेख़्ता की भाषा में ही रचना करते रहे।

बजही १७ वीं शताब्दी—

न मुँह पर बसे वह न असमान में,
रहा शह उसी नार के ध्यान में।
भुलाई चंचल धनि वो यों शाह को,
कि लुभवाए ज्यों कहरुवा काह को।
ना पूछूं बरहमन जोतिसी,
कब मिलना पिउ सों होयसी।

हामिद ई० १७ शताब्दी—

अज़मे सफ़र चूं करदी साजन नैनों नींद न आई जी।
कद्रे वसालत नादा निस्तम तुम बिन विरह सताई जी।

कज़िल बाशखां उम्मेद—

बाम्हन की बेटी आज मेरी आंख यों परी।
गुस्सा किया व गाली दिया औ बिगर लरी।

यहां 'बाम्हन' शब्द से वर्तमान उर्दू के 'बिरहमन' की तुलना कीजिए।

शाह आबरू—

नैन से नैन जब मिलाय गया,
दिल के अन्दर मेरे समाय गया।
तेरे चलने की सुन ख़बर आशिक,
यही कहता मुआ कि हाय गया!

शाकिर नाज़ी—

लड़े हुए तो बरस बीस इनको बीते थे,
दुआ के ज़ोर से दाई दवा के जीते थे।
न पानी पीने को पाया वहां न खाना था,
मिले थे धान जो लश्कर तमाम छाना था।

कारेखां—

माफ़ किया मुलुक पनाह दी विभीषन को,
कही थी जुबान कुरबान बेकरार की।
बैठिवे को ताहफ़ तख़्त दै तख़्त दिया,
दौलत बढ़ाई थी जुमारदार यार की॥
तब क्या कहा था अब सरफ़राज आप हुए,
जब कि अरज सुनी चिरी मार खार की।
'कारे' के करार माँहि क्यों न दिलदार हुए,
ऐरे नन्द लाल क्यों हमारे बार 'बार की।

तुराव—

हों तो चली अब देश विदेश बाबुल तेरी नगरी छूटी।
वीरन फेर कठिन है आवन आस मिलन की टूटी।
ससुरे जात हों संग पिया के मात पिता सों रूठी।
सइआँ हँसत मैं अस रोवत हूँ जैसे मारी लूटी।
सांचा मित्र कोई नहीं जग में प्रीति जगत की झूठी।
ससुर के लीक 'तुराव' से पूछो नैहर सों जो फूटी।

तालिब—

महबूब बाग़े सुहाने बने हैं, सुमोहन गरे माल फूलों हिये हैं।
महारंग माते अमाते मदन के, विलोकत बदन खौर चन्दन दिये हैं।
यही बेष हरिदेव भृकुटी तुम्हारी, सुलकुटी भंवर खेल या लख लिये हैं।
दिवाना हुआ है दिवाना दरश का सु'तालिब' उठा श्याम गिरिधर लिये हैं।

शाहहातिम—

क्यों कै सब से तुझे छिपा न।
जान है, दिल है, दिल का अन्तर है,
जुदा नहीं सब सेती तहक़ीक कर देख,
मिला है सबसे और सबसे है न्यारा।

मीरदर्द—

तू कब तई मुझ साथ मेरी जान मिलेगा।
ऐसा भी कभी होगा कि फिर आन मिलेगा,
अगर तुझ को चलना है चल साथ मेरे।
यह कब लग तू बातें बनाता रहेगा।

मीरतक़ी—

वे दिन गए कि आँखें दरिया सी बहतियां थीं।
सूखा पड़ा है अब तो मुद्दत से यह दोआबा।

मोमिन—

तुम मेरे पास होते हो गोया,
जब कोई दूसरा नहीं होता।

ज़ौक—

लोग घबरा के यह कहते हैं कि मर जाएँगे।
मर के गर चैन न पाया तो किधर जाएँगे।

इन उद्धरणों से आप देख सकते हैं कि किस प्रकार हिन्दी-रेख़्ता फ़ारसी, अरबी की संस्कृति और शब्दों से मिलकर अन्त में पृथक् उर्दू भाषा बन

गई। इधर तो यह हुआ कि मुस्लिम कवियों के हाथ में हिन्दी उर्दू बनकर पृथक हो गई। उधर हिन्दू कवि भी जो पहिले रेख़्ता की भाषा में कविताएं करते रहे, ढुलक कर संस्कृत शब्दों और हिन्दी छन्दों के कारण धीरे २ उनसे दूर होते गये। परन्तु छन्द-भेद के अलावा प्रारम्भ में उनकी भाषा वैसी ही थी जैसी रेख़्ता के मुस्लिम कवियों की।

कुलपति; ई० स० १६७१—

ये बिहारीलाल कविराज के भानजे तथा माथुर चौबे परशुराम के शिष्य थे। ये जयपुर के राजकुमार रामसिंह के शिष्य थे। उन्होंने व्रजभाषा में संग्राम-सार, युक्तितरंगिणी, रस-रहस्य आदि उत्तम ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु रेख़्ता की भाषा में भी कुछ रचना की है। जैसे—

हूं मैं मुश्ताक़ तेरी सूरत का नूर देख,
दिल भरपूर रहे कहने जवाब से॥
मेहर का तालिब फ़क़ीर है मेहरबान,
चातक जो जीवता है स्वाति वारे आबसे॥
तू तो है अयानी यह खुशी का ख़ज़ाना तिसे,
खोलि क्यों न दीजे सेर कीजिए सवाब से॥
देर की न ताब जान होत है कबाब बोल,
ह्याती का आब बोलो मुख महताब से॥

रसनिधि; १७ वीं शताब्दी ई०—

इनका नाम पृथ्वीसिंह था। ये दतिया के निवासी थे। इन्होंने दोहों में रतनहजारा लिखा है। इनकी रेख़्ता भाषा का नमूना देखिए—

यही मतो ठहराइए, अली हमारे जान।
जान न दीजे कान्हकों, जान दीजिए जान।
क्यों बिसराई भावते, जियते मेरी याद।
घुंघरुन मिस बज करत हैं, मन मेरो फरियाद।
एक कटे एकै पड़े, एक कटन को त्यार।
अड़े रहे केते सुमन, मीता तेरे द्वार।

बृन्द; १७वीं शताब्दी ई०—

हैं कजरारे सहज ही, लोचन बड़े बिसाल।
आंजत होत विलम्ब तिहिं अंजन दियो न बाल॥

आलम; १७ वीं शताब्दी—

दाने की न पानी की न आवे सुध खाने की,
या गली महबूब की आराम खसखाना है।
रोज़ से है राज़ी जो यार की रज़ाय बीच,
नाज़ की नज़र तेज़ तीर का निशाना है।

सूरत चिराग़ रोशनाई आशनाई बीच,
बार बार बरै बलि जैसे परवाना है।
दिल से दिलासा दीजे हाल के न ख़्याल हूजै,
बेख़ुद फ़क़ीर यह आशिक़ दीवाना है।

रसरंग; १८वीं शताब्दी—

ये झांसी के मुसलमान थे पर धामी सम्प्रदाय स्वीकार कर वैष्णव हो गये। इनका एक उदाहरण यहां देते हैं—

तेरे महबूब बांके ने चसम की चोट मारी है।
खड़ा है सामने ही में ज़रा नहीं पलक टारी है।
जिलाया उन्हींने मुझ को जिन्होंने गांस मारी है।
तड़पता कधी न जीता बिछोहा दर्द भारी है।

गंजन; १८वीं शताब्दी—

मीना के महल जरबाफ़ दर परदा है,
हलबी फ़नूसन में रोसनी चिराग़ की।
गुलगुली गिलम गरकआब पग होत,
जहां बिछी मसनद लालन के दाग़ की।
केती महताब मुखी खचित जवाहिरन,
मंजन सुकवि कहै बोरी अनुराग की।
एतमादउद्दौला कमरुद्दीन की मजलिस,
सिसिर में ग्रीषम बनाई बड़ भाग की।

भूधरदास; १८ वीं शताब्दी—

ये आगरे के खण्डेलवाल जैन थे, ब्रजभाषा के सुकवि थे। महाराज सवाई जयसिंह के आश्रित रहे थे। इनकी रेख़्ता का नमूना देखिए—

जोगी तो जंगम से बड़ा वह लाल कपड़े पहिरता।
उस रंग से महरम नहीं कपड़े रंगे से क्या हुआ,
पोथी के पत्रे वांचता घर घर कथा कहता फिरा,
निज ब्रह्म को चीन्हा नहीं ब्राह्मण हुआ तो क्या हुआ।

पद्माकर; १८ वीं शताब्दी—

इनका एक उदाहरण मिश्रित भाषा का देखिए—

गुलगुली गिल में गलीचा है गुणीजन हैं,
चांदनी है, चिक है, चिरागन की माला है।
कहे पद्माकर त्यों गज़क गिज़ा है सजी,
सेज है सुराही है सुरा है और प्याला है।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एत उदित मसाला है।

तान तुकताला है विनोद के रसाला है,
सुबाला है, दुशाला है, विसाला चित्रशाला है।

ग्वाल कवि; १८ वीं शताब्दी—

इनकी मिश्रित भाषा की कविता पढ़िये—

दिया है खुदा ने खूब खुशी करो ग्वाल कवि,
खाओ पिओ देओ लेओ यहीं रह जाना है।
राजा राव उमराव केते बादशाह भए,
कहां ते कहां को गए लग्यो ना ठिकाना है।
ऐसी ज़िन्दगी के भरोसे पै गुमान इतना,
देस देस घूम घूम मन बहलाना है।
आए परवाना पर चले न बहाना यहाँ,
नेकी कर जाना फेर आना है न जाना है।

रघुनाथ; १८ वीं शताब्दी—

ये बंदीजन थे और काशी के महाराज बलवन्तसिंह के आश्रित थे। ये व्रजभाषा के सुकवि थे। इनकी मिश्रित भाषा की कविता का नमूना देखिए—

आप दरियाव पास नदियों के जाना नहीं,
दरियाव पास नदी होयगी सो धावेगी।
दरख़्त बेलि आसरे को राखत ना,
दरख़्त ही के आसरे को बेलि पावेगी।
लायक हमारे जो था कहना सो कहा मैंने
'रघुनाथ' मेरी मति न्याव ही को गावेगी।
वह मुहताज आपकी है आप उसके न,
आप कैसे चलो; वह आप पास आवेगी।

वृन्दावन; १८ वीं शताब्दी—

ये शाहाबाद निवासी जैन थे, पीछे काशी आ बसे थे। ये व्रजभाषा के सुकवि थे। रेख़्ताकी इनकी कविता का एक नमूना—

बेजान में गुनाह मुझसे हो गया सही,
ककरी के चोर को कटार मारिए नहीं।
आनन्द कन्द श्री जिनंददेव है तुही,
जस वेद औ पुरान में परमान है यही।

नागरीदास; १८ वीं शताब्दी—

ये कृष्णगढ़ के राजा थे।

इश्क चमन महबूब का वहां न जावे कोय।
जावे सो जीवे नहीं जिये सो बौरा होय।

आया इश्क लपेट में, लागी चश्म लपेट।
सोई आया ख़लक में, और भरें सब पेट।
रस उरझी निसि श्याम सों, आरस उरझे बैन।
तेरी उरझी अलक में, मेरे उरझे नैन।
नींद भरे तन लटपटे, छके दगन को हेर।
नागरिया के उर बसो, कुंज बिहारी टेर।

सीतल; १८ वीं शताब्दी—

ये शाहाबाद निवासी स्वामी हरिदास के सम्प्रदाय में थे। इनकी रचना 'गुलज़ारचमन' चार भाग में है। फ़ारसी, संस्कृत के पण्डित थे और काव्यचमत्कार इनकी रचना की विशेषता है। इनका एक उदाहरण देखिए—

१—मुख शरदचन्द्र पर श्रम सीकर जग मगें नखत गन जोती से।
के दल गुलाब पर शबनम के हैं कनिका रूप उदोती से।
हीरे कनियां मन्द लगे हैं सुधा-किरन के गोती से।
आशा है मदन आरती को घट हेम थार पर मोती से।

२—हम खूब तरह से जाने हैं, जैसा आनन्द का कन्द किया।
सब रूप सील गुन तेज पुंज, तेरे ही तन में बन्द किया।
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी ले, फिर विधि ने यही प्रबन्ध किया।
चम्पक दल सोन जुही नरगसि, चामीकर चपला चन्द किया।

सहचरिशरण; १८ वीं शताब्दी—

ये हरिदास जी के टट्टी सम्प्रदाय के एक भक्त-कवि थे। उदाहरण—

खाली है न खुसाली सैं मन उर अनुराग अलीका।
विमल महल दारंग लालची भावुक भक्ति भलीका।
सह चरिसरन, रसिक रसमाला कुंजर कुंजगली का।
आया नहीं न आवै छल बिच आसिक छैल छली का।

महादजी शिन्दे; १८ वीं शताब्दी—

ये ग्वालियर के प्रसिद्ध वीर राजा थे। इन्होंने मराठी और हिन्दी में बहुत पद बनाए। एक उदाहरण—

'यह नूर यों खिला है, ज़हूर सों भरा है।
देखो अजब तमासा 'माधो' ये सुख लिया है।

सोहिरोबानाथ; १८ वीं शताब्दी—

ये महाराष्ट्र साधु थे। एक बार जब ये मथुरा आये तो महादजी सिंधिया ने इन्हें अपनी 'माधवदासी' गीता की टीका दिखाई। परन्तु इन्होंने उसे तुच्छ

कहा तो महादजी सिंधिया क्षुब्ध हुए। इस पर इन्होंने उन्हें फटकार बताई—

अवधूत नहीं ग़रज़ तेरी हम बेपरवाह फ़कीरी।
तू है राजा हम हैं जोगी प्रथक पंथ का न्यारा।
छत्रपती सब तेरे सरीखे, पाँवन परे हमारा।
फ़ौज बन्द तुम, झोली बन्द हम, चार खूंट जागीरी।
तीन काल में दुवाय फिरती घर घर अलख पुकारी।
तैं वी डूबा हमें डुबावे तेरा हम क्या लीया।
कहै 'सोहिरो' सुनो महादजी, प्रकाश जोग कमाया।

महिपतिनाथ; १९वीं शताब्दी—

ये इन्दौर महाराज जसवन्तराय होल्कर के गुरु थे। ग्वालियर में इनका मठ है। इनकी कविता का नमूना—

धीरे धीरे झूलो नन्दलाल।
वर्षा ऋतु सावन का महीना गावों राग मल्हार।
तुम सुकमार कुमार कन्हैया ऊँची कदम की डार।

औध; १९वीं शताब्दी—

ये अयोध्याप्रसाद वाजपेयी राय बरेली के निवासी थे। इनके उदाहरण—

मकसद यह मेरा कहने का, एक दम हिये में रहने का,
इकरार यह निरवहने का, रघुनन्दन खुद कद्रदान है।

❀ ❀ ❀

ललित किशोरी और ललित माधुरी; १९वीं शताब्दी—

वृन्दावन में बने संगमर्मर के बिहारी लाल जी के मन्दिर के निर्माता दो भाई धनी वैश्य थे—कुन्दनलाल, फुन्दनलाल शाह। उन्होंने उपनाम पूर्वोक्त रख कर सुन्दर पद रचे। एक उदाहरण—

इस रस के पावे चस्के, जेहि लोक लाज खोई,
मैं बेचती हूँ मनके, माखन को लेवे कोई,
देखो री यह नंद को लाला, बरछी मारे जाता है,
जगल में हम रहते हैं, दिल बस्ती से घबराता है,
ललित किशोरी इश्करैन दिन, ये सब खेल सिखाता है।

व्रजनिधि; १९वीं शताब्दी—

जयपुर नरेश प्रतापसिंह जी ने 'व्रजनिधि' नाम से अनेक उत्तम काव्य रचे। जिनमें रेख़्ता संग्रह में दो सौ पद के लगभग हैं। एक उदाहरण—

बाल बिथुरे सुथरे पैरों पै जा पड़े हैं।
मानो अगर सों लपेटे झपेटे भुजंग अड़े हैं।
अंबर अतर सों तर हैं जिनसे सुमन झड़े हैं।
मख़तूल के छज्ञे हैं जिय में रहे अड़े हैं।

इस प्रकार कुछ अलग २ कुछ मिलीजुली रचनाएं हिन्दुओं और मुसलमानों की होती जा रही थीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जन्मकाल के प्रथम जब सम्पूर्ण देश में सत्तावन के विद्रोह की चिनगारी सुलगने की तैयारी हो रही थी उसके एक क्षण प्रथम स्वनामधन्य प्रतापी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मेधावी पिता गोपालदास हिन्दुओं की धर्मपुरी काशी में बैठ कर उसी रेख़्ता की भाषा में गा रहे थे—

जाग गया तब सोना क्या रे।
'जो नर तन देवन कों दुर्लभ, सो पाया अब रोना क्या रे।
ठाकुर से कर नेह आपना, इन्द्रिन के सुख होना क्या रे।
जब वैराग्य ज्ञान उर आया, तब चांदी और सोना क्या रे।
दारा सुवन सदन में पड़के, भार सबों का ढोना क्या रे।
हीरा हाथ अमोलक पाया, कांच भाव में खोना क्या रे।
दाता जो मुख मांगा देवे, तब कौड़ी भर दोना क्या रे।
'गिरिधरदास' उदर पूरे पर, मीठा और सलोना क्या रे।

ठीक इसी समय दिल्ली के प्रसिद्ध लाल किले में प्रतापी मुग़लों के अन्तिम वंशधर भावुक सम्राट् बहादुरशाह भावमग्न हो उसी भाषा में गा रहे थे—

प्यारी तेरो प्यारो आयो। प्यारी प्यारी बातें कर प्यारे को मनाइए।
अनेक भांतिन कर प्यारे को रिझाइये, आली ऐसो प्यारो कहा घर बैठे पाइये।
लाइए, समुझाइए, कौनो भांतिन, सुख दे बुलाइये।
'शाह बहादुर' तेरे रस-बस भए, अनरस कर कर सौत न हँसाइये।
सौत न हँसाइये।

और इन दोनों ही महावंशों के प्रतिनिधि हृदयों को देख और इनके रस में डूब मानिनी राधा की भांति रसभरी रिस में लखनऊ से शाह बाजिद अली एक ठुमरी अलाप रहे थे—

सैंयां जाव जाव मैं नहीं बोलूती। 'अख़्तर पिया' सों यो जाय कहियो।

और कोई ग्रामीण अभिसारिका उनके कान में कह रही थी—

मैं अपनी दधि बेचन निकसी, सास ननँद की चोरी।
'सुलतान आलम' घर जानन दूँगी, मुतियन की लर तोरी।

उन दिनों लखनऊ, दिल्ली और काशी में एक ही हवा बह रही थी, एक ही भाषा पनप रही थी, भिन्न अभिन्न होने का वह सुयोग था परन्तु तभी सन ५७ के विद्रोह ने सब छिन्नभिन्न कर दिया।

अध्याय चौथा

उर्दू का हिन्दी से पृथक्करण

सर जार्ज ग्रियर्सन का हिन्दी का वंशवृत्त—

सर जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दी भाषा का एक वंशवृक्ष इस प्रकार दिया है—

हिन्दी

पश्चिमी हिन्दी — १ हिन्दुस्तानी, २ बांगरू, ३ व्रजभाषा, ४ कन्नौजी ५ बुंदेली

(हिन्दुस्तानी) — १ हिन्दी २ उर्दू ३ रेख्ता ४ दखिनी आदि

पूर्वी हिन्दी — १ अवधी २ बघेली ३ छत्तीसगढ़ी

इसमें उर्दू को रेख़्ता से और रेख़्ता को दक्षिणी भाषा से पृथक माना गया है। परन्तु सच पूछा जाय तो यह 'रेख़्ता' ही खड़ी बोली की हिन्दी, उर्दू और दक्षिणी की माता है जिसका वर्णन हम अन्यत्र कर चुके हैं। हमने पिछले परिच्छेद में बतलाया है कि किस प्रकार पहिले रेख़्ता के रूप में हिन्दी और उर्दू एक भाषा थी। हमने वली के दिल्ली-आगमन के बाद उसकी कविता-धारा का प्रवाह बदलते देखा है। उसके बाद शाहहातिम जिन की रेख़्ता की बहुत सी कविताएं उपलब्ध हैं और जो वली के शिष्य होगए थे अपने गुरु की राह पर चलकर फ़ारसी-मिश्रित काव्य-रचना करने लगे। इस प्रकार हिन्दी से उर्दू को साहित्यिक दृष्टि से पृथक् करके एक नई काव्यधारा का प्रवाह दिल्ली से लखनऊ तक बहता दीखता है जिसके इस छोर पर शाहहातिम और उस छोर पर नासिख़ हैं। बीच में सैयद इन्शाअल्लाह और मीर जैसे कवि उसमें डुबकियां लगाते दीख पड़ते हैं।

सैयद इन्शाअल्लाह—

हिन्दी की ठेठ भाषा में 'रानी केतकी की कहानी' लिख कर हिन्दी के उन्नायकों की पंक्ति में बैठे हुए सैयद इन्शाअल्लाहखां इस नई उर्दू पर ऐसे मगरूर हैं कि वे कहते हैं—

"हर लफ़्ज़ जो उर्दू में मशहूर हो गया, अरबी हो या फ़ारसी, तुर्की हो या सुरयानी, पञ्जाबी हो या पूर्बी, अज़रूए असल ग़लत हो या सही, वह लफ़्ज़ उर्दू का लफ़्ज़ है। अगर असल के मुआफ़िक़ मुस्तामल है तो भी सही है, और अगर ख़िलाफ़ असल मुस्तामल है तो भी सही है। उसकी सेहत व ग़लती उर्दू के इस्तेमाल पर मौकूफ़ है क्योंकि जो कुछ ख़िलाफ़ उर्दू है ग़लत है गो असल में वह सही है। और जो कुछ मुआफ़िक़ उर्दू है वह सही है गो असल में सेहत न रखता हो"।

(दरियाए लताफ़त)

सैयद साहेब दिल्ली निवासी थे। इस लिये वह शाहजहानाबाद की 'उर्दू' को ही प्रमाण मानते थे। उनके पूर्वोक्त गर्ववाक्य को अन्य विद्वानों ने 'अहदे-जाहिलियत' माना और उर्दू में काटछांट 'इसलाह ज़बान' की पद्धति पर जारी की। इस इसलाह की पद्धति जारी करने वाले लखनऊ के कवि 'नासिख़' थे। बाद में 'इसलाही ज़बान' ही का नाम उर्दू हुआ और वह उर्दू अच्छी खासी फ़ारसी बन गई और उसके कारण लखनऊ 'इस्फ़हान' बन गया। इसकी चर्चा 'सुरूर' ने इस प्रकार की है—

बुलबुले शीराज़ को है रश्क नासिख़ का 'सुरूर'।
इस्फ़हान उसने किए हैं कूचःहाए लखनऊ॥

पर मौलाना सलीम को, नासिख़ का भाषा को इतना गरिष्ट बना देना, पसन्द नहीं था। नासिख़ के सम्बन्ध में उन्होंने एक बार कहा था—

"उसने (नासिख़ ने) अपने लिये ज़बान की ख़ास हदूद मुक़र्रर कर ली हैं। उन से कभी बाहर नहीं निकलता। आम बोलचाल कम इस्तेमाल करता है। वह एक ऐसी ज़बान बोलता है जो बिल्कुल फ़ारसी की ज़बान का अक्स है"।

यह हुई नासिख़ की बात। अब मीर साहेब की भी एक घटना सुनिये। जब वे दिल्ली छोड़कर लखनऊ चले तो गाड़ी का पूरा किराया भी पास न था। लाचार एक दूसरा आदमी शरीक कर लिया। कुछ दूर चलने पर उस आदमी ने जब मीर साहेब से बातचीत करना चाहा तो आप उस की ओर से मुंह फेर कर

बैठ गये। परन्तु उसने फिर भी बातें करने की चेष्टा की, तब मीर साहेब नाराज़ हो कर बोले—

"साहब क़िबलः आपने किराया दिया है। बेशक गाड़ी में बैठिये। मगर बातों से क्या तअल्लुक़? उसने कहा—'हजरत' क्या मुज़ायका है राह का शुग़ल है, बातों में ज़रा जी बहलता है: तो मीर साहेब और बिगड़ कर बोले—

'आपका शुग़ल है मगर मेरी ज़बान ख़राब होती है।'

इन उद्धरणों से जाना जा सकता है, कि उर्दू के इन प्रारम्भिक महारथियों की मनोवृत्ति क्या थी, उन्हें न तो कोई ऐसे साहित्य के निर्माण का ध्यान था जिस से मनुष्य जाति को लाभ हो, विचारों की धाराएँ उन्नत हों या किसी भी प्रकार से लोकहित हो, वे तो केवल शाब्दिक मल्लयुद्ध करते थे—भाषा से खिलवाड़ करते थे, भाषा को खिलौना बनाते थे, और उनके निठल्ले शागिर्द, निकम्मे नवाब और रईसज़ादे, उनकी बात २ पर वाहवाही करते थे।

यद्यपि मुसलमानों की भांति बहुत से हिन्दू भी उर्दू के विद्वान कवि हो चले थे, पर इस उर्दू में एक जातीय पक्षपात भी घुस चला था। एक बार जब एक उर्दू के कोश का निर्माण होने लगा तो मौलाना 'हाली' जैसे उदार कवि ने कहा था—

"दूसरी शर्त यह थी कि डिक्शनरी लिखने वाला शरीफ़ मुसलमान हो। क्योंकि खुद देहली में भी फ़सीह उर्दू सिर्फ़ मुसलमानों ही की ज़बान समझी जाती है; हिन्दुओं की सोशल हालत उर्दू-ए-मुअल्ला को उनकी मादरी जबान नहीं होने देती।"

(हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी)

डा० गिलक्राइस्ट और उर्दू—

कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज के प्रिन्सिपल डा० गिलक्राइस्ट स्वयं फ़ारसी और हिन्दी के अच्छे ज्ञाता थे।

कालेज की स्थापना का उद्देश्य अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तानी भाषा का ज्ञान प्राप्त करा देना था। उन्होंने लल्लूलाल से कहा—'व्रज भाषा में कोई अच्छी कहानी हो तो उसे रेख़्ता की बोली में कहो।

तब लल्लूजीलाल ने कहा कि—बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई फ़ारसी लिखने वाला दीजे जो भली भांति लिखी जाय। डा० गिलक्राइस्ट निरन्तर इस उर्दू की पृथक् धारा से जो वास्तव में सर्वसाधारण से परिचित न थी बचना चाहते थे। वे बराबर यही कहते थे कि "हमें किताबी, मजलिसी या दर्बारी उर्दू की ज़रूरत नहीं है, 'ठेठ हिन्दुस्तानी' 'खड़ी बोली' 'सलीस रिवाजी रेख़्ता, अपनी ज़बान मुआफ़िक़ यहां तक कि 'हिन्दी रेख़्ता' में लिखना शुरु करो"।

लिखा अनेकों ने, परन्तु ख्याति मिली लल्लूजीलाल और मीर अमन को। लल्लूजीलाल ने दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में 'प्रेमसागर' लिखा। और मीरअमन ने ठेठ रेख़्ता की उर्दू में ग्रन्थ लिखा। मीर अमन की भाषा बोलचाल की अवश्य थी, फिर भी उनकी भाषा के क्षेत्र का विस्तार 'उर्दू-ए-मुअल्ला' था। लल्लूजीलाल का क्षेत्र दिल्ली और आगरे का समूचा प्रान्त था। गिलक्राइस्ट साहेब यही चाहते थे क्योंकि वे तो सरकारी साहबों को व्यापकरूप में हिन्दुस्तानी की शिक्षा देना चाहते थे। उनके सामने भाषा का एक सामान्य ढांचा था जिस का रूप एक था, केवल लिपि ही का अन्तर था। वे सच्ची देश-भाषा पर ग्रन्थ लिखाना चाहते थे। जब उन्होंने देखा कि उर्दू जो हिन्दी से पृथक् हो चुकी थी देश भाषा नहीं है, प्रत्युत् बड़े २ मुसलमानी दर्बारों और नगरों में शौक से पढ़ी जाने वाली बनावटी भाषा है तो उन्होंने इसकी कड़ी ताकीद अपने मुंशियों को कर दी कि बोलचाल की भाषा में लिखो। केवल उन्हीं शब्दों का प्रयोग करो जो देश की जनता से परिचित हैं।

अदालत की भाषा उर्दू होने का प्रभाव—

डाक्टर गिलक्राइस्ट की सचेतता के कारण फ़ोर्ट विलियम कालेज नासिख़ के स्कूल का अखाड़ा न बन सका। परन्तु अदालत-कचहरियों में जो उर्दू भाषा स्वीकार कर ली गई थी उसका सर्वसाधारण पर व्यापक प्रभाव पड़ा। और जैसा कि हम ने पीछे कहा है वह धीरे २ सर्वसाधारण की पृथक् भाषा बन गई।

गार्दा-द तासी १८४० ई०—

गार्दा-दँ-तासी पैरिस में उर्दू के अध्यापक थे। इन्होंने १८४० में हिन्दुस्तानी साहित्य का एक इतिहास लिखा था जिसमें उर्दू के साथ कुछ हिन्दी कवियों का भी उल्लेख था। सन १८५२ में उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था—

"मेरे ख़्याल में हिन्दी-उर्दू का झगड़ा कोई अहमियत नहीं रखता। ख़ामख़्वाह इसको इतना बढ़ा चढ़ाकर इस वक्त पेश किया जा रहा है। हिन्दी और उर्दू दोनों एक ही ज़बान की दो शाखायें हैं, मुश्किल यह आ पड़ी है कि इस मसले पर जब बहस की जाती है तो महज़ नह्व (पदयोजना) पर गुफ़्तगू नहीं होती, बल्कि समझा जाता है कि हिन्दी हिन्दू धरम की नुमायन्दः है। वह हिन्दूधरम; जिसमें बुतपरस्ती और उसके लवाज़मात बुनियादी अक़ीदे की हैसियत रखते हैं। इसके बरअक्स उर्दू इसलामी तहज़ीब व तमद्दन की अलमबरदार है। और चूंकि इसलाम में सामी असर शामिल हैं और तौहीद उसका अमल अक़ीदः है इसलिये इसलामी तहज़ीब में योरोपियन तहज़ीब या मसीही तहज़ीब की ख़सूसियत पाई जाती है"।

परन्तु फिर भी वे कहते हैं—

'हिन्दी भी उर्दू के साथ साथ उसी तरह बनी है जिस तरह फ़ारसी के साथ साथ थी। मुसलमान बादशाह हमेशा एक हिन्दी सेक्रेटरी जो हिन्दीनवीस कहाता था, रखते थे। और एक फ़ारसी सेक्रेटरी जिसे फ़ारसीनवीस कहते थे, रखा करते थे। जिसमें उनकी आज्ञाएं दोनों भाषाओं में लिखी जायें। इस प्रकार अंग्रेज सरकार पश्चिमोत्तर प्रदेश में हिन्दू जनता के लाभ के लिये प्रायः सरकारी कानूनों का नागरी अक्षरों में हिन्दी अनुवाद भी उर्दू क़ानूनी पुस्तकों के साथ देती थी। परन्तु मुसलमान हिन्दी को जैसे अदालतों से निकलवा चुके थे उसी भांति उन्होंने इसकी भी पूरी चेष्टा की कि हिन्दी को शिक्षाक्रम में स्थान न मिले। इसलिए जब सरकारी वर्नाक्यूलर स्कूलों की स्थापना की योजना बनी तो सरकार ने चाहा कि सब विद्यार्थियों के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य रखा जाय परन्तु मुसलमानों ने उसका भारी विरोध किया और सरकार को सन १८४८ में लाचारी हालत में यह घोषणा करनी पड़ी—

"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना—जो मुल्क की सरकारी और दफ़्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवा, मुसलमान विद्यार्थी जिनकी संख्या देहली कालेज में बड़ी है इसे अच्छी नज़र से नहीं देखेंगे"।

सर सैयद अहमद का विरोध स० १८५५—

इसके बाद जब १८५५ में शिक्षा का स्थायी प्रबन्ध होने लगा तब सर सैयद अहमद के नेतृत्व में मुसलमानों ने हिन्दी की अनिवार्यता का पूरा विरोध किया। वे हिन्दी को एक गँवारू भाषा कहा करते थे और उनका अंग्रेज़ों पर काफ़ी प्रभाव था।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद स० १८५५—

परन्तु उन्हीं की जोड़ तोड़ के राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' हिन्दी की रक्षा के लिए उनके मुक़ाबिले में खड़े हो गये। वे भी अंग्रेज़ी सरकार के उसी भांति कृपापात्र थे जैसे सर सैयद। इन दोनों महापुरुषों के माध्यम में हिन्दी उर्दू का झगड़ा बीसियों वर्ष तक चलता रहा।

अध्याय-पाँचवाँ

ईसाइयों के प्रयत्न

योरुप की इन व्यापारी जातियों के साथ इनके देशवासी ईसाई प्रचारक भी आये और इन्हें अपने उपदेशों के प्रसार के लिये भारतीय भाषाओं के ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता पड़ी। इस कारण उन्हें अपने धर्म-ग्रन्थों का यहीं की देश-भाषाओं में अनुवाद करना अनिवार्य हो गया। डा० विलियम केरे ने जो स० १८९५ में भारत में आये मालाबार में सर्वप्रथम एक चर्च स्थापित किया और गांवों में उपदेश देना प्रारम्भ किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस काम में बाधा डाली। इससे वे अपने साथियों को लेकर श्रीरामपुर चले गये। वहां उन्होंने मिशन स्थापित किया।

छापने की विद्या—

डी० इसराईल का कहना है कि छापने की कला प्राचीन चीन में सर्वप्रथम प्रचलित थी। चीन से यह कला योरुप में आई। पहले वृक्षों के पत्तों पर छापा जाता था। सन १४४० से १५०० तक इस कला का थोड़ा विकास हुआ। कैकस्टन और वेन्किन डि वरडी इसके प्रारम्भिक ज्ञाता थे। कैक्सटन एक धनी था, जो सन १४६४ में बादशाह एडवर्ड चतुर्थ की ओर से कुछ व्यापारिक सन्धि करने ड्यूक आफ़ बरगंडी के दर्बार में गया था और वहां से छापने की कला सीख कर आया था।

यह ठीक २ नहीं कहा जा सकता कि छापने की विद्या भारतवर्ष में कब से थी। मुहर पर अक्षर खोद कर छापने की कला तो बहुत पुरानी चली आती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रथम गवर्नरजनरल वारन्हेस्टिंगस के समय में काशी में एक प्रेस धरती में गड़ा हुआ मिला था जिसके विषय में अनुमान किया गया था कि वह हजार वर्ष से पृथ्वी में गड़ा है। इस सम्बन्ध में डा० योगेन्द्रनाथ घोष ने एक नोट सन १८७० में नेशनल सोसाइटी में पढ़ा था जिसका एक अंश इस प्रकार था—

An extraordinary discovery was made of a press in India when Warren Hastings was Governor General. He observed that in the district of Benares a little below the surface of the earth was to be found a structure of a kind of fibrous wooly substance with various thicknesses in horizontal layers. Major Roebuck, informed of this went out to the spot where an excavation has been made, displaying the singular phenomenon. In digging somewhat deeper for the purpose of further research, they laid open a vault which on

further examination, proved to be of some size; and to their astonishment found a pair of printing presses set up in a vault and moveable types placed as if ready for printing. Every enquiry was set on foot to ascertain the probable period at which such an instrument could have been placed there, for it was evidently not of modern origin; and from all the Major could collect it appears probable that the press had remained there in the state in which it was found for at least one thousand years.

श्रीरामपुर मिशन का काम—

इस स्थान से भारत की २७ भाषाओं में बाईबिल का अनुवाद करा कर प्रकाशित किया गया। हिन्दी अनुवाद सन १८१९ में छप चुका था, जो स्वयं विलियम कैरे ने किया था। कैरे ने रामायण का सम्पादन किया और कोष तथा व्याकरण पर पुस्तकें लिखीं। सन १८१४ के चार्टर के बाद ईसाई-धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता भी मिल गई थी। इन ईसाई धर्म-ग्रन्थों की भाषा शुद्ध हिन्दी थी, उर्दू मिश्रित नहीं। इन पादरियों ने शिक्षा-प्रचार भी अपनी योजना का एक अंग बनाया और बहुत से मिशन स्कूलों की स्थापना की तथा बहुत सी पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण किया। इस प्रकार अनेक गद्य पद्य मय रचनाएं शिक्षा सम्बन्धी और ईसाई धर्म सम्बन्धी उस काल में तैयार हुई जिन का संक्षिप्त विवरण हम यहां देते हैं—

ईसाई साहित्य—

डाक्टर कैरे जो इस उद्योग के प्रमुख थे, उनका उल्लेख पहले हो चुका है। श्रीरामपुर के अलावा आगरा, काशी, लुधियाना, आदि स्थानों में कई मिशन और खोले गये। अन्य वैसी ही सोसाइटियां भी स्थापित की गईं। ईसाई धर्म की पुस्तकें यहां से प्रकाशित होने लगीं। शिक्षा के पाठ्यक्रम के लिये इतिहास भी लिखे गये। इन लेखकों में पं० रतनलाल, ओंकारभट्ट, बद्रीलाल शर्म्मा आदि के नाम प्रमुख हैं। इन पुस्तकों की भाषा के नमूने देखिये—

(अ) फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इस लिये प्रजा की सहायता से 'पिसिस ट्रेटस' नामक पुरुष सबों पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबा कर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया।

(कथासार-रतनलाल)

(आ) उनकी दृष्टि बरामदे की ओर जा पड़ी तो क्या देखते हैं—वह अनाथ बालक चटाई पर बैठा हुआ इंजील पढ़ रहा है और उसका अर्थ अपने कहार को समझाता जाता है, साहिब की ओर पीठ थी इस लिये उसने उनको नहीं देखा। पहिले तो साहेब को निश्चय नहीं हुआ। जाना, मैं स्वप्न देखता हूं।

(हेनरी और उनका महरा, प्रियानाथ स० १८५०)

(इ) "फिर कहते हैं कि संसार में नाना प्रकार के बिपर्यय होंगे, लोग अपने धर्म को छोड़ कर अधर्मरत होंगे। और बड़ा बड़ा दुःख और क्लेश उठावेंगे। इसके पीछे कलंकी अवतार होगा, तब सतयुग व्यापेगा। सो इस भान्ति के आगम ज्ञान से क्या ठहर सकता है जो अब लों पूरे न हुए"।

(सतमत निरूपण स० १८६०)

(ई) "इसके पीछे दूसरी बहिन मरियम ने भी इसी रीति पर यिसू से भेंट की और यिसू ने उसको और यहूदियों को रोते देख के मन में हाय किया फिर समाधि के पास जाय के वह रोया। कदाचित उसने अपने मन में ध्यान किया होगा कि यदि पाप के इसी एक फल से इतना शोक होता है तो सर्वत्र संसार में पाप के कारण से कितना अगणित दुःख और शोक होगा"।

(मतपरीक्षा सं० १८६९)

अंग्रेजी शिक्षा के लिये कई स्थानों पर स्कूल और कालेज खुल गये थे। अतः सन १८४४ से प्रथम ही शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों की बड़ी मांग हो गई थी। सन १८३४ में आगरे में ईसाइयों ने एक स्कूलबुकसोसाइटी की स्थापना की। इसने सन १८३८ में इंग्लैंड के एक इतिहास का और इसके दो वर्ष बाद मार्शमैन के प्राचीन इतिहास का अनुवाद 'कथासार' के नाम से प्रकाशित किया। कथासार के अनुवादक पं० रतनलाल थे। और इसका सम्पादन पादरी मूर ने किया था। इसकी भाषा में पण्डिताऊपन की झलक थी।

इसी सोसाइटी ने १८४१ में पं० ओंकारभट्ट से 'भूगोल-सार' और १८४८ में बद्रीलाल शर्म्मा से 'रसायनप्रकाश' लिखवाया।

कलकत्ते में भी ऐसी ही एक स्कूल-बुक-सोसाइटी बनी, जिसने १८४७ में 'पदार्थ विद्यासार' आदि कई वैज्ञानिक पुस्तकें निकालीं।

इलाहाबाद मिशन प्रेस ने कुछ रीडरें भी प्रकाशित कीं जैसे 'आज़मगढ़ रीडर' जो सन १८४१ में प्रकाशित हुई।

सन १८५७ के विद्रोह के कुछ ही पहले मिर्ज़ापुर में ईसाइयों का एक और प्रेस 'आरफ़ेन प्रेस' खुला था। जिसमें पादरी शेरिंग ने कई शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित कीं। इनमें भूचरित्रदर्पण, भूगोलविद्या, मनोरञ्जक वृत्तान्त, जंतु-प्रबन्ध, विद्यासागर, विद्वान् संग्रह आदि पुस्तकें सन १८७६ और १८८३ के बीच में प्रकाशित हुईं। इसके बाद मिशन सोसाइटियों से निरन्तर हिन्दी पुस्तकें, ट्रैक्ट, पैम्फ़लेट आदि छपते रहे। कुछ भजनों की पुस्तकें भी थीं। भजन रचने वाले अनेक अच्छे ईसाई कवि हो गये हैं जिनमें दो एक अंग्रेज भी थे। 'आसी' और

'जान' के भजन देशी ईसाइयों में बहुत प्रचलित हैं। इन ईसाई पादरियों ने भूगोल, इतिहास, विज्ञान और रसायनशास्त्र पर जो पुस्तकें प्रकाशित कीं उनसे धीरे २ भाषा में व्यंजनाशक्ति प्रकट होने लगी और उसका रूप निखरने लगा। श्री जगन्नाथ शर्म्मा ने ईसाइयों के द्वारा सन १८५० में प्रकाशित एक पुस्तक की परिमार्जित भाषा का नमूना दिया है देखिए—'भट्ट ने पहले यह बात लिखी है कि देवताओं के कुकर्म सुकर्म हैं क्योंकि यास्क ने इनको सुकर्म ठहराया है। यह सच है परन्तु हमारी समझ में इन्हीं बातों से हिन्दू शास्त्र झूठे ठहरते हैं। ऐसी बातों में शास्त्र के कहने का कुछ प्रमाण नहीं। जैसे चोर के कहने का प्रमाण नहीं, जो चोरी कर फिर कहे कि मैं चोर नहीं। पहले आवश्यक है कि शास्त्र सुधारे जायँ और अच्छे २ प्रमाणों से ठहराया जाय कि यह पुस्तक ईश्वर की है, तब इसके पीछे उनके कहने का प्रमाण होगा। यह निश्चय जानो कि यदि ईश्वर अवतार लेता तो ऐसा कुकर्म कभी न करता और अपनी पुस्तक में कभी न लिखता कि कुकर्म सुकर्म है"

इस भाषा में विषय प्रतिपादन की शक्ति स्पष्ट दीख पड़ती है। इस में भावों के विस्तार के साथ भाषा का वेग भी दीख पड़ता है। पूरी पुस्तक की भाषा ऐसी ही है। इस में विषय की पूरी छानबीन की गई है। यह कथा कहानी की भाषा नहीं है प्रत्युत् निरूपण और आलोचना की भाषा है।

ईसाइयों को यह पूरा विश्वास हो गया था कि वे कट्टर मुसलमानों को चंगुल में नहीं फंसा सकते, इस लिये उन्होंने हिन्दुओं को प्रभावित करने के लिये सदासुखलाल और लल्लूजीलाल की पण्डिताऊ भाषा ही को अपनाया। हिन्दू जनता दरिद्र, दलित और अस्थिर थी। साधारण प्रलोभन में फंस कर वह आसानी से ईसाई होने लगी, खास कर नीच जाति के हिन्दू-जो दरिद्र होने के साथ २ सवर्णों द्वारा समाज के अति निम्न स्तरों में रहते थे।

१८१६ में जब उन्होंने प्रथम बार बाइबिल का हिन्दी संस्करण प्रकाशित किया तो उसमें 'वक्त' के स्थान पर 'जून' 'कमरबन्द' के स्थान पर 'पटका' आदि ग्रामीण शब्दों के प्रयोग किए गए और उर्दू फ़ारसी के शब्दों को तर्क कर दिया गया।

शब्द ही नहीं भावभंगी भी विशुद्ध हिन्दी रखी गई। बाइबिल के अनुवाद का एक नमूना हम यहां देते हैं—

तब यीशू योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास गालील से यर्दन के तीर पर आया, परन्तु योहन यह कहके उसे वर्जने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं। यीशू ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए।

ईसाइयों ने छोटे छोटे पैम्फलेट भी बहुत निकाले । सन १८३७ में सिरि रामपुर प्रेस से 'दाऊद की गीतें' नामक पुस्तक छपी, जिस की भाषा में कुछ फ़ारसी अरबी के भी चलते शब्द रखे गये थे ।

अध्याय छठा

कचहरी की भाषा

मुग़लों के राज्य से प्रथम पठानों, ग़ुलामों, और अन्य मुस्लिम बादशाहों के शासनकाल तक कचहरी और राजदर्बार का काम हिन्दी में होता था । सिक्कों पर भी हिन्दी में ही सुलतानों के नाम रहते थे । परन्तु मुग़ल सम्राट अकबर के राज्यकाल में उनके अर्थसचिव राजा टोडरमल ने दफ़्तर का काम फ़ारसी भाषा में कर दिया । इससे हिन्दी कर्मचारियों, अमलों एवं सर्वसाधारण को भी फ़ारसी भाषा का पढ़ना आवश्यक हो गया । कई सौ वर्ष के पुराने काग़ज़ात की जो प्राप्ति हुई है, सब फ़ारसी भाषा में लिखे मिलते हैं, परन्तु उनके नीचे हिन्दी में उनके अनुवाद मिलते हैं ।

स० १७७४ और १७७८ के लिखे दो स्वीकार पत्रों का उद्धरण यहां हम देते हैं जिन्हें बा० ब्रजरत्नदास ने अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है । इन स्वीकारपत्रों में ऊपर फ़ारसी और नीचे उसका अनुवाद हिन्दी में है । यहां केवल हिन्दी अनुवाद ही दिए जाते हैं--

"संवत् १८३० मिति अगहन शुदी ११ वार शुभ दीन मुशंमाता कीशुना नरहरी की बेटी शिवनाथ चौबे की जोरू यदु चौबे की पतोहु शामु चौबे की परपतोहु व मुशमाती भवानी पनु चौबे मजकूर की बेटी दर दारुलकलाइ बुलदे बनारसी मो हाजीर आइके बयान किआ कि एक मंजील हवेली शमेती जमीन इमारती महला नालाबुला मुतशील काशीपुरा अन्दरून बुलदे मजकूर तीश का हद बमौजिब कबाला क़ाजी लुतुफुल्लाह व अबदुल वाहिद वा महमद अहशन कानुगो की मोहर शो जरखरीद शीवनाथ मजकूर का था । वा शिवनाथ मजकूर मुआ तरका उशका मैं की किशुना मजकूर जोरू उसकी ह्य वा मैं की भवानी मजकूर खोरू (ख़्वाहिर = बहिन) उशकी ह्य बहीनी उशकी व माना बेटी उसकी को मीरासी पहुँची" ।

"सं० १७७४ समै नाम जेठ सुदी चतुर्दसी वार शुभ दीने पत्र करै बिकैर करता भूमि बीशुनाथ वा रामनरान बेटे तुमो के पोते करै करता बीकिरी हेमराज वा घासीराम लाला के बेटे रावल के पोते गोविन्द के परपोते दर दारुलकला बुल्दै मुहमदाबाद उरुफ़ बनारस मों हाजिर आय के बयान किया"।

इन उद्धरणों से तत्कालीन भाषा के विकास का बहुत कुछ पता लग जायगा। यह भी प्रगट होता है कि किस प्रकार खड़ी बोली धीरे २ विकास प्राप्त कर रही थी। दूसरा उद्धरण उस काल का है जब मुग़ल बादशाह फ़र्रुखसियर दिल्ली के तख़्त पर था, और पहला शाहेआलम सानी के समय का है। मार्के की बात दूसरे स्वीकृति पत्र में बनारस नगर को 'मुहमदाबाद' लिखना है।

अंग्रेज़ी राज्य के प्रारम्भ में भी कचहरी की भाषा फ़ारसी ही रही, पर उस भाषा और लिपि से सर्वसाधारण अपरिचित थे, और जनता को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। उसे दूर करने के लिये कम्पनी-सरकार ने एक नया क़ानून सन १८०३ में बनाया और एक आज्ञा प्रचारित की—

"किसी को इस बात का उजुर नहीं होए कि ऊपर के दफ़े का लीखा हुकुम सभ से वाकीफ़ नहीं है, हरी एक ज़िले के कलीकटर साहेब को लाज़ीम है कि इस आईन के पावने पर एक केता इसतहारनामा निचे सरह से फ़ारसी व नागरी भाखा के अच्छर में लीखाय कै ···कचहरी में लटकावही ············अदालत के जज साहेब लोक के कचहरी में भी तमामी आदमी के बुझाने के वास्ते लटकावही (अंग्रेज़ी सन १८०३ साल ३१ आईन २० दफ़ा।")

यह आज से लगभग १५० वर्ष पुरानी सरकारी हिन्दी का जीवित नमूना है। इसके बाद सन १८३६ में एक ऐक्ट बनाकर कम्पनी सरकार ने फ़ारसी को कचहरी से हटाकर प्रान्तीय भाषाओं को उन का स्थान दे दिया। और इस सम्बन्ध में विज्ञप्तियाँ प्रकाशित करा दीं। ऐसी ही एक विज्ञप्ति (इश्तिहारनामः) जो हिन्दी में निकली थी उसकी नक़ल यहां उद्धृत की जाती है—

इश्तहार नामः बोर्ड सदर—

पच्छांह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फ़ारसी ज़बान में लिखा पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है। और बहुत कलय होता है, और जब कोई अपनी अर्ज़ी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाख़िल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सब को चैन आराम होगा। इस लिये हुक्म दिया गया है कि सन १२४४ की कुआर बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल अपनी हिन्दी की बोली में और फ़ारसी

कै नागरी अच्छरन में लिख के दाखिल करें कि डाक पर भेजें और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौन अच्छरन में और हिन्दी बोली में उसपर हुक्म लिखा जायगा। मिति २९ जुलाई १८३६।

इस एक्ट के बनने से प्रान्तीय भाषाओं को उनकी अदालतों में फ़ारसी की जगह स्थान मिल गया। बंगाल में बंगाली, गुजरात में गुजराती भाषा अदालत की भाषा बन गई। पर युक्तप्रान्त, आगरा और अवध में मुसलमानों ने जो फ़ारसी के ज्ञाता भी थे, तथा उनके संस्कार भी फ़ारसीमय थे, एवं उन्हें फ़ारसी लिपि की सुविधा भी थी, इससे उन्होंने भाषा हिन्दी और लिबास फ़ारसी बहुल, तथा फ़ारसी लिपि को पसन्द किया, यही भाषा उर्दू थी। अन्त में सन १८३७ में एक ही वर्ष बाद प्रान्त के सब दफ़्तरों की भाषा उर्दू कर दी गई।

अब धीरे २ उर्दू जो अदालतों की काम-चलाऊ भाषा थी, एक साहित्यिक भाषा हो गई और मुस्लिम लेखकों ने फिर हिन्दी लिखना छोड़कर उर्दू में ही साहित्य लिखना प्रारम्भ कर दिया। जीविका और प्रतिष्ठा के ख़याल से हिन्दू भद्रजन भी अपने लड़कों को उर्दू ही सिखाने-पढ़ाने लगे। भावना यह हो गई कि उर्दू पढ़े ही लोग शिक्षित माने जाने लगे, हिन्दी से नव-शिक्षितों का लगाव कम होने लगा। इस प्रवृत्ति का वर्णन स्व० बालमुकुन्द गुप्त ने इस प्रकार किया है कि—'जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे फ़ारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए। इससे हिन्दी जनता में फिर असुविधाएँ होने लगीं। फलस्वरूप सन १८६९ में नागरी लिपि को भी अदालती भाषाओं में स्थान दिया गया, पर उसका प्रचार नहीं बढ़ पाया। एक तो इसलिये कि सिर्फ़ लिपि ही नागरी थी, शब्द-विन्यास और शब्दों की बहुतायत फ़ारसीमिश्रित थी जो मुग़ल परम्परा से राजदर्बार में शताब्दियों से चली आ रही थी। उसके समस्त दर्बारी परम्परा के शब्द-विन्यास रचने की सामर्थ्य हिन्दी लेखकों में नहीं थी। सरकार भी केवल लिपि का प्रचार करके ही चुप बैठ गई थी, परन्तु बिहार और मगध प्रदेश में सन १८८२ में हिन्दी का प्रचलन अदालतों में उर्दू को सर्वथा हटाकर कर दिया गया। संयुक्तप्रान्त में भी १९०१ में नागरी लिपि का जानना अदालती अहलकारों के लिये अनिवार्य कर दिया गया। अतएव वहां फ़ारसी और नागरी दोनों ही लिपियां कचहरी के काम की निश्चित कर ली गईं। बाद में हिन्दी भी अदालती भाषा मान ली गई।

अध्याय सातवाँ

हिन्दी गद्य के चार उन्नायक

१—मु० सदासुखलाल 'नियाज़'

जन्म सन १७४७; मृत्यु १८२५=पूर्णायु ७८ वर्ष।

२—इन्शाअल्लाहखां; जन्म सन १७६४, मृत्यु १८१७=पूर्णायु ५३ वर्ष।

३—लल्लूजीलाल; जन्म सन १७६४ मृत्यु १८२६=पूर्णायु ६२ वर्ष।

४—सदलमिश्र; जन्म सन १७७४ मृत्यु १८४९=पूर्णायु ७५ वर्ष।

इन चारों साहित्यकारों में ज्येष्ठ सदासुखलाल हैं, और कनिष्ठ सदलमिश्र। मुंशी सदासुखलाल दिल्ली के निवासी थे। पहले ये 'ईस्ट इण्डिया' की नौकरी में चुनार में रहे। बाद में प्रयाग में जा बसे। ये फ़ारसी, उर्दू और हिन्दी के पण्डित थे। तीनों भाषाओं में इन्होंने रचनाएं कीं। गद्य भी लिखा और पद्य भी।

इन्शाअल्लाहखां का जन्म मुर्शिदाबाद में हुआ। ये आजीविका की खोज में पहले दिल्ली आये, बाद में लखनऊ जा बसे! फ़ारसी और उर्दू के कवि होते हुए भी हिन्दी के प्रारम्भिक गद्य-लेखकों में इनकी गणना केवल 'रानी केतकी की कहानी' के कारण है। यह कहानी ठेठ हिन्दी में स० १८०४ के आसपास की रचना है।

लल्लूजी लाल आगरा के निवासी थे। वे संस्कृत के विशेष ज्ञाता नहीं थे। आगरा निवासी होने के कारण ब्रज-भाषा-भाषी थे फिर भी उन्होंने 'प्रेमसागर' खड़ी बोली में लिखा। सिंहासन बत्तीसी और बैतालपचीसी का भी उन्होंने अनुवाद किया। इनकी भाषा में ब्रजभाषा की लहरें रहने से एक अद्भुत सौन्दर्य आ गया है। फ़ारसी अरबी न जानने के कारण इनकी भाषा में विदेशी शब्द आये ही नहीं। इनकी मधुर भाषा का एक उदाहरण देखिये—

"अरे मधुकर तैंने माधव के चरण कमल का रस पिया है तिसी से तेरा नाम मधुकर हुआ, और कपटी का मित्र है इसी लिये तुझे विसने अपना दूत कर भेजा है। तू हमारे चरण मत परसे क्योंकि हम जाने हैं, जितने श्याम बरन हैं तितने सब कपटी हैं जैसा तू है तैसेई है श्याम, इससे तू हमें मत करे प्रणाम जो तू फूल २ का रस लेता फिरता है और किसी का नहीं होता तो वे भी प्रीति-कर किसी के नहीं होते"

(प्रेमसागर)

सदलमिश्र सन १७९९ में कलकत्ते गये। इसके दो वर्ष बाद ही फ़ोर्ट विलियम कालेज की वहां स्थापना हुई। मिश्र जी ने वहां ३३ वर्ष नौकरी की और सन १८३२ में स्वदेश लौटे। इन्होंने नासिकेतोपाख्यान का चन्द्रावती के नाम से हिन्दी

अनुवाद किया । इनकी भाषा लल्लूजीलाल से परिमार्जित थी । एक उदाहरण देखिये—

"उस वन में व्याधु और सिंह के भय से वह अकेली कमल के समान चंचल नेत्रवाली व्याकुल हो ऊँचे स्वर से रो रो कर कहने लगी कि अरे विधाता तैंने यह क्या किया ? और बिछुड़ी हुई हरिणी के समान चारों ओर देखने लगी । उसी समय तक ऋषि जो सत्यधर्म में रत थे धन के लिये वहां जा निकले" ।

(नासिकेतोपाख्यान)

खड़ी बोली की हिन्दी—

यह प्रकृति की मर्यादा है कि आवश्यकता के साधन स्वयं जुट जाते हैं । हिन्दी गद्य के विकास में भी ऐसा ही हुआ । मार्के की बात यह थी कि व्रजभाषा जो इस समय तक हिन्दी साहित्य का प्रतिनिधित्व कर रही थी और खड़ी बोली जो शिष्ट-समाज एवं राजदर्बार में प्रचलित भाषा थी इन दोनों में किस का भण्डार भरा जाय । यह स्पष्ट था कि इस समय तक दोनों ही शैलियों का गद्य-भण्डार अत्यन्त दरिद्र था । यद्यपि व्रजभाषा का पद्य बहुमूल्य था और वही साहित्य की माध्यम भाषा प्रतीत हो रही थी परन्तु गद्य का विकास अब रुक नहीं सकता था और उस में अंग्रेज़ी विदेशी संस्कृति का पुट लग चुका था तथा लेख-सामग्री दोनों ही शैलियों में नगण्य थी । व्रजभाषा में गद्य साहित्य पुस्तकों की टीकाओं में देख पड़ता था, जो इतना लचर और अस्तव्यस्त था, और उसकी शब्द योजना इतनी अस्त-व्यस्त और अनियन्त्रित थी कि उसे नव चेतना-पूर्ण गद्यशैली में नहीं दौड़ाया जा सकता था । खड़ी बोली का भी आधारस्वरूप कोई इतिहास न था परन्तु वह जन-साधारण के सम्पर्क और नित्य जीवन में आ गई थी । उसमें सब से बड़ी खूबी यह थी कि वह व्रजभाषा की अपेक्षा विदेशियों के भी निकट-सम्पर्क में थी । दिन रात लोग बोलचाल में उसी को काम में लाते थे । उसका प्रवाह इतना नैसर्गिक हो गया था कि भारत की देशी विदेशी जातियां भी परस्पर अपनी भावव्यञ्जना में कोई अड़चन नहीं देख पाती थीं । यहां तक कि नवागन्तुक अंग्रेज भी नित्य बोलचाल की भाषा सुनते २ उसके अभ्यस्त हो गये थे । उनके सामने व्रजभाषा का गद्य एक सर्वथा अपरिचित वस्तु थी । वस्तुतः अब खड़ी बोली की हिन्दी हिन्दुओं ही की नहीं हिन्दुस्तानी जनों की बोली थी, जिसे तत्कालीन नये शासकों ने अपने और भारत के बीच माध्यम बना लिया था । यही हालत मुसलमानों की थी जो अब उन्हीं के समान भारतीय प्रजाजन बन गये थे और जिनके भाग्य-सूत्र हिन्दुओं के साथ गुंथ चुके थे । तथा जो पहले ही खड़ी बोली को अपनी बोलचाल की भाषा अंगीकार कर चुके थे । इन सब बातों के अलावा खड़ी बोली की हिन्दी को अपनाने में सरलता भी थी ।

गद्य के नव विकास का आरम्भ—

प्रत्येक साहित्य के प्रारम्भिक काल में साधारण सी वस्तु को लेकर चलना पड़ता है क्योंकि इस समय भाव-प्रकाशन तथा व्यंजना की शक्ति लेखकों में नहीं होती। इस लिये प्रायः नये गद्य-साहित्य का प्रारम्भ कथा कहानी से ही होता है। इसका कारण केवल मनोविनोद ही होता है। उच्च और महत् विचारों की गवेषणा उसमें नहीं होती। केवल यही भावना होती है कि लोग उस साहित्य के पढ़ने में उत्सुक हों और रुचि प्रकट करें।

सदासुखलाल और इन्शाअल्लाह—

जब हम मु० सदासुखलाल का 'सुखसागर' और इन्शाअल्लाह की 'रानी केतकी की कहानी' पर ध्यान देते हैं तब हम साफ़ देखते हैं कि एक ने कथा का रूप लेकर और दूसरे ने कहानी लिख कर भिन्न २ मनोवृत्ति के जनसाधारण के वर्ग को पढ़ने का कुछ साधन चलती भाषा में दिया। धर्मप्रिय जनों को धर्म-कथा मिली और जन-साधारण को एक कहानी। विषय के अनुरूप ही उनकी भाषा भी थी। एक में भाषा शान्त धीरगति से चलती है दूसरी में उछलती कूदती। मुन्शी जी की धर्मकथा में उसके अनुरूप ही सजने वाला पुराना पण्डिताऊ-पन और संस्कृत तत्सम शब्दों का मेल-जोल है और इन्शाअल्लाह की हिन्दी में अरबी फ़ारसी के भूले भटके शब्द और मुसलमानी काव्य-रचना का पुट है।

यहां मुन्शी० सदासुखलाल की पण्डिताऊपन की भाषा का नमूना देखिये—

"यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे; हमें इस बात का डर नहीं, जो बात सत्य हो उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो। और उससे निज स्वरूप में लय हूजिये। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और असत्य छिपाइये"

(हिन्दी भाषासार)

यहां विचारणीय बात यह है कि इस भाषा का लेखक फ़ारसी का दिग्गज पण्डित और 'मुंतख़बुत्तवारीख़' का प्रसिद्ध लेखक है। उसने फ़ारसी में दर्जनों ग्रन्थ रचे हैं फिर भी उसकी हिन्दी भाषा में उसका तनिक भी आभास नहीं मिलता। वे स्वयं इस संस्कृत-मिश्रित हिन्दी को भाखा कहा करते थे। एक बार उन्होंने खेद प्रकट करते हुए कहा था—

"रस्मो रवाज भाखा का दुनियां से उठ गया" इस से प्रकट है कि इस 'भाखा' के प्रति उनकी कितनी ममता थी।

अब आप ख़ां साहेब की भाषा का भी नमूना देखिये—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूं उस अपने बनाने वाले के साम्हने जिसने हम सब को बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया जिस का भेद किसीने न पाया। आतियां जातियां जो सांसे हैं उसके बिन ध्यान सब फांसे हैं। यह काल का पुतला जो अपने उस खिलाड़ी की सुध रखे तो खटाई में क्यों पड़े, और कड़वा कसैला क्यों हो"?

(रानी केतकी की कहानी)

यह स्पष्ट है कि इन पंक्तियों में जिस बनाने वाले के आगे नाक रगड़ी गई है उसका वर्णन और उसकी आधीनता प्रकट करने का ढंग भी वैसा ही मुसलमानी है जैसा मुन्शी जी की शैली में पण्डिताऊपन। फिर भी एक बात है मुन्शी जी का काम ख़ां साहेब से सरल था। क्योंकि ख़ां साहेब की कथा का कोई पुराना आधार नहीं था। उन्हें नई कहानी गढ़ने में भी उतनी ही सफलता मिली जितनी नई हिन्दी भाषा को लिखने में। इधर कथा का निर्वाह संगठित और क्रमबद्ध है उधर भाषा चमत्कारिक और आकर्षक है। वह अच्छा प्रसाद-गुण लिए हुए है।

एक बात और, भाषा में तुक लगाते चलने की धुन भी ख़ां साहेब में खूब थी, जिसका गहरा रंग हमें लल्लूजीलाल की रचना में मिलता है। इसका कारण शायद यह था कि अभी तक सब साहित्य पद्यमय होने से लोग तुकान्त बात सुनने के अभ्यस्त थे।

अब 'आतियां जातियां जो सांसें हैं' इस पर विचार करना चाहिये। कृदन्त और विशेषण के प्रयोग में वचन का विचार अपभ्रंश की परम्परागत प्राचीन परिपाटी थी जो अब नहीं दीख पड़ती थी। पर ख़ां साहेब ने आती जाती न लिख कर उस प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया। सौ वर्ष पूर्व की एक पंजाबी कविता में ऐसे उदाहरण मिलते हैं—

"वह सूरते इलाही किस देस बस्तियां हैं,
जिन के कि देखने कू आँखें तरस्तियां हैं"।

(हिन्दी भाषा सार)

कहावतों का सफल प्रयोग भी ख़ां साहेब की रचना में दीख पड़ता है। "सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूं अपने बनाने वाले के सामने" यह फ़ारसी स्टाइल का वाक्य है। सदलमिश्र अपनी पुस्तक में लिखते हैं—'सकल सिद्धि दायक को देवतन में नायक गणपति को प्रणाम करता हूं।' अन्तर स्पष्ट है।

यद्यपि ख़ां साहेब की भाषा उस समय के सभी लेखकों में चटकीली, मटकीली, मुहावरेदार और चलती है, फिर भी वास्तविक बात यह है कि

वह उच्च कोटि के गद्य के लिये उपयुक्त नहीं है। फिर भी वह अपने विषय के अनुकूल भाषा है।

लल्लू जी लाल और सदलमिश्र—

मुन्शी सदासुखलाल और सैयद इंशाअल्लाहखां जब अपनी रचनाएं लेकर हिन्दी गद्य के विकास का मार्ग खोल रहे थे तभी कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज के प्रिन्सिपल गिलक्राइस्ट ने भी हिन्दी गद्य के प्रसार में हाथ बढ़ाया। इन्हीं की अध्यक्षता में लल्लू जी लाल ने प्रेमसागर और सदलमिश्र ने नासिकेतोपाख्यान लिखा। लल्लू जी लाल का आधार चतुर्भुजदास का श्रीमद्भागवत और सदलमिश्र का नन्ददास का नासिकेत पुराण था जो व्रजभाषा में लिखा था। दोनों ही को वस्तु-निर्माण की आवश्यकता नहीं पड़ी। इन्होंने केवल पुराने ढांचे पर नई इमारत खड़ी कर दी। लल्लू जी लाल की भाषा चतुर्भुजदास की भाषा के अनुरूप ही रही। उनकी स्वतन्त्र सत्ता का कोई विकास प्रेमसागर में नहीं प्रकट हुआ। लल्लू जी लाल के काल तक भी जो विकास गद्य-शैली में हो चुका था उसका भी उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनकी भाषा में न नियन्त्रण है न व्यवस्था। शब्दचयन ख़ूब है पर वह उनका अपना नहीं। तत्सम जो शब्द प्रयुक्त किये गये उनका रूप विकृत हो गया है और स्थान २ पर विभिन्न देशज शब्द दीख पड़ते हैं। जो भाषा सानुप्रास और तुकान्तपूर्ण है उसमें माधुर्य और प्राचीन रीतिकालीन कवियों की झलक है जैसा कि हम एक उदाहरण पीछे दे चुके है। परन्तु यह भाषा धर्म-कथाओं ही में प्रयुक्त की जा सकती थी, जिस प्रयोजन के लिये डा० गिलक्राइस्ट ने यह ग्रन्थ लिखाया था उसके योग्य वह नहीं थी। यदि लल्लू जी लाल भी सदलमिश्र की भाँति भाषा को थोड़ा परिमार्जित करते तो अवश्य उसके बहुत से दोषों का मार्जन हो जाता।

सदलमिश्र की भाषा व्यावहारिक है। उसमें न व्रजभाषा की लहर है न तुकान्त की खटक है। उन्होंने अरबी फ़ारसी से भी उतना परहेज़ नहीं किया। फलतः उनकी भाषा मुहावरेदार, आकर्षक और संगठित हो गई है। यद्यपि 'उत्तम गति को हैं पहुंचते' 'अब ही हुआ है क्या' इत्यादि वाक्यों में वे सैयद साहब की लटक झटक की ओर झुकते हैं तथापि कहीं-कहीं वाक्य असम्पूर्ण ही रह गये हैं, कहीं अन्तिम क्रिया है ही नहीं। 'जहां देखो तहां देव कन्या सब गाती"। और के लिये 'औ' और 'वो' दोनों शब्द मिलते हैं। "राजन" 'हाथन' 'सहस्मन' 'कोटिन' 'बहुतेरन्ह' शब्द बहु बचन के दो रूपों में मिलते हैं। पण्डिताऊपन भी इनकी भाषा में कम नहीं। जैसे 'करन हारा' 'आवता' 'जाननिहारा' इत्यादि। इनकी भाषा में थोड़ी बंगला की झलक भी है, सम्भव है कलकत्ता में रहने के कारण ऐसा

हुआ हो। 'गाछ' 'काँदना' ये बंगला शब्द हैं। 'जहां कि' को इन्होंने सर्वत्र 'कि जहां' लिखा है।

इस प्रकार जहां मिश्र जी की भाषा एक ओर अव्यवस्थित और अनियन्त्रित है, और उसमें एकरूपता का अभाव है, वहाँ भाव-प्रकाशन और पद्धति आकर्षक है। तत्सम शब्दों का यथेष्ठ प्रयोग करने पर भी तद्भव और प्रान्तीय शब्दों की खूब भरमार है। भाषा सभी स्थानों पर एक सी नहीं है। परन्तु कहीं-कहीं खूब परिमार्जित है जिसका एक उदाहरण हमने दे दिया है।

अन्य रचनाएं—

काशी निवासी राय मक्खनलाल ने सन १८४७ में श्रीमद्भागवत का अनुवाद विस्तार के साथ लिखा और उसका 'सुखसागर' नाम रखा। उन्हीं के कथनानुसार यह ग्रन्थ फ़ैज़ी के फ़ारसी अनुवाद के आधार पर लिखा गया था। यह ग्रन्थ लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से कई बार छप चुका है। इस अनुवाद में फ़ारसी, अरबी के कठिन शब्द जगह-जगह आये थे जो बाद के संस्करणों में लेखक की अनुमति से निकाल दिये गये। इसी सुखसागर का एक संस्करण उर्दू लिपि में प्रकाशित हुआ था जिसका थोड़ा सा नमूना यहां देते हैं—

"यह पुराण सब वेदों का सार वास्ते पार उतारने सब जीवों के संसार रूपी समुद्र से श्री शुकदेव ने मृत्युलोक में जहाज़ बनाया है। बग़ैर पढ़े और सुने उसके जन्म लेना और जीना आदमी का कि यह चैतन्य चोला है संसार में अकारथ समझना चाहिये"।

सन १८५२ में एक पुस्तक 'हातिमताई' प्रकाशित हुई जिसकी भाषा में फ़ारसी अरबी शब्दों का अधिक मेल था। इसके लेखक मीर मुन्शी लक्ष्मणदास थे। उसका एक नमूना यह है—

"जब हातम शहर से निकला औ जंगल की राह ली थोड़े दिनों के बाद एक शहर के नज़दीक जा पहुँचा तो क्या देखता है कि एक कुए के गिर्द बहुत से मर्द औरत इकट्ठे हैं, पूछा उसने कि ऐसा हजूम और ऐसी धूम क्यों कर रखी है, किसी ने कहा ऐ अजीज यहां के हाकिम का बेटा दीवाना होकर बैठ रहा था, आज तीसरा दिन है कि उसने अपने तईं इसी में गिरा दिया। हर चन्द हम इसमें कांटे रस्सियां डाल २ कर ढूँढ़ते हैं पर लाश उसकी नहीं मिलती"।

सन १८६० में शुक बहत्तरी का एक संस्करण प्रकाशित हुआ था जिसका लेखक अज्ञात है। इसकी भाषा का नमूना यह है—

"एक चम्पावती नगरी रही, वहां सत्य शर्मा ब्राह्मण रहता था। भार्या वह धर्मशीला रही जिसके बेटे देव शर्मा विद्यावन्त गुनवन्त थे परन्तु माता

पिता की सेवा न करते देशान्तरों को गये विद्या बहुत पढ़ी महातपस्वी हुए तीर्थ यात्रा बहुत किया एक दिन तीर्थ को जाते थे राह में धूप लगी शिरस के नीचे खड़े हुए। उस वृक्ष के ऊपर बगली बगला बैठे रहे सो वह बगली इस तपस्वी के माथे पर बीठी किया तब ब्राह्मण को क्रोध हुआ देखते ही दोनों भस्म हुए"।

सन १८६१ में दाउ जी अग्निहोत्री की एक रचना 'नल प्रसंग' काशी से प्रकाशित हुई थी। इसका एक उद्धरण देखिये—

"राजा ऋतुपर्न ने यह सुनकर सकुचते २ राजा नल से मुलाकात कर कहा—आप हमारा अपराध क्षमा करें, तब राजा नल ने कहा हम आपके यहां बहुत प्रसन्न रहे, यह आप हमसे क्या कहते हैं तब राजा ऋतुपर्न प्रसन्न होकर बोला आप भाग्यमान् हो, बड़े भाग्य से दमयन्ती आपको फिर मिली आप हमारे यहां अज्ञात रहे तिसपर भी हमसे आपका कुछ अच्छा न हुआ होगा तो अपराध भी न भया होगा"।

इसी प्रकार की कुछ और भी रचनाएं हैं परन्तु लल्लू जी लाल आदि के बाद प्रायः ६० वर्ष का यह लम्बा समय ऐसा जाता है जिसमें गद्य-साहित्य के कुछ भी चेतना के लक्षण नहीं दिखाई पड़ते।

अध्याय आठवाँ

उन्नीसवीं शताब्दी के स्कूल

लार्ड वैल्ज़ली ने जो कलकत्ते में 'फ़ोर्ट विलियम कालेज' की स्थापना की थी उसका सार्वजनिक शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह तो केवल गोरे सिविलियनों को हिन्दी सिखाने के लिये था। बंगाल प्रेसीडेन्सी के अन्तर्गत साधारण जनता में सरकार की ओर से शिक्षाप्रचार करने के लिए एक 'जनरल कमेटी आफ़ पब्लिक-इन्स्ट्रक्शन' की स्थापना की गई थी। यह जुलाई सन १८२३ की बात है। इसके सब सदस्य अंग्रेज़ थे। इस समिति ने जब आगरा कालेज की स्थापना की योजना गवर्नरजनरल के पास भेजी, तब हिन्दी को जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा कह कर कालेज में उसे स्थान देने की सिफ़ारिश की। इसलिये आगरा कालेज में जो विद्यार्थी भरती होने आते थे उन्हें हिन्दी की साधारण पुस्तकों की व्याख्या करने की योग्यता रखना आवश्यक था।

आगरा कालेज के विद्यार्थियों ने सन १८२६ ई० तक हिन्दी में इतनी उन्नति कर ली कि अधिकारियों को हिन्दी के सहायक अध्यापक बढ़ाने की सिफ़ारिश करनी पड़ी । कालेज में पढ़ने वाले फ़ारसी के विद्यार्थी हिन्दी को घृणा की नज़र से देखते थे, लेकिन 'जनसाधारण-शिक्षा-समिति, आगरा, पास पड़ोस के ज़िलों के लिये हिन्दी की उपयोगिता पर बल देती रही । सन १८२२ में आगरा कालेज के कुल छात्रों की संख्या २१० थी; जिन में से १४३ फ़ारसी के और शेष ६७ हिन्दी के छात्र थे। परन्तु शीघ्र ही हिन्दी की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि फ़ारसी के छात्रों में से ५३ विद्यार्थी हिन्दी पढ़ने लगे। वास्तव में फ़ारसी छात्रों की अधिकता का कारण यह था कि उन दिनों फ़ारसी का ही प्रयोग कचहरी में होता था । और उन्हीं के लिये सरकारी नौकरियों का द्वार खुला था।

सन १८३० में कुछ ऐसे कारण हुए कि आगरा कालेज के छात्रों की संख्या घट गई। इसका अधिक प्रभाव हिन्दी ही पर पड़ा । अब तक कालेज में संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, और हिन्दी ही का अध्ययन होता था। अब सन १८३० में एक अंग्रेज़ी कक्षा भी खोल दी गई। सन १८३१ में 'जनसाधारण-शिक्षा-समिति' ने रिपोर्ट की—"इस समय आगरा कालेज में पढ़ाई जाने वाली तमाम भाषाओं में महत्वपूर्ण हिन्दी ही है । उत्तरभारत में शिक्षा-प्रचार करने के लिए हिन्दी ही सर्वोपरि भाषा है । इसलिये हम हिन्दी के अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने की सिफ़ारिश करते हैं"। एक बात यहां यह ध्यान देने की है कि सरकार की नीति सन १८२३ तक तो भारत में प्राच्य विद्या की अभिवृद्धि करने की थी, पर सन १८२४ में वह पाश्चात्य विद्या को उत्साहित करने की ओर झुक चली थी । आगरा कालेज की भांति अन्य कालेजों में भी अंग्रेज़ी की पढ़ाई होने लगी थी।

इलाहाबाद के सरकारी स्कूल में सन १८३२ में कुल ८४ छात्र थे। जिन में ३१ हिन्दी और शेष ५३ फ़ारसी पढ़ते थे। कानपुर फ़्रीस्कूल में भी सन १८२६ में १५४ छात्र थे । उन में फ़ारसी अंग्रेज़ी पढ़ने वाले १० केवल अंग्रेज़ी के ७३ केवल फ़ारसी के २४ और हिन्दी के ४७ छात्र थे। प्रसिद्ध मिश्नरी डाक्टर केरे के पुत्र आई० केरे अजमेर के स्कूलों के इन्सपेक्टर थे। उन्होंने वहां के हिन्दू मुसलमानों के बच्चों की शिक्षा के लिये एक अच्छे शिक्षाकेन्द्र की सिफ़ारिश की। उन्होंने स्वयं अजमेर में कई स्कूल खोले थे जिन में हिन्दी भाषा ही में लड़कों को पढ़ना लिखना सिखाया जाता था। अभी तक भी जो पुरानी देशी हिन्दी-शिक्षा-संस्थाएँ चली आरही थीं उन में तो हिन्दी पढ़ाई जा ही

रही थी । दिल्ली कमिश्नरी के उत्तरीभाग के गांवों में सन १८२७ में कुल ३१ पाठशालाएँ थीं, १५ में फ़ारसी पढ़ना लिखना सिखाया जाता था और क़ुरान तथा अरबी की भी तालीम होती थी । १३ पाठशालाओं में हिन्दी और हिन्दी माध्यम से हिसाब, बहीखाता और सर्राफ़ी सिखाई जाती थी । इन कुल ३१ पाठशालाओं में ३७६ छात्र थे जिनमें २४७ हिन्दू और १२९ मुसलमान थे । दिल्ली शहर और उसके पास पड़ोस में ४४ हिन्दी चटशालाएँ तथा १०४ फ़ारसी मकतब थे । दिल्ली के दक्षिणी भाग में फ़ारसी अरबी के कुल २७ मदरसे थे, जिनमें २४७ छात्र फ़ारसी और ४१ अरबी पढ़ते थे । हिन्दी संस्कृत पाठशालाओं की संख्या ७० थी जिनमें ६४२ हिन्दी के और २४४ संस्कृत के विद्यार्थी पढ़ते थे । दिल्ली ज़िले में उर्दू पढ़ने की कोई जगह नहीं थी ।*

सन् १८३५ में बंगाल और बिहार में शिक्षाकेन्द्रों का यह हाल था—†

स्थान	बंगला	संस्कृत	फ़ारसी	अरबी.	हिन्दी
मुर्शिदाबाद नगर और ज़िला	६२	२४	१७	२	५
वीरभूमि	४०२	५६	७१	२	५
बर्दवान	६२९	१९०	९३	११	×
दक्षिणी बिहार के ज़िले	×	२७	२७९	१२	२६८
तिरहुत	×	५६	२३४	४	८०

इस से यह प्रकट होता है कि बिहार में तो हिन्दी का अधिक प्रचार था ही । बंगाल में भी हिन्दी शिक्षा की व्यवस्था थी । इस रिपोर्ट में बंगाल बिहार में उर्दू के किसी मक़तब का कोई उल्लेख नहीं है ।

बरेली के ज़िले में सन १८२७ में कुल पाठशालाएं और मकतब मिला कर ३२९ थीं । जिनमें २१४ फ़ारसी के मकतब, ५२ हिन्दी चटशालाएं और ६५ संस्कृत और हिन्दी की पाठशालाएं थीं । हिन्दी के छात्र ६९० और फ़ारसी के १४८५ थे ।

---

*Dr. Leitner, History of Indigenous Education in the Punjab P. 460

†Adam's Report on Vernacular Education in Bengal and Bihar 1835 p p. 154-157.

सन १८५६ में पंजाब प्रान्त में २८९ हिन्दी पाठशालाएं थीं। किन्तु वहां की संस्कृत पाठशालाओं में हिन्दी केवल धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद के तौर पर ही पढ़ाई जाती थी। पढ़े लिखे लोग हिन्दी में चिट्ठी-पत्री अवश्य लिखते थे। सन १८५७ में पंजाब के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मि० अरनाल्ड ने उर्दू के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट में लिखा था—

'फ़ारसी कुछ है, और संस्कृत भी कुछ है पर यह उर्दू क्या चीज़ है'?

उन दिनों सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश में व्यावहारिक पत्र-व्यवहार हिन्दी भाषा में होता था।

उर्दू के विषय में एक उल्लेख मि० ऐडम का यह है—

"हिन्दुस्तानी या उर्दू बंगाल और बिहार के मुसलमानों की भाषा है। पर इन प्रान्तों के, सम्भवतः समस्त भारत के, मुस्लिम-समाज की बनावट में यह उल्लेखनीय बात है कि उनकी बोलचाल की यह भाषा स्कूलों में लिखित शिक्षा के माध्यम के रूप में कभी भी व्यवहार में नहीं आती······उर्दू, फ़ारसी और अरबी की व्याख्या करने वाली मौखिक शिक्षा की भाषा है लेकिन वह उसके तथ्य को जानने के लिये न तो कभी पढ़ाई जाती है, न पढ़ी जाती है। इसने फ़ारसी लिपिमाला को अपनाया है और इसका लगभग सारा शब्द-भंडार भी फ़ारसी ही का है, इसलिये फ़ारसी पढ़ते समय लोग इसे अपने आप ही सीख लेते हैं। लिखित रूप से इसका प्रयोग साधारण कविता कहानियों एवं स्त्रियों के पत्रों में होता है"।*

सन १८४५ में आगरा ज़िले के इतने शिक्षाकेन्द्र थे।

संख्या	विद्यार्थी
संस्कृत ६	७१
संस्कृत हिन्दी ३०	३६३
हिन्दी ६८	१०४३
फ़ारसी ८५	७६३
अरबी १	४
मिश्नरी स्कूल ५	२३९
उर्दू ०	०

यह बड़े मार्के की बात है कि यू० पी० में सन १८३७ में उर्दू कचहरी की भाषा कर दी गई थी पर सन ४५ तक यू० पी० में एक भी उर्दू का स्कूल न था।

---

* I bid P. 211

अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम द्वारा पाश्चात्य शिक्षा-प्रचार की सरकारी नीति 'क्षरण सिद्धान्त' पर थी। इसका अभिप्राय यह था कि थोड़े से उच्च वर्गीजन अंग्रेज़ी भाषा में मूल पाश्चात्य-ग्रन्थों को पढ़ कर देशभाषा के द्वारा उनका प्रचार करें।

इस सिद्धान्त पर विचार करते हुए फ़िन्के ने लिखा था—

"सर्व साधारण की भाषा हिन्दी है। इसलिये, अंग्रेज़ी पढ़े लिखे थोड़े से विचारशील व्यक्तियों द्वारा बहुसंख्यक जनता में शिक्षा-प्रचार करने से प्रथम उन्हें या तो हिन्दी पढ़ाई जाय या उर्दू, या दोनों भाषाएं। या उनमें से एक का व्यवहार बंद कर दिया जाय।.........उर्दू का व्यवहार बन्द करना अधिक ठीक है क्योंकि वह जनसाधारण के लिये उतनी ही विदेशी है जितनी फ़ारसी। यदि सरकार कभी उर्दू को हटाने का विचार करेगी और सर्वसाधारण की भाषा हिन्दी को क़ानून और कचहरी में काम में लाएगी तो फ़ारसी की भी उपेक्षा करनी पड़ेगी और यह केवल कालेजों और विश्वविद्यालयों ही तक सीमित रहेगी। यह व्यवस्था अत्यावश्यक भी है क्योंकि फ़ारसी पढ़ने में जो समय और प्रतिभा ख़र्च होती है उसका अंग्रेज़ी में संग्रहीत वैज्ञानिक दार्शनिक तथा नैतिक ज्ञान का अनुवाद हिन्दी में कर अधिक लाभ उठाया जा सकता है।"

उन दिनों हिन्दी पाठशालाओं में पहली श्रेणी के छात्र भूमि पर खड़िया-मिट्टी से या राख फैला कर अँगुली से वर्णमाला लिखते थे। दूसरी श्रेणी के छात्र लेखनी से लिखने का अभ्यास किया करते थे। वे वहां लकड़ी की पट्टी पर लेखनी से छोटे २ वाक्य या पहाड़े लिखते थे। तीसरी श्रेणी में सलेट पर और चौथी में काग़ज़ पर लिखने का उन्हें अभ्यास कराया जाता था। ये चार श्रेणियां ४ वर्ष में पूरी की जाती थीं और ८ से १२ वर्ष की आयु के बालक इन श्रेणियों में पढ़ते थे। हिन्दी पाठ्यपुस्तकों में दानलीला, दधिलीला, गीत गोविन्द, रामजन्म, सूर्यपुराण और सुदामाचरित्र प्रधान थीं। पहली और दूसरी श्रेणी में ही विद्यार्थी अधिक पढ़ते थे, तीसरी चौथी श्रेणी में उनकी संख्या बहुत कम हो जाती थी। दूसरी श्रेणी तक पढ़कर विद्यार्थी या तो संस्कृत फ़ारसी पढ़ने लगते थे या घर बैठ रहते थे।

General Report on Public Instruction in the N. W. Provinces of the Bengal Presidency 1844-45 Appendix I.

अध्याय नवाँ

अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य संस्कार

अंग्रेज़ी भाषा प्राप्ति—

जिस समय हिन्दी की सामर्थ्यवती पुत्री 'उर्दू' हिन्दी से पृथक् होकर हमारे हृदयों को सूना कर गई थी, ठीक उसी समय सुदूर समुद्रपार देश की अंग्रेजी भाषा एक सम्पन्न दुलहिन के रूप में हमारे घर में अपनी सम्पूर्ण विभूति को लेकर चली आई। इस भाषा के साथ साहसिक समुद्री विजयों के अभ्यस्त एकराष्ट्र, एकभाषा, एकदेशीयता से सम्बद्ध, एक दृढ़ निश्चयी, क्रियाशील, उद्योगी, दुर्धर्ष और मेधावी जाति का इतिहास और संस्कृति थी। और उसे हमारे घर में प्रतिष्ठित करने में उसी साहसिक जाति के अग्रणियों का हाथ भी था। इस भाषा के साथ विगत ५०० वर्षों के सर्वोच्च मस्तिष्कों का निष्कर्ष था जिनमें महामनस्वी गेटे, बैरन, वर्ड्जवर्थ, टेनीसन, शैले, कोलरिज, कीट्स् जैसे कविरत्न और शेक्सपियर, थैकरे, बैकन, मिल, मिल्टन, ब्राउनिंग, स्काट, हैज़लैट, चार्ल्सलैम्ब, टामसहार्डी, स्पैन्सर जैसे नाटककार, दार्शनिक, वैज्ञानिक और विश्वदर्शियों की अनुभूति मिश्रित थी। इस अंग्रेजी भाषा के तेज, दर्प, सौन्दर्य और अपरिसीम सामर्थ्य ने हमें एकबारगी ही विमोहित कर लिया। उसने कुलवधू की भांति चुपचाप हमारे घर के सम्पूर्ण वातावरण को अपने ढांचे में ढाल लिया। हमने आश्चर्य दिग्विमूढ़ होकर अपने को अकस्मात् न केवल नवीन रहन-सहन और वेशभूषा से सुसज्जित, प्रत्युत् नए विचारों, नई आशाओं, नए हौसलों और नई प्रतिक्रियाओं से ओतप्रोत पाया। हमारा विचार-शैथिल्य, हमारा सामाजिक रूढ़िवाद, हमारा राजनैतिक अज्ञान और दार्शनिक जड़ता जैसे जादू के जोर से सजीव और स्फूर्तिमय हो उठी। हमने तपेदिक़ के रोगी की भांति पद्य-साहित्य में नपे-तुले चरण रखने और निरर्थक भाव-प्रदर्शन करना छोड़ कर स्वस्थ अल्हड़ युवक की भांति स्वच्छन्द गद्य के खुले मैदान में दौड़ लगाना प्रारम्भ कर दिया। देखते २ हमारी सहस्रों वर्षों की मरी हुई आकांक्षाएँ और सोई हुई जीवन-भावनाएँ जाग उठीं। हमने अनायास ही एक नई ही दृष्टि से अपने को, अपने घर को, अपने जीवन को, अपने देश और उससे सम्बन्धित संसार को देखा। हमने एक तिरस्कृत और मरणोन्मुख जाति के स्थान पर जीवन और चेतना के संपूर्ण लक्षणों से ओतप्रोत नव्य ज्योतिर्मय जनपद के रूप में अपने को पाया।

हम अपनी प्राचीन सभ्यता, जीवन और परिपाटी को भूल चुके थे। हम आर्यों की उन असाधारण विजयों के संस्कार भी खो चुके थे जिन्होंने अब

से हजारों वर्ष पूर्व पंजाब का आविष्कार और संस्कार किया था, जो दुरूह उत्तर उत्तुङ्ग हिमालय के आंचलों को विदीर्ण करके इस हरे-भरे भारत में आये थे, यहां की जगत् प्रसिद्ध सभ्यता निर्माण की थी, प्रबल राज्य स्थापित किए थे, प्रशान्त वातावरण में अगम्य अगाध अध्यात्म तत्व—जो अत्यन्त प्राचीन होने पर भी आज भी वैसे ही ताज़े और बहुमूल्य हैं—खोज निकाले थे। हम बिल्कुल भूल गए थे कि कुरुओं और पांचालों की प्राचीन राजधानियां कहां थीं, हम नहीं जानते थे कि महान् बुद्ध जब अपने धर्मविस्तार में लगा हुआ था, तब उस समय मगध की गद्दी से कौन हिन्दू सम्राट् समुद्र की लहरों पर हुकूमत करता था। हम यह भी नहीं जानते थे कि हमारे किन पूर्वजों ने समुद्र को अतिक्रान्त करके चीन, अरब, यवद्वीप, और पाताल में अपने उपनिवेश क़ायम किये थे। हम आन्ध्र, गुप्त, नाग आदि राज्यों के नाम भी भूल गए थे। हमें पता न था कि शकों ने किस प्रकार भारत को आक्रान्त किया था और विक्रम ने उन्हें कैसे पराक्रान्त कर दलित कर दिया था। हमें बिल्कुल यह स्मरण नहीं रह गया था कि एलौरा, और एजेन्टा की गुफाएं, सांची के स्तूप, भुवनेश्वर और जगन्नाथ के मन्दिर कब और किसने बनाए थे।

भारत जैसे प्राचीन देश की प्राचीन जाति की सभ्यता का इतिहास नष्ट हो चुका था और उस जाति के बच्चों को इसकी कुछ भी खबर नहीं थी। वे या तो भेड़ बकरियों के झुण्ड की भांति मन्दिरों में देवता के सन्मुख बैठ कर अपने को कायर, कुपूत, कुकर्मी और अधम कह २ कर काल्पनिक स्वर्ग के सुख-स्वप्नों की हास्यास्पद कामनाएं किया करते थे, या अपने दीन, दुखी, अरक्षित, असहाय और निराश जीवन में बैठे २ संसार की अनित्यता के रोने रोया करते थे। साहित्य की मर्यादा और शृङ्गार या तो मारकाट की प्रशंसा करने में या अपनी ही बधूटियों के निर्लज्ज और अत्युक्तिपूर्ण अश्लील वर्णन करने में समाप्त हो जाता था। ऐसा ही वह समय था जब अंग्रेज़ी भाषा अपने मोहक भावों और अनूठे शृङ्गार को लेकर हमारे घर आई।

अध्याय दसवाँ

अद्भुत प्रतिक्रिया

परन्तु इस नववधू को आत्मसात् करने की प्रतिक्रिया अद्भुत रीति से हुई। सन १८३५ में कम्पनी की सरकार ने भारतीयों को अंग्रेजी सिखा कर उसके द्वारा भारत के शासन में सहयोग करने के प्रस्ताव को कार्यरूप दिया। अंग्रेजी माध्यम से भारतीय युवकों को शिक्षा देने के लिये अनेक स्कूल और कुछ कालेज खोले गये। उनमें जब भारतीय बालक अंग्रेज़ी पढ़ कर एक विचित्र भावभंगी प्रकट करने लगे तो भारतीय जनता में कौतूहल बढ़ा। ईसाइयों ने इस काम में पहले ही काफ़ी उद्योग कर रखा था। इन सब बातों से कुछ उद्ग्रीव और सावधान देश के नेता चौकन्ने हुए। पहले उन्हें ईसाइयों का निरीह दरिद्र और मूर्ख स्त्री पुरुषों को विधर्मी बना कर धर्म-भ्रष्ट करना बुरा लगा; परन्तु जब उन्होंने उन्हें शिक्षित और उन्नत जीवन व्यतीत करते देखा तो हठात् उनके मन में दलितों के प्रति अपने अन्याय का भान हुआ। इसी प्रकार जब पाश्चात्य उन्मुक्त वायु में पुरुषों के साथ स्पर्धा करती हुई महिलाओं को उन्होंने देखा तो उन्हें अपने गन्दे घरों की चारदीवारी में बन्द निरीह स्त्रियों की दीन दशा पर भी क्षोभ हुआ।

बंगाल से प्रारम्भ—

यह प्रतिक्रिया सर्वप्रथम बंगाल से प्रारम्भ हुई। बंगाल ही में अंग्रेज़ों ने अपना प्रथम निवास बनाया था। बंगाल ही की जनता अत्यन्त विषमावस्था में थी। धार्मिक रूढियां भी वहां बहुत थीं। वहां ईसाइयों ने भी अपना अड्डा बनाकर नवीन पद्धति से अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। प्रचार की सहायता के लिये जो सब से नई वस्तु प्राप्त हो गई थी वह छापने का प्रेस था। इसके द्वारा चमत्कारिक रूप में एक ही पुस्तक की अनेक प्रतियां छाप २ कर सस्ते खर्च में सर्वसाधारण को सुलभ होने लगी थीं। उधर ईसाई लोग मूर्ति पूजा, छूआछूत आदि हिन्दूधर्म की बाहरी और स्थूल बातों को लेकर खण्डन-मंडन करते थे। उनके खण्डन-मण्डन में नई रीति का सच्चा तर्क था। इन सब बातों से प्रभावित होकर राजा राममोहन-राय की प्रतिभा जाग्रत हुई। उन्होंने उपनिषद् और वेदान्त का 'ब्रह्मतत्व' लेकर ईश्वरवाद का एक ईसाइयों से भी उत्कृष्ट रूप हिन्दुओं ही की प्राचीन पद्धति पर खोज निकाला जिसकी तरफ़ तत्कालीन लोगों का बहुत कम ध्यान था। उसका उन्होंने एक आधुनिक सर्वसाधारण के लिए सुगम सा रूप देकर अपना प्रचार

प्रारम्भ किया। साथ ही अंग्रेज़ों के संस्कार और ईसाइयों के प्रचार के प्रभाव से उन में एक नव चेतना का उदय हुआ था उसके आधार पर उन्होंने समाज के बाहरी अंग का भी साहसपूर्ण एक नवीन निर्माण प्रारम्भ कर दिया। १८१६ में उन्होंने वेदान्तसूत्रों का एक स्वतन्त्र भाष्य कर के हिन्दी में छपाया। कदाचित् यही हिन्दी का सर्वप्रथम छापा हुआ धर्मग्रन्थ था। इसके १४ वर्ष बाद १८३० में उन्होंने एक पत्र हिन्दी में 'बंगदूत' के नाम से निकाला। बंगला में साहित्य न निकाल कर हिन्दी में प्रकाशित करना भी यह उसी मनोवृत्ति के कारण था जिस के कारण ईसाइयों ने हिन्दी धर्म-साहित्य प्रकाशित किया था। राजा राममोहन राय केवल बंगालियों ही को नहीं सम्पूर्ण हिन्दू मात्र को अपने नवीन धर्म का सन्देश सुनाना चाहते थे। उनकी भाषा का उदाहरण देखिए—

'जो सब ब्राह्मण सांगवेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं। यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण-धर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री ने जो पत्र सांग वेदाध्ययन हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पढ़ाया है, उस में देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययन हीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं'।

इस भाषा में बंगालीपन था, परन्तु भाषा में सार्वदेशिकता थी। इस काल में भारत के कई नगरों में छापेखाने हो गये थे। कलकत्ते में भी छापेखाने खुल गये थे। बंगाल से कुछ अंग्रेज़ी और बंगला के पत्र भी निकलने लगे थे।

कलकत्ते में कालेज की स्थापना—

अभी कम्पनी-सरकार ने कलकत्ते में कालेज नहीं खोला था। परन्तु राजा राममोहनराय के उद्योग से कलकत्ते में एक हिन्दू कालेज की स्थापना की गई जिस में अंग्रेज़ी भाषा की शिक्षा दी जाने लगी। इस कालेज में अंग्रेज़ी पढ़ २ कर युवक सरकारी नौकरियां धड़ाधड़ पाने लगे। इस से लोगों की सामाजिक परिस्थिति पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा और प्रत्येक संस्कृत और प्रतिष्ठित आदमी के हृदय में अपने बच्चों को अंग्रेज़ी पढ़ा कर अंग्रेज़ों की नौकरी में लगाने की अभिलाषा होने लगी। यह अभिलाषा इतनी बढ़ी कि उन लोगों के मन में दूसरी किसी आजीविका का ध्यान ही नहीं रहा। उस समय तक किसी के मन में यदि अंग्रेज़ी के बाद देशी भाषा के पढ़ने की ओर ध्यान जाता भी था तो संस्कृत या फ़ारसी की ओर। उन्हें यह कल्पना भी नहीं थी कि हिन्दी की लोक-प्रचलित भाषा पढ़ कर भी कोई शिक्षित हो सकता है।

संस्कृत की पाठशालाओं और अरबी फ़ारसी के मकतबों को कम्पनी-सरकार थोड़ी बहुत सहायता देती रहती थी परन्तु अंग्रेज़ी के नये शौक के

सामने इन पुरानी पद्धति की पुरानी चटशालाओं की ओर लोगों की रुचि कम होने लगी थी। धीरे धीरे सरकारी अंग्रेज़ी स्कूल कालेज खुलने लगे और फिर इन शिक्षा-केन्द्रों को सरकारी सहायता मिलनी बिल्कुल ही बंद हो गई। कुछ सदस्यों ने इधर रुचि प्रगट भी की पर लार्ड मेकाले ने अंग्रेज़ी भाषा की शिक्षा पर इतना ज़ोर दिया और पूर्वी साहित्य के प्रति इतनी उपेक्षा प्रकट की कि अन्त में सन १८३५ में अंग्रेज़ी-शिक्षा-प्रचार का प्रस्ताव पास हो ही गया।

विद्रोह से एक वर्ष पूर्व सन १८५६ में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। दूसरे सरकारी विभागों की भांति उन दिनों शिक्षा-विभाग में भी उर्दू का ही बोलबाला था और मुसलमानों का ज़ोर था जो सदा इस बात से चौकन्ने रहते थे कि उन्हें 'भाखा' न सीखनी पड़े। इस लिए उन्होंने शिक्षा-विभाग में भी उर्दू ही के रखे जाने पर ज़ोर दिया। उनकी युक्ति यह थी कि जब सरकारी सभी दफ़्तरों और अदालतों में उर्दू ही काम में लाई जाती है तो एक और ज़बान सीखने का बोझ उनपर क्यों लादा जाय। हिन्दुओं को भाषा में कथा वार्ता कहते सुनकर वे हिन्दी को उनकी मज़हबी ज़बान कहने लगे थे। कुछ लोग तो हिन्दी को गंवारू ज़बान कहने लगे थे। इनके नायक सर सैयद अहमद थे। परन्तु इनके मुक़ाबिले में अकेले राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द हिन्दी के पक्ष को लेकर अड़ गये। उन्होंने तत्कालीन सरकारी नीति और परिस्थिति को देखकर ऐसी हिन्दी का आश्रय लिया जिसमें अरबी फ़ारसी के शब्दों का भी मेलजोल था। तब तक स्कूल के लिए पाठ्य-पुस्तकों का पूरा अभाव था। राजा साहेब स्वयं ही इस अभाव को पूरा करने में जुट गए। उन्होंने अपने अनेकों मित्रों और सहयोगियों को भी साथ लिया जिन में पं० वंशीधर और पं० श्रीलाल मुख्य थे।

राजा साहेब का साहित्य—

वर्णमाला, बालबोध, विद्याङ्कुर, बामामनरंजन, हिन्दी-व्याकरण, भूगोल-हस्तामलक, छोटा हस्तामलक भूगोल, इतिहासतिमिरनाशक, गुटका, मानवधर्म-सार, सैन्डफोर्ड एन्ड मार्टिंस स्टोरी, सिखों का उदय और अस्त, स्वयंबोध उर्दू, अंग्रेज़ी अक्षरों के सीखने का उपाय, बच्चों का इनाम, राजा भोज का सपना और वीरसिंह का वृत्तान्त और आलसियों का कोड़ा आदि। इनमें कई संग्रह हैं। इनकी भाषा में उर्दू का पुट है और वह आजकल की बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। उसमें कठिन संस्कृत और फ़ारसी के शब्द नहीं हैं। इन्होंने कुछ छन्द भी रचे परन्तु विशेष गद्य ही लिखा।

इनके सिवा और भी शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें सन १८४५ से १८५६ तक हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी थीं जिनका संक्षिप्त परिचय यहां देते हैं—

पं० वंशीधर; ई० स० १८४५—

ये आगरा नार्मल स्कूल के मुदर्रिस थे। इन्होंने हिन्दी उर्दू का एक पत्र निकाला था, जिसके हिन्दी कालम का नाम 'भारतखण्डामृत' और उर्दू कालम का नाम 'आबेहयात' था। उनकी लिखी पुस्तकें ये हैं।

(१) पुष्पवाटिका (गुलिस्तां का आंशिक अनुवाद)

(२) भारतवर्षीय इतिहास (१८५७)

(३) जीविका परिपाटी (अर्थशास्त्र विषयक)

(४) जगत वृत्तान्त (१८५९)

पं० श्रीलाल; ईस्वी स० १८४६—

इन्होंने एक 'पत्र मालिका' बनाई। 'गार्दा द तांसी' ने इन्हें कई पुस्तकों का लेखक कहा है।

बिहारीलाल; ईस्वी स० १८६३—

इन्होंने गुलिस्तां के आठवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद किया।

पं० बद्रीनाथ; ईस्वी स० १८६३—

इन्होंने डाक्टर वैलंटाइन के परामर्श के अनुसार 'हितोपदेश' का एक संक्षिप्त अनुवाद किया और न्याय पर एक पुस्तक 'सिद्धान्त-संग्रह' और एक पुस्तक 'उपदेश-पुष्पावली' प्रकाशित कीं।

अध्याय ग्यारहवाँ

हिन्दी का स्थिर रूप

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द—

इतिहास प्रसिद्ध रणथम्भौर गढ़ में धांधल नाम का एक राजा राज करता था। वह जैनधर्मी था।

उसके पुत्र का नाम गोखरू था। उन्हीं के वंश में राजा शिवप्रसाद का जन्म हुआ। इनके पूर्वज मुग़ल काल में जवाहरात का व्यापार करते थे। नादिरशाही में वे भाग कर मुर्शिदाबाद चले गये। पीछे नवाब कासिमअली ने

शिवप्रसाद के पितामह रायडालचन्द से असद् व्यवहार किया। इस पर वे काशी चले आए।

आपका जन्म १८२६ सन में हुआ। आप के घर में सब स्त्रियां पढ़ी लिखी थीं इस कारण आप की शिक्षा का अभ्यास बचपन ही से हो गया। प्रारम्भ में इन्होंने हिन्दी उर्दू पढ़ी, फिर फ़ारसी का अध्ययन किया। जब आप की अवस्था १३।१४ वर्ष की थी, तब कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज के प्रोफ़ेसर बाबू तारणीचरण मित्र बनारस आए। उनके पुत्रों से शिवप्रसाद की घनिष्ठ मित्रता हो गई। उन्हीं से उन्होंने अंग्रेज़ी और बंगला सीखी। फिर १९ वर्ष की अवस्था में संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, और बंगला में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

शिक्षा समाप्त करते ही आप अपने मामा की सहायता से भरतपुर दर्बार में नौकर हो गये। वहां जाते ही आप वहां के दीवान से भिड़ गये जिस ने वहां के राजा पर आतंक जमा कर रियासत पर अपना प्रभुत्व जमाया हुआ था। आपने अंग्रेज़ सरकार की अनुमति से ८० कायस्थों सहित उसे जेल भिजवाया और महाराज को स्वतन्त्र किया। पीछे महाराज के वकील होकर इन्होंने गवर्नमेन्ट से १८ लाख रुपये भरतपुर को माफ़ करवाए।

१८४५ में आपने अंग्रेज़ सरकार की नौकरी कर ली। उस समय अंग्रेज़ों से सिखों का युद्ध चल रहा था। ये भी अंग्रेज़ी सेना के साथ सरहद पर गये। वहां इन्होंने अपूर्व साहस दिखाया। अकेले ही शत्रुसेना में जाकर वहां की तोपें गिन आए और भेद भी ले आए। बाद में महाराज दिलीपसिंह के पदच्युत होने पर आप ही ने उन्हें अकेले बम्बई ले जाकर जहाज़ पर सवार कराया।

ये अंग्रेज़ी सरकार के बड़े भारी राजभक्त रहे। कुछ दिन आप गवर्नर-जनरल के साथ शिमले रहे। बाद में काशी के कमिश्नर के मीरमुन्शी होगए। इसके कुछ दिन बाद सरकार ने उन्हें स्कूलों का इन्स्पैक्टर बना दिया। शिक्षा-विभाग में उन दिनों मुसलमानों का बड़ा ज़ोर था, वे चाहते थे कि भारत से हिन्दी पठन पाठन ही उठा दिया जाय परन्तु राजा साहेब ने बड़े ज़ोरों से हिन्दी का समर्थन किया। और हिन्दी में स्वयं अनेक पुस्तकें लिख कर पुस्तकों की कमी को दूर कर दिया। उन दिनों स्कूलों में पढ़ाने योग्य पुस्तकें हिन्दी में थी ही नहीं। इन्होंने साहित्य, व्याकरण, भूगोल, इतिहास आदि विषयों पर सब मिला कर कोई ३५ पुस्तकें लिखीं। भारतेन्दु के आप विद्यागुरु थे। सन १८७२ में आपको सी. एस. आई. की उपाधि मिली। और सन १८८७ में वंश परम्परा

के लिए 'राजा' की पदवी प्राप्त हुई। आपका देहान्त सन १८९५ में काशी में हुआ। आपने ६६ वर्ष की आयु पाई।

राजा शिवप्रसाद की कुछ पुस्तकों में काफ़ी उर्दूपन था। उनकी भाषा का उदाहरण यह है—

''वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो? उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत में व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही कांप उठते और बड़े २ भूपति उसके पांव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खज़ाना उसका सोने चांदी और रत्न की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके त्याग ने विक्रम को भी लजाया''

(राजा भोज का सपना)

परन्तु 'मानवधर्मसार' की भाषा अधिक संस्कृत मिश्रित है। देखिए—

'मनुस्मृति हिन्दुओं का मुख्य धर्मशास्त्र है। उसको कोई भी हिन्दू अप्रामाणिक नहीं कह सकता। वेद में मनु जी ने जो कुछ कहा है उसे जीव के लिये औषधि समझना और बृहस्पति लिखते हैं कि धर्मशास्त्राचार्यों में मनु जी सब से प्रधान और अति मान्य हैं क्योंकि उन्होंने अपने धर्मशास्त्र में सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्य लिखा है।

(मानवधर्मसार)

राजा साहेब का सिद्धान्त भाषा के विषय में यह था कि उस में अरबी फ़ारसी के शब्दों का भी स्वच्छन्द प्रयोग होना उचित है। खासकर सन १८६१ के बाद उनकी यह भावना बहुत बढ़ गई थी। अपने इतिहासतिमिरनाशक की भूमिका में वे लिखते हैं—

मैं उन लोगों से क्षमा चाहूंगा जो यह कहते हैं कि हमें अपनी भाषा में से प्रचलित फ़ारसी शब्दों को निकाल कर उनकी जगह संस्कृत शब्दों को केवल संस्कृत की भावना से प्रयोग करना चाहिए।

....परन्तु मैंने तो बैतालपचीसी की भाषा का ही प्रयोग किया है।

(अंग्रेज़ी भूमिका इतिहासतिमिरनाशक)

वे एक अन्यस्थल पर कहते हैं—

''हम लोगों को जहां तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिये जो आम-फ़हम और ख़ास पसन्द हों, अर्थात् जिनको ज्यादा आदमी समझ सकते हैं। और जो यहां के पढ़े लिखे आलिम, फ़ाज़िल, पंडित, विद्वान की

बोलचाल में छोड़े नहीं गए हैं, और जहां तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज़ ग़ैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिएं, और न संस्कृत की टकसाल क़ायम करके नए नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएं, जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की ज़रूरत साबित न हो जाय, अर्थात यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी ज़बान में नहीं है। या जो है अच्छा नहीं है, या कविताई की ज़रूरत या कोई और ख़ास ज़रूरत साबित हो जाय"।

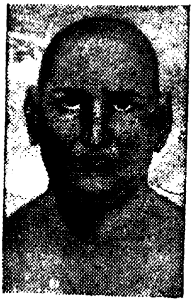
इस उद्धरण से राजा साहब के भाषा सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

राजा लक्ष्मणसिंह; ई० स० १८६२—

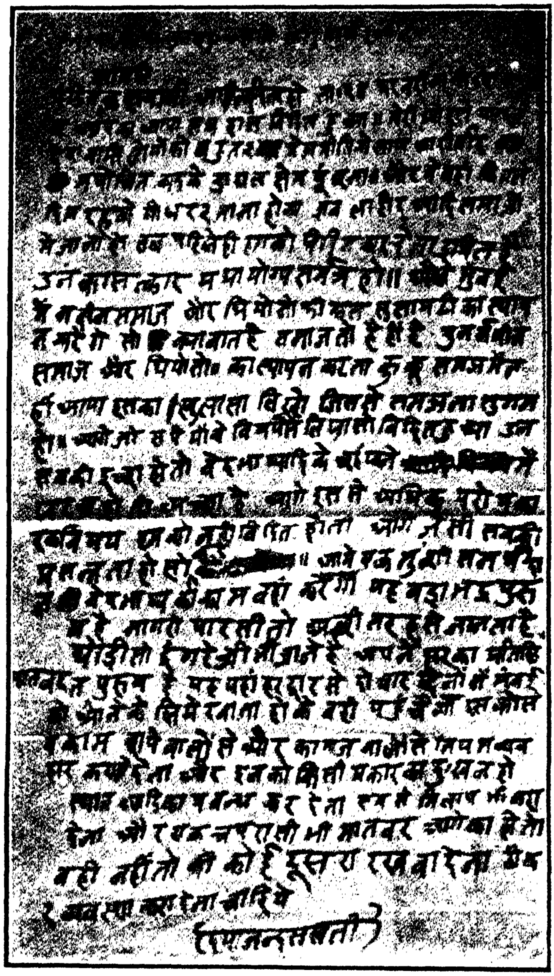
आप यदुवंशी क्षत्रिय थे। आपकी जन्मभूमि आगरा है। आपका जन्म सन १८२६ में हुआ। बचपन ही से आप को विद्याव्यसन था। इन्होंने १२ ही वर्ष की आयु में हिन्दी संस्कृत और फ़ारसी भाषा में अच्छी जानकारी हासिल कर ली। इसके बाद आप अंग्रेज़ी पढ़ने आगरा कालेज में बैठे। उन दिनों B. A., M. A. की परीक्षाएं न थीं, केवल जूनियर सीनियर परीक्षाएं थीं। आपने सीनियर परीक्षा पास की। घर पर संस्कृत, अरबी, फ़ारसी और बंगला का भी अभ्यास किया। इस प्रकार २४ वर्ष की आयु में ये अनेक भाषाओं में योग्य हो गये।

प्रारम्भ में आप गवर्नर के दफ़्तर में १००) मासिक पर नौकर हुए। पर शीघ्र ही इटावे के तहसीलदार हो गये। उन दिनों ह्यूम साहेब इटावे के कलक्टर थे। उनकी सहायता से राजा साहेब ने एक हाई स्कूल की स्थापना की। बाद में ये डिप्टी-कलक्टर बन कर बांदे चले गये। यह घटना सन सत्तावन के प्रारम्भ की है। आप बांदे से छुट्टी लेकर आगरे लौट रहे थे कि विद्रोह हो गया। आपने इटावा पहुंच कर ह्यूम साहेब को बहुत मदद दी। बहुत से अंग्रेज स्त्री बच्चों को आगरे किले में पहुंचा दिया, पीछे अपने सगे सम्बन्धी राजपूतों के एक दल को लेकर ह्यूम साहेब की मदद के लिये इटावे की ओर चले। परन्तु ह्यूम साहेब स्वयं ही इनके घर आ गए। इन्हों ने बड़े यत्न से उनकी रक्षा की। ग़दर की शान्ति पर सरकार ने इन्हें इलाक़ा देना चाहा तो इन्होंने इन्कार कर दिया। इस पर सरकार ने इन्हें राजा का ख़िताब दिया और बुलन्दशहर में डिप्टी-कलक्टर बना दिया।

राजा लक्ष्मणसिंह दृढ़तापूर्वक राजा शिवप्रसाद की इस उर्दू मिश्रित भावना का विरोध लेकर मैदान में आए। उन्होंने दिखाया कि शुद्ध हिन्दी का भी अच्छा गद्य लिखा जा सकता है। वे शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। उनकी रचनाओं की भाषा शुद्ध हिन्दी है। अरबी फ़ारसी का कदाचित् ही कोई शब्द उस में आया हो।



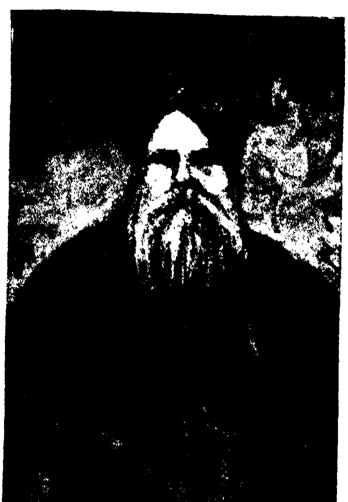
स्वामी दयानद सरस्वती
और
उनका हस्त-लेख



दयानन्दसरस्वती

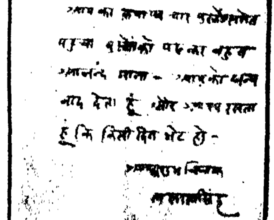
नवीनचंद्रराय





राजा लक्ष्मणसिंह और

उन का हस्त-लेख



बाबू साहेब

... देता हूं और ... हूं कि किसी दिन भेट हो -

यह वह युग था जब पूर्व के लेखकों की भाषा का मार्जन ही नहीं हुआ था, भाषा का वह बालयुग था। सच पूछिये तो उस समय तक भाषा की कोई शैली ही नहीं थी, न कोई उद्देश्य ही था। जो कुछ लिखा गया वह काल की प्रगति एवं वैयक्तिक रुचि का ही प्रतीक था। राजा शिवप्रसाद दुरंगी दुनियां में भाषा की खींचतान कर रहे थे। इससे हिन्दी भाषा अव्यवस्थित हो रही थी। यह नहीं कहा जा सकता था कि उसका कौनसा स्वरूप स्थिर किया जाय।

राजा लक्ष्मणसिंह ने एक निश्चयात्मक पद्धति पर हिन्दी को शुद्ध रूप दे दिया। उनके कुछ शब्दों के रूप पुराने और तनिक बेढंगे अवश्य हैं, परन्तु भाषा उनकी एक ढर्रे पर चलती हुई है।

'जिन्ने' 'सुन्ने' 'इस्से' 'उस्से' 'वहां जानोकि' 'जान्ना' 'मान्ना' 'लिवाने' आदि प्राचीन प्रयोग हैं। कहावत को वे 'कहनावत' कहते हैं और अवश्य को 'आवश्यक'।

इतना होने पर भी जितना पुष्ट और व्यवस्थित गद्य हम उनकी रचनाओं में पाते हैं उतना उन से पूर्व के किसी भी अन्य लेखक की रचना में नहीं। उनसे पूर्व और उनके काल में भी गद्य की इतनी स्वाभाविक विशुद्धता का प्रयोग किसी ने नहीं किया था। इस दृष्टि से राजा लक्ष्मणसिंह तत्कालिक गद्य में सर्वोच्च नाम के अधिकारी हैं। यह बात सरलता से कही जा सकती है कि यदि राजा साहेब दृढ़तापूर्वक भाषा की विशुद्धता पर इतना बल न लगाते तो न जाने आज हिन्दी का क्या स्वरूप होता।

राजा साहेब की भाषा का एक नमूना यह है—

'याचक तो अपना अपना वंछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं, परन्तु जो राजा अपने अन्तःकरण से प्रजा का निर्धार करता है नित्य वह चिन्ता ही में रहता है, पहले तो राज बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है, फिर जो देश जीत कर वश में किए उनकी प्रजा के प्रतिपालन का विषय दिन रात मन को विकल रखता है जैसे बड़ा छत्र यद्यपि घाम से रक्षा करता है, परन्तु बोझ भी देता है।"

हिन्दी और उर्दू के सम्बन्ध में राजा साहेब ने साफ़ कह दिया कि—

'हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। कुछ अवश्य नहीं कि अरबी फ़ारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिस में अरबी फ़ारसी के शब्द भरे हों"।

(रघुवंश की प्रस्तावना, राजा साहेब)

इन्होंने सन १८६२ में 'प्रजाहितैषी' एक अखबार आगरे से निकाला था। इसके एक वर्ष बाद सन १८६३ में जब इन्होंने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अनुवाद सरल और विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित किया तो पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई। इस अनुवाद की भाषा का नमूना देखिए—

अनुसूया—(हौले प्रियम्वदा से) सखी, मैं भी इसी सोच विचार में हूं। अब इससे कुछ पूछूंगी। (प्रकट) महात्मा, तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहां पधारे हो? क्या कारन है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है।

इस भाषा में शुद्ध हिन्दीपन भी है और संस्कृत का रस भी है।

अध्याय बारहवाँ

हिन्दी आन्दोलन

राजा लक्ष्मणसिंह ने ही इस आन्दोलन की नींव डाली और आगे चल कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन साहित्य बन्धुओं ने हिन्दी का एक सगठित स्वरूप निर्माण कर दिया।

राजा शिवप्रसाद, सरकारी शिक्षाविभाग के इन्स्पैक्टर थे। इसलिये उन्हें शिक्षाविभाग के उन भारतीय और अभारतीय व्यक्तियों से हिन्दी का पक्ष लेकर काफ़ी संघर्ष करना पड़ा। उनके प्रबल विरोधी उर्दू के हिमायती सर सैयद अहमद थे और उनके बड़े भारी हिमायती तथा उर्दू के फ्रेन्च पण्डित तासी थे। ऐसी अवस्था में उन्होंने यह नीति बनाई कि फ़ारसी शब्द युक्त भाषा नागरी लिपि में लिखी जाय जिस से विरोधियों को जवाब देने की कुछ सुविधा उन्हें मिले। उन्होंने अपनी उत्तरकालीन रचनाएं ऐसी ही भाषा में कीं जिन में फ़ारसी अरबी शब्दों का बाहुल्य था। परन्तु अपने 'गुटका' में, जो पाठ्य-पुस्तक थी उन्होंने राजा लक्ष्मणसिंह की शकुन्तला नाटक का एक अंश उद्धृत किया और अपना राजा भोज का सपना, और इन्शा की 'रानी केतकी की कहानी' का एक अंश भी दिया। यह गुटका सन १८६२ में प्रकाशित हुआ।

हम लिख चुके हैं कि राजा लक्ष्मणसिंह ने एक पत्र 'प्रजाहितैषी' हिन्दी में आगरे से प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु सन १८६३ और ६८ के बीच केवल पांच ही वर्ष में कई हिन्दी पत्र प्रकाशित होने लगे थे। सन १८६४ में ईसाइयों ने आगरा (सिकन्दर) से एक संवादपत्र 'लोकमित्र' ईसाई धर्मप्रचार के लिए शुद्ध हिन्दी भाषा में प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। इसी समय लखनऊ से उर्दू में 'अवध' अखबार प्रकाशित होने लगा था जिसका एक भाग हिन्दी का भी होता था।

नवीनचन्द्र राय; ई० स० १८६४—

इस प्रकार इधर यों हिन्दी का कार्य हो रहा था उधर पंजाब में बा० नवीनचन्द्र राय बहुत कुछ कर रहे थे। सन १८६४ और १८८१ के बीच नवीनचन्द्र राय ने भिन्न २ विषयों पर बहुत सी पुस्तकें तैयार कर डालीं। और दूसरों से भी तैयार कराईं जो बहुत दिनों तक परीक्षाओं में निर्धारित रहीं। पंजाब में स्त्रीशिक्षा का प्रसार भी इन्होंने खूब किया। ये बड़े भारी समाज सुधारक थे। जिस प्रकार बंगाल में राजा राममोहन राय ने ईसाई प्रचार और प्रभाव से बंगाल की हिन्दू जनता को बचाने के लिये बंगाल में उदार और सुधरे ढंग पर ब्रह्मसमाज की स्थापना की और तत्सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन जारी किया उसी प्रकार पंजाब में नवीन बाबू ने किया। इन्होंने समय २ पर अनेक पत्रिकाएं निकालीं। १८६७ में उनकी 'ज्ञानप्रदायिनी' पत्रिका निकली जिसमें शिक्षा तथा ज्ञानवर्धक लेख रहते थे। ये शिक्षाविभाग के द्वारा शुद्ध हिन्दी गद्य के प्रतिष्ठाता हुए। इन्हें भी उर्दू के पक्षपातियों से राजा शिवप्रसाद की भांति निरन्तर लड़ना पड़ा। लाहौर में उन दिनों एक विद्या-सभा थी जिसका नाम 'अंजुमन-लाहौर' था। सन १८६७ में उसके एक जल्से में किन्हीं मौलवी सैयद हादी हुसेन ने एक व्याख्यान देकर उर्दू को ही देशभाषा कहा था। उसी सभा की दूसरी बैठक में नवीन बाबू ने उसका जवाब देते हुए कहा था कि—

"उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियों का लाभ न होगा क्योंकि वह भाषा खास मुसलमानों की है, उसमें मुसलमानों ने व्यर्थ बहुत से अरबी फ़ारसी के शब्द भी भर दिये हैं। पद्य या छन्दोबद्ध रचना के भी उर्दू उपयुक्त नहीं है। हिन्दुओं का यह कर्तव्य है कि वे अपनी परंपरागत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त किसी गम्भीर विषय को व्यक्त करने की शक्ति नहीं है।"

नवीन बाबू के इस भाषण का फ्रेन्च पण्डित गार्दां-दें-तासी ने विरोध किया था, और हिन्दी के विरोध में यहां तक कह डाला था कि हिन्दी वास्तव

में एक तूरानी भाषा थी जिसे आर्यों ने खराब करके यह रूप दे दिया है। गार्दा-दँ-तासी उर्दू के पूरे हिमायती थे और समय पर वे अपने हिन्दी विरोधी भावों को प्रकट करते रहते थे। सर सैयद अहमद पहले ही उर्दू का बोलबाला करने पर तुले थे। इन कारणों से सन १८६९ में इस प्रान्त के शिक्षा-अध्यक्ष हैवेल ने यह राय जाहिर की थी कि—

'यह अधिक अच्छा होता कि यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि एक ऐसी बोली में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अन्त में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि हैवेल की इस सम्मति को गार्दा-दँ-तासी ने खुशी के साथ अपने प्रवचन में शामिल किया था। इसी प्रकार १८६९ में इलाहाबाद इन्स्टीट्यूट के एक अधिवेशन में जब यह विवाद उठा कि—'देशी जबान' हिन्दी को मानें कि उर्दू को—तब हिन्दी के पक्ष में कई वक्ता उठकर बोले थे और उन्होंने कहा था कि अदालतों में उर्दू जारी होने का फल यह हुआ है कि अधिकांश जनता विशेषतया गांवों की जो उर्दू से सर्वथा अपरिचित हैं बहुत कष्ट पाती है। इससे हिन्दी का जारी होना अत्यन्त आवश्यक है। तब बहुतों ने केवल नागरी लिपि का और बहुतों ने नागरी भाषा का प्रचलित होना आवश्यक बताया था। उस अवसर पर भी गार्दा-दँ-तासी ने हिन्दी के पक्ष के वक्ताओं का मज़ाक उड़ाया था।

इन्हीं दिनों 'इण्डियन डेली न्यूज़' में एक लेख हिन्दी को देश में प्रचलित किए जाने की आवश्यकता को प्रदर्शित करते हुए छपा था। उसका भी तासी महाशय ने प्रतिवाद किया था और जब 'अवध' अख़बार लखनऊ में एक लेख हिन्दी के पक्ष में छपा तो उसका विरोध करते हुए तासी ने हिन्दी को एक भद्दी बोली कहा था और हिन्दी अक्षरों को भौंड़े बताया था।

श्रद्धाराम फिल्लौरी; ई० स० १८६४—

ठीक इसी समय पंजाब में पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी ने अपने व्याख्यानों और कथाओं की पंजाब में धूम मचा दी। उन दिनों जालंधर के मिश्नरी गोकुलनाथ के प्रभाव से कपूरथला के तत्कालीन राजा रणधीरसिंह ईसाई धर्म की ओर बहुत झुक गए थे फिल्लौरी जी ने कपूरथला पहुंच कर अपने भाषणों से उनके इस विचार को सर्वथा बदल दिया और उनके हृदय में हिन्दूधर्म के प्रेम का बीज अंकुरित किया। पंजाब के सब छोटे बड़े स्थानों पर घूम २ कर पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी कथा-वार्ता और उपदेश देते फिरे। उनकी कथाओं और व्याख्यानों की ऐसी धूम थी कि दूर २ से लोग उन्हें सुनने आते थे और हज़ारों आदमियों की भीड़ लग जाती थी। उनकी भाषा ज़ोरदार और आकर्षक होती थी। उनमें स्वामी दयानन्द के आर्यसमाज के खण्डन-मण्डन का भी पुट था। आर्यसमाज के मुकाबिले उन्होंने

पंजाब में जगह २ पर सनातनधर्म सभाओं की स्थापना की । इन्होंने हिन्दी, पंजाबी और उर्दू में भी पुस्तकें लिखीं पर अपना सिद्धान्त ग्रन्थ सत्यामृत-प्रवाह प्रौढ़ हिन्दी ही में लिखा । वे एक निर्भीक और स्पष्टवक्ता आदमी थे । वे कभी २ पद्य भी लिखते थे । सन १८६८ में उन्होंने 'आत्मचिकित्सा' नामक एक पुस्तक अध्यात्म सम्बन्धी लिखी । इसके सिवा 'तत्त्वदीपक' 'धर्मरक्षा' 'उपदेशसंग्रह' 'सतोपदेश' (दोहों में) लिखीं तथा एक अपना आत्मचरित १४०० पृष्ठों में लिखा जो बाद में कहीं खो गया । 'भाग्यवती' नाम का एक उपन्यास भी उन्होंने सन १८७८ में लिखा था । मृत्यु के समय उन्होंने कहा था 'भारत में भाषा के दो लेखक थे—एक काशी में दूसरा पंजाब में पर अब एक ही रह जायगा । इस दूसरे लेखक से अभिप्राय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से था ।'

अध्याय तेरहवाँ

पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ

भारत में पत्रों का प्रकाशन इस युग की एक करामाती देन थी । आधुनिक काल में साहित्य के विकास और प्रसार में समाचारपत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है । हमारे देश मे समाचारपत्रों का प्रकाशन अब से कोई सवा सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था ।

डी० इसलाइल का कहना है कि समाचारपत्रों का चलन सर्वप्रथम इटली में हुआ । वहां का पहला मासिक पत्र 'विनीशिया' वहां की स्वतन्त्र गवर्नमेन्ट से प्रकाशित हुआ था । परन्तु ठीक २ समाचारपत्रों के रूप में सब से पहला पत्र इंग्लिश मरक्यूरी, इंग्लेण्ड से ऐलिज़बेथ के काल में गवर्नमेन्ट प्रेस से सन १५८८ में प्रकाशित हुआ था ।

महाभारत से पता चलता है कि उस काल में भारत में समाचारों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजाने वाले समाचार-दाता लोग नियत रहते थे । बहुधा भाट लोग ही यह कार्य करते थे ।

मुग़ल बादशाहों के यहां भी समाचार-वाहक रहते थे । परन्तु उन से सर्वसाधारण को कोई सूचना नहीं मिलती थी । वे सरकारी ही ख़बरों का आदान-प्रदान करते थे ।

योरुपियनों के इस देश में आने से पूर्व समाचार संग्रह का व्यवस्थित प्रबन्ध था। थेवनाट, मुनूची, हार्किंस आदि ने अपने विवरणों में मुग़लकालीन व्यवस्था का उल्लेख किया है। तत्कालीन इतिवृत्तकारों के कथनानुसार प्रत्येक दीवानी में 'वाक़ियानिगार' (वृत्तलेखक) रहते थे। मिराते-अहमदी में लिखा है कि— दर्बार के प्रधान बख़्शी के दफ़्तर से चार बख़्शी 'वाक़ियानिगार' भी नियुक्त किये जाते थे। ये लोग अपने एजेन्ट परगनों में रखते थे जो उन्हें वहां की घटनाओं की सूचना नियमित रूप से भेजते रहते थे। वाक़ियानिगार उनका सम्पादन करके और नगर के समाचार मिलाकर दर्बार को भेज देते थे। इन लोगों के एजेन्ट और संवाददाता लोग नाज़िम, दीवान, फ़ौजदारेगर्द अदालत और पुलिस विभागों में रहते थे जो वहां की घटनाओं का विवरण भेजा करते थे। इन वाक़ियानिगारों के भेजे हुए सम्वाद मोहरबन्द लिफ़ाफ़ों में बन्द करके सूबे के दारोग़ा डाक के पास भेज दिये जाते थे और वे उन्हें दर्बार में भेज देते थे। कुछ लोग सवानह-नवीस कहाते थे। ये लोग गुप्तरूप से सरकारी समाचारों को इकट्ठा करते थे। ये सवानहनवीस साम्राज्य भर में फैले रहते थे और इनकी डाक ले जाने के लिये प्रत्येक प्रान्त में सूबे के डाक के दारोग़ा की ओर से बीस घुड़सवार तैयार रखे जाते थे। मुग़ल बादशाह समाचारों की सचाई के सम्बन्ध में इतने सतर्क रहते थे कि उन्होंने एक तीसरा विभाग हरकारों का स्थापित किया हुआ था जो अत्यन्त गोपनीय समाचारों की सूचनायें सीधे दर्बार में भेजा करते थे। ये वाक़ियानिगार सवानह-नवीस और हरकारे अख़बारनवीस कहलाते थे। यह व्यवस्था अकबर के काल में ही प्रारम्भ हो गई थी, परन्तु उसे व्यवस्थित रूप जहांगीर के समय में मिला। ये अख़बारनवीस छोटी से छोटी बातों को भी दृष्टि में रखते थे। मआसिर-उल-उमरा में शंमसुद्दौला शाहेनवासख़ां ने लिखा है कि वाक़ियानिगार सेना में भी रहते थे।

भारत में पत्र-प्रकाशन

भारत में पत्र-प्रकाशन और पत्रकार-कला के विकास का इतिहास ब्रिटिश शासन के विकास का इतिहास है। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों के संसर्ग से एक नई नागरिक संस्कृति का जन्म हुआ। लोगों की जिज्ञासा के भाव विकसित हुए पर इसीसे भारतीय पत्रकारी का जन्म हुआ। बम्बई यद्यपि अंग्रेजों की पहली बस्ती थी परन्तु भारत के प्रथम पत्र का जन्म कलकत्ते में ही हुआ, परन्तु भारत के प्रथम पत्रकार होने का सेहरा बंगालियों के सिर नहीं बंधा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारोबार से आकृष्ट होकर विदेशी यहां आये। उनमें से कुछ साहसी और उत्साही व्यक्तियों ने आत्म-विज्ञापन की भावना से पत्रकार के पेशे को अपनाया।

सन १७६६ में एक दिन कौन्सिल भवन की दीवार पर एक विज्ञापन चिपकाया गया। उन दिनों सरकारी तथा व्यवसायिक सूचनाओं के देने का यही तरीक़ा था। उस विज्ञापन का विषय यह था—"मिस्टर बोल्ट जनता को सूचित करते हैं कि नगर में छापेखाने का अभाव व्यापार में एक बहुत बड़ी अड़चन है, और उससे सर्वसाधारण तक उन बातों का पहुंचना कठिन हो रहा है जो हर एक ब्रिटिश प्रजा के लिए आवश्यक है। इसलिये वे ऐसे आदमियों को जो मुद्रण-कार्य में कुशल हों और प्रेस चलाने में पूर्ण प्रोत्साहन देने को तैयार हों उन्हें टाईप और अन्य आवश्यक सामग्री दे सकते हैं। इसके साथ ही वे सर्वसाधारण को यह भी सूचित किया चाहते हैं कि उनके पास बहुत सी हस्तलिखित ऐसी चीजें हैं जिनका प्रत्येक व्यक्ति के जीवन से गहरा सम्बन्ध है। इसलिये जो कोई उत्सुकतावश अथवा प्रशंसनीय ध्येय से उन्हें देखना चाहे उसे श्री बोल्ट के घर पर पढ़ने अथवा उनकी नकल करने की इजाज़त दी जायगी। इसके लिये प्रतिदिन दस से बारह बजे तक उनके मकान पर एक व्यक्ति मौजूद रहेगा।

एक प्रकार से समाचारपत्र प्रकाशन करने का यह आह्वान था, किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों को यह बात नहीं पसन्द आई और फ़ोर्ट विलियम स्थित कौंसिल की सिलेक्ट कमिटी की ओर से मि० बोल्ट को हुक्म मिला कि वे तुरन्त बंगाल प्रेसिडैन्सी से रवाना होने वाले प्रथम जहाज़ पर सवार होकर तत्काल मद्रास चले जायँ और वहां से योरुप की राह लें।

इस प्रकार यह बात जहाँ की तहाँ रह गई।

भारत का पहला पत्र—

भारतमें पहला समाचार-पत्र निकालने का श्रेय, जेम्स आगस्टन हिकी को मिला। २९ जनवरी सन १७८० को इन्होंने 'बंगाल गजट' अथवा 'कलकटा जरनल' (एडवरटाइज़र) नामक पत्र प्रकाशित किया परन्तु यह पत्र अपने नाम की अपेक्षा सम्पादक के नाम पर 'हिकी गज़ट' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुआ। यह केवल बारह ज़र्ब आठ आकार के (१२ × ८) दो पन्नों में निकलता था और उसका अधिकांश भाग विज्ञापनों से भरा रहता था। यह पत्र यद्यपि राजनीतिक और व्यापारिक साप्ताहिक था, परन्तु किसी से प्रभावित न था। प्रमुख व्यक्तियों की वैयक्तिक आलोचनाएं उसकी विशेषता थी। और वॉरन हेस्टिंग्स तत्कालीन गवर्नर-जनरल उसके प्रधान लक्ष्य थे। कौन्सिल के मैम्बर मि० फ्रांसिस जो वॉरन हेस्टिंग्स के प्रबल विरोधी थे, उसमें अधिकतर लिखा करते थे। इन कारणों से पत्र की ख्याति बहुत जल्दी हो गई।

कुछ दिन बाद गज़ट का वितरण रोक दिया गया और 'हिकी' को कैद कर लिया गया। इसके बाद इसी सन के नवम्बर मास में दूसरा पत्र 'इण्डिया-गज़ट' और फिर सन १७८४ में 'कलकटा गज़ट' और इसके बाद १७९१ में 'बंगाल जरनल' और 'इण्डियनवर्ल्ड' प्रकाशित हुए। १७८५ में एक पत्र मद्रास से भी 'मद्रास कूरियर' के नाम से प्रकाशित हुआ और १७६५ में मद्रास गज़ट। परन्तु ये सब पत्र कम्पनी से बाक़ायदा लॉयसन्स लेकर निकाले गये थे। इसके बाद अंग्रेज़ी में कुछ स्वतन्त्र पत्र भी प्रकाशित हुए और उनका नियमन करने के विचार से उन पर सेंसर कायम हुआ।

भारतीय भाषा के पत्र—

भारतीय भाषाओं में पहला पत्र निकालने का श्रेय श्रीरामपुर के 'बेप्टिस्ट मिशन' वालों को है। सन १८२३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने देश में शिक्षा प्रचार के लिये कुछ रकम खर्च करने का निश्चय किया। इसी के फलस्वरूप सन १८८४ में श्रीरामपुर में डा० केरे ने एक कालिज स्थापित किया, और 'दिग्दर्शन' नाम से एक बंगला मासिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। उसी साल श्रीरामपुर के 'बेप्टिस्ट मिशन' वालों ने बंगला में 'समाचार दर्पण' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकाला। उधर राजा राममोहनराय के मित्र हरचन्द्रराय और गंगाकिशोर भट्टाचार्य ने कलकत्ते से बंगला गजट नामका एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया। इस पत्र का उद्देश्य समाज सुधार था। यही पत्र भारतीयों द्वारा सञ्चालित और सम्पादित पहला पत्र था।

राजा राममोहनराय पत्रकार-क्षेत्र में—

सन १८२१ से राजा राममोहनराय ने अपने सहयोगी पं० शिवप्रसाद शर्म्मा के नाम से 'ब्रह्मेनिकल मेगज़ीन' प्रकाशित की। समाचार-दर्पण में एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसे राजा साहेब ने हिन्दुओं के धर्म पर अनुचित आक्रमण करने वाला समझा। उन्होंने शिवप्रसाद शर्मा की ओर से उसका खण्डन समाचार-दर्पण के पास भेजा, परन्तु उसके सम्पादक ने उसे ज्यों का त्यों प्रकाशित करने से इन्कार किया, इसी पर राजा राममोहनराय ने शिवप्रसाद शर्मा के नाम से 'ब्रह्मेनिकल मेगज़ीन' निकाला और उसमें वह प्रतिवाद अविकल प्रकाशित किया। यह पत्र बंगला और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में छपता था। एक पृष्ठ पर बंगला और दूसरे पर उसका अंग्रेज़ी में अनुवाद। इसी समय राजा राममोहनराय का ध्यान अधिक व्यापक प्रचार की ओर गया। उन दिनों अंग्रेज़ी और बंगला की सीमा बहुत संकुचित थी। फ़ारसी ही देश भर की सांस्कृतिक भाषा थी। इस लिये उन्होंने फ़ारसी में एक साप्ताहिक पत्र

'मिरातुल अख़बार' प्रकाशित किया जो बहुत जल्दी प्रभावशाली हो गया। इस प्रकार बंगाल के पत्रों के दो दल हो गये। एक सुधारक दल का था, दूसरा पुराने विचारों का। एक पुराण पंथी पत्रिका भी हिन्दुओं की ओर से प्रकाशित होने लगी। उन दिनों सती प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चल रहा था। यह पत्रिका सती प्रथा की बड़ी भारी समर्थक थी। उदार विचार के पत्रों की बढ़ती हुई प्रतिक्रिया सरकारी कर्मचारियों और कम्पनी के कोर्ट आफ़ डाईरेक्टर्स को बहुत जल्द खटकने लगी। और सन १८२३ में पत्रों के नियन्त्रण के लिये कुछ नियम बनाये गये।

राजा राममोहनराय ने भारतीय पत्रों की ओर से इस का विरोध भी किया, परन्तु उसका कोई फल नहीं हुआ। इसके फलस्वरूप राजा राममोहनराय का फ़ारसी पत्र मिरातुल अख़बार बन्द कर दिया गया। और भी दो एक पत्र बन्द हो गये। परन्तु कुछ दिन बाद जब लार्ड विलियम बैंटिक गवर्नरजनरल हुए तब राजा साहेब ने एक साप्ताहिक पत्र अंग्रेज़ी में 'बंगाल हैरल्ड' और दूसरा बंगला में 'बंगदूत' प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। बंगदूत बंगला, फ़ारसी और नागरी अक्षरों में छपता था, और नीलरत्न हाल्दार उसके सम्पादक थे। यह पत्र सती प्रथा के विरुद्ध बड़े जोरदार आन्दोलन करता रहा और उसका विरोध चन्द्रिका के सञ्चालक और राजा राममोहनराय के प्रतिद्वन्द्वी राजा राधाकान्तदेव करते रहे। अन्त में सन १८२९ में क़ानून बनाकर लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा बन्द कर दी। सुधार-पक्षी पत्रों की यह सब से पहली विजय थी। राजा राममोहनराय को धन सम्बन्धी सहायता रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पितामह राजा द्वारिकानाथ ठाकुर बराबर देते रहे थे जिससे प्रगतिशील पत्रों का संस्थापन और संचालन होता हो रहा। राजा द्वारिकानाथ ठाकुर ने और कई रूढ़िवादी और कट्टर मत व्यक्त करने वाले पत्रों को ख़रीद कर प्रगतिशील आन्दोलन का समर्थक बना दिया। ऐसे ही पत्रों में 'जानबुल' नामक एक पत्र था, जिसका नाम 'इंग्लिशमैन' कर दिया गया और पीछे वह इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ और सुधारों का समर्थक हुआ। इस काम में उक्त दोनों राजाओं के सिवा प्रसन्नकुमार ठाकुर और देवेन्द्रनाथ ठाकुर से बहुत सहायता मिली।

हिन्दी का पहला पत्र—

३० मई सन १८२६ को कलकत्ते से हिन्दी का पहला पत्र 'उद्दण्ड मार्त्तण्ड, प्रकाशित हुआ। पत्र के सम्पादक, सञ्चालक और मालिक कानपुर के युगलकिशोर शुक्ल थे जो कलकत्ते की सदर दिवानी अदालत में प्रोसीडिंग रीडर थे। यह पत्र साप्ताहिक था और प्रति मंगलवार को प्रकाशित होता था। इसकी भाषा का नमूना देखिये—

"१९ नवम्बर को अवध विहारी बादशाह के आवने की तोपें छूटीं। उस दिन तीसरे पहर को इलिंग साहिब औ हेल साहिब औ मेजर फिंडल लार्ड साहिब की ओर से अवध बिहारी की छावनी में जाकर के बड़े साहिब का सलाम कहा और भोर होके लार्ड साहिब के साथ हाज़री करने का नेवता किया, फिर अवध बिहारी बादशाह के जाने के लिये कानपुर के तले गंगा में नावों की पुल बन्दी हुई और बादशाह बड़े ठाठ से गंगा पार हो गवरनर जेनरल बहादुर के सन्निध गए"।

बनारस अख़बार; सन १८४६—

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने बनारस से 'बनारस अख़बार' सन १८४६ में निकालना प्रारम्भ किया। परन्तु इस समय तक लोगों की मनोवृत्ति अंग्रेज़ी और उर्दू की ओर आकर्षित हो चुकी थी क्योंकि ये दोनों भाषाएँ सरकारी कामकाज की होने से लोग इन्हें ही पढ़ने लगे थे। इस लिये इस पत्र की भाषा उर्दू मिश्रित रखी गई, यद्यपि लिपि देवनागरी थी। यह पत्र एक घटिया काग़ज पर लीथो में छपता था। इस में कभी २ राजा साहेब के लेख भी रहा करते थे। इस की भाषा का एक नमूना यहां दिया जाता है—

"यहां जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहेब बहादुर इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफ़ा ज़ाहिर हो चुका है··········लोग उस पाठशाले के क़िते के मकानों की खूबियां अक्सर बयान करते हैं, और उनके बनने के ख़र्चे की तजवीज़ करते हैं कि जमा से ज्यादा लगा होगा। और हर तरह से लायक़ तारीफ़ के है, सो दानाई साहब मौसूफ़ की है।"

इसके सम्पादक गोबिन्द रघुनाथ थत्ते थे जो राजासाहेब के आदेशानुसार लिखा करते थे। इसका 'मूल मन्त्र' यह था—

**सुबनारस अख़बार यह शिवप्रसाद आधार।
बुधि विवेक जन निपुन को चित हित बारंबार।
गिरिजापत नगरी जहां गंग अमल जलधार।
नेत शुभाशुभ मुकुर को लखो बिचार बिचार।**

इसके सम्बन्ध में काशी के प्रसिद्ध फ़ारसी भाषा के पण्डित मुं॰ शीतलसिंह ने जो काशी महाराज के विद्यागुरु थे, यह रुबाई बनाई थी—

**बनारस में इक जो बनारस गजट है।
इबारत सब उसकी अजब ऊटपट है।
मुहर्रिर बिचारा तो है बासलीक़ा।
वले क्या करें वह कि तहरीर भट है।**

इसी काल में 'शिमला अखबार' और 'मालवा अखबार' भी प्रकाशित हो गये थे, परन्तु वे हिन्दी अक्षरों में थे या उर्दू में इसका ठीक २ निर्णय नहीं है।

बुद्धिप्रकाश; १८५३—

आगरे के मुन्शी सदासुखलाल ने १८५३ में 'सुधाकर' के प्रकाशन से दो बरस बाद एक पत्र 'बुद्धि प्रकाश' के नाम से प्रकाशित किया। यह पत्र उक्त मुन्शी जी के प्रबन्ध और सम्पादन में कई वर्ष तक चलता रहा। इस की भाषा का एक उदाहरण यह है—

"स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीति यह सब गुण कर्ता ने उत्पन्न किये हैं, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियां अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं। और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उन से बन सकता है, वैसा दूसरों से नहीं। यह काम उन्हीं का है, कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लड़कों को भूल चूक से बचावें, और सरल विद्या उन्हें सिखावें।"

इस प्रकार यद्यपि अदालती भाषा उर्दू कर दी गई थी, पर सर्वसाधारण में इन पत्रों के प्रकाशन ने खड़ी बोली के गद्य की परम्परा की प्रगति को जारी रखा। यह परम्परा चलने लगी और पत्रों पर पत्र और पुस्तकों पर पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं।

हिन्दी का सर्वप्रथम दैनिक पत्र—

हिन्दी का सर्वप्रथम हिन्दी दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' कलकत्ते से नम्बर १०।१६ कमलनयन की गली; बड़ा बाज़ार से ग़दर से तीन वर्ष पूर्व सन १८५४ में प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक श्यामसुन्दरसेन एक बंगाली सज्जन थे। पत्र हिन्दी और बंगाली दोनों ही में निकलता था। इस पत्र के कुछ अंक अभी भी ब्रिटिश म्युज़ियम लण्डन में सुरक्षित हैं। तथा उसके दूसरे वर्ष की फ़ाइल कलकत्ते की इम्पीरियल लाइब्रेरी में मौजूद है। इस पत्र की भाषा का नमूना हम यहां उपस्थित करते हैं—

मारकिन देश के खबर

मारकिन देश (अमेरिका) के इलमदार इंग्रेजी के पंडितों ने ११०५६ ग्यारह हजार छप्पन छापाखाना कई एक वर्ष से किए हैं। और १६००० सोलह हज़ार हर तरह के नए २ किताबें बनाकर जहान में ज़ाहिर किए और इस किताबों के पढ़ने वाले ज्ञान पाकर कित्ते खुस हुए वे ही लोग जानते हैं। औ जगत में बड़ी खुसनामी हुई। खुसनामी नहीं, ११ इग्यारा वर्ष के अन्दर सोला लाख पचास हजार रुपये भी पैदा किये। आगे इससे भी मालूम होता है ज्यादे रुपये और खुसनामी पैदा करेंगे।

❀ ❀ ❀

सोने का बाज़ार

आजकल कलकत्ता नगर में के बाजार में सोना बड़ा सस्ता बिकने आरम्भ भया है। पहिले के दर से डेढ़ रुपया या दो रुपया तक दर कम भया है। १४, १४॥ चौदा या साढे चौदा रुपए के भाव से आजकल बिकता है।

अध्याय चौदहवाँ

कविता की पुरानी धारा

यद्यपि भाषा में, संस्कृति में और देश में ये भारी २ परिवर्तन हो रहे थे फिर भी कुछ कवि प्राचीन परिपाटी पर अपनी रचनाएं रचते ही जाते थे। अब उन रचनाओं में थोड़ी नवीनता दीख पड़ने लगी थी। बंगाल के विद्वानों का प्रभाव भी छूने लगा था। यद्यपि इस समय ठाकुर, दूलह, सूदन, बोधा, रामचन्द्र, सीतल, थान, बेनीप्रबीन और परताप की समता वाले कवि नहीं दृष्टिगोचर हुए, फिर भी कुछ कवि उसी ढंग की कवितायें रचने में समर्थ हुए। इस काल में लगभग ३०० कवियों ने पुराने ढर्रे पर रचनाएं कीं। रीवां के महाराज रघुराज-सिंह और लेखराज ने उसी ढर्रे पर कविताएं कीं जो प्रायः तीन सौ वर्ष पहले प्रचलित थीं। टीका लिखने की रीति पहले पहल महाराजा कुम्भा ने प्रचलित की थी, फिर उनके बहुत दिनों बाद अलंकृत काल में कुछ लोगों ने इस पर कुछ ध्यान दिया था। कृष्ण और सूरत मिश्र ने विहारी सतसई पर अनेक प्रकार से टीकाएं कीं परन्तु दो चार को छोड़ कर किसी दूसरे भाषा-कवि को उत्कृष्ट टीकाकार बनने का गौरव नहीं प्राप्त हुआ। इसकाल में सूर केशव आदि अनेक नामी कवियों के ग्रन्थों पर बहुत सी टीकाएं लिखी गईं। रीति ग्रन्थों का प्राधान्य बहुत घट गया था, और काव्योत्कर्ष में भी बहुत कमी आ गई थी। सच बात तो यह थी कि चार पांच सौ वर्ष शीर्षस्थल पर रहने के बाद व्रजभाषा और पद्य का प्रभुत्व हिन्दी साहित्य से हट चुका था। सबसे पहले चौदहवीं शताब्दी के मध्यान्ह में शार्ङ्गधर ने पहले पहल व्रजभाषा का हिन्दी कविता में प्रयोग किया था। इसके तीस वर्ष बाद अमीर खुसरो ने थोड़ा सा उसे अपनाया। फिर उसके सौ वर्ष बाद नारायणदेव ने व्रजभाषा ही में हरिश्चन्द नाटक रचा था और नामदेव ने भी कई ग्रन्थ निर्माण किए थे, परन्तु व्रजभाषा को अभी प्रधानता नहीं मिली थी। व्रजभाषा को प्रधानता प्रदान की चरणदास और बल्लभाचार्य ने। इसके बाद सूरदास और अष्टछाप के कवियों ने उसे बड़ी भारी महिमा दी। बीच २ में अवधी और खड़ी

बोली में भी लोग कविताएं रचते रहे, स्वयं तुलसीदास ने अवधी को अपनाया। उन दिनों ९० प्रतिशत कवि बराबर व्रजभाषा ही से अनुरक्त रहे। यहां तक कि लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर की रचना खड़ी बोली में तो की परन्तु उसमें व्रजभाषा का बहुत सा पुट रहा। लल्लूजीलाल ने छन्द तो व्रजभाषा ही में लिखे। ऐसी यह व्रजभाषा इस युग में अपना प्राधान्य खो बैठी परन्तु कवियों के मन में उसका मोह तो रहा ही। इस काल में महाराज मानसिंह शंकर, दरियावादी नवीन, पजनेस, सेवक, लेखराज, ललितकिशोरी, गदाधरभट्ट, औध, लच्छिराम, बलदेव आदि प्राचीन प्रथा के कवि रहे। और उमादास, जीवनलाल, निहाल, सूरजमल, माधव, कासिम, गिरधरदास, प्रतापकुंवर, महाराजा रघुराजसिंह, शम्भूनाथमिश्र और रघुनाथदास रामसनेही ने कविता में कथा-प्रसंग लिखे। ललित किशोरी ने तो सौर काल की छटा ही दिखा दी। स्वामी काष्ठजिह्वा, बाबा रघुनाथ दास और महन्त सीतारामशरण महात्मा कवि हुए। कृष्णानन्द व्यास ने पदों का एक संग्रह बनाया। गणेशप्रसाद फर्रुखाबादी ने पद और लावणियां लिखीं। इनमें से अनेकों के वर्णन अन्यत्र आ चुके हैं विस्तार भय से अधिक विवरण नहीं देते हैं। परन्तु इस काल में जो पुराने ढंग की कविताएं हुईं उनके कुछ उदाहरण कवि-परिचय सहित हम यहीं देते हैं।

रीवां के महाराज विश्वनाथसिंह (ई० स० १८३३) इनके ३१ ग्रन्थों का पता चला है। ये स्वयं सुकवि थे और कवियों के आश्रयदाता भी थे। ये महाराजा जयसिंह के पुत्र और महाराज रघुराजसिंह के पिता थे। इनका एक कवित्त पढ़िए—

बाजी गज सोर रथ सुतुर कतारे जेते,
प्यादे ऐंड़वारे जे सहीब सरदार के।
कुँअर छवीले जे रसीले राजवंश वारे,
सूर अनियारे अति प्यारे सरकार के।
केते जाति वारे केते-केते देशवारे जीव,
श्वान सिंह आदि सैलवारे जे शिकार के।
डंका की धुकार ह्वै सवार सबै एक बार,
राजै वार पार कार कोशल कुमार के।

जीवनलाल नागर G. C. S. I.; ई० स० १८४२—

ये संस्कृत फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता थे। बूंदी दरबार के दीवान थे। इनकी कविता सरस और भावपूर्ण होती थी। इनके ७ ग्रन्थों का पता चला है, एक छन्द सुनिए—

बदन मयंक पै चकोर ह्वै रहत नित,
पंकज नयन देखि भौंर लौं गयो फिरै।
अधर सुधारस के चाखिवे को सुमनस,
पूतरी ह्वै नैनन के तारन छयो फिरै।
अंग अंग गहन अनंग को सुभट होत,
वानि गान सुनि ठगे मृग लौंठयो फिरै।
तेरे रूप भूप आगे पिय को अनूप मन,
धारि बहु रूप बहुरूप सो भयो फिरै॥

शंकर; ई० स० १८१२—

ये असनी वाले 'सेवक' के बड़े भाई थे। कविता इनकी अच्छी होती थी। एक उदाहरण देखिए—

मंजु मलयाचल के पौन के प्रसंगन ते, लाल लाल पल्लव लतान लहकै लगे;
फूले लगे कमल गुलाब आबवारे घने, संकर पराग भू-अकास बहकै लगे;
नेकौ ना अटक चल्यो काम को कटक चारु, चार्यौ ओर चटक सुगन्ध महकै लगे॥
बौलै लगे कोकिल भनंत भौंर डोलै लगे चोप सों अमोलै मकरंद चहकै लगे।

देवकवि काष्ठजिह्व; ई० स० १८३१—

संस्कृत के भारी विद्वान् थे। एक बार गुरु से विवाद कर बैठे, तब प्रायश्चित्त स्वरूप जीभ पर काठ की खोल चढ़ाकर सदा के लिए बोलना बंद कर दिया। इन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे। बनारस के महाराज इनका बड़ा आदर करते थे। इनका एक छन्द पढ़िए—

जग मंगल सिय जू के पद हैं।
जस तिरकोण यंत्र मंगलके अस तरवन के कद हैं।
मलहि गलावहिं ते तन मन के जिनकी अटक बिरद हैं।
मंगल हूँ के मंगल हरि जँह सदा बसे ए हद हैं॥

गणेशप्रसाद; ई० स० १८४४—

ये फ़र्रुख़ाबाद के हलवाई थे। जाति के कायस्थ थे। इनकी लावणियां बहुत मशहूर हुईं। इनकी कविता बड़ी सजीव होती थी।

किया पिय किन सौतिन घर बास। बिकल उन बिन जिय बारह मास।
गरज आली असाढ़ आया, घटा न गम दुःख दिखलाया।
अबर हो वर बिदेश छाया कहिं बरसा कहिं तरसाया।

नवीन; ई० स० १८४९—

ये नाभा के दरबारी कवि थे। इन्होंने चार ग्रन्थ रचे। इनका रसों का वर्णन बहुत अच्छा है, इनकी शैली पद्माकर के टक्कर की है। एक छन्द देखिए—

चपक के चौसर चमेलिन की चंपकली, गजरे गुलाबन के गकते डमाह के;
कदम तरौना तरे किंजलक झूमका की, झलक कपोलन पै बाजू जुही जाइ के।

बेनी बीच माधुरी गुही है बार-बार ताँप, रंग पहिराए हैं वसन अंग लाह के ;
बीन-बीन कुसुम-कलीन के नवीन सखि, भूखन रचे हैं व्रजभूषन की चाह के।

गिरिधरदास; ई० स० १८४४—

ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता थे। नाम गोपालदास था। परन्तु गिरिधरदास के नाम से कविता रचते थे। इन्होंने ४० ग्रन्थ रचे। केवल २७ वर्ष की आयु में इनका देहान्त हो गया। इन्हें यमक का बड़ा शौक था। इनका एक छन्द पढ़िए—

आनन की उपमा जो आनन को चाहे जाऊ,
आन न मिलैगी चतुरानन बिचारे को।
कुसुम कमान के कमान को गुमान गयो,
करि अनुमान भौह रूप अति प्यारे को।
गिरिधर दास दोऊ देखि नैन बारिजात,
बारिजात बारिजात मान सर वारे को।
राधिका को रूप देखि रति को लजात रूप,
जातरूप जातरूप जातरूप वारे को।

सेवक; ई० स० १८१७—

ये असनी के ब्रह्म भट्ट थे। ये काशी के रईस जानकीप्रसाद के यहां रहते थे। इन्होंने 'वाग्विलास' नामक नायिका भेद का एक बड़ा ग्रन्थ रचा है। इन्होंने और भी कई ग्रन्थ रचे हैं। इनका एक छन्द देखिए—

बंसी बजावत आनि कढ़े बनिता घनी देखन को अनुरागीं ;
हौं हूँ अभाग भरी डगरी मगरी गिरे चौकि सबै डरि भागीं।
कागै कलंक सेवक सो इन्हें फोरि हौं सौति सुभाव ले जागीं ;
हाय हमारी जरैं अँखियाँ विष बान ह्वै मोहन के उर लागीं।

महाराज रघुराजसिंह जूदेव; ई० स० १७५५—

जी० सी० एस० आई० उपाधि से विभूषित और रीवां के महाराजा थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे। इनके आश्रित अनेक सुकवि रहते थे। इनका एक छन्द पढ़िए—

अनल उदंड को प्रकाश नव खंड छायो,
ज्वाला चंड मानो ब्रह्ममंड फोरै जाय जाय ;
पुरी ना लखात ज्वालमालै दरसाति एक,
लोहित पयोधि भयो छाया एक छाय-छाय।
देवता मुनीस सिद्ध चारण गंधर्व जेते,
मानि महाप्रलै वेगि व्योम ओर धाय-धाय ;
देखि रामराय हेत दीन्ही लंक लाय सबै,
चाय भरे चले कपिराय यश, गाय-गाय।

सरदार; ई० स० १८४८—

इन्होंने कई ग्रन्थ रचे और कई अच्छी टीकाएं रचीं । इनकी रचनाएं उत्तम होती थीं । ये काशी नरेश के आश्रित थे । इनके भाव और भाषा दोनों ही उत्तम हैं । एक उदाहरण देखिए—

मनि मन्दिर चंदमुखी चितवै हित मंजुल मौद मवासिन को ;
कमनीय करोरिन काम चला करि थामि रही पिय पासिन को ।
सरदार चहूँ दिसि छाय रहे सब छंद छरा रस रासिन को ;
मन मंद उसासन लेन लगी मुख देखि उदास खवासिन को ।

बलदेव; ई० स० १८५०—

ये अमेठी के राजा माधवसिंह और राजा मानसिंह (द्विजदेव) के कविता-गुरु थे । इनकी कविता उत्तम, अनुप्रासयुक्त और यमकयुक्त होती थी ।

चंदन चमेली चोप चौसर चढ़ाय चारु ,
मधु मदनारे सारे न्यारे रस कारे हैं ;
सुगति समीर मद स्वेद मकरन्द बुन्द ,
बसन पराग सों सुगन्ध गंध धारे हैं ।
बारन बिहीन सुनि मंजुल मिलिंद धुनि ,
बलदेब कैसे पिकवारे लाज हारे हैं ;
फूल माल बारे रति बल्लरी पसारे देखौ ,
कंस मतवारे कै बसंत मतवारे हैं ।

अनीस; ई० स० १८५५—

इन की कविता सरस और भावपूर्ण होती थी । इनका यह कवित्त प्रसिद्ध है—

सुनिए बिटपवर पुहुप तिहारे हम ,
राखिहौ सुपास सोभा रावरी बढ़ावेंगे ।
तजिहौ हमैं तो विलमहून माने कछु ,
जहां जहां जैहौं जस रावरो ही गावेंगे ।
सुरन चढ़ैंगे नर सिरन चढ़ैंगे वर ,
कहत अनीस कवि मान ही बढ़ावेंगे ।
देस में रहैं, परदेस में रहैं ,
काहू भेस में रहैं, पर रावरे कहावेंगे ।

अध्याय पन्द्रहवाँ

मध्यबिन्दु--दयानन्द सरस्वती

जन्म; सन १८२५—मृत्यु, १८९४—पूर्णायु ६९ वर्ष

जन्म, गृहत्याग और शिक्षा—

इनका जन्म नाम 'मूल शंकर' था। ये गुजरात के मोरबी ग्राम में जन्मे। इनके पिता औदीच्य ब्राह्मण थे। इनकी कुल-परम्परा शैव थी। सन १८४५ में इन्होंने २० वर्ष की अवस्था में गृह त्यागा। १८४८ में दक्षिण के एक दण्डी सन्यासी से दीक्षा ली और दयानन्द सरस्वती नाम रखा। इसके बाद देश के भिन्न २ प्रान्तों में पर्यटन करते हुए सन १८६१ में मथुरा आकर विरजानन्द नामक एक प्रज्ञाचक्षु परिव्राजक के पास रह कर विद्याध्ययन किया। इसके बाद वेद-विद्या-प्रचार, आर्य भाषा और आर्य-संस्कृति का पुनरुद्धार करना एवं आर्य जाति को उन्नत बनाना अपना ध्येय बनाकर निरन्तर घूमते और व्याख्यान देते रहे। धीरे २ इनकी ख्याति बढ़ चली और इनकी प्रतिभा, निर्भीकता तथा नवीन विचार-धारा में प्राचीन आर्यजाति के धर्म-साहित्य का सम्पुट देख लोग अधिकाधिक आपसे प्रभावित होते गये।

तत्कालीन वातावरण—

यह वह समय था जब सन ५७ के विद्रोह के बाद मुगल साम्राज्य ध्वस्त हो चुका था, और अंग्रेजी अमल जम कर बैठ गया था। उसके साथ ही महारानी विक्टोरिया की घोषणा से विचार-स्वातन्त्र्य की भावना जागृत हो गई थी। देश में ईसाइयों ने जगह २ प्रचार के अड्डे क़ायम कर लिये थे। बंगाल में राजा राममोहनराय और पंजाब में बाबू केशवचन्द्र निरन्तर हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान की आवाज ऊंची कर रहे थे।

दुर्भाग्य से राजा राममोहनराय संस्कृत के पण्डित न थे, इसलिये उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना आर्य-भावना-मूलक किन्तु पाश्चात्य जीवन प्रणाली पर प्रभावित होकर डाली। लोग नव जीवन के अभिलाषी थे इससे वह उन्हें भा गई। उधर नवीनचन्द्रराय भी संस्कृत के पण्डित न थे, वे केवल हिन्दी-शिक्षण और हिन्दू संस्कृति के हिमायती मात्र ही रहे।

इसके विपरीत दयानन्द सरस्वती वेदों के असाधारण ज्ञान के साथ यह भावना लेकर मैदान में उतरे कि नये सम्पूर्ण सुधार प्राचीन वैदिक सभ्यता और आर्य संस्कृति से ओतप्रोत किये जायें। उन्होंने दृढ़ता से वेदों को ग्रहण किया और सब वेद प्रतिपादित ग्रन्थों को मान्य तथा उनके आदेशों को प्रतिपालनीय

बताया। धीरे २ उनकी वाणी और कार्य तीव्र और तीव्रतर होते गए। उनकी शास्त्रार्थ की शैली में सत्य, विवेक, निर्भीकता और आर्य जाति के प्रति असीम प्रेम था। इससे पुरानी पण्डिताऊ शैली के पण्डित तथा ईसाई और मुसलमान प्रचारक भी उनके सामने ठहर न सके। जनता पर उनकी धाक जमती ही गई। अन्ध-श्रद्धा के स्थान पर 'तर्क युग' का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने तीन सांस्कृतिक कार्य किये, (१) एक प्राचीन स्थिति का द्योतन, (२) वर्तमान स्थिति का निराकरण और (३) भविष्य-मार्ग का निर्धारण।

इनसे प्रथम कोई ऐसा धार्मिक नेता इस युग में शंकराचार्य के बाद नहीं हुआ जो समाज के बाह्य रूप में इतनी क्रान्ति करे।

आर्यसमाज की स्थापना—

सन १८६९ में आर्यसमाज की स्थापना की। और सब आर्यों के लिए आर्य भाषा पढ़ने का आदेश दिया। युक्तप्रान्त के पश्चिमीय ज़िलों तथा पंजाब में आर्यसमाज के प्रभाव से हिन्दी गद्य का प्रचार बड़ी तीव्रता से होने लगा। पंजाबी बोली में उन दिनों कोई लिखित साहित्य न था और मुसलमानों के बहुत अधिक संपर्क में रहने से पंजाब वालों की लिखने पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही थी। उसकी इस प्रगति में बड़ी भारी बाधा पड़ गई। परन्तु स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के प्रचार ने हिन्दी की गद्य शैली में अनेक आवश्यक परिवर्तन किए। गद्य के विकास के लिए यह आवश्यक था कि उसमें इतना बल आजाय कि उसमें वाद-विवाद भली भांति हो सके। वाद-विवाद का ही विशद रूप व्याख्यान है। उसमें वाद-विवाद का मननशील एवं संयत रूप रहता है। किसी विषय की भली भांति गवेषणा करने के बाद बलिष्ठ और स्पष्ट भाषा में जो विचारधारा प्रगट होती है उसी का नाम व्याख्यान है।

वक्तृता-शक्ति—

एक धर्मप्रचारक की वक्तृता-शक्ति उसके कार्य का सब से महत्वपूर्ण अंश है। स्वामी दयानन्द अपूर्व वक्तृत्व-शक्ति रखते थे। उनके भाषण सुनने को १०।१० हज़ार व्यक्ति एकत्र होते थे। पहले वे संस्कृत में भाषण दिया करते थे, हिन्दी वे ठीक २ बोल नहीं सकते थे, क्योंकि वे जन्म से गुजराती थे परन्तु एक बार उनके भाषण का ग़लत अनुवाद किया गया, तब से वे स्वयं हिन्दी में भाषण देने लगे। वे हिन्दी की व्यापकता के महत्व को समझते थे। उन्होंने पुरानी फक्कड़ी हिन्दी को नहीं अपनाया, उनकी हिन्दी एक विशुद्ध सांस्कृतिक और प्रभावशाली भाषा थी, जिसने पंजाब और उत्तर-भारत में हिन्दी को अपरिमित बल और दीर्घ जीवन दिया।

स्वामी दयानन्द की भाषा—

वे भाषा को साहित्यिक रीति पर अलंकृत नहीं करते थे। उनका दृष्टिकोण साहित्यिक था भी नहीं। वे एक समाज सुधारक थे। हम उन्हें विशुद्ध धर्म-प्रचारक भी नहीं कह सकते, वे अपने युग के जनपद के पिता थे। पिता जिस प्रकार अपने अयोग्य बालकों को शिक्षा और संस्कृति से प्रभावित करता है उसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने अपने काल के जनपद को अपनी रचनाओं से, अपने भाषणों से, अपने अस्तित्व से ज्ञानसम्पन्न और मेधावी बनाया। तथा उनमें स्वदेश, स्वधर्म, स्वजाति और स्वाभिमान के बीज अंकुरित किए। इन सब ओजपूर्ण भावनाओं के कारण उनकी साधारण भाषा भी प्रभावशाली होगई थी। देखिए—

क्या कोई दिव्य चक्षु इन अक्षरों की गुलाई, पंक्तियों की सुघाई और लेख की सुघड़ाई को अनुत्तम कहेगा? क्या यही सौम्यता है कि एक सिर आकाश पर और दूसरा सिर पाताल पर छा जाता है? क्या यही जल्दपना है कि लिखा 'आलूबुखारा' और पढ़ा 'उल्लू बेचारा' लिखा 'छन्नू' पढ़ने में आया झब्बू। अथवा मैं इस विषय पर जोर इसलिये देता हूं कि आप लोग सोचें, समझें, विचारें और अपने नित्य के व्यवहार प्रयोग में लायें। इससे आपका नैतिक जीवन सुधरेगा, आप में परोक्ष की अनुभूति होगी और होगी देश तथा समाज की भलाई"।

भाषा निर्दोष, मंजी हुई है। विषय भी स्पष्ट है, लेखक का देश और भाषा से प्रेम तथा पाठकों के प्रति आत्मीयता तथा उद्बोधन की बेचैनी प्रकट होती है।

सत्यार्थप्रकाश—

सन १८१९ में उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित हुआ। आगे इस ग्रन्थ का इतना प्रचार हुआ कि अपने युग के सब हिन्दी ग्रन्थों से बाजी मार ले गया। सम्भवतः तुलसीकृत रामायण के बाद सत्यार्थप्रकाश ही इस युग में इतना लोकप्रिय ग्रन्थ हुआ। इसकी भाषा में गुजरातीपन और संस्कृत दोनों ही का पुट है। कहीं २ वाक्य-रचना सन्दिग्ध है और पढ़ने में कई अर्थ निकल सकते हैं। इस ग्रन्थ के प्रथम दस समुल्लास स्वपक्ष प्रतिपादन में और अन्तिम चार खण्डनात्मक हैं। ग्रन्थ में लेखक का गहन अध्ययन, अपूर्व प्रतिभा, तर्क का अद्भुत चमत्कार, समय सूचकता, सूक्ष्मदर्शिनी-दृष्टि, तत्काल प्रत्युत्तर देने की क्लृप्ति, सहृदयता और कुरीति एवं रूढ़िवाद के प्रति तीव्र रोष प्रकट होता है।

स्वामी जी का अन्य साहित्य—

यद्यपि स्वामीजी ने अनेक ग्रन्थ लिखें, परन्तु उल्लेखनीय पांच हैं। १ सत्यार्थप्रकाश, २ ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, ३ ऋग्वेद भाष्य (अपूर्ण), ४ यजुर्वेद-भाष्य (सम्पूर्ण), ५ गोकरुणानिधि।

'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' यद्यपि उन्होंने संस्कृत में लिखी, परन्तु साथ ही साथ हिन्दी अनुवाद सहित छपाई । यह प्राचीन सायण आदि भाष्यकारों के प्रचलित मार्ग से तनिक भिन्न है । यह वास्तव में पण्डितों के लिए नहीं, जन-साधारण के लिए लिखी गई है । इस ग्रन्थ की महत्ता का दिग्दर्शन प्रसिद्ध वेद-विद्वान् मैक्समूलर के इस वचन से होता है—

"हम सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य को जो ऋग्वेद से प्रारम्भ होता है और दयानन्द की ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पर समाप्त होता है, दो विशाल कालों में विभक्त करते हैं। पहिले काल में वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य, तथा दूसरे में शेष सम्पूर्ण उत्तरकालीन साहित्य" ।

Max Muller—India what can it teach us.

यजुर्वेद और ऋग्वेद के भाष्य में नई युक्ति और तर्क के आधार पर वेद-साहित्य का एक नवीन दृष्टिकोण ही उपस्थित किया गया है । 'गोकरुणानिधि' में गो-वध के विरुद्ध अपील की गई है ।

स्वामी जी का कार्यकाल और मृत्यु—

स्वामी जी ने विद्या समाप्ति पर ३९ वर्ष की उम्र में कार्य प्रारम्भ किया । और मृत्यु पर्यन्त ३० वर्ष तक निरन्तर अनवरत परिश्रम करते रहे । उन्होंने छोटे बड़े एक हजार शास्त्रार्थ किए, १० हजार मील पैदल यात्रा की, शेष हजारों मील यात्रा रेल पर की । इन पर २१ बार प्राणघातक वार हुए । इन्होंने ५.६ करोड़ मनुष्यों के कानों को अपने प्रवचनों से पुनीत किया । अन्त में जोधपुर में इन्हें विष दिया गया और सन १८९४ ई० में ६९ वर्ष की आयु में अजमेर में मृत्यु हुई ।

इनके विषय में थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापिका 'मेडम व्लेवेटस्की' ने लिखा था—

'प्रत्येक मनुष्य इस बात के विचार करने पर प्रेरित होता है कि यह विचित्र रूप का हिन्दू एक ऐसी आकर्षित शक्ति रखता है, जो अपनी इन्द्रियों पर पूरा प्रभाव रखता है, अर्थात् पूर्ण जितेन्द्रिय है । यह निश्चय से कहा जाता है कि शंकराचार्य के बाद भारत ने दयानन्द से अधिक विद्वान्, गुणी, आत्मिक सम्बन्धी विद्या में निपुण, अद्वितीय मधुरव्याख्याता, निर्भय और दुराचार के विरुद्ध गर्जने वाला महापुरुष नहीं देखा । वह जहां जाता है जनता उसके पैरों की धूलि चूमने को तैयार हो जाती है । वह जनता को किसी नये धर्म का प्रचार नहीं करता, न कोई नया सिद्धान्त पेश करता है, वह केवल यही कहता है कि अपने पूर्वजों की भाषा जिसे तुम भूल गये हो पुनः जीवित करो, प्राचीन सिद्धान्तों की वर्तमान समय

के सिद्धान्तों के साथ तुलना करके परमात्मा के शुद्ध स्वरूप को पहिचानो। जो हमारे प्राचीन ऋषियों ने जिन्होंने मनुष्यमात्र के लिये वेदों को सबसे पहले प्रकट किया था उसका हमें उपदेश दिया है।

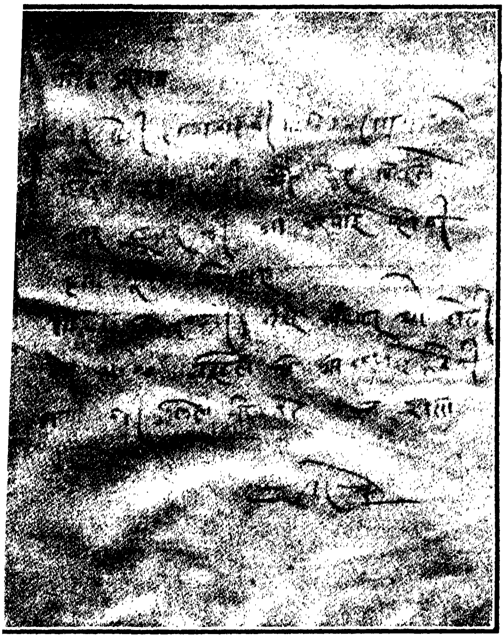
(हिन्दुस्तान के जंगल तथा गुफ़ायें)

आर्य समाज का प्रभाव—

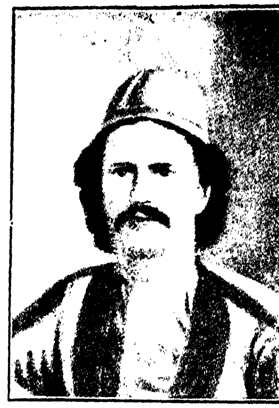
अपने जन्म के बाद ५० वर्षों में आर्यसमाज ने बहुत भारी कार्य किया। नवीन हिन्दूधर्म की आधुनिक जाग्रति का बहुत कुछ श्रेय आर्यसमाज को है। लाखों मनुष्य आर्य समाज के झण्डे के नीचे आए। पंजाब, राजपूताना, युक्तप्रान्त, मध्यदेश और बम्बई में आर्य समाज ने अपना व्यापक प्रभाव प्रकट किया। पंजाब आर्य समाज का सांस्कृतिक केन्द्र हुआ। पंजाबियों ने ही कांगड़े में गुरुकुल स्थापित किया और लाहौर में डी० ए० वी० कॉलेज, तथा जलंधर में कन्या महाविद्यालय। इन तीनों संस्थाओं ने पंजाब ही का नहीं, सम्पूर्ण उत्तर-भारत का ऐसा सांस्कृतिक परिवर्तन किया कि जिसका कोई मूल्य ही नहीं आंका जा सकता। सनातनधर्मी हिन्दुओं ने आर्यसमाज ही से प्रभावित होकर भारत-धर्म-महामण्डल की स्थापना की जिसके कारण संस्कृत और हिन्दी-साहित्य का बेहद प्रसार हुआ। आर्यसमाज ही ने तर्क, व्याख्यान और उपदेशों के द्वारा सर्वसाधारण को ज्ञान दान करने की रीति चलाई, जिससे केवल हिन्दी वक्तृता देने की शक्ति ही लोगों में न उत्पन्न हुई, प्रत्युत् हिन्दी भाषा की गद्य शैली में व्यञ्जनाशक्ति बहुत बढ़ गई।

मुद्रित साहित्य—

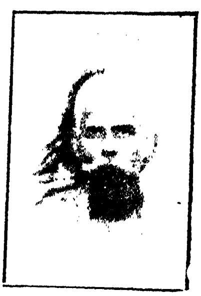
(१) सत्यार्थ प्रकाश (२) आर्याभिविनय (३) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (४) भ्रान्ति निवारण (५) गो करुणानिधि (६) कुछ दिनचर्या (७) स्वरचित जीवन चरित्र (८) आर्य गौरव (९) धर्म सुधाकर।



भारतेन्दु का हस्तलेख



हिन्दी के युग निर्माता
भारतेन्दु हरिश्चंद्र



पं० केशवराम भट्ट



पं० बदरीनारायण चौधरी उपाध्याय



पं० बालकृष्ण भट्ट



जा रामपालसिंह,कालाकांकर



डा० महेन्दुलाल गर्ग



पं० चन्द्रशेखर शास्त्री

पंचम खण्ड

भारतेन्दु-युग

ईस्वी सन १८६७ से १८८८ तक=२१ वर्ष

अध्याय पहला

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म ई० स० १८५१, मृत्यु १८८५ ई०, पूर्णायु ३४ वर्ष

भारतेन्दु की प्रतिभा का भाषा पर प्रभाव—

जब भारतेन्दु अपनी समर्थ प्रतिभा को लेकर साहित्य-रंगमंच पर आए, तब उनके आसपास के हिन्दी धुरीण बहुत कुछ काम कर रहे थे जिनमें राजा शिवप्रसाद, नवीनचन्द्रराय, स्वामी दयानन्द, श्रद्धाराम फिल्लौरी और राजा लक्ष्मणसिंह के कार्यों की चर्चा हम पीछे कर आए हैं। ऐसे समय में हरिश्चन्द्र की प्रतिभा का प्रभाव हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों ही पर खूब गहरा पड़ा। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता की परवाह करने वाले आदमी न थे। वे परिमार्जित और परिष्कृत भाषा से ही सांस्कृतिक आशा करते थे। उन्होंने हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा को परिमार्जित किया। उसे चलता हुआ, मधुर और स्वच्छ रूप दिया। उन्हों ने हिन्दी साहित्य को एक उन्नत, सभ्य और स्वतन्त्र भाषा के रूप में सजा कर लोगों के सामने खड़ा कर दिया। उनके भाषा-संस्कार की सब ने सराहना की और उन्हें आधुनिक 'गद्य का जन्मदाता' स्वीकार कर लिया गया।

भारतेन्दु की भाषा—

मु० सदासुखलाल की भाषा में पण्डिताऊपन था, लल्लूजीलाल की भाषा में व्रजभाषापन और सदल मिश्र की भाषा में पूर्बीपन था। राजा शिवप्रसाद उर्दूपन को लिये थे और राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा में प्रान्तीयता का पुट था। स्वामी दयानन्द, श्रद्धाराम, फिल्लौरी, राजा राममोहनराय और नवीन बाबू का विषय समाज-सुधार और धर्म-प्रचार था। यही हालत ईसाई साहित्य की भी थी। तत्कालीन अन्य पुस्तकें और पत्र भी उसी भाषा की पद्धति पर थे जिनका भाषा-

संस्कार और साहित्य-भावना का दृष्टिकोण गौण था। भारतेन्दु ने सर्वप्रथम विशुद्ध साहित्य की भावना से भाषा-संस्कार करके हमारे सामने रखा। उनकी कला के साथ ही भाषा का शिष्ट निखरा हुआ रूप प्रकट हो गया। गद्य की भांति उन्हों ने खड़ी बोली के पद्य को भी खूब परिमार्जित किया। व्रजभाषा की रचना में भी उन्होंने भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों में नवीन संस्कार और नवचेतना की भावना का पुट डाल दिया।

उन्होंने बड़ी चतुराई से भाषा में मध्यम मार्ग का निर्वाह किया। उर्दू के तत्सम शब्दों का व्यवहार लगभग नहीं ही किया। अरबी, फ़ारसी के केवल चलते शब्द लिये। 'लोहू', 'कफ़न', 'खज़ाना' इन शब्दों में नीचे नुक्ता लगाने की उन्होंने परवाह नहीं की। ये शब्द इस कारण विकृत हो गये और उनका तत्सम स्वरूप नहीं रहा, पर इससे उनकी हिन्दी बिगड़ी नहीं। 'जंगल', 'मुर्दा', 'मालूम', 'हाल' जैसे चलते शब्दों को उन्होंने अपनी ही भाषा का अंग बना डाला। संस्कृत शब्दों के तद्भव रूपों का मोहक प्रयोग कर डाला। वे न तो भद्दे प्रतीत होते थे न उनके प्रयोगों में दिक़्क़त ही होती थी। 'भले मानस' 'हिया' 'गुनी' 'आपुस' 'लच्छन' 'जोतिसी' 'आंचल' 'जोवन' 'अगनित' 'अचरज' आदि शब्द बच्चों की प्यारभरी तोतली बोली की भांति श्रुतिमधुर हो उठे। यह उनके प्रयोग की खूबी थी जिसमें कहीं भी शिथिलता नहीं आ पाती थी। भाषा अनूठे ढंग पर मधुर और उत्तेजक हो उठी थी। इन शब्दों को इतने चलते ढंग से प्रयोग किया गया था कि इनकी नवीनता का पता ही नहीं चलता था। लोकोक्ति और मुहाविरे, जिन से भाषा में चमक उत्पन्न होती है उनकी भाषा में .खूब थे। 'गूंगे का गुड़' 'मुंह देखकर जीना' 'बैरी की छाती ठण्डी होना' 'अंधे की लकड़ी' 'कान न दिया जाना' 'झख मारना' इत्यादि मुहाविरों का प्रयोग ऐसा प्रिय था कि कहा नहीं जा सकता। इन लोकोक्तियों से भाव-व्यञ्जना में जो सरलता उत्पन्न हो गई थी उसने उनकी भाषा को जीवन प्रदान कर दिया था। तारीफ़ यह थी कि कहीं भी उनकी लोकोक्तियों में अभद्रता नहीं आ पाई थी। जहां भी इन लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ, शिष्ट रूप में परिमार्जित पद्धति पर।

थोड़ा सा पण्डिताऊपन जो जहां तहां इनकी भाषा में है, उसका पता भी नहीं लग पाता। भई (हुई) करके (कर) होई (होही) 'सुनैं' 'करे' आदि ऐसे शब्द थे, जो पण्डिताऊ भाषा के थे, या अवधी और व्रजभाषापन की झलक लिए थे, परन्तु भाषा के उस निर्माणकाल में यह दोष दोष नहीं था। इसी प्रकार व्याकरण सम्बन्धी कुछ भूलें भी थीं। जैसे विद्यानुरागिता (विद्या अनुराग के लिए) श्यामताई (श्यामता) पुल्लिङ्ग में। अधीरजपना (अधीरपना), कृपा किया है (कृपा की है), नाना देश में (नाना देशों में) इत्यादि। परन्तु उस काल में हिन्दी व्याकरण

का निर्माण भी नहीं हुआ था। फिर वे भाषा के निर्माता थे। यह काम—भाषा का पूर्णरूप से परिमार्जन तो पीछे महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ही किया।

व्यापक दृष्टि—

भारतेन्दु की साहित्य-निर्माण में बड़ी व्यापक दृष्टि थी। अभी हिन्दी भाषा साहित्य के अनेक अङ्गों का विकास भी नहीं हो पाया था। पर उन्हें उन सब अङ्गों का कुछ न कुछ मसाला एकत्र करना था। उन्होंने ही हिन्दी गद्य में मानव-जीवन से सब प्रकार सम्बन्धित भावों का समावेश किया। अभी तक जो लिखने वाले थे वे गम्भीर मुद्रा में बोलते थे। परन्तु हास्य-विनोद का और मनोरंजक साहित्य का निर्माण समाज के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना गम्भीर साहित्य का, इस पर उन्हीं ने विचार किया। उन्होंने बड़ी चतुराई से हिन्दी गद्य में हास्य और व्यंग का पुट दिया। इस से भाषा पल्लवित हो उठी और लोगों की साहित्य-क्षुधा जाग्रत हो गई। हास्य-साहित्य के विचार से उन्होंने 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' जैसे लेखों का प्रकाशन किया। इसी संग्रह में इन्होंने अपने एक 'गगनगत अविद्या वरुणालय' की स्थापना की। इस अविद्या वरुणालय की नियमावली सुनाते २ आप कहते हैं—

"अब आप सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने २ लड़कों को भेजें, और व्यय आदि की कुछ चिन्ता न करें, क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं, और दिया भी तो अभी दस पांच वर्ष पीछे देखा जायगा, यदि इनको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बंधान बांध देंगे। नहीं यह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला सम्बन्धी द्रव्य हो उसका वे मिलकर 'नास' लिया करें। अब रहे केवल पाठशाला के नियत किये हुए नियम, सो आपको जल्द सुनाए देता हूं। शेष स्त्री शिक्षा का जो विचार था वह आज रात को हम घर पूछ लें तब कहेंगे"।

इस उद्धरण में यह बात खास तौर पर पाई जाती है कि विषय का प्रभाव भाषा पर पड़ता है।

नाटक-रचना-प्रणाली पर भारतेन्दु का कहना है—

'मनुष्य लोगों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है हम लोगों के हृदयस्थ भाव भी उसी रूप में अप्रत्यक्ष हैं, केवल बुद्धि वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत के कतिपय बाह्य कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवत्त होना पड़ता है। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झक मारना है'।

इस उद्धरण में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग और तद्भव शब्दों का अभाव आप अनायास ही पा सकते हैं। साथ ही वाक्य-रचना भी दुरूहता से मुक्त नहीं है। अब इस भाषा से इस भाषा का मुकाबिला कीजिए—

"संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है, कोई नेमधर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मतमतान्तर के झगड़े का मतवाला हो रहा है। हर एक दूसरे को दोष देता है अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार को ही सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है, कोई परमार्थ को ही परम पुरुषार्थ मानकर घर बार तृण सा छोड़ देता है, अपने २ रंग में सब रंगे हैं। जिसने जो सिद्धान्त कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है, और उसी के खण्डन मण्डन में वह जन्म बिताता है।"

अब आप देख सकते हैं कि इस भाषा में जो परिमार्जित शैली और व्यवस्थित रूप है वह पहले उद्धरण में नहीं है। उस उद्धरण की भाषा बनावटी सी दीख पड़ती है। उसमें उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलम्ब नहीं लिया जो कि पिछले उद्धरण में दीख पड़ता है।

भाव शैली का विकास—

भाव-शैली का विकास भी भारतेन्दु की भाषा की एक खास वस्तु है। उसी के बल पर उन्होंने जनता की रुचि को उर्दू की ओर से हटा कर हिन्दी की ओर प्रेरित किया। मार्के की बात यह कि उन्होंने मध्यम मार्ग अवलम्बन करके किसी भाषा का तिरस्कार नहीं किया। उन्होंने परिमार्जित करके दूसरे की वस्तु को अपनी बना लिया जिसकी उनमें काफी सामर्थ्य थी। उन्होंने हिन्दी गद्य की जो पुष्ट नींव डाली, उससे राजा शिवप्रसाद की उर्दू मिश्रित हिन्दी का आश्रय छोड़ लोग उसी नींव पर साहित्य-भवन निर्माण करने लगे। और अब हिन्दी में जीवन और ज्योति दिखाई पड़ने लगी। इसमें सन्देह नहीं कि वे अपनी भाषा-शैली पर आलोचनात्मक दृष्टिपात न कर सके, इसका उन्हें समय ही कहां मिला? उनकी दृष्टि एक ही समय में बहुत विषयों पर थी। फिर उनके सामने अच्छे आदर्श उपस्थित न थे। ऐसी अवस्था में जिन विषयों का अभी उन्हें प्रारम्भ करना था उन विषयों की उपयुक्त भाषा पर वे भाषाविद् की भांति ध्यान नहीं दे सकते थे।

गद्य-शैली—

भारतेन्दु की गद्य-शैली एक नवीन वस्तु थी। उनके जीवनकाल ही में अनेक लेखकों ने कलम उठाई थी और भूगोल, इतिहास, वेदान्त, विज्ञान आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ निर्माण होने लगे थे। पत्र पत्रिकाएं भी प्रकाशित होने लगी थीं। उत्तर-भारत में हिन्दी का प्रचार दिन २ बढ़ रहा था। भावप्रकाशन में शब्दों की कमी दिन २ दूर होती जाती थी। किसी भी विषय और ज्ञान विशेष पर लिखते समय भाव व्यंजना में ऐसी कोई अड़चन नहीं उत्पन्न होती थी जिस का दोष भाषा की निर्बलता को दिया जा सके। भारतेन्दु ने भाषा का जो स्वरूप

स्थिर कर दिया था, उसी पर उस काल के साहित्यधुरीण चल निकले थे। ज्ञान का उदय हो चुका था। उस में भाषापथ साफ़ दीख रहा था। उसी पर अनेक मेधावी जन आगे बढ़ चले। पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० बदरीनारायण चौधरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवासदास, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि उनमें प्रमुख थे। इनमें अधिकांश कोई न कोई पत्रिका का संपादन करते थे। इन पत्र-पत्रिकाओं और उनके प्रतिभाशाली लेखकों और सम्पादकों की रचनाओं के कारण भाषा में सजीवता और प्रौढ़ता आने लगी थी। उनमें से किसी न किसी ने एक ख़ास शैली में महत्व प्राप्त किया था। निबन्ध-रचना का स्वच्छ और परिष्कृत रूप बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने व्यक्त किया। यद्यपि इन निबन्धों में अभी वैयक्तिक अनुभूति की व्यञ्जना का प्रभाव था पर इस आरम्भिक काल में यह कम न था।

शिक्षित जनता का साहचर्य—

भारतेन्दु के इस सतत उद्योग से ही हिन्दी साहित्य का शिक्षित जनता से साहचर्य हुआ। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल गई थी। उनके मन में देशभक्ति समाजसुधार आदि की नई २ बातें आने लगी थीं। उनके भाव और विचार तो काल की गति के साथ आगे बढ़ चले थे, पर साहित्य पीछे ही घिसट रहा था। भक्ति और शृङ्गार की कविता का पुराना ढर्रा चल रहा था, बीच में कुछ पुस्तकें शिक्षा सम्बन्धी निकलती जाती अवश्य थीं, परन्तु देश की जाग्रत भूख के सामने साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न नहीं हुआ था। बंगाल में नए ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था। जिनमें देश की नवीन आकुलता की व्यंजनाएं फूट २ कर बह रही थीं, पर हिन्दी साहित्य अभी पुराने मार्ग ही पर पड़ा था। ऐसी दशा में भारतेन्दु ने ही उसे दूसरी ओर मोड़ कर जीवन के साथ लगा दिया और जीवन और साहित्य के बीच जो व्यवधान था उसे दूर कर दिया।

जन्म और वंश—

बंगाल की नवाबशाही की समाप्ति पर क्लाइव के विख्यात साथी सेठ अमीरचन्द के दोनों पुत्र राय रतनचन्द बहादुर और शाह फ़तहचन्द काशी आ बसे थे। शाह फ़तहचन्द के पौत्र बा० हरखचन्द ने अपने अथक उद्योग से असंख्य सम्पत्ति कमाई थी। और सत्कार्यों में व्यय करके प्रतिष्ठा भी प्राप्त की थी। इनके पुत्र बा० गोपालचन्द हुए जिन्होंने अल्पायु ही में पौराणिक आधार पर हिन्दी में ४० ग्रन्थ लिखे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इन्हीं के सुपुत्र थे।

प्रतिभा—

इन्होंने ५ वर्ष की ही अवस्था में यह दोहा लिखकर अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया।

लै ब्योंडा ठाड़े भए, श्री अनिरुद्ध सुजान।
वानासुर की सैन्य कों, हनन लगे बलवान॥

एक बार इनके पिता तर्पण कर रहे थे। इन्होंने पूछा—बाबू जी, पानी में पानी मिलाने से क्या लाभ? केवल ६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'करत चहत जस चारु, कछु कछुआ भगवान को' इस पद का चमत्कारिक अर्थ किया था। बचपन में काफ़ी उपद्रव करते थे। १० वर्ष की अवस्था ही में माता-पिता के स्वर्गवास होने पर ये उनकी लाखों की सम्पत्ति के स्वामी हुए। इनके हिन्दी अंग्रेज़ी और फ़ारसी के प्रथम शिक्षक ईश्वरदत्त तिवारी, मौलवी ताजअली और बाबू नंदकिशोर थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के मकान पर एक स्कूल था, उसमें भी आप कुछ दिन पढ़े। इसीसे आप की राजा साहेब में गुरुभावना थी। काव्यगुरु इनके लोकनाथ थे।

विवाह—

१४ वर्ष की अवस्था में बाबू गुलाबराय की कन्या मन्नोदेवी से आपका विवाह हुआ और इन्होंने इसी समय में भारत के प्रमुख भागों का पर्यटन कर डाला।

देशप्रेम और भाषा प्रेम—

अपने अद्वितीय स्वदेशानुराग और स्वदेश-भाषा-प्रेम का परिचय ये अल्पकाल ही से देते रहे। १८६७ ई० में इन्होंने एक चौखम्बा स्कूल क़ायम किया, जिसमें बिना फ़ीस बालकों को शिक्षा और असमर्थों को भोजन, पुस्तकें आदि दी जाती थीं। यह स्कूल १२ वर्ष तक उन्होंने अपने ही ख़र्चे से चलाया। अब यह हरिश्चन्द्र हाई स्कूल के नाम से चल रहा है। सन १८६९ में इन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक मासिक-पत्रिका निकाली।

पीछे सन १८७१ में 'कवितावर्द्धिनी' नामक एक सभा स्थापित की। जिसमें प्रसिद्ध कवि सर्दार, सेवक, बाबा दीनदयाल गिरि, नारायण कवि, द्विज कवि आदि उपस्थित होते थे। सन १८८० में इन्होंने एक 'तदीय समाज' स्थापित की। और वहां से भवगद्भक्ति नामक एक मासिक-पत्रिका भी प्रकाशित की। इसी सन में इन्होंने 'पेनी रीडिङ्ग क्लब' स्थापित किया। जिसमें साहित्यवर्द्धन के साथ २ मनोरंजन, अभिनय और हास्य का काफ़ी मिश्रण रहता था।

साहित्य सेवा—

पहले यह केवल गद्य ही लिखते थे पर पीछे पद्य लिखने लगे। अपनी केवल ३५ वर्ष की अल्पायु में, इन्होंने १८ वर्ष की आयु से साहित्य-रचना प्रारम्भ की; और केवल १७ ही वर्ष लेखनी चला पाये। इस १७ वर्ष के अल्पकाल में इन्होंने १७५ ग्रन्थ लिखे और ७५ ग्रन्थ सम्पादित और संगृहीत किये और उत्साह देकर बनवाये। इन्होंने अपनी समस्त रचनाओं के प्रकाशन का अधिकार खड्ग-विलास प्रेस के मालिक बाबू रामदीनसिंह को दे दिया था, जिन्होंने इनके प्रमुख ग्रन्थों को हरिश्चन्द्र कला के नाम से ६ भागों में प्रकाशित किया।

हरिश्चन्द्र कला; प्रथम भाग—

(नाटकावली) १ 'नाटक' ४६ पृष्ठों का निबन्ध नाट्य-साहित्य पर है। रचनाकाल १८८४ ई०। २ 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक स० १८७६ ई० में बना। यह आर्य क्षेमेश्वर-कृत 'चंडकौशिक' के आशय पर बनाया गया था, परन्तु उसका अनुवाद नहीं है। यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, और भारतेन्दु की उत्कृष्ट रचनाओं में इसकी गणना है। इसका काफ़ी प्रचार हुआ। ३ 'मुद्राराक्षस' विशाखदत्त कृत संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। यह अनुवाद इतना प्रशस्त है कि किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ से कम आनन्ददायक नहीं है। ४ 'धनञ्जय-विजय' कांचनकृत संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। इसमें गद्य का गद्य और पद्य का पद्य में अनुवाद है। यह भी स्वतन्त्र ग्रन्थ की भांति मनोहर है। ५ 'कर्पूरमंजरी' को राजशेखर कवि ने प्राकृत में बनाया था। उसी का यह ३२ पृष्ठों का अनुवाद है। इसमें एक प्रेम की कहानी वर्णित है। हास्य का भाग विशेष है। ६ 'चंद्रावली-नाटिका' ख़ास इन्हीं की कृति है। इसमें किसी ग्रंथ का अनुवाद या छाया नहीं है। इसका समर्पण बहुत ही अच्छा है—

भरित नेह नव-नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब-घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

इनका यह दोहा बहुत अच्छा था, और इनकी बहुत सी रचनाओं में बंदना के स्थान पर लिखा गया है। इस नाटिका में चन्द्रावली का प्रेम वर्णित है, और ग्रन्थ आद्योपांत प्रेमालाप से परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ में शुकदेव जी, नारद, चंद्रावली के प्रेम छिपाने, प्रेमोन्मत्तता, यमुना और योगिनी के वर्णन बड़े ही हृदयग्राही बन पड़े हैं। वास्तव में ये दोनों ग्रन्थ इनकी रचना और भाषा-साहित्य के शृंगार हैं। ७ 'विद्यासुंदर' की कथा का वर्णन चौर कवि ने संस्कृत की चौर-पंचाशिका में किया था। उसके आधार पर श्रीयुक्त यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने बंगला में विद्या-सुन्दर नामक नाटक बनाया। उसी ग्रन्थ का अनुवाद भारतेन्दु ने किया।

इसकी भाषा मधुर और छन्द बड़े ही मनोहारी हैं। उदाहरण स्वरूप एक छन्द देखिए—

हम हूं सब जानतीं लोक कि चालन क्यों इतनो बतरावती हौ।
हित जामैं हमारो बनै सो करौ, सखियां तुम मेरी कहावती हौ।
'हरिचंद जू' यामैं न लाभ कछू, हमैं बातन क्यों बहरावती हौ।
सजनी, मन हाथ हमारे नहीं, तुम कौन को का समुझावती हौ ?

८ 'भारत-जननी' नाटक किसी अन्य कवि ने 'भारत-माता' नामक बंगला नाटक से अनुवादित किया था। इसे आपने शोध कर प्रकाशित किया। ९ 'भारत-दुर्दशा' इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें भारत की वर्तमान दुर्दशा एवं उसके कारणों का बड़ा ही सजीव चित्र खींचा गया है। १० 'नीलदेवी' एक जातीयता-पूर्ण नाटक है। इसमें अमीर अब्दुलशरीफ़खां का महाराजा सूर्यदेव के देश पर धावा करने का वर्णन है। ११ 'माधुरी' १२ 'पाखंड-विडंबन' १३ 'अंधेरनगरी' (प्रहसन) १४ 'वैदिकी हिंसाहिंसा न भवति' (प्रहसन) १५ 'विषस्य विषमौषधम्' १६ 'दुर्लभबंधु' शेक्सपियर कृत (मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस) का अनुवाद, १७ 'सतीप्रताप' (अपूर्वनाटक) १८ 'रत्नावली' अपूर्ण १९ 'प्रेमयोगिनी' अपूर्ण इत्यादि बड़े ही अनूठे एवं मनोहर नाटक हैं।

दूसरा भाग—

नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु में इतिहास-प्रेम भी कुछ कम नहीं था। आपने इतिहास सम्बन्धी भी अनेक छोटी २ पुस्तकें रचीं। कुछ के नाम नीचे लिखे जाते हैं—

१ 'काश्मीरकुसुम, (३५पृष्ठ) २ महाराष्ट्र देश का इतिहास, (६पृष्ठ), ३ रामायण सम्बन्धी लेख (१० पृष्ठ) ४ 'अगरवालों की उत्पत्ति' (७ पृष्ठ) ५ 'खत्रियों की उत्पत्ति' (१४ पृष्ट) ६ 'बादशाहदर्पण' (२२पृष्ठ) ७ 'उदयपुरोदय' (२७पृष्ठ) ८ 'पुरावृत्तसंग्रह' (४६ पृष्ठ) ९ 'चरितावली' (९० पृष्ठ) १० 'पंचपवित्रात्मा' (२२ पृष्ठ) ११ 'दिल्ली-दरबार-दर्पण' (२५पृष्ठ) १२ 'काल-चक्र' २० पृष्ठ इत्यादि।

हरिश्चन्द्र कला के शेष भाग—

इन भागों में विविध विषय हैं। भक्ति-काव्य आदि का ही विस्तार है। 'भक्तमाल उत्तरार्ध' ऐसे कौशल से लिखा है कि जाना नहीं जाता कि किसी दूसरे की रचना है।

भारतेन्दु साहित्य—

भारतेन्दु अपने समय के प्रतिनिधि कवि रहे। हिन्दी साहित्य में जिस बात की कमी तथा आवश्यकता थी उसे इन्होंने पूरा किया। इनको सदैव हिन्दुत्व

और जातीयता का ध्यान रहता था । इनमें स्वदेशाभिमान तो कूट कूट कर भरा था। हिन्दुस्तान के विषय में इन्होंने बहुत ही प्रेम से गद्गद् होकर रचना की। हास्य के ग्रन्थों तक में इन्होंने देश-हित का चित्र नहीं भुलाया । नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा' इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। इनकी कविता में हास्य की मात्रा भी अधिक रहती थी। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर नगरी' तो मानो इसके रूप हैं । इनके नाटकों में भाषा के बल की मात्रा बहुत अधिक है । 'नीलदेवी' और 'भारतदुर्दशा' में इसके उदाहरण अधिकता से मिलेंगे । इनमें विविध विषयों का यथावत् प्रकार से वर्णन करने की शक्ति बहुत प्रबल थी। इनके प्राकृतिक वर्णन बड़े ही उत्कृष्ट हैं। इन्होंने रूपकों का समावेश भी विशेषरूप से किया है। उदाहरण-स्वरूप 'चंद्रावली-नाटिका में योगिनी और वियोगिनी का रूपक देखने योग्य है।

रसों में इन्होंने ९ पुराने रसों के अतिरिक्त वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनंद नाम के चार नए रस माने हैं। जिन को कुछ पण्डितों ने भी प्रामाणिक समझा है। इनके समय तक हिन्दी भाषा में उपन्यास प्रायः नहीं लिखे गये थे । अतः इन्होंने लोगों को उपन्यास लिखने के लिए प्रोत्साहित किया । स्वयं भी दो उपन्यास लिखने आरंभ किए थे, परन्तु वे अपूर्ण ही रह गए। उनके नाम हैं 'एक कहानी कुछ आप-बीती कुछ जग-बीती' और 'हम्मीर-हठ' ।

इन्होंने राजनीतिक और सामाजिक सुधारों पर भी बहुत कुछ लिखा है, जो स्थान २ पर इनके ग्रंथों में देखा जाता है। और 'भारत-दुर्दशा' नाटक में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

इन्होंने पद्य में व्रज-भाषा और गद्य में खड़ी बोली का विशेष उपयोग किया है । तो भी उर्दू, खड़ी बोली, व्रज-भाषा, मारवाड़ी, गुजराती, बंगला, पंजाबी, मराठी, राजपूतानी, बनारसी, अवधी आदि सभी भाषाओं में काव्य-रचना की है जो प्रायः सरस है।

भारतेन्दु के पहले हिन्दी में नाटकों का अभाव था, और स्वतंत्र नाटक का उत्कृष्ट ग्रंथ एक भी न था। इन्होंने इस कमी को पूरा करने का पूरा प्रयत्न किया, और एक-एक कर के ५८ नाटक बनाए, जिन में से—कहा जाता है, दो इनके नहीं हैं। इनमें से ९ नाटक इन की मौलिक कृति हैं, और शेष संस्कृत आदि से अनुवादित । एक अंग्रेजी का भी अनुवाद है। उनके अनुवाद मूलग्रंथ से कम आनन्ददायक नहीं हैं।

इनके स्वतंत्र नाटकों में 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', और 'नीलदेवी' उत्तम हैं। 'भारत-दुर्दशा' और 'प्रेमयोगनी' भी अपने ढंग के अपूर्व नाटक हैं।

'सतीप्रताप' में हिन्दू स्त्री-धर्म का आदर्श प्रकट किया है । 'अंधेर नगरी' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन हैं ।

भारतेन्दु की रचना का उदाहरण—गद्य—

(१) "अहा ! स्थिरता किसी को भी नहीं है, जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनी-वल्लभ और लौकिक तथा वैदिक, दोनों कर्मों का प्रवर्तक था, जो दोपहर तक अपना प्रचण्ड प्रताप क्षण क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगण का दीपक और काल सर्प की शिखामणि था, वह इस समय पर कटे गिद्ध की भांति अपना सब तेज गंवाकर, देखो समुद्र में गिरा चाहता है" ।

(सत्यहरिश्चन्द्र)

(२) "झपटिया—कहो मिसर जी, तोरी नींद नाहीं खुलती, देखो संखनाद होय गवा, मुखिया जी खोजत रहे ।

मिश्र—चले तौ आहत्थै, आधियै राति के संखनाद होय, तौ हम का करैं ? तोरे तरह से हमहूँ के घर में से निकसि के मंदिर में घुसना आवना होता, तो हमहूँ जल्दी आवते । हियां तौ दारा नगर से आवना पड़त है । अबहीं सुरजौ नाहीं उगे ।

झपटिया—का हो जगेसर ! ई नाहीं कि जब संखनाद होय; तब झटपट अपने काम में पहुँचि जावा करौ ।

जलधरिया—अरे चल्ले तौ आवत्थई, का भहराय पड़ी । का सुत्तल थारे रहली ? हमहूँ झापट कंधे पर रख कै यहर-ओहर घूमैं के होतै तब न ! हियां तो गगरा ढोवत-ढोवत कंधा छिल जाथा ।" (प्रेम योगिनी)

"राजा (आश्चर्य से) अहाहा, जैसे रूपका ख़ज़ाना खुल गया, नेत्र कृतार्थ हो गये । यह रूप; यह जोबन, यह चितवन, यह भोलापन कुछ कहा नहीं जाता । मालूम होता है यह नहाकर बाल सुखा रही थी उसी समय पकड़ आई है ।.........

इसके कपड़ा से जो पानी की बूंदें टपकती हैं वे ऐसी मालूम होती हैं मानो भावी वियोग के भय से वस्त्र रोते हैं । काजल आंखों से धो जाने से नेत्र कैसे सुहावने हो रहे हैं, और बहुत देर तक पानी में रहने से कुछ लाल भी हो गये हैं ।......और योग बल से, खिंच आने से जो कुछ डर गई है, इससे और भी चौकन्नी हो होकर भूले हुए मृगछौने की भांति अपने चंचल नेत्र नचाती है" । (कर्पूर मंजरी)

"प्यारे, क्या लिखूँ । तुम बड़े दुष्ट हो, चलौ भला सब अपनी वीरता हमी पर दिखानी थी, हां भला मैंने तो लोक, वेद, अपना बिराना सब छोड़ के तुम्हें पाया, तुमने हमें छोड़ के क्या पाया ? और जो धर्म उपदेश करो, तो धर्म से फल होता है, फल से धर्म नहीं होता । निर्लज्ज, लाज भी नहीं आती ।

मुंह ढको, फिर भी बोलन बिना दबे जात हौ! चलो बाह। अच्छी प्रीति निबाही। जो हो, तुम जानते ही हौ, हाय कभी न करूँगी। यों ही सही, अंत मरना है। मैंने अपनी ओर से खबर दे दी। अब मेरा दोष नहीं, बस।

(चन्द्रावली)

'हाय, अब भी भारत की यह दुर्दशा ? अरे, अब क्या चिता पर सम्हलेगा ? भारत भाई, उठो, देखो, अब यह दुःख नहीं सहा जाता। अरे, कब तक बेसुध पड़े रहोगे ? उठो, देखो तुम्हारी संतानों का नाश हो गया। छिन्न भिन्न होकर सब नरक की यातना भोगते हैं। उस पर भी नहीं चेतते। हाय मुझ से तो अब यह दशा नहीं देखी जाती। प्यारे! जागो (जगाकर और नाड़ी देखकर) हाय, इसे तो बड़ा ही ज्वर चढ़ा है, किसी तरह होश में नहीं तआ—हा भारत! तेरी क्या दशा हो गई।'

(भारत दुर्दशा)

गद्य की भांति पद्य भी विविध भाषा और व्यंजनाओं से ओतप्रोत है—

मदवा पीलै पागल, जोबन बीत्यो जात।
बिनु मद जगत सार कछु नाहीं, मानु हमारी बात।
पी प्याला छक छक आनन्द सौं, नितहिं सांझ अरु प्रात।
झूमत चलु डगमगी चाल से मारि लाज को लात।
हाथी मच्छर, सूरज जुगनू जाके पिए लगात।
ऐसी सिद्धि छोड़ि मन मूरख काहे ठोकर खात।

(भारत दुर्दशा)

सोओ सुखनिंदिया प्यारे ललन।
नैनन के तारे दुलारे मेरे वारे, सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन।
भइ आधीरात, बन सनसनात, पसु पंछी कोऊ आवत न जात।
जगप्रकृति भई मनुथिर लखात, पातहु नहिं पावत तरु न हिलन।
झलमलत दीप सिर धुनत आय, मनु प्रिय पतंग हित करत हाय।
सतरात बैन आलस जनाय, सनसन लगि सीरी पवन चलन।
सोए निसि के सब नींद घोर, जागत कामी चिंतित चकोर।
विरहिनि, विरही, पाहरू, चोर, इनकहँ छिन रैनिहु हाय कलन।

(नीलदेवी)

चूरन अमल बेद का भारी। जिसको खाते कृष्णमुरारी।
मेरा पाचक है पचलोना, जिसको खाते स्याम सलोना।
हिन्दु चूरन इसका नाम, विलायत पूरन इसका काम।
चूरन ऐसा हट्टाकट्टा, कीना दांत सभी का खट्टा।
चूरन अमले सब जो खावें, दूनी रिश्वत तुरत पचावें।
चूरन नाटक वाले खाते, इसकी नकल पचाकर लाते।

चूरन सभी महाजन खाते, जिस से जमा हजम कर जाते।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल अजीर्ण रोग।

(अंधेरनगरी)

देखी तुमरी कासी लोगों, देखी तुमरी कासी।
आधी कासी भांड भंडरिया, बाभन औ सन्यासी।
आधी कासी रंडी मुण्डी, रांड खानगी खासी।
लोग निकम्मे, भंगी गंजड़, लुच्चे बे बिसवासी,
महा आलसी झूठे-सोहदे, बे फिकरे; बदमासी।
मैली गली भरी कतवारन, सड़ी चमारिन पासी,
नीचे नलतें बदबू उबलै, मनो नरक-चौरासी।
फिरैं उचक्का दैदै धक्का, लूटैं माल मवासी,
कैद भए की लाज तनिक नहिं, बेसरमी नंगासी।
साहेब के घर दौरे जावैं, चंदा देइ निकासी,
चढ़े बोखार नाम मन्दिर का सुनतें होंय उदासी।
घर की जोरू लड़के भूखे, बने दास औ दासी,
दाल की मण्डी रण्डी पूजै, मानो इनकी मासी।
आप माल कचरैं छानैं उठि, भोरै कागा वासी,
बाप कि तिथि दिन बाम्हन आगे, धरैं सराऔं बासी।
करि ब्यौहार साख बाँधे मनु, पूरी दौलति दासी,
घालि रुपैया, काढ़ि दिवाला, माल डकारैं ठासी।
काम कथा अमिरित सी पीवैं, समुझैं ताहि बिलासी।
राम नाम मुंह ते नहिं निकसैं, सुनते आवै खांसी।

(प्रेम योगनी)

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति,
बिच बिच छहरत बूंद मध्य मुक्ता मणि मोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै यक इमि आवत,
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत-मिटावत।
सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत,
दरसन, मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत।
कहुं बंधे नवघाट उच्च गिरिवर सम सोहत,
कहुं छतरी कहुं मढ़ी; बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा-पताका,
छहरत घंटा-धुनि धमकत धौंसा, करि साका।
धोवत सुंदरि वदन करत अतिही छवि पावत,
बारिज नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत।
सुंदरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत।
कमल-बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत।

दीठि जहां जहं जाति, रहति तित ही ठहराई।
गंगा छवि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई।

(सत्य हरिश्चन्द्र)

फूलैंगे पलास बन आगि सी लगाय फूर,
कोकिल कुहूसि कल-सबद सुनावैगो।
त्यों ही सखी लोग सबै गावगो धमारि धीर-
हरना अबीर बीर सब हीं उड़ावैगो।
सावधान होहु री वियोगिनी संभारि तन,
अतन तनक ही में ताप न तपावैगो।
धीरज नसावत, बढ़ावत बिरह काम,
कहर मचावत बसंत अब आवैगो।

(कर्पूरमंजरी)

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुं सुहाए।
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज २ सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा।
मनु आतप-वारनतीर को, सिमिटि सबै धाए रहत।
कै हरि-सेवा हित नै रहें, निरखि नैन मन सुख लहत।

(कर्पूरमंजरी)

दुनिया में हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना, पर उठकर कहीं जाना नहीं अच्छा।
बिस्तर पै मिस्ल लोथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा।
सिर भारी चीज़ है, इसे तकलीफ़ हो तो हो।
पर जीभ बेचारी को हिलाना नहीं अच्छा।
फ़ाक़ों से मरिये पर न कोई काम कीजिए।
दुनिया नहीं अच्छी है ज़माना नहीं अच्छा।
सिज़दे से गर बहिश्त मिले, दूर कीजिए।
दोज़ख़ हि सही, सर का झुकाना नहीं अच्छा।
मिल जाय हिन्द ख़ाक में, हम काहिलों को क्या।
ए मीरेफ़र्श रंज उठाना नहीं अच्छा।

(भारतदुर्दशा)

यह माया हरि की कलवारिनि, मद पियाय राखा बौराई।
एक पड़ा भुइयां मां लौटे, दूसर कहै चोखि दे भाई।
ऐसा है कोई हरिजन मोदी, तन की तपत बुझावेगा।
पूरन प्याला पिये हरी का, फेर जनम नहिं पावेगा।

तिल-भरि-मछरी खाइवों, कोटिगऊ को दान।
ते नर सीधे जात हैं, सुर पुर बैठि विमान॥
कलवारिनि मदमाती काम कलोल, भरि भरि देति पियलवा महा ठठोल।

व्यक्तित्व—

भारतेन्दु का व्यक्तित्व अद्भुत था। बात २ में जिन्दादिली टपकती थी। ताश और शतरंज के चंट खिलाड़ी, गाने बजाने, नक़ल करने, अभिनय करने में और हास्य व्यङ्ग में पक्के उस्ताद, कबूतर उड़ाने के शौकीन, दाता और उदार, बात के धनी और तबियत के पूरे मस्तराम थे। बुढ़वा मंगल के मेले पर पूरा उत्सव करते, होली पर खूब हुड़दङ्ग मचाते, एक मोटा लकड़ी का कुन्दा कमर में बांध कबीर गाते गली गली घूमते थे। एप्रलफूल बनाने में भी न चूकते। एक बार महाराज विजयानगरम् को ही चकमा दे बैठे। बहुत बार बहुत करिश्मे दिखाते और लोगों को हंसाते थे। दिवाली पर इत्र के चिराग जलाते, मालिश में तो सदैव ही इत्र काम में आता था। एक बार महाराज बनारस ने यों धन फूंकते देख इनसे कहा था—बबुआ, इस तरह बाप-दादों के धन को न फूँको, तो चट आपने कहा—महाराज, इसने मेरे बापदादों को फूँक डाला अब मैं इसे फूँक डालूँगा। इन्होंने अपने अल्प जीवन में ही सब पैत्रिक सम्पत्ति ख़त्म कर दी। ये अपनी ननिहाल की भी लाखों की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी थे, पर इनका उड़ाऊपन देख इनकी नानी ने इनके छोटे भाई के नाम हिबेनामा लिख दिया। पर बिना इनकी स्वीकृति के वह क़ानूनी तौर पर जायज न था। परन्तु इन्होंने बिना संकोच नानी के कहने से उस पर हस्ताक्षर कर दिए। और अपने हिस्से के २।, २॥ लाख रुपयों पर लात मार दी। इनके पास बढ़िया वस्त्र, फ़ोटो, और खिलौनों का बहुत संग्रह था। कई बहुमूल्य शाही चित्र भी इनके पास थे जो एक बार धुन में आकर एक प्रशंसक को दे डाले। बाद में ५००) देते रहे, पर उसने नहीं दिए। अपने स्वभाव का वर्णन उन्होंने स्वयं एक छन्द में किया है।

सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चितहित गुनगानी के।
सीधेनसों सीधे, महाबांके हम बांकेन सों,
'हरीचन्द' नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिबे की चाह, काहू कीन परवाह, नेही,
नेह के दिवाने सदा सूरत निमानी के।
सरबस रसिक के, दास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के।

स्वर्गीय बा० ठाकुरप्रसाद खत्री इनके अन्तरंग मित्र थे। ये मद्यपान भी करते थे। केवल ३५ वर्ष की आयु में क्षय रोग से इनका ६ जनवरी १८८५ को देहान्त होगया।

हरिश्चन्द्र साहित्य—

१ विरहशतक २ कार्तिक कर्मविधि ३ भक्तिसर्वस्व ४ तहकीकात पुरी-की ५ अगरवालों की उत्पत्ति ६ देवीछद्म-लीला ७ फूलों का गुच्छा ८ मानलीला ६ प्रेम फुलवारी १० प्रेमाश्रुवर्षण ११ जैन-कुतूहल १२ प्रेम माधुरी १३ सत्य-हरिश्चन्द्र १४ स्वरूपचिन्तन १५ मलार, हिंडोला, कजली, जयन्ती, १६ दिल्ली दरबार दर्पण १७ चन्द्रावली नाटिका १८ मुगल-सर्वस्व १९ चैती २० प्रेमतरंग २१ सुन्दरीतिलक २२ पारिहासिनी २३ रागसंग्रह २४ नीलदेवी २५ बूंदी का राजवंश २६ जयदेव का जीवन चरित्र, २७ अन्धेर नगरी चौपट राजा, २८ विजयिनी-विजय वैजयन्ती, २९ वेश्यास्तोत्र, ३० खत्रियों की उत्पत्ति, ३१ प्रेम प्रलाप, ३२ हिन्दी-भाषा ३३ भारत-दुर्दशा-नाटक, ३४ संगीतसार, ३५ भारतेन्दुकला, ३६ काशी के छाया चित्र, ३७ कार्तिकस्नान, ३८ काश्मीर-कुसुम, ३९ प्रसिद्ध महात्माओं के जीवन चरित, ४० प्रातःस्मरण मंगल पाठ, ४१ बादशाह दर्पण ४२ नई बहार, ४३ बलिया में भारतेन्दु, ४४ वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, ४५ विषस्य विषमौषधम्, ४६ उत्तरार्द्ध भक्तमाल, ४७ अष्टादशपुराण की अनुक्रमणिका, ४८ प्रेमभाविका ४९ वेणुगीत ५० उत्सवावली, ५१ कार्तिक नैमित्तिक-कृत्य, ५२ गो-महिमा, ५३ दूषण मालिका, ५४ सतीप्रताप, ५५ प्रशस्ति-संग्रह, ५६ कालचक्र, ५७ खुशी, ५८ पावस कविता-संग्रह, ५९ रसबर-सात, ६० हिन्दी लेक्चर, ६१ प्रेम-सन्देश, ६२ मान-चरित्र, ६३ भारतेन्दु नाटकावली भाग १-२ ।

अध्याय दूसरा

इस युग के गद्य निर्माता

भारतेन्दु के साथी गद्य-निर्माता जब आगे आए, उस समय हिन्दी एक दुराहे पर खड़ी थी, जिसमें एक पर उसकी सहोदराएँ बंगला, गुजराती, मराठी आदि अग्रसर हो रही थीं, दूसरी पर उनकी पुत्री उर्दू उसका साथ छोड़ कर बढ़ रही थी, इसी समय अंग्रेज़ी भाषा का उस से मेल होगया था ।

हिन्दी को रिक्त-कम से मिला हुआ सारा संस्कृत साहित्य और धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्थाओं के लिये संस्कृत पदावली की आवश्यकता उसे अपनी ओर खींच रही थी । परन्तु फिर भी वह उर्दू के मोह में पड़ी थी, भारतेन्दु ने उस मोह को दूर किया और हिन्दी के स्वतन्त्र प्रशस्त मार्ग का प्रदर्शन किया ।

सत्तावन के विद्रोह की प्रतिक्रिया अपना काम कर रही थी, और शिक्षित समुदाय में देशहित, भाषा-प्रेम, स्वाभिमान का अंकुर अंकुरित हो गया था। उनके भाव और विचार बहुत आगे बढ़ गये थे, और उनकी मानसिक भूख साहित्य की प्राचीन परंपरा से तृप्त नहीं होती थी, फलतः उनका वह अन्तर्वेग अनेक धाराओं में फूट निकला, जिनमें से बहुतों ने भाषा पर अपनी वैयक्तिक छाप लगादी। वे प्रमुख साहित्यिक ये थे।

पं० बालकृष्ण भट्ट; ई० स० १८४९—

इनके पूर्व पुरुष मालवा के निवासी थे। इनकी माता पण्डिता थीं और उनकी प्रेरणा से आप बचपन ही से विद्या व्यसन में लगे रहे। सत्तावन के विद्रोह के बाद जब अंग्रेज़ी दबदबा बढ़ा तो इनकी माता ने इन्हें अंग्रेज़ी पढ़ने की आज्ञा दी। आपने मिशन स्कूल से एन्ट्रेंस पास किया, बाद में आपने संस्कृत अध्ययन जारी रखा और व्याकरण साहित्य का खूब मनन किया, तथा सामयिक पत्रों में लेख लिखते रहे। सन १८७७ में प्रयाग में हिन्दी प्रवर्द्धिनी सभा की स्थापना हुई और चन्दा करके 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया तो आप ही उसके सम्पादक बने। भारतेन्दु कहा करते थे—हमारे बाद बस भट्ट जी ही हैं।

ये प्रयाग के 'कायस्थ पाठशाला कालेज' में संस्कृत के अध्यापक थे। १८७७ ई० में जब इन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' पत्र निकाला उसमें इनका अपना हिन्दी गद्य का ढर्रा चलता था। इस पत्र में समाज, राजनीति, साहित्य और नीति पर छोटे २ निबन्ध छपते थे। यह पत्र ३०।३२ वर्ष तक बराबर चलता रहा। उनके लिखने का ढंग पं० प्रतापनारायण मिश्र से मिलता-जुलता था। उन्हीं की भांति वे स्थान २ पर कहावतों को काम में लाते थे, पर उनका झुकाव मुहावरों की ओर अधिक था। व्यंग और वक्रता उनके लेखों में भरी रहती थी। वाक्य बड़े २ होते थे। मुहावरों की सूझ उनकी बहुत अच्छी थी। 'हिन्दी प्रदीप' समय पर संस्कृत कवियों और संस्कृत साहित्य का भी परिचय पाठकों को देता था। मिश्र जी और भट्ट जी का हिन्दी गद्य में वही स्थान है जो अंग्रेज़ी गद्य में एडीसन का है। इन्होंने एक दो छोटे २ नाटक भी लिखे। जैसे—कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल विवाह नाटक, चन्द्रसेन नाटक। माइकेल मधुसूदनदत्त के 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' नामक बंग भाषा के दो नाटकों का भी अनुवाद किया था। भट्ट जी ने ही हिन्दी गद्य में समालोचना का सूत्रपात किया। इनकी भाषा का उदाहरण देखिए—

'मिथ्या और दरोग़ की क़िबलेगाह इस कल्पना पिशाचनी का कहीं ओर छोर किसी ने नहीं पाया है। अनुमान करते २ हैरान हो गौतम से मुनि

'गौतम' हो गये। कणाद तिनका खा खाकर किनका बीनने लगे, पर मन की मनभावनी 'कन्या' कल्पना का पार न पाया।'

भट्ट जी उर्दू शब्दों का तत्सम रूप में प्रयोग करते थे। इनका एक उदाहरण—

"मृतक के लिये लोग हज़ारों लाखों ख़र्च कर आलीशान रौज़े, मक़बरे, क़ब्रें, संगमर्मर या संगमूसा की बनवा देते हैं। क़ीमती पत्थर माणिक, ज़मर्रुद से उन्हें आरास्ता करते हैं। पर वे मक़बरे क्या उसकी रूह को उतनी राहत पहुँचा सकते हैं, जितनी उसके दोस्त आंसू टपका कर पहुँचाते हैं?"

भट्ट जी को भाषा को व्यापक बनाने की बड़ी चिन्ता थी। उस समय एक नवीन समाज और नवीन सभ्यता का निर्माण हो रहा था। इसलिए एक ओर तो हिन्दी शब्दकोश की अव्यवहारिकता और दूसरी ओर नवीन भावों के प्रकाशन की आवश्यकता ने उन्हें यहां तक उत्साहित किया कि स्थान २ पर वे भाव-प्रकाशन की सरलता की भावना से अंग्रज़ी शब्द ही उठा २ कर कोष्टक में रख देते रहे। कभी २ तो अंग्रेजी शीर्षक तक दे देते थे। फिर साथ ही उनकी भाषा मे 'समझाय' 'बुझाय' 'अधिकाई' आदि पूर्वी प्रयोग भी दीख पड़ते हैं।

भारतेन्दु कालीन अन्य लेखकों की भांति भट्ट जी में भी यह विशेषता थी कि वे भाषा-संस्कार भी करते चलते थे।

वे कभी २ पद्यात्मक प्रणाली में गद्य लिखा करते थे, जिनमें काव्य की कल्पना का आनन्द आता था, देखिए—

कुंद की कलियों को विकसित करते, मृगनयनियों के मान को समूल उन्मीलित करते; छिटकी हुई चांदनी से दशों दिशाओं को धवलित करते, अन्धकार को निकालते, सीढ़ी पर सीढ़ी शिखर के समान आकाश रूपी विशाल पर्वत के मध्य भाग में चढ़ा चला आ रहा है। क्षपा-तम स्फाणु का हटाने वाला यह चन्द्रमा ऐसा मालूम होता है मानों आकाश महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है। उसमें बीच २ में जो कलंक की कालिमा है सो मानो भौंरे गूंज रहे हैं।

उनका वायुमण्डल साहित्यिक था। विषय और भाषा से संस्कृति टपकती थी। मुक्तकों का बढ़िया प्रयोग करते थे। उनकी भाषा और भाव दोनों ही से नागरिकता प्रकट होती थी। वे साधारण विषयों पर भी सुन्दर लेख लिख डालते थे। कान, नाक, आंख, बातचीत, आदि पर भी इन्हों ने रोचक लेख लिखे। उनके मुहावरों का सुन्दर प्रयोग देखिए—

"वही हमारी साधारण बातचीत का ऐसा घरेलू ढंग है, कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौक़ा है, न लोगों के क़हक़हे उड़ाने को कोई बात उसमें रहती है, हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई हंस पड़े, तो मुस्कराहट से होठों का केवल फरक उठना ही

इस हँसी की अन्तिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुनने वालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इस में स्पीच की सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।''

बालकृष्ण भट्ट का मुद्रित साहित्य—

१ शिक्षादान, २ साहित्यसुमन, ३ दमयन्ती स्वयंवर, ४ सौ अजान एक सुजान, ५ नूतन ब्रह्मचारी, ६ भट्ट निबन्धावली।

बा० तोताराम; जन्म ई० स० १८४८—

ये कायस्थ थे। बड़े विद्याव्यसनी थे। बंगला, गुजराती और मराठी भी जानते थे। इन्होंने बड़ी उम्र में कानून पास किया और सन १८७८ में अलीगढ़ में छापाखाना खोल वहां से भारतबन्धु मासिकपत्र निकाला। एक बार जब हिन्दी भाषा की ओर से सर ऐंटनी मेक्डानल्ड के यहां डैपुटेशन जाने वाला था। तब इन्होंने कायस्थ कान्फ्रैन्स के सभापति की हैसियत से ६००० कायस्थों को हिन्दी के पक्ष में राय देने को बाध्य किया था। इन्होंने वाल्मीकि रामायण का हिन्दी पद्यानुवाद 'रामरामायण' के नाम से प्रारम्भ किया था जो पूरा न हो सका। इनकी अनेक अनुवादित पुस्तकें नवलकिशोर और वैंकटेश्वर प्रेसों से प्रकाशित हुई हैं। आप स्वामी दयानन्द के बड़े भक्त थे, और बड़े देशप्रेमी थे। इनका देहान्त १६०२ में हुआ।

राजा रामपालसिंह; जन्म ई० स० १८४९—

ये अवध में प्रतापगढ़ के ताल्लुकेदार राजा हनुमन्तसिंह के ज्येष्ठ पुत्र और श्री लाल प्रतापसिंह के इकलौते पुत्र थे। ये बड़े तीव्र बुद्धि और विद्या व्यसनी थे। इन्होंने अल्पायु ही में फ़ारसी, संस्कृत, अंग्रेज़ी और हिन्दी में अच्छी गति प्राप्त कर ली थी। ये संस्कृत और अंग्रेज़ी में बातचीत कर सकते थे। ये नए विचारों के समर्थक थे। परमात्मा को नहीं मानते थे, इससे इनके दादा इन पर नाराज़ हो गये। १८ वर्ष की अवस्था ही में ये आनरेरी मजिस्ट्रेट हो गए। विद्या-व्यसन तो इनका बढ़ता ही गया। इन्होंने लोगों के विरोध करने पर भी ज्ञानोपार्जन के लिये इंग्लेण्ड की यात्रा की, पत्नी को भी साथ रखा। मार्ग ही में इनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। तब इन्होंने एक अंग्रेज महिला से विवाह किया। और भारत में लौट आए। परन्तु कुछ दिन कालाकांकर में रहकर फिर इंग्लेण्ड चले गये। और वहां फ्रैन्च, जर्मन, लैटिन आदि भाषाओं का तथा गणित का अध्ययन किया। वहीं से इन्होंने सन १८८९ ई० में 'हिन्दुस्तान' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। और इंग्लेण्ड में भारतीय प्रश्नों की चर्चा प्रारम्भ की। ये भिन्न २ सोसाइटियों में जाकर भाषण भी करते थे। भारतीय जो विद्यार्थी इंग्लेण्ड में



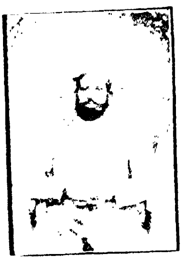
बा० गदाधरसिंह



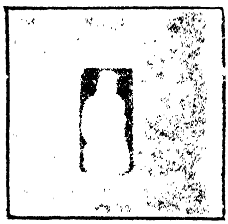
पं० अम्बिकादत्त व्यास



पं० राधाचरण गोस्वामी



ठा० जगमोहनसिंह



पं० प्रतापनारायण मिश्र



बा० राधाकृष्णदास



पं० दुर्गाप्रसाद



ला० श्रीनिवासदास



पं० भीमसेन शर्मा



लाल विष्णुलाल पण्ड्या



बा० कार्तिकप्रसाद खत्री



बा० रामकृष्ण वर्मा

शिक्षा प्राप्त करने जाते थे। उनके ये परम सहायक थे। उनका बड़े प्रेम से सत्कार करते थे। इनका 'हिन्दुस्तान' भारत लौटने पर दैनिक हिन्दी पत्र हो गया, जो हिन्दी के इतिहास में सर्वप्रथम दैनिक था।

राजा साहेब बड़े धुन के आदमी थे। इनकी अक्सर रेल में अंग्रेज़ों से झड़प हो जाती थी। कई बार उन्होंने साहब लोगों को रेल के डब्बे से निकाल दिया। वे शतरञ्ज के पक्के खिलाड़ी थे और शिकारी भी अव्वल नम्बर के। राष्ट्रीय ऐसे थे कि उन दिनों पायनियर, इंग्लिशमैन, सिविलमिलिटरी गज़ट और टाइम्स-आफ़-इंडिया में जो भारत विरोधी लेख निकलता उसका वे हिन्दुस्तान में मुँह तोड़ जवाब देते। एक बार राजा साहेब उदयपुर गये तो राणा जी से मिलने महलों में गए। उस समय वे अंग्रेज़ी पोशाक पहने थे। जब बूट सहित महलों में जाने लगे तो यह नियम-विपरीत बात सुन कर महाराणा ने तुरन्त इशारा किया जिस से बढ़िया मखमल का फर्श बिछा दिया गया। राजा साहेब ने स्वयं खड़े होकर नौकर को बूट खोलने का इशारा किया। और तब बूट उतार कर वे महलों में गये।

बाबू गदाधरसिंह; जन्म ई० स० १८४८—

ये भारतेन्दु और राजा शिवप्रसाद के घनिष्ठ मित्रों में थे। पहले इन्होंने कादम्बरी का हिन्दी अनुवाद किया। पीछे दुर्गेशनन्दिनी का भाषानुवाद किया। इसके बाद बंग-विजेता का अनुवाद किया तथा और भी अनेक ग्रन्थ लिखे। इन्होंने एक अच्छा पुस्तकालय बनाया था। और अपनी सब सम्पत्ति उसी के नाम लिख दी थी। बाद में यह पुस्तकालय काशी-नागरी-प्रचारिणी को दे दिया। इनका देहान्त १८९८ में हुआ।

कार्तिकप्रसाद खत्री; ई० स० १८५२—

ये थोड़ी ही अवस्था में माता पिता का स्वर्गवास हो जाने पर अधिक शिक्षा न पा सके। फिर भी एन्ट्रेन्स किसी तरह पास किया और कुछ बंगला तथा वैद्यक का भी ज्ञान प्राप्त किया। सार-सुधानिधि के सम्पादक पं० सदानन्द जी से इनका हेलमेल बढ़ गया था, इससे लेख लिखने की ओर रुचि बढ़ी। सन १८७१ में इन्होंने 'प्रेम-विलासिनी' मासिक पत्रिका और 'हिन्दी प्रकाश' साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करने आरम्भ किये। ये पत्र हिन्दी के सर्वप्रथम समाचार-पत्र थे। इन्होंने हिन्दी में 'नंदकोष' नामक एक पद्यकोष को अकारादि क्रम से लिखकर सम्पादित किया था, और सारस्वत के पूर्वार्द्ध का भाषानुवाद करके उसका 'सारस्वत-दीपिका' नाम रखा था।

आजीविका की कठिनाइयों से इधर उधर भटकते हुए आप रीवां पहुंचे। वहां महाराज रघुराजसिंह इनसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। और अपने मुसाहिबों में

रख लिया। ११ वर्ष ये रीवां में रहे। पीछे काशी चले आए। उन दिनों बलिया जिले में बन्दोबस्त के महकमे में हिन्दी जारी होने का प्रयत्न हो रहा था। काशी से भारतेन्दु ने इन्हें हिन्दी समर्थन का प्रतिनिधि बनाकर भेजा। वहां से ये काशी वापिस न आकर आसाम चले गये और बिसड़ गढ़, कामरूप, सिलहट, कछार, मनीपुर आदि घूमते हुए शिलाङ्ग पहुँचे। यहां ये शाल का व्यापार करते रहे। उन्हीं दिनों चन्दा एकत्र करके जगन्नाथ का मन्दिर बनवाया। रथयात्रा का मेला प्रारम्भ किया। 'मित्र समाज' की स्थापना की। बम्बई में जब गोरक्षा मैमोरियल की बात चली तो इन्होंने आसाम से १० हजार हस्ताक्षर भेजे थे।

आसाम से लौट कर ये काशी बस गये। भारत-जीवन का सम्पादन भी करते रहे और ग्रन्थ भी लिखते रहे। इन्होंने कुल २० ग्रन्थ लिखे जिनमें कुछ अनुवादित हैं। सन १९०४ में इनका स्वर्गवास हुआ। इन्होंने कई बंगला उपन्यासों के भी अनुवाद किए, जो भारत-जीवन-प्रेस, काशी में छपे।

इनका मुद्रित साहित्य—

१ महाराज विक्रमादित्य २ मीराबाई ३ अहल्याबाई ४ दीनानाथ ५ पाकराज या मोहन लाल ६ कवित्त-रत्नाकर ७ शृङ्गारदान।

मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या; जन्म ई० स० १८५१—

इनके पूर्वज गुजराती थे। इनके पिता आगरे के प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचन्द के यहां मुनीम हो गये थे। पीछे इनके पिता इनकी शिक्षा के विचार से काशी चले आए और ये क्वीन्स कालेज में पढ़ने लगे। इनके पिता महाजनी कामकाज के लिये भारतेन्दु के घर आते जाते थे। तभी इन दोनों नवयुवकों में गाढ़ी मित्रता हो गई। और दिन रात एक जगह बैठक होने लगी। उन दिनों भारतेन्दु जी के यहां तुलसीकृत रामायण के मर्मज्ञ पं० बेचनराम आते जाते थे, उन्होंने इन दोनों को हिन्दी भाषा के तत्व समझाए। और हिन्दी प्रेम का बीज बोया। मोहनलाल जी के पिता मरने के समय इन्हें अपने परम मित्र मुमताजुद्दौला, नवाब सरफ़ैज-अलीखां के सुपुर्द कर गये। उन्होंने बड़ौदा कमीशन के समय इन्हें अपना कान्फ़ीडेंशल क्लर्क नियत किया, पीछे इन्होंने उदयपुर में नौकरी कर ली और नाथद्वारा कांकरोली के महाराजों की नाबालिगी में वहां का प्रबन्ध किया। कुछ दिनों बाद ये स्टेट कौन्सिल के मेम्बर और फिर सेक्रेटरी बन गये। १३ वर्ष उदयपुर राज्य में रह कर फिर प्रतापगढ़ के दीवान हो गये। बाद में पैन्शन ले मथुरा रहने लगे।

तत्कालीन पुरातत्ववेत्ता राजेन्द्रलाल मिश्र से इनकी जान पहिचान भी भारतेन्दु के यहां हो गई थी। उन्होंने इन्हें पुरातत्त्व की शिक्षा भी दी थी। इस

ओर इनकी रुचि भी थी। इन्होंने १२ ग्रन्थ रचे और पृथ्वीराजरासो का सम्पादन किया।

इनका मुद्रित साहित्य—

१ अंग्रेज स्तोत्र, २ चंदबरदाई कृत पृथ्वीराजरासो की प्रथम संरक्षा, ३ प्रेम-प्रमोदिनी, ४ वसन्त-प्रमोदिनी।

काशीनाथ खत्री; ई० स० १८५०—

ये आगरे के निवासी थे। परन्तु अपने अन्तिम दिनों में सिरसा में आकर बस गये थे। जहां वह पहले अध्यापक रह चुके थे, कुछ दिन इन्होंने गवर्नमेंट वर्नाक्यूलर रिपोर्टर का काम भी किया था। पीछे ये गवर्नर के दफ़्तर के पुस्तकाध्यक्ष भी हो गये थे। हिन्दी की इन्हें सच्ची लगन थी। नीति, कर्तव्य, स्वदेश हित पर लेख और पुस्तकें लिखने की इनको रुचि थी। ये वास्तव में लेखक की अपेक्षा अनुवादक अधिक अच्छे थे। इन्होंने कई अंगरेज़ी पुस्तकों और व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद किया है। एक पुस्तक 'भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियों का चरित्र' भी इन्होंने लिखा। ये भारतेन्दु के पास उठने बैठने वालों में थे।

इनका मुद्रित साहित्य—

१ बालविवाह की कुरीति, २ मनुष्य के लिये सच्चा सुख किस में है, ३ मातृ भाषा की उन्नति किस विधि करनी योग्य है, ४ उत्तम वक्तृता देना सीखने की विधि और नियम, ५ तावीज, ६ ग्राम पाठशाला और निकृष्ट नौकरी, ७ भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियों के चरित्र, ८ भारतवर्ष की विख्यात रानियों के चरित्र।

लाला श्रीनिवासदास; जन्म ई० स० १८५२—

इनके पिता लाला मंगलीराम मथुरा के प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचन्द के बड़े मुनीम थे। एक तौर से वे ही सेठ जी के दीवान थे। वे दिल्ली की कोठी पर कारबार करते और रहते थे। श्रीनिवासदास का जन्म दिल्ली में हुआ। इन्होंने अल्पायु में ही हिन्दी, अंग्रेज़ी, फ़ारसी, उर्दू, संस्कृत में अच्छी योग्यता उत्पन्न करली थी। महाजनी कारबार में भी ऐसे दक्ष हो गये कि १८ वर्ष की उम्र में दिल्ली की कोठी का सब बन्दोबस्त सम्हाल लिया। पंजाब सरकार ने इन्हें म्युनिसिपल कमिश्नर और आनेररी मजिस्ट्रेट बनाया। तथा बिरादरी में भी इनकी बहुत पूछ-ताछ होने लगी। हिन्दी से प्रेम इनका प्राकृतिक था। वे कारबार के सिलसिले में जहां जाते, वहीं जो हिन्दी प्रेमी होता उससे मिलते और उसका सत्कार करते। एक बार ये कानपुर आए और पं० प्रताप नारायण मिश्र से मिलने गये। मिलने पर इन्होंने १ मुहर उन्हें नज़र की। इस पर पं० प्रतापनारायण ने बिगड़ कर कहा

कि क्या आप अपने धन की मग़रूरी हमें दिखाने आए हैं । तब इन्होंने हाथ जोड़ कर कहा, महाराज ! मैं तो मातृभाषा के मन्दिर पर अक्षत चढ़ाता हूँ । इनकी लिखी पुस्तकों में इनकी बहुदर्शिता प्रकट है । इनका स्वर्गवास केवल ३६ वर्ष की ही आयु में हुआ ।

इन्होंने अनेक नाटक भी लिखे । इनका उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास है । 'रणधीर प्रेममोहिनी' की कथावस्तु अंग्रेज़ी के रोमियो एण्ड जुलियट की है । वस्तु-कल्पना मध्य युग के राजकुमार और कुमारी की है । 'प्रह्लादचरित्र' और 'तप्तासंवरण' पौराणिक नाटक हैं । तब तक दुःखान्त नाटकों का भारत में चलन न था । ये प्रथम इन्हीं ने लिखे । 'संयोगिता-स्वयंवर' सब से पीछे का नाटक है ।

उनकी खड़ी बोली के मुहावरे बहुत अच्छे हैं । वे व्यवहारकुशल और समय के ज्ञाता थे । उनकी भाषा साफ़ सुथरी और रचना-सोद्देश्य होती थी ।

उसका एक उदाहरण—

'न्याय वृत्ति यद्यपि सब वृत्तियों को समान रखने वाली है । परन्तु इसकी अधिकता से भी मनुष्य के स्वभाव में मिलनसारी नहीं रहती । क्षमा नहीं रहती । जब बुद्धि वृत्ति के कारण किसी वस्तु के विचार में मन अत्यन्त लग जायगा तो और जानने लायक पदार्थों की अज्ञानता बनी रहेगी ।

श्रीनिवासदास ने उस समय कलम उठाई जब धीरे २ उर्दू का ह्रास और संस्कृत की तत्समता का प्रभाव बढ़ रहा था । पं० बदरीनारायण चौधरी की रचना में उर्दू की कमी थी, परन्तु लाला श्रीनिवासदास ने उर्दू तत्सम शब्दों का खासा प्रयोग किया है । फिर भी उसमें राजा शिवप्रसाद जैसा उर्दूपन नहीं है । उर्दू ढंग की वाक्यरचना अब समाप्त हो रही थी, और उर्दू शब्दों के प्रयोग का महत्व कम हो रहा था । दूसरी बात यह है कि ला० श्रीनिवासदास की रचना में भट्ट जी के समान दुरंगापन नहीं है, उनकी भाषा संयत, सुबोध और दृढ़ है, इनके नाटकों की भाषा वक्तृता के अनुकूल है, और उपन्यास की वर्णनात्मक । इसमें दिल्ली का पंछाहीपन है । भट्ट, मिश्र आदि की भाषा में पूर्वीपन और पण्डिताऊपन है । वह बात इनकी भाषा में नहीं । 'इस्की' 'उस्की' 'उस्से' 'किस्पर' 'इस्तरह' 'ठैर' आदि विभक्तियों के प्रयोग में भी प्रांतीयता है जैसे—सै (से), मैं (में), 'रहैंगे' 'जाती' 'तहाँ' 'सुनै' आदि ब्रज के रूप भी हैं । 'ब' और 'व' के प्रयोग का इन्होंने विचार ही नहीं किया । 'धैर्य' को 'धीर्य' या 'धीर्य्य' 'शान्त' को 'शान्ति' लिखते थे । व्याकरण का बन्धन भी शिथिल है । जैसे—

'पृथ्वीराज—(संयोगिता से) प्यारी, तुमही मेरा वैभव और तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो' ।

श्रीनिवासदास का मुद्रित साहित्य—

१ राजनीति, २ रणधीर-प्रेम मोहिनी, ३ तप्ता-संवरण, ४ परीक्षा गुरु, ५ संयोगिता स्वयंवर, ६ प्रहलाद-चरित्र ।

पं० रुद्रदत्त शर्मा; जन्म ई० स० १८५३—

इन्होंने अनेक पत्रों का सम्पादन किया । बड़ी गहरी चुटकियां लेते थे । आर्य समाजी विचार के थे । सम्पादकाचार्य कहलाते थे । अन्तिम समय अत्यन्त अर्थ-कष्ट में रहे । आगरे के एक अत्यन्त गन्दे मकान में यह अत्यन्त बूढा साहित्यिक सपत्नीक रुग्णावस्था में बहुधा दो दो तीन तीन दिन उपवास किये पड़ा रहता था । एक कम्पोज़िटर दया करके दो आने रोज़ का आटा इन्हें ला दिया करता था । ऐसी विपन्नावस्था में इन्होंने प्राण दिये । इनकी रचनाओं में १ योग-दर्शन-भाष्य, २ स्वर्ग में महासभा, ३ स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी, ४ पाखण्ड मूर्ति, ५ आर्यमत मार्तण्ड, ६ अपूर्व सन्यासी, ७ वीरसिंह दारोगा, ८ कण्ठी जनेऊ का विवाह हैं ।

लाला सीताराम; जन्म ई० स० १८५३—

ये कायस्थ श्रीवास्तव थे । इन के पिता बाबा रघुनाथदास के शिष्य होकर जौनपुर से अयोध्या आ बसे थे । यहीं सीताराम का जन्म हुआ । इन्हें बाबा रघुनाथदास ने ही अक्षराभ्यास कराया । पीछे एक मौलवी से फ़ारसी उर्दू पढ़ा । बाबा रघुनाथदास और अपने पिता से उन्होंने निरन्तर धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ सुने । इससे उधर इनका चाव बढ़ गया । बाद में इन्होंने अंग्रेजी पढ़ी और १८७९ में बी० ए० पास कर वकालत भी पास करली । पहिले ये अवध अखबार के सम्पादक हुए, पर दो ही महीने बाद उसे छोड़ बनारस कालेज के स्कूल विभाग में तीसरे अध्यापक हो गये । बाद में हैडमास्टर होकर सीतापुर चले आए । इस प्रकार विविधस्थानों पर घूमते हुए सन १८९५ में डिप्टी कलक्टर हो गए । इनका सबसे पहला ग्रन्थ मेघदूत का अनुवाद था । जो १८८३ में प्रकाशित हुआ ।

कुमारसम्भव १८८४ में । रघुवंश सर्ग ९-१५, १८८५ में तथा सर्ग १-८, १८८६ में । नागानन्द १८७७ में, रघुवंश सम्पूर्ण १८९२ में, ऋतुसंहार १८९३ में, प्रकाशित हुए । इन्होंने शेक्सपियर के दो नाटकों का अनुवाद किया । संस्कृत के उत्तररामचरित्र, मृच्छकटिक, मालविकाग्निमित्र नाटकों के भी अनुवाद किये । हितोपदेश और प्रजा कर्तव्य के दो ग्रन्थ लिखे । ये कई साल तक यूनिवर्सिटी के फ़ैलो और टेक्स्टबुक कमेटी के मेम्बर भी रहे । संस्कृत काव्यों और नाटकों के अनुवाद का इनका कार्य महत्त्वपूर्ण रहा ।

केशवराम भट्ट; जन्म ई० स० १८५४—

ये हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी, महाजनी के ज्ञाता थे। एफ० ए० तक अंग्रेज़ी भी पढ़ी थी, पर पास न हुए। १८७४ में इन्होंने 'बिहारबन्धु' प्रेस खोला, तथा 'बिहारबन्धु, पत्र निकाला। जब ये कुछ दिन के लिये कलकत्ता चले गये तब इनके मित्र मु० हसन अली ने उसका सम्पादन किया। कुछ दिन बाद उन्होंने फिर उसका सम्पादन अपने हाथ में लिया। इन्ही दिनों इन्होंने 'शमशाद सौसन' और 'सज्जाद सम्बुल' नाटक लिखा। १८७७ में ये दरभंगा के स्कूलों के आफ़िशियेटिंग डिप्टी इन्स्पेक्टर नियत हुए। बाद में शाहाबाद ज़िले के डिप्टी इन्स्पेक्टर हो गए। इसके पीछे ये बिहार हाईस्कूल के हैडपण्डित रहे।

पं० भीमसेन शर्मा; जन्म ई० स० १८५५—

इनके पिता गणित के उस्ताद थे, उनसे इन्होंने बालकाल में गणित सीखा फिर एक कायस्थ लाला की चटसाल में उर्दू पढ़ने लगे। ये बहुत जल्द पाठ याद कर लेते थे—इसपर लाला बिगड़ते थे। उनका ख़्याल था कि जब लड़के इतनी जल्दी पढ़ जावेंगे तो हमारी जीविका कैसे चलेगी। कुछ दिन बाद लाला जी की चटसाल टूट गई तो भीमसेन जी इधर उधर हिन्दी संस्कृत पढ़ने लगे। पीछे १७ वर्ष की अवस्था में ये स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित पाठशाला में संस्कृत पढ़ने फर्रुखाबाद चले गये। वहां इन्होंने अष्टाध्यायी, महाभाष्य, पिंगल सूत्र स्वर-प्रकरण, चन्द्रालोक, कारिका, अलंकार और माघ पढ़ा। २१ वर्ष की आयु में इनका विवाह हुआ, फिर काशी आकर दर्शन पढ़ने लगे। और स्वामी दयानन्द के पास रहकर लिखने पढ़ने का भी काम करने लगे। सन १८६४ में जब स्वामी जी का स्वर्गवास हो गया तब वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में संशोधक हो गये। यहां इन्होंने बहुत सी दर्शन और वैदिक पुस्तकों का भाषानुवाद किया। स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखीं, सन १८८६ में इन्होंने 'आर्य सिद्धान्त' मासिक निकालना प्रारम्भ किया, उपनिषद् आदि के भाष्य भी किये। पीछे वहां से काम छोड़ कर अपना प्रेस स्थापित किया। कुछ दिन बाद कलकत्ते के सेठ माधवप्रसाद खेमका ने यज्ञ कराया इसमें इन्होंने आर्यसमाज के विरुद्ध कुछ कार्य किये। इस पर आर्य-समाज से इनकी खटक गई। और ये सनातनी हो गए। पीछे आर्य-समाज से शास्त्रार्थ भी किए। ये बड़े विद्याव्यसनी थे। और वेद के अच्छे ज्ञाता थे। कलकत्ता यूनिवर्सिटी ने इन्हें कुछ दिन वेद व्याख्याता के पद पर रखा था। 'संस्कृत भाषा की अद्भुतशक्ति' नाम का एक लेख लिखकर इन्होंने अरबी फ़ारसी के शब्दों को संस्कृतमय बना डालने की राय दी थी, जैसे दुश्मन- दुःशमन। सिफ़ारिश-क्षिप्राशिष, चश्मा-चक्ष्मा। शिकायत-शिक्षायत्न, आदि।

इनकी एक ही पुस्तक 'पुनर्जन्म' प्रकाशित हुई ।

प्रतापनारायण मिश्र; जन्म ई० स० १८५६—

पं० प्रतापनारायण मिश्र बड़े ही मन मौजी जीव थे । कुछ दिन इन्होंने स्कूली शिक्षा पाई । इस के बाद संस्कृत और फ़ारसी का भी अभ्यास किया । उन दिनों भारतेन्दु की 'कविवचनसुधा' की खूब चर्चा थी । ये उसे बड़े चाव से पढ़ते थे । उसका इन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा । उन दिनों कानपुर लावणी-बाजों का अड्डा बना हुआ था । प्रसिद्ध लावणीबाज बनारसीदास वहां महीनों रहते थे । मिश्रजी को लावणी सुनने का ऐसा चस्का लगा कि जब कभी लावणियां होतीं, मिश्रजी वहां अवश्य बैठे दीखते । मनमौजी ऐसे थे कि शिष्टाचार की कुछ परवाह ही नहीं करते थे । लावणीबाज़ों में तो जा ही बैठते थे, मेलों तमाशों में भी बन्द इक्कों में बैठे दीख पड़ते थे । लावणीबाज़ों की सवाल-जवाबी पर आशु कविता सुनते २ ये कवि हो गए । आगे चलकर इन्होंने उर्दू, फ़ारसी, अरबी, बंगला और संस्कृत का अच्छा ज्ञान उपार्जित कर लिया । उन दिनों ललिताप्रसाद त्रिवेदी कानपुर के अच्छे कवि थे । उनसे इन्होंने छन्दशास्त्र पढ़ा और कविता करने लगे । सन १८८३ में कुछ मित्रों की सहायता से इन्होंने 'ब्राह्मण' अख़बार निकाला । इसमें हास्य, विनोद, व्यङ्ग, कहावतों और चुटकुलों की .खूब बहार रहती थी । इनके मिसरे चुटीले होते थे और व्यङ्गय काफ़ी तीखे । लेखनशैली में वे भारतेन्दु को आदर्श मानते थे, पर फिर भी उनकी शैली में कुछ अपनापन रहता था । ये पूर्बीपन की परवाह नहीं करते थे और बैसवाड़े की कहावतों और ग्राम्य शब्दों को बेधड़क लिख मारते थे । चाहे जैसा विषय हो, विनोद का पुट वे उसमें लगा ही देते थे । इनके पत्र में हर तरह के लेख निकलते थे । देश-दशा, समाजसुधार, नागरी हिन्दी प्रचार, मनोरंजन आदि सभी विषयों पर मिश्र जी की लेखनी चल जाती थी । छोटे २ विषयों पर जैसे 'बात' 'वृद्ध' 'भौं' 'दांत' इत्यादि पर स्वच्छन्द निबन्ध इन्होंने लिखे । उनके शीर्षक भी मजेदार होते थे । 'घूरे का लत्ता बिनै कनातन का डौल बांधे' 'समझदार की मौत है' आदि । कभी तथ्य निरूपण या वस्तु वर्णन करने के समय इनकी भाषा में संस्कृत पदावली का समावेश हो जाता था । खास बात यह थी कि उनकी लेखनी के साथ साधारण समाज की रुचि थी । साथ ही उनकी आत्मीयता भी उनके लेख के साथ रहती थी । यही कारण था कि वे अनायास ही पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींच लेते थे । उनकी लेखनी के हास्य ने पाठकों के एक समूह को मोह लिया था । संक्षेप में हमें कहना होगा कि भट्ट जी के साथ ही साथ उन्होंने एक व्यवहारिक साहित्य का आविष्कार किया था जिसमें नित्य के व्यवहार की बातें रहती थीं ।

देहाती भाषा और मुहावरों के कारण उनकी भाषा में नागरिकता भले ही न रही हो, पर उनकी भाषा को बल उसी से मिलता था। कहीं २ तो वे मुहावरों की झड़ी लगा देते थे, देखिए—

'डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहां की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है, हमारे तुम्हारे सभी काम बात ही पर निर्भर हैं, "बात हि हाथी पाइए, बातहिं हाथी पांव" बात ही से पराए अपने और अपने पराए हो जाते हैं।

इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इनकी भाषा अस्थिर थी। इनके समय तक भाषा का जो परिष्कार हो चुका था उस का ये अनुसरण नहीं कर सके। भाषा में पण्डिताऊपन और पूर्वीपन भी है। 'आनन्द लाभ करता है' 'तौ भी' 'बात रही' 'शरीर भरे की' 'चाय की सहाय से' 'कहां तक कहिए' 'हैं कै जने'। ये उदाहरण इनकी ग्रामीणपने की भाषा के हैं। कहीं २ भाषा अस्पष्ट भी है जैसे—

"पर केवल इन्हीं के तक में दूसरे को कुछ नहीं, फिर क्यों इसकी निन्दा की जाय" व्याकरण सम्बन्धी भी कमियां इनकी भाषा में रह गई हैं, जैसे 'जात्याभिमान' 'उपरोक्त' इत्यादि। कुछ अप्रचलित प्रयोग भी हैं, जैसे हई (हैंही) के (कर) फिर भी वह आकर्षक और प्रभावशाली है और उसपर उनकी वैयक्तिक छाप है। देखिए—

'यदि सचमुच हिन्दी का प्रचार चाहते हो तो आपस के जितने काग़ज़ पत्तर लेखा जोखा टीप तमस्सुक हों सब में नागरी लिखी जाने का उद्योग करो। जिन हिन्दुओं के यहां मौलवी साहेब बिसमिल्लाह कराते हैं उनके पंडितों से अक्षराभ्यास कराने का उपकार करो। चाहे कोई हंसे चाहे धमकावे, जो हो सो हो, तुम मनसा वाचा कर्मणा उर्दू की चुल्लू देने में सन्नद्ध हो। इधर सरकार से भी झगड़े खुशामंद करो, दांत निकालो, पेट दिखाओ, मेमोरियल भेजो। एक बार दुतकारे जाओ फिर धन्ने धरो, किसी भांति हतोत्साह न हो, न हिम्मत हारो, जो मनसाराम कचियाने लगे तो यह मन्त्र सुनादो'''बस फिर देखना पांच सात बरस में फ़ारसी छारसी उड़ जायगी, नहीं तो होता तो परमेश्वर के किए है। हम सदा यही कहा करेंगे 'पीसै का चुकरा गावै का छीताहरन' 'घूरे के लत्ता बिनै कनातन का डौल बांधे'। हमारी भी कोई सुनेगा ? देखें कौन माई का लाल पहिले सिर उठाता है।

कविताएं उनकी सरस और प्रभावशालिनी होती थीं। कानपुर में सभी प्रकार के लोगों से उनका मेलजोल था। उनकी विनोदी प्रकृति से सब लोग बहुत

खुश रहते थे। कानपुर में आजकल जहां तार घर है वहां उन्होंने एक नाट्य समिति बना रखी थी, जिसके वहां अभिनय हुआ करते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे स्वयं स्त्रियों तक का पार्ट किया करते थे और बिना किसी संकोच के दाढ़ी मूंछ सफ़ा कर देते थे।

जुल्फें रखाये, बालों में तेल डाले, इत्र फुलेल लगाए, बांकी टोपी सिर पर धरे, बड़ी नज़ाकत से कान पर हाथ रखे कानपुर के खास २ चौरस्तों पर लावनी गाते हुए बहुधा लोग उन्हें देखते थे। उनके मसखरेपन का एक उदाहरण सुनिये—

एक बार पं० दीनदयाल शर्मा प्रसिद्ध व्याख्यानवाचस्पति कानपुर में सनातन-धर्म-सभा का प्रचार करने आये। एक सभा हुई, उसमें मिश्र जी ने भी भाषण दिया और हिन्दू समाज की पतितावस्था का बड़ा ही करुण चित्र खींचा, और स्वांग पूरा करने के लिए एक रूमाल आंखों में लगा लिया जिसे घर से चलते समय इन्होंने इलायची के तेल में भिगो लिया था। उससे व्याख्यान देते २ इनकी आंखों से आंसुओं की धारा बह चली। श्रोताओं ने भी भावावेशित होकर खूब आंसू बहाये। जब सभा समाप्त हो गई तो शर्मा जी ने प्रसन्न होकर नवस्थापित सनातन-धर्म-सभा का भार मिश्र जी के ऊपर ही डालना चाहा—तो मिश्रजी ने बड़ी अदा से कहा "हम नहीं इस लीला में फँसते"। इस पर सब लोग खिलखिला कर हंस पड़े।

एक और मज़ेदार घटना सुनिये—मिश्र जी छोटे से कमरे में बैठते थे उसमें काग़ज़ पत्र बुरी तरह बिखरे और भरे पड़े रहते थे। एक बार प्रसिद्ध ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उनसे मिलने आए और मिश्र जी ने उसी कमरे में दो घण्टे तक उन से धाराप्रवाह बंगला में बातचीत की। इसके बाद उन्होंने विद्यासागर जी के जलपान के लिए दो पैसे के पेड़े मंगवाये।

इलाहाबाद की कांग्रेस में मिश्र जी कानपुर से एक प्रतिनिधि बन कर गये थे। एक दिन जब वे अपने तंबू के बाहर खड़े थे कांग्रेस के जन्मदाता ह्यूम साहेब उधर से निकले। मिश्र जी ने उन्हें नमस्कार किया। ह्यूम साहेब ने ज्यों ही उन्हें देखा लपक कर बड़े प्रेम से छाती से लगा लिया और कुशल प्रश्न पूछे। मिश्र जी अव्वल दर्जे के काहिल थे। उन का यह आम नियम था कि जब कोई उन से मिलने आता तो चट उसके हाथ में काग़ज़ कलम पकड़ा देते और जो भी विषय उनके ध्यान में आता उसी पर बोलना आरम्भ कर देते थे। देवनागरी लिपि और हिन्दी के बड़े पक्षपाती थे। स्वभाव के अक्खड़ और मस्त आदमी

थे। कुछ दिन कालाकांकर जाकर 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक भी रह आये थे। इन्होंने २० पुस्तकें लिखीं और लगभग इतने ही अनुवाद किये। १८९५ में इनकी मृत्यु हुई।

मिश्रजी का मुद्रित साहित्य—

(१) मनकी लहर (२) कलिकौतुक (३) मानस-विनोद (४) कथामाला (५) पंचामृत (६) चरित्राष्टक (७) लोकोक्ति-शतक (८) भारतदुर्दशा (९) तृप्यन्ताम् (१०) संगीत-शाकुन्तल (११) निबन्ध-नवनीत भाग एक (१२) काव्य-कानन आदि।

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'; जन्म ई० स० १८५६—

ये तबियत के रईसी ठाठ के व्यक्ति थे। मिर्ज़ापुर के एक प्रतिष्ठित ज़मींदार के घर में जन्मे थे। बातचीत का ढंग निराला था। व्यंग उनके मुख पर रहता था। ये भारतेन्दु के घनिष्ठ मित्रों में थे। वेश भी वैसा ही रखते थे। उनका उपनाम 'प्रेमघन' था। वे गद्य रचना को कला की भांति व्यक्त करते थे। वे क़लम के कारीगर थे। और कभी २ ऐसे पेचीले मज़मून बांधते कि उनका एक एक वाक्य डेढ़ २ कालम की खबर लेता। अनुप्रास और अनूठे पदविन्यास का उन्हें बहुत ख़्याल रहता था। वे लेख लिखकर उसका बारंबार परिष्कार और मार्जन करते थे। उनका कहना था कि किसी बात को साधारण ढंग पर कहा जाना ही लेख लिखना नहीं है। वे हमेशा भारतेन्दु की लिखने में उतावलेपन की शिकायत किया करते थे। इनकी भाषा का आदर्श लखनऊ की उर्दू के आदर्शों के ढंग का था।

बचपन में इनकी सुशिक्षिता माता ने स्वयं इन्हें शिक्षा दी थी। बाद में इन्हें कुछ फ़ारसी और अंगरेज़ी पढ़ाई गई। अवध के महाराज सर प्रतापनारायणसिंह आदि का साथ हो जाने से इन्हें घुड़-सवारी, हाथी की सवारी और शिकार का भी शौक लग गया था। अपने किशोर जीवन में ये इन्हीं कामों में लगे रहते थे। पीछे पं० रामानन्द पाठक के संसर्ग से इन्हें कविता करने, संस्कृत पढ़ने, और फ़ारसी सीखने का भी शौक हुआ। धीरे २ साहित्य और संगीत की पूरी गोष्ठी जमने लगी। ब्रजभाषा का भी शौक बढ़ा। इसी समय पं० इन्द्रनारायण शंगलू से इनकी मित्रता हो गई जो बड़े सुधारक और देशहितैषी थे। उनके संसर्ग से इन्हें कविता तथा पत्रों से और अनुराग बढ़ा। इन्हीं के द्वारा भारतेन्दु से परिचय हुआ, जो पीछे गाढ़ मैत्री में परिणत होगया। जब इन्होंने 'आनन्दकादम्बिनी' और 'नागरी नीरद' का प्रकाशन प्रारम्भ किया तो बड़े उत्साह और लगन से उनका सम्पादन किया। ये मन की मौज में लिखा करते थे तक़ाज़े या किसी दूसरे प्रलोभनों से नहीं।

इनके घर के लोग इनके इस साहित्य प्रेम से खुश नहीं थे, और सदा विरोध किया करते थे। परन्तु इन्हें उनकी परवा न थी, ये कुछ न कुछ लिखते ही रहते थे।

इन्होंने कई नाटक लिखे। इनमें 'भारत-सौभाग्य' अच्छा है। 'आनन्द कादम्बिनी' में श्रृङ्गार रस के शेअर, ग़ज़ल, सवैये, कवित्तों की बहुतायत रहती थी। विनोदपूर्ण प्रहसन तो इनकी विशेषता ही थी। इनकी भाषा देखिए—

"दिव्यदेवी श्री महारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्यन्त बड़े २ उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट' का पहाड़ धकेल, फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेलपेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है"।

(कादम्बिनी)

'नागरी नीरद' में समालोचना का सूत्रपात भट्ट जी के साथ इन्होंने भी किया। इनकी समालोचना की भाषा देखिए—

"ग़र्ज़े कि इस सफ़हे की कुल स्पीचें 'मरचैन्ट आफ़-वेनिस' से ली गईं। पहिले तो मैं यह पूछता हूँ कि विवाह में मुद्रिका परिवर्तन की रीति इस देश की नहीं बल्कि योरोप की (है)। मैंने माना कि आप शकुन्तला को दुष्यन्त के मुद्रिका देने का प्रमाण देंगे, पर वो तो परिवर्तन न था किन्तु महाराज ने अपना स्मारक चिह्न दिया था।" **(नागरी-नीरद)**

इनका मुद्रित साहित्य—१ भारत सौभाग्य २ मङ्गलाशा हार्दिकधन्यवाद ३ कजली कादम्बिनी ४ भारत-बधाई ५ आनन्द अरुणोदय।

जगमोहनसिंह; जन्म ई० स० १८५९—

ये कछवाहे राजपूत थे। और इनका सम्बन्ध जयपुर राजवंश से था। इनके पिता ५७ के विद्रोह में अंग्रेज़ सरकार के विरुद्ध खड़े हुए थे। इस कारण इनका इलाक़ा ज़ब्त हो गया। ठा० जगमोहनसिंह ने थोड़ी ही आयु में अंग्रेज़ी संस्कृत, हिन्दी, बंगला, और उर्दू भाषा पर अच्छा अधिकार कर लिया। १६ वर्ष की अवस्था में तो ये छन्द-रचना करने लगे। काशी में ही इन्होंने शिक्षा पाई। यहीं भारतेन्दु से साक्षात् हुआ। शिक्षा समाप्त करके ये प्रथम तहसीलदार और बाद में एक्सट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर हो गये। पीछे कूचबिहार की स्टेट कौन्सिल के मन्त्री नियत हुए। महाराज कूचविहार काशी में इनके साथ पढ़ चुके थे। १८९९ में इनका स्वर्गवास हुआ। संस्कृत पर इनका अच्छा अधिकार था, अंग्रेज़ी भी अच्छी जानते थे, और राजा महाराजाओं से उनका अच्छा प्रियभाव था। भारतेन्दु के घनिष्ठ मित्रों में थे। और हिन्दी के भावुक कवि और गद्यलेखक थे। ठाकुर साहेब ने भारतीय ग्राम्य-जीवन का जो मधुर रेखा-चित्र 'श्यामा-स्वप्न' में व्यक्त किया है वह बहुत सुन्दर है। देखिए—

याही मग ह्वै के गए, दंडकवन श्रीराम।
तासों पावन देस वह, विन्ध्याटवी ललाम॥

"मैं कहां तक इस सुन्दर देश का वर्णन करूं?···जहां की निर्झरिणी जिनके तीर वानीर से भिरे, मदकलकूजित विहंगमों से शोभित हैं जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है, और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फल भार से नमित जनाते हैं"।···

ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला; जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकल अनेक दुर्गम, विषम, और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती पूर्व समुद्र में गिरती है।

ठाकुर साहब की रचना में साहित्यिक झलक खूब है। इनकी भाषा में शब्दों के अनियन्त्रित रूप और विरामादि की अव्यवस्था मिलती है। भाषा भी मिश्रित है—

'शाक्षी' 'तुम्हें समर्पित है' 'जिसे दूं', 'हम क्या करैं' 'चाहती हौ' 'धरे हैं' इत्यादि पूर्वी रूप हैं। परन्तु अपने काल के लेखकों की अपेक्षा भाषा बोधगम्य परिष्कृत, स्वाभाविक और प्रवाहयुक्त है। भट्ट जी की भांति वे बहुधा गद्यकाव्य के ढंग पर लिखते हैं। उनकी भाषा में 'प्रेमघन' के समान उलझन नहीं है। शैली में तड़क भड़क नहीं है, पर चमत्कार और अनोखापन है, इनकी भाषा में इनका अपना व्यक्तित्व है। उनके शब्द चयन से उनके संस्कृत के ज्ञान का पता चलता है। देखिए—

'जहां के शल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़ कर खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है, मंजु वंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे घने कि सूर्य के किरणों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं, ऐसे दण्डकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है; कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकल कर अनेक दुर्गम विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्यजल से पावन करती हुई पूर्व समुद्र में गिरती है"।

जगमोहनसिंह ठाकुर का मुद्रित साहित्य—

(१) प्रेम-रत्नाकर (२) श्यामालता (३) देवबानी (४) श्यामा-सरोजनी (५) श्यामा-स्वप्न (६) मानस-सम्पत्ति (७) ऋतुप्रकाश।

राधाकृष्णदास; जन्म ई० स० १८५९—

ये भारतेन्दु के फुफेरे भाई थे। भारतेन्दु का अधूरा नाटक 'सतीप्रताप' इन्होंने पूरा किया। इन्होंने समाज-सुधार सम्बन्धी अनेक छोटी २ पुस्तकें लिखीं।

इनका नाटक 'महाराणा प्रताप' आगे चलकर बहुत ही लोकप्रिय हुआ। काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना में इनका बड़ा हाथ रहा।

इनका मुद्रित साहित्य—

१. दुखिनी बाला २. आर्यचरितामृत ३. धर्मालाप ४. निःसहाय हिन्दू ५. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास ६. नागरीदास जी का जीवन चरित्र ७. कविवर विहारीलाल ८. महाराणा प्रतापसिंह ९. महाराणी पद्मिनी १०. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र।

अम्बिकादत्त व्यास; जन्म ई० स० १८५९—

ये संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान और सत्कवि थे। सनातन धर्म के उत्साही उपदेशक भी रहे। इनके धर्म सम्बन्धी व्याख्यानों पर बड़ी धूम रहती थी। बिहारी के दोहों पर इन्होंने 'बिहारी-विहार' नामक एक बड़ा काव्य लिखा। गद्य रचना भी इनकी .खूब थी। कुछ चीजें इन्होंने पुराने ढर्रे पर भी लिखी हैं। जैसे 'पावस-पचासा'। ये 'इन्होंने' 'उन्होंने' के स्थान पर 'इनने' 'उनने' लिखते थे। व्रजभाषा पर आपको जन्मसिद्ध अधिकार था। इन्होंने व्रजभाषा में एक 'ललिता-नाटिका' भी लिखी थी।

अम्बिकादत्त व्यास का मुद्रित साहित्य—

१ ताश-कौतुक-पच्चीसी, २ ललिता-नाटिका, ३ चतुरंग-चातुरी, ४ धर्म की धूम, ५ कलियुग और घी (प्रहसन), ६ पावस-पचासा, ७ मन की उमंग, ८ भारत-सौभाग्य-नाटक, ९ सुकवि-सतसई, १० गौसंकट नाटक, ११ कथा-कुसुम-कलिका, १२ स्वर्ग-सभा, १३ आश्चर्य-वृत्तान्त, १४ गद्य-काव्य-मीमांसा, १५ ईश्वर इच्छा, १६ बिहारी-बिहार, १७ स्वामी चरितामृत, १८ निज वृत्तान्त, १९ रसीली कजरी।

राधाचरण गोस्वामी; जन्म ई० स० १८५९—

ये वृन्दावन के निवासी थे। संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। हरिश्चन्द्र मेगज़ीन को देखकर इनके मन में देशभक्ति और समाज सुधार के भाव जगे थे। इन्होंने 'भारतेन्दु' नामक एक पत्र भी वृन्दावन से निकाला था। और कविकुल कौमुदी नामक सभा स्थापित की थी। इनकी प्रवृत्ति ब्रह्मसमाज की ओर थी। उसके समर्थन में इन्होंने 'हिन्दु बान्धव' में अनेक लेख लिखे थे। भाषा उनकी खूब सुगठित होती थी। इन्होंने अनेक मौलिक नाटक और उपन्यास लिखे हैं, ये बड़े सुजन थे।

राधाचरण गोस्वामी का मुद्रित साहित्य—

१ यमलोक की यात्रा, २ नापितस्तोत्र, ३ दामिनी-दूतिका, ४ देशो-

पकारी पुस्तक, ५ शिशिर-सुषमा, ६ रेलवे-स्तोत्र, ७ नवभक्तमाल, ८ बूढ़े मुंह मुहाँसे, ९ विदेश-यात्रा-विचार, (सं०) १० तन मन धन गुसाईं जी के अर्पण, ११ भंग-तरंग, १२ अमरसिंह राठौर, १३ श्रीदामा।

रामकृष्ण वर्मा; जन्म ई० स० १८६०—

ये काशी के निवासी थे। गद्य पद्य दोनों ही में इनकी गति थी। इन्होंने 'भारतजीवन' नामक एक प्रेस स्थापित किया। जिसमें अनेक उत्तम ग्रन्थ छपे। कई नाटकों की भी इन्होंने रचना की। अनेकों के अनुवाद किये। एक 'भारत जीवन' नाम का पत्र भी निकाला। इनके रचे हुए ग्रन्थ ये हैं—

१ कृष्ण कुमारी नाटक २ पद्मावती नाटक ३ वीरनारी ४ अकबर उपन्यास (पहला भाग) ५ अमला वृत्तान्त माला ६ कथा सरित् सागर (१२ भाग, अपूर्ण) ७ कांस्टेबल वृत्तान्त माला ८ ठगवृत्तान्त माला (४ भाग) ९ पुलिस वृत्तान्त माला १० भूतों का मकान ११ स्वर्णबाई १२ उपन्यास १३ संसारदर्पण १४ बलबीर पचासा १५ बिरहा १६ ईसाई मत खण्डन १७ चित्तौर चातकी।

महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ज्योतिर्विद; जन्म ई० स० १८६१—

ये काशी के प्रख्यात ज्योतिर्विद थे। इन्होंने ज्योतिष शास्त्र पर तथा अन्य भी अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। यथा—

१ चलन-कलन, २ चलराशिकलन, ३ तुलसी-सुधाकर, ४ नयासंग्रह, ५ मानस-पत्रिका (सूर्यप्रसाद मिश्र के साथ), ६ हिन्दी वैज्ञानिक कोष-गणित, ७ रामकहानी का बालकाण्ड, ८ समीकरण मीमांसा भाग १–२।

दत्तराम चौबे—

इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे—

१ नाड़ी-प्रकाश (सं०) २ बृहत्-निघण्टु-रत्नाकर भाग १-२-३, अभिनव निघण्टु (सटीक) इन्होंने अनेक आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों का अनुवाद भी किया।

दामोदर शास्त्री—

इन्होंने शिक्षण, यात्रा और इतिहास पर छोटी २ पुस्तकें लिखीं, जिनका विवरण यह है—१ नियुद्ध शिक्षा २ मेरी पूर्व दिक्यात्रा ३ मेरी दक्षिण दिक्यात्रा ४ रामायण-समय-विचार ५ मेरी-जन्मभूमि-यात्रा ६ बातखेल या ध्रुवचरित्र ७ चित्तौड़गढ़ का इतिहास ८ लखनऊ का इतिहास।

इनके सिवा प्रबल हिन्दी प्रचारक पं० गौरीदत्त, इतिहासवेत्ता मुन्शी देवीप्रसाद, संस्कृत के विद्वान् तुलसीराम शर्म्मा, महात्मा मुन्शीराम और अयोध्या-प्रसाद खत्री और ठाकुरप्रसाद खत्री आदि अनेक लेखक भी इस युग में हुए। एक अंग्रेज विद्वान फ्रेडरिक पिंकाट भी भारतेन्दु के परम मित्र और हिन्दी के सुलेखक और सुकवि थे।

अध्याय तीसरा

पुरानी धारा का पद्य-प्रवाह

व्रजभाषा के पद्य की पुरानी धारा इस युग में भी प्रवाहित रही। विगत युग के कवियों में रीवां के महाराजा रघुराजसिंह, कवि सरदार अयोध्या के महन्त बाबा रघुनाथदासराम सनेही, राजा लक्ष्मणसिंह अपनी रचनाएं रच रहे थे। महाराजा रघुराजसिंह ने राम-स्वयंवर महाकाव्य इसी समय लिखा जो बहुत प्रसिद्ध हुआ। सरदार कवि ने इसी काल में प्राचीन काव्यों पर अनेक बड़ी २ टीकाएं कीं, जिनमें कविप्रिया, रसिकप्रिया और सूर के दृष्टिकूट तथा बिहारी सतसई की टीकाएं बहुत प्रसिद्ध हुईं। बाबा रघुनाथदास ने इसी समय विश्रामसागर नामक बड़ा ग्रन्थ लिखा। राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुन्तला के अनुवाद का प्रथम संस्करण गद्य में ही छपाया था, परन्तु अब संस्कृत पद्यों का व्रजभाषा पद्य में अनुवाद किया। मेघदूत का अनुवाद भी पद्य ही में बहुत अच्छा किया, विशेष कर सवैय्या बहुत अच्छे लिखे।

लछीराम भट्ट और ललितकिशोरी ने भी व्रजभाषा में इस समय बहुत अच्छी रचनाएं कीं। लछीराम भट्ट बस्ती जिले के निवासी थे और कुछ दिन अयोध्या के महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' के यहां रहे थे। पीछे बस्ती के सुकवि राजा सीतलाबक्शसिंह के यहां से बहुत सी भूमि पाकर वहीं रहने लगे। दरभंगा, पुर्निया, गिद्धौर आदि राजदर्बारों में इनका बहुत मान था। इन सम्मानदाता राजाओं के नाम पर इन्होंने अनेक रचनाएं कीं। ये समस्यापूर्ति बड़ी जल्दी करते थे। इस काल में पुरानी परिपाटी पर व्रजभाषा में कविता रचने वालों में ये प्रमुख हैं।

ललितकिशोरी और ललितमाधुरी ये दोनों लखनऊ के प्रसिद्ध कृष्णभक्त साहूकार थे। इनका नाम कुन्दनलाल शाह और फुन्दन लाल शाह था। इन्होंने इस काल में बहुत अच्छी कविताएं व्रजभाषा में कीं।

गोविन्द गिल्लाभाई, और खड्गबहादुरमल्ल, गिरिधर कविराय, जानकी-प्रसाद महंत तथा हाफ़िज़-उल्ला-ख़ां इस काल में व्रजभाषा की उत्तम रचनाएं करते रहे। गोविन्द गिल्लाभाई गुजराती वैष्णव थे। इन्होंने व्रजभाषा के काव्यों का बहुत अच्छा संग्रह इकट्ठा किया था। इन्होंने भूषण का एक अति शुद्ध संस्करण भी निकाला था। इनकी कविता व्रजभाषा के प्राचीन ऊंचे दर्जे के कवियों की टक्कर की होती थी। राजा खड्गबहादुरमल्ल अच्छे कवि और साहित्य मर्मज्ञ थे। हाफिज-उल्ला-खां भी व्रजभाषा में बड़ी अच्छी कविताएं रचते थे। ये सब ऐसे कवि थे जो विगत युग से साहित्य-रचना करते चले आ रहे थे।

भारतेन्दु के समकालीन साहित्यिक जिन्होंने हिन्दी साहित्य की नवीन प्रगति में सहयोग दिया और पुरानी काव्यधारा से भी सम्बन्ध बनाए रखा, इन में स्वयं भारतेन्दु तो थे ही, पर पं० प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, ठा० जगमोहनसिंह, पं० अम्बिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्मा का नाम खास तौर पर लिया जा सकता है। इन्होंने व्रजभाषा के उन प्राचीन शब्दों को जो प्राकृत और अपभ्रंश काल के थे, तथा जिनका प्रयोग बोलचाल की भाषा में से कई सौ वर्षों से उठ गया था परन्तु कवित्तों और सवैयों में आते रहते थे, उन्हें पृथक् कर दिया। जैसे 'चक्कवें' 'भुवाल' 'ठाबो' 'दीह' 'अनो' 'लोय' आदि। ऐसे शब्दों के प्रयोग के कारण व्रजभाषा जनसाधारण की भाषा से दूर होती जा रही थी।

दूसरी आदत व्रजभाषा के पुराने कवियों की यह थी कि वे शब्दों को तोड़ मरोड़ कर अपने मतलब का गढ़ लेते थे। इन्होंने इस परिपाटी को भी बंद कर दिया और अपनी रचनाओं में केवल बोलचाल की ही व्रजभाषा का प्रयोग जारी रखा।

कवि समाज—

भारतेन्दु ने एक कवि-समाज की स्थापना की थी और उसमें समस्या-पूर्ति की पद्धति चलाई थी। पं० अम्बिकादत्त की प्रतिभा पहले पहल कवि-समाज में समस्यापूर्ति करने पर प्रकट हुई। भारतेन्दु स्वयं बड़े कोमल भाव और मधुर पदावली कहते थे। देखिये—

"पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना, दुखिया अखियां नहिं मानत हैं"

उनके शृंगार रस की रचनाओं का संग्रह 'प्रेममाधुरी' में है। कवित्त और सवैयों के सिवा, भक्ति और शृंगार के अनेक गाने योग्य पद उन्होंने बनाये जो 'प्रेम-फुलवारी' 'प्रेम-मालिका' 'प्रेम-प्रलाप' आदि पुस्तकों में संगृहीत हैं। उनकी ये रचनाएँ कृष्ण-भक्त कवियों की शैली पर हैं।

पं० प्रतापनारायण मिश्र भी समस्यापूर्ति तथा पुरानी पद्धति की कविता बहुत अच्छी करते थे। कानपुर के रसिक समाज में उनकी धाक थी।

"पपीहा जब पूछि है पीव कहां" की एक पूर्ति देखिये—

बनि बैठि है मान की मूरति सी, मुख खोलत बोले न 'नाही' न 'हां',
तुम ही मनुहारि के हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहां।
"बरखा है प्रताप जू धीर धरो, अबलौं मनको समझायो जहां,
यह ब्यारि तबै बदलैगी कछू, पपिहा जब पूँछि है पीव कहां।

प्रेमघन की भी एक समस्यापूर्ति देखिये। समस्या है—

'चरचा चलिबे की चलाइये ना,
बगियान बसंत बसेरो कियो, बसिये तेहि त्यागि तपाइये ना,
दिन काम कुतूहल के जो बने, तिन बीच वियोग बुलाइये ना।
घन प्रेम बढायकै प्रेम अहो, बिथा वारि वृथा बरसाइये ना,
चित चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिवे की चलाइये ना।

देखिये क्या अनुप्रास है।

कवि-समाज में कभी २ बड़ी टेढ़ी समस्याएं आ जाती थीं जैसे—

"सूरज देख सकै नहि घुग्घु"
"मोम के मन्दिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे"

ऐसी समस्यापूर्तियां पं० अम्बिकादत्त व्यास और बा० रामकृष्ण वर्मा (बलवीर) मजे की किया करते थे। कवि-समाज में दूर २ से कवि आते थे जिनमें डुमराव के कवि नकछेदी तिवारी (अजान) विशेष उत्साही थे। वे बड़ी सुन्दर रचना करते थे। पढ़ने का ढंग भी उनका निराला था। पं० विजयानंद त्रिपाठी भी इस रसिक समाज की जान थे। व्यास जी ने 'बिहारी-विहार' की रचना की जिसमें बिहारी के सब दोहों पर कुण्डलियां लिखीं। 'अजान' कवि की 'मनोज-मंजरी' भी अच्छा ग्रन्थ है। लाला सीताराम बी० ए० भी इसी पंक्ति के कवि हैं। वे अपना उपनाम 'भूप' देते थे। उन्होंने रघुवंश का अनुवाद दोहे चौपाइयों में और मेघदूत का घनाक्षरी में किया। पं० अयोध्यासिंह 'उपाध्याय' भी अपने प्रारम्भिक काल में पुराने ढंग की शृंगारी कविता व्रजभाषा में किया करते थे।

व्रजभाषा को भारतेन्दु ने नया प्राण दिया। उसके छन्द ही नहीं, भाव-व्यञ्जनाएं भी बदल गईं। भारतेन्दु ने जिस नई लहर को कविता की नवीन धारा में उत्पन्न किया, वह देशभक्ति की लहर थी। लोकहित, समाज-सुधार और भाषा सम्बन्धी प्रयत्न उसी के अंग थे। हां, हास्य और विनोद की कविता में इसी युग में स्थान मिला। कविता के प्राचीन महारथी हास्य रस के सदा दरिद्र ही रहे।

परन्तु भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने ढूंढ़ २ कर 'पुरानी लकीर के फ़कीर' 'नये फ़ैशन के गुलाम' 'नोच खसोट करने वाले' 'अदालती अमले' 'मूर्ख और खुशामदी रईस' 'नाम और दाम के भूखे देशभक्त' आदि हास्यास्पद पात्रों को न जाने कहां से लाकर पाठकों के सामने रख दिया। वीर रस अब देश-प्रेम के रंग में अपने परिधान को रंग कर और ही छटा दिखाने लगा। इस प्रकार इस युग में नवीन नवीन विषय, नवीन नवीन परिस्थितियों के साथ हमारे मनोविकारों को आन्दोलित करने लगे। इससे विषयों में अनेकरूपता व्याप गई और इससे उनके विधान का ढांचा ही बदल गया। प्राचीन धारा में 'मुक्तक' और 'प्रबन्ध' प्रणाली थी, उसी में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन करके नया रूप बना लिया गया। पुरानी धारा में प्रबन्ध का रूप कथात्मक और वस्तु का वर्णनात्मक था। इतिहास या पुराणों की बड़ी २ कथाओं को लेकर भी प्रबन्ध-काव्य रचे जाते थे, परन्तु इस युग में छोटे २ प्रबन्धात्मक निबन्धों की परम्परा चल गई। इस उद्योग में भारतेन्दु का साथ प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास आदि ने दिया। परन्तु सबसे ऊंचा स्वर भारतेन्दु ही का था। देखिये—

सहसन बरसन सों सुन्यो, जो सपने नहि कान। सो जय आरज शब्द···
फरकि उठी सबकी भुजा खरकि उठी तरवार······

(विजयिनी विजय वैजयन्ती)

तबहिं लग्यो जहं रह्यो एक दिन कंचन बरसत,
तहां चौथाई जन रूखी रोटी को तरसत।
जहां कृषी वाणिज शिल्प सेवा सब माहीं,
देसिन के हित कछू तत्व कहुं कैसेहु नाहीं।
कहिय कहां लगि नृपति दबे हैं जह ऋन भारन,
तहँ तिन की धन कथा कौन जो गृही सधारन।

(प्रतापनारायण मिश्र)

अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे,
तासों कारे, 'कारे' शब्दहुँ पर हैं वारे।
कारे काम, राम, जलधर, जल बरसावन वारे,
कारे लागत ताही सों कारन कौं प्यारे।
याते नीको है तुम 'कारे' जाहु पुकारे,
यहै असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे,
सफल होहिं मन के सब ही संकल्प तुम्हारे।

(प्रेमघन)

यह पद्य दादाभाई नौरोजी के पार्लियामेण्ट के मेम्बर होने के समय कहा गया था।

ठाकुर जगमोहनसिंह यद्यपि नये विषयों की ओर नहीं आये परन्तु गद्य की भांति पद्य में भी उन्होंने काफ़ी सुषमा विस्तार की। उनका प्रकृति-वर्णन बड़ा अद्भुत है। वह अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ, शेली और मरडिथ की टक्कर का है, उसमें प्रकृति का संस्कृत साहित्य की भांति सूक्ष्म निरीक्षण है। उनमें विशेषता यह है कि वे अपने सुख दुःख में रंग कर प्रकृति का निरीक्षण नहीं करते।

अम्बिकादत्त व्यास ने अतुकान्त रचनाएं भी कीं। और नये २ विषयों पर छोटे २ पद्य लिखे। फिर भी यह कहना होगा कि गद्य के समान पद्य को नई धारा में प्रवाहित नहीं किया जा सका। व्रजभाषा का सारा ही काव्य प्रायः राधाकृष्ण के शृंगार को लेकर है। पुरानी धारा के कवि तो दूसरी बात जानते ही न थे, अलबत्त नई धारा के कवियों ने नाटकों, प्रहसनों और फुटकर पदों में नये विषयों या अनुप्रासंगिक विषयों को छेड़ा। देश दशा, देशभक्ति, होली, बसंत, साधारण गाने की वस्तु नई भावना से लिखी गई।

भारतेन्दु ने स्वयं खड़ी बोली पर व्रजभाषा में कोई पद्यात्मक निबन्ध नहीं लिखा।

अध्याय चौथा

भारतेन्दु युग का गद्य-साहित्य

उपन्यास—

उपन्यास का प्रादुर्भाव इस युग की एक महान् घटना है। उसकी आश्चर्य-जनक प्रगति तो आगे द्विवेदी युग में हुई। भारतेन्दु ने कोई उपन्यास नहीं लिखा। सन् १८७१ में सदानन्द मिश्र और शम्भुनाथ मिश्र ने एक उपन्यास का सम्पादन किया था, जिसका नाम 'मनोहर उपन्यास' रखा था। इसके लेखक का पता नहीं लगा। इसे लेखकों ने केवल 'संग्रहीत' और 'संशोधित' ही किया। सम्भवतः वही हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास था। इसके बाद ही सन १८८४ में श्रीनिवास-दास का 'परीक्षागुरु' दुबारा छपकर प्रकाशित हुआ। यही उपन्यास-लेखक के परिचय के साथ सर्वांगपूर्ण था। इसमें लेखक ने मौलिक रूप से जीवन के अनेक चित्रों को अंकित करने का प्रयत्न किया। इसलिए श्रीनिवास ही हिन्दी में उपन्यास परम्परा के पिता कहे जाते हैं।

दूसरा उपन्यास सन १८८६ में बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' और तीसरा किशोरीलाल गोस्वामी का 'त्रिवेणी' सन १८८८ में छपा।

प्रथम उपन्यास उपदेश-प्रधान था और दूसरे में सुधारों का विरोध और सनातनधर्म के सिद्धान्तों का समर्थन था। इस युग में ये ही चारों उपन्यास हमें दृष्टिगोचर होते हैं।

कहानियां—

कहानियों का इस युग में ही लिखना प्रारम्भ हुआ। उसका विकास आगे चलकर द्विवेदी युग में हुआ, जो आगे और भी विकसित होता रहा। इनमें उद्देश्य-प्रधान कहानियां पाठ्य-क्रम के दृष्टिकोण को लेकर लिखी गईं।

पहली कहानी-पुस्तक कृष्णदत्त मिश्र की सन १८६७ में 'बुद्धि-फलोदय' छठा संस्करण लेकर हमारी दृष्टि में आती है। इसमें सुबुद्धि और दुर्बुद्धि का विवाद दिखाया गया है। दूसरी कहानी-पुस्तक राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की 'वामामनोञ्जरन' सन १८६७ में तीसरी बार छपी। ये दोनों कहानी की पुस्तकें स्त्री-शिक्षा के दृष्टिकोण से लिखी गई थीं। इनके बाद सन १८७० में पण्डित गौरीदत्त की 'तीन देवियों की कहानी' का दूसरा संस्करण हमारे सामने आता है। जिसमें एक अलौकिक कथा है। सन १८७१ में नजमुद्दीन की एक कहानी-पुस्तक 'सूर्यपुर की कहानी' का तीसरा संस्करण छपा। ऐसी ही एक और कहानी-पुस्तक रामप्रसाद तिवारी की 'नीतिसुधा तरंगिणी' १८७५ में दुबारा छपी। स्वतन्त्र कहानियों की पहिली पुस्तक पराहूदास की 'दृष्टान्तकोश' सन १८७० में छपी। इसके बाद १८८८ में अम्बिकादत्त व्यास की 'कथा-कुसुम-कलिका' प्रकाशित हुई।

रसप्रधान कहानियों में गौरीदत्त की 'देवरानी जेठानी' १८७१ में छपी। यह शृङ्गार-रस प्रधान कहानी वास्तव में एक छोटा सा १३६ पृष्ठों का उपन्यास ही था। सन १८७९ में श्यामलाल चक्रवर्ती की 'कहानी कलाकामी' छपी। यह भी काफ़ी लंबी शृङ्गारप्रधान कहानी है। १८८८ में 'सपने की सम्पत्ति' दुर्गाप्रसाद मुन्शी की 'मनफूल की कहानी' १८८५ में छपी जो १२२ पृष्ठों की है। १८९८ में सूर्यभानकृत 'लज्जावती का किस्सा' छपा।

वस्तुप्रधान कहानियां जो केवल मनोरञ्जन के लिए लिखी गईं, इनमें मुन्शी नवलकिशोर सितारेहिन्द ने सौ कहानियों का एक संग्रह 'मनोहर कहानी' के नाम से १८८० में छापा। इसके सिवा १८८३ में गोपालप्रसाद शर्मा की दो कहानी-पुस्तकें 'कंजूस-चरित्र' तथा 'ठगलीला' प्रकाशित हुईं।

उक्तिप्रधान कहानियों में प्रायः हास्यरस का पुट रहा। इसमें कालीदास, भोज, या अकबर बीरबर को लेकर कामचलाऊ, देश, काल, पात्र की भूमिका के आधार पर रचनाएँ हुईं। इनमें कहानीतत्व बहुत कम रहा। ऐसी एक कहानी-पुस्तक १८८६ में चण्डीप्रसाद सिंह की 'हास्यरत्न' छपी।

नाटक—

यह मार्के की बात है कि भारतेन्दु युग में जो गद्य का विकास हुआ उसका प्रवर्तन नाटकों के साथ हुआ। भारतेन्दु से प्रथम 'नाटक' नाम से जो दो चार पुस्तकें व्रजभाषा में लिखी गई थीं, उनमें महाराज विश्वनाथसिंह के आनन्द रघुनन्दन नाटक को छोड़कर और किसी में नाटकत्व न था। भारतेन्दु ने सबसे पहले बंगला भाषा से 'विद्यासुन्दर' नामक नाटक का अनुवाद किया जो सन १८६९ में छपा। इस समय वह एक मौलिक नाटक 'प्रवास' लिख रहे थे परन्तु वह पूरा नहीं हुआ। पर आगे चलकर उन्होंने काफ़ी नाटक लिखे। प्रतापनारायण मिश्र और बद्रीनारायण 'प्रेमघन' ने भी उनका अनुसरण किया। बाबू रामकृष्ण वर्मा ने इस बीच में अनेक बंगला नाटकों का अनुवाद कर डाला। उन दिनों नाटक खेलने वाली जो पारसी कम्पनियां थीं वे उर्दू नाटक खेलती थीं।

हिन्दी नाटक को अभिनीत करने के योग्य स्टेज उस काल में नहीं था। परन्तु भारतेन्दु, मिश्र और प्रेमघन ने मिलकर हिन्दी नाटकों के अभिनय का प्रबंध किया और वे स्वयं भी अभिनय में पार्ट लेने लगे। एक बार पण्डित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का 'जानकी मंगल' नाटक का अभिनय सन १८६८ में किया गया जिसे देखने के लिए तत्कालीन काशी नरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह भी आए थे। इसमें अभिनय करने के लिए पं० प्रतापनारायण मिश्र को अपने पिता से मूंछें मुंडाने की आज्ञा लेनी पड़ी थी और इस अभिनय का विवरण 'इण्डियन डेली मिरर्' में प्रकाशित हुआ था।

जो नाटक इस युग के प्रारम्भ में लिखे गये, वे काव्यधारा की पद्धति पर थे। राम-चरित्र से सम्बन्धित ऐसे नाटकों में शुद्ध नाटकत्व कुछ भी न था। वे केवल रामलीला ही के लिये लिखे गये थे।

कृष्ण चरित्र से संबंधित नाटकों की भूमि 'व्रज' और 'द्वारिका' दो रहीं। व्रजभूमि से संबन्धित सबसे प्रथम नाटक भारतेन्दु का 'चन्द्रावली' सन १८७७ में प्रकाशित हुआ। इसमें चन्द्रावली को लेकर लोकोत्तर प्रेम का रूपक बांधा गया था। इसके बाद अम्बिकादत्त व्यास का 'ललिता' १८८४ में प्रकाशित हुआ। १८८६ में हरिहर दत्त दुबे ने रामलीला की शैली पर महारास लिखा। और १८८५ में खड्गबहादुरमल्ल ने इसी नाम का एक और नाटक लिखा। द्वारिका-भूमि

सम्बन्धी नाटकों में पहला स्थान खड्गबहादुरमल्ल के 'कल्पवृक्ष' का है जो सन १८७६ में छपा।

सन्त चरित्र पर भी नाटक लिखे गये। इनमें अण्णा जी गोविन्द जी इनामदार का 'गोपीचन्द' सन १८७७ में, और सखाराम बालकृष्ण सरनासन का इसी नाम का एक नाटक १८८३ में छपा।

ऐतिहासिक नाटकों का कुछ अधिक विस्तार हुआ। और उनकी कथा-वस्तु मध्यकालीन भारत से सम्बन्धित रही। इसका प्रारम्भ भारतेन्दु के 'नील देवी' से हुआ जो सन १८८२ में प्रकाशित हुआ। इसके बाद सन १८८६ में श्री निवासदास ने 'संयोगिता स्वयंवर' छपाया।

अंग्रेज़ी शासन काल से सम्बन्धित कोई नाटक इस काल में नहीं लिखा गया। **पौराणिक कथा वस्तु** को लेकर लिखे गये नाटकों में महाभारत-भूमि का प्राधान्य रहा। इस प्रकार के नाटकों में सन १८७६ में विष्णु-गोविन्द-शिरवादेकर का 'कर्ण-पर्व' और १८८५ में गजराजसिंह का 'द्रौपदी-वस्त्र-हरण' प्रकाशित हुआ। अम्बाप्रसाद का 'वीर-कलंक' १८८८ में छपा। प्रसिद्ध पौराणिक चरित्रों को लेकर लिखे गये नाटकों में भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' सन १८७५ में छपा, जिसकी बहुत प्रसिद्धि हुई। इसके बाद सन १८८८ में श्रीनिवासदास का 'प्रह्लाद चरित्र' छपा। रामकुल को लेकर कोई रचना नहीं हुई, परन्तु कृष्णकुल को लेकर 'ऊषा हरण' सन १८८७ में चन्द्र शर्मा ने लिखा।

शृंगार रस प्रधान नाटक भी काफ़ी लिखे गये। जनता में और पाठकों में भी एन्द्रिय-वासना काफ़ी थी, काल्पनिक प्रेम-उपाख्यानों को लेकर इस युग में काफ़ी नाटक-रचना हुई। पहला नाटक इस परम्परा का जो मिलता है वह केशव राम भट्ट का 'सज्जाद सम्बल' है जो १८७७ में छपा, पर वह बंगला अनुवाद था। इसके बाद श्रीनिवासदास का 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' १८८० में छपा, जो दुःखान्त था। इस नाटक का इस युग के नाटकों में खास स्थान है। केशवराम भट्ट ने बंगला से आधारित एक और नाटक सन १८८१ में लिखा, उसका नाम था 'समशाद-सौसन'। १८८३ में श्रीनिवासदास का 'तप्तासंवरण' छपा। इनके बाद भी कुछ नाटक छपे जिनका संक्षिप्त विवरण इस तरह है।

१८८४ चन्द्रप्रभा मनस्वी—महादेव प्रसाद। १८८४ मदनमंजरी—अमरसिंह मोतिया। १८८५ रति कुसुमायुध—खड्गबहादुरमल्ल। १८८६ में तुम्हारी हूं—सतीशचन्द्रबसु।

प्रतीकवादी नाटकों में कमलाचरण मिश्र का एक ही 'अद्भुत नाटक' १८८५ में प्रकाशित हुआ। सामयिक और राष्ट्रीय नाटकों में भारतेन्दु का 'भारत-दुर्दशा' नाटक १८८२ में और श्रीखड्गबहादुरमल्ल का 'भारत आरत' १८८५ में छपा। अम्बिकादत्त व्यास का 'भारतसौभाग्य' १८८७ में और बदरीनारायण चौधरी का 'भारत सौभाग्य' १८८९ में छपा।

सामाजिक समस्याओं पर भी अधिक नाटक लिखे गये, जिनमें अनमेल विवाह सम्बन्धी नाटकों की बहुतायत रही। बाल-विवाह और सतीत्व पर भी नाटक लिखे गये। १८८२ में राधाकृष्णदास का 'दुःखिनी बाला' दुबारा छपा। विधुलाल मिश्र का "विवाहिता विलाप" १८८४ में और तोताराम वकील का "विवाह विडम्बना" १८८३ में छपा। खड्गबहादुरमल्ल का 'भारत-ललना' १८८८ में छपा। गोरक्षा पर भी दो नाटक छपे। एक अम्बिकादत्त व्यास का 'गो संकट' १८८७ में और दूसरा जगत नारायण का "भारत दुर्दिन" १८८९ में। पं० रुद्रदत्त शर्मा ने १८८८ में आर्य समाज के प्रभाव से प्रभावित होकर 'पाखण्डमूर्ति' लिखा।

प्रहसनों का प्रादुर्भाव भी भारतेन्दु ने किया। इनमें धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों पर रहस्य पूर्ण व्यंग्यों की अवतारणा की गई थी।

भारतेन्दु का ऐसा पहला नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' सन १८८६ में छपा। इसमें मद्य-मांस के सेवन करने को धर्मानुमोदित बताने वालों का मजाक उड़ाया गया था। यह नाटक उन्होंने १८७३ में लिखा था। इसके बाद १८७७ में बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान' या 'जैसे को तैसा' छपा। १८७६ में देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'जय नृसिंह की' छप चुका था। इसके बाद १८८२ में भारतेन्दु का 'अंधेरनगरी' दुबारा छप कर प्रकाशित हुआ। सन १८८४ में हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का 'ठगी की चपेट' और १८८५ में मन्नालाल शर्मा का 'हास्यार्णव' दुबारा छपा। इसी सन में देवदत्त मिश्र ने 'बाल-विवाह-दूषक' लिखा। प्रताप नारायण मिश्र का 'कलिकौतुक रूपक' और देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'कलि-युग जनेऊ' १८८६ में छपा। १८८७ में राधाचरण गोस्वामी ने 'बूढे मुंह मुहांसे' लिख कर वृद्ध विवाह का मजाक उड़ाया। और १८८८ में रामसरण शर्मा ने 'अपूर्वरहस्य' लिखा। इसी सन में भारतेन्दु का 'विषस्य विषमौषधम्' छपा, जिसका संबंध तत्कालीन बड़ौदा नरेश के अपदस्थ किये जाने से था।

सब बातों पर ध्यान देने से कहा जा सकता है कि इस युग का नाटक अपने जीवन के युग से संश्लिष्ट रहा। प्रहसन काफ़ी उत्साह से लिखे गये। आगे चलकर द्विवेदी युग में नाटकों का काफ़ी विस्तार हुआ।

निबन्ध साहित्य—

पुस्तक के रूप में इस युग में बहुत कम निबन्ध लिखे गये। पत्र-पत्रिकाओं में तो छोटे २ अनेक निबन्ध लिखे गये। पुस्तक रूप में अपने निबन्धों को अपनी आंखों से देखने का सौभाग्य इस युग में केवल भारतेन्दु को ही प्राप्त हुआ। उनकी 'खुशी' नामक निबन्ध पुस्तक १८८७ में छपी। हनुमानप्रसाद की 'प्रज्ञावाटिका' १८८१ में और हरनाथप्रसाद खत्री का मानव-विनोद सन १८८५ में द्वितीयबार छपा। द्विवेदी-युग में निबन्ध ग्रन्थों का काफ़ी प्रसार हुआ।

साहित्य-शास्त्र—

साहित्य शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों का प्रकाशन कुछ नई और कुछ पुरानी पद्धति पर हुआ। साहित्य शास्त्र में ६ विषयों पर रचना हुई, १ छन्दशास्त्र २ अलंकार ३ नायिका भेद, ४ रस विवेचन ५ काव्यशास्त्र, और ६ नाट्यशास्त्र। **छन्दशास्त्र** का सब विषयों की अपेक्षा प्राधान्य रहा। निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुईं। १८६१ में रुद्रपिंगल–ज्वालास्वरूप, चित्तचन्द्रिका–राजा बलवानसिंह, पिंगल–श्रीधर पाठक। १८७५ में छन्द प्रदीप–कन्हैयालालशर्मा, १८७७ में छन्दोबोध–ऋषिकेश भट्टाचार्य, १८७८ में छन्दमहोदधि–उमरावप्रकाश। इनमें चित्त-चन्द्रिका और छन्दोबोध परिपूर्ण ग्रन्थ हैं। **अलङ्कार**—ग्रन्थों में उदाहरण के लिए किसी न किसी पौराणिक चरित्र का आश्रय लिया गया। रूपदास स्वामी की 'सुरसालंकृतबोधिनी' १८७६ में छपी जिसमें पांडवों के चरित्र उदाहरण के लिए चुने गए। इसी प्रकार त्रिलोकीनाथसिंह के 'भुवनेश-भूषण' में—जो १८८२ में छपा, राधाकृष्ण का चरित्र लिया गया। **नायिकाभेद**—१८८२ दूतीदर्पण–बिहारीसिंह, १८८५ लक्ष्मीविलास–राजा लक्ष्मीनाथसिंह, १८८८ नायिकारूप दर्शन, शिवसहाय उपाध्याय। **रस**—सम्बन्धी ग्रन्थों में कृष्णलाल का 'रस सिन्धु विलास' १८८३ में और राधामोहन का 'रसलहरी' १८८४ में छपा। साहप्रसाद का 'रसरहस्य' १८७८ में छपा। **काव्य-शास्त्र**—पर १८७७ में काशीनाथ ने 'काव्य-पञ्चांग' छापा। फिर १८८६ में जानकीप्रसाद का 'काव्य-सुधाकर' छपा। **नाट्य-शास्त्र**—पर सिर्फ़ एक ग्रन्थ हरिश्चन्द्र भारतेन्दु कृत 'नाटक' १८८३ में छपा।

इस सम्पूर्ण साहित्य में मध्ययुगीन रुचि रही, नवचेतना के दर्शन नहीं हुए।

जीवनचरित्र—

आधुनिक सन्तों के चरित्रों में स्वामी दयानंद सरस्वती का जीवनवृत्त सन १८८१ में 'दयानंद-दिग्विजय' गोपालशर्मा शास्त्री ने लिखा। फिर सन १८८४ में एक पुस्तक 'स्वामी दयानंद की कुछ दिनचर्या' के नाम से

प्रकाशित हुई जिसम उनकी डायरी के कुछ पृष्ठ थे। **मध्ययुग के सन्तों की** जीवनियों में जयचन्द जोशी ने सन १८६८ में 'गोपीचंद' छापा, और सन १८७५ में अमरसिंह लिखित 'क़िस्सा हक़ीक़तराय' छपा। **ऐतिहासिक चरित्रों में** केवल एक पुस्तक सन १८८४ में राधाकृष्णदास लिखित 'आर्यचरितामृत बाप्पारावल' छपी। विदेशी चरित्रों में रमाशंकर व्यास का 'नेपोलियन बोनापार्ट' १८८३ में और जगन्नाथ का 'मुहम्मद' १८८७ में प्रकाशित हुआ। जीवन-साहित्य इस काल में एक नवीन वस्तु थी। इस क्षेत्र में आगे चलकर नवचेतना के लक्षण प्रकट हुए।

वृत्तसंग्रह और इतिहास—

कुछ थोड़े से वृत्तसंग्रह प्रकाशित हुए। सन १८७७ में सन्तसिंह का 'गुरुचरित्रप्रभाकर' प्रकाशित हुआ, जिसमें दस सिख गुरुओं का चरित्र व्यक्त था। सन १८८४ में हरिश्चन्द्र भारतेन्दु का 'प्रसिद्ध महात्माओं के जीवन चरित्र' और प्रतापनारायण मिश्र का 'चरिताष्टक' प्रकाशित हुए।

भारतीय राजनैतिक इतिहासों का प्रारम्भ शिक्षाविभाग की आवश्यकताओं से हुआ। सब से प्रथम १८७६ में शिवप्रसाद सितारेहिन्द का 'इतिहासतिमिरनाशक' छपा। इससे प्रथम १८६८ में मुहम्मदनज़ीर का 'भारतवृत्तावली' दुबारा छप चुका था जिसमें भारतवर्षीय राजाओं का वर्णन था। सन १८७३ ही में गोपाललाल शर्मा की 'इतिहासकौमुदी' पद्यबद्ध छपी। हरिश्चन्द्र भारतेन्दु का 'बादशाह-दर्पण' १८८४ में छपा। और १८८६ में जवाहरमल का 'इतिहास मुकुर'। इसमें पद्य में आलमगीर द्वितीय के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन है। **भारत की राजनैतिक, आर्थिक, और सामाजिक दशा सम्बन्धी साहित्य** इस युग में बहुत कम लिखा गया। परन्तु यह भी इस युग की एक नवीनता थी और यह मानना पड़ेगा कि इस दिशा के साहित्य में नवीन स्फूर्ति के लक्षण दीख पड़े। इस समय में राष्ट्रीयता की भावना का बीज अंकुरित होने लगा था और कांग्रेस का सूत्रपात हो रहा था। सन १८७५ में आनन्द जी पारीक ने 'आर्य देशपनता' नामक पुस्तक लिखी। लेखक ने पुस्तक का अंग्रेजी नाम 'इण्डियन नेशनेलिटी' रखा था। इस में राष्ट्रभाषा पर भी जोर दिया गया था। इसके बाद सन १८८२ में राधाचरण गोस्वामी ने 'देशोपकारी' पुस्तक लिखी। **सामाजिक समस्याओं** पर केवल एक पुस्तक स्त्रियों की ही स्थिति पर सन १८८३ में 'स्त्री सुदशा' खुन्नीलाल ने लिखी।

यात्रा सम्बन्धी—

उन दिनों भारत में रेल की सुविधाएं होने से यात्रा सुलभ होने लगी

थी । इस लिये भारत-यात्रा सम्बन्धी ये पुस्तकें तैयार हुईं । १८७१ में भारतेन्दु ने 'तहक़ीकात पुरी की' लिखी । तथा १८८५ में दामोदर शास्त्री ने 'मेरी पूर्व दिक्‌यात्रा' और १८८६ में 'मेरी दक्षिण दिक्‌यात्रा' और १८८८ में 'मेरी जन्मभूमि यात्रा' लिखी । **स्थानीय वर्णन से सम्बन्धित** एक पुस्तक 'काशी के छाया चित्र' १८८४ में लिखी जिसमें वहां के सभी अच्छे बुरे चरित्रों और स्थानों का वर्णन है । **विश्वदर्शन सम्बन्धी** पुस्तकों में देश-विदेश की भूगोल शिक्षा-प्रणाली पर कुछ पुस्तकें लिखी गईं । सन १८८७ में भगवानदास वर्मा ने पश्चिमोत्तर तथा अवध का भूगोल लिखा और मुहम्मद हुसैन का 'भूगोल एशिया' १८८३ में, शिवप्रसाद सितारेहिन्द का 'भूगोल-हस्तामलक' १८७७ में, तथा रामप्रसादलाल का 'भूतत्व-प्रदीप' १८८५ में छप चुके थे । इस साहित्य का यद्यपि बहुत कम निर्माण हुआ परन्तु यह विषय भी नवीन था और इसमें आगे चलकर काफ़ी विकास हुआ ।

भाषा-ज्ञान—

भाषा-ज्ञान सम्बन्धी जो साहित्य इस युग में प्रकाशित हुआ, उसे सात भागों में विभक्त किया जा सकता है । १ हिन्दी आन्दोलन २ भाषा ३ हिन्दी व्याकरण ४ हिन्दी शब्दकोश ५ हिन्दी लोकोक्ति संग्रह ६ विशिष्ट विषयों के कोष ७ विभाषा विज्ञान ।

इस युग में उर्दू की प्रतिस्पर्द्धा में हिन्दी को जीवित रखने का आन्दोलन चल रहा था । पं० गौरीदत्त ने आगे बढ़ कर हिन्दी की आवाज़ बहुत ऊंची की । उन्होंने सन १८८२ में 'उर्दू अक्षरों से हानि' 'देवनागरी प्रचार के उपदेश' 'नागरी और उर्दू का स्वांग' 'देवनागरी स्तोत्र' 'नागरी का दफ्तर' 'नागरी के भजन' तथा 'गौरी नागरी कोष' आदि छोटी २ पुस्तकें प्रकाशित कीं । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इस आन्दोलन में भाग लिया । उन्होंने सन १८८३ में 'हिन्दी भाषा' 'हिन्दी लेक्चर' प्रकाशित किये । १८८५ में काशीनाथ खत्री ने 'मातृभाषा की उन्नति किस विध करनी योग्य है' लिखी । इसी समय बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने अपनी क़लम उठाई और बड़ी लगन से देवनागरी का प्रचार करने में लग गये । पं० गौरीदत्त का प्रचार-क्षेत्र पश्चिमी हिन्दी प्रान्त था और खत्री जी का पूर्वी हिन्दी प्रान्त । पण्डित जी में और खत्री जी में एक और भी भिन्नता थी । पण्डित ज़ी का विशेष आग्रह नागरी-लिपि के लिये था और खत्री जी ने उर्दू-प्रधान हिन्दी का विरोध किया था । १८८७ में खत्री जी ने एक पुस्तक लिखी, उसका नाम था 'मौलवी स्टाईल की हिन्दी का छन्द भेद' । **व्याकरण सम्बन्धी** जो पुस्तकें इस काल में लिखी गईं वे सब प्रायः शिक्षा विभाग की आवश्यकता के दृष्टिकोण से लिखी गईं । इन पुस्तकों में भैरवप्रसाद मिश्र का 'हिन्दी लघु व्याकरण' सन १८७१

में द्वितीय वार प्रकाशित हुआ। इसके बाद ही १८८६ में राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द का हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुआ।

शब्द कोशों की पुरानी परम्परा चलती रही। निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई—१८७४ 'नानार्थ नव-संग्रहावली' मातादीन शुक्ल। १८७१ में नवीन पद्धति पर कलकत्ते की 'कलकत्ता बुक एण्ड लिटरेचर सोसाइटी' 'हिन्दी कोष' तथा १८७३ में राधेलाल ने 'शब्दकोश' लिखा। सदासुखलाल का 'कोषरत्नाकर' १८७६ में और मंगलीलाल लाला का 'मंगलकोष' १८७७ में छपा। देवदत्त तिवारी ने १८८३ में 'देवकोश' दुबारा छपाया। फिर सन १८८५ में कैसर वक्श मिर्जा का 'कैसरकोष' छपा। **विभाषा विज्ञान** की एक पुस्तक १८८३ में एस० डबल्यू० फ़ैलन की 'न्यू इंगिलश हिन्दुस्तानी डिक्शनरी' प्रकाशित हुई।

ललितकला—इस विषय में संगीत सम्बन्धी ग्रन्थों का प्राधान्य रहा। उल्लेखनीय ग्रन्थ इस प्रकार प्रकाशित हुए—

१८७८ 'गीतावली' डा० सुरेन्द्रमोहन ठाकुर। १८८२ 'संगीत सप्तार्णव तरंग' गोपालदास संगीतशास्त्री। १८८३ 'संगीतसार' हरिश्चन्द्र भारतेन्दु। १८८५ गायनसागर (व्रजभाषा में) रामेश्वर हरि जी ज्ञानी। 'राग रत्नाकर' भक्तराम। अन्य कलाओं में एक ग्रंथ बलदेव वर्मा का 'बलदेव चित्र रत्नाकर' नामक चित्र-संग्रह प्रकाशित हुआ।

अन्य उपयोगी कला—कृषि, बाग़बानी, कताई, बुनाई, उद्योग, युद्धकला, गृहशिल्प पर इस युग में एक भी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। केवल स्काउट कला पर एक पुस्तक श्रीनाथ मिश्र की 'अवाक् वार्तालाप' १८८५ में छपी।

खेल और शरीररक्षा—गोष्ठी खेल के सम्बन्ध में ताश और शतरंज पर कई पुस्तकें लिखी गईं। सन १८७२ में अम्बिकादत्त व्यास ने 'महाताश-कौतुक-पच्चीसी, लिखी और १८८० में 'ताश कौतुक-पच्चीसी'। शतरंज पर मदनभट्ट का 'शतरंज-विलास' १८८३ में और अम्बिकादत्त व्यास का 'चतुरंग-चातुरी' १८८४ में छपा। और १८८५ में जानकीप्रसाद का 'चतुरंग विनोद'।

बाहरी खेलों के सम्बन्ध में केवल एक पुस्तक मिलती है, दामोदर शास्त्री सप्रा की 'नियुद्ध शिक्षा' जो १८८२ में छपी।

आयुर्वेद प्रणाली पर चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तकों में कुछ पुस्तकें लिखी गईं। 'वैद्यकरत्न' १८८२ में जनार्दन भट्ट ने लिखी और १८८५ में श्री कृष्ण शास्त्री ने 'चिकित्सा-धातुसार' एक रसायन ग्रन्थ लिखा। सन १८७७ में गंगाराम यती ने 'निदान' छपाया।

एलोपैथिक पद्धति पर शारीर शास्त्र, शल्य चिकित्सा और परिचर्या प्रणाली पर ये रचनाएं हुईं। १८६७ में डीमलरजी का 'A tract on heart' और १८८७ में बेलीराम का 'Human Anatomy' प्रकाशित हुआ। १८९७ में विष्णुदत्त शुक्ल का 'शारीरिक भाषा' और १८८७ में डा० बृजलाल का 'शस्त्र-चिकित्सा' छपा, जो शल्य-चिकित्सा का एक बड़ा ग्रन्थ है। १९०० में डा० महेन्दुलाल गर्ग की 'परिचर्या प्रणाली' और १९०३ में सत्यभामा देवी की 'धात्री विद्या' प्रकाशित हुई। १८८२ में हौम्योपैथी पर केवल एक पुस्तक 'हौम्योपैथिक-सार' केदारनाथ चेटरजी की प्रकाशित हुई। यूनानी पर एक पुस्तक रघुवरदयाल की 'तिब्बे-रत्न' १८८६ में और जर्राही पर रंगीलाल की 'जर्राही प्रकाश' १८८५ में प्रकाशित हुई। स्वास्थ्य रक्षा पर १८८८ में काशीनाथ खत्री की एक पुस्तक 'सदा सुखी' प्रकाशित हुई। और १८९६ में महेन्दुलाल गर्ग की 'दन्त-रक्षा'।

समाज शास्त्र और दर्शन तथा शिक्षा—

यहाँ हमें एक विशेष बात दिखाई पड़ती है कि पूर्वार्द्ध काल में जो साहित्य-निर्माण हुआ उसमें वैज्ञानिक धारणा की बहुत कमी रही, केवल युग के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ग्रंथ लिखने प्रारम्भ हुए। और वे धीरे-धीरे अधिक से अधिक वैज्ञानिक होते गए। इस धारा में 'राजनीति' और 'तर्क' पर कुछ पुस्तकें लिखी गईं। **राजनीति पर** केवल तीन पुस्तकें, जो प्राचीन परिपाटी पर लिखी हुई हैं मिलती हैं। उत्तरार्द्ध में इस विषय पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा गया। तीनों पुस्तकों का विवरण इस प्रकार है:—(१८६९) 'राजनीति' श्रीनिवासदास। (१८७२) 'राजनीति-संग्रह' जसुराम। (१८७३) 'राजनीति' देवीदास।

तर्क शास्त्र पर एक पुस्तक लिखी गई, वह भी पुरानी परिपाटी पर १८८२ में। **शिक्षा** संबंधी केवल एक ही पुस्तक १८८३ में मोहम्मद हुसैन की 'पाठशालाओं का प्रबन्ध' प्रकाशित हुई।

विज्ञान—

भौतिक विज्ञान सम्बन्धी इस काल में जो एक दो रचनाएं हुईं, वे शिक्षाविभाग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हुईं। उनमें प्रमुख सोहनलाल का 'दौत बिजली बल' १८७१ में लिखा गया जो बोलैटाईल इलेक्ट्रिसिटी पर है। उन्हीं की दूसरी पुस्तक 'रगड़ बिजली बल' १८७१ में छपी जो फ्रिक्शन एलेक्ट्रिसिटी पर है। सन १८७३ में महेन्द्र नाथ भट्टाचार्य का 'पदार्थ-दर्शन' और १८७५ में डा० लक्ष्मीशंकर मिश्र का 'पदार्थ-विज्ञान-विटप' छपा। **गणित** और उसके विभिन्न अंगों पर भी जो ग्रन्थ लिखे गये वे प्रायः

शिक्षाविभाग के लिये लिखे गये। आदित्य राम भट्टाचार्य का 'बीज-गणित' १८७४ में छपा। और १८७५ में शिवचरनलाल का 'क्षेत्रमिति प्रकाश' जो यूक्लिड संबंधी ग्रन्थ था छपा। हाईड्रास्टैटिक, हाईड्रॉलिस्क और न्यूमैटिस्क पर नवीनचन्द्र राय ने 'जलस्थिति और जलगति' नामक १८८२ में और स्टैटिक्स और डाइनैमिक्स पर 'स्थितितत्त्व' और 'गतितत्त्व' नामक ग्रन्थ भी इसी सन में प्रकाशित हुए। डाइनैमिक्स पर एक और ग्रन्थ 'गतिविद्या' नामक लक्ष्मीशंकर मिश्र ने १८८५ में लिखा। १८९० में इन्द्रा जी भगवान जी ने 'शिल्पशास्त्रान्तर्गत 'आयतत्त्व' लिखा जो वास्तु शिल्प संबंधी गणित का था। १८८६ में सुधाकर द्विवेदी ने 'चलन-कलन' 'चल-राशिकलन' और 'समीकरण मीमांसा' नामक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। **ज्योतिष** सम्बन्धी ग्रन्थों में १८६७ में हरिप्रपन्न बनर्जी की 'यन्त्री-शतवार्षिकी' छपी। फिर १८८१ में हनुमानकिशोर शर्मा की 'गुरु-सारिणी' प्रकाशित हुई। **रसायन** पर केवल एक पुस्तक प्रकाशित हुई भुवनचन्द्र वसु की १८६६ में 'दिग्विजय या आश्चर्य-चन्द्रिका'। विज्ञान इस युग का एक नया विषय था। आगे चलकर इसका अधिक विस्तार हुआ।

धर्म—

धर्म-साहित्य इस युग में काफ़ी निर्माण हुआ। परन्तु वह मध्य युग की रूढ़ि और परम्परा में जकड़ा हुआ था। इनेगिने ग्रंथों को छोड़कर नवचेतना के लक्षण नहीं दिखाई दिए। या तो खंडन-मंडन का प्राबल्य रहा या पुरानी लकीरें पीटी जाती रहीं। हिन्दी-भाषी प्रान्तों में इस युग में तीन धर्मों का प्रचार था :— हिन्दू, इस्लाम, और ईसाई। इस्लाम ने मध्य युग में हिन्दी-संस्कृति के साथ एक सामंजस्य स्थापित किया था जिसके परिणाम-स्वरूप हम हिन्दी में प्रेममार्गी शाखा का विकसित साहित्य पाते हैं।

ईसाई धर्म ने ऐसा नहीं किया और इसलिए वह हमें एक भी ऐसी पुस्तक नहीं दे सका कि जिसका साहित्यिक दृष्टिकोण से महत्व हो। अन्ततः इस्लाम भी अधिक दिनों तक हिन्दी-साहित्य-निर्माण में योग नहीं दे सका और उसने पूर्णतया उर्दू को विकसित किया। इस युग में इस्लाम या ईसाई-धर्म-साहित्य कुछ भी नहीं मिलता। इसलिए इस युग में जो धर्म-साहित्य प्रकाशित हुआ वह हिन्दू धर्म के रूपान्तरों का ही साहित्य है। इसमें नीति-धर्म, वेदान्त, सम्प्रदाय, जाति और निर्विशिष्ट धर्म पर ग्रंथ लिखे गए। भक्ति और योग पर एक भी ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

नीति (१८६८) 'स्त्री चर्या' रूपनारायण शर्मा, (१८७२) 'शीलरत्नाकर' शालग्राम शर्मा, (१८७२) 'नीति-सुधा-तरंगिणी' रामसरूप तिवारी, (१८८३)

'सार-उक्तावली' हरदयाल, (१८८३) 'बल्लभ नीति' बल्लभराम सूजाराम व्यास, (१८८६) 'मानस विनोद' प्रतापनारायण मिश्र, (१८८८) 'तावीज' काशीनाथ खत्री।

वेदान्त—

इस धारा में एक प्रबलता प्रकट हुई जो साम्प्रदायिक सिद्धान्तों से ऊपर थी।

(१८७१) 'आत्म-चिकित्सा' श्रद्धाराम शर्मा, (१८७४) 'ज्ञान प्रदीपिका' कृष्णचन्द धर्माधिकारी, (१८७४) 'सम्पक्त निर्णय' कृष्णचन्द धर्माधिकारी (१८७४) 'ज्ञान प्रकाश' कृष्णदास, (१८७५) 'आत्मज्ञान मंजरी' भगवत शरण, (१८७५) 'वाक् सुधाकर' साधुराम, (१८७६) 'परमार्थ-चिन्तन-विधि' हरिदास बाबा, (१८७८) 'विचार चन्द्रोदय' पीताम्बर पण्डित, (१८८२) 'बालवोध' पीताम्बर पण्डित, (१८८४) 'ग्रन्थ त्रयम्' स्यामदास साधु, (१८८६) 'तत्वानुसंधान' चित्घनानन्द गिरि, (१८७७) 'शान्तिशतक' तोता राम, (१८८९) 'पदावली' लक्ष्मीनाथसिंह परमहंस, (१८८९) 'गीतध्वनि' ज्ञानानन्द, (१८८३) 'विज्ञान लहरी' यमुनाशंकर नागर, (१८८६) 'वैराग्यप्रदीप' हरिहर प्रसाद, (१८८८) 'निर्मल कृति' निर्मलदास, (१८८९) 'नरसिंह-वाणी-विलास' नरसिंहाचार्य, (१८८८) 'प्रबोध शतक' ब्रह्मानन्द स्वामी। ये रचनाएं पद्य में हैं। परन्तु कलात्मक न होने से इनकी गणना ललित-कला-साहित्य में नहीं की गई है।

सम्प्रदाय—

जैनधर्म से सम्बन्धित दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं—एक हरिश्चन्द्र का 'जैन कुतूहल' १८७३ में, और दूसरा पीतांबराम्नायी मुनि आत्माराम का जैनतत्त्वादर्श' ग्रन्थ १८८४ में। कबीरपंथ पर भी एक पुस्तक प्रकाशित हुई। पहली १८८१ में, बालजी बेचर का 'सोर्सेज आफ़ कबीर रिलीजन'। **वल्लभ सम्प्रदाय** सम्बन्धी कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इनमें कुछ ग्रन्थ संप्रदाय के दोषदर्शन भी करते हैं। १८६८ में व्रजदास की 'श्रीगोस्वामी महाराज की वंशावली' प्रकाशित हुई और १८७३ में गोपालदास का 'वल्लभाख्यान'। जिन पुस्तकों में सम्प्रदाय के दोष प्रकट किए गए उनमें स्वामी व्लेक्टानंद का 'वल्लभ-कुल-चरित्र-दर्पण' १८८१ में प्रकाशित हुआ।

आर्यसमाज के ग्रन्थों में स्वामी दयानंद का 'सत्यार्थप्रकाश' १८७५ में प्रकाशित हुआ और इसी समय में आर्यसमाज की स्थापना हुई। इस ग्रंथ के बराबर इस युग के और किसी ग्रंथ का प्रचार नहीं हुआ। समर्थदान का 'आर्यसमाज परिचय' १८८७ में और शिवनाथ का 'वैदिकजीवन' १९०५ में छपा। **ब्रह्मसमाज** की स्थापना भी इसी समय में हुई। हिन्दी में १८७२ में नवीनचन्द्र राय का 'आचारादर्श' और १८७३ में 'धर्मदीपिका' और ब्राह्मधर्म के प्रश्नोत्तर तथा

१८७५ में 'तत्वबोध' प्रकाशित हुए। १८७४ में, हरनामचन्द ने 'हिन्दूधर्म विवर्धन' लिखा और १८८६ में प्रतापसिंह भोसले ने 'सत्यसागर' और ब्रह्मस्मृति। १८६१ में **राधास्वामी** संप्रदाय की स्थापना हुई और १८८४ में राधास्वामी साहब के निर्वचन गद्य-पद्यात्मक प्रकाशित हुए।

जाति व्यवस्था से संबन्धित पुस्तक 'जाति की फ़हरिस्त' शिवप्रसाद सितारेहिन्द की १८७१ में प्रकाशित हुई और १६०० में ज्वालाप्रसाद मिश्र का 'जाति-निर्णय', १९०४ में अवध बिहारीलाल मुंशी ने 'वर्ण-निर्णय' और १९०७ में शिवशंकर शर्मा ने 'जाति-निर्णय' लिखा। रीति-रस्मों के सम्बन्ध में ठाकुरप्रसाद खत्री की 'दस्तूरुलअमलशादी' १८७१ में प्रकाशित हुई। जातियों की उत्पत्ति के विषय में भी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई—हरिश्चन्द्रकृत 'अग्रवालों की उत्पत्ति' १८७१ में और 'खत्रियों की उत्पत्ति' १८८३ में। कुछ पुस्तकें ऐसी भी प्रकाशित हुई जिनमें **किसी संप्रदाय की भावना नहीं थी,** उनका ब्यौरा इस प्रकार है:—१८७४ 'ईश्वरोपासना' श्यामलालसिंह कुंवर। १८८१ 'सन्तविलास' रामावतारदास। १८८५ 'धर्म की धूम' अम्बिकादत्त व्यास। १८८६ 'देववानी' जगमोहनसिंह ठाकुर।

समालोचना—

इस साहित्य में लेखकों ने प्राचीन धारा और आधुनिक धारा दोनों ही पर विश्लेषण किया है। यद्यपि प्राचीन कवियों और लेखकों के सम्बन्ध में सुव्यवस्थित अध्ययन नहीं किया गया पर उनकी कृतियों की तथ्यपूर्ण सामग्री प्रकाश में आने लगी। १८८६ में सांवलदास कविराज ने 'पृथ्वीराज रहस्य की नवीनता' नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें चन्दवरदाई की प्रसिद्ध पुस्तक 'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता प्रदर्शित की गई। उसके उत्तर में १८८७ में मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने 'चन्दवरदाई कृत पृथ्वीराजरासो की प्रथम संरक्षा' लिखी। तुलसीदास और उनकी रचनाओं पर काफ़ी ग्रंथ लिखे गए। १८७७ 'तुलसीदास-चरित-प्रकाश' विश्वेश्वरदत्त शर्मा, तथा रामस्वरूप रचित १ गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-चरित्र। उनकी कृतियों के प्रमुख संग्रह हैं—(नवलकिशोर सं० १) 'पञ्चरत्न' (१८८६), जिसमें 'जानकी-मंगल' 'पार्वती-मंगल' 'वैराग्य-संजीवनी' 'नहछू' तथा 'बरवा' संगृहीत हैं।

कुछ ग्रन्थ केवल मानस सम्बन्धी हैं:—१८८४ 'मानस शंकावली' मन्नालाल शर्मा। १८८५ 'तुलसीकृत रामायण की मानस-प्रचारिका' जानकीदास। १८८५ 'निर्द्वंद्व रामायण' बहादुरदास। १८८७ 'रामायण अध्यात्म विचार' यमुनाशंकर नागर। ये पुराने साहित्यिकों के सम्बन्ध में लिखे ग्रन्थ हैं परन्तु तत्कालीन कवियों और लेखकों पर कुछ भी साहित्य तैयार नहीं हुआ।

साहित्य का इतिहास—इस प्रकरण में मुख्य पुस्तक 'शिवसिंह सैंगर ने' शिवसिंह-सरोज १८७८ में लिखी, जिस में प्राचीन कवियों की काफ़ी खोज थी। इसके बाद राधाचरण गोस्वामी का नवभक्तमाल १८८६ में छपा। तथा जीवाराम का 'रसिक-प्रकाश-भक्तमाल' १८८७ में। **राम-काव्य-संग्रह** की एक पुस्तक 'रसिक-रंजन-रामायण' सन १८८८ में वल्लभ जी ने सम्पादित की। **कृष्ण-काव्य-संग्रह** सम्बन्धी पुस्तक नाथूभाई तिलकचन्द की 'पुष्टिमार्गीय वैष्णव मार्ग-वतन अष्ट सखानिकृतीन पद १८६८ में और रेवाशंकर वेल जी की 'रासलीला' १८८६ में छपी। १८८८ में ठाकुरदास सूरदास का 'पुष्टिमार्ग संग्रह' दुबारा प्रकाशित हुआ जो इन सब से बृहत्काय है। १८८७ में महावीरप्रसाद मुन्शी ने 'श्री कृष्ण-गीताबलि' प्रकाशित की। **कबीरपन्थी साहित्यसंग्रह में** १ पुस्तक वसनजी चतुर्भुज ने 'गुरुस्तुति' संपादित की। **जैन धर्म का १ संग्रह** १८७४ में सिताबचन्द नाहर ने 'जैनस्तवनावली' नाम से और दूसरा यशोविजय, विनय विजय, और ज्ञानसार ने 'वैराग्योपदेश विविध पद संग्रह' १८८२ में प्रकाशित किया।

शृंगारात्मक काव्य-संग्रह अधिक हुआ। १८७६ 'प्रेमरत्नाकर' लाला लछिमनदास, १८७६ 'प्रेमतरंग' हरिश्चन्द्र, १८८० 'सुन्दरी-तिलक' हरिश्चन्द्र, १८८० 'शृंगारसरोज' मन्नालाल शर्मा, १८८१ 'सुन्दरी-तिलक' बनारसीप्रसाद, १८८२ 'नवीनसंग्रह', हफीजुल्लाखां, १८८३ 'अनुरागशिरोमणि' बच्चूराम, १८८५ 'मनोज मंजरी' नकछेदी तिवारी, १८८६ 'सुन्दरीसर्वस्व' मन्नालाल शर्मा, १८८७ 'शृंगार सुधाकर, मन्नालाल शर्मा, १८८७ 'नवोढादर्श' विद्याधर त्रिपाठी, १८८८ 'प्रेम पत्रिका' खूबचन्द कुंवर। **नखशिख** सम्बन्धित केवल १ पुस्तक 'प्रेमतरंग' मन्नालाल तिवारी ने सन १८७७ में संग्रह किया। **ऋतु गीत सम्बन्धी** संग्रहों में एक भारतेन्दु ने सन १८७५ में प्रकाशित किया—मलार, हिंडोला, कजली, जयंती। दूसरा नानकचन्द ने 'पावसप्रमोद' १८८५ में। **नीति उपदेश सम्बन्धी संग्रह** में एक पुस्तक १८७२ में 'नीतिमाला' सदानन्द मिश्र ने संपादित की। भारतेन्दु की 'परिहासिनी' जो १८८० में छपी, और नकछेदी तिवारी का विचित्रोपदेश, या 'भड़ौआ संग्रह' जो १८८४ में प्रकाशित हुआ, हास्य व्यंग के सग्रह हैं।

मिश्रित विषयों के काव्य संग्रहों में १८८४ में 'संगीत माला' लाला कामता-प्रसाद, १८७० 'छन्द-रत्न-संग्रह' श्रीधर शिवलाल, १८७६ 'काव्य संग्रह' (तृतीय) दयाराम १८८१ 'कवित्त और परचूरन संग्रह' १८८५ 'काव्यकला' साहेब प्रसाद सिंह, १८८६ 'कवि-वचन-सुधा' महेश्वर स्वरूपसिंह की प्रमुख हैं।

एक नाटक-संग्रह गोविन्द मारोबा कारलेकर का 'ललितसंग्रह' का चतुर्थ संस्करण १८८४ में छपा था, जिसमें लोकप्रचलित नक़लों को एकत्र किया गया था।

विभाषा साहित्य—

इस युग में भारतीय विभाषाओं ही तक अध्ययन सीमित रहा। इनमें संस्कृत साहित्य की केवल धर्म सम्बन्धी रचनाएं ही प्रकाशित हुईं।

१८७५ 'उपनिषद्सार' नवीनचन्द्रराय, १८८८ (दुबारा) वासिष्ठसार, शिवशंकर।

उर्दू साहित्य सम्बन्धी रचनाओं में १८७० में जगन्नाथ गुप्त ने 'नज़ीर' संपादित किया। तथा १८८१ में किन्हीं अज्ञात व्यक्ति ने 'दीवान-ए-नज़ीर' संपादन किया। एक संग्रह भगवानदास वर्मा की 'गुलदस्ता-ए-बेनज़ीन' मिलती है जो सम्भवतः १८८५ की रचना है। मैथिल साहित्य सम्बन्धी भी एक रचना 'उमापति दिग्विजय' महेशदत्त शुक्ल ने सन १८८० में लिखी।

अध्याय पाँचवाँ

पद्य-प्रसार

पद्य की भाषा—

जब भारतेन्दु के समक्ष खड़ी बोली के गद्य का सुसंस्कृत और सुसंगठित रूप आगया, तब साथ ही यह विचार उठा कि पद्य के लिए हम क्यों दूसरी भाषा लें? क्यों न खड़ी बोली ही में बोलचाल की भाषा और जीवन को स्पर्श करने वाले भावों को लेकर कविता करें? हरिश्चन्द्र भारतेन्दु तुरन्त साहस करके नवीन धारा पर चल खड़े हुए, और उन्होंने अपनी नवीन परिष्कृत भाषा में और नवीन ही छन्दों में कविता करनी प्रारंभ कर दी। यद्यपि उन्होंने पुरानी रीति पर भी ब्रजभाषा में कविता की, पर अधिक ज़ोर इसी पर दिया। देखते ही देखते उसका अनुकरण होने लगा। प्रारम्भ में इस कविता में चमत्कार नहीं दीख पड़ा। जैसे—

कहां हो ऐ हमारे राम प्यारे, किधर तुम छोड़कर हमको सिधारे।
बुढ़ापे में यह दुख भी देखना था, इसी के देखने को मैं बचा था।

(भारतेन्दु—दशरथ-विलाप)

इस कविता में दम ही न था केवल अध्यवसाय था। फिर भी इसे राजा शिवप्रसाद ने अपने 'गुटका' में उद्धृत किया था। परन्तु भारतेन्दु की अप्रतिम प्रतिभा ने शीघ्र ही अपना चमत्कार दिखाना प्रारम्भ कर दिया। देखिये—

श्री राधामाधव युगलचरण रस का अपने को मस्त बना।
पी प्याला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा।

शीघ्र ही खड़ी बोली की कविता का आन्दोलन खड़ा हो गया। बाबू अयोध्या-प्रसाद खत्री ने एक कविता-संग्रह कर उसे सन १८८९ में प्रकाशित कराया। उधर पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० श्रीधर पाठक आदि भी खड़ी बोली में कविता करने लगे। देखिये—

अमृत के रस की भरी सी उस मुरली को,
कब प्यारे आके मेरे सामने बजावेगा।
चढ़ के कदम्ब पर चारों ओर देख भाल,
हाथ को उठाके कब बच्छों को बुलावेगा।
अम्बादत्त कवि की रसीली कविता को सुन,
मुकुट झुकाके कब फिर मुस्कावेगा।
मुझ से गंवार की पुकार बार बार सुन,
सांवरे सलोने कब दरस दिखावेगा।

(अम्बिकादत्त व्यास)

प्राण प्यारे की गुणगाथा साधु कहां तक मैं गाऊँ,
गाते २ चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ।
विश्व निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर,
बलिहारी त्रिभुवन धन उस पर वारों काम करोर।

(श्रीधर पाठक)

भारतेन्दु के जीवन-काल म यह धारा अधिक नहीं बही। पर उनके स्वर्गवास होने पर तो उस का एक नया ही रूप बन गया। प्राचीन मुसलमान और हिन्दू कवि रेख़्ता की भाषा में जो कविता कर गये थे और कबीर तथा नाम-देव ने जो अपनी फक्कड़ी भाषा की कविताएं की थीं उनसे भी खड़ी बोली की कविता को बहुत बल मिला। इन्शा के कुछ उर्दू छन्द जो उन्होंने रानी केतकी में दिये थे, तथा नागरीदास के 'इश्क चमन' और 'नज़ीर' अकबराबादी के हिन्दी पद्य, ललित माधुरी के झूलने तथा मिर्ज़ापुर निवासी तुकनगिर गुसांई की सधुक्कड़ी भाषा की लावणियां और उनके दो शिष्य रिसालगिरि और देवीसिंह के परस्पर 'तुर्रा' और 'कलग़ी' के नाम के दो प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वी अखाड़, जो भक्ति और प्रेम के प्रतीक थे, सर्वसाधारण में प्रचलित हो चुके थे। इन लावणीबाजों में 'काशीगिरि' उपनाम 'बनारसी' बहुत लोकप्रिय होगये थे। इन लावणियों में उर्दू के छन्द भी लिये जाने लगे। और ख़्याल को भी लावणी के अन्तर्गत समझा जाने लगा।

रीतिकाल के कुछ कवि भी खड़ी बोली में कवित्त सवैया लिखा करते थे। इस प्रकार 'लावणीबाज' और 'ख्यालबाज़' तथा ये खड़ी बोली के सवैये कवित्त

तीनों ही वस्तु ऐसी थीं जिनके आधार पर भारतेन्दुकालीन कवियों ने देशप्रेम, उद्‌बोधन और जीवन के आवश्यक विषयों पर साहित्यिक बाने से खड़ी बोली की रचनाओं का श्रीगणेश किया।

ऐसी कविताओं में सर्वप्रथम साहित्यिक रचना श्रीधर पाठक की 'एकान्त-वासी योगी' थी, जो सन १८८७ में लिखी गई। इसकी भाषा बोलचाल की और सरल थी। उदाहरण देखिये—

'आज रात इससे परदेशी चल कीजे विश्राम यहीं,
जो कुछ वस्तु कुटी में हो वह करो ग्रहण संकोच नहीं।
तृण-शैया औ अल्प रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद,
पैर पसार चलो निद्रा लो मेरा आसिर्वाद।

चंपारन के प्रख्यात वैद्य और संस्कृत के पण्डित चन्द्रशेखरधर मिश्र ने, जो भारतेन्दु के मित्र थे—संस्कृतवृत्तों में कुछ हिन्दी कविता की थी जो कदाचित् अपने ढंग की प्रथम थी परन्तु इस बीज का जो अंकुर भारतेन्दु बो गए वह उगा द्विवेदी युग में आगे चल कर।

रामचरित सम्बन्धी काव्य साहित्य—(राम के पौराणिक चरित्र के आधार पर)

१८७७ 'सुजस-कंदब' जानकीप्रसाद महता। १८७९ 'राम-स्वयंवर' रीवां महाराज रघुराजसिंह जू। इसमें वर्णन-विस्तार बहुत है। (१८८३ रिप्रिन्ट) 'रामकीर्ति तरंगिणी' रमणविहारी। इसमें केवल बालकाण्ड की ही कथा है। १८८४ 'प्रेमसरोवर' श्रीराम। १८८५ 'सीतारामचरित्रमाला' लाला सीताराम। १८८६ 'रामचन्द्र सत्योपाख्यान' रमणविहारी। यह लेखक की पहली की अपेक्षा कुछ विस्तृत रचना है।

इसी काल में रामचरित्र को शृङ्गार में अतिरंजित करके कुछ रचनाएं हुईं। कदाचित् राधाकृष्ण साहित्य और अवध की नवाबी की शृङ्गार-परम्परा ही इसका कारण हो। इस धारा में कहीं २ तो अत्यन्त अश्लीलता आगई है। असल बात यह है कि भक्तिमार्ग का सब से बड़ा अवलम्बन श्रद्धा है। यदि भक्ति से श्रद्धा का सम्बन्ध छूट कर केवल प्रेम ही का सम्पुट रह जाता है तो इसमें धर्म और सदाचार देर तक टिक नहीं सकता। ज्यों ही मनोवृत्ति शृङ्गार-वासना में लीन होगी, कवि माधुर्य-भाव से प्रभावित होता जायगा और वह तब भक्ति के स्थान पर इन्द्रियासक्ति की साधना करने लगेगा। कृष्णभक्ति की शाखा कृष्ण के धर्मस्वरूप, लोक-रक्षण और लोकरंजन के भावों को एक ओर करके केवल प्रेम-लक्षणा-भक्ति के मार्ग पर चली। इसी से वह धर्म-सौन्दर्य से दूर होती गई।

तुलसी ने भक्ति को श्रद्धा और प्रेम समन्वित रूप में व्यक्त किया, और धर्म या सदाचार को उसका नित्यलक्षण निर्धारित किया था। परन्तु इस युग में

रामभक्ति में भी शृङ्गारी भावनाएं आगईं। तुलसीदास की 'गीतावली' के उत्तरकाण्ड में यत्किंचित् शृङ्गारी भावना की झलक दीख पड़ती है। परन्तु वह केवल आनन्दोत्सव तक ही सीमित रह गई है। कदाचित् अवध के नवाबों की प्रबल विलास-भावना जो लखनऊ और फ़ैजाबाद के चारों ओर फैली थी, अयोध्या की रामभक्ति की भावना में प्रवेश कर गई और कृष्ण प्रेम का उसे मार्ग मिल गया। फल यह हुआ कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार विषय-वासना का समावेश रामभक्ति में होगया। इस शृङ्गारी भावना के प्रवर्तक रामचरित-मानस के प्रसिद्ध टीकाकार जानकीघाट अयोध्या के रामचरणदास जी थे। इन्होंने पतिपत्नी भाव की उपासना प्रचलित की। इन्होंने अपनी शाखा का नाम 'स्व-सुखी' शाखा रखा। राम को 'लालसाहिब' का ख़िताब दिया गया। और स्वयं स्त्रीभाव धारण करके उन्हें पति माना गया। उनसे मिलने के लिए सोलह शृङ्गार धारण करना और विविध शृङ्गारी चेष्टाएं करना उन्होंने अपनी साधना-सामग्री का अंग बनाया। सीता को सपत्नी का पद दिया। इन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिए अनेक कल्पित ग्रन्थों को प्राचीन बताकर अपनी शाखा में फैलाया। इनमें लोमश-संहिता, हनुमत्-संहिता, अमर-रामायण, भुशुण्डीरामायण, महारामायण (५ अध्याय) कोशलखण्ड, राम नवरत्न, महारासोत्सव सटीक आदि २ थे। कोशलखण्ड में रामलीला विहार आदि के अनेक अश्लील वृत्त कल्पित किए गए हैं। उनमें बताया गया है कि वास्तव में रासलीला के कर्ता धर्ता राम ही थे। वे रामावतार के रूप में ६६ रास कर चुके थे। एक ही रास करना शेष था और उसी के लिए उन्होंने कृष्ण का अवतार लिया। साकेत की रासलीला गोलोक की रासलीला से बढ़ चढ़ कर बयान की गई है। वहां की नर्तकियों में 'रंभा' 'उर्वशी' के साथ 'राधा' और 'चन्द्रावती' को भी गिन लिया गया है।

रामचरणदास की इस शृंगार-उपासना में छपरा के जीवाराम ने थोड़ा हेरफेर किया। उन्होंने पति-पत्नी के स्थान पर सखी-भाव रखा। और अपनी शाखा का नाम 'तत्सुखी' शाखा रखा। इस नई सखी-भाव की उपासना का अधिक प्रचार लक्ष्मण किला अयोध्या के युगलानन्यशरण ने किया। रीवाँ के महाराज सुकवि रघुराजसिंह इन्हें बहुत मानते थे और उन्होंने इन्हीं की सम्मति से चित्रकूट में प्रमोदवन की स्थापना की थी। चित्रकूट की भावना वृन्दावन के स्थान पर की गई। और वहां के क्रीड़ाकुञ्ज वृन्दावन के से क्रीड़ाकुञ्ज माने गये। अभी भी अयोध्या में इस शृंगारी पंथ की ख़ासी धूम है। और वहां के अनेक मन्दिरों में राम की 'बांकी अदा' और 'तिरछी चितवन' के गीत गाये जाते हैं। इस पंथ के लोग चैत्र कृष्ण नवमी को प्रतिवर्ष उत्सव करते हैं और सीताराम को 'युगल-सरकार' कहा करते हैं। और अपना आचार्य 'कृपा-निवास' नामक एक कल्पित

व्यक्ति को बताते हैं जिसके नाम पर 'कृपा-निवास-पदावली' एक अत्यन्त अश्लील पुस्तक भी प्रमाणित मानी जाती है जो स० १८४५ में लखनऊ में छपी थी। इसकी भाषा प्राञ्जल व्रजभाषा है परन्तु भाव अत्यन्त अश्लील और नग्न हैं। इस धारा में निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

(१८७७) 'जुगल बिहार' रमणबिहारी। (१८७९) 'जल झूलन' नन्दकिशोर दुबे। इसमें सीताराम के सरयू-बिहार का वर्णन है। (१८८५) 'दोलोत्सव-दीपिका' रघुवरचरण इसमें हिन्डोले का वर्णन है। (१८८६) 'शृंगार-दीप' हीराप्रसाद, इसमें दिव्य दम्पति का शृंगार-वर्णन है।

कृष्णचरितकाव्य—

इस युग में मालूम होता है कि कृष्ण का पौराणिक रूप लुप्त होता जाता था। इस युग के कवियों ने बहुत कम कृष्ण के पौराणिक चरित्र की चर्चा की है। अधिकांश में हमें गोपीवल्लभ कृष्ण ही का विषय-वर्णन दीख पड़ता है। पौराणिक चरित्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ मिलते हैं वे ये हैं—

१८६९ 'रुक्मिणी मङ्गल' शम्भूराय। १८७५ 'रुक्मिणीमङ्गल' विष्णुदास।

दूसरी धारा में—१८६७ 'विरहशतक' हरिश्चन्द्र भारतेन्दु। यह उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में से है। इसमें गोपियों की विरह-वेदना वर्णित है। १८७३ 'देवी छद्मलीला' हरिश्चन्द्र भारतेन्दु। इसमें राधा देवी के रूप में आकर कृष्ण को विस्मित करती है। १८७९ 'व्रजविलास' राधाकृष्ण। इसमें व्रजलीलाओं का वर्णन है। १८७६ 'व्रज-वन-यात्रा' रघुवंशसहाय। इसमें गोचारण आदि वर्णित है। १८७९ 'लघुरस कलिका' कुन्दनलाल। इसमें राधाकृष्ण की कथा के द्वारा नवरस तथा वात्सल्य का वर्णन है। १८७९ 'युगलसर्वस्व' हरिश्चन्द्र भारतेन्दु। दिव्य दम्पति का प्रेम-वर्णन है। १८८० 'मानपुंज चरित्र' छत्रदास। इसमें निम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार राधाकृष्ण की कथा है। १८८३ 'जोगिन लीला' खड्गबहादुरमल्ल। कृष्ण की एक छद्मलीला का वर्णन है। १८८४ 'व्रजविलास सारावलि' गोवर्धनदास धूसर (द्वितीय)। इसमें व्रज की लीलाओं का वर्णन है। १८८७ 'सुकवि सतसई' अम्बिकादत्त व्यास। ७ सौ दोहों में कृष्ण की प्रेम-लीला वर्णित है।

शैवसाहित्य काव्य—

यह बड़े मार्के की बात है कि हिन्दूधर्म में शिव का माहात्म्य अति महान् और प्राचीन होते हुए भी राम और कृष्ण की भक्तिवाद के आगे फीका पड़ गया। काशी, विश्वनाथपुरी शिव के त्रिशूल पर बसी बताई जाती है। विश्वनाथ के मन्दिर और उसकी पूजा का भी बड़ा माहात्म्य है। काशी में रामभक्ति की धारा प्रवाहित करने के कारण ही तुलसीदास को अनेक कष्ट दिए गए थे, फिर भी

तुलसीदास ने राम के हाथों शिव की आराधना कराई है। और रामेश्वर में राम के द्वारा शिवलिङ्ग की स्थापना कराई है। शिवद्रोही को राम के मुख से फटकार भी बताई गई है, इसके सिवा अन्यत्र भी उत्तरभारत में शिवपूजा के अनेक प्रमुख केन्द्र हैं। और शिव मन्दिर तो प्रत्येक गांव, कस्बों और नगरों में राम-कृष्ण के मन्दिरों की अपेक्षा बहुत ही अधिक हैं, फिर भी साहित्य की धारा शिवस्तवन की ओर नहीं बढ़ी। इस युग में शिवपूजा सम्बन्धी केवल दो ग्रन्थ मिलते हैं। १८८२ 'शंकरचरित सुधा' राजाराम। १८८४ 'पार्वती पाणिग्रहण' लाला सीताराम। **'शाक्त उपासना'** सम्प्रदाय का एक भी ग्रन्थ इस युग में प्रकाशित नहीं हुआ।

पौराणिक काव्य—

पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर हिन्दी में रचना इस काल में काफ़ी हुई। सच पूछा जाय तो राम-कृष्ण-शिव-शक्ति सभी आख्यान पौराणिक हैं। यह दूसरी बात है कि उनके चरित्र का विकास इस रूप में हुआ कि उनकी पौराणिक ख्याति गौण हो गई। परन्तु राधाकृष्ण-काव्य की अत्यधिक लोकप्रियता होने के कारण यह अवश्य हुआ कि अन्य उपाख्यानों की ओर लोगों का बहुत कम ध्यान गया। और कोई उत्कृष्ट काव्य इस काल में नहीं लिखा जा सका। **राम के चरित्र से सम्बन्धित** केवल एक उपाख्यान की रचना 'सुलोचनाख्यान' रघुनाथप्रसाद ने १८९९ में की।

कृष्ण सम्बन्धित उपाख्यानों की केवल दो रचनाएं इस युग में हुईं। सन १८७१ में सीताराम ने 'उषाचरित्र' लिखा और वीर कवि ने 'सुदामा चरित्र' सन १८८१ में। **पौराणिक कुल के अन्य उपाख्यानों** में ईश्वरदास जगन्नाथ ने 'द्रौपदी आख्यान' सन १८८४ में और गोकुलचन्द ने 'शक्ति-विनाशन' १८७० में लिखा।

संत चरित्र—

ऐसे चरित्र काव्यरूप में बहुत कम हुए। गुजरात के कवि दलपतिराम जी का एक ही ऐसा संतचरित्र काव्य मिलता है। 'पुरुषोत्तम चरित्र' जो सन १८८४ में प्रकाशित हुआ, इसमें स्वामीनारायण संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी सहजानन्द जी का जीवनवृत्त व्रजभाषा में ७६४ पृष्ठों में वर्णन किया गया है।

स्तुति-काव्य—

इस विषय की इनीगिनी रचनाएं ये हैं—

१८७७ 'बजरंगबत्तीसी, महन्त जानकीदास	१८७७ नाम पच्चीसी, महन्त जानकीदास
१८८४ इश्क अजायब ,, ,,	१८८६ अनुराग मुकुल, कृष्णदेव नारायणसिंह

किन्तु कृष्णस्तुति सम्बन्धी रचनाओं की अधिकता रही। ऐसी पुस्तकों में—

१८७० भक्ति-सर्वस्व, हरिश्चन्द्र भारतेन्दु
१८७३ प्रेमाश्रुवर्षण, हरिश्चन्द भारतेन्दु
१८७५ स्वरूप चिन्तन ,, ,,
१८८१ राग सग्रंह ,, ,,
१८७८ रस तरंग, लक्ष्मण प्रसाद पाण्डेय
१८८२ प्रेम पत्रिका, गोकुलदास साधु
१८८५ अनुराग लतिका, श्यामलाल
१८८५ प्रेम लतिका, सं० बंशीधर हरिश्चन्द
१८८५ अनुराग लतिका, शिवराज मिश्र
१८८८ श्याम सुधा, देवतीर्थ स्वामी

तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' की भांति एक 'विनयपत्रिका' भिन्न २ देवताओं की स्तुति सम्बन्धी मदनगोपालसिंह की सन १८८१ में छपी।

नीचे लिखी पुस्तकें भी इसी श्रेणी में गिनी जाने योग्य हैं। इनमें राम, कृष्ण, ईश्वर की संयुक्त स्तुति है।

१८७४ भक्ति तरंगिणी, माधवसिंह
१८८० ईश्वर प्रार्थना, श्यामलालसिंह
१८८८ भक्तिसागर, शिवशरणलाल मिश्र

श्रृंगार काव्य—श्रृंगार सम्बन्धी काव्यों की इस युग में दो धाराएं हो गई। एक रीतिप्रधान और दूसरी मुक्तक। **रीतिप्रधान** में केवल एक सतसई तैयार हुई गुलाबसिंह की 'प्रेमसतसई' सन १८७० में। **मुक्तक प्रणाली** पर निम्न काव्य-ग्रन्थ तैयार हुए:—

१८७७ श्रृंगार सुधाकर, बलदेव प्रसाद
१८८० सुन्दरी विलास, मेदीराम
१८८२ रसिक विनोद, चुन्नीलाल
१८८२ मालती मंजरी, बिहारी सिंह
१८८३ रस विनोद, वीरसिंह
१८८४ रहस्यकाव्यश्रृंगार, ईश्वरीप्रताप-नारायणराय
१८८५ सुरस तरंगिणी, बच्चू चौबे
१८८५ रसिक विनोद, खड्गबहादुरमल्ल
१८८७ प्रेम प्रकाश, गौरीशंकर
१८८७ अष्टयाम, नारायण

स्वतन्त्र काव्य ये प्रकाशित हुए:—

१८७३ प्रेमरत्नाकर, जगमोहनसिंह
१८८५ प्रेमसंपत्तिलता, जगमोहनसिंह
१८७५ प्रेम माधुरी, हरिश्चन्द्र भारतेन्दु
१८८७ सनेह सुमन, कृष्णदेव नारायणसिंह

अधोलिखित काव्य नखशिख परंपरा से सम्बन्धित हैं:—

१८७८ नखशिख, हनुमानप्रसाद
१८८३ नखशिख भूषण, बिहारीसिंह
१८८३ श्यामांग अवयव भूषण, नवनीत कवि
१८८५ नखशिख, दिवाकर भट्ट

प्रकृति वर्णन—

इस परम्परा में केवल ऋतुवर्णन ही हुआ। सन १८८७ में जगमोहनसिंह ठाकुर का 'ऋतु-प्रकाश' तथा बैजनाथ कुर्मी का 'षड्-ऋतु-वर्णन' छपा। इससे प्रथम कृष्णलाल गोस्वामी का 'पंचऋतु-वर्णन' १८८३ में प्रकाशित हो चुका था। १८८६ में अम्बिकादत्त व्यास का 'पावस-पचासा' तथा लोकनाथ चतुर्वेदी

की 'पावस-पच्चीसी' वर्षा ऋतु पर प्रकाशित हुए। हिंडोला वर्षा ऋतु का लोकप्रिय अंग है, १८८४ में जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'हिण्डोला' लिखा।

लोक-गीत—

यह एक नवीन परम्परा की धारा है जो शृंगाररसपूर्ण है। इसमें लावणी प्रमुख है। इस धारा के काव्य दो हैं—१८७३ 'फूलों का गुच्छा' हरिश्चन्द्र पाण्डेय। १८७७ 'लावनी' बनारसी (द्वितीय बार)।

लावणियों का विकास दो शैलियों में हुआ। एक को क़लगी और दूसरे को तुर्रा कहते हैं। 'कलगी' गीतों में प्रकृति पुरुष से प्रेम-याचना करती है। 'तुर्रा' गीतों में पुरुष प्रकृति से प्रेम-याचना करता है। इन विकसित शैलियों पर जमशैद जी होरमस जी पीरान के 'क़लगी के दिल्पसन्द ख़्याल' सन १८८२ में छपा। नन्दलाल का 'तुर्रा राग' सन १८८३ में तथा आदितराम जोहतराम का 'क़लगी लावणिओं' सन १८८७ में छपी। अथच शम्भूदयाल का 'अमसी व लावनी ख़्यालात तुर्रा' १८८८ में छपे थे। पुरानी पद्धति के ऋतुगीतों की भी रचना हुई। जिनमें 'कजली' प्रमुख है। खड्गबहादुरमल्ल कृत 'सुधाबिंदु' और 'पावस-प्रेमप्रवाह' १८८२ में छपे।

स्थान वर्णन सम्बन्धी काव्य केवल एक ही सन १८७३ में सच्चिदानन्द स्वरूप ने 'विहार-वृन्दावन' लिखा, फिर छपी 'व्रजयात्रा' जो सन १८८३ में राधाचरण ने लिखी। आगे द्विवेदी युग में इस धारा में कई काव्य लिखे गये।

मानवचरित्र—

इस प्रकार की रचनाओं में दो प्रकार की कविताएं हुईं। एक ऐसी जिनके लिए स्वार्थमयी प्रेरणा थी। दूसरी आत्मतुष्टि के लिए। दोनों प्रकार की रचनाओं का विवरण यह है—

१८०१ 'विवाहवर्णन' उत्तमराम कवि (इसमें किन्हीं दीवान की कन्या के विवाह का वर्णन है)।

आत्मतुष्टि के लिए दो रचनाएं हुईं—एक १८८५ में 'चन्द्रास्त' किशोर शर्मा व्यासकृत (भारतेन्दु के निधन पर)। दूसरी 'उपालम्भ' जवाहरमल्ल कृत। इसमें माता का पुत्र को उपालम्भ देना प्रदर्शित किया है।

सामाजिक—

राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द और अंग्रेजी प्रभाव के कारण जो सामाजिक विचार जाग्रत हुए उन से सम्बन्धित भी दो रचनाएं हुईं। १ 'स्त्रीविलाप' सन १८८२ में किन्हीं 'विधवा' ने लिखी। दूसरी १८८५ में प्रतापनारायण मिश्र ने 'मन की लहर' लिखी।

विनोद-व्यंग—

इस परम्परा में काफ़ी स्फूर्ति दीख पड़ी। लेखकों ने काफ़ी सफलता पूर्वक सामाजिक और धार्मिक विषयों पर चुटकियां लीं। इनका विवरण यह है—

१८८२ 'नापितस्तोत्र' राधाचरण गोस्वामी
,, 'वेश्यास्तोत्र' भारतेन्दु
१८८३ 'बुढ़ियाबखानशतक' देवकीनन्दनतिवारी
१८८३ 'रेलवे स्तोत्र' राधाचरण गोस्वामी
१८८४ 'हास्यपंचरत्न' कृष्णलाल गोस्वामी

चन्डीप्रसादसिंह की 'पहेली भूषण' जो कई भागों में सन १८८६ में प्रकाशित हुई है, इसी श्रेणी में गिनने योग्य है।

सामयिक और राष्ट्रीय—

यह भी साहित्य की नई धारा थी जिसका प्रारम्भ इसी युग में हुआ। राधाचरण गोस्वामी ने 'दामिनी-दूत' में सन १८८२ में तार (Telegraph) की उपयोगिता प्रदर्शित की थी। हरिश्चन्द्र भारतेन्दु ने 'विजयिनी-वैजयन्ती' में सन १८८२ में भारतीय सेना का अभिनन्दन किया था।

हिन्दी बनाम उर्दू की समस्या पर एक पुस्तक सोहनप्रसाद ने 'हिन्दी और उर्दू की लड़ाई' सन १८८१ में लिखी।

स्फुट रचनाएं—स्वच्छन्द विचारों और भावनाओं के कारण जो स्फुट रचनाएं इस युग में हुईं उनका विवरण यह है :—

१८७५ 'चित्रचन्द्रिका' ईश्वरीप्रसादसिंह
१८७६ 'आनन्दलहरी' छायासिंह
,, 'साजन काव्यरत्न' साजनभाई खोजा
१८७९ 'भानभवानी 'मणिरत्नमाला' 'भान-बावनी' भानजी मूनजी कृत
१८८१ 'पद मुक्तावली' विष्णुकुमारी देवी
१८८२ 'मनोविनोद' श्रीधर पाठक
१८८३ 'शारदा विलास' लाला कन्हैयालाल
१८८४ 'जगत विनोद' नकछेदी तिवारी
१८८६ 'छन्दरत्नमाला' गिरधरलाल।
१८८८ 'सवैयाशतक' किशनसिंह
१८८८ 'वल्लभकृतकाव्य' वल्लभराम सूजाराम व्यास
,, 'गोपीश्वर विनोद' राजागोपीश्वर
,, 'वामनविनोद' गोस्वामी वामनाचार्य
,, 'माधवविलास' माधवप्रसाद तिवारी
,, 'लोकोक्ति शतक' प्रेमदास

अध्याय छठा

पत्र पत्रिकाएं

इस युग में अनेक पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया जिनमें विविध विषयों पर निबन्ध और लेख लिखे जाते थे। राजनीति, समाज धर्म, देश-दशा, ऋतु-वर्णन, पर्व, त्योहार, रीति-रस्म, जीवन-चरित्र, इतिहास, वृत्त आदि विचारात्मक और भावात्मक लेख भी इनमें छपते थे। इन में भाषा-संस्कार और भाव-व्यञ्जनाएं भी रहती थीं। इन्हें पढ़कर जन-साधारण में जगत् और जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सामान्य विषयों पर विचार करने का अभ्यास हुआ। सजीवता और ज़िन्दादिली इस युग के लेखकों की ख़ास बात थी। इससे इन के लेखों में भी हास्य-विनोद का काफ़ी पुट था। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह की भाँति भारतेन्दु और उनके साथी झंझटों में दबे हुए न थे। वे चंचल युवा स्वच्छन्द और उमंगपूर्ण थे। वे प्राचीन और नवीन की सन्धिस्थल पर खड़े थे। वे दोनों को मिला कर एक कर देने में प्रयत्नशील थे। इस प्राचीन और नवीन के संघर्ष के कारण उन्हें हास्य के आलम्बन दोनों पक्ष मिलते थे। उनके सामने पुराने दकियानूसी खूसट भी थे और नये फ़ैशन के गुलाम भी। ये दोनों ही उनकी नज़र में हास्यास्पद थे। इन सब कारणों से तत्कालीन पत्र-पत्रिकाएं विविध विषयों और भावों के चुटीले लेखों से मुखरित हो उठी थीं।

भारतेन्दु युग से प्रथम ही जो दो चार पत्र प्रकाशित होने लगे थे उनका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। इस युग के पत्रों का विवरण यहाँ देते हैं।

सुधाकर—भारतेन्दु युग में जो सर्वाङ्गपूर्ण पत्र सब से पहले प्रकाशित हुआ वह 'सुधाकर' था। जो सन १८५० में कुछ सुधरे हुए ढग पर काशी से प्रकाशित हुआ। इसके जन्म-दाताओं में बाबू तारामोहन मित्र प्रमुख थे।

कवि-वचन-सुधा—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सन १८६८ में 'कविवचन-सुधा' का प्रकाशन किया। इसकी सौ प्रतियां सरकार भी ख़रीदती थी। भारतेन्दु के चुभते हुए देश-प्रेम और सुधारवाद से ओतप्रोत लेखों को जनता ने बहुत पसंद किया। पहले यह मासिक छपता था, फिर वह जल्दी ही पाक्षिक हो गया। उसमें सामाजिक सुधारों और राजनैतिक समस्याओं की काफ़ी चर्चा रहती थी। पत्र का सिद्धान्त-वाक्य यह था—

खल दलन सों सज्जन दुःखी मति होंहि, हरि पद मति रहैं,
उपधर्म छूटे सत्व निज भारत गहै कर दुःख बहै।
बुध तजहिं मत्सर नारि नर होंहि जग आनन्द लहै,
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं।

आगे चलकर यह पत्र साप्ताहिक हो गया। इसके संबंध में फ्रांस के भारतीय भाषाओं के पण्डित गार्दा-दें-तासी ने अपने पत्र Lengue में लिखा था—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सदैव हिन्दी साहित्य के प्रति प्रगतिशील रहे हैं। वे निरन्तर अपने 'कवि-वचन-सुधा' में स्वतन्त्र रीति पर हिन्दी का कार्य कर रहे हैं।

इन दिनों भारतेन्दु जी ऑनरेरी मेजिस्ट्रेट हो गये थे। और सरकारी अफ़सरों में उनका आना जाना भी काफ़ी था। अब अपने पत्र में जो भारतेन्दु देश-प्रेम से भावित टीका-टिप्पणी करते थे उससे सरकारी अफ़सर उनसे असन्तुष्ट हो गये। और जो सौ प्रतियां सरकार खरीदती थी वह खरीदना बन्द कर दिया गया। बात तत्कालीन गवर्नर सर विलियम म्योर तक पहुंची और तत्कालीन शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर मि० कैम्पसन ने एक कड़ा पत्र भारतेन्दु को लिखा। परन्तु भारतेन्दु ने निर्भीकता से इन सब बातों का सामना किया और जवाब में ऑनरेरी मजिस्ट्रेटी और म्युनिसिपल कमिश्नरी का भी त्यागपत्र दे दिया, और हाकिमों की हाज़िरी देना भी बन्द कर दिया। इन दिनों सुधा में श्री राधाचरण गोस्वामी, बा० गदाधरसिंह, बा० काशीनाथ खत्री, लाला श्रीनिवासदास, पं० सरयूप्रसाद, पं० बिहारीलाल चौबे, बा० तोताराम, मु० कमलाप्रसाद, पं० दामोदर शास्त्री, बा० ईश्वरीनारायणसिंह, बा० सुमेरसिंह, बाबा संतोषसिंह, बाबू गोकुलचन्द, तथा बाबू नवीनचन्द राय आदि लेख लिखते थे।

इन सब कारणों से सुधा की सर्वसाधारण में ख्यति हो चली थी, परन्तु सुधा का प्रकाशन समय पर नहीं होता था। कभी २ तो वह महीनों लेट हो जाता था। पं० चिन्तामणि के आग्रह से भारतेन्दु ने यह पत्र उन्हें दे दिया। उन्होंने समय पर तो उसे प्रकाशित किया परन्तु जब सन १८८३ में 'इलबर्ट बिल' के आन्दोलन के समय पत्र ने राजा शिवप्रसाद का समर्थन किया तो भारतेन्दु और उनके मित्रों ने उससे हाथ खींच लिया। इस पर पत्र की नीति में ऐसा परिवर्तन हो गया कि पत्र के जन्मदाता भारतेन्दु के निधन पर जब सम्पूर्ण भारतवर्ष के पत्रों ने शोक मनाया तो इसने बिल्कुल ही उसकी उपेक्षा की। अन्ततः सन १८८५ में यह बन्द हो गया।

अल्मोड़ा-समाचार—सन १८७१ में अल्मोड़े से 'अल्मोड़ा समाचार' प्रकाशित होना शुरु हुआ। इसका संपादन सदानन्द सालवात करते थे। और यह फुलस्केप साईज में कभी एक और कभी डेढ़ पृष्ठों पर छपता था। इस पर भी इसका मूल्य था ६ रुपया १२ आना। भाषा इसकी साधारण थी और अधिकतर स्थानीय समाचारों की ही विशेषता रहती थी। इससे इसकी विशेष उन्नति नहीं हुई।

हिन्दी दीप्ति-प्रकाश—सन १८७२ में कलकत्ते से बा० कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'हिन्दी दीप्ति-प्रकाश' नामक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। खत्री जी ने घर २ घूम २ कर, और कोठी २ फेरी लगा कर उसके ग्राहक बनाये। उन दिनों समाचारपत्रों के सम्बन्ध में लोगों को बहुत कम ज्ञान था। उसके लाभों से लोग अपरिचित थे। उसकी चाह और क़द्रदानी लोग नहीं करते थे। बहुत लोग उसे सरकारी पत्र समझते और उसमें छपी बातों को विश्वासयोग्य नहीं समझते थे। बहुधा लोग खत्रीजी से कहा करते थे कि 'आठवें दिन आकर सुना जाया करो तो ग्राहक हों'। खत्री जी भी एक ऐसी लगन के आदमी थे कि जिसने जो चाहा वही उन्होंने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार खत्री जी ने अथक परिश्रम और उत्साह से इस पत्र को आगे बढ़ाया। भारतेन्दु जी तथा महारानी स्वर्णमयी इस पत्र के परम सहायक रहे।

बिहारबन्धु—सन १८७२ में बिहार से पं० केशवराम भट्ट तथा पं० साकीराम भट्ट ने 'बिहारबन्धु' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्र की प्रणाली सुन्दर तथा प्रौढ थी। पर भाषा खिचड़ी थी। यह मासिकपत्र था तथा कठिनाई से चल रहा था। सन १८७४ में लाला श्रीनिवासदास ने दिल्ली से **'सदादर्श'** पत्र निकाला जो १८७६ में 'कविवचनसुधा' में मिला दिया गया।

काशी-पत्रिका—सन १८७६ में भारतेन्दु की सहायता से 'काशी-पत्रिका' बालेश्वर प्रसाद बी० ए० हेडमास्टर नार्मलस्कूल ने प्रकाशित की। प्रारम्भ में वह 'कविवचन सुधा' के ढर्रे पर चलता रहा। बाद में वह छात्रोपयोगी पत्र बना दिया गया। कुछ दिन इसकी भाषा उर्दू और अक्षर हिन्दी कर दिये गये। बाद में एक पृष्ठ हिन्दी और एक पृष्ठ उर्दू कर दिया। पीछे जब बाबू बालेश्वरप्रसाद डिप्टी कलेक्टर हो गये तो यह पत्र पं० लक्ष्मीशंकर एम० ए० को दे दिया गया। उनके हाथ कुछ दिन यह पत्र चलता रहा।

भारत-बन्धु—सन १८७६ में अलीगढ़ से हिन्दी भाषा के परम सहायक बाबू तोताराम ने 'भारत-बन्धु' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। जो कुछ दिन चलता रहा।

भारत-मित्र—सन १८७७ भारतीय पत्रों के इतिहास में चिरस्मरणीय सन है। इस सन में कलकत्ते का प्रख्यात 'भारत-मित्र' तथा अन्य अनेक हिन्दी पत्रों का प्रकाशन हुआ।

पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र तथा बा० जगन्नाथ खन्ना के उद्योग से 'भारतमित्र' कमेटी का निर्माण हुआ जिसमें पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० छोटू लाल मिश्र, पं० सदानन्द मिश्र तथा बा० जगन्नाथ खन्ना सम्मिलित थे। और उनकी देखरेख में भारतमित्र प्रकाशित होने लगा। इसके प्रथम सम्पादक

पं० छोटूलाल मिश्र थे। उन्होंने बड़ी योग्यता से पत्र का सम्पादन किया। भारतेन्दु जी भी समय २ पर उसमें लिखा करते थे। मिश्र जी के बाद पं० हरिमुकुन्द शास्त्री सम्पादक बने। इसके बाद जगन्नाथदास अग्रवाल। इस समय तक उसके डीलडौल और प्रबन्ध-व्यवस्था में बहुत कुछ उन्नति हुई थी। लेखों का चुनाव सावधानी से होता था। पीछे पं० रुद्रदत्त शर्मा सम्पादक हुए। ये पहले आर्यावर्त का सम्पादन करते थे। फिर हिन्दी बंगवासी के सम्पादक हुए थे। इनके सम्पादन-काल में पत्र का विषय राजनीति प्रधान हो गया।

मित्र-विलास—१८७७ में पंजाब से प्रथम हिन्दी साप्ताहिक 'मित्र-विलास' निकला। जिसमें पं० गोपीनाथ के करारे लेख निकलते थे। यह पत्र सनातनधर्म का पृष्ठपोषक था। पंजाब में इस पत्र के प्रकाशन से पूर्व नवीन बाबू की एक उर्दू हिन्दी मासिक पत्रिका 'ज्ञान प्रदायिनी' छपती थी जिसमें ब्राह्मधर्म सम्बन्धी लेख होते थे। पीछे 'हिन्दू बान्धव' छपने लगा था जो ब्रह्म समाज का ही पत्र था।

इन दोनों पत्रों ने बहुत आर्थिक हानि सहकर भी १४ वर्ष तक निरन्तर हिन्दी का प्रचार किया। मित्रविलास भारतेन्दु की 'कविवचन सुधा' को पढ़कर प्रकाशित किया गया था। इसका सम्पादन पं० कन्हैयालाल किया करते थे। प्रारम्भ में यह पत्र लीथो में कई वर्षों तक छपता रहा। उन दिनों सम्पूर्ण भारतवर्ष में चार ही हिन्दी पत्र थे। १ कविवचन सुधा, २ विहार बन्धु, ३ हिन्दी-प्रदीप, और ४ मित्रविलास। इसके बाद भारतमित्र, सारसुधानिधि, उचितवक्ता और भारतजीवन तथा क्षत्रिय-पत्रिका आदि निकले।

भारतहितैषी—यह पत्र साप्ताहिक रूप में ज्वालाप्रसाद गोस्वामी के अधिकार से छपना प्रारम्भ हुआ था परन्तु वह एक मास निकल कर बन्द हो गया।

भारतदीपिका—इस नाम की एक साप्ताहिक पत्रिका भी छपनी आरम्भ हुई थी, पर वह भी बन्द हो गई।

'मित्रविलास' को महाराणा सज्जनसिंह ने २००) टाइप के लिये भेजा था। मियांमीर के रायबहादुर सेठ रामरत्न ने भी सहायता दी थी। इससे सन १८८७ से यह पत्र टाइप में छपने लगा था। जब भारतेन्दु का स्वर्गवास हो गया तब मित्रविलास ने उनके नामका सम्बत चलाने का हिन्दी पत्रों से अनुरोध किया था और कुछ पत्रों ने यह सम्बत लिखना प्रारम्भ कर भी दिया था।

हिन्दी प्रदीप और आर्यदर्पण—ये दोनों ही पत्र मासिक सन १८७७ में प्रकाशित होने प्रारम्भ हुए जिनका विवरण मासिक पत्रों में दिया जायगा।

उचितवक्ता और सारसुधानिधि—ये पत्र १८७८ में कलकत्ते से प्रकाशित होने प्रारम्भ हुए। उचितवक्ता का सम्पादन पं० दुर्गाप्रसाद ने बड़ी योग्यता से किया। उस समय के विद्वान् पुरुष प्रायः इसमें लेख लिखा करते थे। स्वयं भारतेन्दु भी अवकाश पाकर इसमें लिखते रहते थे।

'सारसुधानिधि' पं० सदानन्द मिश्र के संपादन में बड़ी गम्भीरता और व्यवस्था से निकलता था। लेखों में जैसी प्रौढ़ता और भाव-व्यंजना होती थी वैसी ही छपाई सफ़ाई भी उत्तम होती थी। पत्र में राजनैतिक और सामाजिक समस्याएं रहती थीं। उदयपुर के महाराणा ने इस पत्र की भी धनदान से सहायता की थी।

सज्जनकीर्त्ति-सुधाकर—यह पत्र सन १८७९ में उदयपुर के विद्या-प्रेमी महाराणा सज्जनसिंह जी के उद्योग से उदयपुर से प्रकाशित हुआ। राजपूताने से प्रकाशित होने वाला यह पहला पत्र था जो बड़ी धूमधाम से निकलता रहा।

हिन्दुस्तान—इस पत्र का प्रकाशन राजा रामपालसिंह ने सन १८८३ में इंग्लैण्ड से प्रारम्भ किया और यह प्रारम्भ में अंग्रेज़ी और हिन्दी में बाद में तथा अंग्रेज़ी हिन्दी और उर्दू तीनों भाषाओं में प्रकाशित होता रहा। उस समय यह एक मासिक पत्र था। इसके हिन्दी और उर्दू स्तम्भ राजा साहब स्वयं लिखा करते थे। और अंग्रेज़ी लेख जार्ज टेम्पुल लिखा करते थे। १ साल बाद ही यह साप्ताहिक हो गया और सन १८८५ के जुलाई मास तक इंग्लैण्ड से ही प्रकाशित होता रहा। सन १८८५ में जब राजा साहब वापस कालाकांकर आए, तब उन्होंने कालाकांकर से 'हिन्दुस्तान' को हिन्दी भाषा में दैनिक रूप में निकालना प्रारम्भ किया। १८९१ की जनवरी से प्रति रविवार को इसका एक साप्ताहिक संस्करण अंग्रेज़ी भाषा में प्रकाशित होता रहा। हिन्दी के दैनिक को राजा साहेब स्वयं संपादित करते थे और अंग्रेज़ी साप्ताहिक को पूर्वोक्त जार्ज टेम्पल। बाद में इसके अनेक गण्यमान्य जन सहकारी सम्पादक बने, जिन में सर्वश्री पं० मदनमोहन मालवीय, अमृतलाल चक्रवर्ती, लालबहादुर बी. ए. शशिभूषण बी० ए०, बा० बालमुकुन्द गुप्त और पं० शीतलप्रसाद उपाध्याय प्रमुख हैं।

प्रयाग समाचार और खिचरी समाचार—प्रयाग से प्रयाग समाचार सन १८८३ में और मिर्जापुर से खिचरी समाचार सन १८८९ में प्रकाशित हुए। ये साधारण कोटि के पत्र रहे।

भारतोदय—सन १८८५ में कानपुर से बा० सीताराम ने भारतोदय पत्र निकाला जो दैनिक था, परन्तु यह एक ही वर्ष में बन्द हो गया।

पांच अल्पजीवी पत्र—इस समय काशी से 'आर्य-मित्र' 'मित्र' 'सरस्वती-विलास' 'गोसेवक' तथा 'तिमिरनाशक' ये पांच पत्र एक साथ ही निकलने प्रारम्भ

हुए परन्तु शीघ्र ही बन्द हो गए ।

भारत-जीवन—यह सन १८८३ में काशी से बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ जिसने अच्छी ख्याति पैदा की ।

राजस्थान और आर्यावर्त—

सन १८७६ में आर्यसमाज की स्थापना हुई और सन १८८९ में अजमेर से 'राजस्थान' और १८८७ में 'आर्यावर्त' कलकत्ता से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ । ये आर्य समाज की पद्धति पर समाज-सुधारक पत्र थे ।

भारतभ्राता—

सन १८८७ में रीवां के महाराजकुमार श्रीलालबलदेवसिंह कमाण्डर इनचीफ़ रीवां राज्य ने 'भारतभ्राता' एक अच्छा पत्र निकाला ।

सर्वहित—

इस नाम का एक पत्र बूंदी से पं० कन्हैयालाल और पं० मन्नालाल के उद्योग से सन १८८९ में प्रकाशित हुआ परन्तु शीघ्र ही बन्द हो गया । 'मारवाड़ गज़ट' आदि पत्र भी राजस्थान से निकले और बन्द हो गए ।

हिन्दी बंगवासी—

सन १८९० में बंगवासी के अधिपति बा० कृष्णचन्द्र बनर्जी ने धूमधाम से 'हिन्दी बंगवासी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया । उसका लम्बा चौड़ा आकार, सुन्दर कागज़ प्रत्येक संख्या में चित्रों की भरमार, कहानी, उपन्यास तथा उपहारों का उत्तम वितरण इन सब कारणों से 'हिन्दी बंगवासी' की धूम मच गई । यह सनातनधर्म का समर्थन करने वाला पत्र था । इस पत्र की ग्राहक-संख्या तत्कालीन पत्रों में सबसे अधिक हो गई थी ।

भाषा-भूषण और बम्बई-व्यापार-सिन्धु—

१८९३ में इस नाम का एक पत्र प्रथमवार बम्बई प्रान्त से निकला परन्तु शीघ्र ही बन्द हो गया । फिर बम्बई-व्यापार-सिन्धु का प्रकाशन हुआ परन्तु वह भी शीघ्र ही बन्द हो गया ।

नागरी-नीरद—

सन १८९३ में बद्रीनारायण चौधरी ने मिर्ज़ापुर से नागरी नीरद का प्रकाशन किया जो आकार में यद्यपि छोटा था, परन्तु मसाला उसमें अच्छा होता था ।

आर्य-पत्रिका—

मिर्ज़ापुर से 'आर्यपत्रिका' आदि अनेक नई पत्र पत्रिकाएं प्रकाशित हुई और बन्द हो गई ।

बिहार बन्धु—

बिहार-बन्धु, भारतजीवन, भारतमित्र, उचितवक्ता, दैनिक हिन्दुस्तान, आर्यदर्पण, ब्राह्मण, हिन्दी-प्रदीप, आदि पत्रों ने अच्छी हिन्दी सेवा की। 'मित्रविलास' साम्प्रदायिक पत्र था, पर उसने हिन्दी की भी सेवा की। आनन्द-कादम्बिनी, ब्राह्मण और हिन्दीप्रदीप साहित्यिक पत्र थे। 'हिन्दीप्रदीप' को कई बार बन्द होना पड़ा। 'ब्राह्मण' के सम्पादक प्रतापनारायण मिश्र घर २ जाकर चन्दा उगाहते थे। एक बार तो उन्हें पत्र में छापना पड़ा था—

'आठ मास बीते जजमान ! अब तो करो दच्छिनादान'।

मासिक-पत्र—

सब से पहली हिन्दी मासिक पत्रिका 'कविवचनसुधा' सन १८६८ में प्रकाशित हुई जिसका विवरण हम पीछे दे चुके हैं। पीछे जब सुधा साप्ताहिक हुई तब भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मेगज़ीन' का प्रकाशन डाक्टर लाज़रस के मेडिकल हाल प्रेस से प्रारम्भ किया। इसकी छपाई सफ़ाई काग़ज़ सब अत्युत्तम थे। भारतेन्दु स्वयं कहा करते थे कि जैसे उमंगदार लेख मेगज़ीन में छपा करते थे वैसे फिर नहीं लिखे गये। यही मेगज़ीन सन १८७४ में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी। इस समय गवर्नमैंट भी इसकी १०० प्रतियां ख़रीदती थी जो बाद में बन्द कर दी गईं।

उदयपुर राज्यकौंसिल के तत्कालीन सेक्रेटरी पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या भारतेन्दु के पुराने मित्र थे। उन्होंने जब काशी से 'मोहन-चन्द्रिका' का प्रकाशन प्रारम्भ किया तब उन्होंने भारतेन्दु जी से अनुरोध किया कि 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' उसी में मिला दी जाय। सन १८८० से मोहनचन्द्रिका सम्मिलित 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' का काशी से संयुक्त प्रकाशन होने लगा। बाद में जब वह नाथद्वारा से प्रकाशित होने लगी तब उसमें मासिक पत्र 'विद्यार्थी' भी मिल गया। और इसके सम्पादन का भार दामोदर शास्त्री पर पड़ा। अन्ततः पत्रिका कुछ दिन चलकर बन्द होगई। १८८४ में भारतेन्दु जी ने उसे दुबारा काशी से 'नवोदिता हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। परन्तु इसके कुछ ही मास बाद भारतेन्दु का स्वर्गवास हो गया। उनके स्वर्गवास होने पर उनके कनिष्ठ भ्राता गोकुलचन्द्र ने जब तीसरा अंक प्रकाशित किया तो मोहनलाल पण्ड्या ने उन्हें एक नोटिस देकर चन्द्रिका पर अपने अधिकार का दावा किया। इससे सदा के लिये उसका प्रकाशन रुक गया।

लड़कियों की पाठशालाओं में प्रचार के लिये भारतेन्दु जी ने गवर्नमैंट की आज्ञा से १८७४ में एक मासिक-पत्रिका 'बालाबोधिनी' प्रकाशित करनी

प्रारम्भ की थी। गवर्नमैंट उसकी भी १०० प्रतियां खरीदती थी। इसमें उपयोगी तथा उत्तम लेख छपा करते थे। बा॰ ऐश्वर्यनारायणसिंह, पं॰ शीतलप्रसाद त्रिपाठी जैसे सुलेखक इसमें लिखा करते थे। बाद में जब 'सुधा' और 'चन्द्रिका' की प्रतियां गवर्नमैंट ने खरीदना बन्द कर दिया, तब 'बालाबोधिनी' का लेना भी बन्द कर दिया। इससे इसे बन्द कर दिया गया क्योंकि यह गवर्नमैंट के आसरे ही से चलती थी।

हिन्दी-प्रदीप—१८८७ में पं॰ बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' प्रकाशित किया जो भाषा, विषय और छपाई आदि प्रत्येक दृष्टि से उत्तम था। इसे उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह ने भी धन से सहायता दी थी।

आर्य-दर्पण—सन १८८७ में ही शाहजहांपुर से कुं॰ बख़्तावरसिंह ने शाहजहांपुर आर्यसमाज से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया।

भारत-सुदशा-प्रवर्तक—सन १८७८ में फर्रुखाबाद आर्यसमाज से ही बा॰ कालीचरण ने 'भारत-सुदशा प्रवर्तक, का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

आनन्द-कादम्बिनी—सन १८८१ में पं॰ बदरीनारायण चौधरी ने मिर्ज़ापुर से 'आनन्द-कादम्बिनी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया जो कुछ काल बाद नन्द हो गया।

क्षत्रिय-पत्रिका—सन १८८१ ही में बांकीपुर से खड्गविलास प्रेस से बा॰ रामदीनसिंह ने 'क्षत्रिय-पत्रिका' का प्रकाशन प्रारम्भ किया जो बाद में 'द्विज-पत्रिका' के नाम से चलती रही। इसमें भी भारतेन्दु के लेख निकला करते थे।

वैष्णव-पत्रिका—सन १८८२ में काशी से अम्बिकादत्त व्यास ने 'वैष्णव-पत्रिका' निकालना प्रारम्भ किया। जो पीछे सन १८८४ से 'पीयूष-प्रवाह' के नाम से प्रकाशित होता रहा।

ज्ञान-प्रदीपनी—इसी सन में पंजाब यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार बाबू नवीनचन्द्रराय ने ब्रह्मसमाज की 'ज्ञान-प्रदीपिनी' पत्रिका निकाली।

धर्मदिवाकर—सन १८८३ में कलकत्ते की धर्मसभा की ओर से पं॰ देवीसहाय ने 'धर्मदिवाकर' पत्र निकाला। यह खण्डन-मण्डन का पत्र था।

ब्राह्मण—इसी सन में कानपुर से 'ब्राह्मण' पत्र प्रतापनारायण मिश्र ने प्रकाशित किया। पीछे वह खड्गविलास प्रेस बांकीपुर से प्रकाशित होने लगा।

भारतेन्दु—लाहौर के पं॰ ज्वालादत्त प्रसाद ने इसे इसी सन में प्रकाशित करना प्रारम्भ किया परन्तु उसके केवल दो ही अंक प्रकाशित होकर रह गये।

मित्र-विलास मासिक—लाहौर से मित्र-विलास के सम्पादक पं० गोपीनाथ एक बार वृन्दावन गए थे तब गोस्वामी राधाचरण ने उन से वह पत्र लेकर नये रूप रंग में मासिक रूप में निकालना प्रारम्भ किया। २५० प्रतियां छपती थीं, २०० बंटतीं थीं। मूल्य १।) वार्षिक था। पर फिर भी ग्राहक नहीं जुटते थे। यद्यपि भारतेन्दु, लाला श्रीनिवासदास, श्रीमतीहरिदेवी, श्रीधर पाठक आदि लेखकों के लेख छपते थे। इसी पत्र ने आन्दोलन करके मथुरा-वृन्दावन रेल निकलवाई। कुछ दिन बाद पत्र बन्द हो गया, परन्तु १८८६ में फिर प्रकाशित हुआ और ४।५ अंक निकल कर फिर बन्द हो गया।

शुभचिन्तक—१८८३ में शुभचिन्तक शाहजहांपुर से निकल कर बन्द हो गया। कुछ पत्र इन दिनों लखनऊ से प्रकाशित हुए। उनमें प्रमुख ये हैं।

दिनकर-प्रकाश—यह १६ पृष्ठ का एक मासिक पत्र टाइप में छपता था। बा० रामदास वर्मा इसके सम्पादक थे। वार्षिक चन्दा था १॥=) यह पत्र १८८३ से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ और सन १८८८ तक छपता रहा।

कानकुब्ज-प्रकाश—यह भी १६ पृष्ठ का लीथो में पं० बलभद्र मिश्र ने गणेशगंज से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया था। मूल्य था ॥।) वार्षिक। १८८४ से १८८६ तक प्रकाशित होता रहा।

रसिक-पत्र—यह भी १६ पृष्ठ का मासिक टाइप में छपता था। पं० शिवनाथ मिश्र ने प्रकाशित किया। मूल्य था ।=) सन १८८७ से १८८९ तक प्रकाशित हुआ।

काव्यामृत-वर्षिणी—पत्रिका लीथो में १८ पृष्ठ की पं० शिवदत्त द्वारा गणेशगंज से प्रकाशित होती थी, १८८५ से ८८ तक चली। मूल्य १॥)

भारतभानु—यह सोलह पृष्ठ की मासिक पत्रिका, बा० कन्हैयालाल जैन और बा० भगवानदास जैन हजरतगंज से १८९१ से १८९३ तक प्रकाशित करते रहे। यह साहित्यिक पत्रिका थी। मूल्य था १॥) वार्षिक।

बुद्धिप्रकाश—यह मासिक लीथो में १२ पृष्ठ का अहमदगंज से पं० चन्द्रशेखर गौड़ सम्पादित करते थे, मूल्य १॥) सन १८८८ से १॥ वर्ष चली।

सुगृहिणी—यह एक स्त्री शिक्षा सम्बन्धी पत्रिका लाहौर से बा० नवीनचन्द्रराय की पुत्री श्रीहेमन्तकुमारी देवी सम्पादन करती थीं। यह पत्रिका सन १८८८ में प्रकाशित हुई। यह एक नई बात थी कि एक स्त्री, और वह भी बंगालिन एक हिन्दी-पत्रिका का सम्पादन करे। यह पत्रिका ब्रह्मसमाज के भावों से प्रभावित थी।

भारत भगिनी—यह स्त्रीशिक्षा सम्बन्धी मासिक पत्रिका प्रयाग से मुं० रोशनलाल बैरिष्टर की स्त्री श्रीमती हरिदेवी द्वारा सम्पादित होती थी। इसका प्रकाशन १८८९ में प्रारम्भ हुआ था।

कृषिकारक—यह पत्रिका अमरावती से खेती-सुधारक-मण्डली के सेक्रेटरी गणेशनारायण छोटबेकर और सखाराम चिमड़ा गोले द्वारा मराठी में सम्पादित होती थी जिसे भारतजीवन के सम्पादक बा० रामकृष्ण वर्मा हिन्दी में अनूदित करके प्रकाशित करते थे। पीछे अफ़सरों के कहने से इसकी भाषा हिन्दुस्तानी करदी गई। कुछ दिन बाद वह बन्द हो गई।

साहित्य सुधानिधि—यह पत्रिका सन १८९३ में बा० देवकीनन्दन खत्री और बा० जगन्नाथदास रत्नाकर ने प्रकाशित की थी। इनमें प्रतिमास ५ फ़ार्म में ५ ग्रन्थ पृथक् २ छपते थे; जो पीछे अलग २ कर लेने से ५ ग्रन्थ हो जाते थे।

त्रिविध-प्रभाव-काल

ईस्वी १८८९ से १९०२ तक = १४ वर्ष

अध्याय पहला

त्रिविध प्रभाव

सन १८८३ में स्वामी दयानन्द की मृत्यु हुई और १८८५ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की। स्वामी दयानन्द ने ३० वर्ष कार्य किया और भारतेन्दु ने २१ वर्ष। ये दोनों महानुभाव ऐसा सांस्कृतिक प्रभाव छोड़ गये जो दिन २ तेज़ी के साथ बढ़ता ही चला गया और जिसने शीघ्र ही सम्पूर्ण उत्तर-भारत में जागरण की एक नई लहर पैदा कर दी। स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दोनों ही ने विभिन्न दिशाओं में हिन्दी-प्रेम, देश-भक्ति और आत्म-गौरव की भावना सम्पूर्ण उत्तर-भारत में भर दी। स्वामी दयानन्द का प्रभाव मुख्यरूप में पंजाब पर पड़ा और उसे पुष्टि गुरु गोबिन्दसिंह के सिख धर्म और नवीनचन्द्रराय की ब्रह्म-समाजी हलचलों

से मिली। युक्त-प्रान्त और पूर्वी भारत में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रभाव को, राजा शिवप्रसाद और राजा राममोहनराय आदि प्रगतिवादी जनों की सर सैयद अहमद आदि के प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं ने जीवन दिया। इन दो प्रबल महात्माओं के प्रभाव के पीछे अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव सर्वत्र काम कर रहा था। यह विदेशी संस्कृति अफ़सरों के विधानों से लेकर पादरियों के ईसाइयत के प्रचार तक एक नवीन लहर को–एक सनसनी भरी उत्तेजना को उत्पन्न कर रही थी। इस प्रकार इस त्रिविध प्रभाव से आवेशित सम्पूर्ण उत्तर-भारत में चेतनता और जागरण के लक्षण दीखने लगे थे। यह बात अवश्य थी कि पंजाब में हिन्दी का विकास साम्प्रदायिक वातावरण में और उत्तरी तथा पूर्वी भारत में साहित्यिक रूप में पनप रहा था। हर हालत में यह कहा जा सकता है कि नवीन अंग्रेजी राज्य के नवीन वातावरण में इन दो महानुभावों के जाग्रत प्रभाव के कारण सम्पूर्ण उत्तर-भारत में हिन्दी की विजय-दुन्दुभी बज उठी।

हिन्दी-प्रचार—

स्वर्गीय भारतेन्दु अपने जीवन-काल में हिन्दी-प्रचार के लिये बहुत धूम-धाम कर गए थे। वे केवल इस सम्बन्ध में लेख लिखकर ही संतुष्ट न होते थे, अपितु जगह २ घूमते, भाषण करते, और अभिनय करते थे। हिन्दी भाषा और नागरी की उपयोगिता पर उनके भाषण बड़े प्रभावशाली होते थे। एक बार जब बलिया के हिन्दी-प्रेमी कलक्टर ने उन्हें बुलाया था, तब बलिया में इन्होंने हिन्दी की धूम मचा दी थी। उस समय इन्होंने 'सत्य हरिश्चन्द्र' 'अंधेर नगरी' और 'देवाक्षर चरित्र' के अभिनय भी किए थे। यह 'देवाक्षर चरित्र' एक प्रहसन था, जो पं० रविदत्त शुक्ल का लिखा हुआ था। इसमें उर्दू लिपि की गड़बड़ी का अच्छा मज़ाक उड़ाया गया था।

पं० गौरीदत्त की हिन्दी लगन—

भारतेन्दु के बाद पं० गौरीदत्त ने हिन्दी का झण्डा उठाया। हिन्दी के प्रति इनकी एकनिष्ठा, एवं त्याग और अध्यवसाय अद्भुत था। पं० गौरीदत्त भारद्वाज-गोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण थे। इनकी जन्म-भूमि लुधियाना थी। इनका जन्म सन १८४७ ई० में हुआ। इनके दादा तान्त्रिक और पिता फ़ारसी के पण्डित थे। पीछे ये एक संन्यासी के उपदेश से सर्वत्यागी हो गये। पं० गौरीदत्त ने अपनी पैत्रिक पण्डिताई सीख कर पीछे फ़ारसी और अंग्रेज़ी की भी शिक्षा प्राप्त की। पीछे रुड़की कालेज में बीजगणित, रेखागणित, सर्वेइंग, ड्राइंग और शिल्प सीखे। वैद्यक और हकीमी का भी अभ्यास किया।

सत्तावन के विद्रोह में ये सरकारी सेना में गुमाश्ता होकर लखनऊ चले गए थे। पीछे मेरठ आए और एक पाठशाला में अध्यापक होगए। ४० वर्ष की अवस्था होने पर ये नागरी-प्रचार में जुट गये। पहले अपनी सब जायदाद नागरी-प्रचार के लिये समर्पण कर उसकी रजिस्ट्री करा दी और फिर देशाटन करना प्रारम्भ किया। खूब व्याख्यान दिये, जिनसे प्रभावित होकर जगह २ देवनागरी स्कूल खुल गए। अपने शेष जीवन में गौरीदत्त जी नागरी-प्रचारमय हो गये थे। आपने नागरी-प्रचार के कई खेल और गोरखधन्धे बनाए, जिनसे आदमी की तबियत उनमें उलझे। स्त्री-शिक्षा पर भी इन्होंने ३ पुस्तकें लिखीं, जिन्हें गवर्नमैन्ट ने पसन्द किया और पुरस्कृत किया। इन्होंने एक हिन्दी-कोष बनाया। मेरठ के नागरी स्कूल की स्थापना इन्होंने ही की। एक बार यू० पी० के गवर्नर के पास इन्होंने दफ्तरों में नागरी-प्रचार के लिए एक मेमोरियल भी भेजा था। ६५ वर्ष की आयु होने पर भी ये हाथ में नागरी का झण्डा लिए मेलों तथा सभा-समाजों में घूमा करते, तथा मिलने पर नमस्ते, प्रणाम के बदले 'जय नागरी' कहते। इनके पीछे लड़के हल्ला मचाये फिरा करते थे। १९०६ में मेरठ में आपका स्वर्गवास हुआ। सूर्यकुण्ड पर मेरठ में आपकी नागरी समाधि है, जिस पर 'गुप्तसंन्यासी नागरी प्रचारानन्द' अंकित है।

ठाकुरप्रसाद खत्री—

इनका जन्म १८६५ में काशी में हुआ। आरम्भ में इनको हिन्दी और फ़ारसी की शिक्षा दी गई। बाद में इन्होंने स्कूल में अंग्रेज़ी पढ़ी। गणित और विज्ञान की ओर इनकी रुचि अधिक थी। ये कोई डिग्री न हासिल कर सके और कचहरी में इनकम टैक्स के क्लर्क होगए। बाद में पुलिस के खज़ांची और उसके बाद असिस्टेन्ट कोर्ट इन्सपैक्टर हो गये। बाद में मेरठ के थानेदार हुए। परन्तु पुलिस की नौकरी इन्हें पसन्द न आई और इसे छोड़ इन्होंने बंगला, गुजराती आदि भाषाएं पढ़ीं। हिन्दी में लेख लिखना भी प्रारम्भ किया। कुछ दिन बाद 'लखनऊ की कारमाइकल लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन हो गए। सब से प्रथम इन्होंने लखनऊ की कब्र दो भागों में लिखी और विनोदवाटिका नामक एक मासिक पत्र भी निकाला, जो दो वर्षों तक चलता रहा। इसी बीच इन्होंने नागरी प्रचार के आन्दोलन में सभा की ओर से बड़ा प्रयास किया तथा काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के द्वारा प्रकाशित वैज्ञानिक कोष में पदार्थविज्ञान, और रसायनशास्त्र वाले अंश इन्होंने तैयार किए। देशी कारीगरी पर इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। इनको व्यापार और कारीगरी नामक हिन्दी मासिक पत्र निकालने के लिए सरकार ने ५००, तथा उर्दू संस्करण के लिए ५०० वार्षिक देना स्वीकार किया था। इन्होंने 'ज़मींदार' नामक एक पत्र भी निकाला। जगत व्यापारिक

पदार्थकोष नाम का इन्होंने एक उत्तम ग्रन्थ लिखा । इसके लिए सरकार से इन्हें १०००) रु० की सहायता मिली थी । ये बड़े विचारशील, उद्योगी तथा मिलनसार थे ।

पंजाब में हिन्दी का बीजारोपण—

सन १८८० में, स्वामी दयानन्द की मृत्यु के ३ वर्ष पूर्व लाहौर में आर्य समाज की स्थापना हुई । यह समय पंजाब के अन्धकार का था। चिरकाल से विदेशी दासता भोगने के बाद पंजाब में जो किंचित् समय के लिये सिख-राज्य स्थापित हुआ था, वह तभी स्वप्न-राज्य के समान भंग हो चुका था। और अब एक नई विदेशी-सत्ता अपना प्रभाव जमा रही थी । उन दिनों सारा पंजाब घोर अज्ञान में जातपांत बिरादरी आदि के टुकड़ों में बँटा हुआ था और प्रत्येक टुकड़ा एक दूसरे का बैरी हो रहा था। सामाजिक कुरीतियां और रूढ़िवाद ने हिन्दुओं के हृदयों को खोखला कर दिया था। मौलवियों और पादरियों के कुत्सित प्रचार से यह मानसिक दासता और बढ़ गई थी। हिन्दू धर्म में जो असम्मानजनक बातें भर गई थीं, उन्हीं को ये पादरी और मौलवी टेढ़े सीधे ढंग पर सर्वसाधारण के सामने रखकर हिन्दुओं को उनके ही धर्म, संस्कृति और जीवन के प्रति विद्रोही बना रहे थे। उनका उद्देश्य सारे राष्ट्र को ही निकम्मा बनाकर हिन्दुत्व को समाप्त कर देना था। इसी से वे ऐसे विचार उनमें फैला रहे थे, जिनसे उनके जीवन निराश हो जांय और वे अपने देश, अपनी संस्कृति और अपने धर्म-कर्म से घृणा करने लगे । और उन्हें विदेशी दासता के चुंगल में आसानी से फंसाया जा सके। उस काल की परिस्थिति का वर्णन एक फ्रेन्च लेखक 'वाल्टेयर' ने अपनी 'फ्रेग्मैट्स आन-इण्डिया' में इस प्रकार किया है—'·······उन (हिन्दुओं) में से अधिकतर लोग सुलभ और उदासीन जीवन व्यतीत करते हैं। उनका मुख्य सिद्धान्त, जो उन्होंने अपने प्राचीन ग्रन्थों से खोजा है; यह है कि चलने की अपेक्षा बैठना अच्छा है, और बैठने की अपेक्षा लेटना' तथा लेटने की अपेक्षा सोना और सोने की अपेक्षा मरना अच्छा है"।

उन दिनों समाज छिन्न-भिन्न हो रहा था, रूढ़िवाद ने भाई-भाई को पृथक् कर दिया था। आत्म-विश्वास नष्ट हो चुका था, 'जगत मिथ्या है' यह विचार दर्शन का सार था; यह जनता की भीतरी हालत थी, जब कि बाहर से उस पर लगातार आक्रमण किये जा रहे थे। सारा हिन्दू-राष्ट्र हिल रहा था और इस सफलता को देखकर पादरी खुश होकर यह कहने लगे थे कि ५० वर्षों में सारा भारतवर्ष ईसाई हो जायगा ।

ऐसे ही समय में स्वामी दयानन्द ने हिन्दू-सभ्यता, वैदिक-संस्कृति और हिन्दी-भाषा की आवाज ऊँची की, और देश में ये तीन मन्त्र जादू फैलाने लगे।

उन दिनों धार्मिक व्याख्यानों की काफी भरमार रहती थी। सच पूछिए तो यह चस्का ईसाई मिशनरियों ने लगाया था। उनकी देखादेखी मुल्ला लोग भी जब तब इस्लाम का प्रचार करते रहते थे। परन्तु जब आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द और सनातन धर्म के प्रचारक श्रद्धाराम फुल्लौरी के भारी भारी व्याख्यान होने लगे तब इन धार्मिक व्याख्यानों का स्वरूप ही बदल गया। पादरियों और मुल्लाओं के व्याख्यान फीके हो गए; ढेर के ढेर लोग स्वामी दयानन्द और फुल्लौरी के व्याख्यानों में दिलचस्पी लेने लगे। दिलचस्पी का एक कारण भी था। ये दोनों विद्वान् हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति के समर्थक थे, परन्तु एक पुराने पौराणिक ढर्रे पर और दूसरा उससे भी अधिक पुराने वैदिक ढर्रे पर चलने की प्रेरणा करता था। दोनों पक्षों में झड़प भी हो जाया करती थी। ये शास्त्रार्थ बड़ी उत्तेजना और कौतूहल की वस्तु थे। स्वामी दयानन्द के प्रवचनों में अधिक आकर्षण यह था कि वे एकेश्वरवादी थे और रूढ़ियों के विरोधी तथा प्रगति के समथर्क थे। एक ओर वे प्राचीनतम वैदिक संस्कृति को दृढ़ता से थामे थे दूसरी ओर वे नए से नए सुधारों का स्वागत करते और सर्वसाधारण को उन पर अग्रसर होने को कहते थे। उनके विचार पाश्चात्य विकास से मिलते जुलते थे, परन्तु वैदिक संस्कृतिमय थे। इसी से लोग उनसे अधिकाधिक प्रभावित होते गये। उन दिनों भी अंग्रेजी का अधिक प्रचार न हो पाया था—बहुत कम नवयुवक एम० ए० बी० ए० होते थे, और तुरन्त उन्हें सरकारी उच्च पद मिल जाता था। किंतु देश के पुराने लोग उन्हें विद्वान् नहीं समझते थे, विद्वान् वे ही समझे जाते थे जो अरबी फ़ारसी के पण्डित होते थे। केवल पण्डित ही नहीं बहुत हिन्दू बुजुर्ग मुस्लिम संस्कृति और रीतियों को भी मानते थे। पंजाब-केसरी ला० लाजपतराय के पिता मुन्शी राधाकिशन नमाज़ पढ़ा करते और रोज़े रखा करते थे। ऐसे ही वे दिन थे जब लाहौर में आर्य-समाज की स्थापना हुई।

सन १८८० में लाहौर में सर्वप्रथम आर्यसमाज स्थापित हुआ। रायबहादुर लाला लालचन्द एम० ए०, लाला जीवनराम, लाला सांईदास, और लाला मदन सिंह इसके प्रथम सदस्य बने। सन १८८१ में महात्मा हंसराज (तब विद्यार्थी) और सन १८८२ में ला० लाजपतराय तथा पं० गुरुदत्त उसके सदस्य बने। पीछे जब १८८३ में स्वामी दयानन्द की मृत्यु हुई तब लाहौर के आर्य-जनों ने उनकी स्मृति में 'दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज' खोलने का आयोजन किया, और महात्मा हंसराज ने अपनी सम्पूर्ण आकांक्षाएं दमन करके अपना जीवन कालेज को प्रदान किया। देखते ही देखते यह कालेज आधुनिक पद्धति पर ज्ञान दान देने तथा आर्य संस्कृति और वैदिक सभ्यता का बीजारोपण सहस्र-सहस्र युवकों के हृदयों में करने लगा।

महात्यागी महात्मा हंसराज अपने ७४ वर्ष के जीवन में ५८ वर्ष लगातार ज्ञान और सांस्कृतिक आलोक उत्तर-भारत में बखेरते रहे। जीवन भर चुपचाप दरिद्रता को उन्होंने सहन किया; विरोध, अपमान और बाधाओं का सामना किया, और अन्ततः उन्होंने उत्तर-भारत में नवयुग स्थापित किया। हिन्दी और संस्कृत का आज जो विकसित रूप पंजाब में दीख पड़ता है उसका बहुत सा श्रेय इसी एक दिव्य पुरुष को है।

सर्वश्री पं० गुरुदत्त एम. ए., लाला लाजपतराय, भगत लाला ईश्वरदास, लाला द्वारिकादास, ला० साईदास, ला० दीवानचन्द, पं० मेहरचन्द, ला० (अब भाई) परमानन्द, आदि जनों ने अपना जीवन महात्मा हंसराज के सहयोग में दिया। इनके प्रभाव से अनगिनत भद्रजन इनके सहकर्मी और सहयोगी बन गए। इन्हों ने पंजाब में आगे हिन्दी का बहुत कार्य किया।

कन्या महाविद्यालय जालन्धर—

जालन्धर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना सन १८९६ में जब लाला देवराज ने की, तब पंजाब की स्त्री-जाति की दशा अत्यन्त हीन थी। स्त्रियों को पढ़ाना लिखाना पाप समझा जाता था; और आम तौर पर लोगों में यह विश्वास था कि पढ़ी लिखी लड़कियां जल्दी विधवा हो जाती हैं। उनके बिगड़ जाने का तो भय था ही। स्त्री-शिक्षा होनी चाहिए या नहीं, इस विषय पर उन दिनों बड़े जोर शोर से शास्त्रार्थ हुआ करते थे। इन शास्त्रार्थों में स्त्री-शिक्षा के हिमायतियों को बहुधा लाठियां खानी पड़ती थीं। गालीगुफ्ता तो साधारण बात थी। ऐसे ही समय लाला देवराज ने साहस पूर्वक पुत्री-शिक्षा का यह भारी कार्य आरम्भ किया।

ला० देवराज सोन्धी खानदान के प्रतिष्ठित खत्री थे। स्वामी दयानन्द के उन्हें दर्शन हुए थे। वे स्वयं उच्च शिक्षा प्राप्त डिग्रीधारी पुरुष न थे, परन्तु उनकी लगन बड़ी जबर्दस्त थी। उनके साथियों में रायबहादुर दीवान बदरीदास और लाला वृन्दावन का नाम उल्लेखनीय है। ला० मुन्शीराम जी भी उन्हीं के संगी साथी थे।

स्वामी दयानन्द हिन्दी को आर्य-भाषा कहा करते थे। और उन्होंने आर्य-भाषा पढ़ना लिखना भी आर्यों का एक मुख्य कर्तव्य बना दिया था। प्रारम्भ में आर्य समाज की पुस्तकें ट्रेक्ट और पत्र-पत्रिकाएं उर्दू-लिपि में छपीं; क्योंकि पंजाब में इसका भारी प्रचार था। परन्तु उनकी भाषा संस्कृतमय होती गई।

उधर स्वामी दयानन्द के सभी ग्रन्थ हिन्दी में थे; और उन्हें तथा वेदों को जो आर्यों के लिये पढ़ना अनिवार्य था—पढ़ने के लिये हिन्दी सीखना दिन २ आर्यों के लिये आवश्यक होता जाता था। आर्य समाज में हिन्दी और संस्कृत के पण्डित भी धीरे धीरे आते जाते थे और वे हिन्दी में रचनाएं करने लगे थे; स्त्रियाँ तो केवल हिन्दी ही पढ़ती थीं। तब तक भी यद्यपि पंजाब में हिन्दी का प्रचार बढ़ता जा रहा था, किन्तु हिन्दी कोई ऐसी भाषा नहीं समझी जाती थी कि जिसे पढ़कर कोई विद्वान् कहला सके। विद्वान् कहलाने के लिये अंग्रेजी, संस्कृत या फ़ारसी पढ़ना ही आवश्यक था। पुरुषों के लिये तब हिन्दी स्त्रियों को पत्र लिखने या सन्ध्या-हवन के मन्त्रों को पाठ करने की भाषा और लिपि थी।

पंजाब में स्वामी दयानन्द के पथ पर अग्रसर हो कर जो इन वर्णित त्यागी और मेधावी जनों ने हिन्दी और हिन्दु-संस्कृति को अपनाया उसकी पंजाब में जो पश्चिमोत्तर की अहिन्दु सीमाओं से संश्लिष्ट है तथा जहां उर्दू और मुस्लिम संस्कृति इतना घर कर गई थी कि हिन्दु सद्-ग्रहस्थ नमाज पढ़ते और रोजा रखते थे कम प्रतिक्रिया नहीं हुई और उसके फलस्वरूप सन १८९७ में पं० लेखराम को कत्ल होना पड़ा। यह आर्य समाज का पहिला बलिदान था।

काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा

भारतेन्दु को स्वर्गवास हुए आठ वर्ष बीत गये थे। परन्तु उन्होंने अपने जीवन के अल्पकाल में जो चांदनी छिटकाई थी, उसका प्रभाव अभी तक बना हुआ था। नगरों ही में नहीं, गांव देहातों तक में उनकी पुस्तकें चाव से पढ़ी जाती थीं—और बहुधा उनके हिन्दी-प्रेम की चर्चा लोग जोश के साथ चलाया करते थे। काशी नगरी में भारतेन्दु का घर तो हिन्दी के वातावरण से ओत प्रोत रहता था। वहां एक बार जो जाता हिन्दी प्रेम का कुछ न कुछ प्रभाव उस पर अवश्य पड़ता था।

सन १८८८ में कुछ छात्र देहात से मिडिल पास करके अंग्रेजी पढ़ने काशी आए और क्वीन्स कालेज में भरती हो गए, तथा छात्रावास में रहने लगे। इनमें ठा० शिवकुमार सिंह प्रमुख थे। वहां उनका परिचय कुछ हिन्दी-प्रेमी छात्रों से होगया, जिनमें भारतेन्दु के भतीजे कृष्णचन्द्र उन्हीं की कक्षा में पढ़ते थे। ये सब मिलकर समय २ पर भारतेन्दु की 'कविवचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' की फाइलें पढ़ा करते थे। कृष्णचन्द्र से मिलने कभी २ बचा बाबू (राधाकृष्णदास) छात्रावास में आते रहते थे; उनसे परिचय हो जाने पर इन छात्रों का भारतेन्दु के घर आना जाना होने लगा, और वहां उनका परिचय पं० जगन्नाथदास रत्नाकर से हुआ, तथा निरन्तर साहित्य-चर्चा होने से उनके मन में हिन्दी-प्रेम जड़ पकड़ गया।

एक दिन १० मार्च सन् १८९३ में दोपहर के समय स्कूल की छुट्टी हो जाने पर इन छात्रों ने, जिनमें ५वीं से नवीं श्रेणी तक के छात्र ही थे, 'नागरी-प्रचारिण-सभा' को जन्म दिया। पं० रामनारायण मिश्र भी उन दिनों ९वीं श्रेणी में पढ़ते थे तथा अंग्रेज़ी बोलने और पढ़ने में अपनी क्लास भर में सब से तेज़ थे। उनके मामा डा० छन्नूलाल उन दिनों आर्यसमाज के मन्त्री थे, ये उनके साथ बहुधा आर्यसमाज में जाकर विद्वानों के भाषण पढ़ा करते थे। जिससे इनका ज्ञान भी परिवर्धित हुआ और बोलने का साहस भी बढ़ा। ये स्कूल में यद्यपि फ़ारसी, उर्दू पढ़ते थे, पर प्रेम हिन्दी ही से रखते थे। ये सभा प्रारम्भ होने के तीन चार सप्ताह बाद ही सुधाकर द्विवेदी के पुत्र अच्युतानन्द के साथ सभा में जा मिले। इन्हीं के उद्योग से श्यामसुन्दरदास और शंकरनाथ भी सभा में आगये। श्यामसुन्दरदास उन दिनों कालेज में पढ़ते थे और शंकरनाथ संस्कृत के विद्यार्थी थे। वे उसी उम्र में जोरदार भाषण दे सकते थे, आगे चलकर वे प्रसिद्ध सन्यासी शंकरानन्द हुए, जिन्होंने विदेश में जाकर आर्य-धर्म का भारी प्रचार किया। अब सब ने नए सिरे से संगठित होकर श्यामसुन्दरदास को मन्त्री बनाया। इस समय रामनारायण मिश्र ने ≈) मासिक, शंकरनाथ ने≈) श्यामसुन्दरदास ने ≈) और शिवकुमार सिंह ने एक आना मासिक चन्दा देना लिखाया।

सर्वश्री राधाकृष्णदास, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, रायबहादुर लक्ष्मीशंकर मिश्र, डा० छन्नूलाल, रायबहादुर प्रमदादास मिश्र इन बालकों के पथ-प्रदर्शक थे। इन मेधावी छात्रों के सतत उद्योग से सर्वश्री महामना मदनमोहन मालवीय, राजारामपाल सिंह, कांकरोलीनरेश महाराज बालकृष्णलाल, अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी, श्रीधर पाठक, ज्वालादत्त शर्मा, (लाहौर) नन्दकिशोरदेव शर्मा (अमृतसर) जोधसिंह महता कुंवर (उदयपुर) समर्थदान मनीषि (अजमेर) डा० ग्रियर्सन आदि लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने पहिले ही वर्ष सभा की संरक्षकता और सदस्यता स्वीकार करली।

समय बीतता चला गया। जिन छात्रों ने सभा के प्रारम्भ में योग दिया था २-३ वर्षों में वे सब इधर-उधर बिखर गये। केवल रह गये श्यामसुन्दरदास, जिन्होंने मरते दम तक सभा को तन, मन से जीवित रखा। उनके सिवा पं० रामनारायण मिश्र और ठा० शिवकुमारसिंह ये दो ही ऐसे सज्जन रहे जो सभा की स्थापना से अब तक बराबर सभा के सदस्य रहे और उसके लिये बहुत कुछ करते रहे हैं। पं० रामनारायण मिश्र का तो आज भी प्रत्येक क्षण सभा के ही चिन्तन में व्यतीत होता है। केवल इन तीन पुरुषों का सम्बन्ध सभा से पचास वर्षों में कभी नहीं टूटा। शायद ही संसार की किसी विद्या-सभा को ऐसे अखण्ड सेवक मिले हों, जिन्होंने लगातार ५० वर्ष उसकी सेवा की हो। इस

त्रिमूर्ति ने न जाने कितनी बार सभा को भारी विपद से उभारा है, इसलिये ये त्रिमूर्ति सभा के संस्थापक ही नहीं पालनकर्ता भी हैं। सभा ने अपने ५० वर्ष के लम्बे जीवन-काल में साढ़े चार लाख रुपया प्राप्त किया और हिन्दी की सेवा में खर्च किया। ६० हज़ार के लगभग रु० लगाकर भवन बनाया और ५० हज़ार के लगभग उसके स्थायीकोष में जमा है। १ लाख व्यय करके हिन्दी-कोष तैयार किया, और ६४ हज़ार के लगभग रुपया हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज में व्यय किया।

त्रिमूर्ति का परिचय

रायसाहब ठाकुर शिवकुमारसिंह—

रायसाहब ठाकुर शिवकुमारसिंह का जन्म बनारस जिले के तिरपाट गाँव में १८७२ में हुआ था। सन १८६७ में २० रु० मासिक पर अध्यापक हुए और उन्नति करते करते ३०० मासिक पर डिपुटी इंस्पेक्टरी से अवकाश ग्रहण किया। इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'कालबोध' प्रसिद्ध है।

इन का तुलसीदास की रामायण का अध्ययन बहुत अच्छा है। जब ये चित्रकूट में सब-डिप्टी-इन्सपेक्टर थे, तब ये गोरक्षा और तुलसी-साहित्य के अध्ययन के लिये प्रसिद्ध थे। बाल्यकाल से ही इनका रहन-सहन सीधा-सादा है। हर प्रकार के आडम्बर से ये दूर रहते हैं।

रायबहादुर डा० श्यामसुन्दरदास, विद्यावाचस्पति, डी० लिट्—

श्यामसुन्दरदास जी का जन्म बनारस में लाला देवीदास खन्ना (खत्री) के घर जुलाई १८७५ में हुआ था। इनके पूर्वज पंजाब में रहते थे। आज से ८३ वर्ष पूर्व लाला देवीदास बनारस में जा बसे थे। बाबू साहब का बचपन बहुत आनन्द में व्यतीत हुआ। इन्होंने सन १८९० ई० में मिडिल परीक्षा पास की। सन १८९२ ई० में इंट्रेंस पास कर ये काशी के क्वींस कालेज में प्रविष्ट हुए। १८६७ई० में बी० ए० पास करके ये ट्रेनिंग कालेज लखनऊ चले गये। १८९९ ई० में ये सेंट्रल हिंदू कालेज के स्कूल में सहायक शिक्षक की हैसियत से प्रविष्ट हुए और उन्नति करके कालेज में अंग्रेजी के प्रोफ़ेसर हो गए। १९०२ में कालेज से एक वर्ष की छुट्टी लेकर इरिगेशन कमीशन में सम्मिलित होकर शिमला गए, परंतु वहां स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण वापस कालेज में आ गए।

१६०० में 'सरस्वती' प्रकाशित होने लगी तो ये उसके संयुक्त-संपादक बनाए गए। १८९६ से वे नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका का कई वर्षों तक संपादन करते रहे।

नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से इन्होंने प्राचीन हिंदी-साहित्य की खोज के लिये प्रयत्न किया, जिसके लिये संयुक्त-प्रांत की सरकार ने सहायता देना प्रारंभ किया। इनके निरीक्षण में यह कार्य आठ साल तक होता रहा और इसकी रिपोर्टें सरकार छापती रही। इन कार्यों के साथ नागरी-प्रचारिणी-सभा का अन्य बहुत सा कार्य भी ये सदा अवैतनिक रूप से करते रहे।

सभा का इतिहास इन्हीं के कार्यों का विवरण है।

१९१० में इन्होंने बनारस में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन की आयोजना की।

१९०९ में ये काशी छोड़कर काश्मीर चले गए, परंतु तीन साल बाद वापस आ गए। १९१३ में कालीचरण हाई स्कूल (लखनऊ) में हेडमास्टर के पद पर नियुक्त हुए। आपके निरीक्षण में स्कूल ने बड़ी उन्नति की।

सन १९२१ में हिंदू-विश्व-विद्यालय काशी के हिंदी विभाग के अध्यक्ष के पद पर प्रतिष्ठित हुए और सन १९३१ में इस पद से अवकाश ग्रहण किया।

सरकार ने भी इनकी हिंदी-साहित्य की सेवा के फलस्वरूप इन्हें रायसाहब और बाद में रायबहादुर की उपाधि प्रदान की। हिंदू-विश्व-विद्यालय ने इन्हें डी० लिट्० की आनरेरी उपाधि से विभूषित किया।

सम्मेलन ने भी 'साहित्यवाचस्पति' की गौरवपूर्ण उपाधि से सम्मानित किया।

बाबू साहब ने अनेक ग्रंथों का संपादन और सृजन किया। संपादित ग्रंथों में हिंदी-शब्द-सागर, हिंदी-वैज्ञानिक-कोश आदि और रचित ग्रंथों में साहित्यालोचन, भाषा-रहस्य, भाषा-विज्ञान आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। बाबू साहब को रामायण से बड़ा प्रेम था। इन्होंने उसकी एक सुंदर टीका भी लिखी है। संयुक्त-प्रांतीय सरकार की ओर से ये हिंदुस्तानी एकेडेमी के सदस्य निर्वाचित हुए थे। सन १९४५ ई० में इनका स्वर्गवास हुआ। हिंदी का प्रचार और हिन्दी-साहित्य की वृद्धि दोनों में इन्होंने समानरूप से सदा प्रयत्न किया। इनके प्रोत्साहन से अनेक नवयुवक साहित्य-सेवा में प्रविष्ट हुए।

पं० रामनारायण मिश्र—

इनका जन्म इनके ननिहाल—दिल्ली में सन १८७६ में हुआ। इनके पिता चिरंजीव मिश्र अमृतसर के रहने वाले थे। ये अपने मामा डा० छन्नूलाल के साथ बचपन ही में अपने पिता सहित बनारस आ गये थे। यहीं इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। १९०० में इन्होंने बनारस क्वीन्स कालेज से बी० ए० पास किया। और शिक्षा-विभाग में डिस्ट्रिक्ट इन्स्पेक्टिंग आफ़िसर हो गये। बाद



काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के तीन जन्मदाता, आज से ५० वर्ष पहले



५० वर्ष तक निरन्तर हिन्दी सेवा के बाद

पं० रामनारायण मिश्र	रायबहादुर डा० श्यामसुन्दरदास साहित्य वाचस्पति	राय साहब ठा० शिवकुमारसिंह

डिप्टी इन्स्पैक्टर १० वर्ष रहे। बाद में हरिश्चन्द्र हाई स्कूल और सैण्ट्रल हिन्दू हाई स्कूल के हैडमास्टर रहे। सन १६२९ में विश्व-शिक्षा सम्मेलन में भाग लेने ये जेनेवा गये और तब सम्पूर्ण योरुप में घूमे, और सर्वत्र शिक्षा संस्थाओं का निरीक्षण किया। वापस स्वदेश आकर ६ वर्ष तक सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य होकर म्युनिसिपल बोर्ड की एज्युकेशन कमेटी के प्रधान रहे। यू० पी० सेकेन्डरी एजुकेशन बोर्ड तथा टैक्स्टबुक कमेटी और एज्युकेशन कोड रिविजन कमेटी के भी सदस्य रहे। इस समय सभा के सर्वप्रमुख कर्णधार हैं। और इनका प्रत्येक क्षण सभा की चिन्ता में व्यतीत होता है। ये बड़े सरल, मिलनसार और कार्य-तत्पर पुरुष हैं।

अदालतों में हिन्दी—

हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने का जो सूत्रपात स्वामी दयानन्द सरस्वती और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था, उनकी मृत्यु के ८।१० वर्ष बाद ही काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा उस सूत्र को पकड़ कर हिन्दी प्रचार में जुट गई और उसने अदालतों और सरकारी दफ्तरों में हिन्दी प्रवेश का आन्दोलन खड़ा किया। उन दिनों लार्ड मेकाले की योजना के अनुसार भारतीयों को अंग्रेजी सिखाने के लिए स्कूल और कालेज खुल चुके थे। प्राइमरी शिक्षा के प्रयत्न भी प्रारम्भ हो गये थे। सर सैयद अहमद ने उर्दू के लिये संघर्ष छेड़ रक्खा था जिससे हिन्दी प्रेमियों में उत्तेजना फैल रही थी। युक्त-प्रान्त को छोड़ अन्य सब हिन्दी भाषी प्रान्तों में 'हिन्दी' दफ्तरों और अदालतों में स्वीकार कर ली गई थीं। केवल युक्त-प्रान्त की सरकार ने ही इधर ध्यान नहीं दिया था। युक्त-प्रांत में अदालती भाषा होने के कारण उर्दू पढ़ने वालों की संख्या बढ़ती जाती थी। यह केवल साहित्य-संकट ही का सामना करना न था, जनता भी बड़ी उलझन में पड़ी थी। सभा ने सरकार और सर्वसाधारण दोनों ही जगह आन्दोलन खड़ा कर दिया। इन्हीं दिनों रोमन लिपि को दफ्तरों की लिपि बनाने का भी प्रयत्न सरकार करने लगी थी। सन १८६८ में एक प्रतिनिधि-मण्डल सभा की ओर से गवर्नर से मिला। इसके प्रमुख महामना मालवीय जी थे। मालवीय जी उन दिनों इलाहाबाद हाईकोर्ट में प्रेक्टिस करते थे। इन्होंने अंग्रेजी में एक निबन्ध 'कोर्ट केरेक्टर एण्ड प्राइमरी एजुकेशन' २ वर्ष के परिश्रम से तैयार किया, जो फुलस्केप साइज के सौ पृष्ठों में छपाया गया था। इसके सिवा प्रान्त के विविध भागों में से सभा के उत्साही कार्यकर्ताओं ने ६० हजार हस्ताक्षर हिन्दी के पक्ष में कराए—इसके लिये राधाकृष्णदास और बा० श्यामसुन्दरदास ने स्वयं बड़ी दौड़धूप की। इन हस्ताक्षरों की सोलह जिल्दें तैयार हुई थीं। मालवीय जी के सिवा इस प्रतिनिधि-मण्डल में डा० सुन्दरलाल,

अयोध्या के महाराज प्रतापनारायण सिंह, मांडा, आवागढ़, मुरसान के राजा तथा अन्य कई गण्यमाण्य पुरुष सम्मिलित हुए थे। उधर विरोधी जन भी सतर्क थे। और सभा ने भी प्रान्त भर में योग्य प्रतिनिधि भेज भेज कर हिन्दी प्रचार की धूम मचा दी थी। हैदराबाद के तत्कालीन वज़ीर और प्रसिद्ध विद्वान् शम्मसुलउल्मा मौलवी सैयदअली बिलग्रामी ने साफ़ कह दिया था कि मुसलमानों में शिक्षा-प्रचार की कमी का असल कारण बेढंगी फ़ारसी लिपि है, उसे ठीक तौर पर सीखने के लिए कम से कम दो वर्ष चाहिएं, जब कि नागरी सीखने को २ मास ही काफ़ी हैं।

अन्त में सभा को सफलता मिली और सन १९०० में अदालतों और दफ्तरों में सर्वत्र हिन्दी भाषा और नागरी अक्षर स्वीकार कर लिए गए।

प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज—

सन १८६८ में लाहौर के पं० राधाकृष्ण के सुझाव पर भारत-सरकार ने संस्कृत पुस्तकों की खोज का व्यवस्थित रूप भारत में जारी किया। इसके बाद बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ने भी इस काम में हाथ बटाया। साथ ही बम्बई और मद्रास की सरकारों, संस्थाओं तथा विद्वानों ने इस काम में काफ़ी दिलचस्पी ली। परन्तु हिन्दी की ओर किसी की दृष्टि नहीं गई थी। सन १८९४ में सभा ने इस ओर कदम उठाया और उसने भारत-सरकार, एशियाटिक सोसाइटी, पश्चिमोत्तर-प्रदेश, तथा पंजाब की सरकारों को पत्र लिख कर हिन्दी पुस्तकों की खोज करने का अनुरोध किया। इसका फल अच्छा हुआ। सभी सरकारों ने सभा के अनुरोध को स्वीकार किया और बंगाल ऐशियाटिक सोसाइटी ने तत्काल काम भी प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप पहले ही वर्ष उसने ६०० उत्कृष्ट प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण सन १८९५ में प्रकाशित किए। इनमें भारतेन्दु के सरस्वती भण्डार से 'मृगावती' प्रेम-काव्य मिला, जिसकी रचना ९०९ हिजरी (ई० सन १५१३) की थी। इस पुस्तक की खोज होने से पूर्व मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' ही सूफ़ी प्रेम काव्यों में सब से पहला ग्रन्थ समझा जाता था। परन्तु 'मृगावती' की रचना 'पद्मावत' से ३१ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'हिततरंगिणी' श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के यहां मिला, जिसका रचना-काल ई० स० १५४२ था। इसके रचयिता कृपाराम थे। यह रीति-शास्त्र का ग्रन्थ था। इस समय तक सभी विद्वानों का यही मत था कि सब से पहले केशवदास जी ने ही 'रसिकप्रिया' 'कविप्रिया' नामक रीति-ग्रन्थ हिन्दी में लिखे थे, जिनका समय क्रमशः ईस्वी सन १५९१ और १६०१ था। परन्तु 'हिततरंगिणी' उनसे ५० वर्ष पहले बन चुकी थी। इनके अलावा योग, वेदान्त,

सांख्य, ज्योतिष, वैद्यक, नीति, इतिहास, काव्य और कोश के अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों का पता भी इस खोज से लगा।

युक्त-प्रान्त की सरकार ने अभी तक कुछ नहीं किया था, अतः सन १८९६ में उसे फिर लिखा गया। सरकार ने बनारस ज़िले में कुछ खोज की, पर संतोष-जनक कोई कार्य नहीं हुआ, तब सरकार ने ५००) रु० वार्षिक सहायता सभा को देनी स्वीकार की और यह काम सभा ही को सौंप दिया। सभा ने सर्वश्री बा० श्यामसुन्दरदास, राधाकृष्णदास और कार्तिकप्रसाद की समिति बनाकर निरीक्षक बा० श्यामसुन्दरदास को बनाया। इस समिति ने सन १९०० से उत्साह और लगन से खोज का काम प्रारम्भ किया।*

आर्यभाषा-पुस्तकालय—

सन १८९४ में नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी ने इस पुस्तकालय की नींव डाली। उस समय यह एक साधारण पुस्तकालय था। खड्गविलास प्रेस के स्वामी कु० रामदीनसिंह, भारत-जीवन प्रेस के स्वामी रामकृष्ण वर्मा आदि ने अपने पुस्तक-संग्रह तथा खेमराज श्रीकृष्णदास ने प्रकाशन प्रदान कर पुस्तकालय को बढ़ाया। पीछे सन १८६८ में ठा० गदाधरसिंह ने २ हज़ार पुस्तकों का अपना सम्पूर्ण संग्रह और सम्पूर्ण सम्पत्ति पुस्तकालय को दे दी। सर्वश्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, जगन्नाथदास रत्नाकर, रामनारायण मिश्र, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० हीरानंद शास्त्री तथा मायाशंकर याज्ञिक का सम्पूर्ण अलभ्य संग्रह पुस्तकालय को मिल गया। अन्य प्रकाशकों और लेखकों ने भी अपनी २ पुस्तकें प्रदान कीं।

इस समय पुस्तकालय में ३१ हज़ार पुस्तकों का संग्रह है। लगभग १३७ पत्र-पत्रिकाएं आती हैं। प्रतिवर्ष २ लाख नर-नारी इन पुस्तकों तथा पत्रिकादि को पढ़कर लाभ उठाते हैं। अनेक यूनिवर्सिटियों के छात्र डाक्टरेट के लिए थीसिस तैयार करने यहां आते हैं और यहां के ज्ञान-भण्डार से लाभ उठाते हैं। इसी पुस्तकालय के ज्ञान-भण्डार से एक-एक बूंद ज्ञान-संचय करके प्रसाद, पराड़कर, रामचन्द्र शुक्ल, रामचन्द्र वर्मा, अमीरसिंह, जगमोहन वर्मा, सत्यजीवन वर्मा जैसे न जाने कितने जनों को साहित्य-प्रेरणा मिली है। यह हिन्दी का सम्पूर्ण भारतवर्ष भर में सब से बड़ा पुस्तकालय है।

---

* खोज की पूरी रिपोर्ट के लिये पढ़िये परिशिष्ट नं० ३।

अध्याय दूसरा

मिश्रबन्धु

सर्वश्री पं० गणेशबिहारी मिश्र, रावराजा रायबहादुर डा० श्यामबिहारी मिश्र और रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र इन तीन भाइयों ने मिश्रबन्धु के नाम से अब से ५० वर्ष पूर्व जिस साहित्य का निर्माण करना प्रारम्भ किया वह साधारण नहीं है। अपने अलभ्य ग्रन्थरत्न 'मिश्रबन्धु-विनोद' को रचकर उन्होंने विस्मृति के गर्भ में लुप्त सहस्रावधि कवियों और ग्रन्थों का उद्धार किया; नवरत्न की रचना करके आलोचना के मार्ग को प्रशस्त किया। इसके बाद काव्य-रचना, आलोचना, गवेषणा और गवेषणा सम्बन्धी विविध साहित्य रचकर आगे की पीढ़ियों के लिये, शताब्दियों तक की गम्भीर सामग्री प्रस्तुत कर दी। इनकी विशेषता इनके अध्ययन में ही नहीं अपितु इनके उस सत्साहस में भी है जिसमें हिन्दू-धर्म-तत्त्व की रूढ़ियों पर इन्होंने अपनी स्वतन्त्र और निर्भीक सम्मति दी है। यदि यह कहा जाय कि भारतीय संस्कृति को इतिहास और विज्ञान की तराजू पर तोलने वाले यही मिश्रबन्धु हिन्दी-संसार के सर्वप्रथम पारखी हैं तो अत्युक्ति नहीं।

मिश्रबन्धु चार भाई थे। सब से बड़े शिवबिहारी मिश्र लखनऊ में वकालत करते थे, दूसरे पं० गणेशबिहारी मिश्र घर पर रहकर जिमींदारी की देखभाल करते थे। तीसरे रावराजा रायबहादुर डा० श्यामबिहारी मिश्र और चौथे रायबहादुर पं० शुकदेवबिहारी मिश्र हैं।

रावराजा रायबहादुर डाक्टर श्यामबिहारी मिश्र एम. ए. डी. लिट् का जन्म सन १८७३ में और रायबहादुर पं० शुकदेवबिहारी मिश्र का सन १८७८ में लखनऊ जिले के इटौंजा गांव में प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज ब्राह्मण वंश में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा इन बन्धुओं की देहात ही में हुई। पीछे भाई के साथ लखनऊ में रहकर कालेज की शिक्षा प्राप्त की, दोनों ही भाइयों ने सम्मान के साथ उच्च डिगरियां प्राप्त कीं और दोनों ही का नाम स्वर्णाक्षरों में कैनिंग कालेज की दीवारों पर अंकित किया गया। इसके बाद पं० श्यामबिहारी मिश्र १८६७ में डिप्टी कलक्टर हुए। तब से अनेक ओहदों पर नियुक्त हुए, दो रियासतों के दीवान हुए, ७ वर्ष तक मजिस्ट्रेट और कलक्टर भी रहे। इस प्रकार सरकारी ओहदों पर रहकर इन्होंने समस्त भारत का भ्रमण किया, जिससे इनके अनुभव और ज्ञान की बहुत वृद्धि हुई। इसी काल में इन्होंने काशी-नागरी-प्रचारिणी के अनुरोध से हस्त-लिखित हिन्दी

पुस्तकों की खोज का भी निरीक्षण किया। सन १९२४ से १९२८ तक ये कौन्सिल आफ़ स्टेट के आनरेबल मैम्बर रहे। इसी समय इन्हें 'रायबहादुरी' मिली। सन ३३ में ओरछा दर्बार ने इन्हें 'रावराजा' के पद से सम्मानित किया। सन १९३७ में इलाहाबाद-विश्व-विद्यालय ने 'मिश्र-बन्धु-विनोद' और 'हिन्दी-नवरत्न' पर इन्हें डी०लिट्० की आनरेरी उपाधि दी, तथा साहित्य सम्मेलन ने दोनों भाइयों को 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधि दी।

मिश्रजी कई यूनिवर्सिटियों की सैनेट के सदस्य हैं, और उच्च परीक्षाओं के परीक्षक भी। एक बार वे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी हो चुके हैं। "भारतीय इतिहास पर हिन्दी का प्रभाव" इस विषय के ये पटना यूनिवर्सिटी के आनरेरी रीडर रह चुके हैं।

पं० शुकदेव विहारी मिश्र एक असाधारण मेधाशक्ति लेकर जन्मे। ये जैसे साहित्य के गम्भीर पारखी हैं वैसे ही शतरंज, गंजफ़ा, ताश, चौसर आदि के खिलाड़ी भी हैं। इन्होंने सन १९०१ में वकालत पास करके ५ वर्ष वकालत की, पर इसमें इनका मन नहीं लगा, पीछे ये मुंसिफ़ हो गए, बाद में भरतपुर के दीवान हुए। एक साल रायबरेली में सबजज भी रहे। सन १९२७ में इन्हें रायबहादुर की उपाधि मिली। सन १९३० में इन्होंने योरुप भ्रमण किया। पीछे नौकरी छोड़ दोनों भाई पैंशन लेकर साहित्य-सृजन में लग गये। ये भी प्रयाग और लखनऊ कोर्ट के सदस्य हैं।

इन दोनों ही ऋषि-कल्प बन्धुओं ने अपनी रचनाओं से कभी एक पैसा भी नहीं कमाया। व्यवसाय आदि से इनकी आय पचास हज़ार रुपया वार्षिक है। इन्होंने हिन्दी को बहुत कुछ दिया और ज्ञानदान का यह अटूट झरना अब तक भी ज्ञानधारा को प्रवाहित कर रहा है। इस वृद्धावस्था में भी जो कोई मिश्रभवन में जायगा—इन साहित्य के तपस्वियों को साहित्य की गंगा में स्नान करते देख मुग्ध हो जायगा। विद्वत्ता के साथ इनका विनय और शिष्टाचार भी अभूतपूर्व है। इन्होंने लगभग ४००० ग्रंथों का अपना सम्पूर्ण संग्रह गंगाप्रसाद मेमोरियल लखनऊ को प्रदान कर दिया है। इनके इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा ने अपने अर्ध-शताब्दी-महोत्सव पर इनका अभिनंदन करते हुए कहा था—

".....जो चन्द की ज्योत्स्ना से अवतरित हुई, जो मीरा की गोद में पली, सूर और तुलसी ने जिसे वाणी प्रदान की, विद्यापति ने जिसे सुघराई दी, विहारी, देव, तथा पद्माकर ने जिसे अलंकृत किया, सदासुख, लल्लूलाल तथा सदलमिश्र ने जिसका पोषण किया, रसखान और घनानन्द ने जिसे सँवारा, भारतेन्दु ने जिसके अधरों को ताम्बूल-रंजित किया, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र ने जिसे

स्फूर्ति दी·······उसी को आप लोगों ने अनेक उत्कृष्ट उपायों से इस योग्य बनाया है कि वह आज करोड़ों भारत-निवासियों के हृदय की सम्राज्ञी है"

इनके ऐसे ही स्तवन बंगीय-हिन्दी-साहित्य-मण्डल और अनेक साहित्य-सभाओं ने किए। ब्रज-साहित्य-मण्डल ने दिल्ली-अधिवेशन में ताम्रपत्र पर यह लिख कर दिया था—

'बिस्व हिताहित के करन, तीन देव परसिद्ध।
मिश्रबन्धु, रससिन्धु हित, बिस्व वृद्धि की निद्ध।'

मिश्रबन्धु जैसे प्रकाण्ड दार्शनिक, इतिहासज्ञ और अन्वेषक हैं—वैसे ही गम्भीर साहित्य-समालोचक भी हैं। पं० श्यामबिहारी मिश्र ने सन १९०९ से सन १९२१ तक १२ वर्ष और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र ने सन १९२१ से १९२३ तक २ वर्ष हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का निरीक्षण किया। इन १४ वर्षों में इन मिश्रबन्धुओं ने लगभग ३२०० लुप्तकवियों और १२००० के लगभग हस्त-लिखित ग्रन्थों का पता लगाया और उनका वर्गीकरण किया। कवियों के परिचय, उनके इतिहास तथा उनकी रचनाओं की विशेषताएं तथा उनकी काव्यशैली पर इन्होंने अधिकारपूर्ण आलोचना लिखी तथा यह विवरण उन्होंने १५०० पृष्ठों में लिखा जो गवर्नमैन्ट ऑफ़ इन्डिया ने प्रकाशित किया। इसी से ये सर्वप्रथम 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' को लिख सके। इन से पूर्व हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर डा० ग्रियर्सन के कुछ विवरण थे जो वास्तव में शिवसिंह-सरोज के आधार पर थे। मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य और भाषा के इतिहास पर धार्मिक और राजनैतिक पहलुओं से विवेचना की दृष्टि डाली। उनके 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' तथा 'मिश्रबन्धु विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' ने पाठकों के सामने हिन्दी-साहित्य की एक प्राचीन परम्परा रखी, जिससे हिन्दी-साहित्य का एक रूप स्थिर हुआ और तत्कालीन साहित्यकारों को परम्परा का राजपथ मिला, और भाषा के विशेषज्ञों को विश्लेषण की सामग्री मिली। हिन्दी के प्रख्यात लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल की गवेषणा सम्बन्धी रचनाएं अधिकांश में मिश्रबन्धु की गवेषणाओं पर ही आधारित हैं। विशेषकर उनके 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' का 'रीतिकाल' (१५० पृष्ठ अंश) ८०।९० प्रतिशत मिश्रबन्धुओं की सम्पत्ति है। मिश्रबन्धु आलोचक ही नहीं सुकवि आचार्य भी हैं। जहां इन्होंने ३००० हजार से अधिक पृष्ठ हिन्दी-साहित्य की गवेषणा सम्बन्धी लिखे हैं—वहां १ हजार पृष्ठ में व्रजभाषा और खड़ी बोली की काव्य-रचना की है। इनकी पद्य-रचना में विचारों और भावनाओं का समावेश इन्हें तत्कालीन अन्य सभी कवियों से पृथक् करता है।

इन्होंने दूल्हा के 'कवि कण्ठाभरण' देव की 'देवसुधा' बिहारी की 'बिहारीसुधा' तथा 'भूषण ग्रन्थावली' पर टीकाएं रचीं। इनकी टीका की पद्धति बहुत स्पष्ट और विशद है। भूषण की टीका में इन्होंने सब से बढ़कर विशेषता यह की है कि भूषण ने जितनी ऐतिहासिक घटनाओं का हवाला छन्दों में दिया है उन सब घटनाओं का इतिवृत्त दे दिया है। इस काम में मिश्रबन्धुओं ने बारीक ऐतिहासिक छानबीन की है। छन्द में जहां तनिक भी किसी घटना का संकेत पाया उसी की पूरी खोज करके उसका ऐतिहासिक रूप प्रकट कर दिया।

देव पर इन्होंने सब से प्रथम प्रकाश डाला। देव की अबतक कोई टीका नहीं बनी थी। यह काम मिश्रबन्धुओं ने ही सर्वप्रथम किया। देव के छन्द और उसके भाव कहीं २ बहुत ही दुरूह हैं। इन्होंने उनका विषदीकरण करने में अपने पाण्डित्य को प्रकट किया है। और देव पर ऐसी सुन्दर टीका की है कि उस से देव का चमत्कार बहुत अधिक प्रकाशवान हुआ है।

साहित्य-पारिजात—

साहित्य-पारिजात अलंकार और पदार्थ निर्णय का मौलिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ पं० शुकदेवबिहारी मिश्र (तृतीय मिश्रबन्धु) और पं० प्रतापनारायण मिश्र (मिश्रबन्धुओं में प्रथम के पुत्र) ने मिलकर लिखा है। हिन्दी में इस काल तक कोई अलंकार-ग्रन्थ इतना परिपूर्ण नहीं था। इस ग्रन्थ में नवीनता यह है कि प्रत्येक अलंकार का शुद्ध रूप और उदाहरण, तथा अन्यों से उसका अन्तर स्पष्ट दिखाया गया है। इस ग्रन्थ में मिश्रबन्धुओं ने ९५० के लगभग उत्कृष्ट हिन्दी कवियों के उदाहरण दिये हैं। स्थान २ पर अपना मत भी दिया है।

अब ये प्राचीन ऐतिहासिक आधार पर नाटकों और उपन्यासों का सृजन कर रहे हैं। इन नाटकों और उपन्यासों में टैक्निक तथा भाषा की प्राचीनता के दोष देखे जा सकते हैं, परन्तु ऐतिहासिक तथ्य उनमें इतना है जितना अन्य किसी नाटक और उपन्यास में नहीं। उन के मसाले से दर्जनों उत्कृष्ट उपन्यास तथा नाटक तैयार किये जा सकते हैं। इनमें ईसापूर्व की तेरहवीं, दसवीं, चौथी, दूसरी, पहली, तथा ईस्वी सन की चौथी, छठी, तेरहवीं, सत्रहवीं और बीसवीं शताब्दी के वातावरण का वर्णन है। इनके अतिरिक्त इन्होंने बुद्धपूर्व के भारतीय इतिहास में भारतवर्ष का ऐतिहासिक विवरण स्वायंभुव मन्वन्तर से भी सात सौ वर्ष पूर्व से बुद्धकाल तक का दिया है; तथा इन नाटकों और उपन्यासों में रामचन्द्र के काल से लेकर आज तक की भारतीय शुद्ध सभ्यता का रूप खड़ा कर दिया है।

अध्याय तीसरा

इस युग के प्रमुख साहित्यकार

सर्वश्री पं० बालकृष्ण भट्ट, बा० तोताराम, बा० गदाधरसिंह, बा० कार्तिक प्रसाद खत्री, बा० काशीनाथ खत्री, ला० सीताराम, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, बा० राधाकृष्णदास, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी, बा० रामकृष्ण वर्मा, आदि भारतेन्दु के समकालीन साहित्य-निर्माताओं के इलावा इस काल के प्रमुख साहित्यकारों में सर्वश्री शंकरानन्द सरस्वती, मु० देवी प्रसाद मुंसिफ, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, बा० गोपालराम गहमरी, बा० देवकीनन्दन खत्री, पं० अमृतलाल चक्रवर्ती, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, ललनपिया, बा० जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', श्रीधर पाठक, रा० ब० जगन्नाथप्रसाद भानु, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, डा० महेन्दुलाल गर्ग, पं० लज्जाराम शर्मा महता, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, पं० बलदेव प्रसाद मिश्र, बा० हरिकृष्ण जोहर, बा० श्यामसुन्दरदास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बा० बृजनन्दन सहाय' ला० शालिगराम वैश्य, और हरिहरप्रसाद जिज्जल आदि हैं।

स्वामी शंकरानन्द वही शंकरनाथ विद्यार्थी थे, जिन्होंने अपनी विद्यार्थी-अवस्था में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना में योग दिया था। इन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया; और कुछ मौलिक ग्रन्थ भी लिखे। इन्होंने विदेशों में बहुत प्रचार किया, ये बड़े भारी व्याख्याता थे।

उपन्यास-धारा के तीन प्रवर्तक—

सर्वश्री गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, और देवकीनन्दन खत्री ने उपन्यासों के क्षेत्र में एक आश्चर्यजनक अभिवृद्धि की। भारतेन्दुकाल में कुल ४ उपन्यास ही प्रकाशित हुए थे। उसके बाद कुछ बंगला उपन्यासों के अनुवाद प्रकाशित हुए जो बड़े चाव से पढ़े गये। इधर जनता को रुचि उपन्यास पढ़ने की ओर झुकी और उधर इन तीन उपन्यासकारों ने तिलिस्मी, ऐयारी और जासूसी उपन्यासों की बाढ़ लगादी। गहमरी जी ने २०५, खत्री जी ने ४६ और गोस्वामी जी ने ३५ उपन्यास लिखे। इन तीनों लेखकों की लेखनी के चमत्कार से हिन्दी बहुत अंश में सर्वसाधारण में पठनीय साहित्य की प्रतिनिधि-भाषा हो गई।

गोपालदास गहमरी—

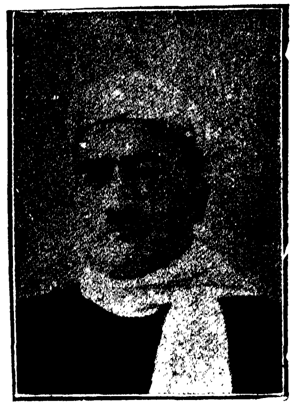
इनका जन्म सन १८६७ में ग़ाज़ीपुर जिले के बारा नामक ग्राम में हुआ। इनकी बाल्यावस्था ही में इनके पिता गहमर आ गए थे। इन्होंने वहीं प्रारम्भिक शिक्षा पाई। इन्हीं दिनों कवि वचनसुधा, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, सारसुधानिधि आदि



महात्मा हंसराज



बा० देवकीनन्दन खत्री



पं० चन्द्रधर गुलेरी बी० ए०



बा० गोपालराम गहमरी



मु० देवीप्रसाद मुन्सिफ़



मिश्रबन्धु



ला० सीताराम बी० ए०



महामहोपाध्याय रायबहादुर
पं० जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'
साहित्याचार्य साहित्य-
वाचस्पति



पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र

पत्रों के पढ़ने का आपको चस्का लगा और लेख भी लिखने लगे। उन दिनों बलिया में बन्दोबस्त का काम हो रहा था, वहां के कलक्टर बड़े हिन्दी प्रेमी थे। वहां एक अच्छे हिन्दी लेखक की आवश्यकता थी, ये वहां नार्मल स्कूल के हेड-मास्टर द्वारा भेज दिये गये। वहां से लौटकर इन्होंने 'सारसुधानिधि' और 'हिन्दुस्तान' में लेख लिखे। कुछ दिन बलिया के स्कूल में हैड-पण्डित भी रहे। पीछे बम्बई में श्री वेंकटेश्वर प्रेस में चले गये। कुछ दिन बाद हिन्दुस्तान के सम्पादन-विभाग में भी काम किया। राजा रामपालसिंह का इन पर बड़ा प्रेम था। वहां उन दिनों एक नवरत्न-सभा थी, जिसमें पं० प्रतापनारायण मिश्र, राधारमण चौबे, चौबे गुलाबचन्द, बा० बालमुकुन्द गुप्त आदि पुरुष सम्मिलित थे। इनके साथ रह कर गोपालराम कट्टर हिन्दी प्रेमी हो गये। वहीं इन्होंने बंगला सीखी और 'बभ्रुवाहन' 'देशदशा' 'विद्याविनोद' ये तीन नाटक लिखे। 'सौभद्र' नाम का एक उपन्यास भी लिखा। फिर १८९१ में 'व्यापारसिन्धु' का सम्पादन करने बंबई चले गये। साथ ही 'भाषाभूषण' का भी सम्पादन करते थे। वहां से ये मांडला आए। जहां 'माधवी कंकण' और 'भानुमती' का अनुवाद किया। वहीं से मेरठ के 'साहित्यसरोज' का भी सम्पादन करते थे। वहीं से इन्होंने 'गुप्तकथा' नाम का जासूसी मासिक निकाला। मांड़ला से ये जबलपुर आए, वहां से पाटन गये। पीछे श्री वेंकटेश्वर के सहकारी सम्पादक होकर फिर बम्बई चले गये। वहां इन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं। पीछे ये भारतमित्र के स्थानापन्न सम्पादक हुए। सन १९०० से इन्होंने जमकर गहमर से 'जासूस' नामक मासिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। इन्होंने हिन्दी की तीन पीढ़ियां देखीं, और इस हिसाब से ये हिन्दी जगत् के भीष्मपितामह थे। इनकी मृत्यु हाल ही में हुई है।

जब गहमरी जी ने पहले-पहल जासूसी उपन्यास प्रकाशित किये तो उनके प्रति लोगों में काफ़ी अभिरुचि उत्पन्न हुई। उसका कारण यह था कि इनके उपन्यासों की भाषा बिल्कुल बोलचाल की थी। और भाषा में देहाती ढंग की कुछ ऐसी प्रचलित भाव-भंगियां थीं, जिन्हें पाठक बहुत पसंद करते थे। इन उपन्यासों में थोड़ा सा बुद्धि-वैचित्र्य का मसाला भी रहता था और पात्रों के चरित्र, उनकी चालाकियां तथा कमज़ोरियां और घटनाएं एवं कथावस्तु के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएं कुछ परिचित कुछ कौतूहलपूर्ण और कुछ उत्तेजनात्मक होती थीं। इन सब कारणों से इन उपन्यासों की अच्छी खासी धूम मच गई।

गहमरी जी में इस प्रकार के उपन्यासों को लिखते रहने की अद्भुत सामर्थ्य थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहित्य की दृष्टि से ये उपन्यास कुछ मूल्य नहीं रखते थे, परन्तु निस्सन्देह यह एक अद्भुत और आश्चर्य की बात है कि यह

अकेला पुरुष एक ही कलम से ६३ वर्ष तक लिखता ही चला गया। इस लम्बे काल में हिन्दी-साहित्य की अनेक शाखा-प्रशाखाएं विकसित हुईं परन्तु गहमरी जी का एक भी साथी नहीं उत्पन्न हुआ। वे अकेले ही अपनी चलाई हुई जासूसी उपन्यासों की परम्परा में कलम चलाते चले गये और अन्त में उन्हीं के जीवन-काल में उनकी यह परम्परा समाप्त भी हो गई। हिन्दी साहित्य के इतिहास में निस्संदेह यह अपने ढंग की बिल्कुल निराली एक ही घटना है।

देवकीनन्दन खत्री—

इनके पूर्वज मुलतान के दीवान नौनिद्धराय के वंश में से थे। राजा रणजीतसिंह के पुत्र शेरसिंह के समय में जब लाहौर में अराजकता फैली तब इनके दादा काशी जा बसे थे। इन का जन्म १८६२ में मुजफ़्फ़रपुर में ननिहाल में हुआ, वहीं लालन-पालन भी हुआ। बड़े होने पर हिन्दी, संस्कृत तथा फ़ारसी की शिक्षा दी गई। १८ वर्ष की अवस्था में जब ये गया में पिता के कारोबार में सहायता करते थे तब इन्होंने अंग्रेजी और फ़ारसी का काफ़ी अभ्यास बढ़ा लिया था। वहां से २४ वर्ष की आयु में काशी चले आए। बनारस के महाराज की इन पर कृपादृष्टि थी। इन्होंने चकिया और नवगढ़ के जंगलों की लकड़ी और लाह का ठेका लिया था; इस कारण जंगलों में खूब घूमना पड़ता था। उनकी रचनाओं में जंगलों, खोहों, बीहड़, वन, पहाड़ी नालों और प्राचीन इमारतों का जो जीवित वर्णन है वह आंखों-देखा है। गया जिले के टिकारी राज्य में इनके पिता का व्यापारिक सम्बन्ध था। टिकारी राज्य में महाराज बनारस की बहिन ब्याही थी; इस कारण ये महाराज बनारस के प्रिय पात्र थे।

चन्द्रकान्ता में इन्होंने गया जी के अपने जवानी के तजुर्बे और काशी आने पर आंखों-देखी जंगल की बहार का वर्णन किया है। चन्द्रकान्ता का पहला संस्करण हरिप्रकाश प्रेस में छपा, बाद में चन्द्रकान्ता और संतति के ११ नम्बर भी हरिप्रकाश प्रेस में छपे। पीछे १८९८ में इन्होंने अपना लहरी प्रेस स्थापित किया। आगे की रचनाएं इसी प्रेस में प्रकाशित हुईं। इन्होंने अपनी अद्भुत लेखन-शक्ति का परिचय दिया।

इस युग के ये पहले मौलिक उपन्यास-लेखक हैं, जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम मच गई। प्रारम्भ में इन्होंने 'नरेन्द्र मोहिनी' 'कुसुम कुमारी' 'वीरेन्द्र वीर' आदि उपन्यास लिखे। परन्तु सबसे प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-संतति' ही हुए। ये ऐयारी-उपन्यास थे। इनकी चर्चा इतनी फैली कि जो लोग हिंदी पुस्तकें नहीं पढ़ते थे वे भी हिंदी सीखने की ओर कृतसंकल्प हुए। इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य ही रहा,

रस-संचार, भाव-विभूति, या चरित्र-चित्रण नहीं। ये एक प्रकार के घटना-प्रधान क़िस्से थे, जिनमें जीवन के विविध अंगों की अभिव्यंजना का बिल्कुल अभाव था। इस कारण इन्हें साहित्य की कोटि में नहीं गिन सकते। परंतु बाबू देवकीनन्दन को अनगिनत हिंदी पाठकों के उत्पन्न करने का श्रेय अवश्य दिया जा सकता है। अपने युग के सभी हिंदी-ग्रंथकारों में वे इस दृष्टि से अग्रगण्य हैं। यह भी कहा जा सकता है, कि 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता-संतति' पढ़कर न जाने कितने नवयुवक लेखक हो गये। खत्री जी के ही प्रभाव से कुछ दिन तक हिंदी-वायु-मण्डल में तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यासों की बहुत भरमार रही। और इसका प्रभाव अभी तक भी थोड़ा बहुत चला आ रहा है। इन उपन्यासों की भाषा हिंदी नहीं 'हिंदुस्तानी' थी यह कहना चाहिए।

किशोरीलाल गोस्वामी—

वृन्दावन में जो अटलविहारी का मन्दिर है, उसके सेवाधिकारी निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्री गोस्वामी केदारनाथ बड़े विद्वान् थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य रचा था। गो० किशोरीलाल जी उन्हीं के पौत्र थे। इनका जन्म सन १८६६ में हुआ था। इन्होंने संस्कृत व्याकरण, ज्योतिष, वेदांत, न्याय, दर्शन, सांख्य, योग आदि ग्रंथ पढ़े। और संस्कृत में अच्छी गति प्राप्त करली। कुछ दिन आगरे रहे फिर काशी चले गए और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा राजा शिवप्रसाद के परिचय में रहे। उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने पहला उपन्यास 'प्रणयिनी-परिणय' लिखा। पहले ये सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखते थे। बाद में इन्होंने सन १८९८ में 'उपन्यास' नाम का मासिक पत्र निकाला और उपन्यासों की भरमार कर डाली। उपन्यासों के अलावा कविता, संगीत, जीवन, नाटक, रूपक, योग आदि विषयों पर भी काफ़ी रचनाएं कीं। विक्टोरिया गोल्डन जुबली के अवसर पर इन्होंने उनका जीवन-चरित्र संस्कृत में लिखकर वैष्णव समाज द्वारा विलायत भेजा था।

गोस्वामी जी ने हिंदी में उपन्यासों का ढेर लगा दिया। इनकी रचनाएं साहित्य की कोटि में आती हैं। इनके उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं से अतिरंजित किंतु आकर्षक ढंग पर वर्णित मिलते हैं। चरित्र-चित्रण की भी झलक कहीं कहीं है।

गोस्वामी जी संस्कृतज्ञ, फारसीदाँ और हिंदी के सुकवि थे। उन्होंने छोटे बड़े सब मिलाकर ६५ उपन्यास लिखे। यही इस युग के प्रमुख उपन्यासकार थे।

यद्यपि हिंदी का प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' भारतेन्दु के अंतिमकाल में निकल गया था, पर वह तो एक रूप-रेखा थी। उपन्यास-वस्तु की सच्ची प्राप्ति गोस्वामी जी की ही लेखनी में थी, और इस दृष्टि से इन्हें हिंदी का प्रथम उपन्यासकार कहा जाना चाहिए। अन्य लोगों ने भी उपन्यास लिखे, पर वे उपन्यासकार नहीं कहे जा सकते। वे और चीजें लिखते २ उपन्यास पर भी टूट पड़े थे। पर गोस्वामी जी ने तो वहीं घर बसा लिया था, वे उपन्यासमय थे। यह बात अवश्य है कि गोस्वामी जी के उपन्यासों में उच्च वासनाओं का उद्दीपन न था। गोस्वामी जी भाषा के साथ भी हंसी-दिल्लगी करते रहे। लोग इसे उनका दोष बताते हैं। कुछ लिखने के बाद ही इनकी प्रवृत्ति उर्दू की ओर गई। इनके उपन्यासों के पात्र लखनवी मुसलमान थे, जिनपर टूटते हुए मुगल साम्राज्य की अंतृप्त वासना और हवस का गहरा रंग था। इसी से ये उर्दू भाषा की ओर बहुत झुक गये। इन्होंने लिखी हिंदी ही, पर बीच २ में शेअर, ग़ज़ल और ठेठ उर्दू-प्रवचन लिखने लगे। यह केवल पात्रों के ही मुंह की भाषा न थी, लेखक की भावनाओं का द्योतन भी ऐसी ही भाषा में होता था। यह उर्दू की लहर इनके थोड़े ही उपन्यासों में चली। एक दो उपन्यासों में तो इन्होंने कादम्बरी जैसी संस्कृत-समास-बहुल भाषा की ही छटा दिखाई। एक और त्रुटि जो गोस्वामी जी के उपन्यासों में दीख पड़ती है यह है कि उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में भिन्न २ सामाजिक और राजनैतिक अवस्थाओं पर प्रकाश नहीं पड़ता। कहीं २ तो काल-दोष तुरंत दीख पड़ता है, जैसे अकबर के सामने हुक्का रखा जाना। सभी जानते हैं कि तम्बाकू भारत में जहांगीर के समय में लाया गया था। इन्हीं तीनों उपन्यास-प्रणेताओं की शैली पर सर्वश्री गंगाप्रसाद गुप्त, अमृतलाल चक्रवर्ती, हरिकृष्ण जोहर, लज्जाराम महता, बृजनन्दन सहाय, बृजरत्न तथा जयरामदास गुप्त ने उपन्यास लिखे।

गंगाप्रसाद गुप्त—

सर्वश्री गहमरी, खत्री और गोस्वामी के मिश्रण से उपन्यास-कला का जो विकास हुआ, उसकी छाया हम गंगाप्रसाद गुप्त के उपन्यासों में पाते हैं। इनके उपन्यासों में गहमरी जी की जासूसी, उनका वर्णित अपराधकौशल और साहस, तथा खत्री जी की चपल चालाकियों की थोड़ी झलक, एवं गोस्वामी जी के इतिहास-रस का गोस्वामी जी से अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक विकास देखने को मिलता है। गोस्वामी जी में जो तनिक-सा उपन्यास-तत्त्व उदय हुआ था वह इनकी रचनाओं में और व्यक्त हुआ।

भाषा इनकी स्वस्थ और सावधान है । उसमें जीवन की स्थिरता प्रगट होती है । इन्होंने १५। १६ पुस्तकें लिखीं, जिनमें ७।८ उपन्यास हैं ।

अमृतलाल चक्रवर्ती—

इन्होंने बंगाली सज्जन होते हुए भी हिंदी को अपनी भाषा बनाया । साथ ही अनेक प्रसिद्ध पत्रों का सम्पादन भी किया । कई उपन्यास लिखे । इनके लेख सुगठित और लक्ष्यबिंदु को स्पर्श करते हुए होते थे ।

बा० हरिकृष्ण जौहर—

इनका जन्म १८८१ में काशी में हुआ । इनकी शिक्षा साधारण हुई, और थोड़ी अवस्था ही में इन्हें आजीविका खोजनी पड़ी । बचपन में ये बड़े चंचल और उच्छृंखल थे । पर शीघ्र ही सम्हल गये । इन्हें हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू पुस्तकें पढ़ने का शौक उत्पन्न हुआ । ये काशी की कार्माइकेल लाइब्रेरी में पुस्तकें पढ़ने को जाया करते थे । बाद में नौकरी के सिलसिले में ये देश विदेश घूमे पर पुस्तक पढ़ने का चाव बना ही रहा । पीछे भारतजीवन प्रेस में नौकरी कर ली । इन्हीं दिनों इन्होंने उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया । इन्होंने भारतजीवन, द्विजराज पत्रिका, राजस्थान और श्रीवेंकटेश्वर पत्र का संपादन भी किया । साथ ही 'मित्र' और 'उपन्यासदर्पण' काशी के मासिक पत्रों का संपादन भी करते थे । ये मौज में आकर एक पद गाया करते थे ।

कागज उढ़ना, और बिछौना, कागज ही से खाना ।
कागज लिखते लिखते साधो, कागज में मिल जाना ॥

ये परिश्रमी, सरल स्वभाव और सिद्धांतों के दृढ़ थे । इन्होंने साठ उपन्यास लिखे ।

महता लज्जारामशर्मा—

ये गुर्जर ब्राह्मण थे । इनका जन्म बूंदी में सन १८६४ में हुआ था । ये हिन्दी, संस्कृत, मराठी, गुजराती, और उर्दू भाषा में अच्छी गति रखते थे । ये कुछ दिन अध्यापक रहे फिर 'सर्वहित' नामक पाक्षिक के सम्पादक हो गए । पीछे खेमराज जी के बुलाने पर श्रीवेंकटेश्वर के सम्पादक होकर चले गये । इन्होंने १९०४ तक वेंकटेश्वर का सम्पादन किया । इनके समय में पत्र की अच्छी उन्नति हुई । अनुवाद और स्वतंत्र मिलाकर इन्हों ने २५से अधिक पुस्तकें लिखीं । बाद में ये बूंदी आ गये थे । बूंदी दर्बार ने इन्हें राजपूताने के एजेन्ट-गवर्नर-जनरल की सेवा में राज्यका वकील बना कर भेजा था । ये सीधे-साधे वैष्णव और बड़े विद्याव्यसनी थे। इन्होंने कई उपन्यास लिखे ।

बा० ब्रजनन्दनसहाय बी० ए० 'ब्रजवल्लभ'

इनका जन्म सन १८७४ में आरा ज़िले में हुआ। ये कायस्थ थे। इनके पिता बा० शिवनन्दनसहाय हिंदी के अच्छे लेखक थे। इन्होंने पटना से बी० ए० और वकालत पास की। बंगला इन्होंने अपनी दूसरी सुसराल वीरभूमि में सीखी, वहीं इन्हें उपन्यास पढ़ने का चस्का लगा। इन्होंने अपना पहला उपन्यास 'राजेन्द्रमालती' एन्ट्रेंस की परीक्षा देने के प्रथम ही लिख डाला था। काशी-ब्रज-मण्डल और काशी-कवि-समाज में ये कविताएं भी पढ़ा करते थे। कुछ दिन 'समस्यापूर्ति' नामक पत्रिका के भी ये पटना में सम्पादक रहे। इन्होंने कविता, नाटक, अर्थशास्त्र आदि विविध विषयों पर पुस्तकें लिखीं पर विशेष सफलता इन्हें उपन्यासों ही में मिली। इन्होंने सप्तप्रतिमा, बूढ़ा वर, चन्द्रशेखर, कमलाकान्त का इज़हार, और रजनी का बंगला से अनुवाद किया और फिर मौलिक उपन्यास लिखे। इनके उपन्यास भाव-प्रधान हैं जिनमें 'सौन्दर्योपासक' की अच्छी प्रशंसा हुई। 'विश्वदर्शन' और 'विस्मृत सम्राट्' इनकी अच्छी रचनाएं हैं। ये आरा में वकालत करने लगे थे, वहीं 'नागरी-हितैषिणी-पत्रिका' का संपादन भी करते थे। सभा के प्रधान मंत्री भी यही थे। इसी समय इन्होंने विद्यापति पर एक निबन्ध लिखकर यह प्रमाणित किया था कि वे बंगाल के कवि नहीं विहार के थे। इनकी रचनाएं—

राजेन्द्रमालती, अद्भुत प्रायश्चित्त, लालचीन, विस्मृत सम्राट्, सौंदर्योपासक, विश्वदर्शन, राधाकान्त, अरण्यबाला, उषांगिनी, उद्धव, सत्यभामामंगल, निर्जन द्वीप-वासी का विलाप, ब्रजविनोद, हनुमान लहरी, अर्थशास्त्र, बलदेवप्रसाद मिश्र की जीवनी, बंकिमचन्द्र, राधाकृष्णदास, विद्यापति ठाकुर।

जयरामदास गुप्त—

इन्होंने किशोरीलाल गोस्वामी के ढंग पर उपन्यास रचे। इनमें भी ज़रा सा पुट खत्री जी का और ज़रा सा गहमरी जी का रहा। भाषा इनकी कामचलाऊ और कहीं २ दोषपूर्ण रही। पर उसमें भी एक प्रवाह रहा। इनके आठ उपन्यास प्रकाशित हुए।

ऐतिहासिक गवेषणा के प्रवर्तक मु. देवीप्रसाद मुंसिफ़—

इनका जन्म सन १८४८ में हुआ। ये कायस्थ थे। इनके पूर्वज मुग़ल बादशाहों से सम्बन्धित होने के कारण फ़ारसी-सेवी थे। इनके दादा नवाब अमीरखां के साथ टोंक में रहते थे। तभी इनके पिता नवाब के एक बेटे के साथ अजमेर आए थे। अकस्मात् शाहज़ादा वहीं मर गए तो वे ख्वाजा साहब की दरगाह के नायब हो गए। मुन्शी जी बाल्यावस्था में परदादी, दादा, दादी, पिता और माता इन पांचों की

गोद में खेले। परन्तु हिन्दी का कुछ ज्ञान केवल इनकी माता और पिता को ही था। इन्होंने पिता से फ़ारसी, उर्दू और माता से हिन्दी सीखी। सन १८६४ में ये टोंक में नौकर हुए, फिर अजमेर आए; बाद में सन १८८० में इन्होंने जोधपुर में नौकरी कर ली।

जब ये टोंक में थे तभी इन्होंने उर्दू में 'ख्वाबेराजस्थान' लिखा। पीछे 'स्वप्न-राजस्थान' नाम से इन्होंने ही उसका हिन्दी अनुवाद किया। इस पुस्तक में दफ़्तरों में हिन्दी-प्रचार की आवश्यकता पर ज़ोर दिया था। इस पर अनेक कायस्थ इन पर बिगड़ पड़े थे। जोधपुर में अदालत का काम तो उर्दू में किंतु माल-ख़ज़ाना, फ़ौज और बाहर की कचहरियों का काम हिन्दी में होता था। उन दिनों सर प्रतापसिंह जोधपुर के प्रधान-मन्त्री और अपील-आला के चीफ़ जज थे। वे हिन्दी के बड़े पक्षपाती थे। महाराज जसवन्तसिंह के पास मुसलमानों का पूरा जमघट था इसलिए उनके प्रभाव से दफ्तर में उर्दू ही रही। पर धीरे धीरे फ़ैसले हिन्दी में लिखे जाने लगे। सर प्रताप बड़े मनमौजी आदमी थे। एक समय रात को अर्ज़ी सुनते समय उर्दू की ५०-६० अर्ज़ियां मुं० देवीप्रसाद से फड़वा डालीं। उस दिन से सब काम हिन्दी में होने लगे। इस पर भी कायस्थ लोगों ने मुंशी जी को बहुत कोसा। कुछ दिन बाद कविराज मुरारदान अपील-आला के निरीक्षक हुए। वे भी हिन्दी के बड़े प्रेमी थे। इन दोनों हिन्दी प्रेमियों में खूब पटी। मु० देवीप्रसाद जी भी अपनी योग्यता से उन्नत होते हुए राज्य के ख़ास व्यक्ति हो गए। पीछे ये मुंसिफ़ हो कर बाद में आर्केयालोजीकल विभाग में आगये। ये मुग़ल-कालीन इतिहास के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने इतिहास सम्बन्धी हिन्दी उर्दू में ५०-६० ग्रन्थ लिखे जो सब महत्त्वपूर्ण हैं। अनेक बार गवर्नमेन्ट और राज्यों से पुरस्कृत हुए। अन्तिम समय में इन्होंने अपना सर्वस्व काशी-नागरी-प्रचारिणी को दे दिया। इन्होंने मुग़लकालीन साहित्य पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला तथा राजपूताने के इतिहास को बहुत प्रकाश में लाए। इनकी अनेक रचनाओं में— मारवाड़ के प्राचीन लेख, आमेर के राजे, राजरसनामृत, हिन्दुस्तान के मुसलमान बादशाह, यवनराज-वंशावली, राजपूताने में हिन्दी पुस्तकों की खोज, मुग़लवंश और सिन्ध का इतिहास, महत्त्वपूर्ण हैं।

संस्कृत वैभाषिक बलदेवप्रसाद मिश्र और ज्वालाप्रसाद मिश्र—

ये दोनों विद्वान् भाई मुरादाबाद के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। बलदेवप्रसाद का जन्म १८६९ में तथा ज्वालाप्रसाद का १८६२ में हुआ। ज्वालाप्रसाद जी ने संस्कृत का अभ्यास करके हिन्दू धर्मशास्त्रों का अच्छा अध्ययन किया था। पहले इन्होंने खण्डन-मण्डन की कुछ पुस्तकें लिखीं, जिन में 'दयानन्द-तिमिर-भास्कर'

बहुत प्रसिद्ध है । पीछे संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद से हिन्दी का भण्डार भरा । इन्होंने लगभग ४० ग्रन्थों के अनुवाद किये । आपकी अधिक रचनाएं वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुई हैं । इन्होंने पौराणिक विषयों पर मौलिक रचनाएं भी कीं । ये बड़े भारी व्याख्याता तथा वक्ता थे । पंजाब में पेशावर तथा दक्षिण में हैदराबाद तक व्याख्यान देते हुए दौरा करते थे । भारतधर्म-महामण्डल ने आपको विद्यावारिधि और महोपदेशक की उपाधि दी थी ।

बलदेवप्रसाद जी हिन्दी संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेज़ी, फ़ारसी, मराठी, गुजराती के भी पण्डित थे । कुछ कनाडी का भी अभ्यास था । अख़बार पढ़ने के आप बड़े शौकीन थे । इन्होंने साहित्य-सरोज, सत्यसिन्धु, भारतवासी, भारत-भानु, सोलर पत्रिका आदि कई अख़बारों का अच्छा सम्पादन किया । तन्त्रविद्या में भी आपकी गति थी । आपने इस विषय के कुछ ग्रन्थ भी छापे थे । मिस्मरेज़्म से भी आप को लगाव था । इन्होंने कोई २५ ग्रन्थ लिखे जिनमें कुछ अनुवाद हैं । इनकी अनेक पुस्तकें वेंकटेश्वर और भारत के समाचारपत्रों के उपहार में वितरण की गई थीं । ये बड़ी तेज़ी से लिखते थे । इनका निधन केवल ३६ वर्ष की आयु में हुआ ।

सर्वश्री महेन्दुलाल गर्ग, ला० शालिगराम वैश्य, हरिहरप्रसाद जिज्जल ऐसे लेखकों में हैं जिन्होंने अपनी रचनाएं साहित्य से बाहर करके हिन्दी का भण्डार भरा । महेन्दुलाल गर्ग ने पाश्चात्य चिकित्सा-शैली पर स्वास्थ्य सम्बन्धी रचनाएं कीं । इनके अलावा विदेशों से सम्बन्धित इतिवृत्त लिखे ।

शालिग्राम वैश्य ने कुछ पौराणिक नाटक लिखे तथा आयुर्वेद पर एक अत्युत्तम निघण्टु लिखा । हरिहरप्रसाद जिज्जल ने कुछ नाटक रचे ।

पद्यप्रवाह—

भारतेन्दु के उद्योग से गद्य की भांति पद्य में भी नूतन भाव, भाषा और शैली का प्रचलन प्रारम्भ होगया था—यह हम भारतेन्दु युग के अन्त में कह चुके है । उसी युग के कवि पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन', पं० प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहनसिंह, बा० रामकृष्ण वर्मा तथा ला० सीताराम आदि प्राचीन धारा पर ही अभी तक कविता रचते चले आते थे । यद्यपि इन्होंने नई धारा भी अपनाई थीं, पर कवि-समाज आदि समारोहों में प्रायः पुराने ही ढंग की समस्यापूर्तियां पढ़ी जाती थीं । डुमरांव के पं० नकछेदी त्रिपाठी और पं० विजयानन्द त्रिपाठी भी ऐसे ही कवि थे । इसी समय लाला सीताराम ने राजा लक्ष्मणसिंह की पद्धति पर शुद्ध व्रजभाषा में 'भूप' उपनाम

से रघुवंश का पद्यानुवाद दोहा चौपाई में तथा मेघदूत का घनाक्षरी छन्द में किया था।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अभी अभी कविता-क्षेत्र में क़दम रखा था। वे पुराने ढंग की शृङ्गारी कविताएं लिखा करते थे। इनके निवास-स्थान निज़ामाबाद में सिख सम्प्रदाय के महन्त बाबा सुमेरसिंह हिन्दी काव्य के बड़े प्रेमी थे। उनके यहां प्रायः कवि-समाज एकत्र होता था। उपाध्याय जी को भी वहीं से कविता का चस्का लग गया था। इसी समय इन्होंने अपना उपनाम 'हरिऔध' रखा। 'रसकलश' में इनकी कविताएं संग्रहीत हैं। इसमें इन्होंने नायिका-भेद कुछ नवीन रीति पर किया है।

पं० श्रीधर पाठकजी ने भी उपाध्याय जी की भांति व्रजभाषा में रचनाएं करना प्रारम्भ किया। पर वे नायिका-भेद और समस्यापूर्ति के चक्कर में नहीं पड़े। उनके ऋतुसंहार के पद्यानुवाद में जो कविता हैं वह पुराने कवियों जैसी ही है—

परन्तु इस युग में आगे चलकर हरिऔध और पाठक जी तथा अन्य कवि सभी खड़ी बोली की नवीन धारा में बढ़ चले। केवल एक अडिग दृढ़ व्यक्ति जो व्रजभाषा पर अड़े रहे वे बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' थे। इस युग के व्रजभाषा के कवियों में रत्नाकर जी का स्थान सर्वोच्च है। भारतेन्दु के निधन के बाद ये अपनी २३ वर्ष ही की अल्प वय में व्रजभाषा में कँबिता करने लगे थे। एक काव्य सम्बन्धिनी पत्रिका भी इन्होंने निकाली थी। इनकी सी सूझ और उक्ति प्राचीन कवियों में भी बहुत कम पाई जाती है। भाषा भी इनकी वैसी ही चुस्त और गठित होती थी। ये वास्तव में माने हुए व्रजभाषा के काव्य-मर्मज्ञ थे।

इन्होंने फुटकर रचनाएं बहुत की हैं। शृंगार और वीर दोनों ही रसों पर इनका अधिकार था। इनकी कविताओं का संग्रह 'रत्नाकर' नाम से नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी ने प्रकाशित किया है। इन्होंने 'हरिश्चन्द्र' 'गंगावतरण' और 'उद्धव-शतक' तीन प्रबंध काव्य लिखे और अंग्रेज़-कवि पोप के प्रसिद्ध काव्य 'ऐस्से ऑन क्रिटिसिज़्म' का रोला छन्द में अनुवाद किया। इनकी अनोखी सूझ इस पद्य में देखिए।

कान्ह दूत कैधौं ब्रह्म दूत है पधारे आप,
धारे प्रन फेरन को मति ब्रजनारी की।
कहे 'रतनाकर' पै प्रीति-रीति जानत ना,
ठानत अनीति अति नीति लै अनारी की।

मान्यो हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यो जो तुम,
तो हू हमें भावति न भावना अन्यारी की ।
जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूंदता बिलैहैं बूंद बिबस बेचारी की ।

ललनपिया ने भी प्राचीन शैली पर अनेक पद्य-ग्रन्थ लिखे।

काव्यमीमांसाकार—

इसी काल में दो काव्यमीमांसाकार भी हुए जिन में एक महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० जगन्नाथप्रसाद 'भानु' साहित्याचार्य, साहित्यवाचस्पति, गणिताचार्य हैं। इन्होंने 'छन्दप्रभाकर' और 'अलंकारदर्पण' उत्तम ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों की पुरानी पद्धति में भी कुछ नवीनता थी।

भानु जी का जन्म सन १८५९ में हुआ था। ये संस्कृत, उड़िया, मराठी, उर्दू आदि अनेक भाषाओं के पण्डित थे। गणित के भी बड़े पारंगत थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे जिनमें कुछ गणित सम्बन्धी भी हैं।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य-कल्पद्रुम' और 'अलङ्कार-प्रकाश' ख्याति-प्राप्त ग्रन्थ हैं। इनका जन्म सन १८७२ में हुआ। ये तुलसीकृत रामायण के बड़े भक्त हैं। भर्तृहरिशतक का इन्होंने ब्रजभाषा-काव्य में पूरा अनुवाद किया है। ये सुकवि और काव्य-मर्मज्ञ हैं।

अध्याय चौथा

इस काल का गद्य-साहित्य

उपन्यास—

उद्देश्य-प्रधान उपन्यास जो इस काल में लिखे गए उनमें उद्देश्य की प्रधानता इतनी अधिक रही कि पात्रों के चरित्र और समाज का रूप कृत्रिम दीखने लगा। ऐसे उपन्यासों में व्यक्तिगत जीवन-चर्या में भी भावना, पारिवारिक शील, वैधव्य जीवन का समर्थन, सतीत्व का आदर्श, विवाह-पूर्व प्रेम और फिर विवाह का आदर्श वर्णित किया गया। इन उपन्यासों के पढ़ने से यह ध्वनित होता है कि लोगों की दृष्टि स्त्रियों के चरित्र की ओर चिन्तायुक्त थी। साथ ही उनके प्रति उदार भाव

का बीज वपन हो गया था और उन पर आर्यसमाज तथा अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव हो रहा था।

रस-प्रधान उपन्यासों में प्रायः सभी शृङ्गाररसपूर्ण थे। इन उपन्यासों से पहले फ़ारसी आदि भाषाओं की जो किस्से कहानियां जनसाधारण में प्रचलित हो गई थीं वे भी प्रायः ऐसी ही शृङ्गारी उद्दीपन की सामग्री से परिपूर्ण थीं। उन्हीं की छाया पर इन उपन्यासों की सृष्टि भी की गई।

वस्तु-प्रधान उपन्यास मनोरंजन और कौतूहल-प्रदर्शन के लिये लिखे गए। इनमें अधिकांश घरेलू झगड़े-टंटे थे जिनका मूल प्राचीन संयुक्त-परिवार की परम्परा थी। ये उपन्यास सार्वजनिक जीवन के निकट तो थे पर इनमें कला का प्रदर्शन न था।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों में निस्संदेह कला का कुछ विकास हुआ पर ऐसे उपन्यास बहुत कम लिखे गए। आगे चल कर तो चरित्र-चित्रण उपन्यास का मुख्य गुण हो गया। यद्यपि वासना इन उपन्यासों में भी थी परन्तु इनमें जीवन की साधना का जो व्यक्तिकरण था, उसके कारण इनका अच्छा सत्कार हुआ।

ऐतिहासिक उपन्यास नाम भर के ऐतिहासिक रहे। एक प्रकार से ये नायिका-भेद के ढंग का प्रेम-वर्णन करने वाले उपन्यास थे। इन उपन्यासों की परम्परा का श्रीगणेश करने वाले किशोरीलाल गोस्वामी थे।

तिलिस्मी और ऐयारी के उपन्यासों की रचना अति प्राकृत भावना के आधार पर हुई। अपनी मध्ययुगीन विकृत रुचि के कारण जनता ने इस परम्परा में इतनी दिलचस्पी दिखाई कि अन्य उपन्यासों में भी तिलिस्म और ऐयार खोजे जाने लगे। भारत में प्रथम ही से प्राचीन देशी विदेशी किस्सों का जो प्रचलन था, उनका इन उपन्यासों पर भारी प्रभाव था। बा० देवकीनन्दन खत्री इस धारा के प्रवर्तक थे।

जासूसी उपन्यासों की परम्परा हिन्दी में अंग्रेजी से आई। इसकी यद्यपि भारतीय जीवन से अनुकूलता न थी तथापि इन उपन्यासों के अति रंजित बुद्धिवाद से प्रभावित होकर जनता ने इस परम्परा का स्वागत किया। बा० गोपालराम गहमरी इस परम्परा को चलाने वाले हैं।

कहानी—

कहानी-साहित्य का विकास इस युग में अपेक्षाकृत कम हुआ। ऐसी कहानियां इस युग में कम लिखी गईं जिन में किसी ऐतिहासिक घटना के आधार

पर कथावस्तु का संकलन किया गया हो। या एकाध ऐयारी तिलिस्मी कहानी मिलती है या जासूसी ढंग की। इनके अतिरिक्त कुछ चरित्र-प्रधान सामाजिक कहानियां भी लिखी गईं, कुछ उद्देश्य-प्रधान, कुछ रस-प्रधान और कुछ उक्ति-प्रधान कहानियां लिखी गईं। परन्तु इन सब में मनोविज्ञान का सर्वथा अभाव ही रहा। उद्देश्य-प्रधान कहानियां अधिकांश पाठ्यक्रम की दृष्टि से लिखी गईं। दो एक हास्य-रस की कहानियां भी छपीं। परन्तु इन सभी कहानी-लेखकों की रुचि मध्यकालीन ही रही।

नाटक—

धार्मिक नाटकों में इस काल में रामचरित्र से सम्बन्धित कोई नाटक नहीं लिखा गया। कृष्णचरित्र का व्रजभूमि सम्बन्धित केवल एक नाटक लिखा गया, और एक नाटक द्वारिका-भूमि सम्बन्धी छपा। पौराणिक कथा-भूमि को लेकर कुछ नाटक लिखे गये तथा कृष्णकुल को लेकर एक नाटक लिखा गया। रामकुल पर कोई नाटक नहीं लिखा गया।

एक दो नाटक संतचरित्र सम्बन्धी लिखे गए और ३–४ ऐतिहासिक। हिन्दू-शासन-युग की कथा पर एक नाटक लिखा गया। अंग्रेज़ी शासन से सम्बन्धित घटनाओं पर कोई नाटक नहीं लिखा गया। इन ऐतिहासिक नाटकों में यह परिवर्तन अवश्य हुआ कि ज्यों-ज्यों युग आगे बढ़ता गया इनमें वीर रस का समावेश होता गया और शृंगार उनमें से कम होता गया। ४-५ नाटक प्रतीकवादी भी छपे। इनमें अमानुष पात्रों का चित्रण किया गया, उनके लिखने का उद्देश्य मनोविकार की पूर्ति थी। सामयिक और राष्ट्रीय नाटक भी ३-४ छपे। सामाजिक नाटकों में केवल अनमेलविवाह, सतीत्त्व, गोरक्षा, आदि ही विषय रहे। हास्यव्यंग के साधारण २-३ नाटक छपे।

निबन्ध—

निबन्ध पढ़ने की प्रवृत्ति इस काल में पाठकों की बढ़ी तो अवश्य पर ललित साहित्य के समान नहीं। इस लिये निबन्ध-ग्रन्थ एकाध ही लिखा गया। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में ही जो निबन्ध छपते रहे उन्हें ही जनता पढ़ती रही।

साहित्य-शास्त्र—

इस काल में छन्दशास्त्र पर ५–६ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। जिनमें जगन्नाथ-प्रसाद भानु का 'छन्दप्रभाकर' ऐसा ग्रन्थ था जिसमें हिन्दी छन्दों का परिपूर्ण अध्ययन है। अलंकार-ग्रन्थों में कन्हैयालाल पोद्दार का 'अलंकार-प्रकाश' उत्तम रहा। अलंकार के और भी २–३ उत्तम ग्रन्थ बने। नायिका-भेद पर केवल एक

ग्रन्थ और रसशास्त्र पर भी एक ही ग्रन्थ रचा गया। काव्यशास्त्र पर २।३ ग्रन्थ बने जिनमें सर्वश्रेष्ठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्यकल्पद्रुम' था।

लेखनकला और समालोचना के सिद्धान्तों पर एक-एक ग्रन्थ लिखा गया।

जीवन-चरित्र—

जीवन-चरित्रों में एक पुस्तक आधुनिक और दो पुस्तकें मध्ययुगीन संतचरित्र सम्बन्धी छपीं। ऐतिहासिक चरित्र अधिक लिखे गए जिनमें जोधपुर के मुन्शी देवीप्रसाद मुंसिफ़ ने महत्वपूर्ण काम किया।

वृत्तसंग्रह और इतिहास की कोई महत्त्वपूर्ण रचना हुई ही नहीं।

भाषा-दर्शन—

हिन्दी-आन्दोलन सम्बन्धी कुछ पुस्तकें लिखी गईं। व्याकरण सम्बन्धी दो छोटी २ पुस्तकें बनीं। दो तीन कोष भी तैयार हुए।

ललितकला और उपयोगी कला—

इस परम्परा में कुछ पुस्तकें संगीत सम्बन्धी छपीं। उपयोगी कलाओं में खेतीबाड़ी और बागबानी पर साधारण २-३ पुस्तकें छपीं। एक दो पुस्तकें 'रत्न' सम्बन्धी तथा 'फोटोग्राफ़ी' पर छपीं। युद्धकला से सम्बन्धित दो पुस्तकें तथा गृहशिल्प पर एक पुस्तक छपी। 'पशुपालन' पर भी २।३ पुस्तकें छपीं। महता लज्जाराम शर्मा ने 'भारत की कारीगरी' अच्छी पुस्तक लिखी।

खेल और शरीर-रक्षा—

खेल-कूद पर २-३ साधारण पुस्तकें छपीं। चिकित्सा की आयुर्वेद प्रणाली पर अधिक रचनाएं हुईं। २-३ पुस्तकें पशु चिकित्सा पर भी प्रकाशित हुईं।

देश-दर्शन पर कुछ पुस्तकें छपीं। धार्मिक इतिहास केवल दो छपे। इतिहास सम्बन्धी साहित्य का कुछ विकास हुआ। यद्यपि अभी साधन-शिक्षा और विचार-स्वातन्त्र्य की बहुत कमी थी फिर भी इस परम्परा का काफ़ी विकास हुआ। और उसमें नवीन चेतना के लक्षण दीख पड़े। ज्योतिष पर दो ग्रंथ और भारतीय धातुवाद पर एक ग्रंथ अवश्य लिखा गया।

समालोचना—

समालोचना का एकाध ग्रन्थ तुलसी, कबीर और रहीम पर लिखा गया।

समाज-शास्त्र, दर्शन, राजनीति, मनोविज्ञान, तर्क-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र,

व्यापार-विज्ञान, गणित, नागरिक शास्त्र, शिल्प, शिक्षा आदि विषयों पर एक भी ग्रंथ नहीं रचा गया।

धर्म—

धर्म-साहित्य गत युग की अपेक्षा कम लिखा गया। साथ ही उसका दृष्टिकोण उदार और व्यापक हो गया। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में कुछ पुस्तकें बल्लभ सम्प्रदाय सम्बन्धी छपीं जो कुछ समर्थन में और कुछ विरोध में थीं। वेदान्त की पुरानी परिपाटी पर कुछ पुस्तकें छपीं। भक्ति सम्बन्धी रचनाएं साधारण और थोड़ी ही हुईं। योग-सिद्धान्त के दो ग्रन्थ छपे—१ ध्यान-योग-प्रकाश २ षट्चक्रनिरूपण। निर्विशेष-धर्म की तथा नीति-धर्म की कुछ पुस्तकें साधारण कोटि की छपीं।

साहित्य का इतिहास—

साहित्य का कोई शुद्ध इतिहास इस काल में नहीं लिखा गया। पर लेखकों के इतिवृत्त उनकी रचनाओं के उदाहरण सहित लिखे गये। कुछ राम-काव्य-संग्रह और कृष्ण-काव्य-संग्रह भी छपे। कुछ पुस्तकें साम्प्रदायिक साहित्य के संग्रह की छपीं। शृंगार सम्बन्धी काव्य-संग्रह अधिक छपे। इस साहित्य में प्रायः लोगों की मध्ययुगीन प्रवृत्ति रही।

विभाषा-साहित्य—

विभाषा-साहित्य का अध्ययन इस काल में पिछड़ा हुआ रहा। इस परम्परा में संस्कृत सम्बन्धित रचनाएं भी पुराण और रामायण विषयक हुईं। उर्दू सम्बन्धी रचनाओं में 'मजमूआए नज़ीर' छपीं। इस काल की हिन्दी जनता में नज़ीर सर्वाधिक लोकप्रिय उर्दू-कवि रहा।

अध्याय पांचवां

इस काल का पद्य-साहित्य

धार्मिक काव्य—

इस काल में रामचरित्र सम्बन्धी दो प्रकार की रचनाएं हुईं। रामायण की परम्परा में दो तीन रचनाएं विविध छन्दों में प्रकाशित हुईं। परन्तु विगत युग में राम की जो अतिरंजित शृंगारी परम्परा चली उस पर अधिक रचनाएं हुईं। कृष्ण चरित्र सम्बन्धी पौराणिक भावनाओं की केवल दो रचनाएं होकर रह गईं। गोपीवल्लभकृष्ण की अनेक रचनाएं हुईं। व्रजवल्लभ और गोपीवल्लभ कृष्ण की

इस काल में अधिक प्रधानता मिली। शिवचरित्र पर दो पुस्तकें और शाक्त-साहित्य पर एक पुस्तक प्रकाशित हुई।

यद्यपि राम और कृष्ण दोनों ही पौराणिक व्यक्ति हैं परन्तु हिन्दी-काव्य-धारा में कृष्ण-काव्य के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र परम्पराएं विकसित हुईं और उनमें पौराणिकता नाममात्र को ही रह गई। ये दोनों चरित्र इतने अधिक लोकप्रिय हुए और इसका यह परिणाम हुआ कि इनकी कथाओं से आश्रित अन्य प्राचीन पौराणिक आख्यानों को लेकर बहुत अधिक और उत्तम रचनाएं हुईं। सबसे अधिक रचनाएं उषा और अनिरुद्ध के चरित्र को लेकर हुईं। सुदामा की मैत्री सम्बन्धी रचनाओं का नम्बर इसके बाद का है। अन्य उपाख्यानों में नल-दयमन्ती, हरिश्चन्द्र-सत्यवादी, सावित्री-सत्यवान के उपाख्यान अधिक लोकप्रिय हुए। परन्तु इस काल में ये सभी रचनाएं पुराने ही ढर्रे पर चलती रहीं।

भक्ति-स्तुति सम्बन्धी कुछ साधारण कोटि की रचनाएं भी हुईं। इनमें कुछ ऐसी थीं जिनमें राम, कृष्ण, ईश्वर सभी की संयुक्त स्तुति थी परन्तु इन रचनाओं में काव्य-तत्त्व बहुत कम था। शिवस्तुति की तो कोई रचना ही नहीं हुई।

शृङ्गार काव्य—

इस काल में शृंगार सम्बन्धी रचनाओं की दो धाराएं बहीं। एक रीति सम्बन्धी दूसरी स्वतन्त्र। पहली धारा में केवल एक पुस्तक 'जानकी-सतसई' सतसई प्रणाली पर तैयार हुई। स्वतन्त्र-प्रणाली पर कई काव्य लिखे गए। कुछ रचनाएं नखशिख प्रणाली पर भी हुईं परन्तु एक मार्के की बात यह है कि इस काल के समाप्त होते न होते रीति-प्रणाली पर शृंगार और नखसिख का कवि-प्रतिभा ने एकबारगी ही त्याग कर दिया।

स्फुट रचनाएं—

ये रचनाएं समाज के विविध अंगों के लोगों की रुचि के अनुकूल प्रवाहों में व्यक्त हुईं। सामयिक पत्र-पत्रिकाएं तथा कवि-सम्मेलनों आदि के द्वारा सर्वसाधारण ही में अब उनका स्थान बन गया। इस प्रकार की रचनाएं बहुत हुईं। यद्यपि इस काव्यधारा में यत्किंचित् क्रान्ति थी परन्तु उसका ढर्रा पुराना ही था। केवल श्रीधर पाठक की 'मनोविनोद' प्रतापनारायण मिश्र की 'लोकोक्तिशतक' महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'विद्याविनोद' और रामचन्द्र शुक्ल के 'चारणविनोद' में

कुछ नवीनता प्रकट हुई थी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अभी भी काव्य-धारा सुप्तावस्था में पड़ी अपनी अतीत की भाव-भंगियों के स्वप्न देख रही थी।

राष्ट्रीय और सामाजिक—

राष्ट्रीय और सामाजिक रचनाओं में कुछ चेतनता अवश्य प्रकट हुई। परन्तु इस प्रकार की थोड़ी ही रचनाएं हुईं। उनमें कांग्रेस की स्थापना का अभिनन्दन था और थी बालविवाह के प्रति भर्त्सना। एक पुस्तक 'मूर्खशतक' व्यंग्यविनोद पर भी प्रकाशित हुई। दो चार ऋतुओं और त्योहारों पर। ऐसी पुस्तकों में बलदेवदास कृत 'प्रभातशतक' में नई प्रथा अपनाई गई थी।

लोकगीत--

भारतेन्दु-युग के लोक-गीत अभी भी अपनाए जा रहे थे। इनमें बदरीनारायण चौधरी की 'कजरी कादम्बिनी' अच्छी पुस्तक थी।



हिन्दी के युग-निर्माता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

छठा खण्ड

द्विवेदी युग

ईस्वी सन १९०३ से १९१८ तक—१५ वर्ष

अध्याय पहला

सिंहावलोकन

सरस्वती का सम्पादन ग्रहण करने से पूर्व ही द्विवेदी जी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में विख्यात हो चुके थे। परन्तु उनके युग का आरम्भ सन १९०३ से हुआ जब कि उन्होंने सरस्वती के सम्पादन का भार ग्रहण किया। तब से सन १९१८ तक, जब उन्होंने सम्पादनकार्य से विश्राम लिया—१५ वर्ष का समय द्विवेदी-काल कहलाता है। इन १५ वर्षों में उन्होंने हिन्दी-साहित्य के गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में अपना प्रभाव व्याप्त कर दिया।

इसमें सन्देह नहीं कि वे अपने युग के साहित्य-नेता थे। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस काल में अन्य प्रवृत्तियां विद्यमान नहीं थीं। द्विवेदी-युग में अन्य प्रवृत्तियां भी अपना काम करती रहीं और अन्य समर्थ साहित्यिक भी अपनी रचनाएं करते रहे। इस १५ वर्ष के काल में द्विवेदी जी की वृत्ति मुख्य और अन्य वृत्तियां गौण रहीं। द्विवेदी-युग की मूल प्रवृत्ति सुधारवाद और पुनरुज्जीवन की थी। वस्तु और कला दोनों ही पक्षों से यह बात ध्वनित होती है। इस युग के काव्य और गद्य दोनों ही के लक्ष्य समाज और जीवन के लिये सुधारात्मक या शिक्षात्मक थे। इस युग का कवि इतिहास, पुराण और वर्तमान समाज से ऐसे विषयों को लेकर प्रबन्धों, निबन्धों और मुक्तकों के रूप में रचना करता था जिन से समाज और जीवन पुनरुज्जीवित हों। इस कार्य के लिए साहित्यकार को स्वभावतः उपदेशक-वृत्ति ग्रहण करनी पड़ती है। इसी से इस युग की कविता 'गुरु भाव व मित्र भाव' अधिक व्यक्त करती थी—'कान्त भाव' कम। इसी से इस युग के काव्य में नव्य काव्य का यथार्थ 'कान्त' रूप प्रकट नहीं

हुआ। इसी से द्विवेदी काल के काव्यों में रूखापन, उपदेश, सुधार-शिक्षा अधिक रही और काव्य-तत्त्व कम रहा। एक प्रकार से द्विवेदीकालीन कवि संस्कारवादी थे। परन्तु यह कवियों का दोष न था तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति ही संस्कारवादी थी। उन दिनों आर्यसमाज का मध्यान्ह प्रताप था और वह भारत के अतीत गौरव को खोद २ कर लोगों के सन्मुख ला रहा था। वह लोगों में जागरण की चेतना के साथ कुरीतियों के विरुद्ध आन्दोलन कर रहा था। वह बारबार जनता को ऋषि-सन्तान होने की याद दिला रहा था। इस से द्विवेदीकालीन कवि द्विवेदीकृत भाषा-संस्कार को ले आर्यसमाज के उद्बोधक प्रभाव को साहित्य का रूप दे रहे थे।

सन १९०० का महत्त्व—

इस युग में सन १९०० के आसपास का समय हिन्दी भाषा के गद्य के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसी समय संघर्ष का कुछ ऐसा आकस्मिक स्फोट हुआ कि आगे आनेवाले काल की काया-पलट हो गई। इस स्फोट के चार रूप थे। १ नागरी-प्रचारिणी-सभा की प्रगति २ संयुक्त-प्रान्त की अदालतों में हिन्दी की स्थापना ३ प्रयाग से सरस्वती-मासिक-पत्रिका का प्रकाशन और ४ कांगड़ी में गुरुकुल की स्थापना।

पाठक जानते हैं कि नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना और उसके प्रभाव से हिन्दी को किस प्रकार का असाधारण बल मिला। नागरी-प्रचारिणी अपनी बहुमुखी प्रगतियों के द्वारा इस युग में भी काम करती रही। उसकी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, विविध विषयों के उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन निरन्तर होता जा रहा था। उसका 'आर्य-भाषा-पुस्तकालय' खूब सम्पन्न हो रहा था और उससे बहुत लोग लाभ उठा रहे थे। अनेक प्रकार के पदक और पुरस्कार देकर वह नए लेखकों में स्फूर्ति भर रही थी। एक पत्रिका भी उसने प्रकाशित की थी जो गवेषणा और समालोचना की एक उत्कृष्ट पत्रिका थी। इस युग में अब उसने एक महत्कार्य में हाथ लगाया था। वह था 'हिन्दी-शब्द-सागर' का निर्माण। *

---

* इस महत् ग्रन्थ में सब मिला कर १ लाख के लगभग शब्द और ४२०० से ऊपर पृष्ठ हैं। यह ग्रन्थ ९६ पृष्ठों की ४२ संख्याओं में पूर्ण हुआ है। ६ संख्याओं का एक खण्ड बना दिया गया है। कुल ७ खण्डों में मूलकोष समाप्त किया गया है। इस महासारस्वत यज्ञ को पूरा करने में २१ वर्ष का समय लगा और १ लाख रुपया खर्च हुआ। इसका प्रारम्भ सन १९०८ में हुआ और समाप्ति १९२९ में हुई। ग्रन्थ का सम्पादन डा० श्यामसुन्दरदास ने किया था।

हम यह कह सकते हैं कि उसने हिन्दी का उद्धार ही नहीं किया; हिन्दी की प्राण-प्रतिष्ठा भी की तथा हिन्दी को समूर्त किया।

अदालतों में हिन्दी—

युक्तप्रान्त की अदालतों में हिन्दी का प्रारम्भ होते ही हिन्दी की अपरिसीम उन्नति हुई। काशी की नागरी प्रचारिणी को जहां इस कार्य में सफलता प्राप्त करने का श्रेय था—वहां उसे प्रगति देने का भी श्रेय है। सभा के चतुर कर्णधार यह जानते थे कि सन १८३७ की एक छोटी सी भूल के कारण जो आंशिक सुविधा ६० वर्षों के परिश्रम से प्राप्त हुई है उसका उपयोग यदि ठीक २ नहीं किया जायगा तो सारा परिश्रम ही निष्फल हो जायगा। इस लिये सभा केवल हिन्दी-प्रचार सम्बन्धी सरकारी घोषणा सुन कर ही संतुष्ट नहीं हुई प्रत्युत उसने अदालतों में हिंदी-प्रचार विषयक अपनी योजना बराबर जारी ही रखी। एक तरफ हिंदी विरोधी मुसलमान नेता इस घोषणा से नाराज होकर मेमोरियल पर मेमोरियल भेज कर सरकार का नाकोंदम कर रहे थे—दूसरी तरफ़ वकील, मुन्शी और अदालत के अहलकार अपनी स्वार्थान्धता के कारण हिन्दी-प्रचार की इस आज्ञा से बहुत नाराज़ थे। उन्हें भय था कि नागरी-लिपि का प्रयोग अदालत में होने से उनके मुअक्किल ही उनके चुङ्गल से निकल जायंगे। सभा ने यह समझ लिया था कि सरकार ने जितनी उचित समझी उतनी सुविधा दी है, उसका अधिकाधिक उपयोग करना हमारा काम है। इस लिए उसने अदालतों में अधिकाधिक नागरी का व्यवहार बढ़ाने को एक समिति सन १९०० में ७ सदस्यों की निर्माण की। इस समिति ने अदालती अमलों में अपना कार्य प्रारम्भ किया। इसके नियुक्त प्रचारक प्रान्तों के सभी जिलों का दौरा कर-कर के वकीलों और मुहर्रिरों को हिन्दी-प्रयोग करने की प्रेरणा करने लगे। इन लोगों को हिन्दी सिखाने के लिए रात्रि-पाठशालाएं स्थापित की गईं, और कचहरियों में ऐसे मुहर्रिर नियत किये गये जो हिन्दी में दर्खास्त लिखते थे। अनेक हिन्दू नरपतियों ने इस काम में सहायता दीं। सभाने वकालतनामें, इजरायडिग्री और दूसरे प्रकार के फ़ार्म हिन्दी में लाखों की संख्या में छपवा कर बनारस की दीवानी कचहरी में रखे। फलतः बनारस में कई वकील

उनके सहायक सर्वश्री० बालकृष्ण भट्ट, अमीरसिंह, ला० भगवानदीन, बा० रामचन्द्र वर्मा और पं० रामचन्द्र शुक्र रहे। कोश की भूमिका पं० रामचन्द्र शुक्र ने ही लिखी जो आगे 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' के रूप में पृथक् प्रकाशित की गई। इस ग्रन्थ के तैयार करने में देश भर के ८० विद्वानों की एक परामर्श-दात्री समिति बनाई गई थी। तथा १७९ विषयों के विविध शब्दों की कोई १० लाख चिटें तैयार करनी पड़ी थीं।

हिन्दी में काम करने लगे । सबसे पहले बनारस के प्रसिद्ध वकील गौरीशंकर और उनके मुहर्रिर ब्रह्मचारी विवेकानन्द ने हिन्दी में काम करना प्रारम्भ किया । साथ ही हिन्दी के मुहर्रिर तैयार करने के लिये अपने खर्च से एक क्लास ही खोल दी । इसी बीच सभा ने एक 'कचहरी-हिन्दी-कोश' भी तैयार करा कर प्रकाशित किया । और हिन्दी में काम करने वाले मुहर्रिरों को पुरस्कार देने प्रारम्भ किए । शीघ्र ही पं० गोविन्दराम जुबलेकर, बा० ठाकुरदास, बा० बलभद्रदास आदि ने हिन्दी में काम करना प्रारम्भ कर दिया ।

सरस्वती—

सन १८९९ में इंडियन प्रेस प्रयाग के स्वामी ने सभा को एक पत्र लिखकर एक सचित्र मासिक-पत्रिका प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की, और सभा से सहायता चाही । सभा ने सर्वश्री श्यामसुन्दरदास, राधाकृष्णदास, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', कार्तिकप्रसाद खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी इन पांच विद्वानों का एक सम्पादक-मंडल बनाया, और 'सरस्वती' की प्रथम संख्या इस मण्डल के सम्पादकत्व में छपी । इस अंक की भाषा का एक नमूना हम यहां देते हैं ।

"यद्यपि हम लोग महाकवि कालीदास के कथनानुसार वामन होकर उत्तुङ्ग-शाखास्थित महाफल के प्राप्त करने की अभिलाषा करते हुए जनसमाज में हास्यास्पद होने का उपक्रम करते हैं किन्तु तौ भी क्या हम लोगों की ऐसी चपलता कि जिसके मूल में नए उद्योग, उत्साह, उपकारिता और कार्य तत्परता की सुहावनी सुगन्धि सनी हुई है, उदार चरित रसज्ञों और समदर्शी सहयोगियों के क्षमा करने, सराहने, और उत्तेजना देने योग्य न समझी जायगी। तो फिर हिन्दी के उत्साहियों, हितैषियों, उन्नायकों, रसज्ञों, और सहयोगियों से ऐसी अखण्डनीय आशा क्यों न की जाय कि वे लोग सब प्रकार से अपनी बाहु लता की शीतल छाया में इस नवीन बालिका को आश्रय देने में कदापि पराङ्मुख न होंगे कि जिनके सम्मुख आज यह अपने नए रंग ढंग, नए वेश विन्यास, नए उद्योग उत्साह और नई मनोमोहनी छटा से उपस्थित हुई हैं"

प्रथम वर्ष यही संपादक-मण्डल काम करता रहा । दूसरे और तीसरे वर्ष अकेले बा० श्यामसुन्दरदास ने पत्रिका का सम्पादन किया, चौथे वर्ष पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने पत्रिका को अपने सम्पादकत्व में लिया और पहली ही क़लम में उन्होंने अपनी भाषा की सफ़ाई दिखा दी । अपने सम्पादन की पहली संख्या के पहले नोट में ही उन्होंने अपने पूर्व सम्पादक बा० श्यामसुन्दरदास का इन शब्दों में आभार माना—

'जिन्होंने बाल्यकाल ही से अपनी मातृभाषा हिन्दी में अनुराग प्रकट किया, जिनके उत्साह और अश्रान्त श्रम से नागरी प्रचारिणी सभा की इतनी



सरस्वती सम्पादक पं० देवीदत्त शुक्ल

उन्नति हुई, हिन्दी की दशा को सुधारने के लिये जिनके उद्योग को देखकर सहस्रशः साधुवाद दिए बिना नहीं रहा जाता, जिन्होंने विगत दो वर्षों में, इस पत्रिका के सम्पादन कार्य को बड़ी ही योग्यता से निबाहा, उन विद्वान् बा० श्यामसुन्दर दास के चित्र को, इस वर्ष आदि में प्रकाशित करके, सरस्वती अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है"

यद्यपि यह भाषा बहुत कुछ संस्कृत की काव्यशैली पर थी, फिर भी पहली और इस भाषा में बहुत अन्तर था। इसके बाद तो द्विवेदी जी ने भाषा-संस्कार के महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

कुछ दिन बाद सभा का सम्बन्ध 'सरस्वती' से टूट गया और सरस्वती को द्विवेदी जी ने अपने युग की एक प्रतिनिधि-पत्रिका बना दिया। सरस्वती के द्वारा द्विवेदी जी ने हिन्दी को आज का रूप दिया।

गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना—

सन १९०२ में महात्मा मुन्शीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) ने कांगड़ी में गुरुकुल की स्थापना की। यह एक ऐसा विद्या-मन्दिर था जहाँ युनिवर्सिटियों तथा पाश्चात्य शैली का सर्वथा त्याग किया गया था। वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति का भारत में प्रचार करना इस विद्या-मन्दिर का मूल मंत्र था। यहां के विद्यार्थियों को प्राचीन भारतीय गुरुकुल-प्रणाली पर ब्रह्मचारी-वेश में अनागरिक वृत्ति से रहना पड़ता था। उनके लिये धार्मिक शिक्षा और अनुष्ठान भी अनिवार्य थे। यद्यपि उन्हें संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी पर उनकी शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही थी। यह एक नवीन प्रभावशाली परिपाटी थी। और इस ने बड़ी शीघ्रता से सम्पूर्ण उत्तर-भारत का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। इस के बाद इसी शैली पर आर्य समाज और सनातन-धर्म-सभा ने अन्य गुरुकुलों और ऋषिकुलों की स्थापना की।

महात्मा मुन्शीराम जी के इस सदुद्योग का सुफल सम्पूर्ण उत्तर-भारत में दीख पड़ने लगा। लोगों के हृदयों में स्वप्न से जागे हुए की भांति अपनी भाषा, अपनी संस्कृति तथा अपने वेश के प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए। इस गुरुकुल के निकले हुए स्नातक हिन्दी के प्रथम श्रेणी के लेखक सिद्ध हुए और आगे चलकर उन्होंने हिन्दी साहित्य को विचार-विज्ञान तथा प्रगति से ओतप्रोत महामूल्यवान् साहित्य दिया। इन स्नातकों में सर्वश्री इन्द्रविद्यावाचस्पति, प्राणनाथ विद्यालंकार, सत्यकेतु विद्यालंकार, जयदेव शर्मा विद्यालंकार, जयचंद्र-विद्यालंकार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और चन्द्रगुप्त वेदालंकार के नाम उल्लेखनीय हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रायः इन सभी स्नातकों ने साम्प्रदायिक भावनाओं से उन्मुक्त होकर साहित्य-रचना की।

महात्मा मुन्शीराम स्वयं एक आचार्य, लेखक, वक्ता और सम्पादक की हैसियत से हिन्दी के एक स्तम्भ रहे। उन्होंने आधुनिक हिन्दी को प्राणदान देने वाले मेधावी जनों का एक स्रोत ही खोल दिया।

भारतेन्दु युग के साथी—

भारतेन्दु युग के साहित्य-मित्र, सर्वश्री पं० बालकृष्ण भट्ट, बा० ठाकुरप्रसाद खत्री, बा० तोताराम, पं० राधाचरण गोस्वामी, बा० काशीप्रसाद खत्री, बा० अम्बिकादत्त व्यास, पं० प्रतापनारायण मिश्र, ला० सीताराम, पं० बदरीनारायण चौधरी, रामकृष्ण वर्मा आदि अब भी साहित्य-रचना कर रहे थे।

प्रभावित काल के साहित्यिक—

प्रभावित काल के साहित्यिकों में सर्वश्री मिश्रबन्धु, बा० बालमुकुन्द गुप्त, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मुं० देवीप्रसाद मुंसिफ़, बा० राधाकृष्णदास, बा० गोपालराम गहमरी, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, बा० देवकीनन्दन खत्री, कार्तिकप्रसाद खत्री, बा० गंगाप्रसाद गुप्त, पं० अमृतलाल चक्रवर्ती, बा० जगन्नाथदास, रत्नाकर पं० गौरीदत्त आदि की रचनाओं से दिन २ हिन्दी साहित्य का भण्डार भर रहा था।

द्विवेदी प्रभावित साथी—

द्विवेदी जी के व्यक्तिगत प्रभाव से जो उत्तरकालीन साथी उत्पन्न हुए उनमें सर्वश्री पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० कामताप्रसाद गुरु, सूर्यकुमार वर्मा, बा० जयशंकर प्रसाद, पं० रामनरेश त्रिपाठी, स्वामी सत्यदेव, बा० मैथिलीशरण गुप्त, पं० बदरीनाथ भट्ट, पं० लक्ष्मीनारायण गर्दे, पं० पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णचन्द, ला० कन्नूमल एम० ए०, बा० गुलाबराय एम० ए०, बा० सम्पूर्णानन्द आदि जगमगाती भावी आशा से ओतप्रोत साहित्य रचने लगे थे।

सर्वश्री डा० महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद्र जी ओझा, महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० जगन्नाथप्रसाद भानु, दामोदर सातवलेकर, विष्णुदिगम्बर पुलस्कर, रामदास गौड़, एम० ए०, और मि० महेशचरणसिंह ने विशिष्ट विषयों पर लिखना प्रारम्भ किया।

सर्वश्री पं० जगन्नाथदास रत्नाकर, बा० देवीप्रसाद पूर्ण, पं० नाथूराम शर्मा शंकर, पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, ला० भगवानदीन जी दीन, पं० रूपनारायण पाण्डेय, कविवर सत्यनारायण और जगन्नाथदास रत्नाकर ऐसे साहित्यकार थे जिन्हें हम द्विवेदीकाल के 'बहिर्भूमि' के कवि कह सकते हैं।

कुछ ऐसे भी लगन के हिन्दी प्रेमी थे जिनकी रचनाएं तो कम हैं किन्तु हिन्दी-सेवा की दृष्टि से जिनका मूल्य बहुत है। पं० गौरीदत्त और पं० रामनारायण मिश्र

इनमें प्रमुख हैं। सर्वश्री महात्मा हंसराज, ला० लाजपतराय, ला० देवराज, म० मुन्शीराम, और महामना मालवीय इनमें प्रमुख हैं।

इस प्रकार परम्परा से चली आती हुई जो हिन्दी भाषा की धरती-परती पड़ी हुई थी, उसपर आंग्ल-आगमन के बाद हिन्दी के चार उन्नायकों ने हिन्दी-भाषा-प्रासाद की बुनियादें खोद कर तैयार की थीं। इसके बाद भारतेन्दु ने अपने समकालीन साहित्य-मित्रों को लेकर उन बुनियादों को भर कर भवन का एक ढांचा खड़ा कर दिया था। इस ढांचे पर देखते ही देखते द्विवेदी जी और इन सब समर्थ प्रतिभाशाली मेधावी जनों ने जो एक सर्वाङ्गपूर्ण, सर्वाङ्ग-सुन्दर हिन्दी-भाषा-प्रासाद खड़ा कर दिया वह न केवल देखने में आकर्षक और कलापूर्ण था, प्रत्युत उसमें सम्पूर्ण प्रासाद-गुण, विकास और आधुनिकता का प्रतिनिधित्व एवं अमरत्व के लक्षण भी थे। उसे सर्वतोभावेन जीवनोपयोगी, सुविधाजनक और जीवन से ओतप्रोत आधुनिक कलाकारों ने किया।

अध्याय दूसरा

आचार्य द्विवेदी

जन्म ई० सन १८७१ मृत्यु १९३९ पूर्णायु ६८ वर्ष

द्विवेदी जी का जन्म रायबरेली जिले के दौलतपुर गांव में हुआ। गांव के मदरसे में ही इन्होंने हिन्दी, उर्दू की प्रारम्भिक शिक्षा पाई। फिर अपने चचा दुर्गाप्रसाद के प्रबन्ध से संस्कृत-व्याकरण, दुर्गासप्तशती, विष्णुसहस्रनाम, शीघ्रबोध, मुहूर्तचिन्तामणि आदि पढ़े। इसके बाद रायबरेली के हाई स्कूल में अंग्रेजी, फ़ारसी पढ़ी। उन दिनों स्कूलों में संस्कृत नहीं पढ़ाई जाती थी। कुछ दिन बाद ये विविध स्कूलों में पढ़ते रहे फिर अपने पिता के साथ बम्बई चले गये। वहां मराठी, गुजराती सीखी। बाद में रेलवे में नौकरी कर ली। पीछे जी० आई० पी० में तार-बाबू हो गये। कुछ दिन बाद टेलीग्राफ़ इन्स्पेक्टर होकर झांसी आए। इस समय इन पर कानपुर से इटारसी और आगरे से मानिकपुर तक सारी लाइन की जिम्मेदारी थी। इन्होंने इन्हीं दिनों तार सम्बन्धी एक पुस्तक भी लिखी। कुछ दिन बाद ये हैड-टेलीग्राफ़-इन्स्पेक्टर और फिर डिस्ट्रिक्ट-ट्रैफ़िक-सुपरिण्टेण्डेण्ट

के चीफ़ क्लर्क हो गये । झांसी में ही इन्होंने बंगला तथा संस्कृत-साहित्य, काव्य और अलंकार का अभ्यास किया । एक अवसर पर अफ़सर से झड़प होगई और ये सब छोड़ छाड़कर घर चले आये ।

सन १९०३ में जब इन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार लिया, तब इनका वास्तविक साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हुआ। इनकी प्रतिभा और प्रभाव बड़ी तेज़ी से हिन्दी संसार पर प्रकट होने लगा और इन्होंने अपने जीवन का प्रत्येक क्षण हिन्दी के संस्कार और शृङ्गार ही में व्यतीत किया। इनकी सदैव यही चेष्टा रही कि कठिन से कठिन विषय को सरल ढंग पर लिखा जाय ।

तीन महत्कार्य—

इन्होंने अपने युग में तीन बड़े कार्य किये । १. भाषा-संस्कार—इन्होंने लेखकों पर अंकुश रखा । अब तक जो जैसे चाहता लिखता था; कोई पूछने वाला न था । न आलोचना करने वाला कोई था । लेखक अपने लेखों के दोष नहीं देख पाते थे । द्विवेदी जी ने अत्यन्त सतर्कता से भाषा-संस्कार किया । सब से पहले उन्होंने लेखकों के व्याकरण सम्बन्धी दोषों की आलोचना करनी प्रारम्भ की और उन्हें व्याकरण के अनुशासन में रहने को विवश किया । इसका परिणाम बहुत शुभ हुआ । लेखक सम्हलने लगे । उनकी उन दुर्बलताओं का—जिनकी भारतेन्दु-युग में बहुलता थी—विनाश होने लगा । द्विवेदी जी के ही प्रयत्न से विरामादि चिह्नों पर भी ध्यान दिया जाने लगा ।

गद्य-शैली का विकास-विस्तार—गद्य-शैली के विकास-विस्तार में द्विवेदी जी को अथक परिश्रम करना पड़ा । जब उन्होंने लेखनी उठाई थी तब विशेष विशेष विषयों की शैलियां निश्चित नहीं हुई थीं । द्विवेदी जी ने आदर्श के लिये भाषा का निश्चित रूप उपस्थित करना आवश्यक समझा ।

उन्होंने गद्य के विकास में उदार नीति अपनाई और अन्य भाषाओं के शब्द और कहीं कहीं परिपाटी को भी अनायास ही हिन्दी में आत्मसात् कर लिया । हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी आदि भाषा के शब्दों को वे उपयुक्त होने पर बेधड़क काम में लाने लगे । धीरे धीरे उनका शब्द-चयन बड़ा शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण हो उठा । शब्दों के सम्यक् उपभोग और सुगठित होने के कारण उनके वाक्य मज़बूत और स्पष्ट होने लगे । छोटे छोटे वाक्यों में कान्ति और चमत्कार उत्पन्न होगया और उनमें बड़ी ही सफ़ाई से गूढ़ विषयों की अभिव्यंजना होने लगी । उनके ये वाक्य अपनी उठान और प्रगति में अभिभाषण के समान

शक्तिशाली प्रतीत होने लगे। वाक्यों का संगठन वे इस प्रकार करते थे कि किस वाक्य के किस शब्द पर कितना बल देना होगा, कहां विरामादि का अवरोध मानना होगा और किस प्रकार वाक्य पढ़ना होगा। इसका पाठकों को अनायास ही आभास होने लगा।

भाव-प्रकाशन की व्यवस्था—तीसरी बात जो द्विवेदी जी ने की वह भाव-प्रकाशन की मर्यादित व्यवस्था थी। इसके लिये उन्होंने तीन प्रकार निर्धारित किये। (१) व्यङ्गात्मक (२) आलोचनात्मक (३) गवेषणात्मक। तीनों प्रकारों के लिये तीन भिन्न २ शैलियों का विधान रखा। ये बातें प्रथम भी थीं, पर उनका कोई स्थिर रूप न था। द्विवेदी जी की इन शैलियों की भाषा भिन्न २ है। भाव के साथ साथ उसमें भी अन्तर होता जाता है।

उनकी व्यङ्गात्मक शैली की भाषा एक दम व्यावहारिक थी। यह वह भाषा थी जिसमें साधारण पढ़ी-लिखी जनता भी रस ले सके। वह बोलचाल की चलती भाषा थी। इसमें थोड़ी उछल-कूद और चुटकियां काटना भी था, मसखरापन भी चलता था। देखिए उदाहरण —

"इस म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन जिसे अब लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं श्रीमान् बूचाशाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आप के घर भरा पड़ा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन सिर्फ़ इस लिये हुए हैं कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमैंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायं और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्यूनिसिपैलिटी का काम चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेम्बर बाबू बख्शिशराय—आपके साले साहेब ने फ़ी रुपया तीन चार पंसेरी का भूसा (म्युनिसिपैलिटी को) देने का ठेका लिया है। आपका पिछला बिल १० हज़ार रुपये का था। पर कूड़ा-गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफ़ाई के इन्स्पैक्टर हैं लाला सतगुरुदास। आपकी इन्स्पैक्टरी के ज़माने में हिसाब से कम तनख़ाह पाने के कारण मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं।"

अब पाठक भाषा, भाव, शब्द-चयन, विरामादि के उतार-चढ़ाव सब कुछ देख लें, व्यंग भी देख लें। अब इनकी आलोचना-शैली भी देखिए—

"....किसी किसी का ख़याल था कि यह भाषा देहली के बाज़ार ही की बदौलत बनी है, पर यह ख़याल ठीक नहीं। भाषा पहले ही से विद्यमान थी और

उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रान्त में बोला जाता है। बात केवल यह हुई कि मुसलमान जब यह बोली बोलने लगे तब उन्होंने उसमें अरबी फ़ारसी के शब्द मिलाने शुरू कर दिए, जैसे कि आजकल संस्कृत जानने वाले हिन्दी बोलने में आवश्यकता से ज़यादा संस्कृत शब्द काम में लाते हैं।"

यह है द्विवेदी जी की आलोचना की भाषा। इसमें उर्दू के भी तत्सम शब्द हैं और संस्कृत के भी। वाक्यों में बल कम नहीं हुआ है पर गम्भीरता बढ़ गई है। इसमें वह व्यंग, मसख़रापन और उच्छृंखलता नहीं है जो दूसरे उदाहरण में है। इसमें शक्तिमान् शब्दों में प्रतिपाद्य विषय को स्थिरता से प्रतिपादन किया गया है।

द्विवेदी जी की गवेषणात्मक भाषा का भी एक उदाहरण देखिए—

"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग हैं। उनका सम्बन्ध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिणाम समझ लेना बहुत कठिन है। इसी लिए प्रतिभावान् पुरुषों में कभी २ विक्षिप्तता के कोई कोई लक्षण मिलने पर भी बहुत मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते।"

यह भाषा पुकार २ कर कह रही है कि इसमें गम्भीर विषय का विवेचन हो रहा है। द्विवेदी जी रोषावेश में एक विशिष्ट शैली का प्रदर्शन करते थे।

उन्होंने कई उपयोगी पुस्तकें तो लिखीं ही, फुटकर लेख भी बहुत लिखे। परन्तु उनके निबन्धों में नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ २ नए विचारों की उद्भावना बहुत कम मिलती है। प्रायः वे गम्भीर विषयों पर भी केवल मोटी २ बातें मोटे तौर पर कहते थे। उनके विचारों की वह गूढ़-गुंफित परम्परा नहीं दीख पड़ती, जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। उनकी गद्य-शैली ही यह थी कि नपे-तुले वाक्यों को कई बार शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ कहा जाय, जैसे शान्तभाव से किसी को कोई विषय समझाया जाता रहा हो।

पद्य का नूतनीकरण—

गद्य की भांति द्विवेदी जी ने पद्य-प्रवाह की गति भी बदल डाली। उन्होंने सब से बड़ी बात यह की कि संस्कृत छन्द, शैली और भाव-प्रदर्शन की सीधी छाया हिन्दी पद्यों पर डाली। पुरानी धारा के हिन्दी-कवियों की दृष्टि

प्राकृत, अपभ्रंश और रीति की जिन शैलियों पर थी द्विवेदी जी की पद्धति उनसे पृथक् थी। इससे हिन्दी में परम्परा से व्यवहृत छन्दों के स्थान में संस्कृत के वृत्तों का हिन्दी में चलन हो गया। इससे यह फल हुआ कि रीतिकाल में रसों और अलंकारों के उदाहरणों के स्वरूप में रचना होने से तथा कुछ छन्दों की परिपाटी बंध जाने से हिन्दी कविता जकड़ गई थी। हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने नए २ विषयों के प्रति प्रवृत्ति दिखाई अवश्य थी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी थी। पद्यों के ढांचे, अभिव्यंजना की पद्धति और प्रकृति-निरीक्षण आदि में स्वच्छन्दता के दर्शन नहीं हुए थे।

द्विवेदी जी सरस्वती द्वारा बराबर बोल-चाल की भाषा में कविता करने का आग्रह करते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही काल में इतिवृत्तात्मक पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लग गया। इन्होंने विविध विषयों पर ४० के लगभग ग्रन्थ रचे।

खड़ी बोली के पद्यों के प्रचलन पर द्विवेदी जी ने बहुत जोर दिया। स्वयं द्विवेदी जी ने खड़ी बोली और साथ ही संस्कृत वृत्तों में भाव-व्यंजक रचनाएं कीं और उत्साहित करके अनेक प्रतिभाशाली कवियों को इस मैदान में उतारा, जिनमें मैथिलीशरण का स्थान मुख्य है। इनके अतिरिक्त गोपालशरणसिंह, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय भी द्विवेदी जी की प्रेरणा से प्रख्यात कवि हुए। इसी समय में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय और श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली में रचनाएं प्रारम्भ कीं। पाठक जी का 'श्रांतपथिक' गोल्डस्मिथ के अंग्रेजी काव्य से अनुवादित होकर भाव, भाषा और शैली में एक क्रान्ति लेकर आया। उधर उपाध्याय जी का 'प्रियप्रवास' संस्कृत वृत्तों में अवतरित हुआ। इन लोगों की फुटकर रचनाएं भी इसी काल में पत्र-पत्रिकाओं को सरस करने लगीं; जिनमें उपाध्याय जी के 'चौपदों' का खूब रंग जमा। नाथूराम शंकर, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, लाला भगवानदीन और रामनरेश त्रिपाठी इस काल के उल्लेखनीय कवि हैं।

पद्य-शैली के विचार से 'संस्कृत के वर्णवृत्त' हिन्दी के मात्रिक छन्द और उर्दू बहर तीनों ही शैलियों में रचनाएं हुईं। वर्णवृत्तों में तुकांत और अतुकांत दोनों प्रकार की रचनाएं हुईं। मात्रिक छन्दों से भी कुछ लोगों ने तुकान्त हटाए। पं० श्रीधर पाठक और प्रसाद खास तौर पर इस सम्बन्ध में अग्रगण्य हैं। उर्दू बहरों में फुटकर और प्रबन्धात्मक दोनों प्रकार की रचनाएं हुईं। पर सब से अधिक रचनाएं पद्य-निबन्धों की हुईं। छोटे २ कथा-खण्डों को लेकर कुछ दूर तक पद्यबद्ध रचना करने का विशेष प्रचार हुआ। ये पद्य-प्रबन्ध कथात्मक,

वर्णनात्मक और उपदेशात्मक तीनों ही प्रकार के होते थे। पद्य की भाषा में बहुरूपता भी प्रकट हुई । कुछ कवि तो गद्यात्मक रूप के ही समर्थक होगए । पर कुछ ने आवश्यकतानुसार व्रज के प्रत्ययों, अव्ययों और नामधातु क्रियाओं के प्रयोग किए । जो छन्द उर्दू बहरों में लिखे गये उनकी भाषा में अरबी, फ़ारसी मिश्रित शब्द ग्रहण हुए और वर्णवृत्तों में संस्कृत-शब्द-बहुल पदावलि और लम्बे २ समासों का व्यवहार हुआ । इस युग में काशी, प्रयाग और कानपुर हिन्दी-साहित्य के निर्माण के केन्द्र हुए । विश्वविद्यालयों में भी उच्च कक्षाओं में हिन्दी को स्वतन्त्र विषय मान लिया गया ।

इसी काल में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की भी स्थापना हुई । इस से लोग हिन्दी परीक्षाओं के लिये भी तैयार हुए । इसका प्रभाव विभाषी प्रान्तों में भी बढ़ा और हिन्दी का प्रसार हुआ । हिन्दी की सैंकड़ों पत्र-पत्रिकाएं देशभर में निकलने लगीं । इस प्रकार इस युग में हिन्दी में शुद्ध साहित्य के सिवा अन्य विषयों पर भी बहुत सा वाङ्मय निर्माण किया गया ।

स्वयं द्विवेदी जी ने व्याकरण की व्यवस्था करने के बाद हिन्दी भाषा-भाषियों को मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में निकलने वाले पत्रों और विविध विषयों के लेखों से परिचित कराने में भी बड़ा उत्साह दिखाया । भारतेन्दु ने जिन लोकोपयोगी विषयों की ओर केवल प्रवृत्ति दिखाई थी, द्विवेदीजी ने उन सब विषयों की ओर हिन्दी की गति को उन्मुख करके उसके विकास को प्रशस्त कर दिया । उन्होंने उन सब विषयों की ओर हिन्दी को अग्रसर किया जो अंग्रेज़ी जैसी सम्पन्न भाषा में हैं । इस लिये हिन्दी के व्याकरण, कोश, वैज्ञानिक शब्दावली और इतिहास की आवश्यकता होने लगी । नागरी-प्रचारिणी-सभा के संचालकों ने इन सब आवश्यकताओं को धीरे २ पूर्ण करने में स्तुत्य कार्य किया ।

अध्याय तीसरा

भाषा-संस्कार की सिविल-वार

द्विवेदी जी के नेतृत्व में भाषा-संस्कार को लेकर इस युग के प्रारम्भ ही में एक सिविल-वार छिड़ गई। व्याकरण की मर्यादा पालन करने पर द्विवेदी जी ने बहुत जोर दिया और उनके इस आन्दोलन में तीन व्यक्तियों ने उनका बहुत कुछ हाथ बटाया। ये तीन व्यक्ति थे (१) पं० गोविन्दनारायण मिश्र (२) कामताप्रसाद गुरु और (३) चन्द्रधर शर्मा गुलेरी।

भाषा की लड़खड़ाहट—

अभी तक भाषा के गद्य का पक्का रूप स्थिर नहीं हुआ था। भाषा लड़खड़ाती चलती थी, लेखकों का ध्यान केवल इसी ओर था कि विविध प्रकार के भावों को व्यंजित करने की शक्ति भाषा में उत्पन्न हो जाय। पहले उसका कोई रूप स्थिर हो जाय, तब उसका विहित रूप से संस्कार हो।

भारतेन्दु-काल के लोगों की भाषा में व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियां तो रहती थीं, परन्तु वह होती हिन्दी ही थी। मुहावरों की उसमें भरमार रहती थी, परन्तु भाषा की रूप-हानि की ओर इन लेखकों का बिल्कुल ध्यान नहीं था।

व्याकरण की अवहेलना और विराम-चिन्ह—

तब तक लोग व्याकरण के नियमों की परवा नहीं करते थे। जिनके गुणवाचक 'शान्त' को 'शान्ति' भाववाचक संज्ञा और 'नाना देशों में' 'श्यामताई' 'जात्याभिमान' 'उपरोक्त' 'इच्छा किया' 'आशा किया' आदि प्रयोग व्याकरण की अवहेलना को प्रकट कर रहे थे। विराम-चिन्हों के परिज्ञान का भी यही हाल था। कोई उनकी विशेष परवा नहीं करता था। प्रत्येक लम्बे वाक्यांश के बीच कुछ चिन्हों की आवश्यकता अवश्य ही पड़ती है। उन्हीं की सहायता से हम एक वाक्यांश का सम्बन्ध दूसरे से जान सकते हैं। यदि इन चिन्हों की अवहेलना की जाय तो वाक्य का अभीष्ट अभिप्राय संदेह में पड़ जायगा अथवा साधारण अर्थ ही समझना कठिन हो जायगा। पं० प्रतापनारायण मिश्र यदि व्याकरण के इस अंग पर ध्यान देते तो उनकी शैली अधिक व्यवस्थित और स्पष्ट हो जाती। मिश्र जी कहीं २ इन चिन्हों का प्रयोग करते तो थे पर नियमित रूप से नहीं। इन चिन्हों ही के अभाव से उनकी भाषा-शैली की बोधगम्यता कम हो गई थी।

रूढ़ि की एक क्षीण धारा—

द्विवेदी जी और उनके सहकारी जब भाषा-संस्कार में तन मन से जुट रहे थे तब जो पुराने लेखक उनके सुधारों की परवा न कर प्राचीन परिपाटी पर ही चले जा रहे थे, उनमें अम्बिकादत्त व्यास का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। वे प्रगति के अपवाद स्वरूप थे और इस समय भी भाषा की प्राचीनता का आभास दे रहे थे। व्यास जी की भाषा के चलताउपन और सरलता के क्या कहने थे? उसमें वक्तृता के प्रवाह का आनन्द था। वे स्थान २ पर एक ही बात को उसमें बल लाने के लिये बार २ दुहराते थे। परन्तु उनकी भाषा अपने समय की भाषा के साथ मेल नहीं खाती थी। वे अभी तक 'इनने' 'उनने' 'के' (कर) 'सो' (अतः या वह) 'रहैं' 'चाहैं' 'बेर' आदि शब्दों के प्रयोग करते थे। 'तो' और 'भारी' की तो ऐसी बेतुकी मौक़े बे-मौक़े भरमार इन्होंने कर रखी थी कि इनकी भाषा में एक प्रकार का गंवारूपन झलकने लगा था। वे विरामादि चिह्नों की भी परवा नहीं करते थे और उनका प्रयोग मौक़े-बे-मौक़े कर बैठते थे। 'भगवान के शरण' 'सूचना करने' (देने) 'दर्शन किए' आदि वाक्य लिखते थे। विभक्तियों के भी बहुधा भद्दे और अव्यवहार्य प्रयोग कर बैठते थे। 'उसी को दिवाली अन्नकूट होता है' (उसी के लिये दिवाली में अन्नकूट होता है) कहीं २ वे विभक्तियों को साफ़ उड़ा जाते थे, 'उसी नाम ले' (उसी का नाम लेकर)

इन सब कारणों से इनकी भाषा में यह एक दोष हो गया कि उसका काल-निर्णय नहीं हो सकता था क्योंकि अपने काल के भाषा-संस्कार का उन पर कोई असर ही नहीं था। वह द्विवेदी-युग की भाषा नहीं प्रतीत होती थी। देखिये इस भाषा का नमूना—

"....प्रश्न यह है कि दूसरे के पूजन से दूसरे का संतोष कैसे? प्रश्नकर्ता का तात्पर्य ऐसा जान पड़ता है कि तुम पत्थर मिट्टी की पूजा करते हो इससे वह क्यों कर प्रसन्न हो सकता है। पर यह कैसी भूल है!! हम कभी पत्थर मिट्टी की पूजा नहीं करते, किन्तु पत्थर मिट्टी के आश्रय से उसी सच्चिदानन्द परम पुरुष की पूजा करते हैं। जिस प्राणप्यारे से मिलने की हमें जन्म जन्मान्तर से प्यास चली आती है। और जिसके बिना हमें जगत कहर सा जान पड़ता है, उसे हम सर्वव्यापक सुनते हैं।......

"चुप रहने से तो भया बस नास्तिक के भी परदादा भये, ईश्वर को माना जैसे न माना और सिर झुकाया, तो आप ऐसे बुद्धि के अजीर्ण वाले पुरुष कह उठेंगे कि आप तो दिक पूजक हैं यदि हम 'ईश्वराय नमः' कहेंगे कि आप तो 'ईश्वर' इन अक्षरों के पूजक हैं। पर क्या सचमुच आप ऐसी टोक टाक कर सकते हैं कभी नहीं......"

अब आप इस तार्किक वाद-विवाद की भाषा को देखिए। इसमें 'इससे वह क्यों कर प्रश्न हो सकता है' 'तो भया नास्तिक के भी परदादा भये' 'कहैंगे' 'उठैंगे' 'हमारे आपके इतना ही भेद रहा' इत्यादि पदों का पुराना पण्डिताऊपन साफ़ ही दीख पड़ता है। वास्तविक बात यह थी कि भारतेन्दु-कालीन लेखक-मण्डल का लक्ष्य मनोरंजक गद्य की भावना था। शिक्षित समुदाय अब इस हिन्दी गद्य में रस लेने लगा था।

द्विविध गद्य—

परन्तु इस युग में लेखकों की दो जातियां बन गई थीं। एक उन लेखकों की जो हिन्दी लिखने के लिये संस्कृत शब्दों का ज्ञान होना यथेष्ट समझते थे। और वे उन्हें बंगला पुस्तकों से ले लेते थे। बंगला भाषा और उसमें बिखरे हुए संस्कृत शब्दों की थोड़ी बहुत जानकारी होते ही वे बंगला पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करने लगते थे। दूसरे वे अंग्रेज़ीदां लेखक थे जो अंग्रेज़ी भाषा के सम्पन्न-साहित्य से बहुत प्रभावित थे उन्होंने पूरी हिन्दी सीखने से प्रथम ही हिन्दी लिखना प्रारम्भ कर दिया था। उनकी भाषा के दोष उनकी भारी डिग्री के लिहाज़ से दरगुज़र कर दिये जाते थे। इन दोनों जातियों के लेखकों की भाषा की भी दो जातियां बनती जाती थीं। जो बंगला से प्रभावित थे वे 'सिहरना' 'काँदना' 'बसंत रोग' आदि शब्दों को हिन्दी में ले आते थे, और अंग्रेज़ी प्रभावित जन 'स्वार्थ लेना' 'जीवनहोड़' 'दृष्टिकोण' आदि शब्दों को घड़ कर अपनी भाषा में फ़िट कर रहे थे। इन दोनों में बंगला प्रभावित भाषा हिन्दी के लिये अधिक स्वाभाविक सी थी क्योंकि उसके प्रयुक्त संस्कृत शब्द स्थल के अनुरूप होते थे। हिन्दी में 'पराए' भी नहीं प्रतीत होते थे। अंग्रेज़ी प्रभावित लेखक भी संस्कृत-बहुल भाषा लिखते थे, पर वह हिन्दी और संस्कृत शब्दों का ढेर होती थी, भाषा नहीं : उनके वाक्यों के तात्पर्य तब तक नहीं समझे जा सकते थे जब तक कि पाठक अंग्रेज़ी भाषा से परिचित न हों। इन सब कारणों से भाषा की अस्थिरता, रूप-हानि और व्याकरण का व्यतिक्रम ये तीन ऐसे भारी दोष थे जिनसे भाषा को मुक्त करना आवश्यक था।

द्विवेदीजी और उनके सहकर्मियों ने जब दृढ़ता और सतर्कता से इन दोनों का निराकरण प्रारम्भ किया तो उन्हें बहुतों का विरोध सहना पड़ा। अनेकों का कोपभाजन भी बनना पड़ा। परन्तु द्विवेदीजी मुस्तैदी से इस भाषा-संस्कार में जुट गए। बड़े यत्न से व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई करने लगे। सरस्वती के सम्पादन-काल में आई हुई पुस्तकों में व्याकरण और भाषा की अशुद्धियों को दिखा २ कर इन्होंने लेखकों को बारम्बार सावधान किया। अनेक हठी लेखक उन से

अड़ जाते थे। परन्तु द्विवेदीजी के संकेत-चिह्नों पर अनेक लेखकों ने अपनी भाषा का संस्कार करना सीख लिया। उन दिनों पत्रों में व्याकरण सम्बन्धी चर्चा चलती रहती थी। विभक्तियां शब्दों से मिला कर लिखी जायं या अलग, इसकी खूब चर्चा हुई। इस आन्दोलन के नायक हुए पं० गोविन्दनारायण मिश्र। व्याकरण पर पं० कामताप्रसाद गुरु ने परिश्रम करना प्रारम्भ कर दिया। और गुलेरीजी ने भाषा की प्रौढ़ता, विचारों और भावों की एकरूपता लेखों में लाने तथा शुद्ध व्यवस्थित भाषा लिखने की परिपाटी चलाई। ऐसे लेखकों की संख्या जिनकी शैली में कुछ विशेषता रहती थी बढ़ने लगी, वाक्य-विन्यास स्पष्ट और शुद्ध होने लगे। विराम चिन्हों के यथास्थान उपयोग होने लगे। भाषा में अर्थोद्घाटिनी शक्ति का भी काफ़ी विकास हुआ। अभिव्यंजना-प्रणाली में आधुनिकता आई। विचारधारा को धारावाही रूप में प्रवाहित करने तथा गूढ़ भावों और गुंफित विचारों को व्यक्त करने की शक्ति भाषा में उत्पन्न हो गई।

सब से पहले पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने 'विभक्तिविचार' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें इन्होंने विभक्तियों को शब्दों में मिला कर लिखने की सलाह दी। इसके बाद पं० कामताप्रसाद गुरु ने 'भाषा-वाक्य-पृथक्करण' तथा 'सहज-हिन्दी-रचना' नामक पुस्तकें लिखीं। परन्तु इनका इस विषय का सब से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'हिन्दी व्याकरण' था जिसकी आगे प्रशंसा हुई। इसे काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने प्रकाशित किया था। सभा ने इसके संशोधन के लिए एक कमेटी भी नियुक्त की थी, जिसने इस पुस्तक को अद्वितीय कहा था। बाद में मध्यप्रदेश की सरकार ने इन्हें इस पुस्तक पर स्वर्णपदक भी दिया था। गुरु जी ने व्याकरण सम्बन्धी ज्ञानार्जन के लिए संस्कृत, गुजराती, बंगला, मराठी आदि अनेक प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन किया था और इसी से ये अपने समय में हिन्दी व्याकरण के अद्वितीय आचार्य माने गये थे।

पं० गोविन्दनारायण मिश्र का जन्म सन् १८६० ई० में हुआ था। ये संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने अनेक पत्रों का सम्पादन किया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन के सभापति भी रहे। इनका व्याकरण सम्बन्धी विचार संस्कृतकी पद्धति पर था। इन्होंने 'शिक्षा-सोपान' और 'सारस्वत-सोपान' नामक और भी दो ग्रन्थ लिखे तथा अपने फुफेरे भाई पं० सदानन्द मिश्र से मिलकर 'सारसुधानिधि' पत्र में कई लेख लिखे। इनमें 'कवि और चित्रकार' नामक लेख महत्त्वपूर्ण है। ये बाण और दण्डी के ढंग पर गद्य लिखते थे। इनका गद्य समास, अनुप्रास में गुथे शब्द-गुच्छों का एक गुलदस्ता समझना चाहिए।

भारतेन्दु-कालीन लेखक जहां 'उचित' 'उत्पन्न' 'उच्चरित' 'नव' आदि शब्दों का प्रयोग अधिक करते थे, वहां ये 'समुचित' 'समुत्पन्न' 'समुच्चारित' का प्रयोग करते थे। 'मृदुता' 'कटुता' 'कुटिलता' 'सुकरता' 'समीपता' आदि के स्थान पर 'मार्दव' 'कौटिल्य' 'सौकर्य' 'सामीप्य' 'मार्जव' आदि का प्रयोग ये करते थे। इस समय तक भी इस बात पर विचार नहीं किया गया था कि गद्य का मूलस्वरूप ऐसा होना चाहिए जो विचार-पद्धति को उन्नत करने वाला हो। इनकी लेख-शैली देखिए—

"......**मुक्ताहारी नीरक्षीर-विचार-सुचतुर-कवि-कोविद-राज-राजहिय-सिंहासन-निवासिनी मन्दहासिनी, त्रिलोक-प्रकाशिनी सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणों से प्यारे पुत्रों को अनुपम अनोखी अतुलबलवाली परम प्रभावशाली सुजन-मन-मोहिनी नव-रस भरी सरस सुखद विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य है।**"

इनके कुछ निबन्धों का संग्रह 'गोविन्द निबन्धावली' के रूप में छपा है।

पं० कामताप्रसाद गुरु का जन्म ई० सन् १८७५ में सागर (C. P.) में हुआ था। ये हाई स्कूल की शिक्षा समाप्त करके सागर-हाई-स्कूल में पहले शिक्षक नियत हुए, फिर एक मिडिल स्कूल के हैडमास्टर और उसके बाद स्कूलों के डिप्टी-इन्स्पैक्टर हो गये थे। पीछे ये रायपुर में उड़िया के अध्यापक हो गए। वहां से फिर जबलपुर-मेल-नार्मल-स्कूल में बदल दिए गए। यहीं आपका अधिक जीवन व्यतीत हुआ। जब तब ये बहुधा पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखा करते थे जो गद्य पद्य दोनों में होते थे। कुछ दिन बाल-सखा और सरस्वती का भी इन्होंने सम्पादन किया था। ये हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू, उड़िया के भी जानकार थे। इनके लिखे और अनुवादित ग्रन्थ ८-१० हैं, तथा इन्होंने एक सौ के लगभग लेख और पद्य पत्र-पत्रिकाओं में लिखे। इनकी समालोचनाएं बड़ी महत्त्वपूर्ण होती थीं। इन्होंने ५० वर्ष हिन्दी की सेवा की।

द्विवेदीजी के साथ हिन्दी भाषा को सांस्कृतिक रूप देने की लड़ाई में जिन तीसरे सज्जन ने योग दिया, वे थे पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी। व्याकरण के विविध विषयों पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा, और भाषा-संस्कार में द्विवेदी जी का काफ़ी हाथ बंटाया। इन्होंने पुरानी हिन्दी पर गवेषणापूर्ण लेख लिखे। विविध साहित्य का एक सम्पन्न ढांचा निर्माण किया।

इनका जन्म ई० स० १८८४ में जयपुर में हुआ। इनके पूर्वज कांगड़े ज़िले के गुलेर नामक स्थान के निवासी थे। चन्द्रधर जी संस्कृत और अंग्रेज़ी के

गम्भीर पण्डित तथा एक अध्ययनशील पुरुष थे। बहुत दिनों तक वे अजमेर के मेयो कालेज में अध्यापक रहे। यह कालेज राजकुमारों के लिये है। उनके तेजस्वी स्वभाव की एक घटना हमें अभी भी स्मरण है। किसी कार्यवश उनसे मिलने मेयो कालेज जाना पड़ा था। उस समय वे जोधपुर के भावी युवक राजा से नाराज़ हो रहे थे, राजकुमार ने उनका बताया हुआ लेख नहीं लिखा था। गुलेरी जी कह रहे थे—'इसे अभी यहीं बैठकर लिखो, और राजकुमार का कहना था कि यह पोलो खेलने का समय है, कल लिख दूंगा। परन्तु गुलेरी जी अड़ रहे थे। राजकुमार ने क्रुद्ध होकर कहा—'आपको यह नहीं भूलना चाहिये कि आप जोधपुर के राजा के साथ ज़्यादती कर रहे हैं।' इसपर गुलेरी जी ने कहा—'तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि तुम जोधपुर के राजा के गुरु के प्रति बे-अदबी कर रहे हो, बैठ जाओ, और लेख लिखो।' वे इतना कह कर हम लोगों से बात करने लगे।

गुलेरी जी की लेखन-शैली अनूठी थी। जब प्रयाग से सरस्वती का प्रकाशन होना प्रारम्भ हुआ तभी इन्होंने जयपुर से 'समालोचक' पत्र निकालना प्रारम्भ किया था। इनकी लेखन-कला में गम्भीर शिष्ट-हास की वह छटा दीखती थी जो उस समय अन्यत्र नहीं थी। इनका प्रसंग-गर्भत्व देख कर इनके अध्ययन का पता चलता था। व्याकरण जैसे विषयों पर भी ये हास्य बखेरते थे। देखिए इनके गद्य का नमूना—

"पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे, आर्य सप्त-सिन्धुओं को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। वे आगे चल दिए। पीछे वे दबाते आए। विष्णु ने अग्नि, यज्ञपात्र और अरणी रखने के लिये तीन गाड़ियां बनाईं। उसकी पत्नी ने उसके पहियों की चूल को घी से ओज दिया। ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ में लिए हुए यह 'कारवां' मुंजवत् हिन्दुकुश के एक मित्र दर्रे खैबर में होकर सिन्धु की एक घाटी उतरा।"

जीवन के अन्तिम दिनों में गुलेरी जी हिन्दू-विश्व-विद्यालय-में ओरिएन्टल कालेज के प्रिन्सिपल होकर काशी चले गए थे—पर दुर्भाग्य से उनका शीघ्र ही शरीरांत होगया। इनकी एक कहानी 'उसने कहा था' काफ़ी प्रसिद्ध हुई।

माधवप्रसाद मिश्र एक प्रेमी और सुलेखक थे। वे सनातनधर्म और भारतीय-संस्कृति के पूरे समर्थक थे। इनकी शैली प्रौढ़ और भाषा तीखी

होती थी । भिवानी के पास देहात के निवासी होने के कारण इनकी भाव और भाषा में पंजाब और मारवाड़ दोनों ही की झलक आ पड़ी थी । प्रयाग से जिस साल सरस्वती का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ उसी साल इन्होंने काशी से बा० देवकीनन्दन खत्री के सहयोग से 'सुदर्शन' नामक मासिक-पत्र निकाला जो केवल दो वर्ष चल कर बन्द होगया । इसी अल्पकाल में इस पत्र के कालमों में मिश्र जी ने अपनी शक्तिशालिनी लेखनी का चमत्कार दिखा दिया । एक बार पं० चन्द्रधर गुलेरी ने इनके विषय में लिखा था कि 'मिश्र जी बिना किसी अभिनिवेश के लिख ही नहीं सकते । यदि हमें उनसे लेख लिखाने हैं तो सदा एक न एक टंटा उनसे छेड़ ही रखा करें ।'

मिश्रजी में वास्तव में ऐसी ही लहर थी । जहां-कहीं हिन्दू संस्कृति के विपरीत या प्राचीन कवि-परम्परा के विरोध में कुछ सुना—भड़क उठते । फिर अपनी कलम से दुधारा वार करते थे । उनके इस लेख-युद्ध में तर्क, आवेश और भावुकता का अद्भुत मिश्रण रहता था । एक बार पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने अपनी 'नैषध-चरित-चर्चा' में नैषध के कई पद्यों को अत्युक्तिपूर्ण और असामयिक कह दिया था । बस फिर क्या था । बारूद में चिनगारी लग गई, खूब डट कर द्विवेदी जी की खबर ली गई । लगे-हाथ नई कविता के हिमायती श्रीधरपाठक को भी उनकी तत्कालीन नवप्रसूत 'गुनवन्त-हेमन्त' नामक कविता के लिये, जिसकी द्विवेदी जी प्रशंसा कर चुके थे—झपेट में ले लिया गया ।

वे भारी स्वदेश-प्रेमी थे; पगगड़बाज पण्डित नहीं । राजनीतिक आन्दोलनों में बराबर भाग लेते रहते थे । एक बार मालवीय जी ने जब छात्रों को राजनीतिक आन्दोलनों से दूर रहने की सलाह दी तब इन्होंने एक करारी 'खुली चिट्ठी, उनके नाम छपा कर प्रतिवाद किया था । इन्होंने स्वामी विशुद्धानन्द का बृहत् जीवन-चरित्र लिखा था । इसके सिवा कई जीवन-चरित्र, तथा पर्व, त्योहार, ऋतु आदि पर भिन्न २ निबन्ध लिखे । ऐसा मालूम होता है कि पत्रों में ऐसे निबन्धों की परम्परा जो भारतेन्दु-युग में चली, माधवमिश्र उसके अन्तिम लेखक थे । इसके बाद पत्रों में ऐसे निबन्ध लिखे ही नहीं गये । इनके गद्य का एक उदाहरण देखिए—

"....जहां महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अतलस्पर्शी जल था वहां अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी, किन्तु सुशीतल वारिधारा बह रही है । जहां के महा प्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे—वहां अब एक अन्धकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है, जिससे कभी २ यह भूभाग प्रकाशित हो जाता है ।"

खेद है इस उदीयमान लेखक की असामयिक मृत्यु प्लेग से केवल ३६ वर्ष की ही आयु में हो गई।

इनका केवल एक ही ग्रन्थ 'विशुद्धानंद का जीवन चरित्र' मिलता है।

इस प्रकार इधर भाषा-सुधार का आयोजन हो रहा था उधर कुछ नए लेखक ऐसे आगे आ रहे थे जिनकी शैली उनकी अपनी थी। उनकी लिखावट अलग परखी जा सकती थी। वे विराम-चिन्हों तथा वाक्य-विन्यास की सफ़ाई का ठीक प्रदर्शन कर रहे थे। वे अंग्रेज़ी आदि समुन्नत भाषाओं की उच्च विचारधारा से परिचित और हिन्दी पर अधिकार रखने वाले थे। उनके कारण हिन्दी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति का प्रसार हुआ।

अध्याय चौथा

निबन्धकार और समालोचक

डा० श्यामसुन्दरदास और पं० रामचन्द्र शुक्ल—

ये दोनों निबन्धकार इस काल के उत्तम लेखक हैं। भाषा भाव की अनुरूपिणी होकर कैसा मधुर स्वरूप धारण करती है, इसका नैसर्गिकरूप डा० श्यामसुन्दरदास की शैली में देखा जा सकता है। इन्होंने हिन्दी-भाषा-शैली को स्थायी प्रौढता प्रदान की। और उस में विचारों की वह उद्भावना-शक्ति उत्पन्न की जो इस काल की अमूल्य निधि है। डा० श्यामसुन्दरदास उन विद्वानों में थे, जिन्हें लेखक के उत्तरदायित्व का ज्ञान होता है और जो भाषा को अधिकाधिक व्यापक बनाने की सामर्थ्य रखते हैं। जिन विषयों पर उन्हें लिखना था उन विषयों का अभी हिन्दी-साहित्य में जन्म ही नहीं हुआ था। उन्होंने बिल्कुल अपरिचित स्थान पर अपना कौशल दिखलाया। यद्यपि उनके विचार मौलिक नहीं थे और उनमें अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का प्रतिबिम्ब था परन्तु इस बात की उन्होंने पूरी सावधानी रखी कि विषय का निदर्शन सम्यक् रीति से भी हो और सुबोध रीति से भी। उन्होंने अपनी रचना में 'उर्दू' के चलते शब्द जैसे 'खाली' 'दिल' 'बन्द' 'कैदी' 'तूफ़ान' आदि दिये हैं, परन्तु इन शब्दों का उन्होंने तद्भव-रूप ही काम में लिया है वह भी कहीं कहीं। इस से ऐसा मालूम होता है कि ये शब्द उनकी भाषा की बिरादरी में मिल गये हैं।

इसी प्रकार उनकी संस्कृत तत्समता में अव्यावहारिक एवं समासान्त पदावली का उपयोग नहीं पाया जाता, न व्यर्थ शब्दाडम्बर ही मिलता है। इसी



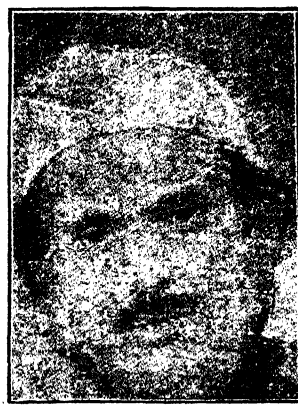
पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे



पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'



रायबहादुर डा० श्यामसुन्दरदास साहित्यरत्न



आनरेबल बा० सम्पूर्णानन्द 'शिक्षामन्त्री



बा० बालमुकुन्द गुप्त



भावकवि जयशंकर प्रसाद

कारण उनकी भाषा के शब्द-विधान में विशदता और उत्कृष्टता का काफ़ी पुट है। और उसमें धारावाही प्रवाह भी है। उनकी भाषा का उदाहरण—

"....सारांश यह है कि जैसे एक ही उद्गम से निकल कर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है, और कहीं पीनकाय और कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है। और जैसे कभी २ जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती है, और अनेक भूभागों से होकर बहती है वैसे ही हिन्दी साहित्य का यह इतिहास भी प्रारम्भिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है।" (साहित्यालोचन)

जहां कहीं जटिल विषय की गवेषणा करनी पड़ती थी, वहां उनकी भाषा कुछ क्लिष्ट भी हो जाती थी। देखिये—

"....भाषा-विज्ञान ने जातियों के प्राचीन इतिहास अर्थात् उनकी सभ्यता के विकास का इतिवृत्त उपस्थित करने में बड़ी अमूल्य सहायता दी है। पुरातत्व तो प्राप्त भौतिक पदार्थों अथवा उनके अवशेषों के आधार पर ही केवल प्राचीन समय का इतिहास उपस्थित करता है। प्राचीन जातियों के मानसिक विकास का ब्यौरा देने में वह असमर्थ है। भाषा-विज्ञान इस अभाव की पूर्ति करता है।"

इन्होंने हिन्दी की बहुत सेवा की तथा 'हिन्दी-शब्द-सागर' का सम्पादन निःस्वार्थ भाव से किया। इनकी रचनाओं में 'साहित्यालोचन' 'हस्तलिखित पुस्तकों की खोज के विवरण' तथा 'भाषा-विज्ञान' महत्त्वपूर्ण हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल—

शुक्ल जी हिन्दी के अच्छे निबन्ध-लेखक और आलोचक थे। उनकी भाषा परिष्कृत, प्रौढ़ और विशुद्ध है। उसमें विवेचना, चिन्तन एवं अनुभूति की व्यंजना निरन्तर प्रवाहित दीखती है। उनकी रचना में सर्वत्र एक सजीवता देखी जाती है। शुक्ल जी हिन्दी के उन लेखकों में से हैं, जिन्होंने हिन्दी-गद्य को व्यापक और प्रौढ़तम उत्कृष्टता का वर्तमान स्वरूप देने की चेष्टा की।

उनके निबन्धों में धारा-प्रवाह तो कुछ कम है पर विचार-प्रवाह बहुत है। भाषा में शब्दाडम्बर या भरती के शब्द नहीं मिल सकते। यहां तक कि बिना आवश्यकता के वाक्य पूरक 'है' भी नहीं मिलेगा। इसी से भावों के साथ वाक्य भी एक दूसरे से गुंथे रहते हैं। उन्होंने व्यावहारिक, सरल और बोधगम्य भाषा में मानव-जीवन से सम्बन्धित विषयों पर लेख लिखे हैं। उनकी रचना में मुहावरों और कहावतों का लगभग अभाव है।

"यदि किसी मित्र के आने की सूचना पाकर हम चुपचाप आनन्दित होकर बैठे रहें या थोड़ा हंस दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिये चल पड़ेंगे और उसके विश्राम इत्यादि का प्रबन्ध करने के लिए प्रसन्नमुख इधर से उधर दौड़ते हुए दिखाई देंगे।"

शुक्लजी ने उर्दू शब्दों का प्रयोग तत्सम-रूप में ही किया है। डा० श्यामसुन्दरदास की भांति उन्हें अपनाने का विचार इनका नहीं था। गवेषणात्मक प्रबन्धों के बाहर तो उन्होंने उर्दू शब्दों का प्रयोग यथास्थान अवश्य किया है। अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में इन्होंने 'तारीफ़' 'चीज़' 'चुहल' 'मज़ाक' आदि शब्दों का प्रचुर उपयोग किया है। मिश्रबन्धु और डा० श्यामसुन्दरदास के बाद शुक्ल जी आलोचना-पद्धति के इस काल के अच्छे लेखक रहे।

शुक्लजी का जन्म सन १८८३ में अगौना ग्राम में हुआ। प्रारम्भ में इन्होंने कुछ हिन्दी फ़ारसी देहात ही में पढ़ी, कुछ बड़े होने पर अंग्रेज़ी का भी अभ्यास किया। फिर प्रयाग आकर वकालत पढ़ी पर उत्तीर्ण न हो सके। तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में लेख और कविताएं लिखने लगे। कुछ दिन मिर्ज़ापुर के मिशन स्कूल के ड्राइंग-मास्टर रहे फिर २५ वर्ष की आयु में हिन्दी-शब्दसागर के सहायक सम्पादक होकर काशी चले गये। कोश की समाप्ति पर हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी-अध्यापक होगये तथा अन्त तक वहीं रहे। इनकी रचनाओं में 'काव्य में रहस्यवाद' 'बुद्धचरित्र' और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उल्लेखनीय हैं, अन्तिम ग्रन्थ हिन्दी-शब्दसागर की भूमिका का एक परिष्कृत अंश है। जिसका अधिकांश तथ्य मिश्रबन्धुओं और डा० श्यामसुन्दरदास की खोज-रिपोर्टों पर अवलम्बित है, तथा 'बुध चरित' हिन्दी का प्रथम एतिहासिक महाकाव्य है जो लाइट आफ ऐशिया पर आधारित है।

पं० पद्मसिंह शर्मा—

आलोचना के क्षेत्र में पं० पद्मसिंह शर्मा ने एक अनोखी ही शैली का प्रदर्शन किया। इस शैली की विशेषता थी—एक की विशेषता को परख दूसरे की विशेषताओं को दिखाना। एक प्रकार की तुलनात्मक शैली का जो आकर्षक रूप शर्मा जी ने हिन्दी में उपस्थित किया वह चटपटा तो अवश्य था पर गम्भीर न था। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें एक नवीन अनुभूति का लिखित रूप था, और उसके बाद उसी ढंग पर कुछ आलोचनाएं लिखी गईं। शर्मा जी की इस भाषा की चटक-मटक, उछल-कूद, लपक-धपक और कारीगरी जिसमें उर्दू हिन्दी का एक मज़ेदार सम्मिश्रण था, अपने ढंग की एक निराली वस्तु थी। उर्दू समाज की 'वल्लाह' 'क्या खूब' की आवाज़ाकशी अभी हिन्दी

में थी ही नहीं। 'वाह' 'वाह' 'बाजी मार ले गये' 'गज़ब कर दिया है' इत्यादि के शोर में आलोचना की गम्भीरता बिखर जाती थी। इस दृष्टि से शर्मा जी की भाषा चमत्कारपूर्ण तो थी, पर तथ्य-निरूपण के योग्य नहीं। उसमें से एक अभद्र गन्ध प्रकट होती थी। देखिये—

"बात बहुत साफ़ और सीधी है पर तो भी चमत्कार से खाली नहीं, इसका बांकपन चित्त में चुभता है, बहुत ही मधुर भाव है, पर बिहारीलाल भी तो एक ही काँइयाँ ठहरे? वह कब चूकने वाले हैं। पहलू बदल कर मज़मून को साफ़ ले उड़े।"

आलोचना ही नहीं उनकी भाषा में अन्यत्र भी खिलाड़ीपन दीखता है। उर्दू हिन्दी के मिश्रण की तो उसमें खूब बहार है। देखिए—

'जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज सृष्टि हो रही है, इस से साहित्य में जीवन-संचार हो चुका। यह सहृदय समाज के हृदयों में घर कर चुकी। यह सूखी ठठरी बहुत दिनों तक साहित्य-संसार में खड़ी न रह सकेगी, कोरे काम चलाउपन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है। विषय की दृष्टि से न सही भाषा के महत्त्वों की दृष्टि से भी देखिये तो शृंगार-रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है।'

इसमें सन्देह नहीं कि उनके वाक्य-विन्यास प्रभावशाली हैं। और उनके भाव-प्रकाशन में ओज रहता है, परन्तु व्यङ्गों की नोकझोंक में अर्थ का भाव नष्ट हो जाता है।

फिर भी शर्मा जी का व्यङ्गय सुन्दर और मर्म-स्पर्शी है। देखिये—

'हमारे हिन्दी के नवीन कैवियों की मति गति बिलकुल निराली है। वह कविता को गाड़ी के धुरे और पहिये भी बदल रहे हैं। ये अपने अद्भुत छकड़े के पीछे की ओर मरियल टट्टू जोत कर गन्तव्य पथ पर पहुंचना चाहते हैं।"

पं० पद्मसिंह शर्मा की दो ही पुस्तकें प्रकाशित हुई, 'पद्मपराग' (१ म भाग) और दूसरी 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी'

यहां हम दो ऐसे निबन्धकारों को स्मरण करना चाहते हैं जिनकी भाषा में एक नई गति-विधि और आधुनिक जगत् की विचार-धारा के उद्दीप्त नूतन भाव प्रकट हुए। इन में एक थे अध्यापक पूर्णसिंह और दूसरे बा० गुलाबराय एम० ए०, एल० एल० बी०। पूर्णसिंह ने बहुत कम लिखा परन्तु उनकी लाक्षणिकता हिन्दी गद्य के लिए एक नई वस्तु थी। उन्होंने भाषा और भावों को नई बिभूति से सजा कर भावी जनों के लिये उपस्थित किया। उनके निबन्धों में भाव-बाहुल्य

अवश्य था परन्तु उसके साथ विचारों की क्षीणधारा भी चली आती थी। एक उदाहरण देखिए—

"...जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पण्डित और साधु सन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि अनन्तकाल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती रहेगी। उनका चिंतन बासी, ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है।"

बा० गुलाबरायजी ने युग के उत्तरार्ध में लेखनी पकड़ी पर उन्होंने अधिक विकसित रूप में विचारपूर्ण निबन्ध लिखे। भाव का पुट उन में भी रहा। पर भाषा की शैली को उन्होंने यत्न से सँवारा। इनकी भाषा का उदाहरण देखिए—

"सौन्दर्य की उपासना करना उचित है सही, पर क्या उसी के साथ कुरूपता घृणास्पद या निन्द्य है? नहीं, सौन्दर्य का अस्तित्व ही कुरूपता के ऊपर निर्भर है। सुन्दर पदार्थ अपनी सुन्दरता पर चाहे जितना मान करे, किन्तु असुन्दर पदार्थ की स्थिति में ही वह सुन्दर कहलाता है। अन्धों में काना ही श्रेष्ठ समझा जाता है।"

बाबू गुलाबरायजी का जन्म सन १८८८ में इटावे में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा इन्होंने मैनपुरी में पाई और आगरा कालेज से बी० ए० पास किया। बाद में एम० ए० पास करके सेन्ट-जान्स-कालेज में तर्क-शास्त्र के अध्यापक हो गये। बीच में कुछ दिन छत्रपुर रियासत में नौकरी भी की। इसी बीच एल० एल० बी० पास किया और उसी रियासत में दीवान और चीफ़ जज रहे। सन १९३२ में वहां से पैन्शन ली। अब ये सेन्ट-जान्स-कालेज आगरा में हिन्दी के अध्यापक हैं।

अब हम तीन ऐसे विद्वानों का भी उल्लेख करेंगे जिन्होंने ऐतिहासिक गवेषणाओं तथा यात्रा सम्बन्धी विशिष्ट रचनाएं कीं।

रायबहादुर, महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा डी० लिट्—

ओझा जी का जन्म सन १८६३ में सिरोही राज्य के एक गांव में हुआ। ये गुजराती सहस्र औदीच्य ब्राह्मण हैं। बाल-काल में अक्षराभ्यास होने के बाद नौ वर्ष की अवस्था में इनका वेदाध्ययन प्रारम्भ हुआ। और चार वर्ष में इन्होंने सम्पूर्ण शुक्लयजुर्वेदीयसंहिता कण्ठस्थ कर ली। फिर १४ वर्ष की अवस्था में बम्बई जाकर गुजराती सीखी। सन १८८४ में एलफ़िन्स्टन-हाई-स्कूल से मैट्रिक पास किया। साथ ही प्रसिद्ध पण्डित गट्टूलाल जी के यहां प्राकृत और संस्कृत का अध्ययन किया। इसके बाद कुछ दिन विल्सन कॉलेज में पढ़ते रहे, परन्तु शरीर अस्वस्थ होने से गांव लौट आए। थोड़े दिन बाद फिर बम्बई

चले गए और प्राचीन लिपियों के पढ़ने और प्राचीन इतिहास के अध्ययन करने में इन्होंने दो वर्ष का समय व्यतीत किया। सन १८८८ में ये उदयपुर आये और महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदान जी ने इन्हें राज्य के इतिहास-कार्यालय का मन्त्री बना दिया। पीछे सन १८९० में जब विक्टोरिया हाल खुला तो ये वहां की म्यूजियम-लाईब्रेरी के अध्यक्ष हो गये। पीछे अजमेर में सरकारी म्यूजियम खुलने पर उसके अध्यक्ष हो गये। अभी तक हिन्दी में भारतवर्ष की प्राचीन लिपियों के सम्बन्ध में कोई पुस्तक न थी। प्राचीन इतिहास के अध्ययन के लिये ऐसी पुस्तक की बड़ी आवश्यकता थी। १८९३ में इन्होंने 'प्राचीन-लिपि-माला' नाम की एक अपूर्व पुस्तक लिख कर इस अभाव की पूर्ति की। इस ग्रन्थ की बड़े बड़े विद्वानों ने और सोसाइटियों ने बड़ी भारी प्रशंसा की। सन १९१८ में इसका परिवर्द्धित और परिमार्जित संस्करण प्रकाशित हुआ। सन १९०२ में इन्होंने कर्नल टाड का एक जीवन-चरित्र लिखा और टाड के 'राजस्थान' के अनुवाद पर टिप्पणी लिखना प्रारम्भ किया पर यह काम अधूरा रह गया। इन्होंने 'सिरोही राज्य का इतिहास' और 'सोलंकियों का इतिहास' भी बहुत महत्वपूर्ण लिखे तथा 'पृथ्वीराज विजय' का सम्पादन किया, और भी कई ग्रन्थ लिखे। आपके ग्रन्थों और लेखों में अन्य साहित्यिकों के ग्रन्थों से विलक्षणता यह है कि इनकी प्रत्येक बात खोज और शोध से परिपूर्ण होती है। उसमें टिप्पणियों की काफ़ी भरमार होती है। अपने जीवन का सम्पूर्ण भाग ओझा जी ने 'प्राचीन भारत के इतिहास' और संस्कृति की खोज में व्यतीत किया है। इनकी हिन्दी सेवाएं अप्रतिम हैं। इन्हीं के रचित हिन्दी ग्रन्थ को यह गौरव प्राप्त है कि उसे पढ़ने के लिए जर्मनी, इंग्लेण्ड, फ्रांस और दूसरे देशों के अन्वेषकों को हिन्दी सीखनी पड़ी। गवर्नमेण्ट ने इनके गुणों का आदर करके पहले रायबहादुर की और फिर महामहोपाध्याय की पदवी दी तथा काशी-विश्वविद्यालय ने इन्हें ऑनरेरी डाक्टर की उपाधि दी। साहित्य-सम्मेलन ने दिल्ली-अधिवेशन में मंगलाप्रसाद-पारितोषिक और शिमला-अधिवेशन में साहित्य-वाचस्पति की उपाधि देकर सम्मानित किया। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे और ऐतिहासिक विषयों पर भिन्न २ पत्र-पत्रिकाओं में अनगिनत महत्वपूर्ण लेख लिखे हैं। ओझा जी बड़े ही निरभिमान, सतोगुणी, मेधावी और भव्यदर्शी पुरुष हैं।

ठाकुर गदाधरसिंह—

इनका जन्म सन १८६९ में बनारस में हुआ। ये चन्देल क्षत्रिय थे। इनके पिता अंग्रेजी फ़ौज में सूबेदार थे। उन्होंने भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के अनेक युद्धों में वीरतापूर्ण भाग लिया था, और सन ५७ के विद्रोह में इन्होंने अंग्रेजों की बड़ी भारी मदद की थी। वे स्वामी

दयानन्द के दर्शन कर चुके थे और स्वामी जी का इन पर बड़ा भारी प्रभाव था। इन सब बातों का प्रभाव बालक गदाधरसिंह पर भी पड़ा। १७ वर्ष की अवस्था में मैट्रिक पास करके ये पल्टन में भर्ती होगए और १८८९ में ये बर्मा के युद्ध में सम्मिलित हुए। उसके बाद सेना में विविध कार्य करते हुए सन् १९०० में चीन की चढ़ाई पर गये। इसका रोचक वर्णन इन्होंने 'चीन में तेरह मास' नाम की पुस्तक में किया है। इसके बाद एडवर्ड के तिलकोत्सव पर इंग्लैण्ड गये। इस का वर्णन इन्होंने 'हमारी एडवर्ड-तिलक-यात्रा' में बड़ी सजीव भाषा में किया है। इन्होंने २० वर्ष सैनिक सेवा की। ये प्रकृत सैनिक थे। इनकी वाणी में और इनके शब्दों में सैनिक-तत्व भरा हुआ है। इनका तीसरा ग्रंथ 'रूस-जापान-युद्ध' दो भागों में छपा जिस में एशिया के इस नगण्य राष्ट्र की विजय पर उल्लासपूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया है। उनकी भाषा चुटीली होती थी। जगह २ चुटकियां लेना इनकी अपनी पद्धति थी। इनकी वर्णन-शैली मनोरंजक और उत्साहवर्द्धक थी। इनकी रचनाओं में उनकी आंखों-देखी विश्व-क्रान्ति की रेखाएं इनकी चमत्कारिणी लेखनी के द्वारा उद्भासित होकर पाठकों के हृदय में एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाती थीं। इनकी तीखी समालोचनात्मक और उद्बोधन-पद्धति की पंक्तियां तो गजब ही ढाती थीं। इन्होंने 'चीन में तेरह मास' 'रूस-जापान-युद्ध, (तीन भाग) भारत मही और 'जापानी राजव्यवस्था' लिखीं।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक—

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का जन्म सन १८८६ में हुआ। ये देश-प्रेम की आग हृदय में लेकर जन्मे। इन्होंने हिन्दी के लिए बड़े उद्योग किए। विदेशों की साहसपूर्ण यात्राएं जो इन्होंने कीं उनके वर्णन को पढ़ २ कर न जाने कितने युवकों के हृदयों में अपनी साधनहीन अवस्था में सुदूर पाश्चात्य देशों में जा जाकर ज्ञानार्जन करने के हौसले उत्पन्न हुए। ये निरन्तर लिखते और व्याख्यान देते रहे। इनकी वाणी और कलम दोनों में तीखी चुभने वाली कोई चीज़ रहती थी। इनकी पुस्तकें खूब बिकीं और इनके व्याख्यानों की भी खूब धूम रही। ये एक प्रकार से राजनीतिक संन्यासी रहे, यद्यपि राजनीति के झोंके में नहीं आये। इनकी भाषा मुहावरेदार, सरल और अटपटी होती थी। ये जो कुछ लिखते थे उसमें हार्दिक भावों का ज्वार भरा रहता था। ये एक आदर्श पर्यटक रहे। खेद है कि अब ये आंखों से लाचार होकर पढ़ने-लिखने से विवश हैं। हाल ही में इन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति जिस की मालियत २५ हज़ार रुपयें के लगभग है, काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा को पश्चिमी-भारत में नागरी-लिपि, हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य के प्रचार के लिए दे दी है।



पं० अमृतलाल चक्रवर्ती



सैयद अमीरअली 'मीर'



पं० गोविन्दनारायण मिश्र



पं० कामताप्रसादगुरु



बा० व्रजनन्दन सहाय बी.ए.



पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी



श्री गणेशशंकर विद्यार्थी

व्रजनन्दनसहाय—

इनका जन्म सन १८७५ में शाहाबाद ज़िले के इख़्तियारपुर गांव में हुआ। इन्हों ने बी० ए० पास कर वकालत प्रारम्भ की। पीछे भारतेन्दु तथा खड्गबहादुरमल्ल की रचनाएं पढ़कर हिन्दी का चस्का लगा। बंगला का भी अभ्यास किया। इन्हीं ने वियापति को मैथिल कोकिल लिखा। इससे पहले उन्हें लोग बंग-कवि समझते थे। इन्होंने हिन्दी का सर्वप्रथम भावपूर्ण उपन्यास 'सौन्दर्योपासक' लिखा। इसके अतिरिक्त विविध विषयों पर लगभग २५ पुस्तकें और लिखीं।

सूर्यकुमार वर्मा—आगरा ज़िले में भदावर नाम की एक पुरानी छोटी रियासत है। वहां का भदौरिया राजवंश किसी समय बहुत प्रसिद्ध था। सूर्यकुमार वर्मा उसी वंश में सन १८७८ में उत्पन्न हुए। इनके पिता हिन्दी काव्य के मर्मज्ञ और वैयक के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अपने पुत्र को हिन्दी की शिक्षा दी। पीछे इन्होंने मेरठ आकर स्वामी तुलसीराम से संस्कृत पढ़ी। सन १८९७ में इन्होंने ग्वालियर में नौकरी की और हिन्दी पढ़ने-लिखने की ओर ध्यान दिया। इन पर महावीरप्रसाद द्विवेदी का बड़ा प्रभाव था। वे झांसी में उनसे मिलते रहते थे और उन्हें गुरु मानते थे। इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं।

बाबू सम्पूर्णानन्द—

बा० सम्पूर्णानन्द एक पण्डित, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, साहित्यिक, ऐतिहासिक और साम्यवादी एवं गांधीवादी सब कुछ हैं। इनकी रचनाओं में उपयुक्त सब विषयों का समावेश है, तारीफ़ यह है कि इनकी भाषा कहीं भी शिथिल नहीं है, वह स्थिर, विचारपूर्ण और मर्यादित है तथा सम्पन्नता का उस में पूर्ण प्रसार है। वह आजकल की सुसंस्कृत भाषा है, और उस में प्रत्येक गम्भीर भाव को व्यक्त करने की सम्पूर्ण सामर्थ्य है। सम्पूर्णानन्द में बड़ी तेज़ी से विचार करने की और उन्हें प्रभावशाली रीति पर व्यक्त करने की असाधारण क्षमता है। द्विवेदी-युग में इन्होंने साहित्य-क्षेत्र में केवल कदम रखा था। महत्त्वपूर्ण रचनाएं आधुनिक युग में कीं।

अध्याय पांचवां

विशद व्याख्याता—

इस काल में कुछ ऐसे प्रतिभाशाली लेखक भी हुए जिनकी प्रगति गद्य और पद्य में समान रही। उन्होंने विविध विषयों पर लेखनी उठाई और अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

पं० रूपनारायण पाण्डेय—इनका जन्म सन १८८४ में लखनऊ में हुआ। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। इन्होंने घर पर ही शिक्षा प्राप्त करके कैनिंग कालेज से संस्कृत की प्रथमा परीक्षा पास की। अपने अध्यवसाय से अंग्रेज़ी, उर्दू, मराठी और गुजराती का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। १५ वर्ष की अवस्था में इन्होंने लेख लिखना प्रारम्भ कर दिया था। कुछ दिन तक ये विविध पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक रहे। अन्त में माधुरी के सम्पादक हुए और अब तक हैं। अपने जीवन का अधिक समय पत्रों के सम्पादन में व्यतीत करने के कारण इन्हें सम्पादन-कला का काफ़ी अनुभव हो गया है पर वास्तव में ये प्राकृतिक कवि और विविध विषय-व्याख्याता हैं। इन्होंने अनुवाद बहुत किये। विशेष कर बंगला के प्रसिद्ध उपन्यास और नाटकों के। इनकी अब तक की मौलिक और अनुवादित पुस्तकों की संख्या सौ तक पहुंच चुकी है। और समय-समय पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित गद्य-लेखों और कविताओं की संख्या ३ सौ से भी ऊपर है। गद्य और पद्य दोनों ही में इनकी लेखन-शैली साफ़, सुबोध और परिमार्जित है।

लोचनप्रसाद पाण्डेय—

इनका जन्म सन १८८६ में महानदी के किनारे बालापुर गांव में हुआ। इनके पिता और बड़े भाई कविता लिखा करते थे। उसका बचपन में इन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। जब ये स्कूल में पढ़ा करते थे तभी से छोटे २ विषयों पर लेख लिखा करते थे। सन १९०६ में जब ये उच्च शिक्षा पाने के लिये काशी आए तब बाबू रामकृष्ण वर्मा, पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० श्रीधर पाठक से इनका परिचय हुआ। इसी सन में ये अपने पिता के साथ कलकत्ता-कांग्रेस में भी शामिल हुए। इससे इनके मन में राष्ट्रीयता के विचार पैदा हुए और ये सरस्वती, कमला, देवनागर, मर्यादा, हितकारिणी, श्री शारदा आदि पत्रों में विविध लेख लिखते रहे। इन्होंने हिन्दी के सिवा उड़िया और अंग्रेज़ी भाषा में भी कुछ पुस्तकें लिखीं। इनकी कई हिन्दी पुस्तकें विविध विश्वविद्यालयों में पाठ्य पुस्तकों के रूप में पढ़ाई जाती रहीं। इनकी हिन्दी रचनाओं की प्रशंसा रावराजा डा० श्यामबिहारी मिश्र, महामहोपाध्याय पं० जगन्नाथप्रसाद 'भानु', जस्टिस शारदाचरण मित्र तथा डा० सर जार्ज ग्रियर्सन ने की है। ये हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के संस्थापक तथा चतुर्थ अधिवेशन के सभापति भी थे। साहित्य और पुरातत्व सम्बन्धी इन्होंने अनेक प्रशंसनीय कार्य किये। इनके विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लगभग २०० लेखों के अतिरिक्त कोई २५ से अधिक पुस्तकें भी हैं—

लक्ष्मीधर वाजपेयी—

इनका जन्म सन १८८७ में कानपुर जिले के एक गांव में हुआ। बचपन

ही से इनकी रुचि कविता की ओर थी, परन्तु बारह ही वर्ष की अवस्था म विवाह हो जाने के कारण और आर्थिक अवस्था अच्छी न होने से इनकी शिक्षा पूरी नहीं हुई। परिवार का बोझ भी कन्धों पर पड़ गया। ये एक स्कूल में अध्यापक हो गये। कुछ दिन बाद इनका परिचय सन १९०५ में माधोराव सप्रे से हो गया। सप्रे जी उन दिनों नागपुर से एक 'हिन्दी-ग्रन्थ-माला' नाम का मासिक-पत्र निकाल रहे थे। उन्होंने इन्हें अपनी सहायता के लिये बुला लिया। सप्रे जी के सहवास का इन्होंने पूरा लाभ उठाया। तभी से विविध पत्रों में कविताएं और लेख लिखने लगे। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी इनका बहुत कुछ पथ-प्रदर्शन किया और प्रोत्साहन दिया।

सन १९०७ में जब सप्रे जी ने 'हिन्दी-केसरी' पत्र निकाला तब बाजपेयी जी उसके सहकारी सम्पादक बने। पीछे जब सप्रे जी गिरफ्तार हो गये तो इन्होंने ही 'हिन्दी-केसरी' का सम्पादन किया। साथ ही साथ ये विविध विषयों पर लेख और कविताएं लिखते रहे। सन १९११ में जब पूना के चित्रशाला प्रेस ने 'चित्रमय जगत्' निकाला तब ये उसके सम्पादक होकर पूना गये और तीन वर्ष उसका सम्पादन किया। इसके बाद आर्य-प्रतिनिधि-सभा, संयुक्त-प्रान्त के पत्र 'आर्यमित्र' का सम्पादन करने आगरा गये और तीन वर्ष तक उसका सम्पादन किया। इसके बाद दो वर्ष फिर 'चित्रमय जगत्' का सम्पादन किया और सन १९१८ में प्रयाग आकर 'तरुण-भारत-ग्रन्थावली' का प्रकाशन प्रारम्भ किया, और एक राष्ट्रीय पत्र 'राष्ट्रमत' भी निकालने लगे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे और अनुवाद किए।

बदरीनाथ भट्ट—

ये व्यंग चित्र लिखने में सफल थे। इन्होंने कई नाटक लिखे तथा कुछ अन्य विषयों पर भी पुस्तकें लिखीं। भाषा इनकी सरल और मुहावरेदार होती थी।

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर—

ये आर्यसमाजी भावना लेकर एक विशिष्टरूप में साहित्य-क्षेत्र में आए। दाक्षिणात्य होने के कारण इनकी जन्म-भाषा मराठी थी। पर इन्होंने हिन्दी को अपना कर वैदिक-साहित्य और आर्य-पद्धति पर स्वस्थ-वृत्त और स्वतन्त्र तथा अनुवादित पुस्तकों का काफ़ी प्रकाशन किया। इन्होंने सम्पूर्ण महाभारत का आधुनिक हिन्दी में अनुवाद किया। तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों का इन्होंने अपने दृष्टिकोण से आलोचनात्मक विश्लेषण किया।

विष्णुदिगम्बर पुलस्कर—

इन्होंने संगीत पर नवीन पद्धति की पहले-पहल कई पुस्तकें लिखीं। इन्हीं के उद्योग से संगीत साहित्य के कुछ निकट हुआ।

इनके सिवा सर्वश्री पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, नन्दकुमारदेव शर्मा, प्रसिद्ध नारायणसिंह, रामदेव आचार्य एम० ए०, प्रो० रामदास एम० ए० गौड़, रामजीलाल शर्मा, राधामोहन गोकुल जी, शिवनारायण द्विवेदी, ईश्वरीप्रसाद वर्मा, रामावतार पाण्डेय, अमीर अली मीर, भगवानदास केला आदि कलाकारों ने विविध रीति से गद्य और पद्य में भारती का भण्डार भरना प्रारम्भ किया।

अध्याय छठा

इस युग के प्रतिनिधि कवि

काव्यधारा के मध्य-प्रपात हरिऔध—

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय को काव्यधारा का मध्य-प्रपात कहें तो अत्युक्ति नहीं। उपाध्याय जी ने भारतेन्दु-युग के अन्तिम चरण में व्रजभाषा-काव्य रचना प्रारम्भ किया था। प्रभावित काल में वे व्रजभाषा के प्रतिनिधि-कवि रहे। विचार कर देखा जाय तो इस काल में 'रत्नाकर' और 'हरिऔध' दो ही व्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि रहे। 'रत्नाकर' जी के बाद तो व्रजभाषा-काव्य-रचना में 'हरिऔध' का कोई प्रतिस्पर्द्धी रह ही नहीं गया। 'रसकलस' में जो इनके दोहे हैं वे बिहारी और मतिराम की प्रतिभा से टक्कर लेते हैं। इनकी सब से बड़ी विशेषता इनकी मौलिक सूझ है।

इनकी व्रजभाषा की रचना के उदाहरण देखिए—

छन छन छीजत न देखहिं समाज-तन,
हेरहिं न विधवा छ टूक होत छतियान।
जाति को पतन अवलोकहिं न आकुल ह्वै,
भूलि ना विलोकहिं कलंकी होत कुलमान।
'हरिऔध' छिनत लखहिं ना सलोने लाल,
लुटत निहारहिं न लोनी-लोनी ललनान।
खेले कछु खुली पै कहां है ठीक ठीक खुली;
अधखुली अजौं हैं हमारी खुली अँखियान।

पकि पकि रहि हैं पकरि के करेजो कौलौं,
कलपि कलपि कौलौं बासर बिताइहैं।
कौलौं विधवा-पन-बधिक बेधि बेधि दैहै,
कौलौं बोझो बनि बनि विपु बिललाइहैं।
'हरिऔध' कौलौं अनुकूल काल पैहै नाहिं,
कौलौं कालिमा में लगे पलक न लाइहैं।
कौलौं ह्वै हैं बलि बलवान रुचि वेदिका पै,
भारत की बाला कौलौं अबला कहाइहैं।



बा० जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'



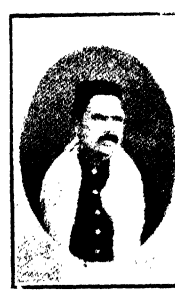
काव्य के मध्य प्रधान पं० अयोध्या
सिंह उपाध्याय हरिऔध



पं० गौरीदत्त नागरी प्रचारानन्द



पंजाब केसरी लाला लाजपतराय



पं० बलदेवप्रसाद मिश्र



पं० किशोरीलाल गोस्वामी



पं० लज्जाराम महता



बा० ठाकुरप्रसाद खत्री

दोहों के भी उदाहरण देखिए—

रिसहू मैं सरसत रहत, बरबस बनत रसाल ।
ललना लोचन लाल ह्वै, लालहिं करत निहाल ।
चाव भरे चित चोर को, लखि चितवत ललचात ।
चंचल-नयनी को भयो, चित चलदल को पात ।

द्विवेदी-युग के प्रारम्भ होने से पूर्व ही यह मनस्वी कवि अपनी चमत्कारिक प्रतिभा को लेकर नए विषयों की ओर चल खड़ा हुआ । प्रारम्भ में इन्होंने खड़ी बोली की कविता के लिये उर्दू की बहर को लिया । भाषा भी ठेठ बोली ही की अपनाई । इसी लहर में वे छोटी २ फुटकर रचनाएं करने लगे । जब सन १९०१ में काशी-नागरी-प्रचारिणी का गृहप्रवेश हो रहा था, इन्होंने एक रचना पढ़ी थी, उस कविता का एक टुकड़ा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में दिया है—वह टुकड़ा यह है—

चार डग हमने भरे तो क्या किया ।
है पड़ा मैदान कोसों का अभी ।
मौलवी ऐसा न होगा एक भी ।
खूब उर्दू जो न होवे जानता ।

धीरे २ इनकी कविताएं परिष्कृत होने लगीं और आगे चलकर इन्होंने संस्कृत छन्दों और संस्कृत की समस्त पदावली का सहारा लेकर अपनी कवित्व पटुता प्रदर्शित की, और सन १९१५ में 'प्रियप्रवास' एक बड़ा काव्य प्रकाशित किया । इस काव्य में श्रीकृष्ण में ईश्वर-तत्त्व तो अति सूक्ष्म ही कहीं है, किंतु उन्हें व्रज के रक्षकनेता के रूप में प्रकट किया है । यह खड़ी बोली का संस्कृत वर्णवृत्तों में सर्वप्रथम काव्य था । इस काव्य का पद-विन्यास अनेक उपसर्गों से लदा हुआ तथा अनेक संस्कृत कोमल पदावली से सुसंपन्न है । उपाध्याय जी ने जिस कोमलकान्त पदावली को अपनाया वह द्विवेदी जी और उनके अनुयायी कविगण नहीं अपना सके यद्यपि वे उनसे बहुत प्रथम इस मार्ग पर चल चुके थे । उपाध्याय जी की यह भाषा 'था' 'है' 'किया' 'दिया' आदि क्रियाओं के भीतर ही हिन्दी कहाई, नहीं तो वह संस्कृत ही थी । देखिए—

'रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका एकेन्दु-बिम्बानना ,
तन्वङ्गी-कलहासिनी सुरसिका क्रीडाकला-पुत्तली ।
शोभा, वारिधि की अमूल्य मणिसी लावण्य लीलामयी ,
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी-माधुर्य-सन्मूर्ति-थी ।

अब यहां केवल तीसरे चरण में 'की' और चौथे में 'थी' ही हिन्दी है और रूप संस्कृत, वृत्त भी, भाषा भी । परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं है, हिन्दी अपने उन्मुक्त रूप में बिखरती भी चलती है । देखिए—

धीरे धीरे दिन गत हुआ, पद्मिनीनाथ डूबे।
आई दोषा फिर गत हुई, दूसरा बार आया।
यों ही बीतीं विपुलघटिका, औ कई बार बीते।
आया कोई न मधुपुर से, औ न गोपाल आए।

भाव-व्यंजना और वर्णन-छटा का इस काव्य में खूब प्रदर्शन हुआ है। विरहवचनावली निरन्तर सचराचर व्रज को छुब्ध करती चली गई है। प्रेम की अन्तर्दशाओं की अभिव्यंजना कहीं २ बड़ी ही मर्मस्पर्शिणी हुई है। काव्य की कथावस्तु प्रबन्ध-काव्य के योग्य न होने पर भी काव्य में पूर्णता का आभास मिलता है। परंपरा-पालन के लिये यह वर्णन भी सुन्दर है।

प्रियप्रवास पूरा करके इन्होंने फिर अपनी काव्यधारा को और लौकिक बनाने की चेष्टा की। भाव और भाषा दोनों ही में इन्होंने परिवर्तन किया। बोलचाल की भाषा में मुक्तक छन्द लिखने लगे। इन रचनाओं में इन्होंने मुहावरों की बड़ी ही सुन्दर खपत की। ऐसी कविताओं का एक संग्रह इन्होंने सन १९२५ में 'चोखे चौपदे' के नाम से, दूसरा सन १९२६ में 'पद्यप्रसून' के नाम से छापा था। इन छन्दों में तीन खास बातें हैं—१. यह कि भाषा बोलचाल की भी है और साहित्यिक भी, २. यह कि मुहावरों को बड़े कौशल से फ़िट किया गया है, ३. यह कि विषय का लक्ष्य लौकिक है। देखिए—

क्यों पलै पीसकर किसी को तू? है बहुत पालिसी बुरी तेरी।
हम रहे चाहते पटाना ही। पेट तुझ से पटी नहीं मेरी।

उपाध्याय जी का शब्द-भण्डार बहुत भारी है। इनका एक और बड़ा काव्य 'वैदेही वनवास' भी अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पद्य की भांति आपने गद्य भी लिखा। उपन्यास-क्षेत्र में भी आप आए। पर आपकी यशोगाथा आपकी काव्य-रचना के द्वारा हुई।

इनका जन्म सन १८६६ में निज़ामाबाद में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण हैं। मिडिल पास कर बनारस के क्वीन्स कालेज में अंग्रेज़ी पढ़ना प्रारम्भ किया, पीछे स्वास्थ्य बिगड़ जाने पर कालेज को छोड़ कर घर चले गये और वहीं उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत का अभ्यास करते रहे। बाद में इन्होंने कानूँगो की परीक्षा पास की और ३४ वर्ष सरकारी नौकरी की। पीछे पैन्शन लेकर सन १९२३ में काशी-विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य के अध्यापक बन गए। अब वहां से भी इन्होंने अवकाश ग्रहण कर लिया है। प्रिय-प्रवास पर इन्हें मंगलाप्रसाद-पारितोषिक भी प्राप्त हुआ है।

खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि श्रीधर पाठक—

ये व्रजभाषा के प्राचीन उपासकों में से थे परन्तु खड़ी बोली के प्रतिनिधि

कवि थे। इतने विस्तृत परिमाण में सर्वप्रथम इन्हीं ने खड़ी बोली की रचनाएं कीं। इनका कविता-क्षेत्र रूढियों से जकड़ा हुआ नहीं था। इन्होंने अपनी खास रागात्मक वृत्ति से कविता के विषय चुने। ये प्रकृति के भावुक निरीक्षक थे। इसी से प्रकृति के सुहावने चित्र यहां तक कि पशु पक्षी तक इनकी काव्य-सीमा में समा गए। इनका हिमालय-काश्मीर-वर्णन तथा ऋतु-वर्णन अपूर्व है। व्रजभाषा में भी इन्होंने जो रचनाएं कीं वे भी प्राचीन व्रजभाषा के स्वरूप से भिन्न थीं। उनमें बहुत नयापन था। अलंकारों को तो इन्होंने बहुत कम छुआ, फिर भी इनकी व्रज बोली बड़ी मीठी थी। व्रजभाषा में इन्होंने ऋतुसंहार (संस्कृत) और डिज़र्टेड विलेज (अंग्रेज़ी) के काव्यानुवाद किए हैं। अंग्रेज़ी के भावों का व्रज-भाषा-काव्य में उतारना दुष्कर काम है परन्तु वह इन्होंने ऐसी कुशलता से किया है कि वे इनकी मौलिक रचनाएं ही प्रतीत होती हैं। देखिए—

बहुवेग बढ़े गदले जल सों तट रूख उखारि गिरावती हैं।
करि घोर कोलाहल व्याकुल ह्वै थल कोर किनारन ढावती हैं।
मरजादहि छांडि चली कुलटा सम विभ्रम भौंर दिखावती हैं।
इतराति उतावरी बावरी सी सरिता चढ़ि सिन्धु को धावति हैं।
(ऋतुसंहार)

जिमि कोउ पर्वत शृंग तुंग दीरघतन ठाढ़ौ।
उठ्यो खड्ड सों रहै बवंडर बीचहिं छाँड़ौ।
यदपि तासु वक्षस्थल दल बादल कोलाहल।
भाल विराजे सदा भानु आभा द्युति उज्ज्वल।
(डिज़र्टेड विलेज)

सन १८८७ में इन्होंने 'एकान्तवासी योगी' खड़ी बोली के पद्य में लिखा। यह रचना लावनी या ख़यालबाज़ी के ढंग पर थी। यह इस प्रकार की रचना थी—

आज रात इस से परदेशी चल कीजै विश्राम यहीं।
जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण संकोच नहीं।
तृण-शैया औ अल्प रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद।
पैर पसार चलो निद्रा लो मेरा आशिर्वाद।

पाठक जी ने 'एकान्तवासी योगी' के बहुत दिन बाद खड़ी बोली में रचनाएं कीं। इनकी खड़ी बोली की दूसरी रचना 'श्रान्त पथिक' थी; जो गोल्डस्मिथ के 'ट्रैवलर' का अनुवाद था। फुटकर रचनाएं भी इन्होंने खड़ी बोली में बहुत कीं। कभी २ ये एक ही विषय के वर्णन में दोनों भाषाओं का प्रयोग कर डालते थे। 'खड़ी बोली' और 'व्रजभाषा' दोनों ही में इनकी समान गति थी। 'ऊजड़-ग्राम' इन्होंने व्रजभाषा में ही लिखा है। संस्कृत और अंग्रेज़ी काव्य-साहित्य का

इनका बड़ा गहन अध्ययन था। इसी कारण अपने समय के सब काव्यों की अपेक्षा पाठक जी की रुचि अत्यधिक परिष्कृत थी। शब्द-शुद्धि के वे एक ही पारखी थे। उनका कोमल और मधुर संस्कृत-पद-विन्यास अपूर्व होता था। वे एक प्रतिभाशाली, भावुक और सुरुचि-सम्पन्न कवि थे। वे भाव, भाषा, व्यंजना और बहिःस्वरूप में पूरे चौकस, सुगठित और सुसंस्कृत थे। ये काव्य-रचना की नित्य नई २ रीतियां निकालते रहते थे। इनके छन्द, पद-विन्यास, वाक्य-बिन्यास आदि की बंदिशें और सूझ बड़ी मार्के की हुआ करती थीं। इन्होंने कुछ नए छन्दों को गठित किया जो अति श्रुति-मधुर हैं। देखिए—

नाना कृपान निज पानि लिए, वपु नील वसन परिधान किए।
गंभीर घोर अभिमान हिए, छकि पारिजात-मधुपान किए।
छिन छिन पर जोर मरोर दिखावत, पल पल आकृति कोर झुकावत।
मोर नचावत, सोर मचावत सेत सेत बग पांति उड़ावत।
नंदन प्रसून-मकरन्द बिन्दु मिश्रित समीर बिनु धीर चलावत।

इन्होंने अंग्रेज़ी की पद्धति पर ऐसे पद भी लिखे हैं जो अन्त्यानुप्रास रहित हैं, समाप्त भी बे ठिकाने होते हैं। देखिए—

विजन बन प्रान्त था। प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था, रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा में लसा।
बाल शशि व्योम की ओर था आरहा।
रुघ - उत्फुल्ल - अरविन्द - नभ नील - सुवि-
शाल नभ वक्ष पर जा रहा था चढ़ा।

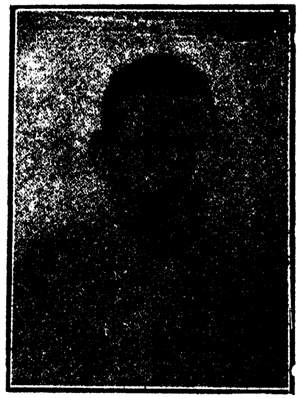
खड़ी बोली की पहली पुस्तक 'एकान्तवासी योगी' इन्होंने लावनी या ख़्याल के ढंग पर लिखी थी। पीछे हिन्दी के प्रचलित छन्दों में लिखने लगे। आगे चलकर सवैये तक इन्होंने खड़ी बोली में लिखे।

वे चाहे जिस विषय पर कविता रच सकते थे। वे आदर्श समाज-सुधारक और देश-प्रेमी थे। इनकी रचनाओं में काव्य के स्वरूप की कमी, अभिव्यंजना के वाग्वैचित्र्य की शिथिलता, गंभीर नूतन विचारधारा का अभाव जहां भी होता—वहां उसकी पूर्ति उनकी वाणी का प्रसाद कर देता था। उनका प्रकृति-वर्णन अपने काल के कवियों में असाधारण था। उनकी विशेषता यह थी कि उनकी प्रकृति-उपासना सीधी-साधी नित्य देखने-समझने की वस्तु थी।

इनका जन्म सन १८६० में हुआ और मृत्यु १९२९ में। इन्होंने ६६ वर्ष की आयु भोगी।



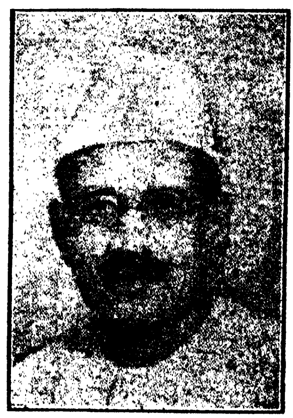
पं० कृष्णकान्त मालवीय



प्रो० महेशचरण सिंह



जनगायक मैथिलीशरण गुप्त



पं० बाबूराव विष्णुराव पराड़कर



स्वामी भवानीदयाल संन्यासी



पं० रामचन्द्र शुक्ल

जनगायक मैथिलीशरण गुप्त—

द्विवेदी जी के प्रभाव से जिन कवियों की प्रतिभा जागृत हुई, उनमें मैथिलीशरण गुप्त का नाम सबसे पहिले लिया जाना चाहिए। 'सरस्वती' का सम्पादन द्विवेदी जी के हाथ में आने के प्रायः ३ वर्ष बाद सन १९०७ से इनकी कविताएं सरस्वती में छपने लगी थीं और उनके सम्पादन काल तक बराबर छपती रहीं। सन १९१० में उनका 'रंग में भंग' नामक एक छोटा सा प्रबन्ध-काव्य छपा, जिसकी रचना चित्तौड़ और बूंदी के राजघरानों से सम्बन्धित एक राजपूती आन की कहानी के आधार पर थी। तब से गुप्त जी निरन्तर प्रबन्ध-काव्यों की रचना करते रहे। इनकी सबसे प्रथम कविता-पुस्तक जिसने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया 'भारत भारती' थी, जो शमसुल-उल्मा मौलाना हाली के मुसद्दस के ढंग पर थी। इसमें हिन्दुओं का भूतकालीन वैभव और वर्तमान हीनदशा दिखाकर स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी भाव में सरल, सुबोध ढंग पर उद्बोधन किया गया था। यद्यपि इस रचना में काव्य की विशिष्ट पदावली और रसात्मक चित्रण न था, पर मार्मिक तथ्यों की कमी न थी। यह पुस्तक स्वदेश की ममता रखने वाले युवकों ने बहुत पसन्द की।

इसके बाद इन्होंने खड़ी बोली की हिन्दी में गीति-काव्यों का प्रचलन किया। गुप्त जी जीवन और जगत् के व्यक्तक्षेत्र के कवि हैं और राम को लोक-पुरुष ही के रूप में देखते हैं, फिर भी इन्होंने बाद में कुछ छायावादी ढंग पर रचनाएं कीं, जो 'झंकार' में संगृहीत हैं।

'साकेत' और 'यशोधरा' इनके दो प्रबन्ध-काव्य हैं। दोनों में काव्य-तत्त्व जितना है उतना प्रबन्ध-तत्त्व नहीं। कदाचित् इन्होंने उस पुरानी परिपाटी की परवा नहीं की। साकेत की रचना काव्य की उपेक्षिता 'ऊर्मिला' को व्यक्त करने के लिये हुई। साकेत के नवम और दशम पूरे दो सर्ग ही उसकी विरह-व्यथा से भरे पड़े हैं। इस विरह-वर्णन में कवि ने पुरानी रीतिकालीन पद्धति तथा नवीन रंगत की वेदना और लाक्षणिक वैचित्र्य वाले गीतों का बहुत उत्तम मिश्रण प्रकट किया है। सूरदास की वियोगिनी गोपियां जहां कहती हैं—

मधुवन ! तुम कित रहत हरे !
विरह-वियोग श्यामसुन्दर के काहे न उकठि परे

वहां ऊर्मिला कहती है—

रह चिरदिन तू हरा भरा,
बढ़, सुख से बढ़, सृष्टि सुन्दरी,

ऊर्मिला के हृदय की उदारता के प्रदर्शन में कवि की सफलता अद्भुत है। प्रिय-पति

लक्ष्मण के गौरव की भावना का भी बहुत अच्छा निर्वाह ऊर्मिला की विरह-कथा में किया गया है। गुप्त जी ने रामायण के भिन्न-भिन्न पात्रों के परंपरा से प्रतिष्ठित स्वरूपों ही से वर्तमान आन्दोलन की भावनाएं प्रगट की हैं। जैसे सत्याग्रह, विश्व-बन्धुत्व, मनुष्यत्व, प्रजा के अधिकार आदि।

'यशोधरा' की रचना प्राचीन चम्पू के ढंग पर है। उसमें बीच-बीच में गद्य भी है, भाव-व्यंजना गीतों में है।

'द्वापर' में यशोधरा, राधा, नारद, कंस, कुब्जा आदि की मनोवृत्तिओं के चित्र हैं।

गुप्त जी की सब से बड़ी नवीनता कालानुसरण की क्षमता है। इस दृष्टि से ये हिन्दी भाषी जनता के प्रतिनिधि हैं। भारतेन्दु के समय से उद्बोधन की तथा मानव-जन-हित की जो भावना अंकुरित हो रही थी, उसका सम्पूर्ण विकास मैथिलीशरण की रचना में हुआ।

उनकी प्रारम्भिक रचनाएं साधारण कोटि की थीं। 'गुरुकुल' की भूमिका में उन्होंने यह अनुभव किया कि वे समय से पिछड़े जा रहे हैं। क्रमशः वे 'भारत-भारती' से आगे बढ़े और 'जयद्रथ-वध' में वीर और करुण रस का परिपाक करने में समर्थ हुए और इसके बाद आधुनिक युग के प्रभात ही में उन्होंने अपना स्थान प्राप्त कर लिया। 'साकेत' में और 'यशोधरा' में आगे इस प्रकार उनकी वाग्धारा विकसित हुई—

"युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।
निज जन्म जन्म में सुनें जीव यह मेरा,
धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा॥"

"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई।"

"प्रियतम के गौरव ने,
लघुता दी है मुझे, रहें दिन भारी।"
सखि, इस कटुता में भी,
मधुर स्मृति की मिठास, मैं बलिहारी॥

"प्रोषित पतिकाएं हों,
जितनी भी सखी, उन्हें निमन्त्रण दे आ।
समदुःखनी मिले तो,
दुःख बँटे, जा, प्रणय पुरस्सर ले आ॥"

(साकेत)

'मिला न हा ? इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग।
देती उन्हें बिदा मैं गाकर,
भार झेलती गौरव पाकर।
पहुंचाती मैं उन्हें सजाकर,
गये स्वयं वे मुझे लजाकर।'

(यशोधरा)

'पहुंचो जब हरि-निकट सुनाना उन्हें राधिका का रोना,
श्याम बिना गोकुल रोता है कह देना साक्षी होना।
और नहीं कुछ कह सकती हूं, लज्जावश मैं हूं नारी,
मधु कहता है, व्रजबाले, मैं कह दूंगा बातें सारी।'

(विरहिणी व्रजाङ्गना)

भाषा की सफ़ाई, कोमल वर्णन की सरल भावना, तथा अभिव्यंजनाओं का लाक्षणिक वैचित्र्य इन्हें इनके अन्य सब समकालीन कवियों से पृथक् करता है। वे एक सामंजस्यवादी कवि हैं। प्रतिक्रिया का प्रदर्शन इनमें नहीं है। इनके हृदय की विशालता की छाप इनके प्रत्येक पद्य में है। प्राचीन के प्रति पूज्यभाव और नवीन के प्रति सोत्साह स्वागत गुप्त जी की विशेषता है। मैथिलीशरण गुप्त ही एक मात्र प्रथम कवि हैं, जो प्रारम्भ ही से हिन्दी-कविता की नई धारा में आगे बढ़े। इन्होंने प्राचीनता का स्पर्श नहीं किया। वे हिन्दी में सर्वतोभावेन आधुनिकता का प्रतिनिधित्त्व करने वाले प्रथम 'जनगायक' हैं। वे हिन्दी-कविता की नई धारा के प्रवर्तक भगीरथ हैं।

गुप्त जी का जन्म सन १८८६ ई० में चिरगांव (झांसी) में हुआ। इन्होंने प्रारम्भ में गांव के स्कूल में थोड़ी शिक्षा पाई, फिर घर ही पर हिन्दी, संस्कृत, मराठी और बंगला का अभ्यास किया। ये थोड़ी ही आयु से कविता करने लगे थे। राष्ट्रीय, पौराणिक और ऐतिहासिक कथावस्तु इन्हें प्रिय रहा। इसी समय पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से इनका सम्पर्क हुआ। इन की रचनाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध 'भारत-भारती' और सर्वश्रेष्ठ 'साकेत' और 'यशोधरा' हैं।

भाव-कवि जयशङ्कर प्रसाद—

जयशंकर प्रसाद का मुख्य स्थान काव्य और नाटक रहा। इनकी सम्पूर्ण चेतना-शक्ति इनके कवित्व में अन्तर्हित होकर इतिहास के धुंधले पृष्ठों के अध्ययन में लगी रही। वे बुद्ध, मौर्य और गुप्त-काल के पृष्ठों के भावुक विद्यार्थी रहे। इनकी भाषा एकपक्षीय है, और उस में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का इतना बाहुल्य है कि वह साधारण पाठकों के लिये दुरूह, शुष्क और अव्यावहारिक होगई है। इसी भाषा में उनकी दार्शनिकता और चिन्ताशीलता एवं ऐतिहासिक भावुकता मिल गई है।

फिर उस पर सम्प्रदाय का थोड़ा पुट चढ़ गया है, इससे उनकी रचनाएं मौलिक और साहित्यिक तो हैं परन्तु सर्वसाधारण के जीवन के निकट नहीं।

प्रसाद ने पहिले व्रज-भाषा में कविता लिखना प्रारम्भ किया था। इनका संग्रह 'चित्राधार' में है। सन १६१३ से वे खड़ी बोली के क्षेत्र में आए। प्रारम्भ में इस मार्ग पर उन्होंने श्रीधर पाठक का अनुसरण किया और उनके दिखाए पथ पर अतुकान्त रचनाएं कीं। इन रचनाओं में द्विवेदी काल की पूरी छाप थी। काननकुसुम, महाराणा का महत्त्व, करुणालय और प्रेम-पथिक उनकी ऐसी ही रचनाएं हैं। परन्तु इस समय मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और मुकुटधर पाण्डे आदि कुछ कवि अन्तर्भावना की प्रगल्भ चित्रमयी व्यंजना स्वच्छ छन्दों में करने लगे थे। प्रसाद तुरन्त ही उधर झुक गए और शीघ्र ही अपनी प्रतिभा से उस नवीन पद्धति के विशिष्ट कवि हो गये। इस प्रकार की उनकी प्रारम्भिक रचनाएं 'झरना' में हैं। 'झरना' के प्रथम संस्करण की रचनाएं साधारण थीं, परन्तु उसके उत्तरकालीन संस्करण में उसका रूप बदल दिया गया था। इस संस्करण में रहस्यवाद-व्यंजक चित्र-काव्य, और नई अभिव्यंजना वाली आधी से अधिक नूतन कविताएं जोड़ दी गई थीं। सब से पहले प्रसाद का छायावाद इसी रचना में प्रकट हुआ, आगे चलकर उन्होंने अपनी माधुर्यपूर्ण कोमलतम प्रवृत्तियों को अपनी जाग्रत प्रतिभा के सहारे इस प्रकार विकसित किया कि वे इस विषय के अपने समय के सब कवियों से आगे बढ़ गए। इसके बाद ही इनकी सब से प्रथम प्रौढ़ रचना 'आंसू' सन १९२० में प्रकाशित हुई। जो आधुनिक काल की अपने विषय की श्रेष्ठ रचना थी। इसके बाद प्रसाद, एक भाव-कवि के रूप में अकेले ही आधुनिक काल में चले आए और अन्त तक अकेले ही रहे।

आधुनिक युग में इन्होंने अपनी शेष रचनाएं कीं। 'कामायनी' इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना रही। परन्तु उसमें शैवतन्त्र का जो रहस्य है उसने उस वैदिक काल की जटिल कहानी की धुंधली मूर्ति को मानव-विचारधारा के लिए दुर्लंघ्य कर दिया।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण देखिए—

"प्रतिमा में सजीवता सी, बसगई सुछवि आंखों में
थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में।"

"मधुमालतियां सोती हैं, कोमल उपधान सहारे।
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर, गिनता अंबर के तारे।"

"इतना सुख जो न समाता, अन्तरिक्ष में जलथल में,
उनकी मुट्ठी में बन्दी था, आश्वासन के छल में।"

'घने प्रेमतरु तले,
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले।
छाया है विश्राम की श्रद्धा-सरिता कूल।
सिंची आंसुओं से मृदुल है परागमय।
मांझी, साहस है खेलोगे ?
अनजाने तटकी मदमाती
लहरें, क्षितिज चूमतीं आतीं,
ये झिटके झेलोगे ?'

प्रथम राष्ट्रीय कवि रामनरेश त्रिपाठी—

पं० रामनरेश त्रिपाठी प्रथम राष्ट्रीय कवि हैं। देशभक्ति की भावना से देश के युवक हृदयों में जो स्वाभाविक कवित्व है रामनरेश त्रिपाठी उस कवित्व के प्रतिनिधि कवि हैं। युवकों के देशभक्ति से उत्तेजित गर्म मस्तक में जो विचार उत्पन्न होते हैं त्रिपाठी जी उन्हें कविता का रूप देने में सिद्धहस्त हैं। इस कार्य में त्रिपाठी जी का कौशल यह है कि उन्होंने उपदेशक बनकर देशभक्ति के उपदेश नहीं दिए, अपितु अपनी रचनाओं में ऐसे पात्रों की सृष्टि करके उनके मुख से उद्गार निकलवाए हैं। उनकी तीन पुस्तकें 'पथिक' 'मिलन' तथा 'स्वप्न' ऐसी ही रचनाएं हैं जो खण्ड-काव्य के रूप में हैं। इनमें युवक हृदय का एक नैसर्गिक उद्वेग है। इन्होंने ऐतिहासिक या पौराणिक बन्धनों में फंसना पसन्द नहीं किया, और अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिये स्वच्छन्द नूतन कथाओं की उद्भावना की। इस प्रकार स्वदेश-भक्ति की भावना का जो बीज भारतेन्दु-युग में बोया गया था उसे सींच कर अंकुरित करने का श्रेय त्रिपाठी जी को दिया जा सकता है।

भाषा की सफ़ाई और कविता के प्रसाद-गुण का भी इन्हें बहुत ध्यान रहता है। काव्य-भाषा में लाघव लाने के लिये कुछ कारक चिह्नों और संयुक्त क्रियाओं के अन्तिम अवयवों को छोड़ना इन्हें पसन्द नहीं।

देश-प्रेम को रसात्मक रूप देने वाले त्रिपाठी जी ही हैं। उनका प्रकृति-वर्णन बड़ा व्यापक है। सुन्दर अलंकारिक साम्य स्थापित करने में भी त्रिपाठी जी बड़े सिद्धहस्त हैं। इनमें तारीफ़ यह है कि झूठे आरोपों की उड़ान ये नहीं उड़ते।

'स्वप्न' में इन्होंने यत्किंचित् छायावाद का रंग भी दिखाया है। देखिए—

प्रिय की सुधि सी ये सरिताएं, ये कानन कांतार सुसज्जित।
मैं तो नहीं, किन्तु है मेरा हृदय किसी प्रियतम से परिचित।
जिसके प्रेम पत्र आते हैं प्रायः सुख संवाद सन्निहित।

जगत् की प्रगति पर जब कवि विचार करने लगता है, तो वह सोचता है—

इसी तरह की अमित कल्पना के प्रवाह में मैं निशि वासर।
बहता रहता हूं विमोह वश नहीं पहुंचता कहीं तीर पर।
रात दिवस की बूंदों द्वारा तनघट से परिमित यौवन जल।
है निकला जा रहा निरंतर, यह रुक सकता नहीं एक पल।

और अन्त में वह इस प्रकार कर्म-मार्ग पर स्थिर होने का संकेत करता है—

सेवा है महिमा मनुष्य की, न कि अति उच्च विचार-द्रव्य-बल।
मूल हेतु रवि के गौरव का है प्रकाश ही न कि उच्च स्थल।
मन की अमित तरंगों में तुम खोते हो इस जीवन का सुख।

किसी अदृश्य प्रेमी से कवि कहता है—

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बन कर किसी के आंसू मेरे लिये बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में।

कवि की कुछ अभिलाषाएं भी हैं। देखिए—

प्रतिक्षण नूतन वेश बना कर रंग-बिरंग निराला।
रवि के सन्मुख थिरक रही है, नभ में वारिद माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घर पर बैठ बीच में बिचरूं यही चाहता मन है।

एक दरिद्र भारतीय की भावना भी देखिए—

घुमड़-घुमड़ कर जब घमण्ड से उठता है सावन में जलधर।
हम पुष्पित कदम्ब के नीचे झूला करते हैं प्रति वासर।
तड़ित-प्रभा या घन गर्जन से भय या प्रेमोद्रेक प्राप्त कर।
वह भुज बंधन कस लेती है यह अनुभव है परम मनोहर।
किन्तु उसी क्षण वह गरीबनी, अति विषादमय जिसके मुंह पर।
घुने हुए छप्पर की भीषण चिन्ता के हैं घिरे वारिधर।
जिसका नहीं सहारा कोई आ जाती है दृग के भीतर।
मेरा हर्ष चला जाता है एक आह के साथ निकल कर।

(स्वप्न)

इनका जन्म सन १८९० में हुआ। ये सरयूपारीय ब्राह्मण हैं। इन्होंने लगभग ४० ग्रन्थ लिखे हैं। ग्राम्य गीतों पर इनका अध्ययन अच्छा है।

नव्यकालीन भक्त कवि वियोगी हरि—

'हरिऔध' जी ने जब ब्रजभाषा का क्षेत्र छोड़ा तब 'वियोगी-हरि' ही 'रत्नाकर' जी के बाद ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि रह गए। प्राचीन भक्त-कवियों की

भांति इन्होंने प्रायः भावपूर्ण भक्ति-गान किया है। प्राचीन कवियों की अपेक्षा इनकी भक्ति-भावना में एक विशेषता यह है कि ये दीन-दुनिया को इतना असार नहीं समझते तथा इनके भगवान् इन्हीं के घट में व्याप्त हैं—मन्दिर में जाने की इन्हें आवश्यकता नहीं है। न ये कट्टर वैष्णव हैं, न प्राचीन रूढ़ि के पुजारी। ये हरि-सेवक ही नहीं—हरिजन-सेवक भी हैं। वह भी बातों से नहीं, कार्यों से।

इनकी आकुल प्रेम-भावना अलौकिक है। उसके आलम्बन को देख न सकने पर भी ये उसी को सत्य और उसी को जीवन मानते हैं।

इन्होंने सबसे अधिक प्रसिद्धि 'वीर सतसई' के कारण पाई जिस पर इन्हें मंगलाप्रसाद-पारितोषिक भी मिला। इसमें वीर रस के स्थायी भाव की व्याप्ति बहुत दूर तक दिखाई गई है। देश के प्राचीन और नवीन वीरों की वीरता का तो बखान किया ही गया है। विरहिणी व्रजाङ्गनाओं की विरह-वीरता का भी दिग्दर्शन हुआ है। यह कवि की यद्यपि एक क्लिष्ट कल्पना है पर उसकी नई सूझ की द्योतक है। रचना में केवल भावपक्ष ही प्रधान नहीं है, उसमें कलापक्ष की भी काफ़ी योजना है। यमक, उपमा, अलंकार, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, विरोधाभास का अच्छा विधान किया गया है। यद्यपि वियोगीहरि 'रत्नाकर' जी की कसावट को नहीं पहुंच सके फिर भी जहां तक अर्थ-गाम्भीर्य और भाषा की सफ़ाई का सम्बन्ध है वियोगीहरि उसमें सफल हैं।

वीर रस और शृङ्गार रस की व्यंजनाओं में एक बात विचारणीय है—शृंगार रस की स्थापना तो चाहे भी जिस काल्पनिक नायिका पर हो सकती है परन्तु वीर रस की स्थापना के लिये काव्य का आलम्बन ऐसा होना आवश्यक है जिसके सुनाम के साथ पाठक की उत्तेजित स्मृति पहले ही से उपस्थित हो। इसी से वीर रस का संचय जनकल्याण के लिये आत्मोत्सर्ग करने वाले आदरणीय महापुरुषों को ही आलम्बन बनाकर किया जाता है। 'वियोगी हरि' ने ऐसे ही आलम्बनों का आश्रय लिया है।

इनकी व्रजभाषा का संगठन कुछ ढीला है। और कुछ शब्दों के प्रयोग चिन्त्य हैं। कहीं २ अलंकार-प्रदर्शन ठीक नहीं हुआ है। जैसे—

ग्रसित ग्राह अवरंग मुख, खण्ड बुँदेल गयन्द।
उमँगि उधायो धाय धनि, हरि इव चंपत नन्द।

यहां रूपक में उपमावाची 'इव' ठीक नहीं है।

कहीं २ इन्होंने अपभ्रंश की झांकी भी दिखाई है—

'रण सुभट्ट बै भुट्ट लौं, गहि असि कट्टत मुंड।
उठि कबन्ध जुट्टत कहूं, कहुं लुट्टत रिपु मुंड।

एक दो उत्तम दोहे पढ़िए—

'माथ रह्यौ वा न रह्यौ, तजै न सत्य अकाल।
कहत कहत ही चुनि गए, धनि गुरु गोविन्दलाल।'
'झूमत हे जहँ मत्त है, सहज सूर दिन रैन।
कटकि लजीले छैल तहँ, मटकि नचावत नैन।'

अब इनकी भक्तिवाद का भी नमूना देखिए—

माधव आज कहौ किन सांची।
क्यों हम नीचन तें हरि रूठे, ऊंचन में मति राँची।
यंत्रित बज्र कपाटनि गढ़ए, दृढ़ मंदिर तुम पाए।
बलिहारी रणछोड़नाथ जू, भले भाजि इत आए।
हम सब के अघ देखि दुरे हौ किधौं मंदिरन माँहीं।
कै कछु डरत उच्च बंसिन सों, छुअत न हमरी छाँहीं।
पै इतहूं नहिं कुसल तुम्हारी, कलन लेन हम दैं हैं।
जो पै हियें प्रेम कछु है है, तुम्हें खेंचि प्रभु लैं हैं—

इन्होंने कुछ फुटकर तथा कुछ भक्तमाल के ढंग पर भी रचनाएं की हैं। कुछ रचनाएं कवियों की कीर्ति-बखान की भी हैं।

पं० हरिप्रसाद जी 'वियोगी हरि' का जन्म सन १८६७ में हुआ। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं तथा राष्ट्रीय कवि हैं। इन्होंने ४० से ऊपर ग्रन्थ रचे हैं।

ठाकुर गोपालशरणसिंह—

गोपालशरणसिंह उन कवियों में से हैं जिन पर द्विवेदी जी का काफ़ी प्रभाव पड़ा है। यद्यपि इनकी अधिकांश रचनाएं आधुनिक काल में हुईं परन्तु इनमें कवित्व की नवीन-धारा का बीज द्विवेदी-काल में द्विवेदी जी के खास प्रभाव से बोया गया तथा अंकुरित हुआ। जिस समय खड़ी बोली की कविता अपने पैरों पर खड़ी होने की चेष्टा कर रही थी उसी समय ये मैथिलीशरण गुप्त के ढंग पर कविता करने में अग्रसर हुए थे। इनकी ये रचनाएं 'ज्योतिष्मती' और 'संचिता' में संगृहीत हैं। कुछ दिन चुप रह कर इन्होंने जब फिर से काव्यक्षेत्र में प्रवेश किया तब इन्होंने अभिव्यंजना की एक नई शैली ग्रहण की। इस समय के छन्द अधिकांश घनाक्षरी हैं और 'माधवी' में संगृहीत हैं। 'कादम्बिनी' और 'मानवी' इनकी सर्वोत्तम रचनाएं हैं। 'कादम्बिनी' में प्रकृति-वर्णन और 'मानवी' में नारी जीवन की आलोचना है।

बहिर्भूमि कवि—

इसी युग में कुछ ऐसे भी कवि हुए जो द्विवेदी जी के प्रभाव से पृथक् रहे। और जिनकी काव्यधारा स्वतन्त्र रीति पर चलती रही। इनमें कई प्रभावशाली और

व्यक्तित्व वाले कवि रहे । इनमें कुछ तो दुरंगी कविता करते थे—अर्थात् शृङ्गार, वीर, भक्ति आदि विषयों पर व्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के कवित्त सवैयों में और नवीन आधुनिक विषयों पर खड़ी बोली में । खड़ी बोली का प्रभाव और पसन्द बढ़ती ही जाती थी और कविता के लिए नई २ भूमि दीखने लगी थी । स्वदेश-भावना, आचार, आचरण, त्याग, वीरत्व, उदारता, सहिष्णुता और जीवन के कुछ अन्य वैयक्तिक और सार्वजनिक पक्षों पर कविताएं बड़े उत्साह और चाव से सुनी जाने लगी थीं । इनमें कुछ की भूमि पौराणिक ऐतिहासिक तथा अर्ध-ऐतिहासिक भी रही । कहना चाहिए कि ऐतिहासिक रसका प्रादुर्भाव इसी युग में हुआ । जीवन की गूढ़ स्थिति व्यक्त करने की ओर भी एकाध कवि का ध्यान गया ।

बा० जगन्नाथदास रत्नाकर—'रत्नाकर' जी की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं, परन्तु द्विवेदी-काल में भी इन्होंने महत्त्वपूर्ण साहित्य रचा । यह हम पीछे संकेत कर चुके हैं कि इस काल में साहित्य में जो जो तूफ़ान आए उनमें 'रत्नाकर' अचल पर्वत की भांति अडिग रहे । द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका में जो खड़ी बोली की कविता का आन्दोलन चलाया था, उसने बड़ों २ को विचलित कर दिया था पर 'रत्नाकर' जी पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा । अपने जीवन-प्रभात में भारतेन्दु की समकालीन कवि-मण्डली के सहयोग में रह चुकने के कारण उसका गहरा रंग इन पर था । इन्होंने व्रजभाषा-साहित्य का गहरा अध्ययन किया था और प्रारम्भ ही से काशी में बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा स्थापित कविसमाज में अपनी समस्यापूर्तियां पढ़ा करते थे । इन्होंने अपने जीवन में लम्बे काल तक काव्य-रचना की । फ़ारसी और अंग्रेज़ी के ज्ञाता एवं एक राज्य के प्रबन्ध से घनिष्ठ सम्बन्ध होने से इनकी भाषा विशुद्ध साहित्यिक ही रही । हां, इन्होंने अंग्रेज़ी काव्य की वक्रता और लाक्षणिकता की योजना अपनी रचनाओं में अवश्य की । यह इनकी प्रतिभा का चमत्कार था कि इस नई वक्रता को इन्होंने ऐसे कौशल से अपनाया कि कहीं भी विदेशीपन नहीं आ पाया । इसी कारण इस नव्य युग में इनके हाथों से व्रजभाषा की व्यंजना-शक्ति का अपूर्व विकास हुआ ।

व्रजभाषा का सम्यक् अध्ययन करके इन्होंने उसका एक विशिष्ट रूप बनाकर अपने काव्य में आद्यन्त उसका प्रयोग किया । भाव और भाषा दोनों ही में ये बिहारी के निकट पहुंच गए । द्विवेदी जी का एक यह प्रभाव इन पर अवश्य पड़ा कि इनकी काव्य-रचना व्याकरण की शुद्धि का एक उदाहरण बन गई । अलंकार का भी एक संयत, शिष्ट किन्तु कलापूर्ण रूप इन्होंने व्यक्त किया तथा सफलतापूर्वक अलंकारों में चित्रोपमा का दिग्दर्शन किया । य

कुछ ऐसे अलंकार भी अपनी भाषा में लाए जिनका अभी तक भाषा-काव्य में नामकरण भी नहीं हुआ था और जिनका प्रयोग अंग्रेज़ी साहित्य में होता था। इनके शब्द-चित्रों का समूर्त रूप इस छन्द में देखिए—

उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगी।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यो है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं।

इनकी रचना के और भी दो उदाहरण देखिए—

जोगिनी की भोगिनी की विकल वियोगिनी की,
जग मैं न जागती जमा तैं रहि जाइंगी।
कहै 'रतनाकर' न सुख के रहे जौ दिन,
तोये दुख-द्वन्द की न रातैं रहि जाइंगी।
प्रेम नेम छांड़ि ज्ञान-क्षेम जो बतावत सो,
भीति ही नहीं तौ कहा घातैं रहि जाइंगी।
घातें रहि जाइंगी न कान्ह की कृपा तैं इती,
ऊधो कहिबे कौं बस बातैं रहि जाइंगी।

एक उदाहरण इनके वीर-रस का भी देखिये—

वीर अभिमन्यु की लपालप कृपान बक्र,
सक्र-असनी लौं चक्रव्यूह मांहि चमकी।
कहै 'रतनाकर' न ढालनि पै खालनि पै,
झिलिम झपालनि पै क्यों हूं कहूं ठमकी।
आई कंध पै तो बाँटि बंध प्रतिबन्ध सबै,
काटि काटि-सन्धि लौं जनेवा ताकि तमकी।
सीस पै परी तौ कुण्ड काटि मुण्डकाटि फेरि,
रुण्ड के दुखण्ड कै धरा पै आन धमकी।

इनका जन्म काशी में सन १८६७ में हुआ। ये दिल्ली के अग्रवाल वैश्य थे। इनके परदादा तुलाराम जहांदारशाह के पिता के साथ काशी आए थे, तब से ये यहीं रहने लगे। रत्नाकर जी के पिता हिन्दी और फ़ारसी काव्य के बड़े प्रेमी थे। उनके पास कवियों का जमघट रहता था। वहीं से इनको भी कविता की चाट पड़ गई। ये उर्दू में ग़ज़लें और शेअर कहने लगे। पीछे इनकी भाषा सम्बन्धी रुचि बदली और ये हिन्दी में कविता करने लगे। सन १९९२ में काशी ही में बी० ए० की डिग्री प्राप्त की, तब इनकी दूसरी भाषा फ़ारसी थी। कुछ दिन बाद ये रियासत आवागढ़ में नौकर हो

गए। बाद में सन १९०२ में अयोध्या-नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी हो गए। उनके देहान्त पर उनकी महारानी के सेक्रेटरी रहे। स्वभाव के विनोदी, सरल और मिलनसार थे।

मिश्रबन्धु—रत्नाकर जी के बाद हम मिश्रबन्धुओं को इस काल के बहिर्भूमि-कवियों में पाते हैं। मिश्रबन्धु एक नई निराली विशेषता यह रखते हैं कि वे पुरानी भाषा और पुरानी परिपाटी पर सर्वथा आधुनिकता, परिपूर्णता, दर्शनिकता और विज्ञानपूरित विचारधारा को प्रगट करते हैं। भाषा और काव्य-परिपाटी के सम्बन्ध में इन पर द्विवेदी जी का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा है। साथ ही एक अत्यन्त विचारणीय बात यह भी है कि साहित्याकाश में ये प्रच्छन्न रहते रहे हैं। इनकी रचनाओं के एक दो उदाहरण यहां देते हैं।

अधम उधारन की धारी है सुबानि कत,
अधम उधारन सों जो पै सकुचात हौ।
दीनबन्धु काहे ते कहावत जहान मैं जो,
दीन दुख टारन मैं धरे ढील गात हौ।
करुना निधान की उपाधि तजि देहु जो पै,
साफ़ इनसाफ़ करिबे को ललचात हौ।
पतित सुपावन को छोडौ नाम जो पै ऐसो,
पतित पुनीत करिबे को न सिहात हौ।

रावरी कृपा की कोर लहि के कछुक गहि,
गरव गँभीर पाप पुंजन कमायो मैं।
देसन को चूर करि सतगुन दूर करि,
क्रूर बनि केवल कुगुन अपनायो मैं।
सब को समान सतकार कै उदार ह्वै कै,
जैग उपकार मैं कबौ न मन लायो मैं।
आरत ह्वै भारत पुकारत है नाथ अब,
पाहि पाहि रावरी सरन तकि आयो मैं।

राय देवीप्रसाद पूर्ण—पूर्ण जी कानपुर के रसिक-समाज में अति लोकप्रिय कवि थे। इनकी कविता में दार्शनिकता का पुट रहता था, फिर भी वे किसी दार्शनिक तथ्य को ऐसा रसात्मक रूप नहीं दे सके जो सर्वतोभावेन हृदयग्राही हो। उनके 'वसन्त वियोग' में भारत-दशा सूचक प्राकृतिक विभूति के अनेक चित्रों के बीच बीच में कुछ दार्शनिक तत्त्व दीख पड़ते हैं, जहां अंत में आकाशवाणी क द्वारा भारत-कल्याण के लिये कर्म, योग और भक्ति का उपदेश दिया गया है।

पूर्ण व्रजभाषा के प्रौढ़ कवि थे। इन्होंने कानपुर में एक रसिक समाज की स्थापना की थी जिसमें ये जीवनभर व्रजभाषा का सरस प्रवाह बहाते रहे। उस

समाज की ओर से 'रसिक वाटिका' नाम की एक पत्रिका निकलत थी, जिसमें उस समय के प्रायः सब व्रजभाषा-कवियों की सुन्दर रचनाएं प्रकाशित होती थीं। वे सनातन धर्म के अनुयायी एक अध्ययनशील व्यक्ति थे। उपनिषद् और वेदान्त में इनकी अच्छी गति थी। कोई सभा समाज ऐसा न होता जिसके अधिवेशन में 'पूर्ण' अपनी कविता न सुना पाते हों।

पूर्ण जी ने नए और पुराने दोनों ढंग की रचनाएं कीं। पुराने ढंग की रचनाओं के अन्तर्गत ऋतु-वर्णन में पूर्ण जी 'सेनापति' के निकट पहुंच गये हैं। ग्रीष्म वर्णन देखिए—

धावत धुँधात घनी धावत गगन धूरि,
प्रबल बबंडा ठौर-ठौर भूमि भासे है।
तापत प्रचण्ड मारतण्ड महिमण्डल को,
जरत जमीन जल जीव जाल तासे हैं।
डारिए पखान हू पै पानी सौ छनक जात,
'पूरन' बिलोकि गति भाव यों प्रकासे हैं।
ग्रीसम समैं में को चलावै जीवधारिन की,
जा में जड़ पाहन हूं व्याकुल पियासे हैं।

अब इनकी खड़ी बोली की रचना के भी उदाहरण देखिए—

'देख तव वैभव, द्रुम कुल संत! विचारा उसका सुखद निदान।
करे जो विषम काल को मन्द, गया उस सामग्री पर ध्यान।
रंगा निज प्रभु ऋतुपति के रंग, द्रुमों में अमलतास तू भक्त।
इसी कारण निदाघ प्रतिकूल, दहन में तेरे रहा असक्त।

सरकारी कानून का, रखकर पूरा ध्यान।
कर सकते हो देश का, सभी तरह कल्यान।
सभी तरह कल्यान, देश का कर सकते हो।
करके कुछ उद्योग, सोक सब हर सकते हो।
जो हो तुम में जान, आपदा भारी सारी।
हो सकती है दूर, नहीं बाधा सरकारी।

व्रजभाषा का एक उदाहण देखिए—

नव कलित केसर-बलित-हरित-सुपीत नीव निहारि कै।
करि असन दल कदलीन जो कलियांहि प्रथम कछार कै।
हे मन! बिपिन थल अमल परिमल पाय भूतक की भली।
मधुकर मतंग कुरंग वृन्द जनाय हैं तेरी गली।

ये कानपुर के अच्छे वकीलों में से थे। इनका देहावसान ४० वर्ष की

अल्पावस्था ही में हो गया ।

नाथूराम शंकर शर्मा; जन्म १८६०—पं० नाथूरामशंकर शर्मा की छाप इनके प्रत्येक पद पर है । इनकी कविता का निरालापन ही निराला है । वे एक सिद्धहस्त पद्यकार थे । देखिये—

फैल गया हुड़दंग होलिका की हलचल में ।
फूल-फूल कर फाग फका महिला मण्डल में ।
जननी भी तज लाज बनी ब्रजमक्खो सबकी ।
पर मैं पिण्ड छुड़ाय जवनिका में जा दबकी ।

फबतियां कसने और फटकार सुनाने में शंकर से कोई कवि बाजी नहीं मार सकता परन्तु जब आप शान्त रहते थे, बड़ी ही स्निग्ध भाषा रचते थे । देखिए—

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मन्द मन्द पड़ जायेंगे ।
मीन बिन मारे मर जायेंगे सरोवर में,
डूब-डूब 'शंकर' सरोज सड़ जायेंगे ।
चौंक-चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायेंगे ।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायेंगे ।

समस्यापूर्ति ये बड़ी सटीक और मार्के की करते थे । ये प्रतापनारायण मिश्र के पुराने मित्रों में से थे । सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में इनकी पूर्तियां और कविताएं बड़े चाव से पढ़ी जाती थीं । इनके छन्दों के विधान नपे-तुले और उद्भावनाएं बड़ी ही अनूठी होती थीं । एक वियोग-वर्णन पढ़िए—

शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की,
भाव बन अम्बर ते ऊंची चढ़ जाएगी ।
दोनों ध्रुव-छोरन लौं पल में पिघल कर,
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जाएगी ।
झारेंगे अंगारे ये तरनि तारे तारापति,
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ जाएगी ।
काहू विधि विधि की बनावट बचैगी नाहिं,
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जाएगी ।

लोग कहते हैं कि इनकी खड़ी बोली की पद-रचना कुछ अधिक खड़ी है, उसमें डंडेबाजी की सी ध्वनि है । वास्तव में इनमें आर्यसमाज की प्रारम्भिक अवस्था का आभास है, कवियों में एक यही आर्यसमाजी कवि हैं । इन्होंने समाज के अंधविश्वास और कुरीतियों पर जहां जहां कलम चलाई है, पूरी कसर निकाल

ली है। इनका 'गर्भरंडा रहस्य' इस बात का अच्छा उदाहरण है जिसमें विधवाओं की दुर्दशा और देवमन्दिरों के अनाचार का प्रदर्शन किया गया है। सन १९३७ में शंकर जी का स्वर्गवास हुआ।

पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही—पहले ये 'त्रिशूल' उपनाम से उर्दू में कविता करते थे। धीरे २ व्रजभाषा में और फिर खड़ी बोली में इन्होंने रचनाएं प्रारम्भ कीं। खड़ी बोली की रचनाओं ही से इनकी प्रसिद्धि हुई। इनकी सब से बड़ी विशेषता इनकी भाषा है जिस में अधिक से अधिक मुहावरों का प्रयोग है। सनेही जी सदैव इस बात में सचेष्ट हैं कि वे बोलचाल की भाषा से काम चला लें। इनकी कविता का मुख्य विषय प्रेम है, और उर्दू की लटक उसकी विशेषता है। देखिए—

ख़म आबरू में न तुम्हारे कभी आने पाये,
सितम पै सितम सनेही उसे ढाने दो।
हारो या कि जीतो रहो आस पर जीते रहो,
ख़ूने दिल पीते रहो आंसू मत आने दो।

इनकी भाव-तन्मयता की सादगी और गहराई देखिए—

तेरे स्वेद बिन्दु मकरंद से सुगन्धित हो
मंजुल गुलाब ही का इत्र बन जाते हैं।
आते चित्रकार जो बनाने कभी तेरा चित्र,
देख के विचित्र छवि चित्र बन जाते हैं।

विरह के मौन की एक झांकी भी लीजिए—

मौन पतंग प्राण देता है समझ प्रेम का मोल।
मौन विरह में मैं जलता हूं रहकर अचल अबोल।
प्रियतम निष्ठुर है होने दो तू मत जिह्वा खोल।
आग न लगा हृदय में मेरे अपना हृदय टटोल।

लाला भगवानदीन—इनका जन्म १८६७ में फतहपुर ज़िले के बरबट ग्राम में हुआ। ये श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने बचपन में वहीं उर्दू और फ़ारसी की शिक्षा पाई। बाद में बुंदेलखण्ड में अपने फूफा के पास रह फ़ारसी पढ़ने लगे। ३, ४ वर्ष बाद फिर घर आकर अपने दादा से हिन्दी पढ़ी, बाद में मैट्रिक पास कर कुछ दिन सेन्ट्रल कालेज में पढ़े, पर उसे छोड़कर अध्यापक हो गये। विविध स्थानों पर अध्यापक रह कर आप १९०७ में काशी-सैण्ट्रल-हिन्दू-कालेज में उर्दू टीचर होकर आए। पीछे काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कोष में सहायक सम्पादक हो गए। इनके दादा इन्हें प्रेम से रामायण सुनाते थे, इसी से इनकी प्रवृत्ति

हिन्दी कविता की ओर हुई और १९ वर्ष की आयु में ये कविता करने लगे। पीछे जब ये छत्रपुर रहने लगे तब पं० गंगाधर व्यास से अलंकार तथा काव्य के नियम पढ़े और अनेक प्राचीन कवियों के काव्य का पाठ किया। इसके बाद शृंगार-तिलक, शृंगार-शतक तथा रामायण के दोहों पर इन्होंने कुण्डलियां लिखीं। धीरे २ इन्होंने हिन्दी-साहित्य का छत्रपुर में एक वातावरण उत्पन्न कर लिया और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखते रहे। पीछे 'लक्ष्मी' के सम्पादक बने। प्रारम्भ में वे व्रज-भाषा में कविता करते थे, पीछे खड़ी बोली में लिखने लगे। खड़ी बोली में इन्होंने वीरों के चरित्र को लेकर प्रचलित किन्तु ओजपूर्ण भाषा में रचना की है। इन कविताओं का तर्ज वे प्रायः मुंशियाना रखते और बन्द या छन्द भी उर्दू रखते और चलते हुए अरबी फ़ारसी के शब्दों को भी काम में लेते थे। इन्होंने कई प्राचीन काव्यों की नए ढंग की टीकाएं कीं। रामचन्द्रिका, दोहावली, कवितावली, बिहारी-सतसई आदि की इनकी टीकाएं बहुत सुन्दर तथा विद्यार्थियों के बड़े काम की हैं। इनकी पुराने ढंग की एक कविता सुनिए—

सुनि मुनि कौसिक तें साप को हवाल सब,
बाढ़ी चित करुना की अजब उमंग है।
पदरज डारि करे पाप सब छारि,
कटि नवल सुनारि दियो धामहू उतंग है।
'दीन' भनै ताहि लखि जात पति लोक,
और उपमा अभूत को सुझानो नयो ढ़ंग है।
कौतुक निधान राम रजकी बनाय रज्जु,
पद तें उड़ाई ऋषि-पतिनी पतंग है।

नए ढंग का उदाहरण—

'वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता।
जो वीर-सुयश गाने में है ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का मान घटाता।
सब वीर किया करते हैं सम्मान क़लम का।
वीरों का सुयश गान है अभिमान क़लम का।

सत्यनारायण कविरत्न; जन्म १८८०—सत्यनारायण जी उन मधुर कवियों में से हैं जो खड़ी बोली के युग में भी व्रज भाषा की मृदु कोमल पदावली सुनाते रहे परन्तु ये रीतिकाल की परंपरा पर न चल कर, या तो भक्तिकाल के कृष्णभक्त कवि ही के ढंग पर चले या भारतेन्दु की नूतन प्रणाली पर। व्रज-भूमि, व्रजभाषा और व्रजपति इनकी तीन महानिधि थीं। ये अंग्रेज़ी की उच्च

शिक्षा प्राप्त करके भी बिल्कुल देहाती रीति से रहते थे। बगलबन्दी पर दुपट्टा, धोती और सिर पर गोल टोपी। इनका भीतर-बाहर एक सा था। वे छात्रावस्था ही से ब्रजभाषा में लिखने लगे थे। जब रिमझिम वर्षा होती वे अपने गांव के युवकों को साथ मिलाकर रलियां और ग्राम-गीत गाते थे। सवैया पढ़ने का इनका ढंग बड़ा मोहक था। मित्रों को प्रायः पद्य में पत्र लिखते थे। इनका गार्हस्थ्य जीवन सुखी न था पर वे सदा प्रसन्नमुख रहते थे। इनके हाथ में आकर ब्रजभाषा पुरानी परंपरा के बन्धन को तोड़ कर नये युग की जीती-जागती भाषा बन रही थी। वे ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करते थे जो प्रायः परंपरागत काव्यों में नहीं मिलते। इन्होंने उत्तररामचरित और मालतीमाधव का अनुवाद सवैयों में किया है। और मेकाले के अंग्रेज़ी खण्ड-काव्य 'होरेशस' का पद्यानुवाद भी किया है इनकी 'भ्रमरदूती' और 'प्रेमकली' उल्लेखनीय कविताएं हैं। इनकी कविता का उदाहरण देखिए—

लखि यह सुषमा-जाल-लाल निज बिन नंदरानी
हरि सुधि उमड़ी घुमड़ी तन उर अति अकुलानी
सुधिबुधि तज माथौ पकरि, करि करि सोच अपार
दृगजल मिस मानहु निकरि, बही विरह की धार
कृष्ण रटना लगी।

कौने भेजौं दूत, पूत सों बिथा सुनावै
बातन में बहराइ जाइ ताकों यह लावै।
त्यागि मधुपुरी को गयो छांड़ि सबन के साथ।
सात समुंदर पै भयो दूर द्वारिका नाथ
जाइगो को उहां।

एक पत्र आपने पं० पद्मसिंह शर्मा को लिखा था, जरा वह भी पढ़िए—

जो मोसों हँसि मिलै होत मैं तासु निरन्तर चेरो।
बस गुन हो गुन निरखत तिहि मधि सरल प्रकृति को प्रेरो
यह स्वभाव को रोग जानिए, मेरो बस कछु नाहीं।
नित नव विकल रहत याही सों सहृदय-बिछुरन माहीं
सदा दारु योषित सम बेबस आज्ञा मुदित प्रमानै
कोरौ सत्यग्राम कौ बासी कहा 'तकल्लुफ़' जानै।

इनकी मृत्यु केवल ३९ वर्ष की अल्प आयु में हो गई।

अध्याय सातवां

गद्य-साहित्य

उपन्यास और कहानी—यह एक विचारणीय बात है कि द्विवेदी काल में कोई शक्तिशाली नया उपन्यास-लेखक नहीं उत्पन्न हुआ। प्रभाव काल के औपन्यासिक धड़ाधड़ उपन्यास रच रहे थे, पर उनकी कला में नया विकास नहीं दीख पड़ता था। इनके सिवा सर्वश्री पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, रूपनारायण पाण्डेय, देवीप्रसाद मुन्सिफ़, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, रामलाल वर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, शिवनारायण द्विवेदी, व्रजनन्दनसहाय और श्रीधर पाठक ने यत्किंचित् प्रगति इस क्षेत्र में की थी। कहना यही चाहिए कि इस काल में उपन्यासों का नया विकास हुआ ही नहीं। हां बंगला, अंग्रेज़ी और गुजराती के कुछ अच्छे उपन्यास अवश्य अनूवदित हुए।

उपन्यासों की भांति कहानी-साहित्य का विकास भी इस काल में साधारण ही हुआ। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में जो कहानियां छपती थीं उन में कहानी-तत्त्व अवश्य होता था, परन्तु वे अधिक अनुवादित होती थीं। इस काल में सर्वश्री जयशंकरप्रसाद, छबीलेलाल गोस्वामी, ज्वालाप्रसाद और रामलाल वर्मा ने कुछ प्रगति की थी। जी० पी० श्रीवास्तव की हास्य-रस की कहानी 'लम्बीदाढ़ी' भी इसी समय छपी।

नाटक—नाटकों की दशा उपन्यासों और कहानियों की अपेक्षा कुछ अच्छी रही। परन्तु सच पूछा जाय तो नाटकों में भी नवीन प्रतिभा के दर्शन नहीं हुए। सर्वश्री जयशंकरप्रसाद, रुद्रदत्त शर्मा, रूपनारायण पाण्डेय, वृन्दावनलाल वर्मा, शिवनाथ शर्मा, नवीन बाबू, हरिदास माणिक और मैथिलीशरण गुप्त ने एकाध नाटक लिखे। वैदिक कथावस्तु को लेकर लिखा गया नाटक 'करुणालय' १९१२ में प्रसाद का छपा जो तब तक के प्रकाशित नाटकों में नई सजधज का था। मैथिलीशरण गुप्त के 'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास' भी उल्लेखनीय थे। और वृन्दावनलाल वर्मा का 'सेनापति उदाल' भी महत्त्वपूर्ण था, जो छठी शताब्दी के हूण-आक्रमण को लेकर लिखा गया था। प्रहसन पं० बदरीनाथ भट्ट और नवीन बाबू ने अच्छे लिखे।

निबन्धसंग्रह—निबन्धसंग्रहों में बा० बालमुकुन्द गुप्त का 'चौबे का चिट्ठा' शिष्ट शैली का व्यंग निबन्ध था। इसमें शिष्टहास्य और उत्तरदायित्वपूर्ण

एवं निर्भीक विचारधारा का प्रदर्शन था। इनके बाद जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, स्वामी सत्यदेव और प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धसंग्रह छपे। अध्यापक पूर्णसिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अच्छे छोटे २ निबन्ध लिखे।

साहित्य शास्त्र—इस काल में साहित्यशास्त्र सम्बन्धी रचनाएं उत्तरोत्तर कम होती गईं। केवल सन १६१६ में ला० भगवानदीन का 'अलंकार मंजूषा' छपा।

जीवन चरित्र—महत्त्वपूर्ण जीवनी इस युग में प्रायः नहीं लिखी गईं। साधारण चरित्र-ग्रन्थ अनेक प्रकाशित हुए। उल्लेखनीय पुस्तकों में राधामोहन गोकुल जी के 'देशभक्त लाजपत' तथा सम्पूर्णानन्द के 'धर्मवीर गान्धी' का नाम लिया जा सकता है। ऐतिहासिक चरित्रों में जयशंकरप्रसाद का 'चन्द्रगुप्त मौर्य' उल्लेखनीय है। सम्पूर्णानन्द का 'महाराज छत्रसाल' और नन्दकुमारदेव शर्मा का 'मुग़ल सम्राट् अकबर' भी अच्छा है। विदेशी चरित्र में रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का 'कर्नलटाड' उल्लेखनीय है।

वृत्तसंग्रह और इतिहास—वृत्तसंग्रहों में बा० गंगाप्रसाद गुप्त का 'विहारीवीर' और कार्तिकप्रसाद खत्री का 'भारत की विख्यात रानियों का जीवन चरित्र' उल्लेखनीय थे। मुस्लिम युग के इतिहासों में मुं० देवीप्रसाद मुंसिफ़ लिखित 'हिन्दुस्तान में मुसलमान बादशाह' तथा रामदेव एम० ए० का 'भारतवर्ष का इतिहास' और गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का 'सिरोही राज्य का इतिहास' उल्लेखनीय हैं। कुछ इतिहासों में क्रान्ति की भावनाएं व्यक्त हुईं। कुछ इतिहास राजनीतिक दृष्टिकोण से लिखे गए।

भाषा, लिपि और व्याकरण—इन विषयों पर गवेषणापूर्ण पुस्तकें लिखने का आरम्भ द्विवेदी जी की 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' नामक पुस्तक से हुआ। इस परम्परा पर बा० बालमुकुन्द गुप्त और रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा पं० चन्द्रधर गुलेरी ने अच्छा प्रयास किया। ओझा जी का ग्रन्थ 'प्राचीन लिपिमाला' अप्रतिम ग्रन्थ रहा। व्याकरण सम्बन्धी रचनाएं कामताप्रसाद गुरु और मौलिचन्द्र सुकुल की अच्छी रहीं। सन १९०९ में जगन्मोहन वर्मा ने एक आर्यप्राकृत व्याकरण भी लिखा। कुछ कोष-ग्रन्थ भी लिखे गए।

कला—कुछ ग्रन्थ ललित कला पर प्रकाशित हुए। उपयोगी कला परभी इस काल में कुछ उल्लेखनीय रचनाएं हुईं। कृषि और गृह शिल्प पर कुछ अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें लज्जाराम शर्मा की 'भारत की कारीगरी' और गंगाप्रसाद गुप्त की 'देशी कारीगरी की दशा' और 'स्वदेशी वस्तु स्वीकार' उल्लेखनीय थीं।

चिकित्सा और आरोग्य विषयों पर साधारण ग्रन्थ छपे।

देश-दर्शन—देशदर्शन सम्बन्धी साहित्य में विकास हुआ। विचार-स्वातन्त्र्य की जो भावना देश में फैली थी, उसका इस दिशा में प्रदर्शन हुआ। उल्लेखनीय ग्रन्थों में ठा० गदाधरसिंह का 'रूस-जापान-युद्ध' तथा 'जापानी राज्य-व्यवस्था' उत्तम प्रकाशित हुईं। सर्वश्री हरेकृष्ण जोहर, महेन्दुलाल गर्ग, गंगाप्रसाद गुप्त तथा अमृतलाल चक्रवर्ती ने इस ओर अच्छा प्रयास किया।

अर्थशास्त्र—अर्थ-शास्त्र पर उल्लेखनीय पुस्तकों में मिश्रबन्धु का 'व्यय' और बृजनन्दनसहाय का 'अर्थशास्त्र' उल्लेखनीय था। भारतीय अर्थशास्त्र पर भी दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। एक राधामोहन गोकुल जी का 'देश धन' दूसरा पारसनाथ द्विवेदी का 'देश की दशा'। एक पुस्तक 'भारतीय वाणिज्य' हरिनारायण टण्डन ने प्रकाशित की जिसमें अन्य बातों के साथ साथ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकालयों और संस्थाओं की भी सूची थी।

विज्ञान—प्रो० महेशचरण सिन्हा ने रसायन-शास्त्र (१९११) वनस्पति-शास्त्र (१९११) और विद्युत्-शास्त्र (१९१२ में) लिखे। भौतिक-विज्ञान पर प्रेमवल्लभ जोशी ने १९१५ में 'ताप' नामक पुस्तक लिखी।

समालोचना—समालोचना-साहित्य में कुछ जीवन दीखने लगा। द्विवेदी जी ने समालोचना का एक स्तम्भ ही सरस्वती में रख दिया था। वे स्वयं संस्कृत कवियों की कड़ी आलोचना करते थे। तुलसी, कबीर, रहीम, बिहारी, भूषण आदि प्राचीन कवियों पर तथा पूर्ण, गोबिन्द गिल्लाभाई, राधाकृष्णदास आदि नवीन कवियों पर समालोचना-पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें मिश्रबन्धु की 'भूषण ग्रन्थावली' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। पं० पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक समालोचना भी एक नई शैली पर की, बिहारी इस काल में समालोचना का विषय रहा। इसका प्रारम्भ 'हिन्दी नवरत्न' से हुआ और समाप्ति 'बिहारी और देव' (ला० भगवानदीन) पर।

समाज-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र पर कुछ ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें राजनीति पर 'हिन्दुओं की राज्य-कल्पना' १९१३ में अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखी। अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, नागरिक-शास्त्र, शिल्प और शिक्षा सिद्धान्त पर प्रायः एक एक दो दो ग्रन्थ लिखे गए। इनमें उल्लेखनीय ग्रन्थ शिवचन्द्र भरतिया का 'विचारदर्शन' सत्यदेव स्वामी का 'मनुष्य के अधिकार' और महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'शिक्षा' थे।

धर्म-साहित्य की प्रगति नहीं हुई। उल्लेखनीय पुस्तकों में सन १९११ में शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी का 'जैन धर्म का महत्त्व' तथा वेदान्त भावना का भीमसेन

शर्मा रचित एक ग्रन्थ 'पुनर्जन्म' १९१४ में छपा। एक ग्रन्थ राधामोहन गोकुल जी का नीतिकर्म पर सन १९१३ में 'नीतिदर्शन' नाम से छपा।

काव्य सम्बन्धित ग्रन्थ—प्राचीन काव्यों से सम्बन्धित ग्रन्थों में मु० देवीप्रसाद मुंसिफ़ की 'कविरत्नमाला' महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'कविता कलाप' तथा देवीप्रसाद मुंसिफ़ की 'मीरा' उल्लेखनीय हैं।

चरित्रों में—रामदीनसिंह कृत हरिश्चन्द्रकला, राधाकृष्णदास का 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' अच्छी पुस्तकें छपीं।

काव्य-समालोचना—ग्रन्थों में मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' सन १९११ में और मिश्रबन्धु-विनोद सन १९१४ में छपे। ये हिन्दी-काव्य-साहित्य के सर्वप्रथम सुव्यवस्थित इतिहास थे। खोज सम्बन्धी ग्रन्थों में मुं० देवीप्रसाद की 'राजपूताने में हिन्दी-पुस्तकों की खोज' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छपा।

विभाषा साहित्य—भारतीय विभाषा-साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थों में धार्मिक विवेचना की दृष्टि से जो अध्ययन हुआ, उनमें सदानन्द अवस्थी का 'दर्शनसारसंग्रह (१९१०) इन्द्र वेदालंकार की 'उपनिषदों की भूमिका' (१९१३) आर्यमुनि की 'वेदान्ततत्त्व कौमुदी' (१९१५) चन्द्रमणि विद्यालंकार की 'वेदार्थ करने की विधि' (१९१७) और सम्पूर्णानन्द का 'भारतीय सृष्टिक्रम विचार' महत्त्वपूर्ण रचनाएं हुईं। समालोचनात्मक दृष्टिकोण से संगठित ग्रन्थों में महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'कालिदास की निरंकुशता' (१९१२) श्रीपाद दामोदर सातवलेकर की 'महाभारत की समालोचना' कन्नोमल एम० ए० का 'भारत के धुरन्धर कवि' (१९१५) इन्द्र विद्यावाचस्पति का 'संस्कृत-साहित्य का अनुशीलन' (१९१६) महत्त्वपूर्ण है।

अन्तिम केवल संस्कृत अध्ययन से सम्बन्धित साहित्य है। इस काल में अन्य भारतीय विभाषाओं के अध्ययन से सम्बन्धित कोई उल्लेखनीय रचना नहीं हुई। विभाषा सम्बन्धित रचनाओं में केवल योरुपीय साहित्य से सम्बद्ध रचनाएं हुईं। एक रामावतार पाण्डेय का 'योरुपीय-दर्शन' (१९११) दूसरा कन्नोमल एम० ए० की 'हर्बर्ट स्पेन्सर की अज्ञेय मीमांसा' तथा 'ज्ञेयमीमांसा'। विभाषा-साहित्य का इस युग की समाप्ति तक भी काफ़ी अध्ययन नहीं हुआ था।

अध्याय आठवां

पद्य-साहित्य

धर्मकाव्य—रामचरित्र सम्बन्धी रचनाएं पुरानी ही परम्परा में हुईं। केवल एक रचना ला० भगवानदीन की 'रामचरणांक माला' कुछ नई शैली पर छपी। रामचरित्र की अतिरंजित अश्लील शैली समाप्त हो गई।

कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी रचनाओं में सन १९१४ में एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' अयोध्यासिंह उपाध्याय का प्रकाशित हुआ, जिसमें लेखक ने कृष्ण को लोकनायक, आदर्श देश-सेवी और समाज के नेता के रूप में ध्वनित किया। और उनके पौराणिक उपाख्यानों के वर्णित अतिमानुषी कार्यों को मानवीय तल पर लाकर एक स्वाभाविक रूप दे दिया। इसी काल में श्रीधर पाठक ने श्री मद्भागवत के 'गोपिकागीत' के आधार पर १९१६ में 'गोपिकागीत' की रचना की।

पौराणिक कुल को लेकर जो पुराने ढर्रे की रचनाएं हुईं, इनमें नवचेतना लाने वाला नवीन भावनाओं और व्यंजनाओं से परिपूर्ण सुन्दर काव्य मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथवध' सन १९१० में प्रकाशित हुआ।

अन्य भक्ति सम्बन्धी रचनाओं का ह्रास होता ही गया और सन १९१५ में कवि-प्रतिभा ने उसका सर्वथा ही त्याग कर दिया।

शृंगार काव्य—यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि सन १८०६ के बाद रीति-पद्धति पर शृङ्गार और नखशिख पर एक भी काव्य-ग्रन्थ नहीं लिखा गया और कवि-प्रतिभा ने इसका एक बारगी ही त्याग कर दिया।

ऐतिहासिक खण्ड-काव्य—विगत युग में पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर जो खण्ड-काव्यों की रचना हुई, उसी प्रकार की रचनाओं की एक नवीन परम्परा इस युग में विकसित हुई; जिसका आधार इतिहास था। और इस परम्परा का आरम्भ मध्य युग के इतिहास से हुआ।

इस परम्परा की पहली पुस्तक 'हल्दीघाटी का युद्ध' रामनारायण ठाकुर कृत १९०९ में छपी। इसका विषय महाराणा प्रताप का शौर्य-प्रदर्शन था। जयशंकरप्रसाद का 'प्रेमराज' जो उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है इसी परम्परा में है। यह १६१० में छपी। इसमें तालीकोट के प्रसिद्ध युद्ध के बाद जो १५६५ में हुआ था—विजयनगर के राजवंश की दशा का वर्णन है। १९१०

में ही मैथिलीशरण गुप्त की एक छोटी सी प्रारम्भिक रचना 'रंग में भंग' इसी परम्परा से सम्बन्धित थी। इसमें एक हाड़ा सरदार चित्तौड़ में बूंदी के एक किले की दशा में वीरत्व प्रदर्शन करके वीरगति को प्राप्त होता है। सन १६११ में बुंदेलखण्ड के इतिहास से १७ चित्र 'बुंदेलखंड का एलबम' के नाम से मुन्शी देवीप्रसाद मुंसिफ़ ने प्रकाशित किये। हल्दीघाटी के युद्ध पर फिर एक खंड-काव्य रचा गया, सन १९१२ में 'हल्दीघाटी की लड़ाई' जो हरिदास माणिक ने लिखी थी, छपी। सन १९१४ में छपे जयशंकर प्रसाद कृत 'महाराणा प्रताप का महत्त्व' का विषय भी वैसा ही है। १९१४ में सियारामशरण गुप्त रचित 'मौर्य विजय' में सिल्यूकस के विरुद्ध चन्द्रगुप्त मौर्य के वीरत्व का कवित्वपूर्ण वर्णन है। १६१४ में लोचनप्रसाद पाण्डेय द्वारा निर्मित 'मेवाड़ गाथा' भी इसी परम्परा के साहित्य में गिनी जा सकती है। १६१४ में श्रीनारायण चतुर्वेदी लिखित 'चारण' नामक पुस्तक में कई कथात्मक कविताएं संकलित हुई हैं। गोकुलचंद शर्मा की 'प्रणवीर प्रताप' नामक पुस्तक सन १६१५ में छपी।

ऐतिहासिक महाकाव्य—इस युग में एक भी नहीं लिखा गया। ऐसे महाकाव्य आगे चलकर लिखे गये।

मानव चरित्र—स्वार्थ भावना से प्रेरित और स्वान्तः सुखाय ऐसे दो प्रकार के कुछ मानव चरित्र लिख गये। परन्तु कोई रचना उल्लेखयोग्य नहीं।

प्रेमोपाख्यान—यह भी एक नवीन काव्य परम्परा इस युग में प्रादुर्भूत हुई। इसमें कुछ झलक सूफ़ी कवियों की पाई जाती है। इस प्रकार की रचनाओं में इस युग में केवल एक ही रचना जयशंकर प्रसाद की 'प्रेम पथिक' प्रकाशित हुई। यही इस परम्परा की प्रथम पुस्तक थी। आगे चलकर इस धारा का और भी विकास हुआ।

सामयिक और राष्ट्रीय—इस धारा में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक १९१२ में बा० मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' प्रकाशित हुई, जिस में अत्यन्त स्वाभाविक और प्रवाहपूर्ण शैली में भारत के अतीत गौरव और उसकी वर्तमान हीन दशा का वर्णन करके हृदयग्राही उद्बोधन भी दिया गया था। इस परम्परा में यही रचना आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करने वाली सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक जनप्रिय रही। सामाजिक और राष्ट्रीय अन्य रचनाएं साधारण ही हुई।

सामाजिक—सामाजिक रचनाओं का जो प्रारम्भ भारतेन्दुयुग से हुआ उसका प्रसार द्विवेदी-युग में साधारण और शिथिलता से हुआ।

इस परम्परा में नाथूराम शंकर जी की रचनाएं कुछ नवीनता लिये हैं परन्तु इनमें कवित्व-कला की कमी रही, साम्प्रदायिकता का प्रभाव अधिक रहा। अमीरअली मीर के 'बूढे का व्याह' में साधारण कवित्व-रस था, रामचरित उपा-

ध्याय जी की 'सूक्ति मुक्तावली' में कवित्व पर्याप्त था, और यही बात हरिऔध जी के 'उद्बोधन' के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

प्रकृति-वर्णन—इस प्रकरण में पुरानी परम्परा पर तीन रचनाएं उलेखनीय हुईं। इन में अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ऋतुमुकुर' जो सन १९१७ में छपा और श्रीधर पाठक का 'बनाष्टक' तथा प्रयागनारायण मिश्र का 'ऋतुकाव्य' जो सन १६१० में छपा उल्लेखनीय था। इन रचनाओं में काव्य-कला के साथ २ प्रकृति-वर्णन में कुछ नवीनता प्रकट हुई।

रहस्यवाद—इस युग में एक क्रान्तिकारी और सब से अधिक विकसित स्फुट काव्य-परम्परा का जन्म हुआ। इस परम्परा की सब से अधिक विशेषता काल्पनिक सर्वचेतनावाद है, जो प्रायः प्रणय-व्यापारों के रूप में हुई है। इस परम्परा के कवियों ने चराचर सम्पूर्ण विश्व को सचेतन अनुभव किया है और इस अनुभव के प्रकाश को अपने प्रेम में प्रतिबिम्बित किया है। कवि की चित्तवृत्तियों की व्यापक एवं चैतन्य चित्तवृत्तियों ही के आधार पर उन के प्रेम-प्रदर्शन में जितनी दिव्यभावना अथवा वासना-प्रवाह का प्रादुर्भाव हुआ, उसी के अनुरूप उसने सृष्टि के सम्पूर्ण जड़ और चैतन्य दृश्य और अदृश्य सत्वों में चेतना का आरोप किया है। इस से इस धारा के कवियों में यह विचित्रता उत्पन्न हो गई कि उनकी कल्पना के मानसिक तत्त्वों और व्यापारों को भी एक सजीवता प्रदान कर दी गई। उनकी पीड़ा सोने, जागने और हंसने-बोलने लगी। उनका गान सिसकने लगा, अभिलाषाएं करवटें बदलने लगीं।

परन्तु यह तो छायावाद ही तक रहा, जब कवि की कल्पनासामर्थ्य रहस्यवाद की ओर अग्रसर हुई तो उसने व्यापक अमूर्त सत्ता को मूर्त मानव का रूप दिया, जो कदाचित् वैदिक विराट् पुरुष के ढंग का है। उसे ही सम्पूर्ण चेतना का उद्गम-स्रोत मान लिया गया। इस नई प्रवृत्ति के कारण भाषा में बहुत चेतना आगई। मानों इन कवियों ने अमूर्त और मूक भाषा को मूर्ति और प्राणों का वरदान ही दे दिया। इस काल्पनिक सर्वचेतनावाद ने धीरे २ भाषा में लाक्षणिकता का उदय किया और इस सजीव और मूर्त भाषा के सहयोग से प्रतिपाद्य अमूर्त जगत की निर्जीव सृष्टि सजीव हो गई।

वेदनावाद—इसी परम्परा में 'वेदनावाद' की एक धारा और फूटी। सम्पूर्ण असह्य विवशता की जो एक मूर्त विकलता हो सकती थी उसे जीवन-तत्व से मिश्रित करके कवि ने वेदनाओं से प्यार करने का अभ्यास कर लिया और उसे उस पीडानन्द का ऐसा चस्का लगा कि वही उसकी एक मात्र भौतिक और दिव्य सम्पत्ति हो गई। पीडानन्द से ऊब कर कवि ने कभी २ सुख-स्वप्न भी देखे, पर उसका मूक क्रंदन उस में भी साथ ही रहा।

यह परम्परा युग के उत्तरार्द्ध ही में विकसित हुई। इस परम्परा की सर्व-प्रथम पुस्तक 'कानन कुसुम' सन १९१३ में श्री जयशंकर प्रसाद की प्रकाशित हुई। इसके बाद सन १९१४ में लोचनप्रसाद शर्मा का 'प्रवासी' प्रकाशित हुआ। फिर सन १९१६ में मुकुटधर पाण्डेय का 'पूजाफल' प्रकाशित हुआ।

परन्तु इस परम्परा के महारथी कविगण तो अभी गर्भ में ही थे, जिन्होंने नव युग में इस परम्परा से काव्य-भूमि को भर दिया।

अध्याय नवां

पत्र और पत्रकार

पत्र-पत्रिकाओं का विकास भी इस युग की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। भारतेन्दु-काल में जो साप्ताहिक मासिक पत्र-पत्रिकाएं निकलनी प्रारम्भ हुई थीं उनमें एक प्रकार से छोटे २ निबन्धों, कविताओं और सम-सामयिक विषयों की साधारण चर्चा ही रहती थी। परन्तु इस काल में पत्र-पत्रिकाओं में विचारों, संघर्षों और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों की व्यवस्थित समालोचना रहने लगी। भारतेन्दु-युग में दैनिक पत्र एकाध ही था—वह भी साधारण और साधनहीन। इस युग में दैनिक पत्रों में प्रौढ़ता और क्षमता आई। पाठकों को उनमें अपने वर्तमान और भावी जीवनों के संघर्ष का स्वरूप दीखने लगा और वे उन्हें चाव से पढ़ने और खरीदने लगे। पत्रों के वितरण के लिये भी नई २ व्यवस्थाएं हुईं। इन सब कारणों से पत्रों के सम्पादन का उत्तरदायित्व भी बढ़ गया। और अब वह केवल साहित्यिकों का काम ही न रह गया, उसके लिए एक जागरूक, अनुभवी, विचक्षण और बहुदर्शी, बहुपठित और संयत भाव से विविध विषयों पर विचार प्रकट करने की शक्ति रखने वाले व्यक्ति की आवश्यकता हुई। द्विवेदी जी ने जो अनुशासन पत्र-पत्रिकाओं के लेखकों पर क़ायम किया था उसका प्रभाव पत्र के सम्पादकों पर भी पड़ा और वे अत्यन्त तत्परता और योग्यता से पत्रों का सम्पादन करने लगे। पत्रों का सम्पादन एक व्यवस्थित कार्य बन गया और बहुत लोग केवल पत्र-सम्पादन की ओर झुक पड़े। इस युग के सब से प्राचीन सम्पादक पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र थे। ये बंगाल में हिन्दी पत्रों के जन्मदाता और प्रचारक थे। बालमुकुन्द गुप्त केवल सम्पादक ही नहीं थे बड़े करारे लेखक भी थे।

बा० बालमुकुन्द गुप्त—अपने समय के कुशल सम्पादक और खुशमिजाज लेखक थे, पहले इन्होंने उर्दू पत्रों का सम्पादन किया, फिर कलकत्ते के हिन्दी

बङ्गवासी के सम्पादक हो गये, बङ्गवासी को छोड़ कर आप भारत-मित्र में गये। इनकी चुटकियां बड़ी करारी होती थीं। सरस्वती में जब पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख में 'अनस्थिरता' शब्द का प्रयोग किया तब आपने 'आत्माराम' के नाम से एक आलोचनात्मक, चुहुलबाजी से भरपूर लेखमाला निकाली थी। द्विवेदीजी यों तो गम्भीर प्रकृति के लेखक थे, परन्तु इनके उत्तर में जो उन्होंने लेख 'सरगौ नरक ठेकाना नाहीं, नामक 'कल्लू अल्हतइ' नाम से छापा था उसमें भी काफ़ी व्यङ्गबाण थे। गुप्त जी ने राजनीति और सामयिक परिस्थिति को लेकर कई मनोरञ्जक प्रबन्ध लिखे थे, जिनमें 'शिव शंभु का चिट्ठा' बहुत प्रसिद्ध है। गुप्तजी की भाषा चलती और विनोदपूर्ण होती थी। वे मुहावरों का सुन्दर प्रयोग करते थे। नित्य समाचार-पत्र की चलती भाषा में लिखते २ उन्हें स्वाभाविक ज्ञान प्राप्त हो गया था कि कैसे मुहावरों का निर्देश हो सकता है।

उनकी भाषा का नमूना देखिए—

"शर्मा जी महाराज बूंटी की धुन में लगे हुए थे, सिलबट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ़ हो रहा था। बादाम इलायची के छिलके उतारे जा रहे थे, नागपुरी-नारंगियां छील २ कर रस निकाला जारहा था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी। इधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं, अंधेरा छाया, बूंदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़ धड़धड़ होने लगा, देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूंटी तैयार हुई, बमभोला कह शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिन्टो ने बंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्ड की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो काम हुए। भेद इतना ही था कि शिव शम्भू की बरामदे के छत पर बूंदें गिरतीं थीं, और लार्ड मिन्टो के सिर या छाते पर।"

इस भाषा की भावव्यंजना देखनेयोग्य है—

इधर यह हुआ उधर वह हुआ।

कथनशैली में कहीं भी हमें अण्डबण्ड नहीं मिलता। गुप्त जी वास्तव में हिन्दी भाषा के एक प्रौढ़ प्रतिनिधि थे। वे एक अच्छे आलोचक थे। खेद है कि उनका निधन ४२ वर्ष ही की थोड़ी वय में हो गया। सर्वश्री पं० लक्ष्मीनारायण गर्दे, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और बाबूराव विष्णुराव पराड़कर उन सम्पादकों में हैं जिनका इस काल के साहित्य-संस्कार तथा हिन्दी-प्रसार में बहुत हाथ रहा है। गर्दे जी गीता-प्रवचन के माने हुए वक्ता हैं। तथा वे अर्ध शताब्दी तक विविध पत्रों का सम्पादन करते रहे हैं।

पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी पाश्चात्य और भारतीय राजनीति और अर्थनीति के ज्ञाता और भाषा पर अधिकार रखने वाले प्रतिनिधि सम्पादक हैं।

इन्होंने १५ वर्षों तक संस्कृत, प्राकृत तथा विदेश के सम्पूर्ण व्याकरण ग्रन्थों की छानबीन करके एक व्याकरण ग्रन्थ 'हिन्दी-कौमुदी' लिखा था । ये अच्छे विचारक समालोचक हैं । बाबूराव विष्णुराव पराड़कर को काफी अर्से तक पं० अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी और प्रसिद्ध क्रान्तिकारी अर्थशास्त्री सखाराम गणेश देउस्कर के सम्पर्क में रहना पड़ा है । ये बड़े मेधावी, राष्ट्रकर्मी तथा लब्धप्रतिष्ठ सम्पादक एवं लेखक हैं ।

गणेशशंकर विद्यार्थी उन पत्रकारों में थे जिनकी समता करने की सामर्थ्य आज भी कोई भारतीय पत्रकार नहीं कर सकता । उनका तप जीवन की पूर्णाहुति में पूर्ण हुआ । उन्होंने लोकमत को केवल जगाया ही नहीं, उन्हें उनका प्राप्तव्य भी दिया । उनके से एक दो पत्रकार यदि किसी देश में उत्पन्न हो जायं तो वह देश भाग्यशाली समझा जायगा ।

सर्वश्री सुन्दरलाल पण्डित, कृष्णकान्त मालवीय, पुरुषोत्तमदास टण्डन, सम्पूर्णानन्द और माधवराव सप्रे इस युग में प्रभावशाली पत्रकार रहे ।

साप्ताहिक पत्र-कर्मयोगी—स्वर्गीय लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक और अरविन्द बाबू के प्रोत्साहन से सुन्दरलाल पण्डित ने प्रयाग से सन १९०८ में 'कर्मयोगी' पत्र निकालना प्रारम्भ किया जो उत्तम राजनैतिक पत्र था । पहले यह पत्र मासिक रूप में निकला, पीछे साप्ताहिक हो गया। पहला अंक कुल ५०० ही छपा, किंतु तीसरे अंक तक ग्राहक-संख्या आठ हजार से ऊपर पहुंच गई । पहले दो अंकों का दूसरा संस्करण प्रकाशित करना पड़ा । हिन्दी पत्रकारी के इतिहास में किसी पत्र की लोकप्रियता का यह पहला उदाहरण है । इसके लेखकों में स्वर्गीय बालकृष्ण भट्ट, राजा महेन्द्रप्रताप, अरविन्द घोष, मौलाना हसरत मोहानी आदि थे । उस समय भारत के राष्ट्रीय देशी भाषा के पत्रों में मराठी 'केसरी' को छोड़ कर 'कर्मयोगी' ही की सब से अधिक संख्या थी । सन १९१० के शुरु ही में केवल दो वर्ष जीवित रहकर यह पत्र जमानत देने से इन्कार करने के कारण बन्द हो गया ।

अभ्युदय—महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय के संरक्षण में सन १९०७ में 'अभ्युदय' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ । प्रारम्भ में श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने इसका सम्पादन किया । यह पत्र नर्म विचारों का होने पर भी काफ़ी गर्म था । बाद में जब यह पत्र कृष्णकान्त मालवीय के हाथों में आया,तो वह कांग्रेस के गर्मदल अथवा लोकमान्य तिलक की नीति का समर्थक हो गया ।

हिन्दी केसरी—इन्हीं दिनों नागपुर से पं० माधवराव सप्रे ने 'हिन्दी केसरी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया । इसमें लोकमान्य तिलक के 'मराठी केसरी' के लेखों का अनुवाद छपता था । इस पत्र का हिन्दी बंगवासी के बाद सब से अधिक

प्रचार हुआ। परन्तु यह कुछ दिन चल कर बन्द हो गया। फिर इसका प्रकाशन काशी से बा० गंगाप्रसाद गुप्त ने कुछ दिन किया पर उसका अब हिन्दी संसार में वह स्थान न रह गया था।

प्रताप (साप्ताहिक)—सन १९११-१२ में श्री गणेश शंकर विद्यार्थी ने कानपुर से प्रताप का प्रकाशन प्रारम्भ किया। प्रताप ने एक सच्ची राष्ट्रीय पत्रकारिता को हिन्दी में जन्म दिया। और वह सच्चे अर्थ में जनता का पत्र रहा। प्रान्त की ग्राम-जनता को जगाने का श्रेय उसे प्राप्त है। इस पत्र के लिये विद्यार्थी जी ने बड़ी तपस्या की और अन्ततः वीर पुरुष की भांति प्राण भी दिए। गणेश शंकर हिन्दी पत्रकार की दृष्टि से अपने उदाहरण स्वयं ही रहे। स्वर्गीय पं० शिवनारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन प्रताप परिवार के खास सदस्य रहे, तथा प्रताप के इतिहास के साथ इन दोनों भद्र साहित्यिकों को भुलाया नहीं जा सकता।

आगे चलकर कर्मवीर, स्वराज्य, सैनिक, स्वदेश और नवशक्ति प्रताप के ही आदर्श पर प्रकाशित हुए।

दैनिक पत्र—

भारत मित्र—दैनिक पत्रों में भारतमित्र, कलकत्ते से सन १९१२ से निकलना प्रारम्भ हुआ।

कलकत्ता समाचार (दैनिक)—यह दैनिक पत्र कलकत्ते से सन १९१४ में मारवाड़ी सज्जनों के उद्योग से प्रकाशित हुआ परन्तु कुछ ही वर्ष चलकर बन्द हो गया।

इस प्रकार इन दिनों सच्चे अर्थों में भारतमित्र ही दैनिक पत्र रहा।

मासिक पत्रिकाएं--

इन्दु—सरस्वती का प्रकाशन होने के बाद ही काशी से अम्बिकाप्रसाद गुप्त के सम्पादन में 'इन्दु' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह पत्रिका १०-१२ वर्ष चल कर बन्द हो गई। फिर भी उसका साहित्यिक मान इस कारण अधिक है कि उसमें प्रसाद की प्रारम्भिक रचनाएं प्रकाशित हुई थीं, जिन्होंने साहित्य को एक नई दिशा की ओर मोड़ा।

मर्यादा--यह तीसरी पत्रिका है जो कृष्णकान्त मालवीय के सम्पादन में प्रयाग से निकली। पीछे सम्पूर्णानन्द के सम्पादकत्व में काशी से प्रकाशित होने लगी थी। कुछ दिन बाद बन्द हो गई।

नृसिंह—इस नाम का एक राजनैतिक मासिक-पत्र था।

प्रवासी भारतीयों के हिन्दी-पत्र--भारतीयों की एक बड़ी संख्या

अफ्रीका, मारिशस, फ़िजी, बर्मा आदि देशों में फैली हुई थी। ये भारतीय जन समय २ पर पिछली शताब्दी और इस शताब्दी में धनोपार्जन के लिए गए थे, इनमें सभी जातियों और प्रान्तों के भारतीय थे। विदेश में वे सब एक सामूहिक रूप से अपने को भारतीय समझते थे। इन विभिन्न भाषा-भाषी भारतीयों को परस्पर व्यवहार के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता दिखाई दी, और हिन्दी ही को उन्होंने यह स्थान दिया। इस प्रकार हिन्दी ही इन प्रवासियों की राष्ट्र-भाषा बन गई। हिन्दी में उन्होंने कुछ पत्र भी निकाले, यद्यपि ये पत्र अधिकांश में अल्पजीवी ही रहे परन्तु हिन्दी पत्रों के इतिहास में उनका स्थायी स्थान हो गया।

इन्डियन ओपीनियन—सन १९०४ में श्री जी० वी० मदनजीत के प्रयत्न से डरबन से यह साप्ताहिक पत्र निकलना प्रारम्भ हुआ। हिन्दी के अतिरिक्त उसके गुजराती और अंग्रेज़ी संस्करण भी निकलते थे। बाद में यह पत्र महात्मा गान्धी (तब मि० मोहनदास कर्मचन्द गान्धी) को दे दिया गया और उन्होंने फ़ीनिक्स नगर से उसका प्रकाशन जारी रखा, जहां उनका अपना आश्रम भी था।

धर्मवीर—श्री भवानीदयाल (अब स्वामी भवानीदयाल सन्यासी) ने इस काम में महात्मा जी का बहुत हाथ बंटाया। उन्होंने अफ्रीका के विभिन्न नगरों में हिन्दी प्रचार करके हिन्दी-प्रचारिणी-सभाएं और पाठशालाएं स्थापित कीं। तथा एक 'हिन्दी-आश्रम' डरबन के निकट कलेर स्टेट में स्थापित किया। वहीं से उन्होंने सन १९१२ में 'धर्मवीर' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। यह शुद्ध हिन्दी का पत्र था और इसका सम्पादन वे स्वयं करते थे। इसके विशेषांक इतने आकर्षक और लेख इतने तथ्यपूर्ण होते थे कि पत्र बहुत शीघ्र अति लोकप्रिय होगया। इस पत्र का प्रचार मारिशस, फ़िजी, ट्रिनीडाड, आदि तक फैल गया था। पीछे सन १९२५ में जब प्रवासी भारतियों पर विपत्तियां आईं और स्वामी जी को भारत आना पड़ा तब यह पत्र बन्द हो गया।

फ़िजी के अन्य पत्र—फ़िजी से पहले-पहल 'इन्डियन-सेटलर्स' हिन्दी और अंग्रेज़ी में निकला। यह पत्र जब बन्द होगया तब 'फ़िजी समाचार' प्रकाशित हुआ। इसी बीच 'बुद्धि' नाम की पत्रिका (मासिक) प्रकाशित हुई, पर अधिक दिन चल न सकी। वहां के शिक्षा-विभाग की ओर से 'स्कूलजर्नल' और 'भारतपुत्र' नामक मासिक पत्र निकले, पर ये भी स्थायी न हुए। 'राजपूत' एक मासिक पत्र भी कुछ दिन निकल कर बन्द होगया।

बर्मा से 'प्राची प्रकाश' और 'न्यू प्राची प्रकाश' नाम के पत्र निकलते थे। अन्तिम पत्र तो जापान के आक्रमण तक निकलता रहा।



श्रीयुत पुरुषोत्तमदास टंडन

स्पीकर, यू० पी० लेजिस्लेटिव असेम्बली

साहित्य मनुष्य की
आन्तरिक भावनाओं का
चित्रण है।

पुरुषोत्तमदास टंडन
२८. ८. ४६

टंडन जी का हस्तलेख

सप्तम खण्ड

नव युग

सन १९१९ से सन १९४५ ई० तक = २६ वर्ष

अध्याय पहला

सिंहावलोकन—विगत छब्बीस वर्षों का काल विश्व के मानव इतिहास में क्रान्ति का युग है। इस युग में विश्व के मनुष्यों ने अपनी अपरिसीम भौतिक सत्ताओं एवं अधिकारों का प्रदर्शन किया। इसी युग में भारत सहस्राब्दियों के बाद विश्व-संघर्ष में अपनी एकसत्ता निर्माण करने की सीमा तक पहुंचा। इसी युग में विश्व की सम्पूर्ण जातियों ने सार्वभौम सहयोग की बौद्धिक प्रतिक्रियाओं पर विचार करना प्रारम्भ किया। इस युग में राजनीति, रण-पाण्डित्य, अर्थशास्त्र, और मानवीय सत्ता के ऐसे प्रयोग हुए जो आज तक मनुष्य ने नहीं देखे थे।

हम यहां साहित्य का विवेचन कर रहे हैं। परन्तु साहित्य राष्ट्रों के जीवन की अन्तःशक्ति है। इसलिये इस युग में जो साहित्य का दृष्टिकोण बदला उसके मूल हेतु को जानने के लिये हमें पहले विश्व के मानवों के राष्ट्रीय जीवनों पर एक विहंगम दृष्टि डालनी पड़ेगी, और उसके बाद इस बात पर भी कि भारत विश्व के किस हद तक निकट पहुंच गया।

महाकाल की गति अति विषम है। वह घड़ी के कांटे की भांति ठीक नपीतुली गति से नहीं चलती। कभी वह अति मन्द हो जाती है और कभी अति भीषण तीव्रगति धारण कर लेती है। उसी के प्रभाव से व्यक्ति की भांति राष्ट्रों के जीवन का एक एक वर्ष कभी २ सौ वर्ष के समान भारी हो जाता है, और कभी हंसते खेलते ही बात की बात में शताब्दियां बीत जाती हैं।

भारत के ये विगत २६ वर्ष बड़ी ही तेजी से बीते हैं। सहस्राब्दियों से सुप्त और आत्म-विस्मृत भारतीय राष्ट्र एक अद्भुत उमंग और तेज के साथ जाग उठा है। इन गत २६ वर्षों में भारत में जो कुछ हुआ है, उसका भारत के

राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन पर कैसा प्रभाव पड़गा, यह अभी नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह दीख पड़ता है कि आगामी पाद-शताब्दी और भी द्रुतगति से आगे बढ़ेगी। और बड़ी २ घटनाएं और बड़े २ परिवर्तन अकल्पित तेज़ी से भारत में होंगे, जिनका प्रभाव सम्पूर्ण विश्व पर पड़ेगा। इन परिवर्तनों और महाकाल की इस अकल्पित तेज़ी का कारण यह है कि उसका उद्गम और प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय है, और वह विश्व के प्राणों और विश्व के जीवन से अनुबन्धित है।

भारत में युग-दर्शन — भारत में इस युग का प्रवेश कांग्रेस की काया-पलट से प्रारंभ होता है। यह कांग्रेस अपने जन्म के समय कुछ ऐसे चुने हुए लोगों की सभा थी जो वहां जाकर सभ्यशिष्ट भाषा में यह कहते थे कि देखो हमने अपनी ओर से अपने को अंग्रेज़ी रंग में रंग लिया है, अब अंग्रेज़ भी हमारे साथ ब्रिटिश आदर्शों के अनुकूल व्यवहार करें। बाद में, जब रूस जापान के युद्ध में जापान की विजय हुई, तब यद्यपि जापान से हमारा सम्बन्ध नगण्य था, परन्तु इस घटना से एशियाई होने के नाते भारत को प्रसन्नता हुई और भारतीयों के हृदय से योरुपियनों का भय कुछ कम हुआ। इसके बाद ही बंगभंग हुआ, तिलक और लाला लाजपतराय का देश-निष्कासन हुआ। साथ ही अन्य राजनैतिक घटनाएं भी ऐसी हुईं जिन से भारतीय जनता में सामूहिक क्षोभ और साहस का जन्म हुआ।

गान्धी जी की आवाज़—गत महासमर में अंग्रेज विजयी हुए। परन्तु भारत को वे सन्तुष्ट न कर सके। जनता की मनोवृत्ति बदल गई थी। तिलक और लाजपतराय जेल का मार्ग खोल चुके थे। और दक्षिण अफ्रीका में सफल सत्याग्रह हो चुका था। तथा महासमर में भारतीयों ने योरुपियन सेनाओं से युद्ध किया था। उस समय केवल भारत ही में नहीं, अफ़ग़ानिस्तान से लेकर उत्तरी अफ्रीका तक यही दशा थी। उसी समय भारत के रंग-मंच पर गान्धीजी ने प्रवेश किया और सारा नक़शा ही बदल दिया। उस समय भारतीय राष्ट्र क्षुब्ध और क्रुद्ध तो था, पर उसके अन्तःकरण में कोई सर्वग्राहीभाव नहीं उठ रहा था। उसकी आत्मा सुप्त, विस्मृत और दबी हुई थी और उसकी बाणी मूक थी। उसी समय गान्धी जी की पहली आवाज़ भारत के वातावरण में व्याप्त हुई। उसके विषय में जवाहरलाल नेहरू, 'विश्व के इतिहास की झलक' में कहते हैं—

"......यह आवाज़ दूसरों से कुछ भिन्न थी। वह शान्त और धीमी थी, फिर भी सर्वसाधारण के शोर से ऊपर सुनाई देती थी। यह मुलायम और नम्र थी फिर भी इसमें फ़ौलाद छिपा हुआ था। यह मीठी अपील से भरी हुई थी पर इस में कोई दृढ़ और डरावनी चीज़ थी।

इस आवाज का यह प्रभाव हुआ कि भारत की राजनीति विवाद और बातचीत की राजनीति न रहकर लड़ाई और शक्ति की राजनीति हो गई । और उसका केन्द्र विचारधारा पर अवलम्बित हो गया । तथा वह फैशनेबुलों के शीशमहल से निकल कर देश के घर २ में परिचित होगई । उसने प्रत्येक छोटे बड़े को क्रियात्मक गति में बांध लिया । देश में जनपद की हुंकार सुनाई देने लगी । और भारतीय जनपद गान्धी जी के नेतृत्व में भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति के वातावरण में अभय हो स्वतन्त्रता, समानता और मानवता के अधिकारों की प्राप्ति के लिये चाहे भी जिस परिणाम को भोगने को सन्नद्ध हो गया । सच पूछा जाय तो यह राष्ट्र की मानस क्रान्ति थी, और आत्मविश्वास, चरित्र और निष्ठा उसका मूल आधार और अहिंसा उसका मूल मन्त्र था ।

भारत का यह केवल राजनैतिक जागरण नहीं था सामूहिक सामाजिक जागरण था । गांधी जी ने उसमें धर्म के माध्यम को ऐसे कौशल से संयुक्त किया था कि धर्म, समाज और राजनीति का एकीकरण हो गया । यह विश्व के मानव जीवन के लिये इस युग में बड़ी ही नूतनतम वस्तु थी । उसका सबसे भारी प्रभाव किसानों, अछूतों, मजदूरों और स्त्रियों पर पड़ा । इन चारों ने ही भारतीय नवजीवन में समान अधिकार प्राप्त किया । शिक्षा और अर्थनीति का भी दृष्टिकोण बदल गया ।

छब्बीस वर्ष का अर्थ-संघर्ष—आर्थिक संघर्ष की दृष्टि से भी भारत के गत २६ वर्ष बहुत ही महत्त्व के हैं । हमने पीछे बताया है कि गान्धीजी के राष्ट्रीय-योजना-आन्दोलन के कारण भारत की अर्थनीति का दृष्टिकोण भी बदल गया । भारत ही नहीं, इन दो विश्वव्यापी महायुद्धों ने संसार के ही आर्थिक ढांचे को बदल दिया । परन्तु भारत के आर्थिक जीवन पर प्रभाव इन युद्धों से भी अधिक ब्रिटेन की अर्थनीति के कारण पड़ा, जिसके कारण वह अपरिमित प्राकृतिक सम्पत्ति, परिश्रमी और सस्ते मजदूर, विस्तृत बाजार, और व्यवसायिक प्रतिभा रहते हुए भी इन दोनों विश्वव्यापी महायुद्धों में औद्योगिक उन्नति के सुनहरे अवसर को पाकर भी अभीष्ट औद्योगिक उन्नति न कर सका, जिसके फलस्वरूप वह आज संसार का एक अति निर्धन देश रह गया ।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत शत प्रतिशत कृषि-प्रधान देश था । जो कुछ उद्योग धन्धे थे भी वे अधिकांश विदेशी पूंजीपतियों के हाथ में थे । प्रथम युद्ध ने भारत के सामने एक दुर्लभ अवसर उपस्थित कर दिया । भारत में तब तैयार माल का अकाल पड़ गया था । उस समय भारत के उद्योग-विकास का

सुअवसर था पर उस अवसर से भारत लाभ न उठा सका क्योंकि उसे यन्त्रों की उपलब्धि न हुई ।

एक बात और थी, भारत का वैदेशिक व्यापार और बैंकिंग भी अभारतीय था । व्यापार की मुक्तद्वार-नीति के कारण भारत के गृह-उद्योग प्रथम ही नष्ट हो चुके थे । यह स्वाभाविक था कि उन उद्योगों में लगी जनता खेती पर टूट पड़े और यही हुआ भी । सन १९४१ में भारत की ३६ करोड़ की आबादी में ७३ प्रतिशत जनता खेती पर निर्भर रह गई । जब कि सन १८७२ में ५७ प्रतिशत थी । इसका फल यह हुआ कि एक किसान के हिस्से डेढ़ एकड़ से भी कम भूमि की औसत पड़ी । वह भी एक चक में नहीं, टुकड़े टुकड़े । इसलिए देश के ७३ प्रतिशत जन महादरिद्रता और कठिनाई में पड़ गये । तिस पर ऋण और वैज्ञानिक साधनों का अभाव ।

सन १९३९ में जब दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ा तो भारत के ग्रामीण ऋण की रकम १८ अरब रु० थी । प्रान्तीय सरकारों ने उन्हें व्याज आदि की सुविधाएं दी थीं । कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल ने भी उनकी सहायता की योजना तैयार की थी । पर युद्ध छिड़ते ही उन्होंने मन्त्रि-मण्डल से त्याग-पत्र दे दिये, उधर युद्ध-काल में कृषि की पैदावार का मूल्य इतना बढ़ गया कि जिसकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी । उससे उनके ऋण का भार अपने आप ही हलका हो गया । परन्तु किसानों ने उस धन का अधिकांश अपव्यय किया ।

ग्रामोद्योगों के अभाव और खेती की अवनति होने से गांवों की दशा इतनी गिर गई कि ग्राम-सुधार-आन्दोलन देश की एक प्रधान वस्तु बनती गई और यह देश के सर्वाङ्गीण पतन का कारण समझी जाने लगी । ग्राम-सुधार के साथ उद्योग-धन्धों को भी जीवित करने की ओर देश का ध्यान गया । १९२० के बाद भारतीय पूंजीपति उन उद्योगों की ओर भी हाथ फैलाने लगे जिन्हें विदेशी पूंजीपतियों ने अपना लिया था । १९२९ के बाद जब संसार-व्यापी मंदी का युग गुज़रा तो भारत भी इसका शिकार बना । जापान की भीषण प्रतिस्पर्धा उसे दुहरी मार मार रही थी । १९३९ में जब युद्ध फूट निकला तब तैयार माल का भाव देखते २ आसमान छूने लगा । सरकार ने नोट छाप कर मुद्रास्फीत नीति को अपनाया जिस से देश में धनकी अधिकता हो गई । भारतीय पूंजीपति भी सतर्क हो गये । सरकार को भी युद्धोद्योग स्थापित करने पड़े । युद्ध की कठिनाइयों के कारण बाहर की पूंजी भारत में न आ पाई, भारतीय पूंजी ही लगी । पर सरकार फिर भी इस बात में सावधान थी कि इस अवसर से लाभ उठाकर भारत कहीं अपनी औद्योगिक उन्नति न कर ले । उसने युद्धोद्योग में कमी तो की परन्तु भारत की औद्योगिक उन्नति न होने दी । फिर भी कुछ

उन्नति तो हुई। भारत के बैंकों की शाखाओं की संख्या ७०० से बढ़कर २००० तक हो गई। तथा ब्रिटेन पर भारत का १४ अरब रुपयों का स्टर्लिंग पावना हो गया।

इसी युद्ध में श्रमजीवी-संघ की प्रबलता हुई, और उनका आर्थिक प्रश्न भी किसानों से कम महत्त्व का नहीं रहा, यद्यपि इसकी स्थापना सन १९२० में ही हो गई थी, पर सन ३७ और ३८ में इसका स्वरूप अधिक संगठित हो गया।

छब्बीस वर्ष का सामाजिक जीवन—राष्ट्रीय और आर्थिक स्थिति का सिंहावलोकन करने के बाद अब सामाजिक जीवन पर विचार कीजिए। पिछले अध्यायों में हमने बताया है कि भारत में सामाजिक सुधारों का श्रीगणेश १९ वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ है। उस काल में राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि महत् जनों ने स्त्री-स्वातन्त्र्य और अन्य रूढियों तथा कुरीतियों के विपरीत आन्दोलन खड़ा किया था। तथा राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय जीवन, देश-प्रेम और संस्कृति की प्रतिष्ठा की भावना सार्वजनिक जीवन में उत्पन्न की थी। १९ वीं शताब्दी के अन्त में थियोसोफ़ीकल सोसायटी ने भारत में पदार्पण किया, और डा० ऐनीबीसेन्ट और जार्ज अरण्डेल के कार्यों का प्रभाव समाज पर पड़ा। बाद में महादेव गोविन्द रानाडे, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, तिलक, भाण्डारकर, महामना मालवीय, महात्मा हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द तथा लाला देवराज ने विविध रूप से महान् समाज-सेवाएं कीं, पर गान्धी जी का प्रभाव इन सब से अधिक रहा जिससे गत २६ वर्षों में जैसी भारी समाजक्रान्ति देश में हुई वह कल्पनातीत है।

सब से बड़ी क्रान्ति स्त्रियों के अधिकारों के सम्बन्ध में हुई। इसी काल में स्त्रियों को समाज में समानाधिकार मिले, अछूत हरिजन हुए, छुआ-छूत का भूत भागा, भारत में एक विशाल राष्ट्र बना। इन सब बातों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि गत २६ वर्षों में जो समाज-क्रान्ति हुई है, वह एक शताब्दी में भी सम्भव न थी। इस महाक्रान्ति का श्रेय गान्धी जी को है। उन्होंने नवीन धर्मचक्र चलाकर द्रुतगति से यह क्रान्ति उपस्थित की। सन १९२१ की नारी से आज की नारी में कोई समता ही नहीं है।

साहित्यिक उत्थान—भारत की पूर्ववर्णित राष्ट्रीय, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों का ही प्रभाव इस युग के साहित्य पर पड़ा। देश के संस्कारप्रिय

जनों का चित्त पुराने संस्कारों को झाड़ कर नवीन मार्ग के अनुसरण पर लग चला। नवीन आशा और नवीन आकांक्षा के प्रति इन मेधावियों में ऐसा दृढ़ विश्वास उत्पन्न हुआ जैसा कि शताब्दियों से देखा ही नहीं गया था। इस काल के प्रथम तक धर्म और आत्म-चेतना के क्षेत्र में आर्य-समाज का ज़बर्दस्त प्रभाव था। आर्य-समाज ने भारतीय चित्त को झकझोर दिया था, परन्तु 'आप्तवाक्य' को प्रमाण मानकर चलने की उसकी प्रवृत्ति पुरानी हो चली थी। साहित्य के क्षेत्र में भी प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर विवेचना करने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। यहां तक कि किसी कवि की रचना की उत्तमता जांचने के लिये अलंकार ग्रन्थों के प्रमाण ढूंढे जाते थे। पुराने कवियों ने ऐसा कहा है या नहीं—इस बात पर विचार किया जाता था। शास्त्रों की एक २ बात पर बाल की खाल निकाली जाती तथा शास्त्रार्थ किये जाते थे। नई शिक्षा में भी 'आप्तवाक्यों' की प्रभुता वैसी ही क़ायम थी। बात यह थी कि देश एक गहरी नींद से सोकर उठा था। वह सामने नवीन आलोक को देखकर आशा और सन्देह के फेर में पड़ा था। वह हर नई वस्तु को देखने पर एक बार अपनी पुरानी स्मृति पर ज़ोर डालता था। और उसी स्मृति के आधार पर यह निर्णय कर डालना चाहता था कि वह जो कुछ देख रहा है वह सत्य है या नहीं। वह पुराने वैभव से प्रभावित था, पर नवीन बातों को अस्वीकार करना भी उसके लिये असम्भव था। उसके सामने आए-दिन पृथ्वी के गर्भ को चीर कर कोई खण्डहर निकल उसकी प्राचीन समृद्धि की स्मृति को ताज़ा कर देता था। आए दिन किसी प्राचीन ग्रन्थ की लुप्त हस्त-लिपि ढूंढ पाने की उसे सूचना मिलती थी जिन में वह यह पढ़ पढ़ कर चमत्कृत होजाता था कि चीन में, जावा में, तिब्बत में, स्वर्णद्वीप में, और न जाने कहां २ भारतीयों ने विस्मृत पूर्वजीवन में अपनी यशोगाथा विस्तार की थी।

वह उन अतीत प्राचीन आचार्यों के साहस, पाण्डित्य, और करामात की कहानी पढ़ कर अभिभूत हो जाता था। प्राचीन गौरव की भावना उसके हृदय को हिलोर मार २ कर उसे गर्वोन्नत करती, किन्तु पराधीन भारत का जीवन देख वह तलमला जाता था। विज्ञान उसके सामने एक के बाद दूसरे नित्य नये आविष्कार करके अपने चमत्कार दिखा रहा था। इस द्विमुख प्रवृत्ति में आज का लेखक अभिभूत हो रहा था।

इसके सन्मुख विगत परम्परा के साहित्य की तीन प्रगतिशील मूर्त्तियां थीं, जो बड़ी तेज़ी से आधुनिकता का प्रतिनिधित्व कर रही थीं। १—महावीरप्रसाद द्विवेदी, २—अयोध्यासिंह उपाध्याय, ३—मैथिलीशरण गुप्त। इन तीन मूर्तियों की विशेषता थी—पुराने गौरव के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् और नवीन ज्ञान के प्रति अत्यन्त आस्थायुक्त। उसके सामने इन तीन मूर्तियों

के अतिरिक्त चौथी वस्तु थी 'आप्तवाक्य'। उसका सर्वस्व आप्तवाक्य पर निर्भर था। ये 'आप्त' देशी भी थे और विदेशी भी, नए भी थे और पुराने भी। इन सब 'आप्तजनों' के 'आप्तत्व' की खोज-पूंछ की भी आवश्यकता नहीं थी। शिक्षितवर्ग का अधिकांश योरुपीय मनीषा की श्रेष्ठता स्वीकार कर चुका था।

इसी समय अकस्मात् प्रथम महायुद्ध ने आंधी की भांति आकर योरुप की श्रेष्ठता को समाप्त कर दिया, भारतीयों ने यह देखा और समझा कि सब बड़ी २ बातों के होने पर भी मनुष्य वास्तव में मनुष्य है। बहुत दिन बाद भारतीयों ने यह समझा कि ज्ञान के क्षेत्र में पाने का भी वही अधिकारी होता है जो देने की क्षमता रखता है। जीवन की प्रत्येक आवश्यकता के लिये दूसरों का अनुसरण करना लज्जा की बात है। वही चल सकता है जिसके पैरों में चलने की सामर्थ्य हो। अपने अतीत से हम अभी तक अभिभूत थे, अब वही अतीत हमारे लिये प्रेरणा प्रदान करने लगा। हमने यह समझा कि हम दुनियां में केवल नौसिखुवे ही नहीं हैं, हम ज्ञान की प्रत्येक धारा पर बहुत दूर तक कदम बढ़ा चुके हैं। हमने यह भी समझा कि हमारे अपने प्राचीन शास्त्रों का महत्त्व विदेशी ज्ञान-विज्ञान की तुलना ही में नहीं है, उनका महत्त्व हमारी मानसिक दुर्बलता को झाड़ पोंछ कर हम में आत्मबल संचित करने में है। संसार के अन्यान्य देशों की तुलना में हम सदैव से ही आगे रहते आये हैं। हमने विपत्तियों का भी सामना किया है, संघर्षों और संघातों में से भी हम गुजरे हैं। परन्तु आत्मतेज हमने खोया नहीं है।

अपनी नैसर्गिक उद्भावना-शक्ति के बल पर भारतवर्ष दीर्घ निद्रा के बाद अकस्मात् ही जाग उठा। उसने दृढ़तापूर्वक अपने को संसार की अन्य जातियों से हीन मानने से इनकार कर दिया। उसने उनकी नक़ल त्याग दी और अपना मार्ग आप खोजकर आगे बढ़ चला।

यही १९२० के भारत की मनोवृत्ति थी। जब महायुद्ध की आंधी समाप्त हो चुकी थी, योरुप का गर्व ढह गया था और सोवियट रूस का अतर्कित रूप झांकी दिखा रहा था भारत यह सब देख भाल कर आगे बढ़ा। पर सन १९२० में भारतवर्ष जिस राह जाने की सोच रहा था उस राह जा नहीं सका। भीतरी बाधाएं तो थी हीं, बाहरी दुर्बलताओं की भी बहुत बाधाएं उपस्थित थीं। फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उसने अपनी आँख से दुनियां को भली भांति देखा। इसके बाद १८ वर्ष का समय उसे अपने पुराने संस्कारों के प्रति विद्रोह करने और नवीन संस्कारों के बीजारोपण करने में लगा। इस समय विगत युग के अनेक प्रतिनिधि कवि और लेखक अपनी क़लम चला रहे थे, पर नेतृत्व बहुत कम कर सके। मिश्रबन्धुओं ने अपनी गहरी गवेषणाओं के

द्वारा हिन्दी के भावी आचार्यों के लिये सर्चलाइट का काम किया। उनका सा अध्ययनशील विद्वान् विवेचक हिन्दी में दूसरा इस समय नहीं है। रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचनाएं इसी युग में रचीं। वे असाधारण भारतीय काव्यालोचक थे। अलङ्कार-शास्त्र के प्रत्येक अङ्ग पर उन्होंने गहरा विचार किया था। शब्द-शक्ति, गुण-दोष, अलङ्कार-विधान, रस आदि पर उन्होंने अपना एक ख़ास मत क़ायम किया। उनमें विशेषता यह थी कि वे प्राचीन आचार्यों का अन्धानुसरण नहीं करते थे। वे न पुराने के ग़ुलाम थे न नवीन के। उनका अपना एकमत था और उस पर उनका पूर्ण विश्वास था।

प्रसाद ने प्राचीन गौरव का मनन किया। और उस पर एक मानवीय दृष्टि डाली। इसी से वे वैदिक और पौराणिक अतिमनुष्यों को मानुष-रूप देने लगे। उन्होंने भी इसी काल में अपनी उत्तम रचनाएं लिखीं। उन्होंने प्राचीन भारत को नवीन भारत के बीजारोपण में विनियुक्त किया। उन्होंने इस काल में अपनी भाषा और भाव-प्रकाशन का भाव बदल दिया। महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों भाषा परिमार्जित हो ही चुकी थी, और अब हिन्दी गद्य नए पुराने सब को आत्मसात् करके आगे बढ़ रहा था। नए पुराने को एक करके और पुराने विचारों को नए भावों से ओतप्रोत कर प्रसाद एक के बाद एक काव्य, कहानी, नाटक, उपन्यास देने लगे। यही नहीं, उन्होंने कविता को मुक्ति देने में भी सब से पहले हाथ बढ़ाया। उन्होंने परिपाटी-विहित रसज्ञता और रूढि-समर्थित काव्य-कला को चुनौती सी दी। 'मैथिली-शरण गुप्त ने तुलसी के बाद प्रथम बार इस युग में इसी युग का प्रतिनिधित्व करते हुए राम में ईश्वरतत्व की प्रतिष्ठा की। उन्हें आज के युग के जनपद ने कुछ सन्देह, कुछ भाव, कुछ श्रद्धा और कुछ भावमग्नता की सी अवस्था में गुनगुनाते सुना—

राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूं, ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे॥

मैथिलीशरण केवल राम में मन रमाकर ही मग्न नहीं हो गये, उन्होंने अपने चारों ओर भी देखा। तुलसी ने जैसे अपने युग में हिन्दुत्व की हीन दशा देख कर क्रन्दन किया था, मैथिलीशरण भी 'भारतभारती' में पुकार २ कर करुण-क्रन्दन करने लगे। और उस क्रन्दन को सुन कर देश की सोई हुई तरुण आत्माएं जाग उठीं। तब से अब तक मैथिलीशरण यहां की और वहां की सम्पदाएं देश के दरिद्र और विपन्न प्राङ्गण में बखेरते चले आ रहे हैं।

नवयुग में प्रेमचन्द, उग्र, राहुल, माखनलाल चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय, रामदासगौड़, हजारीप्रसाद द्विवेदी, निराला, महादेवी वर्मा, पन्त, सियारामशरणगुप्त, और सच्चिदानन्द वात्स्यायन आदि अपनी विशिष्ट भाव-शैलियों पर हिन्दी गद्य और पद्य में विचारधारा का समुद्र बहाने लगे। और वह साहित्य कोटि २ सुप्त भारत के नर-नारियों के कर्ण-कुहरों में वज्र-निनाद करने लगा।

अध्याय दूसरा

साहित्य-धारा के प्रवर्तक तीन भगीरथ

त्रिधारा प्रवाह—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध और श्रीमैथिलीशरण गुप्त इस युग की साहित्य-धारा के तीन प्रवर्तक थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी यद्यपि अब मौन थे, और शेष दो कवि उन्हीं के युग के कवि थे, तथापि सन १९२० से सन १९३० तक का हिन्दी-भारत इन्हीं तीन मनस्वियों का भारत रहा।

इन तीनों ही मनस्वियों की चिन्ता-धारा में प्राचीन का गौरव और नवीन का आदर रहा। इन तीनों मनस्वियों ने इस द्विमुख प्रवृत्ति को लेकर विचार-धारा का स्रोत एक एक बूंद करके और फिर वेग से प्रवाहित किया।

द्विवेदी जी पर एक दृष्टि—आचार्य द्विवेदी पर फिर एक दृष्टि डालिये। भाषा-संस्कार वे कर चुके थे। नागरी का प्रशस्त प्रासाद-निर्माण कर उसे धो मांज कर उन्होंने स्वच्छ साफ़ भी कर दिया। फिर उसे कहां कैसे सजाना होगा, इसकी आयोजना भी की। गद्य और पद्य स्वयं लिखकर तथा औरों से लिखवा कर उन्होंने उसे अपने युग के आधुनिकतम वातावरण में सजाया।

उन्होंने उसके सब द्वार, खिड़कियां, रोशनदान खोल दिये, जिस से चारों ओर की उन्मुक्त शुद्ध वायु प्रासाद को आप्यायित करती रहे। उन्होंने उर्दू, मराठी, बंगला, संस्कृत ही से नहीं, अंग्रेजी और अन्यदेशीय भाषाओं के वाङ्मय भी अपने ढंग पर काट-छांट कर और हिन्दी प्रासाद के अनुरूप रूप देकर सुसज्जित किए। फिर भी उन उन्मुक्त द्वारों, रोशनदानों और खिड़कियों से धूल, गर्द, धूप, आंधी, पानी का बवंडर घर में आकर, घर की स्वच्छता और निष्ठा की व्यवस्था को न बिगाड़ दे, इस की पूरी २ चौकसी रखी। एक चतुर माली जैसे हर समय बड़ी सी कैंची लिए रौसों की काट-छांट करता ही रहता है। उसी भांति, उस काल में

जो साहित्य-सृजन हो रहा था, उसे इस मुस्तैद आचार्य ने निरालस्यभाव से अपनी लेखनी की कैंची से काटछांट कर सुडौल करते रहने का उपक्रम जारी ही रखा। उन्होंने गद्य से हरिश्चन्द्रकालीन भाषा की कृत्रिमता, और आडम्बर की प्रणाली को खत्म कर दिया। निबन्धों में बड़ी २ भूमिकाएं बाँधने की परिपाटी समाप्त कर दी। भावात्मक निबन्धों की जगह विचारात्मक लेखों की शैली चलाई। भाषा और भाव स्थिर और शुद्ध किये। कविता की भाषा और विचारावली में बहुत परिवर्तन किये। उन्होंने अपने प्रभाव से जो नए शैलीकार रचे थे, वे जो लिखते थे, उनके लेखों और कविताओं को पढ़ कर अब मन में भावोद्रेक की रसानुभूति नहीं होती थी, भिन्न २ विषयों का ज्ञान होता था।

द्विवेदी जी के बाद—द्विवेदी जी के दिवंगत होने पर हरिऔध जी ने अपना स्थिर क़दम आगे रखा। और उनसे क़दम मिला कर मैथिलीशरण गुप्त आगे बढ़े। अब इधर से मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारतभारती' के रथ पर से 'उठो जागो' का शंख फूंका तो दूसरी ओर से उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' के मानसमन्दिर में कृष्ण की मानव-मूर्ति स्थापित कर पूजन के अर्घदान से नहीं—प्यार के विरह-विगलित आंसुओं से उसे अभिषिक्त किया। तब तत्कालीन हिन्दू-भारत इन्हीं दो कलाकारों से ओतप्रोत हो गया। 'भारतभारती' 'प्रियप्रवास' उस दशाब्दी के दो कूट शिखर हैं। 'भारतभारती' ने हमारे प्रच्छन्न आत्मसम्मान की राख में छिपे दीप्तिमान अंगार को कुरेद कर प्रकट किया, हमारे पौरुष को ठोकर मार कर, जगाया, और हमारे मानवतत्त्व को एक उद्बोधक इंजेक्शन दिया। देश ने उसकी काव्य-कला नहीं परखी, उसके भाव को हृदयंगम किया।

देश के यौवन-धन को उस युग में केवल दो ही कलाकार अभिभूत कर पाए। एक मैथिलीशरण गुप्त, दूसरे विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर। भारत के उमंग-भरे यौवनों ने इन्हीं दो कवियों को रस ले ले कर बार २ गाया और उन्हीं को अपना जातीय उद्गार बनाया। बंग के तरल भाव के कारण रवीन्द्र में रूप-राशि अधिक थी पर मैथिलीशरण उत्तराखण्ड के समतल मैदानों में दौड़ लगा रहे थे, उनमें गति थी, पौराणिकता का पुट था, ऐतिहासिक स्थितियां थीं। उपाख्यानों, व्यंगों, उद्बोधनों का सम्पुट था। इन सब के ऊपर चिरन्तन सत्य का एक स्वच्छ दीपक था। रवीन्द्र मानव-संस्कृति के सामंजस्य के स्वर में भावगीत गाते रहे, और मैथिलीशरण हिन्दू-संस्कृति और राष्ट्र-चिन्तन की धुन में कहखा आलापते रहे।

प्रियप्रवास का नया दृष्टिकोण—प्रियप्रवास में पहले-पहल कृष्ण को लोगों ने मानवरूप में देखा। इसने हिन्दूराष्ट्र की धर्म-परंपरा ही को भंग नहीं किया, काव्य-परंपरा भी तोड़ डाली। उन्होंने अतुकान्त ही रचना नहीं की, वृत्त

और छन्द भी संस्कृत के लिए । इन तीनों ही बातों से हिन्दी काव्य-शैली में क्रान्ति की सृष्टि हुई । एक बार बवंडर उठा और उपाध्याय जी को बहुत कुछ सहना पड़ा । पर कवि अविचल रहे । 'प्रियप्रवास' में उपाध्याय जी ने जो अतुकान्त कविता का मार्ग अपनाया; आगे चलकर उसे प्रसाद और लोचनप्रसाद पाण्डेय ने बहुत संस्कृत सम्पन्न तथा अलंकृत किया । इन कवियों ने आगे चलकर और एक नई दिशा में क़दम बढ़ाकर संस्कृत के साथ अंग्रेजी साहित्य से भी संसर्ग प्राप्त किया । सानेट लिखे, नए वृत्त चलाए, चम्पू लिखे ।

अब हिन्दी काव्य का एक नया रूप बनने लगा । नए रूप, नई उपमाएं सामने आईं । काव्य में रोमान्टिक का उदय हुआ ।

राष्ट्र करवट बदल रहा था । भारतीय संस्कृति और साहित्य-संक्रान्ति-काल आरम्भ हो रहा था । मन में अनेक धाराओं पर संघर्ष प्रतिफलित हो रहा था । हिन्दी कवि अब बेचैन हो कस्तूरीमृग की भांति अन्तःसुगन्ध की खोज में भटक रहे थे । यद्यपि सुगन्ध उन्हीं में अन्तर्हित थी: उनके प्राणों में विकलता, विह्वलता, पराधीनता और जड़ता की अनुभूति की वेदना लहरा रही थी । पूर्व गौरव की स्मृति तथा महायुद्ध के बाद की सम्पूर्ण विश्व के मानव-मानस पर छाई हुई वेदना उन्हें उत्तेजित कर रही थी ।

पुराने का मोह और नए का लोभ—पुराने का मोह और नए का लोभ, पूर्व की अभ्यस्त संस्कृति और पश्चिम की लुभावनी सत्ता—यह सब एक संघर्ष-भूमि थी । इसी भूमि में विश्व के साहित्य में दुःखवाद सिसकियां ले रहा था । वे सिसकियां भारत ने भी देखीं, सुनीं । वह विश्व के संस्पर्श में आगया था । बीसवीं शताब्दी की आत्मशोध और अन्वेषण की प्रसव-वेदना ने, और नवीन पूर्व और पश्चिम की मिश्रित सभ्यता के बोझ ने हमारे साहित्य में से आनन्द की सहज स्फुरणा और चेतना का विस्मरण करा दिया । मानव में जो सम्पूर्ण देवत्त्व है, उसकी पूजा का किसी को ध्यान ही न रहा । उसमें जो अभाव है, उसी के प्रति वैकल्य से सम्पूर्ण साहित्य ओत प्रोत हो गया । फिर शताब्दियों का हमारा पतन, चिरनिद्रा, परम्परा का असहाय और प्रताड़ित जीवन यह सब मिल मिला कर सन १९२० में हमारे साहित्यिकों में निजत्व की एक अनुभूति को उद्भासित करने में समर्थ हुए, जिस से हमारे हृदय की वेदना हमारे साहित्य में प्रकट होने लगी । तब तक भी चिन्ताधाराओं का स्पष्ट विभाजन हम न कर पाए थे । परन्तु काव्य में जो अभिव्यंजनाओं की परम्परा बनी आ रही थी, उसकी जगह हम कुछ स्पष्ट,कुछ अस्पष्ट, कुछ वस्तुवादी, कुछ आदर्शवादी, कुछ ज्ञात और कुछ अज्ञात अनुभूतियां और दृष्टियां प्रकट करने लगे । अलंकार और रस की अपेक्षा

अनुभूति और ध्वनि अब हमारी कविता का शृङ्गार हो गया। अन्ततः ध्वनि ही में कविता के प्राण आ बसे।

ऐसा ही एक बार संस्कृत साहित्य में भी हुआ था, जब आनन्दवर्धनाचार्य के नेतृत्व में कवि-कोविदों ने ध्वनि को लेकर प्राचीन परम्परा के विरुद्ध विद्रोह किया था। इस प्रकार आदर्शवादिता और ध्वनि-मूलकता को लेकर नवयुग की कविता का जो नया रूप बना, वही 'छायावाद' के नाम से प्रख्यात हुआ। यह सत्य है कि इसमें अन्तर्दीप्ति की एक छाया थी, परन्तु उसमें कवि की व्यथा की एक अभावमूलक अस्पष्ट खोज थी। उस में जो अनुभूति की छाया थी, उसे व्यक्त करने के लिये नए शब्द और उनके प्रयोग ढूंढे गये थे और ऐसे उपादान काम में लाए गये थे, जो प्रायः अपरिचित और अव्यवहारिक थे। शब्द-शक्ति पर यहां बहुत बोझ डाला गया था। यह शब्दप्रयोग का दोष न था, क्योंकि शब्दार्थ व्यवहार और प्रयोग पर निर्भर हैं। इसलिये इस नई धारा में शब्दों के व्यंग्यार्थ वा गूढध्वनि के विविध प्रयोग होने लगे।

अध्याय तीसरा

गद्य में भावावेश

प्रसाद का प्रभाव—गद्य में भावावेश इस युग के हिन्दी गद्य-साहित्य की एक नई वस्तु है। इसका श्रीगणेश 'प्रसाद' ने द्विवेदी युग के अन्तिम चरण में किया, इस युग में उनका वह भावावेश बहुत स्फुट हुआ। सम्भवतः उसी का प्रभाव सब से प्रथम दो पुरुषों पर पड़ा। वे दो पुरुष थे—रायकृष्णदास और वियोगीहरि।

रायकृष्णदास और जयशंकरप्रसाद—रायकृष्णदास बनारस के निवासी और 'प्रसाद' के घनिष्ठ मित्रों में रहे हैं। 'प्रसाद' के साहित्यिक विकास को वे निकट से चावभरी आँखों से देखते रहे हैं, परन्तु वे इस साहित्य-सुषमा के कोरे दर्शक ही नहीं रहे; उनकी कलापूर्ण प्रतिभा ने उन पर आवेशित होकर चरण भी बढ़ाया। प्रतिभाशाली पुरुष किसी से प्रभावित होकर भी मौलिक रहते हैं, यही बात हम रायकृष्णदास के सम्बन्ध में कह सकते हैं। रायकृष्णदास जहां अपने अति निकट से 'प्रसाद' को देख रहे थे, वहां उनका तरुण भावुक, ग्राहक हृदय रवीन्द्र कवीन्द्र के काव्य-रूप पर मुग्ध हो रहा था। फिर उनके चिरन्तन मित्र अपने युग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त उनकी पीठ पर थे, इन सब आलम्बनों से रायकृष्णदास की



पं० चन्द्रगुप्त विद्यालंकार



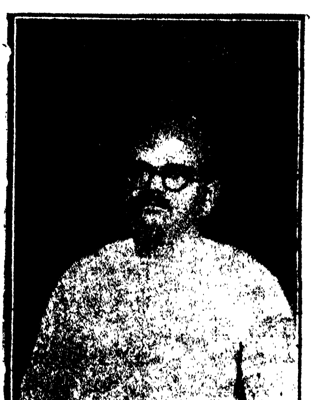
पं० मोहनलाल द्विवेदी



बा० भगवतीचरण वर्मा



डा० सत्यप्रकाश



पं० भगवतीप्रसाद बाजपेयी



रायकृष्णदास

प्रतिभा ने हिन्दी में एक नवीन प्रकार के भावावेश को प्रकट किया । उसमें रवीन्द्र का रहस्य-तत्त्व, प्रसाद का आस्तिक-तत्त्व और मैथिलीशरण का आत्मार्पण सम्मिलित था । अपने प्रारम्भिक साहित्य-जीवन में 'प्रसाद' और 'रायकृष्ण दास' आगे 'प्रसाद' और पीछे 'दास' धीरे २ चरण रखते इस अपरिचित नए साहित्य-क्षेत्र की गद्य और पद्य दोनों ही धाराओं में आगे बढ़े । इसमें सन्देह नहीं कि उनकी भावचेतना ने 'द्विवेदी' के प्रभाव को स्पर्श किया । शीघ्र ही दोनों के भाव-प्रकाशन में विचित्रता और विभिन्नता प्रकट होगई । परन्तु परोक्षसत्ता की भावात्मक अनुभूति की व्यंजना का इन्होंने एक नई परिपाटी पर श्रीगणेश कर दिया । प्रारम्भ में 'प्रसाद' और 'रायकृष्ण दास' दोनों ही ने मनोयोग से भाषा का शृङ्गार किया, और दोनों ही रवीन्द्र के नूतन रहस्यवाद पर कुछ संदिग्ध और अटकते हुए से आगे बढ़े । परन्तु शीघ्र ही रायकृष्ण दास का प्रसाद से साथ छूट गया । प्रसाद चले गये गहन वैदिक—प्रागवैदिक पुरातन अतीत की धुंधली स्मृतियों में, कोमलतम मानव स्रष्टाओं की प्रारम्भिक मूर्तियों की खोज में, और रायकृष्ण दास मानसनेत्र खोले विचारों और भावों के कलापूर्ण रेखा-चित्र खींचने लगे । देखिये—

(प्रसाद)

"प्रणय वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े, विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृत सर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से भी वीभत्स और प्रलय की अनल शिखा से भी लहरदार होती हैं; मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिए ।"

(रायकृष्णदास)

"रमणी माया की तरह रहस्यमय, कहुक की तरह चमत्कार पूर्ण, शिशु हृदय की तरह सरल, चन्द्रिका की तरह निर्मल, कला की तरह भावुक और प्रकृति की तरह अकृत्रिम थी । किन्तु आतप की सरसी की तरह वह सूख गई थी । उसका मुंह प्रभातचन्द्र की तरह पाण्डु पड़ रहा था ।"

आप देख सकते हैं कि बिना पैनी दृष्टि से छानबीन किये एकाएक यह नहीं कहा जा सकता कि ये दो भिन्न २ कलाकारों की भाव शैलियां हैं।

परन्तु यहां भी इन्हें एक साथी मिल गए—'वियोगी हरि' । 'परोक्ष-आलम्बन' के वैभव में ये दोनों कलाकार इस युग के प्रारम्भ ही में होड़ सी लगाने लगे । तारीफ़ की बात यह थी कि दोनों की इस वैभव के प्रदर्शन की शैली अपनी २ पृथक् थी । बिना समासांत पदावली का आश्रय लिये, और बिना ही बढ़िया शब्दों को चुने, भाषा को ऐसा सुकृत रूप देना रायकृष्णदास का ही काम था । उनकी 'साधना' में छोटे २ वाक्यों का प्रभाव-

शाली सम्मेलन है। प्रेमचन्द ने भी इस प्रकार छोटे २ वाक्यों का प्रयोग किया। पर वे इस में अपने प्रवाह को क़ायम न रख सके। उनकी भाषा लंगड़ाने, अटकने लगी। छोटे २ वाक्यों का प्रयोग करके भाषा की गति का सतत प्रवाह और सौन्दर्य क़ायम रखने में कृष्णदास अधिक सफल हुए।

वियोगीहरि के परोक्ष आलम्बन का वैभव हम कृष्णदास के समान ही पाते हैं। हां, प्रणाली में अन्तर है और वह असाधारण है। कृष्णदास की भाषा-शैली में जो कथन की सरलता और व्यवहारिता की विशदता है वह वियोगी हरि की रचनाओं में नहीं है। कृष्णदास ने भावावेश का स्वाभाविक प्रदर्शन किया है परन्तु वियोगी हरि ने गद्य-काव्य की पाण्डित्यपूर्ण उद्भावना की चेष्टा की है। उसमें भाव-व्यंजना दुरूह संस्कृत-तत्समता लिए हुए समासांत पदावली में हुई है। देखिए—

"जब मैं अति विषद निर्जन अरण्य में कलरव, कलकलित सुललित झरनों का सुगति-विन्यास देखता हूँ, मन्द स्रोतस्वती-सरित-तट, तरु-शाखा-विहरित-कलकण्ठी कोकिल कुहुक-ध्वनि सुनता हूँ, प्रभात ओस कण-झलकित-हरित-तृणाच्छादित-प्रकृति-बहु-वनस्पति-सुगन्धित भूमि पर लेटता हूँ, तथा नाना-विहंग-पूर्ण-सुफलित-वृक्षावृत-गिरि-सुवर्ण शृङ्ग-शुभ्र-स्फटिकोपम-शिला-न्यास पर बैठ कर प्रकृति छटा दर्शनोन्मत्त-अर्धोन्मीलित-साश्रु नयन द्वारा, अस्त-प्राय तप्त-कांचन-वर्ण रवि मण्डल-भव कमनीय कांति की ओर निहारता हूँ।"

अब आप कृष्णदास की सीधी-सादी भाषा देखिए—

"नदियों ने अपने खेलने का स्थान अपने जन्म-दाता पहाड़ों की गोद में रखा है, जहां वे एक चट्टान से कूद कर दूसरी पर जाती हैं। जहां वे ढोकों के संग खेलकूद मचाती हैं और छींटे उड़ाती हैं, तथा प्रसन्न होकर फेन हास्य हंसती हैं। जहां वे अपनी ओर झुकी लता डालियों का हाथ पकड़ कर उन्हें अपने संग ले दौड़ना चाहती हैं। जहां उनके बालसंघाती क्षुप अंकुरांगुलियों से गुदगुदाते हैं और वे तनिक सा उचक कर तथा बंक होकर बढ़ जाती हैं। जहां वे लड़कपन में भोले भाले मनमाने गीत गाती हैं और उनके पिता उनके प्रेम से उन्हें दुहराते हैं। और जहां वे पूरी ऊंचाई से वेग के साथ कूद कर गढ़ों में आती हैं और आपही अपना दर्पण बनाती हैं।"

(साधना)

यद्यपि वियोगीहरि की वह वाग्जाल जडित भाषा अव्यवहारिक थी परन्तु संस्कृत शैली के कारण 'वियोगीहरि' की भाषा में अनुप्रास दिखाई पड़ने लगा। 'अपनी लाड़ली लली की एक लीला सुनो' "आपका सहज स्नेह तथा सरल स्वाभाव मेरे हर्षहीन हृदय के जिस कठोर कोण में विराजित हुआ, वहां से अकथनीय आह्लाद के सुभग स्रोत बहने लगे।"

वियोगीहरि जब आवेशपूर्ण शैली की ओर जाते हैं तब वाक्य-विन्यास में काफ़ी उलटफेर करते हैं। देखिए—"पर हैं यह सब आपके मन मोदक" 'स्वप्न पटल पर अंकित सा दीखता है आज तुम्हारा उपदेश'

इन्होंने 'आख़िर', 'क़ैद', 'दर्द', 'सर्फ़', 'ख़ुदी', 'चीज़', 'बाज़ी' 'आवाज़', 'आफ़त' आदि उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग इधर उधर किया है जो कहीं २ अस्वाभाविक हो गया है। परन्तु कहीं-कहीं उससे भाषा का श्रृंगार भी हुआ है। 'उसका दीदार तेरी तीन कौड़ी दुनिया का काया पलट कर देगा, साथ ही तेरी दुरंगी नज़र भी बदल जायगी, उस नज़ारे के आगे तुझे 'मुक्ति फीकी और बदरंग जंचेगी"

जहां इन्होंने संस्कृत की अस्वाभाविक तत्समता और दीर्घ समासान्त पदावली का व्यवहार नहीं किया है, वहां इनकी भाषा स्पष्ट व्यवहारिक और श्रुति मधुर हो गई है। उसमें भावावेश की परिमार्जित व्यंजना प्रकट हुई है। देखिए—

"एकाएक किसी स्वर्गीय स्वर ने मेरी ध्यानमुद्रा भंग कर दी। स्वर बांसुरी का था। पीछे निश्चय भी हो गया कि कहीं से बांसुरी की ध्वनि आ रही है। वह उल्लसित स्वर-लहरी उस प्रशांत नभोमण्डल में विद्युत् की भांति दौड़ने लगी। हृदय लहरा उठा। शिखर मुस्कराने लगे। चन्द्रमा पुलकित हो गया। परिमलवाही पवन प्रणय-संकेत करने लगा। दिग्वधूटिएं घूंघट हटाकर झांकने लगीं। नाला भी स्तब्ध हो गया, पत्तियां थिरकने लगीं। मुग्धा प्रकृति के सलज्ज मुखपर एक अनुपम माधुरी-कलिका मुकुलित हो उठी। यह सब उसी मोहिनी ध्वनि का प्रभाव था। तो फिर मैं नव सृष्टि विधायिनी क्यों न कहूं।"

प्रेमचन्द—प्रेमचन्द इस युग के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी उपन्यासकार हैं। वे हिन्दी-कथा-साहित्य की प्रौढ़ता के प्रतीक हैं। उनकी विशेषता तीन बातों में है- एक यह कि उन्होंने अतीत गौरव का पुराना राग नहीं गाया, अपनी आंखों से जो देखा उसी का ईमानदारी से विश्लेषण करते रहे। वे अपने समाज के अन्तस्तल में घुस गये और इस तथ्य को पहिचान गये कि बन्धन भीतर ही का है बाहर का नहीं। वे भूतकाल की स्मृतियों के जाल में नहीं फंसे। गोदान में एक पात्र से उन्होंने कहलवाया है—

"मैं भूत की चिन्ता नहीं करता; भविष्य की परवा नहीं करता। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है, हम में जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाता है। हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लाद कर रूढ़ियों और विश्वास तथा इतिहास के मलवे के नीचे दबे पड़े हैं, उठने का नाम नहीं लेते।"

उनकी दूसरी विशेषता देशप्रेम की भावना की वासना है। इसी वासना ने उनकी लेखनी में गति उनकी व्यंजनाओं को सजीवता और उनकी रचनाओं को लोकप्रियता दी। इसी वासना ने उनमें तन्मयता और भावावेश दिया, इसी वासना ने उनकी छोटी बड़ी सभी कथावस्तुओं का निर्माण किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में चरित्र, विचार, उत्क्रान्ति, विश्वदर्शन, प्रसाद और याथातथ्य सब कुछ दिया, परन्तु देशप्रेम की भावना की वासना ने उन सभी पर अपना रंग गहरा रखा। भावना जब वासना का रूप धारण कर लेती है तब वह आसक्ति बन जाती है, और कलाकार को ऐसा विमोहित कर लेती है कि वह योग्यता तथा प्रतिभा रहते हुए भी फिर उभर नहीं पाता, उसी भाव-समुद्र में डुबकियां लगाता रहता है। प्रेमचन्द्र जिस युग में पैदा हुए उस में मनुष्य मनुष्य के निकट आ चुका था और विश्व सिमट कर मनुष्य के नेत्रों का विषय बन चुका था। विश्व में धर्म, अर्थ, राजनीति और समाज में उथलपुथल हो रही थी, प्रेमचन्द्र वह रूप देखने की सामर्थ्य रखते हुए भी उसे न देख पाए, उन्हीं के सामने कुछ तरुण अपनी भाव-तूलिका लिये उन सब विराट भावनाओं के चित्र हिन्दी कथाभूमि में बनाने लगे थे, पर प्रेमचन्द की भांति उनमें से किसी में—भावना में वासना और आसक्ति नहीं उत्पन्न हुई थी, इसी से उनके चित्र कुछ बने नहीं, कहीं रंग फीका हो गया, कहीं रेखाएं अस्पष्ट और कहीं स्थूल हो गई। प्रेमचन्द की वासना यदि मानव जन-पद पर आवेशित होती तो प्रेमचन्द कदाचित् अपने युग के ही सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार न रह जाते, उनकी आयु बहुत बढ़ जाती। उन्होंने मानव द्वन्द को बारंबार छुआ भी, मानव मूर्तियों को चाव से घड़ा भी, होरी और सूरदास ही नहीं, उनके वे पात्र भी जो मुख्य नहीं हैं प्रेमचन्द्र की मानव-कल्याण की भावना का दिग्दर्शन करते हैं, परन्तु वहां केवल कल्याण-कामना ही है। प्रेमचन्द जहां देशभक्ति के नशे में चूर हैं, वहां मानव-कल्याण के केवल हिमायती वकील हैं।

तीसरी विशेषता प्रेमचन्द की यह है कि वे कभी साहित्यिक लताफ़त में नहीं फंसे। न इनकी भाषा, न भाव, न शैली ही साहित्यिक अभिनय करती है। वे अपने दिल की बात दिल खोल कर कहते हैं, अपने दुःख के उच्छ्वास छोड़ते हैं, अपनी असह्य अवस्था पर हाय करते हैं; आंसू बहाते हैं। इनका दुःखवाद उन कवियों के दुःखवाद से पृथक् है जिसमें छायावाद का कल्पित वैकल्य है। यह सचमुच का रुदन है, और वह रुदन अपने प्यारे देश की दीन हीन असहायावस्था पर है।

प्रेमचन्द की भाषा बहुत अच्छी तरह परिमार्जित नहीं कही जा सकती। भाषा की सिधाई और भीरुता के कारण उनकी भाषा में भावव्यंजना का सौन्दर्य

कम विकसित हुआ है। बड़े २ वाक्यों के सम्बन्ध-क्रम का निर्वाह वे नहीं कर सके, और छोटे-छोटे वाक्यों में भावों के टुकड़े-टुकड़े उन्होंने रक्खे हैं। यद्यपि उनके मुहावरों के सुन्दर प्रयोगों के कारण वचन में सजीवता आ गई है पर भावना का प्रौढ़ प्रसार नहीं हुआ है। संस्कृत तत्समता का प्रयोग भी बहुत कुछ कृत्रिम सा हो गया है। देखिए—

"हमारे पहलवानों में वैसा कोई नहीं है जो उससे बाजी ले जाय ! मालदेव की हार ने बुन्देलों की हिम्मत तोड़ दी है, अब सारे शहर में शोक छाया हुआ है, सैकड़ों घरों में आग नहीं जली, चिराग़ नहीं रोशन हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज़ अब अन्तिम सांस ले रही है, जिससे हमारा मान था। मालदेव हमारा उस्ताद था। उसके हार चुकने के बाद मेरा मैदान में आना धृष्टता है। पर बुन्देलों की साख जाती है तो मेरा सिर भी उसके साथ जायगा। कादिरखाँ बेशक अपने हुनर में एक ही है, पर मेरा मालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि उसके हाथ में होती तो मैदान जरूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल एक तलवार है जो कादिरखाँ की तलवार का मुंह मोड़ सकती है, वह भैया की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अन्तिम चेष्टा होगी, यदि अब की हार हो तो ओरछे का नाम सदैव के लिये डूब जायगा"।

अपने भावों को बोधगम्य बनाने और विचारों को स्थूलरूप देने के लिये प्रेमचन्द ने 'जैसे' 'तैसे' 'माना' आदि शब्दों के प्रयोग किये हैं। ये प्रयोग कहीं तो भावबोधक हुये हैं, पर कहीं कहीं अनावश्यक प्रतीत होते हैं। देखिये—

'···व्याकुल होगई जैसे दीपक को देखकर पतंग'। '···अधीर हो उठी जैसे खाण्ड की गन्ध पाकर चींटी'।

'···उसकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ शिथिल सी होगई थीं, मानों वह किसी ऊँचे वृक्ष से गिर पड़ी हो'।

परन्तु जहां कहीं हृदय की धधकती आग बाहर निकाली गई है अथवा मन के अधिक दिन के संचित उद्गार वेग से बाहर फैंके गये हैं वहां प्रेमचन्द की भाषा भावुक और प्रभावशालिनी होगई है।

"सुमन ने आँखें खोलीं और उन्मत्तों की भांति विस्मित नेत्रों से शान्ता की ओर देखकर बोली—कौन शान्ति ? तू हट जा। मुझे मत छू, मैं पापिनी हूँ, तू साध्वी है, मुझसे अपने को स्पर्श न होने दे। मुझे हृदय की वासनाओं ने, कुकामनाओं ने मलिन कर दिया है। तू अपने उज्ज्वल स्वच्छ हृदय को पास मत ला, यहां से भाग जा, वह मेरे सामने अग्नि का नरक-कुण्ड दहक रहा है, यम के दूत मुझे उस में झोंकने को लिये जाते हैं, तू यहां से भाग जा।"

प्रेमचन्द ने प्रायः हिन्दी-उर्दू-मिश्रित भाषा का सर्वत्र प्रयोग किया है। यह मिश्रण प्रायः परिमार्जित है। कथनोपकथन में इस बात का ध्यान रखा गया है कि यदि हिन्दू है तो संस्कृत तत्सम शब्द और यदि मुसलमान है तो फ़ारसी अरबी तत्सम शब्दों का प्रयोग किया जाय। उन्होंने मौके-मौके पर देहाती और प्रान्तीय भाषा का भी प्रयोग किया है।

इस भाषा-रचना ने प्रेमचन्द को अपने काल के सब लेखकों से पृथक् कर दिया है। फिर भी एक बात है—वे उर्दू शब्दों और मुहावरों को बहुत कुशलता से हिन्दी में प्रयोग कर लेते हैं। परन्तु संस्कृत तत्सम शब्द उनके बोझल हो उठते हैं। देखिए—

"मिर्जा जी तीन बाजियाँ लगातार हार चुके थे, इस चौथी बाज़ी का भी रंग अच्छा न था। वह बार बार जीतने का ढंग निश्चय करके सम्हलकर खेलते थे; लेकिन एक न एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी खराब हो जाती थी, हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी।" (शतरंज के खिलाड़ी से)

प्रेमचन्द की प्रारम्भिक रचनाओं में लचरपन और व्याकरण सम्बन्धी भूलें भी हैं, प्रान्तीयता के दोष भी काफ़ी रहे।

"वह उसे समझाते।"
"मनसा-वाचा-कर्मणा से, सिर झुकाया है।
"देश हितैषिता के उमंग से" इत्यादि।

कुछ अव्यवहारिक शब्दों का भी वे प्रयोग करते थे जैसे—"फुरता-फुरती" 'निरंग' 'रवादार' 'गुजरान' 'अबके' आदि। 'शान्त' के स्थान पर अधिकांश 'शान्ति' लिखते थे। विराम चिन्हों के रखने में अधिक सावधान न थे। 'सम्मुख' को सदा 'सन्मुख' लिखते थे परन्तु उनकी मुहावरेदानी बड़े गजब की थी, कभी-कभी तो मुहावरों से ही वाक्य पूरा कर डालते थे।

"उस समय गिरधारीलाल का चेहरा देखने योग्य होगा, मुंह का रंग उड़ जायगा, हवाइयाँ उड़ने लगेंगी, आंखें न मिला सकेगा, शायद फिर मुझे मुंह न दिखा सके।"

प्रेमचन्द ने सामाजिक चेतना को अपने व्यक्ति की चेतना बना लिया था, इसलिये उनमें अपने प्रेम की पीड़ा और पुकार को पहचानने की शक्ति उत्पन्न होगई थी। उनके सूरदास में, चक्रधर में, होरी में, समाज की समष्टि को हम अनायास ही देख सकते हैं। परन्तु प्रेमचन्द ने जीवन की कोई नई फिलासफ़ी हमें नहीं दी, जैसे कि टाल्स्टाय, गोर्की और रोम्योरोला ने दी हैं।

उन्होंने साधारण घटनाओं पर केवल टिप्पणियां हीं कीं । न उनका विश्लेषण किया न समाधान । हर हालत में वे मनुष्य को सब से अधिक प्यार करते थे । प्रेमचन्द के युग में यह एक विकसित भावना थी । प्रेमचन्द ने सब साहित्यकारों से अधिक सरल और मर्मस्पर्शी ढंग पर मनुष्य को प्यार किया । निश्चय यह प्रेमचन्द की फ़िलासफ़ी न थी, युगधर्म की वस्तु थी । पर प्रेमचन्द युगधर्म की इस वस्तु के हिन्दी साहित्य में अपने काल के सब से बड़े प्रतिनिधि थे ।

कुछ लोगों का ख़्याल है कि गोदान का होरी प्रेमचन्द ही है । यदि यह सत्य है तो यह कहना चाहिये कि प्रेमचन्द व्यवहारिक रूप में जीवन की पीड़ाओं को ढोते रहे थे और उन्होंने मनुष्य की पीड़ा ही का सच्चा शृंगार किया है । वे जब तक जीवित रहे राष्ट्र की आत्मा के साथ अधिकाधिक घनिष्ठ होते गये ।

साहित्य की सृष्टि सत्य और असत्य के द्वन्द्व से होती है । ये सत्य और असत्य युग-युग में सामाजिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होते हैं । उनकी कोई स्वतन्त्र अमर सत्ता नहीं है । एकचिन्तन-सत्य में संघर्ष नहीं हो सकता, संघर्ष हमेशा उसी में होगा जो चल है; इसलिये साहित्य का सम्बन्ध उस संघर्ष से है जो अचिर और अस्थिर है । वह प्रवाह से तो अनन्त है परन्तु आयु में क्षणभंगुर है ।

अब आप प्रेमचन्द में यह संघर्ष देखिये । उनके हृदय में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष चलता है । यथार्थ और आदर्श दोनों ही परिवर्तनशील हैं पर वे यथार्थ से भयभीत और आदर्श के वकील हैं । वे आदर्श के विविध रंग के मनोहर चित्र खींचने में सदा कृतोद्योग रहे हैं । कला के विषय में प्रेमचन्द दोटूक कहते हैं—"कला दीखती तो यथार्थ है पर यथार्थ होती नहीं, उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो ।"

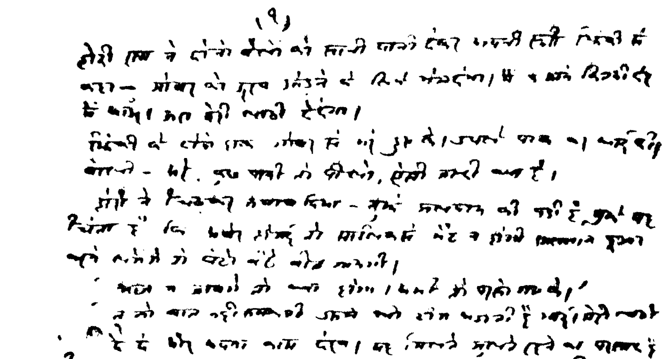
वे बुद्धिवाद से भी साहित्य को दूर रखना चाहते हैं, वे कहते हैं— "सच पूछिये तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिये उपयुक्त ही नहीं, साहित्य तो भावुकता की वस्तु है बुद्धिवाद की यहां इतनी ही ज़रूरत है कि भावुकता बे लगाम होकर दौड़ने न पावे"

वे साहित्य का मुख्य ध्येय आनंद उत्पन्न करना बताते हैं और उपयोगिता को गौण कहते हैं—"साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है, जो चतुर कलाकार है वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो इतना चतुर नहीं है वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हंसी उड़वाता है"

वे यह भी कहते हैं कि—

"मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटने टेकती है। प्रोपेगण्डा बदनाम शब्द है; लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्धक साहित्य प्रोपेगण्डा के सिवाय न कुछ है न हो ही सकता है न होना ही चाहिये और इस तरह प्रोपेगण्डा के लिये साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा"

इन उद्धरणों से प्रेमचन्द का संघर्ष कुछ २ समझा जा सकता है। और वे जो पुराने युग की विचारधारा से प्रभावित होते हुए भी नये युग के साथ रहे हैं उसका कारण भी समझा जा सकता है।



'गोदान' की पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ प्रेमचन्द की हस्तलिपि में।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु ने जिस हिन्दी साहित्य का नामकरण किया था प्रेमचन्द ने उसे एक मूर्तरूप दिया। हम प्रेमचन्द को हिन्दी का 'चार्ल्स डिकेन्स' कह सकते हैं। 'डिकेन्स' और 'प्रेमचन्द' दोनों ही प्राचीन साहित्य

और उसके नियमों से, अशिक्षित समाज के निम्नस्तर की भीषणता से सुपरिचित स्वाभाविक प्रतिभा के अधिष्ठाता और सर्वार्थ में जनता के आदमी हैं। मध्यवर्ग और उच्चवर्ग के आदमियों का चित्रण करने में दोनों ही विफल रहे। यद्यपि आगे चल कर ये दोनों कलाकार अलग २ रास्ते पर चलते हैं, एक आशावाद के पथ पर दूसरा दुःखवाद की पगडंडी पर। परन्तु गरीबों के ये दोनों ही प्रतिनिधि हैं।

प्रेमचन्द-साहित्य काफ़ी है। सेवादन, प्रेमाश्रम, वरदान, रंगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा, निर्मला, कर्मभूमि, ग़बन, गोदान, कुछ नाटक और बहुत सी कहानियां हैं।

'सेवासदन' मध्यवर्ग के जीवन-दौर्बल्य का रेखा-चित्र है, 'प्रेमाश्रम' में ग्रामसमस्या है, 'रंगभूमि' भारतीय जीवन का एक व्यापक सामाजिक चित्र है। 'कायाकल्प' में ज़रासा आध्यात्म तत्त्व है, 'कर्मभूमि' जनसाधारण के आन्दोलन का एक अध्याय है, 'निर्मला' में वृद्ध विवाह का एक चित्र है, 'ग़बन' हिन्दू परिवार के कुण्ठित जीवन का रेखा-चित्र है, 'गोदान' एक बिना अन्त की गांव की करुण कहानी है, 'गोदान' में प्रेमचन्द की कला का चरम विकास हुआ है।

शिवपूजनसहाय और बेचन शर्मा 'उग्र'—देशव्यापी उग्र आन्दोलन का प्रभाव जिनकी भाषा-शैली पर पड़ा, उन गद्यकारों में हम शिवपूजनसहाय और बेचनशर्मा 'उग्र' का नाम ख़ास तौर पर लेंगे। अपने कथन को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने के विचार से कठोर से कठोर और उग्र से उग्र शब्द और व्यंगचित्र हमें इन्हीं दोनों लेखकों की लेखनी में मिलते हैं। वह युग था जब समाज में एक उफान आया था, सभाएं और वक्तृताएं नित्य होती थीं, समाचार पत्र आग उगलते थे, समाज में नवीन ज्योति, उत्साह और शक्ति की लहरें उमड़ रही थीं। वस्तु-प्रतिपादन की शैली में, कथनोपकथन में, वादविवाद में, सब जगह उग्रता और निर्भयता दीख पड़ रही थी। यह वक्तृत्व कथा, कहानी, नाटक, आलोचना सभी साहित्य की धाराओं में भर गया था। 'उग्र' और 'शिवपूजनसहाय' ने यह वक्तृत्व-शक्ति अधिक से अधिक अपनी रचनाओं में भरी।

शिवपूजनसहाय की भाषा शुद्ध और मुहावरों से लिपटी हुई होती थी। उर्दू शब्दों का भी उसमें छींटा रहता था। पर अधिकांश में व्यापक शुद्धता ही का बाहुल्य होता था। इस विशुद्धता के अतिरिक्त भाषा-सौष्ठव भी कम न था। माधुर्य और ओज का उसमें अपूर्व मेल था। ख़ास बात एक यह थी कि इस भाषा में प्रान्तीयता की तनिक भी झलक न थी। कहीं २ सुन्दर अनुप्रास की भी छटा दीख पड़ती थी। देखिए—

"खिड़की से छनछन आने वाली चांद की चटकीली चांदनी ने चूड़ावत चकोर को आपे से बाहर कर दिया।......नए प्रेमपाश का प्रबल बंधन प्रतिज्ञा-पालन का पुराना बंधन ढीला कर रहा है। चूड़ावत जी का चित्त चंचल हो उठा। वे चटपट चन्द्रभवन की ओर चल पड़े। वे यद्यपि चिन्ता में चूर हैं पर चन्द्रदर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे संगमर्मरी सीढ़ियों के सहारे चन्द्रभवन पर चढ़ चुके, पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है।"

शिवपूजनसहाय की भाषा में प्रायः सर्वत्र ही अनुप्रास की यह बहार मिलेगी। कहीं २ उन्होंने उत्कृष्ट समासांत पदावली में काल्पनिक वैभव का मिश्रण बड़ी सफलता से किया है। परन्तु उसमें अलंकारिक उल्लास की अधिकता कहीं २ बहुत बोझल होगई है—

"वह अप्रतिम प्रतिमा, वसंतकाल की नवकिसलय कलित रसाल द्रुमावली सी वह प्रतिमा, प्रभातकालीन मलय-मारुत से ईषत् दोलायमान मन्दस्मित नव नलिनी की सी वह प्रतिमा, वासन्ती सन्ध्या-समीरण जनित गंगा की कृश कल्लोलमालिका सी वह प्रतिमा, जयदेव की कोमल काव्य पदावली सी वह प्रतिमा, शोण-सैकत-शैया पर लेटी हुई सद्य-उदित सूर्य की किरणों की सी वह प्रतिमा, श्रावण की जलप्लावित सस्य श्यामला वसुन्धरा की सी वह प्रतिमा, नवोढ़ा कृषक ललना के करतल-विराजित नव शालिवालि पुंज की सी वह प्रतिमा; अर्जुन के प्रति स्वर्गीय वारांगना उर्वशी की सी मधुर कटाक्षपात पूर्वक विनीताभ्यर्थना की सी वह प्रतिमा"

इस प्रकार की अलंकारिक विषदता की थकाने वाली पदावली पर संस्कृत का प्रभाव था। उसमें भाषा की प्रगल्भता का प्रदर्शन था।

परन्तु सर्वत्र ही ऐसा नहीं है। लेखक भाषा-शृंगार को छोड़ कर जब अपने युग में आता है तब वह दूसरी ही भाषा में बोलता है। देखिए—

"जिस मेवाड़ की मानमर्यादा बचाने के लिए, हमारी माताओं ने अपनी गोद के लाखों लाल लुटा दिए हैं, उसी मेवाड़ की गौरवान्वित गद्दी को सनाथ करने वाला, राणा हमीर और राणा सांगा, तथा हिन्दुकुल सूर्य प्रताप का वंशधर, क्या राज्यनाश के भय से, जंगलों में भटकते फिरने की शंका से, शरण में आई हुई एक अबला को आत्मघात करने का अवसर देगा? यदि ऐसा होगा तो उसी दिन वीर रक्ताभिषिक्त मेवाड़ भूमि रसातल में पैठ जायगी; सूर्य चक्कर खाकर डूब जायगा; भूमण्डल भी तूफान से घिरे हुए जहाज़ की तरह-डगमगा उठेगा; तारे एक से एक टकरा कर चूर्ण हो जाएंगे; समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर भूलोक को डुबो देगा; चाँद से चिनगारियां बरसने लगेंगी और अरवली का हृदय भीषण ज्वालामुखी के प्रस्फोट से एकाएक फट पड़ेगा।



बा० सियारामशरण गुप्त



बा० दयाशंकर दुबे बी० ए०



जी० पी० श्रीवास्तव



काका कालेलकर



लाला खुशहालचन्द 'खुर्सन्द'



राजकुमार डा० रघुवीरसिंह एम० ए०,
एल० एल० बी०, डीलिट०

यहां पाठक देखेंगे कि विराम का भाषा-शैली के उत्कर्ष के साथ कैसा सुन्दर प्रयोग किया गया है। विरामों का ऐसा ही सुन्दर उपयोग हम बेचनशर्मा 'उग्र' में भी पाते हैं, कहीं-कहीं शिवपूजनसहाय ने साधारण विवरण की भाषा में भी भावावेश का मिश्रण किया है, देखिये—

'पंजाब मेल का अव्वल दर्जा भी स्वर्ग का नमूना ही है। जैसे गंगा और हिमालय का मानचित्र पुस्तकों में वैसे ही पंजाब-मेल के अव्वल दर्जे में बहिश्त का नक़शा मौजूद है। उसे अलकापुरी या अमरावती का नमूना कहना कोई बेजा बात नहीं है······बिजली की बत्तियां जल रही थीं, बिजली के पंखे दनादन चल रहे थे, खिड़कियों की राह जितनी आंखें स्टेशन की ओर झांकती थीं, सब पर सुनहरी कमानी के चश्मे चढ़े थे। कुछ साहेब झालरदार साफ़ तकियों के सहारे कमर के बल टेक कर समाचार पत्रों के पन्ने उलट रहे थे......"

जिस उत्तेजक और प्रभावशाली भाषा में राजनैतिक वितंडावाद किया जाता है, बेचनशर्मा 'उग्र' ने उसी का अनुसरण किया। उनकी कथन-शैली को एक शक्तिशाली रूप प्राप्त हुआ, उनके वाक्य इतने तुले और एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं कि वे अलग नहीं किये जा सकते। ऐसा मालूम होता है कि जब लेखक के हृदय में भावों की एक आंधी उठती है, तब वह उनकी व्यंजना की जितनी सामग्री जल्दी जल्दी उठा सकता है, उठाकर बाह्य जगत् के सामने रख देता है।

"मैं कहता हूं समाज के शिक्षालयों, बालसस्थाओं के देवताओं की ड्यूटी पर नियुक्त 'कमज़ोर' मनुष्यों से, मैं कहता हूँ शहर-शहर के गली कूचों में रहने वाले, डूबकर मछली निगलने वाले, सत्तर चूहे खाकर दूसरों को हज करने का उपदेश देने वाले छुपे रुस्तमों से, मैं कहता हूँ आदर्श का नाम लेकर, प्रथा की दुहाई देकर, सत्य के मुंह पर ढोंग का लिफाफा चढ़ा कर अपने कण्ठ और स्वर से बोलने वाले महाशयों से, मेरा कहना सुनो, मुझे कहने दो......"

"है कोई माई का लाल ऐसा। जो हमारे समाज को नीचे से ऊपर तक सजग दृष्टि से देखकर, कलेजे पर हाथ रखकर, सत्य के तेज से मस्तक तानकर, इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि— 'तुमने जो कुछ लिखा है ग़लत लिखा है। समाज में ऐसी घृणित, रोमाञ्चकारिणी, काजल काली तस्वीरें नहीं हैं। अगर कोई हो तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमेठे, और छोटे मुंह पर थप्पड़ मारे, मेरे होश ठिकाने करे, मैं उसके प्रहारों के चरणों के नीचे हृदय पांवड़े डालूंगा, मैं उसके अभिशापों को सिर माथे पर धारण करूंगा—सम्हालूंगा······विश्वास मानिए, सौगन्ध और गवाह की हाजत नहीं मुझे······"

राजकुमार डा० रघुवीरसिंह—परन्तु यह मेधावी राजकुमार हिन्दी गद्य में जिस भावावेश को लेकर अकस्मात् प्रादुर्भूत हुआ, वह अपने ढंग

का एक निराला ही साहित्यिक रूप था। राजकुमार ने अब तक की प्रचलित गद्य की परम्परा को एक ओर समेट कर उसे एक शानदार, सम्पन्न, आधुनिकतम बाना ही नहीं पहनाया प्रत्युत उसकी अन्तःसमृद्धि की भी बहुत वृद्धि की।

"और आज रात के गए, वे अब तक लौट कर नहीं आए। कितने बसन्त खिले और यों ही मुरझा गए। न जाने कितने सावन सूखे ही बीत गए। ये गृह द्वार तभी से खुले पड़े हैं, उनका स्वागत करने को आज भी फड़फड़ा रहे हैं। क्या वे कभी लौट कर भी आवेंगे? " यशोधरा सकरुण स्वर में कह रही थी।

"परन्तु माँ! वे आज कपिलवस्तु आ ही रहे हैं, नगर में पर्यटन करेंगे; इन राजप्रासादों में भी उनका प्रवचन तथा उपदेश होगा।" राहुल बीच में ही कह बैठा।

"हाँ! तथागत आवेंगे, किन्तु वे कहाँ आ रहे हैं? इन्होंने तो बुद्ध-पद प्राप्त किया है। अब इनका अपना-पराया कौन है? यह घर-बार इनका अब कहाँ रहा? ... नहीं, नहीं ... मेरा प्राणप्रिय गौतम तो वापस नहीं आ रहा है। वह तो कभी भी ऐसा न था। .. .. प्यारे राहुल! बता तो सही तुझे यह कौन भुलावा दे रहा है। तू तो एक राजकुमार का प्यारा पुत्र है, किसी भिक्षुक संन्यासी का त्यक्त बेटा नहीं। ...." यशोधरा का कण्ठ भर आया और सुदूर क्षितिज को ताकती हुई उन आँखों से टपके दो तप्त अश्रुकण।

—"चिरवियोग की वह रात" से।

डा० रघुवीरसिंह का एक गद्य-लेख उन्हीं की हस्तलिपि में।

इन दिनों विश्वविद्यालयों में हिन्दी साहित्य का समावेश हो गया था और हिन्दी-गद्य-शैली केवल देश के दुर्दैव के प्रति कटूक्तियों और क्रुद्ध व्यंजनाओं की वस्तु नहीं रह गई थी। बड़ी ही तेजी से भाषा की वक्तृत्व-शक्ति का महत्त्व कम हो चला था। अब आवश्यकता थी कि गद्य में असाधारण शैली पर गहन विचारधारा पाठकों को श्रमसाध्य मानसिक तृप्ति प्रदान करे।

गोस्वामी गणेशदत्त





डा० सूर्यकांत एम. ए., डी. लिट्., डी. फ़िल.



संतराम बी० ए०



जयचंद्र विद्यालंकार



पं० राजाराम



पं० उदयशंकर भट्ट



पं० ज्वालादत्त शर्मा



लाला भगवानदीन 'दीन'

प्रेमचन्द, सुदर्शन और कौशिक, उग्र और शिवपूजनसहाय के द्वारा कथा-साहित्य में अर्थ-वैचित्र्य और भाषा-शैली का नूतन विकास हुआ था। बंग भाषा के 'उद्भ्रान्त प्रेम' के ढंग पर हिन्दी में काव्यात्मक गद्य प्रबन्धों के रूप में एक नयापन दीख पड़ता था। रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से यह शैली बहुत अधिक प्रभावित हो गई और वह रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता से ओतप्रोत अन्योक्ति-पद्धति पर आगे बढ़ी। इस में कुछ पाश्चात्य ईसाई धर्म का तत्त्व भी छू गया। रायकृष्णदास की 'साधना' 'प्रवाल' और 'छायापथ', वियोगीहरि की 'भावना' और 'अन्तर्नाद, ऐसी ही रचनाएं थीं। इनमें आध्यात्मिक और साम्प्रदायिक क्षेत्र से लाक्षणिक भावुकता ग्रहण की गई थी। हृदय की स्वाभाविक गति बहुत कम थी।

राजकुमार रघुवीरसिंह अतीत के खण्डहरों में बिखरी हुई भावुकता को मानुष मन में संचित कर हिन्दी के भंडार में उडेलने लगे। अभी तक मानुष हृदय की इस भावुकता को हिन्दी के किसी कलाकार ने नहीं पहचाना था। राजकुमार की भावना मुग़ल बादशाहों के अवशेषों को आंखों के सामने विपन्न अवस्था में देख बिषाद, नैराश्य और लाचारी से तड़पने लगी। 'ताजमहल' 'दिल्ली का लाल किला' 'जहांगीर और नूरजहां की कब्र' पर उन्होंने अत्यन्त मार्मिक भाव-व्यंजनाएं कीं; जिनका स्थान गद्य-साहित्य में भावात्मक और काव्यात्मक शैली में असाधारण है।

डा० सूर्यकान्त—डाक्टर सूर्यकान्त का भावावेश सर्वथा एक मौलिक और नूतन रूप धारण करता है, उसमें रवीन्द्र ठाकुर के रहस्यवाद का पुट नहीं है, न प्रसाद जैसी साम्प्रदायिकता, न वे रायकृष्णदास की भांति किसी अज्ञात अनिश्चित सत्त्व को झिझकते हुए आत्मार्पण करते हैं। वे राम के लोकोत्तर मानव-चरित्र पर आवेशित हुए हैं, उस आवेश में लाखों करोड़ों जीवों से परिपूर्ण जन-पद को नहीं, जन-पद के समर्थ नायक एक महामानव को देखते हैं। वे उसकी महार्घता से प्रभावित हो, उसे देवत्त्व प्रदान कर अकिंचन भाव से मैथिलीशरण की भांति उसके चरणों में अवनत होकर मौन नहीं होते। वे उसके प्यार में, उन्मादग्रसित-से होकर कहते हैं—

"रामायण के भैरवी युद्ध में संसार के मँजे योद्धा भाग्य के साथ जूझ रहे हैं। कर्मफलों के पांशुरक्त झंझानिल में गिरि-कन्दराएं गूंज रही हैं, और समुन्नत शाल टूट रहे हैं। अदृष्ट के महा समुद्र में 'ट्यूटानिक' भटक रहे हैं, और भूत प्रेतों की भांति अचानक सिर उठाने वाले घटना-जाल के हिम पर्वतों से टकरा २ कर चूर चूर हो रहे हैं। रामायण में नियति नाच रही है, विश्व-मण्डल डोल रहा है, उसकी संधियां टूट रही हैं, गगनतल से उल्का बरस रहे हैं, सारा ब्रह्माण्ड ज्वालामुखी पर्वत बन गया है, मानवीयता के

इस स्वप्न-निशीथ में कैकेयी के अभिशाप-शोणित से रंगे हुए, राम-सीता और भरत ये तीन पथिक पुण्यों की पोटली लिए निर्वाण की ओर जा रहे हैं। मार्ग में राक्षस उठते हैं, दैत्य दानव आते हैं, भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आती हैं पर ये अपने सुकृत के बल पर सबको जीतते चले जाते हैं।"

"जंगलों में राम मारा मारा फिरता है, उसकी प्रियतमा पर कष्ट आते हैं; रावण अपना काम करता है, लक्ष्मण के शक्ति लगती है, संसार सुनसान है, पिता मर गए, सीता चुराई गई, लक्ष्मण मरणासन्न है।.........आज भूकम्प, वह्नि, बाढ़, उल्का, वज्र और प्रलय के समवाय का धूलि के इस चेतन कण के साथ अन्तिम संग्राम है,......"

"कदम्ब फल रहे हैं, जम्बुकुंज भर रहे हैं, बक-पंक्तियां उड़ रही हैं, यौवन स्खलित-सरिता का जल छलछलाया हुआ खेतों को चूम रहा है, आषाढ़ के आकाश में रति अभिसार कर रही है, पुष्पधन्वा राम पर रमणियों की कुंचित चितवन के तीर चलाता है, परन्तु राम की विश्वजनीन मुद्रा में स्थायी भंग नहीं होता। विरही राम स्मृति के अज्ञात-तट पर खड़ा हुआ, जल, स्थल तथा आकाश में शरत-बसन्त तथा वर्षा में-धर्म, कर्म और इतिहास में-अपरूप चिन्हों को खोद कर सत्य तथा प्रेम की मूर्ति सीता को स्थापित कर रहा है।"

"...रामायण पाठ हो चुका, विश्वपथ के यात्री की कथा हो चुकी; वृन्तच्युता जानकी की अतृप्त तृष्णा और खण्डित स्वप्न के फोटो उतर चुके। अबला की अभिशापाग्नि में दशरथ की शलभता को सबने देख लिया। संसार की अवदात भावनाओं को स्तब्ध करने वाले केकई के वेदना धूसरित हास्य को सबने सुन लिया......"

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी और राहुल सांकृत्यायन—हज़ारीप्रसाद द्विवेदी भावावेश की विचारालोचना और सावधानतापूर्ण एक नई शैली लेकर आए और राहुल सांकृत्यायन एक निर्मम समालोचक के रूप में खोज-जांच के पूरे ज्ञान को लेकर नए विचारों, नए भावों, नए दृष्टिकोणों के धक्कों से पाठकों को झकझोरने लगे। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी संस्कृति और साहित्य के सभ्यशिष्ट विद्यार्थी, समालोचक और स्रष्टा हैं। परन्तु राहुल दोटूक समालोचक और उच्छृङ्खल विवेचक हैं। लिखने, पढ़ने, विचारने और मत स्थिर करने की तीव्रता और शीघ्रता में उन्होंने अपने काल के सभी साहित्यकारों को पीछे छोड़ दिया। उनकी 'सिंहसेनापति' 'जययौधेय' और 'बोल्गा से गंगा' ये तीनों पुस्तकें उपन्यास और कहानी की प्रमुख रचनाएं हैं, इनमें उपन्यासतत्त्व और कहानी-कला का बहुत कम विकास हुआ है, फिर भी ये तीनों पुस्तकें वर्तमान युग की ही नहीं, अब तक के सम्पूर्ण हिन्दी-कथा-साहित्य में नई और निराली रचनाएं हैं। प्रसाद ने जिन वैदिक और अति प्राचीन भाव-मूर्तियों को श्रद्धा और कोमल कल्पना का काव्य-शरीर दिया था, राहुल ने उन्हें अपनी



पं० हरिकृष्ण 'प्रेमी'



पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी



श्री उपेन्द्रनाथ अश्क



पं० जगदम्बाप्रसाद 'हितैषी'



रमाशंकर 'पहाड़ी'



सुश्री चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०



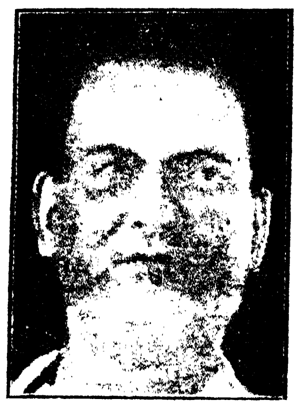
बा० मंगलाप्रसाद



बा० गोकुलचन्द, मंगलाप्रसाद पुरस्कारदाता



पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय



राहुल सांकृत्यायन



बा० गुलाबराय एम० ए०



पं० इलाचन्द्र जोशी

लेखनी के कुठार से पृथ्वी-गर्भ से खोद कर जैसे का तैसा निकाल कर सब के सामने रख दिया है; उनके भग्न और वीभत्स अंगों पर भी परदा डालने की आवश्यकता नहीं समझी।

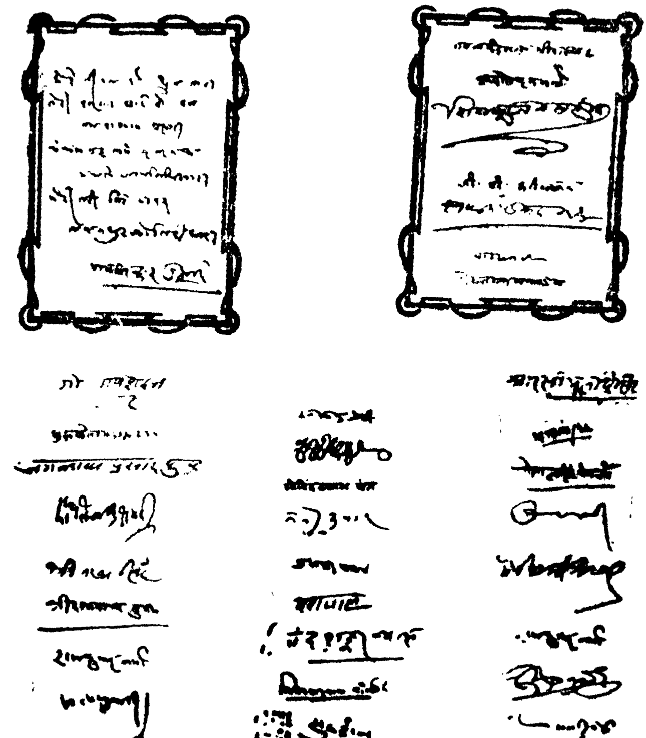
हज़ारीप्रसाद द्विवेदी रवीन्द्र कवि के सान्निध्य में रह कर कवि-कोमल-प्रकृति के हो गये हैं, परन्तु राहुल देश २ की धूलि चरणों से रौंदकर बन, पर्वत, देश-विदेश का पर्यटन, और विश्व-मानव का आधुनिकतम दर्शन करते हुए विश्व के कोने २ में बिखरी भारतीय संस्कृति के टुकड़ों को अपनी झोली में भर लाए हैं। और उन्होंने उन्हीं का ढेर हमारी आंखों के सामने लगा दिया है। वे साहसपूर्वक उन प्राप्त अतीत वैभवों के अवशेषों पर स्पष्ट अश्रद्धा प्रकट करते हैं और अपवाद को पीछे धकेल कर आज के आलोकित मानव-यौवन का आलिङ्गन करते हैं। इस प्रकार 'हरिऔध' और 'मैथिलीशरण गुप्त' नए का मोह और पुराने के प्रति आसक्ति, की द्विविध भावना को लेकर हिन्दी साहित्य को जिस नए पथ पर ले चले थे उस पर आज अकेले राहुल सांकृत्यायन सब मोहमाया और भावुकताओं को कुचलते हुए 'केवल नए' को सर्वतोभावेन आक्रान्त करने के लिए तेज़ी से झपटते जाते दीख पड़ते हैं। उनकी 'बाईसवीं सदी' ऐसी ही पुस्तक है। उनकी भाषा दोषपूर्ण है। वे व्याकरण के नियमों की भी बहुधा परवा नहीं करते, वाक्यों के तारतम्य मिलाने की ओर भी उनका ध्यान नहीं है, न भाषा के शृंगार से उनका कुछ सरोकार है। वे केवल अपनी बात कहना चाहते हैं, अपना अभिप्राय प्रकट करना चाहते हैं। उनका विश्व-पर्यटन, विश्व-अध्ययन, और फक्कड़ जीवन तथा प्राप्तसाहित्य का तटस्थ भाव से अध्ययन इसका कारण है।

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी शांत, संयत, विचारक और साहित्य के प्रत्येक अंग पर नए पुराने दोनों ही दृष्टिकोणों से दृष्टि डालने वाले व्यक्ति हैं। उनकी भाषा परिमार्जित और प्रवाहवती होती है। उसमें विचारों और भावनाओं का बहुत अच्छा सामंजस्य पाया जाता है।

हिन्दी साहित्य की सम्पन्नता—गत छब्बीस वर्षों में हिन्दी-साहित्य का क्षेत्र विविध विषय के लेखकों और ग्रन्थकारों से भर गया। यद्यपि इन्होंने बहुत सी फ़ालतू चीजें भी बखेरीं, परन्तु उन्होंने हिन्दी साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति भी की। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, समालोचना और काव्यमीमांसा आदि सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन और जीवन के चिह्न देखने में आए। लेखकों पर पाश्चात्य प्रभाव भी पड़ा। टाल्सटाय के विचार और बर्नार्डशा के धक्के उन्हें झुलाते जा रहे थे, पर एक ओर बेफ़िक्री से प्रेमचन्द बैठे 'सूरदास' और 'होरी' की मूर्ति घड़ रहे थे, दूसरी ओर प्रसाद अपने

नाटकों में काल-विशेष के तथ्यों के अवशेष बटोर रहे थे । बर्नार्डशा के समस्या-नाटकों के समर्थन में आवाज उठने लगी थी, परन्तु फिर भी प्रसाद् के सांस्कृतिक नाटक स्वागत पा रहे थे ।

लेखकों के हस्तलेख और हस्ताक्षर

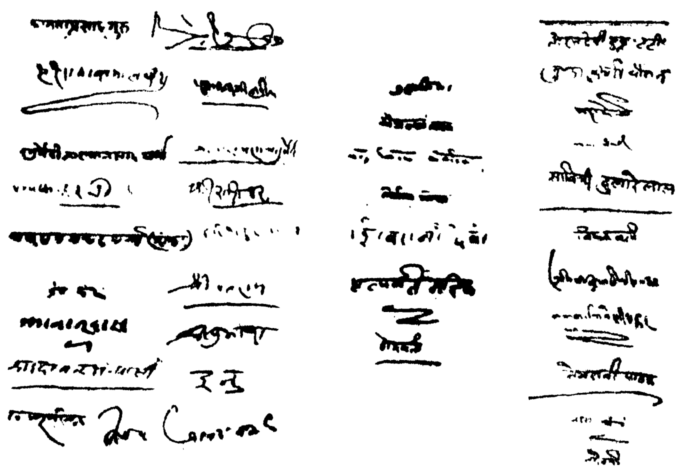


वर्णित साहित्य-धुरियों के सिवा जो दीप्तिमान् नक्षत्र आज अपनी बहुमुखी प्रतिभा से साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति कर रहे हैं, उनमें इलाचन्द जोशी कवि, सम्पादक और उपन्यासकार हैं । इनकी रचनाएं भावपूर्ण और वैज्ञानिक होती हैं, भाषा मंजी हुई होती है । नन्ददुलारे वाजपेयी अच्छे आलोचक हैं, इन्होंने अनेक साहित्य-ग्रन्थों पर अधिकारपूर्ण आलोचना लिखी है । डा० धीरेन्द्र वर्मा ब्रज-साहित्य के प्रतिनिधि समालोचक हैं, हिन्दी भाषा का सांस्कृतिक तुलनात्मक अध्ययन इनका बहुत अच्छा है । डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एक अच्छे निबन्धकार थे, उनकी विवेचना में तर्क की प्रधानता रहती थी, संत-साहित्य का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था ।

डा० सत्यजीवन वर्मा एक उदीयमान लेखक हैं । गांगेयनरोत्तम शास्त्री संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं । ये कवि और लेखक दोनों हैं । कृष्णबिहारी मिश्र उत्कृष्ट समालोचक, सम्पादक और लेखक हैं । कृष्णदेवप्रसाद गौड़ की हास्य-रेखाएं मर्मस्पर्शी होती हैं । लतीफ़हुसेन नटवर एक भावुक कवि और लेखक हैं । क़ासिमअली मीर बाल-साहित्य खूब लिखते हैं । मोहनलाल महतो 'वियोगी' गद्य पद्य दोनों में समान प्रतिभा दिखा रहे हैं ।

सर्वश्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, जैनेन्द्रकुमार, विनोदशंकर व्यास, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' और सौनरिक्सा दम्पति अच्छे कहानी-लेखक हैं । गोविन्दवल्लभ पन्त की प्रतिभा बहुमुखी है, स्व० चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने अल्पकाल ही में हिन्दी को बहुत कुछ दिया था । हास्य में जी० पी० श्रीवास्तव बहुत दिन से मोती बखेरते आए हैं । अब अन्नपूर्णानन्द वर्मा, कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' आगे बढ़ रहे हैं । उदयशंकर भट्ट ने प्रौढ़ नाटक-रचना में अपना स्थान प्राप्त किया है । सेठ गोविन्ददास नाटककार भी हैं, नाट्यशास्त्र के ज्ञाता भी । सर्वश्री प्रेमी, अश्क, डा० रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, धर्मप्रकाश और आनन्द ने नाटकों को नया रूप दिया है । गुरुदत्त, अंचल और राघव राघेय आधुनिक कथा क्षेत्र में अग्रसर हो रहे हैं ।

कवियों के हस्ताक्षर



आलोचना, मीमांसा और निबन्ध-रचना में प्रो० सत्येन्द्र, श्रीकृष्णशंकर शुक्ल, अखौरी गंगाप्रसादसिंह, रामनाथलाल सुमन, भुवनेश्वरनाथ मिश्र और माधव का नाम आगे आ रहा है, गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' और रमाशंकर शुक्ल तथा शान्तिप्रिय द्विवेदी साहित्य-समालोचक हैं । नगेन्द्र की मार्मिक आलोचनाएं उनके अध्ययन को प्रकट करती हैं ।

सर्वश्री बनारसीदास चतुर्वेदी, मूलचन्द्र अग्रवाल, सत्यदेव विद्यालंकार, इन्द्र विद्यावाचस्पति और म० खुशहालचन्द इस युग के गण्य मान्य पत्रकार हैं।

स्त्री-कहानी-लेखिकाओं में सुश्री सत्यवती मलिक, तारा पाण्डेय, उषामित्रा, तेजरानी पाठक, कमला चौधरी, सुशीला आगा उल्लेखनीय हैं।

अध्याय चौथा

पद्य में महानाद

मुक्तक काव्य और स्वच्छन्द छन्द—यह बताया जा चुका है कि हिन्दी कविता ने जब खड़ी बोली की कविता का जामा पहन कर नया रूप धारण किया, तब उसके लिये तीन रास्ते खोले गये थे। एक संस्कृत-वर्णवृत्तों का, दूसरा हिन्दी के मात्रिक छन्दों का और तीसरा उर्दू-फ़ारसी की बहरों का। वर्णवृत्तों में तुकान्त और अतुकान्त दोनों ही प्रकार की रचनाएं होती थीं। मात्रिक छन्दों से भी तुक हटा दी गई, पर यह प्रवृत्ति अधिक चली नहीं। उर्दू बहरों में फुटकर रचनाएं भी हुईं और प्रबन्धात्मक भी; जिनमें छोटे २ कथा-खण्डों को लेकर कुछ दूर पद्य-बद्ध चलने का अच्छा प्रचार हुआ। ये पद्य-निबन्ध सब प्रकार के होते थे, कथात्मक, वर्णनात्मक और उपदेशात्मक। धीरे २ पद्य में बहुरूपता आने लगी। कुछ कविगण तो गद्यात्मक रूप के पक्षपाती रहे, परन्तु कुछ ने व्रजभाषा के प्रत्ययों, अव्ययों और नामधातु क्रियाओं के प्रयोगों में अपनी गति बढ़ाई। उर्दू-फ़ारसी की बहरों में अरबी-फ़ारसी-मिश्रित शब्दावली ली गई। और वर्णवृत्तों में संस्कृत भाषा काम में लाई गई। लम्बे २ समासों का भी प्रयोग होने लगा। इस प्रकार द्विवेदी जी द्वारा भाषा की व्यवस्था होने के बाद ही वेग से साहित्य-निर्माण होने लगा था। काशी, प्रयाग और कानपुर इसके केन्द्र थे। आगे विश्वविद्यालयों में हिन्दी का एक स्वतन्त्र विषय मान लिया गया। 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' की स्थापना होने के कारण हिन्दी-परीक्षाओं की ओर लोगों की प्रवृत्ति बढ़ी। पंजाब-विश्वविद्यालय ने भी हिन्दी-परीक्षाओं का विभाग खोल दिया। विभाषी प्रान्तों में भी हिन्दी का प्रचार बढ़ा। सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएं हिन्दी में निकलने लगीं, हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या भारत की सब विभाषाओं से बढ़ गई।

परन्तु द्विवेदी जी के सरस्वती से हटते ही कवियों की रचनाओं में व्याकरण सम्बन्धी ढीलापन दिखाई देने लगा। अब कोई भाषा-संस्कारक नहीं था, न लोग इन बातों की परवा करते थे। अब विश्वविद्यालय के आचार्य और

पदवी-प्राप्त जन हिन्दी में रचनाएं करने लगे । राजनैतिक प्रवृत्तियों तथा अंग्रेज़ी साहित्य के सीधे सम्पर्क में आ जाने से कुछ प्रतिभाशाली कवि और लेखकों ने उन्मुक्त भाव से स्वच्छन्द छन्द लिखना प्रारम्भ कर दिया । उन्होंने शैली, बायरन, कीट्स आदि विदेशी कवियों और टाल्स्टाय, बर्नार्डशा आदि लेखकों का अनुसरण प्रारम्भ कर दिया । उनमें से बहुत कवि अपने प्राचीन साहित्य से अज्ञात थे । बहुत से प्राचीन हिन्दी कविता के अध्ययन को तुच्छ समझते थे ।

संस्कृत के वर्णवृत्त माधुर्य में अपनी समता नहीं रखते, पर उन में दोष यह है कि भाषा उसमें इस क़दर बँध जाती है कि भावों के साथ वह चल नहीं सकती । इसी से ऐसी रचनाएं समासबहुल होती हैं । इसी से ये वृत्त खड़ी बोली की कविता के लिये उपयुक्त नहीं । अलबत्त हिन्दी के सब प्रचलित छन्दों में मज़े से खड़ी बोली की रचना की जा सकती है । मात्रिक छन्दों में खास तौर पर कोई अड़चन नहीं । दण्डक और सवैये भी अनुपयुक्त नहीं । अन्य मात्रिक छन्दों का भी उपयोग हो सकता है ।

मैथिलीशरण गुप्त ने चलती हुई खड़ी बोली को परिष्कृत रूप देकर हिन्दी के प्रचलित छन्दों में रचनाएं कीं । और उन्हें उसमें बहुत सफलता प्राप्त हुई । ठाकुर गोपालशरणसिंह भी कवित्तों और सवैयों में भाषा का बड़ा परिमार्जित रूप लाए । इसी से इन दोनों कवियों की रचनाओं में भाषा का पूरा सौष्ठव प्रकट हुआ । परन्तु कुछ कवियों ने संस्कृत की विकीर्ण पदावली के सहारे या अंग्रेज़ी पद्यों के काव्य-खण्डों की सहायता से रचनाएं प्रारम्भ कीं । इस लिये जहां वे भाषा में सौष्ठव नहीं ला पाए, वहां वे भाव-प्रदर्शन की सफ़ाई भी क़ायम नहीं रख सके । वास्तव में बात यह है कि हिन्दी एक स्वतन्त्र और पृथक् भाषा है । इसकी भाव-व्यंजना, पद-शैली, वाक्य-विन्यास सब उसके अपने हैं, उनके बिना जाने पहचाने अच्छी रचना नहीं हो सकती थी ।

द्विवेदी जी की यह सम्मति थी कि कविता में तुकों के बन्धन त्याग देने चाहिएं और नये २ छन्दों का खुला व्यवहार करना चाहिये । परन्तु ये प्रगतिवादी कवि स्वतन्त्रता के मैदान में और भी तेज़ी से कुछ क़दम बढ़ गये । और बिना तुक की ही नहीं—बिना छन्द की कविता करने लगे । 'निराला' इन में प्रथम थे । पहले अमेरिका के एक कवि 'वाल्ट ह्विटमैन' ने ऐसी रचनाएं की थीं, जिनका अनुकरण बंगला में किया गया था । 'निराला' ने हिन्दी में वह प्रणाली प्रारम्भ की । द्विवेदी जी चाहते थे कि काव्य में नया रूप, नया ज्वार आवे । वे निरन्तर इसके लिये चेष्टा भी करते रहे परंतु इस समय में केवल इतना ही हो सका कि खड़ी बोली को अनेक प्रकार के छन्दों का रूप प्राप्त हो गया ।

सन १६२१ में जब कांग्रेस की बागडोर हाथ में लेकर गान्धीजी ने भारतीय राजनीति में धर्म और समाज के साथ प्रवेश किया, तो उसके प्रभाव से काव्य-धारा का रुख भी बदल गया। देश में गांव २ और घर २ राजनैतिक और आर्थिक दासता की बेड़ियों को तोड़ फेंकने की शिक्षा देने वाले गीत गाये जाने लगे। बलिदान की एक से एक बढ़ी-चढ़ी मूर्तियां सामने आने लगीं। लोगों में आवेश और बल का संचार हो चला। और जब विश्व की घोर आर्थिक विषमता के विपरीत मानव-जन क्रुद्ध हो उठा, तो भारत ने उसके स्वर में खुशी से स्वर मिलाया।

भाषा और भावों की अभिव्यंजना-शैली पर जो प्रभाव देशव्यापी आन्दोलन का पड़ा, उसका रूप हम इस युग के अनेक कलाकारों में बहुत स्पष्ट देख पाते हैं। जब राजनैतिक विप्लव होता है, तब उसकी जैसी प्रगति होती है उसी के अनुरूप साहित्य का रुख हो जाता है।

आर्यसमाज के क्रान्तिकारी समाज-आन्दोलन के बाद गान्धी जी का असहयोग-आन्दोलन ही एक देशव्यापी सशक्त आन्दोलन था। उस में पीड़ित देश का तीव्र आर्त्तनाद था। और दासता की बेड़ियों को तोड़कर मुक्त होने के लिये देश का दिगन्तव्यापी चीत्कार था।

उस समय समाज में एक आवेश आया और रूढिगत भावनाओं का निराकरण प्रारम्भ हुआ। अपने कथन को प्रभावशाली बनाने के लिये कठोर से कठोर और उग्रतम शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। देश-प्रेम की जिस नवीन धारा का भारतेन्दु-काल में बीज वपन हुआ था, उस का अब एक और ही विकट रूप हो गया था। भारतेन्दु-काल में अंग्रेजों के सुशासन के प्रति कृतज्ञता का भाव था। इसलिये उस काल की देशभक्ति में भी राजभक्ति का सुर था। तब साहित्यिक जन और कवि गण देश की दुःखी अवस्था का कारण राजनीति समझते हुए भी भगवान् ही की दया का आसरा ताक रहे थे। कभी २ वे देशवासियों को आलस्य, अविद्या और उनकी क्रियाहीनता पर डांट-फटकार भी देते थे, पर सरकार पर असन्तोष की कोई भावना उस समय तक न थी। कांग्रेस की प्रतिष्ठा होने के बहुत दिन बाद तक ऐसा ही रहा।

द्विवेदी-काल में एक क़दम आगे बढ़ा था। देश की शासन-सत्ता के प्रति असन्तोष प्रकट होने लगा था। पर अभी कर्म-तत्परता या किसी क्रियात्मक विरोध का स्वरूप नहीं बना था।

वर्तमान युग के प्रथम उत्थान में एकाएक परिस्थिति बदल गई, आंदोलन सक्रिय हो गये। राजनैतिक परतन्त्रता और आर्थिक दासता के प्रति विरोधी

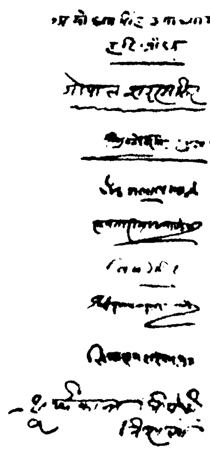
का प्रदर्शन गांव-गांव, घर-घर होने लगा। सरकार से कुछ मांगने के बदले अब निर्धन और धनी स्वतन्त्रता की वेदी पर बलि होने के राग आलापने लगे। प्रत्येक आन्दोलन के पीछे जन-सत्ता का भारी सहयोग हो चला। इससे उनमें आवेश और बल का संचार हुआ। उनका विश्व के क्रान्तिकारी आन्दोलनों से मेल किया गया और फिर भारत का सार्वजनिक क्षोभ सार्वभौम क्षोभ हो गया। श्रमिक जनता का पूंजीवाद के प्रति असाधारण रोष उदय हुआ। योरुप की सभ्यता का प्रतिवाद टाल्स्टाय ने किया, जिसका भारतीयकरण गान्धी जी ने किया। इसी बीच रूस में आर्थिक विषमता के प्रति अतर्कित क्रान्ति हुई। और साम्यवाद तथा समाजवाद का एक नया रूप विश्व के सामने आया। इस समय संसार के सब सभ्य भाग एक दूसरे के लिये खुल गये थे। विश्व के उस छोर पर जो धड़ाका होता था, उसे विश्व के कोने २ में लोग सुन रहे थे। परिस्थिति की समानता के कारण विश्वजनों में गहरी दिलचस्पी हो गई थी, इसलिये भारत में भी इस नवयुग के दूसरे उत्थान में राजनैतिक आन्दोलन के साथ २ किसान, मजदूर, अछूत आदि आन्दोलन अपने २ रूप को अधिकाधिक उग्र करते गये।

जनता के सामूहिक जीवन में जब एक क्रान्ति की पुकार उठती है, तब कवि के लिये वह एक 'वाद' बन जाता है। सो इस नव्य राज-धर्म और समाज-क्रान्ति की अभ्यर्थना भारत के कवियों ने बड़े गर्जन तर्जन के साथ की, और जब उसका काव्य-रूप निर्मित हुआ, तो प्रारम्भ में कल्पना का रंग फीका था, और भावों को खुल कर प्रकट करना शक्य नहीं हो पाता था, इसलिए खड़ी बोली जब इस क्रान्ति के भार को लेकर उठी, तब उसमें पद-लालित्य, कल्पना, भाव-व्यञ्जना, वेदना की विशदता आदि की आवश्यकताएं बढ़ती ही गई। यहां दो दल थे, एक उनका जो इस रचना में व्रजभाषा के समान काव्य की ललित पदावली और रसात्मकता देखना चाहते थे; दूसरे वे जो अंग्रेज़ी ढंग पर चली हुई बंगला-कविता के लाक्षणिक, वैचित्र्य-व्यंजक चित्र-विन्यास और सुन्दर अन्योक्तियों पर मोहित हो चुके थे।

बंगला और अंग्रेज़ी कविताओं के भावानुवाद सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में निकल रहे थे। 'सरस्वती' और 'इन्दु' इस कार्य में प्रमुख थीं। अतः खड़ी बोली की कविता का रूप उसी ढांचे पर चलने लगा था। बंगला में उन दिनों जो अंग्रेज़ी ढंग पर मुक्तगीत और फुटकर कविताएं प्रकाशित हो रही थीं, उनसे प्रभावित होकर हिन्दी में थोड़े विश्रृङ्खल वस्तु-विन्यास के साथ कोमल और व्यंजक भाषा में नए ढंग की रचनाएं प्रकाशित होने लगीं, उनके भीतर रहस्य की भावनाएं थीं।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—जब पहले-पहल मतवाला के द्वारा निराला ने निराले ढंग से साहित्य के रणक्षेत्र में पदार्पण किया तो उनके उन्मुक्त छन्दों पर चारों ओर से प्रहार होने लगे। कोई उन्हें केंचुआ छन्द और कोई रबर छन्द कहने लगा। 'प्रिय-प्रवास' को तो इस समय लोग सहन कर गये थे, पर 'निराला' के प्रति भारी विद्रोह की आग सुलग उठी। इसका एक यह भी कारण था कि हिन्दी भाषाभाषी प्रान्त कट्टरता का प्रान्त था।

कविजनों के हस्ताक्षर



परन्तु 'निराला' मजबूत क़दमों से आगे बढ़ते गये और उन्होंने साहसपूर्वक हिन्दी का बन्द द्वार खोल दिया। उनके प्रयोग अत्यन्त सार्थक और सोद्देश्य थे। वे हिन्दी को बंगला का भावमय जामा पहना रहे थे, दूसरी ओर उपनिषद् के प्राचीन काव्यतत्त्व को नवीन हिन्दी काव्य में लीन कर रहे थे। विरोध की बौछारें उन पर पड़ रही थीं, पर वे असल इस्पात के बने थे यह रहस्य सब नहीं जान सके थे। पं० पद्मसिंह शर्मा यहां तक कि संस्कारक और नव्यपथ के पुरोहित अयोध्यासिंह उपाध्याय और महावीरप्रसाद द्विवेदी भी उनके विरोधी थे।

छायावाद और रहस्यवाद—छायावाद और रहस्यवाद इस युग की काव्यधारा के महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं। रीतिकालीन भाव और व्यंजनाशक्तियों की पराकाष्ठा को पहुंची हुई कविसत्ता इस युग में छायावाद या रहस्यवाद में प्रयुक्त हुई है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं का प्रतीकवाद और चित्र-भाषावाद इस धारा का प्रवर्तक है। एक अस्पष्ट अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना और विचित्र भावानुभूतियों की कल्पना छायावाद की भूमि है। रहस्यवाद भी इसी का दूसरा स्वरूप है। इस शैली में कवि एक अज्ञात प्रिय के प्रति चित्रमयी भाषा में प्रेम की पीड़ा को अनेक रूपों में अभिव्यंजित करता है। उपनिषदों में एक अदृष्ट अचिन्त्य ब्रह्म का वर्णन है जिसे देखने, जानने की बहुत जन चेष्टा करते हैं, पर वह देखा-जाना नहीं जा सकता। उसकी विविध प्रकार की चित्रमयी भाषा में रूप-कल्पना की गई है।

उपनिषदों के इन मानसिक विचारों को पुराणों ने 'रूपक' का रूप दिया है। भागवत में पुरञ्जन और सुदामा के उपाख्यान ऐसे ही रूपक हैं। इसी परम्परा से संत-साहित्य में 'अलख-निरंजन' की विविध आध्यात्मिक अभिव्यंजनाएं जिन्हें 'छाया' कहा जाता है अवतरित की गई हैं।

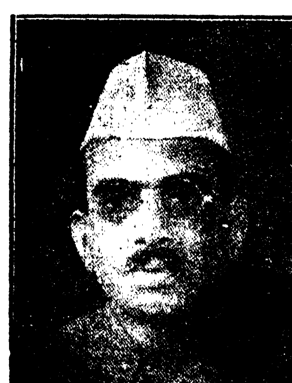

पं० हरिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि'


डा० पीताम्बरदत्त 'बड़थ्वाल'


पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'


पं० बेचन शर्मा 'उग्र'


श्री सुदर्शन जी


सेठ गोविन्ददास

ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में भूमध्यसागर के आसपास रहस्यवाद की काफ़ी चर्चा थी। तत्कालीन धर्मों का आश्रय पाकर इसकी अनेक शाखाएं फूट चली थीं। आगे चलकर ऐथेन्स में रहस्यवादियों की संस्थाएं स्थापित हो गई थीं। प्लेटो ने इनका मजाक उड़ाया है। एशिया माइनर में जब ईसाइयों का धर्म पहुंचा, उस समय वहां रहस्यवादियों के अनेक रूप थे। सन २१० ईसवी में प्लाटोनस ने इसे एक दार्शनिक रूप दिया। उसी के द्वारा रहस्यवाद का सिद्धान्त एलैग्जंडरिया होता हुआ अरब पहुंचा और उसके बाद फ़ारस के तत्त्व-वेत्ताओं ने उसे एक नवीन रूप दिया। स्पिनोजा और शेलिङ् भी रहस्यवादी थे, हिन्दी में सबसे पहले पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कबीर ने इसका प्रयोग किया। मुसलमान शरीर और हिन्दू आत्मा होने के कारण कबीर एक बड़े ही झंझट में फंसे हुये थे। वे ऐसा स्वरूप अपने विचारों को देना चाहते थे जो हिन्दू और मुसलमान दोनों ही को स्वीकार हो। उन दिनों सादी, जलालुद्दीन रूमी, और हाफ़िज आदि कवि रहस्यवाद की पद्धति से आध्यात्मिक विचार प्रगट कर रहे थे। कबीर ने जिस नये धर्म का रहस्यवाद के द्वारा प्रकटीकरण किया, वह मुसलमानों के क़ल्मा 'लाइलाहा इल्लिलाह' और उपनिषद् का वाक्य 'सोऽहम्' को मिलाकर नया रूप दिया। उसका वर्णन उन्होंने अपने रहस्यवादो शब्दों में इस प्रकार किया।

"जाके मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पुहुपबासतें पातला, ऐसा तत्त्व अनूप।
एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहे, कहै कबीर विचारि।
भारी कहूँ तबहूँ डरौं, हलका कहूँ तो झूँठ।
मैं क्या जानू रामकूँ, नैनू कहूँ ना दीठ।

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तितलाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।
जोगी हुआ झलक लगी, मिट गया ऐंचातान।
उलटि सामना आपुनों, हूआ ब्रह्म समान।
कहना था सो कह दिया, अब कुछ कहा न जाय।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहर समान।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का सिद्धान्त है कि सत्य का ज्ञान सौन्दर्य से हो सकता है, लेकिन प्लेटो और अन्य भारतीय दर्शनशास्त्री कहते हैं कि सत्य-ज्ञान के लिये कुछ नैतिक नियमों की आवश्यकता है। सुक़रात कहता है—सत्य का ज्ञान कैसे हो? हमारा शरीर बाधक है या सहायक? हो सकता है शक्ति की ज्योति का प्रकाश उस समय प्रस्फुटित होता है जब मन संयत हो, शारीरिक सुधबुध न हो और

इन्द्रियों का द्वार बंद हो। कबीर कभी-कभी बड़े सुन्दर रूपात्मक ढंग से अपने भावों को प्रगट किया करते थे। एक पद सुनिये—

"मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी पिय जाय।
समुझि सोचि पग धरौं जतन से, बार-बार डिग जाय।
ऊँची गैल, राह रपटीली, पांव नहीं ठहराय।
लोकलाज, कुल की मरजादा, देखत मन सकुचाय।
नैहर-वास, बसौं पीहर में, लाजत जी नहिं जाय।
अधरभूमि जहँ महल पिया को, हमु पै चढ़ौ न जाय।
धर्म भई वारि पुरुष भये घोला, सुरत झकोरा खाय।
दूती सतगुरु मिले बीच में, दीनेहुं भेद बताय।
साहब कबिरा पिय सों भेंट्यो, सीतल कण्ठ लगाय।।

दादू के पदों में भी रहस्यवाद की झलक है—

दादू निबहै तू चले, धरि धीरज मनमाहिं।
परसेगा पिव एक दिन, दादू थाके नाहिं।
पीव न देखा नैनभरि, कण्ठ न लागी धाइ।
सूती नहिं गल बांहिगे, बिच ही गई बिलाय।

अन्य सन्त कवियों ने भी इसी प्रकार से रहस्यवाद-पद्धति पर अपने भाव प्रकट किये हैं। परन्तु कबीर के पश्चात् अधिक स्पष्ट रहस्यवाद जायसी में प्रगट हुआ है। जायसी कहता है कि आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। ईश्वर अनन्त सौन्दर्य, अनन्त सत्य और अनन्त गुणों का समुद्र है, वह कहता है—

हुता जो सुन्नमसुन्न, नाउँ ठाउँ ना सुर शबद।
तहाँ पाप नहिं पुण्य, मोह मद आपुहि आप में।

तुलसीदास ने रहस्यवाद को आर्य-संस्कृति के अनुसार परिमार्जित करके एक नया रूप दिया। देखिये, वे राम के निर्गुण और सगुण रूप को किस ढंग से वर्णन करते हैं—

अगुन सगुन दो ब्रह्म सरूपा, अगम-अगाध-अनादि-अनूपा।
मोरे मत बड़ नाम दुहूते, किये जेहि जुग बस निज बूते।
एक दारुगत देखिय एकू, पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू।
उभय अगम जुग सुगम नामते, कहेउ नाम बड़ ब्रह्म रामते।

बंगाल में जब ब्रह्म-समाज की स्थापना हुई, तब उसी ब्रह्म के उपनिषद्-वर्णित मूल और संत-साहित्य में वर्णित विविध आध्यात्मिक भावनाओं से आभासित रूप को लक्ष्य कर कुछ रचनाएं हुईं, पीछे जब रवीन्द्र जैसे महारथियों ने इसपर लेखनी उठाई तब वह एक साहित्य का रूप धारण कर गई। हिन्दी के कवि उसका आध्यात्मिक रूप तो नहीं ग्रहण कर सके केवल साहित्यिक रूप ही उन्होंने

ग्रहण किया। इसमें उन्होंने अपना थोड़ा सा विकृत अध्यात्म मिला दिया जिस से हिन्दी के छायावाद या रहस्यवाद में ऐन्द्रीयता का समावेश हो गया।

फ्रान्स में १६वीं शताब्दी के अन्त में एक रहस्यवादी परम्परा चली थी, जिसमें कवियों ने अप्रस्तुत प्रतीकों को लेकर रचनाएं की थीं। इस परम्परा के हिन्दी कवियों ने भी यही पद्धति अपनाई। इस प्रकार हिन्दी के 'छायावाद' का अर्थ है "प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का, प्रस्तुत की व्यंजना करने वाली छाया का वर्णन"। देखिए उदाहरण—

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगड़ाई-सी, मलयानिल की परछाई सी,
इस सूखे तट पर छहर छहर।

यहां अप्रस्तुत का प्रस्तुत में साम्य इस प्रकार है—

लहर = आन्दोलित भावनाएं। सूखे तट पर = नीरस निराश जीवन में।

'कांटों' ने भी पहिना मोती,

कांटों—निष्ठुर, हृदयहीन जन। पहिना मोती-अश्रुपूर्ण हुए।

इस छायावाद ही में रहस्यवाद है। यह रहस्यवाद सिद्धों, सन्तों और प्राचीन उपनिषदों में भी है। परन्तु इस आधुनिक रहस्यवाद में जो वेदना-मूलक प्रणय-निवेदन है वह अधिकांश वासना से आलम्बित है। काव्यकला की दृष्टि से यह अन्योक्ति-पद्धति-मूलक काव्य है, इसमें प्रस्तुत चित्रों की अपेक्षा अप्रस्तुत चित्रों की अभिव्यंजना होती है और 'वाचक' पदों के स्थान पर 'लक्षण' पदों का व्यवहार होता है। साथ ही उपादान और लक्षण लक्षणाओं को छोड़ कर अन्य सब बातों में साम्य भावना होती है।

काव्य की यह साम्य भावना तीन प्रकार की होती है—एक 'सादृश्य-साम्य भावना' जिसमें रूप-साम्य होता है, दूसरी 'साधर्म्य-साम्य-भावना' जिसमें गुण-क्रिया का साम्य होता है। तीसरी 'शब्द-साम्य-भावना' जिसमें नाम की समानता होती है। सादृश्य और साधर्म्य में प्रभाव-साम्य प्रच्छन्न हैं। शब्द-साम्य में तो श्लेष ही होता है, काव्यों में जितने उपमान होते हैं वे प्रायः रूप, रंग, आकार तथा भावना पर उनका प्रभाव देखकर रखे जाते हैं। छायावाद-प्रभाव साम्य को लक्ष्य करके चलता है। इस में और प्राचीन अन्योक्ति में यह अन्तर है कि प्राचीन परम्परा में लाक्षणिकता का अभाव है, जबकि यहां उसी की प्रधानता है। पुरानी परम्परा में केवल घनानन्द ने लाक्षणिक स्वरूप दिखाया है, और नई परम्परा में 'पन्त' ने। 'प्रसाद' में साम्य की दुरारूढ़ भावना बहुत है, लाक्षणिक वैचित्र्य कम।

छायावाद में प्रणयवासना का व्यक्तीकरण होने से वह शुद्धतम रहस्यवाद न हो कर प्रतीकवादी काव्य का एक रूप बन गया। इस परम्परा के कुछ कवि यह समझते हैं कि काव्य का जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतः काव्य में वर्ण्य कुछ भी नहीं है, जो कुछ है अभिव्यंजना है,

परन्तु सब कवियों के यह विचार नहीं। इस धारा के अनेक कविजनों ने कवित्व को जीवन का ही रूप दिया है। सर्वश्री प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवीवर्मा रहस्यवाद के ऐसे ही प्रतिनिधि कवि हैं।

इन चारों कवियों ने रूढ़ि-मुक्त हो कर इस परम्परा का साहित्यसृजन किया, इन्हीं के द्वारा साहित्य का रुख ईश्वर से हट कर मानवता की ओर गया। ईश-वंदना, भक्ति के स्थान पर पीड़ित मानव के प्रति वैकल्य का भाव प्रतिष्ठित हुआ। प्रकृति मानव की सहधर्मिणी हुई। कर्मफल, जन्म, पुनर्जन्म की भावना त्याज्य हुई। कवि ने सावचेत होकर प्रत्येक वस्तु को अपनी आंखों से देखा, उसकी वह दृष्टि संसार को सामंजस्य पूर्ण विधान से न देख सकी। समाज-व्यवस्था के प्रति उसके मन में असन्तोष हुआ, परन्तु वह दश वर्ष तक संदेहभरी दृष्टि से अपने ही को देखता रहा।

प्रसाद और पन्त का सामंजस्य—पन्त की 'छाया' 'वीची विलास' और 'नक्षत्र' में जो उपमानों का ढेर लगा है उनमें बहुत से तो सुकुमार साम्य के व्यञ्जक हैं, और बहुत से रंग-बिरंगे फूलों जैसे मालूम होते हैं। ऐसा मालूम होता है कि कवि-कल्पना का काम प्रकृति की अनेक वस्तुओं को लेकर अपनी एक नवनिर्मित सृष्टि से लेना चाहता है। अब नई अर्थ-भूमियों पर अनेक-रूपता के साथ चलने का एक उदाहरण देखिए—कवि का ऐसा ख़्याल है कि कोई सुकुमार-चरण प्रियतम चुपचाप छिपकर आ रहा है—

निज पलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे
इतना सजग कुतूहल? ठहरो, यह न कभी बन पाओगे।
आ चूम लूँ जिन चरणों को, चाँप चाँप कर उन्हें वहीं
दुःख हो इतना अरे? अरुणिमा ऊषा सी वह उधर वहीं।

यहां पर कवि का ध्यान शरीर-विकारों पर विशेष है। इसी से चरणों को चाँप-चाँप कर दुःख देने से वे चञ्चल होते हैं।

छायावादी कवियों की कल्पना थोड़ी सी ही जगह में जैसे मनोरंजक कलापूर्ण नृत्य कर रही है और जगत् तथा जीवन की प्रतारणा से ऊब कर भागने वालों का जैसे मनोरंजन कर रही है।

'लहर' में प्रसाद ने छायावाद की चित्रमयी शैली को ऐतिहासिक जीवन-खण्डों पर चलाया है, कहीं-कहीं मधुमय चित्रों की परम्परा भी दूर तक चली

है। 'कामायनी' में उन्होंने नरजीवन के विकास की भावात्मक वृत्तियों का संघर्ष दिखाया है। इसमें भावना का एक रसात्मक इतिहास दीख पड़ता है। निराला ने 'तुलसीदास' में मानस-विकास का बहुत अच्छा प्रदर्शन किया है, प्रसाद का 'आँसू' एक शृंगारी विप्रलम्भ है जिसमें अज्ञात प्रियतम के लिये आँसू बहते हैं। इसमें नियतिवाद और दुःखवाद का स्वर भी सुनाई देता है। तन्द्रा, स्वप्न और असंज्ञा यह रहस्यवाद की एक स्वीकृत विधि है जिसका पालन 'आँसू' से लेकर 'कामायनी' तक हुआ है। 'लहर' में कवि ने मानव-जीवन के सरस संस्मरणों को याद किया है।

उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पद चिह्न बना जाती,
सिकता की रेखायें उभार,
भर जाती अपनी तरल सिहर।

'कामायनी' में प्रसाद ने एक आनन्दवाद की स्थापना की है। इसमें दार्शनिकवाद तो है ही तान्त्रिकों और योगियों की भी अन्तर्भूमि है। प्रागैतिहासिक काल में जो कभी जल-प्लावन हुआ था उसके उपरान्त मनु ने जो मानव-सृष्टि का पुनर्विधान किया, उसी आख्यान के आधार पर इस प्रबन्ध-काव्य की रचना हुई है। इसमें कवि ने पूरा रहस्यदर्शी का बाना पहिना है। काव्य के अन्त में मनु को विश्व और त्रिभुवन के प्रतिनिधि तीन अलग अलग आलोक-बिन्दु दिखाये हैं जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया के केन्द्र हैं। कवि श्रद्धा के मुंह से उनका रहस्यभेद करता है।

'इच्छा' का एक मादकतापूर्ण माया-राज्य है जहां बसन्त का उद्गम है पर पतझड़ भी है। दुःख और सुख यहां एक सूत्र में बन्धे हैं और पञ्चतन्मात्राओं से घिरी हुई माया असल भाव से मादक मुस्कान बखेर रही है। 'ज्ञानक्षेत्र' में बुद्धि-चक्र चल रहा है वहां सुख-दुःख से उदासीनता है यहां मोक्ष है तृप्ति नहीं। 'कर्म' का लोक धूएं सा स्यामल है, जहां सतत संघर्ष और कोलाहल है। कवि कहता है यही तीनों ज्योतिर्मय बिन्दु इच्छा, कर्म और ज्ञान के रूप में अलग अलग केन्द्रित हैं। इनका परस्पर न मिलना ही जीवन की विडम्बना है। परन्तु काव्य के समाप्त होते-होते ये तीनों मिल जाते हैं और एक अनहद नाद उत्पन्न होता है जिसमें मनु लीन हो जाते हैं। अन्त में प्रसाद आनन्दभूमि की सृष्टि करते हैं जिसमें प्रकृति के सारे सुख भोग कान्ति, दीप्ति एकत्रित हैं।

यह काव्य कल्पनाओं और उक्तियों से परिपूर्ण है, इसकी अर्थ-भूमि यह है कि विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति (श्रद्धा) मनुष्य को शान्तिमय आनन्द का

अनुभव कराती हुई कल्याण-मार्ग पर चलाती है। बुद्धि (इड़ा) मनुष्य को चञ्चल और संकल्प-विकल्प में फंसाये रखती है । इच्छा कर्म और ज्ञान के सामञ्जस्यपर मनुष्य सब सुखों का मूल प्राप्त कर लेता है ।

सुमित्रानन्दन पन्त की प्रारम्भिक रचनाएं 'वीणा' और 'हृत्तन्त्री के तार' में देखने को मिलती हैं । उनमें रवीन्द्रनाथ की गीताञ्जलि का कुछ प्रभाव लक्षित होता है आगे प्रवर्धित चित्रमयी भाषा और रमणीय कल्पना प्रकट होती है । पन्त के रहस्यवाद ने साम्प्रदायिकता का रूप नहीं ग्रहण किया । प्रकृति के मोहक रूपों की आनन्दपूर्ण अनुभूति उनकी विशेषता है । वे सौन्दर्य से अत्यन्त प्रभावित हैं । सौन्दर्य के आनन्द की कल्पना से उत्तेजित होकर वे ऐसे अप्रस्तुत रूपों को व्यक्त करते हैं जिन से प्रस्तुत रूपों की अच्छी सौन्दर्यानुभूति होती है ।

'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि - तूने कैसे पहिचाना ।
कहां कहां हे बालविहंगिनि - पाया तूने यह गाना ।
निराकार - तब मानो सहसा ज्योतिपुञ्ज में हो साकार ।
बदल गया द्रुत जगज्जाल में धर कर नाम रूप नाना ।

'पल्लव' में लाक्षणिकता खूब मूर्त्तिमती हुई है, जिसका संकेत हमने पीछे किया है । 'ग्रन्थि' में एक असफल प्रेम की भूमिका है । इसमें छोटे से प्रेम-प्रसंग का आधार लेकर कवि ने प्रेम के आनन्द की अनुभूति की है और फिर वियोग की । इसमें कहानी तो निमित्त मात्र ही है लेकिन सौन्दर्य-भावना की अभिव्यक्ति ख़ूब है । 'पल्लव' पन्त जी की पहली प्रौढ़ रचना है। इसमें पुरानी काव्यधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया का बहुत बढ़ा चढ़ा प्रदर्शन है । लाक्षणिक वैचित्र्य, अप्रस्तुतविधान और चित्रमयी भाषा इसमें बहुत है । 'वीणा' की भान्ति 'पल्लव' में भी अंग्रेजी कविताओं के भाव मिलते हैं। शब्द का मनमाने लिंगों में प्रयोग किया गया है । कहीं-कहीं दो-दो उपमान एक में उलझे हुए मिलते हैं। कहीं-कहीं दो-दो अप्रस्तुत एक में लिपटे हुए पाए जाते हैं । कहीं साम्य बहुत ही सुन्दर है ।

अचल के जन वे विमलविचार ।
अवनि से उठ-उठकर ऊपर ।
विपुल व्यापकता में अविकार ।
लीन हो जाते वे सत्वर ।

इस साम्य-प्रधान रचना में कहीं-कहीं अच्छी आध्यात्मिक कल्पना भी की गई है—

हां सखि ? आओ बाँह खोल ।
हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण ।
फिर तुम तन में - मैं प्रियतम में ।
हो जावें द्रुत अन्तर्धान ।

कवि छायारूप जगत् से कहता है—आओ मैं तुम्हें प्यार कर लूं, फिर मैं कहाँ और तुम कहाँ। मेरी आत्मा तो प्रियतम में लीन हो जायगी और तुम प्रकृति के महाशून्य में।

ऐसा मालूम होता है कि पन्त के लिये 'छायावाद' शैली और चित्रभाषा-ध्वनि के अर्थ में ही घटित है। रहस्यवाद के वर्णन में उनकी प्रतिभा आगे नहीं बढ़ी। जहां भी वे रहस्यभावों में गये स्वाभाविक ही रहे। 'पल्लव' में रहस्यात्मक रचनाएं हैं। कवि वहां स्वाभाविक रूप में कहता है—

> **न अपना ही न जगत का ज्ञान।**
> **न परिचित है निज नयन न कान।**
> **दीखता है जग कैसा लाल।**
> **नाम गुण रूप अजान।**

छायावादी कवियों में पन्त जी ही प्रकृति के साथ सीधा प्रेम-सम्बन्ध रखते हैं। उन्होंने केवल प्रकृति को सुषमा की उमंगभरी भावना से देखा है। उसकी विकृति का जीवन के साथ कटु सम्बन्ध नहीं देखा।

योरुप के काव्य-क्षेत्र में कलाकार के प्रभाव से जो सौन्दर्यवाद का चलन हुआ, पन्त पर उसका पूरा असर है। कवि कहता है—

> **मेरा मधुकर का सा जीवन।**
> **कठिन कर्म है कोमल है मन।**

पल्लव के अन्त में 'परिवर्तन' के नाना दृश्य सामने आये हैं, यहां कदाचित् कवि ने सक्रिय जगत् की निर्ममता की अनुभूति की है, और चित्रभाषा को छोड़ कर सीधी-सादी भाषा में मार्मिक तथ्यों का रूपक बाँधा है।

> **तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित**
> **करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पदमर्दित।**
> **नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित**
> **हर लेते हो विभव, कलाकौशल चिर संचित।**
> **आधि-व्याधि, बहु वृष्टि, वात-उत्पात अमंगल।**
> **बह्निबाढ़, भूकम्प, तुम्हारे विपुल सैन्यदल।**

किन्तु चित्रमयी लाक्षणिक भाषा और रूपक का भी सफल प्रयोग किया गया है।

> **अहे वासुकि सहस्रफण!**
> **लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर।**
> **छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर।**
> **शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत-फूत्कार भयंकर।**

घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर।
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कञ्चुक कल्पान्तर।
अखिल विश्व ही विवर, वक्रकुण्डल दिग्मण्डल।

जगत् के द्वन्द्वात्मक तात्विक विधान को कवि इस प्रकार बयान करता है।

बिना दुःख के सब सुख निःसार।
बिना आँसू के जीवन भार।
दीन दुर्बल है रे संसार।
इसी से क्षमा, दया और प्यार।

'गुञ्जन' में हम पन्त को जीवन के क्षेत्र में आगे बढ़ता हुआ पाते हैं, यहां कवि अपने जीवन-जगत् को सुषमा से सम्पन्न किया चाहता है और इसके लिये उसने सुख, दुःख का सामञ्जस्य कर लिया है।

सुख दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि फिर से शशि ओझल हो घन॥

फिर कहता है—

जग पीड़ित है अति दुख से, जग पीड़ित रे अति-सुख से।
मानव-जग में बंट जावे, दुख सुख से औ सुख दुख से॥

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पन्त की रहस्य-भावना प्रसाद और महादेवी वर्मा की रहस्य-भावना से भिन्न है। उसमें रहस्यात्मकता की अपेक्षा दार्शनिकता अधिक है। 'पल्लव' में कवि अपने व्यक्तित्व में ओतप्रोत है। 'गुञ्जन' में थोड़ा झांक कर उसने लोक को देखा है। 'युगान्त' में वह दृष्टि फैला कर लोक को देखता है। वह विगत युग के अवशेषों को ध्वस्त करने के लिये बहुत बेचैन है।

गर्जन कर मानव केसरि
प्रखर-नखर नव जीवन की लालसा गड़ा कर।
छिन्न-भिन्न करदे गत युग के शव को दुर्धर?

आगे चलकर 'युगवाणी' में वह कर्म-क्षेत्र में उतरे हुए लोगों के साथ-साथ चलता हुआ दिखाई देता है। और वहां पौरुष-पीड़ित नारी को देखकर चिल्ला उठता है—

पशु-बल से कर जन शासित
जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी करली अधिकृत

पन्त समाजवाद और गांधीवाद के प्रति भी प्रभावित है। वहां वह नर-जीवन संघर्ष के समर्थन में कहता है—

वन्हिवाद उल्का झंझा की भीषण भू-पर।
कैसे रह सकता है कोमल—मनुष—कलेवर॥

आगे चल कर कवि छोटी-छोटी चीज़ों को भी ध्यान से देखता है, पर ऐसा मालूम होता है कि अब वह छायावाद के बंधे हुए घेरे से निकलकर रूपसत्य का साक्षात्कार करता है।

जल्दी से टीले के नीचे
उधर, उतर कर हैं चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुन्दर-
सिगरट के खाली डिब्बे,
कमी चमकीली, फीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली-पीली।

निराला—परन्तु 'निराला' काव्य के रूप में शक्ति के पुंज हैं, अडिग आत्मविश्वास से वे ओतप्रोत हैं, विपरीत विचार-धाराओं के तूफ़ानी थपेड़ों के बीच चट्टान की भांति स्थिर रहने की सामर्थ्य रखते हैं। उनकी अन्तःशक्ति असीम है। उसी के बल पर वे विरोधों के बीच बढ़ते जाते हैं, और विरोध को पराजित करते हैं। वे सच्चे अर्थों में 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' हैं। उनकी काव्यधारा मूर्त्तिमान् पुरुषार्थ है, बिजली की कड़क और वैसा ही असह्य तेज उनकी वाग्धारा में है। वे जब आवेश में भावमग्न हो, विचार-प्रवाह करते हैं तो भाषा को उसका बोझ वहन करना दूभर हो जाता है, वह लड़खड़ाने और अटकने लगती है। उनकी कविता का आनन्द लेना दुर्लंघ्य गौरीशंकर-शैलशिखर पर चढ़ने के समान साहस और परिश्रमसाध्य है। निराला आधुनिकतम नव्यकाल की आधुनिकता का प्रतिनिधित्त्व करने वाले महाकवि हैं। देखिए, वे किस अधिकार-पूर्ण स्वर में प्रकृति के अधिष्ठाता को आदेश देते हैं—

घन, गर्जन से भरदो बन,
तरु तरु पादप-पादप-तन।
अब तक गुञ्जन-गुञ्जन पर
नाची कलियाँ छबि निर्भर,
भौंरों ने मधु पी पी कर
माना, स्थिर मधु-ऋतु कानन।
गरजो, हे मन्द्र वज्र-स्वर,
थर्राए भूधर भूधर,
झर झर, झर झर, धारा-झर
पल्लव - पल्लव पर जीवन।
दुर्दम वर्षा - वर्षण पर
जीवित हो हर्ष वर्ष भर,
जन जन को कोमल-तन कर
दो हे विप्लव के प्लावन।

निराला के मस्तिष्क में उपनिषद्-तत्त्व और हृदय में प्रेम-तत्त्व है।

इसी से उनका दार्शनिक दृष्टिकोण सब से पृथक् एक नया रूप धारण करता है। जब वे अपने मस्तिष्क से विचारों की प्रेरणा पाते हैं तब गाते हैं—

"पर, क्या है,
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बंध छन्द ज्यों,
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द-रूप।
महामन्त्र ऋषियों का,
अणुओं-परमाणुओं में फूंका हुआ—
'तुम हो महान्; तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम, ।"

परन्तु हार्दिक भावना से अपेक्षित होने पर उनका स्वर और ही हो जाता है, तब वे गाते हैं—

"भर देते हो
बार बार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
मेरे अंतर में आते हो देव निरन्तर,
कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार बार कर-कंज बढ़ा कर"

परन्तु निराला का एक और भी रूप है, जहां वे तत्त्वदर्शन और प्रेम-भक्ति सब से पृथक् मानव का अविनश्वर परम्परा प्रवाहित विराट् रूप देखते हैं, और उसे सुप्त और असावधान देखकर एक जाग्रत प्रहरी की भांति चिल्ला उठते हैं—

जागो फिर एक बार। समर में अमर कर प्राण,
गान गाए महा सिन्धु-से सिन्धु-नद तीर वासी!
सैन्धव तुरंगों पर चतुरंग - चमू संग,
"सवा सवा लाख पर एक को चढ़ाऊंगा,
गोविन्द सिंह निज नाम जब कहाऊंगा"
किसने सुनाया यह दुर्जय - संग्राम - राग,

और कभी उसी विराट् पुरुष की हीनावस्था पर इस प्रकार अवसाद के आंसू बहाते हैं—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,

मुट्ठी भर दाने को–भूख मिटाने को
मुंह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए
बाएं से मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।"

पन्त को निराला का पूरक कहा जा सकता है, निराला के काव्य में जो विराट् पुरुष है, पंत के काव्य में उसका प्रतिनिधित्त्व करने वाली मृदुल भावुकता है। जो मुग्धा-वधू की भांति परम पुरुषार्थ को अनायास ही वशीभूत कर सकती है। पन्त हिमगिरिवासी हैं इसलिये उनकी काव्यदृष्टि कदाचित् हिमाच्छादित हिमगिरि-शृङ्गों पर बिखरी मनोरम सूर्यकिरणों की सुनहरी प्रभा को छोड़ और कुछ देख ही नहीं पाती। उनकी सुकुमार रसवती और नागरिकता से ओतप्रोत काव्य-धारा ने निराला के ताण्डव से उत्पन्न विद्रोह को उसी प्रकार विमूर्च्छित सा कर दिया है जैसे समुद्र-मन्थन में उत्पन्न अमृत को देवताओं के ग्रहण कर लेने से उत्पन्न असुरों के दुर्धर्ष क्षोभ को विष्णु ने मोहनी-रूप धारण कर शान्त कर दिया था।

पन्त ने काव्य में जो एक मीठी कुहुक पैदा की, उससे मोहित होकर लोग आत्म-विस्मृत हो गये। निराला जहां कर्म के कोलाहल में होकर योद्धा की भांति भारी २ चरण रख कर चलते ही जाते हैं, वहां पन्त कल्पना के सुख-स्वर्ग में अलस बैठे, वहां की अम्लान पुष्प-गुम्फित कुञ्जों के मनोरम एकान्त में, चिर अमरत्त्व को प्राप्त हुए से, माधुर्य और रस से शराबोर, प्रेम सौन्दर्य का सोम द्रव्य घूंट घूंट पीते हैं। जीवन में वे सोए से हैं, अपने में कुछ खोए से हैं, पर मन में दुनियां के प्रति एक कौतूहल बनाए हुए हैं। यह दुनियां जैसे उनके व्यक्तित्व से दूर, उनके मोह की सब से अधिक आकर्षक एक अक्षय यौवना नारी है, जो नई है, कुमारी है, और जिस में जीवन और रस ही रस है।

विश्वविश्रुत 'ताज' को देखकर पन्त ने गाया—

हाय, मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन,
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन ?
संग सौध में हो शृङ्गार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास विहीन रहें जीवन जन ?
मानव, ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत और छाया से रति।
प्रेम, अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल काल, भरे जीवन का प्राङ्गण,

शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का।

महादेवी वर्मा—ये गत पन्द्रह वर्षों में बहुत विकसित हुई हैं। उनकी काव्यधारा प्रारम्भ में कुमारीत्त्व की अमल धवल स्वच्छ सरलता लेकर मूर्त्तिमती हुई। फिर उसने निगूढ़ प्रणय की पीड़ा पर आत्मार्पण कर दिया। नारीत्त्व की तरलता और सव्रीड अभिलाषा से प्रकम्पित हृदय में चिरवियोग के हाहाकार और प्यार की पीर के दंश की छटपटाहट से उनका सम्पूर्ण काव्य वेदना के अथाह समुद्र में डुबकियां ले रहा है। वे आगे बढ़ती जाती हैं और जैसे वह प्यार की पीर उन्हें सात्म्य होती जाती है, वे उसी में तृप्त और संतुष्ट सी होती हुई प्रतीत हो रही हैं। परन्तु जो चिरन्तन नारीत्त्व का क्रन्दन है, वह द्विविधा ग्रस्त है, एक ओर आत्मार्पण की नारी-सुलभ भावना, दूसरी ओर नव्य युग के उपार्जित स्वत्त्व बोध के कारण विद्रोह। इस द्वैध से महादेवी की काव्यधारा का नारीत्त्व सफल नहीं हो पाया। इसी खीझ के कारण उनका आत्मार्पण मौन न रह सका, और उसने अपने त्याग की पीड़ा की श्रेष्ठता सिद्ध करने को तर्क का प्रश्रय लिया है।

मानव के मनोजगत् की जो रहस्यमयी भावना युग २ से रही है, उसे आज के युग में महादेवी एक अनिर्वचनीय रस से ओतप्रोत हो इस प्रकार गाती हैं,—

पथ देख बितादी रैन, मैं प्रिय पहिचानी नहीं।
तम ने धोया नभ पन्थ, सुवासित हिम जल से।
सूने आंगन में दीप जला, दिये झिलमिल से;
आ प्रात बुझा गया कौन, अपरिचित जानी नहीं।
मैं प्रिय पहिचानी नहीं।
धर कनक-थाल में मेघ, सुवासित पाटल सा,
कर बालारुण का कलश, विहग-रव मंगल-सा।
आया प्रिय पथ से प्रात, सुनाई कहानी नहीं।
मैं प्रिय पहिचानी नहीं।
इन श्वासों के इतिहास, आंकते युग बीते,
रोमों में भर-भर पुलक लौटते पल रीते;
यह ढुलक रही है याद नयन से पानी नहीं
मैं प्रिय पहिचानी नहीं।
अलि कुहरा-सा नभ, विश्व मिटे बुद् बुद् जल-सा
वह दुख का राज्य अनन्त रहेगा निश्चल सा,
हूं प्रिय की अमर सुहागिनि, पथ की निशानी नहीं।
मैं प्रिय पहिचानी नहीं।

महादेवी वर्मा में जो नारी भाव है उसी के कारण जीवन-संघर्ष में उनके काव्य की मृदुलता और रस-भावना बच गई है। कारण—नारी नारीत्व से भाग कर बच नहीं सकती। महादेवी नारी के सर्वस्वार्पण की तथा सर्वस्वार्पण करके अपने को कृतार्थ कर लेने की भावना रखती हैं, पर वे अपनी खीझ के कारण सर्वस्व अर्पण कर ही नहीं पाती हैं। इस से जो निष्फलता की तीव्रता उन में आई है, उस से नारीत्व की मृदुलता के स्रोत पर एक झीना पर्दा सा पड़ गया है, जो धीरे २ घना होता जाता है। इसी से महादेवी के काव्य में रसके परिपाक की कमी रह जाती है, और उनकी काव्यधारा में एक तर्कवाद का उदय होता है, जिसकारण उसमें एक गूढ़ता आजाती है। यह गूढ़ता रहस्य की गूढ़ता नहीं प्रत्युत जीवन-पहेली न सुलझने के कारण महादेवी जो अनिश्चय उच्चारण करती हैं, उसी की गूढ़ता है। यह सत्य है कि इस शैली के कवियों में इनकी कृतियां आदि से अंत तक रहस्य से रंगी हुई हैं। यदि देखा जाय तो नई काव्यधारा में दो ही वास्तविक रहस्य-कवि हैं, एक प्रसाद दूसरी महादेवी। प्रसाद ने प्रबन्ध, निबन्ध, अतीत, इतिवृत्त आदि का सहारा लिया है, इसलिये रहस्यवाद सर्वत्र उनमें रह नहीं पाया, पर महादेवी गीत-पद्धति पर ही चलती रहीं, इस लिये इनका रहस्य कहीं भी दबा नहीं। संक्षेप में, यदि हिन्दी में कोई पक्का रहस्यवादी कवि है तो 'महादेवी वर्मा'। प्रसाद में शैवों का साम्प्रदायिक रहस्य है, पर महादेवी में पश्चिम के रहस्य-दर्शियों का प्रभाव है जो सूफ़ी रहस्य की एक शाखा है। महादेवी में जो प्रियतम का शाश्वत विरह है, उसमें इन्होंने फ़ारसी की प्रतीक पद्धति से अपने को बहुत बचाया है, कवि रवीन्द्र की भांति भारतीय अद्वैत को लक्ष्य करके रहस्य को अपना रूप देने का प्रयास किया है। महादेवी ने लोक के आलोक से जीवन के अनेक रंग की पीठिका लेकर आध्यात्म के आकाश में स्वच्छन्द विचरण किया है। उन्होंने रसात्मकता लाने का प्रयास भी किया, पर प्रबन्ध या निबन्ध की पद्धति न होने से उसमें सफलता नहीं मिली। नए कवियों में इनकी भाषा बहुत ही सुधरी हुई और व्यजकता की विविध विधियों से भरी है।

नव्य काव्य के स्वच्छन्द निर्झर—सर्वश्री सियारामशरण, हरिवंशराय बच्चन, भगवती चरण वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, भगवती प्रसाद वाजपेयी, मोहनलाल महतो वियोगी, मुंशी अजमेरी जी, नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', रामधारीसिंह दिनकर, गुरुभक्तसिंह, और उदयशंकर भट्ट नव्यकाव्य के स्वच्छन्द निर्झर हैं। इन्होंने यत्र-तत्र छायावादी और रहस्यवादी भावों को स्पर्श किया है। पर इन सब की अलग २ विशेषताएं हैं।

सियारामशरण—ये जितने गहरे हैं उतने ही सरल। बरसाती हवा की भांति ठण्डा, प्राणों को हरा और मन को चैतन्य कर देने वाला एक हलका सा झोंका इनकी कविता से प्राप्त होता है। गांव की वधूटी की भांति प्रसाधन-हीन इनकी कविता प्रकृत सौन्दर्य और परिपक्व रस से ओतप्रोत है, जिसका सौन्दर्य मर्यादा और संयम के घूंघट से छनकर अनबोले प्रेम की एक मूक दीठ सी दिखाता है। इनकी यह ग्राम्य-वधूटी कविता-सुन्दरी जहां विचरण करती है वहां का वातावरण शुद्ध और विचार स्वस्थ है। वह वधूटी जैसे सद्यः विवाहिता है, उस पर कौमार्य की मृदुलता, भोलापन और यत्किंचित् अल्हड़पन भी अभी है। देखिए—

पत्थरों की सीढ़ी पर सुश्री-भरी,
स्नान कर बैठी थी अपूर्व एक सुन्दरी।
भीगा हुआ वस्त्र ही थी पहने,
धारण किए हुए सुवर्ण-रंग,
अङ्ग अङ्ग
उसके बने थे स्वयं गहने!
कलित कपोलों पर छुटे हुए केश दाम
हिल डुल क्रीड़ा करते थे कान्त कान्ति धाम
उसमें से चूते हुए वारि-बिन्दु झलमल
शोभा सरसाते थे,
प्रति पल।
नए नए मोती प्रकटाते थे
बांया पैर नीचे लटकाए नील नीर पर,
दायां पैर रक्खे हुए सीढ़ी के प्रतीर पर,
अपने नुकीले नेत्र नीचे किए,
पत्थर की बट्टी हाथ में लिए;
एड़ी मलती थी वह बार बार पानी डाल।

हरिवंशराय बच्चन—ये पहाड़ी नाले की भांति इतराते, बल खाते, पत्थरों पर सिर धुनते, बिखरते, मचलते, ऊँची-नीची भूमि पर फैलते, सिकुड़ते, टेढ़ी तीखी राह प्रबल वेग से बह चले। उस वेग में यौवन का अकथ नृत्य और उद्दाम प्रवाह था। भाषा और वेश का सुथरापन, जीवन के प्रत्येक संघात पर व्यंग, यौवन की उमंग और आवेग, तथा सरल समर्पण हिन्दी में अन्यत्र देखा ही नहीं गया। प्रारम्भ में वे उमर खैयाम के मार्ग पर चले, पर खैयाम की भांति उन में ऐन्द्रीयता नहीं थी, वे अपनी अल्पायु ही में जीवन की मधुशाला में जब अतीन्द्रिय होकर बैठे, और प्राणों के सरल कौतूहल को 'मधुबाला' को समर्पित किया तो वे बिना ही

'रिन्द' बने किसी अतर्कित सत्ता के सहारे भाव-मूर्च्छा में से गुजर कर जैसे गये थे वैसे ही दूध के धोए बाहर आ गये।

इसके बाद उन्हें नियति के क्रूर बाणों ने विद्ध किया। 'नियति' को उन्होंने चुनौती दी। उन में अनपेक्षित और असम्भावित जागरण की अनुभूति आई; उसी के साथ वेदना, अविश्वास, और वैदग्ध्य उन्हें छू सा गया। बच्चन पीड़ा से गुजरते जाते हैं और अपने मधुर गीत गाते जाते हैं। कभी उन्हें सुख-स्वप्न आते हैं, वहां उन्हें क्षण भर को मिलन-सुख मिलता है, पर उस में जैसे ऐन्द्रीयता और आत्मिकता का एक संघात नहीं होता। उनका वैकल्य-गान जैसा वियोग में है वैसा ही संयोग में। परन्तु आत्मार्पण जैसा वियोग में है वैसा संयोग में नहीं।

आज आहत मान, आहत प्राण!
कल जिसे समझा कि मेरा
मुकुर बिंबित रूप,
आज वह ऐसा, कभी की
हो न ज्यों पहिचान।
आज आहत मान, आहत प्राण!
मैं तुझे देता रहा हूँ
प्यार का उपहार,
'मूर्ख मैं तुम को बनाती
थी निपट नादान।
आज आहत मान, आहत प्राण!
चोट दुनिया दैव की सह
गर्व था, मैं वीर,
हाय, ओढ़े थे न मैंने
शब्द - बेधी बाण।
आज आहत मान, आहत प्राण!

भगवतीचरण वर्मा—ये बनारस की गहरी गंगा की भांति अपने प्रवाह में बहे चले जाते हैं, कितने नर, नारी, युवक, वृद्ध तरुणी बाला उस प्रवाह में स्नान करते हैं, कितने उसमें अपदार्थ प्रवाह करते हैं, इसकी उन्हें परवा नहीं।

बुद्धिवाद और वस्तु-निरूपण इनकी कविता की सम्पत्ति है। वह जितनी गहरी है उतनी ही वेगवती। उनकी कविता जीवन को चुनौती देती चली जाती है। वह व्यथा से तड़पती है, वेदना से लड़खड़ाती है पर उसका उद्दाम वेग तो वैसा ही रहता है, वह भाग्य को ललकारती हुई आगे बढ़ी ही चली जाती है। वहां से एक निर्मम ध्वनि उठती है—

"इस विनाश के महार्णव में डूब जाय संसार।
और क्षोभ हो जावे उसमें कलुषित हाहाकार।

जल ही जल हो, उथल पुथल हो, बनो काल साकार ;
बरसो ! बरसो ! अरे सघन घन महा प्रलय की धार ।"

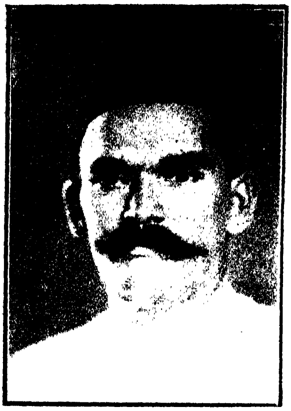
डा० रामकुमार वर्मा—डा० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की नई धारा में कल्पना और अलंकारों का जो सफल प्रयोग किया है वह नवीन काव्य की कला में एक नवीन वस्तु है । ध्वनि और संकेत जो नवीन काव्यधारा की जान हैं, इनकी कविता में बहुत हैं । रामकुमार वर्मा एक सावधान कवि हैं । ये धीरे २, एक एक करके चुन २ कर, चतुर चितेरे की भांति रस ले ले कर चित्र के अङ्ग-अङ्ग में रङ्ग भरते हैं । विधाता की भांति वे अपनी काव्य-सृष्टि में जितने चराचर प्राणों का सृजन करते हैं उन्हें अधिकारपूर्ण रीति पर किसी को जरा, किसी को वार्धक्य, किसी को रूप, किसी को दीठ और किसी को सिर्फ़ उलाहना देकर ही भूलोक में शेष जीवन व्यतीत करने को छोड़ देते हैं ।

किन भीगी आँखों की पलकों—
में करती है वास ?
किन आँसू की बूँदों से
तेरी बुझती है प्यास ?
अरी वेदने ! सिखलाया है
किसने राग विहाग ?
जला रही आकाश सभी, ले
पूर्व दिशा की आग
क्यों करने आई है मुझसे, चिर संचित अनुराग ?
ऐ अनन्त यौवन वाली ! तू बार-बार मत जाग ।

मेरा हृदय भग्न है उसके
टूटे हैं सब द्वार
भाग गया है उससे
रोका-हुआ-अतिथि-सा प्यार ;
वृद्धा आशा के जीवन के—
लघु दिन हैं दो चार ;
नित्य निराशा के विष से मैं
करता हूँ उपचार !
पड़ा हुआ है मृत-सा भूपर, जीवन-दीप-प्रकाश ।
अरी वेदने ! बिखर रहा है उस पर तेरा हास !!

(अन्त)

पं० माखनलाल चतुर्वेदी—माखनलाल चतुर्वेदी जो काव्य-जगत् में 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से ख्यात हैं, एक ज्वालामुखी हैं जो अब कदाचित् कुछ शान्त हैं । ये कोरे कवि ही नहीं, एक राजनैतिक व्यक्ति और पत्रकार भी हैं । एक व्यक्तित्व में तीन २ परस्पर विरोधी बातों के समन्वय से जीवन में जो



पं० श्रीराम शर्मा



मुन्शी अजमेरी जी



पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'



डा० रामकुमार वर्मा



पं० माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा'



डा० सुधीन्द्र वर्मा

जटिलता उत्पन्न होती है, वह माखनलाल जी के जीवन में और उनकी रचनाओं में पाई जाती है। सच पूछा जाय तो इनका जो कवि-रूप 'एक भारतीय आत्मा' है वह इसी जटिलता के कारण मोहक और आकर्षक बन गया है। 'भारतीय आत्मा' पहले कवि हैं पीछे राजनीतिज्ञ। यह नर्बदा तट का गायक, जब काव्य में राष्ट्र के मदमाते, मस्ती से भरे, उछलते यौवन को कांटों के ताज से सजा कर सूली चूमने का सङ्केत करता है, तब हमें उसके जोश का एक प्रलयकारी स्वरूप देखने को मिलता है। देखिए वह इस प्रकार गाता है—

यह लाली है—
सरकार आपकी कृपा पूर्ण जंजीरों के घर्षण से
निकले मोती हैं;
रखवाली है,
हर सिसक और चीत्कारों पर तस्वीर तुम्हारी होती है;
मत खड़े रहो,
ऐ ढीठ, रुकावट होती है, सांसों के आने-जाने से
तुम में अरमाँ,
अरमानों में तुम गुथो नहीं, क्या सुख है धोखा खाने में?
चुम्बन में नहीं पधारो तुम, हर रोज उदार प्रहारों में।
त्योहार! सदा सूली के दिन, मनते आए त्यौहारों में।

इस कवि की वीणा के प्यार की जनून तो ज़रा देखिए—

मत झनकार ज़ोर से, स्वर भर से तू तान समझ ले,
नीरस हूं, तू रस बरसा कर, अपना गान समझ ले,
फौलादी तारों से कस ले, बन्धन मुझ पर बस ले;
कभी सिसक ले; कभी मुसक ले कभी खीझ कर हँस ले,
कान खींच ले, पर न फेंक गोदी से मुझे उठा कर,
कर ज़ालिम मनमानी अपनी पर 'जी' से लिपटाकर।

अब कवि की खीझ का सतोगुण भी देखिए—

'भला किया; जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे फल वाले ये तरुवर मरोड़ डाले,
भला किया; सींचो पनपाओ, लगा चुके हो जो क़लमें।
भला किया, दुनिया पलटा दी, प्रबल उमंगों के बल में।
लो, हमतो चल दिये, नए पौधों, प्यारों, आराम करो।
दो दिन की दुनिया में आए, हिलो मिलो कुछ काम करो।"

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ये भाव-कवि हैं। बरसाती नदी की वेगवती धारा के समान सदैव असाधारण गति से ही कूलों करारों को ढहाते हुए चले जाते हैं, जिधर प्रवाह ले गया उधर ही चल दिये। इनकी कविता अक्षय यौवना है, वह

एक अल्हड़ ग्रामीण बालिका की भांति इठलाती तुतलाती, शब्दों को तोड़ मरोड़ कर मनमाने ढंग पर उच्चारण करती, देहाती और सुने-सुनाए विदेशी शब्दों को भी कभी २ गुनगुनाती, गांव-गांव, खेत-खेत, समथल और ऊबड़ खाबड़ बन पर्वत नदी नालों को पार करती घूमती फिरती है। बहुधा उर्दू ग़ज़ल की स्पिरिट उसमें प्रकट हो जाती है, भावों के संघर्ष में वह आप ही अपने से उलझती हुई, अपने ही से झगड़ती हुई कर्तव्य और दिल के सम्मान के झपेटों में अटकती, श्रेय और प्रेम की उलझनों में उलझती हृदय की आसक्ति के कारण हृदय ही को खोटी खरी सुनाती नज़र पड़ती है। परन्तु उसमें दुस्साहसिकता खूब है। देखिए—

'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल पुथल मच जाए।
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आए।
प्राणों के लाले पड़ जाए,
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए।
नाश और सत्यानाशों का,
धुवाँ-धार जग में छा जाए।

उदयशंकर भट्ट—उदयशंकर यथार्थदर्शी कवि हैं। प्रकृति के रूप दृश्यों के वे बड़े पारखी हैं। यह कवि विश्वरूप को प्रकृति के विलास वैभव में देखता है। विश्व का वैभव और पराभव उसे रुलाता है, सताता है; उसकी कविता सत्यजीवन का स्थिर प्रतिबिम्ब है। वह सत्यजीवन भौतिक है। अध्यात्म की वह अवहेलना करता है और दैव का वह दुर्दम्य प्रतिस्पर्द्धी है, मानव को सर्वोपरि सत्त्व मानता है और मानव जन-सत्ता पर वह अविकृत रूप से अपने कवित्त्व का शासन करा कर कहता है, अरे ओ मनुष्य, कायर न बन, सुख और सौन्दर्य के अटूट झरने का शीतल जल पी।

सुन, यह मानव क्या कहता है—
'मैं दुनियां में बड़ा चढ़ा हूँ,
अनिल अनल में भलक-विलक में
यम के सिर पग दिए खड़ा हूँ।

हिम सी दृढ़, ब्रह्माण्ड दण्ड सी, ऊँची मेरी यशः पताका,
मेरा अतुलित विक्रम, वैभव, मेरा गौरव किसने आंका।
मैंने सुखा दिए हैं सागर, चूर्णित कीं, भूधर-मालाएं,
पानी बना दिए अंगारे, अकृत बना डालीं हालाएं।
सुन्दर हूँ, सुरूप हूँ, अभिनव, वर्षा की मीठी फुहार सा,
जपा पुष्प सा कोमल प्राणी, अधिकारी हूँ हृदय प्यार का।
अपने ही गौरव के बल पर, मैं नभ छूने उड़ा जा रहा,

हूँ प्रकाश का पुञ्ज तिमिर भी, वाणी में भर तिमिर आ रहा।
एक घूंट में जागृति के जग, मैंने कितनी बार लुटाए,
एक पुलक चुम्बन पर मैंने, कितने रौरव स्वर्ग बनाए।
आगत मुझे पुकार कह रहा, कुचल मसल पाताल धरातल,
चल चल रे, वह है उदयाचल, वहीं अमर तरु का जीवन फल।

सुभद्राकुमारी चौहान—सुभद्राकुमारी चौहान ने नारी में सतत मातृत्व के दर्शन किए हैं। काव्यकला की दृष्टि से उनका कम विकास हुआ है। परन्तु एक मर्मभेदिनी भाव-व्यंजना उनकी सीधी-साधी पदावलियों में है, देखिए—

तुम मुझे पूंछते हो 'जाऊँ'
मैं क्या जवाब दूं तुम्हीं कहो।
'जा' कहते रुकती है ज़बान,
किस मुख से तुमसे कहूं 'रहो'।
सेवा करना था जहां मुझे,
कुछ प्रेम भाव दर्शाना था।
उन कृपा कटाक्षों का बदला,
कुछ देकर मुझे चुकाना था।
मैं सदा रूठती ही आई प्रिय,
तुम्हें न मैंने पहिचाना।
वह 'मान' बान सा चुभता है,
अब देख तुम्हारा यह 'आना'।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी—भगवतीप्रसाद वाजपेयी कविता में चित्र रचते हैं। इसका कारण कदाचित यह है कि वे कथाकार प्रथम हैं, और कवि बाद में, इसी से कविता में भी वे मूर्त्ति निर्मित करते हैं।

इन वर्णित निर्झरों के अतिरिक्त और बहुत मीठे शीतल जल के स्रोत हिन्दी क्षेत्र में बह रहे हैं। 'द्विज' में आग्रह है, रुदन है, उद्वेग है। 'दिनकर' में राष्ट्र भारती मूर्त्तिमती होती है, इन्होंने बिहार में बहुत क्रान्तिकारी गीत गाए हैं। इनमें क्रिया शीलता का अदम्य वेग है, वे चुनौती देते चलते हैं। 'नेपाली' मनोवैज्ञानिक कवि हैं, प्रकृति-निरीक्षण वे बड़ी सावधानी से करते हैं। 'नरेन्द्र' लालसा, भोग और शृंगार के पुजारी कवि हैं। परन्तु उनकी काव्य-रचना में बहुधा हृदय की नहीं मस्तिष्क की पूंजी अधिक रहती है। कवि यहां पराया-सा अपनी कविता के पीछे २ चलता नज़र आता है। सोहनलाल द्विवेदी 'नवीन' और 'भारतीय-आत्मा' के पथ पर राष्ट्र के उन्माद में मत्त हैं। वे राष्ट्र-वीणा के स्वर से स्वर मिला कर कभी २ तो आत्मा को बेसुध करने वाला गान गा जाते हैं।

मुन्शी अजमेरी, मिलिन्द, प्रेमी, केसरी, अंचल, आरसीप्रसादसिंह, भी उन कवियों में हैं जो अपना स्थान रखते हैं। परन्तु काव्यधारा का आज

यहीं अन्त नहीं है, वह शत-सहस्र धाराओं में फूट २ कर बह रही है। उसमें मैल भी है और तत्त्व भी है।

इस नई धारा के बीचोबीच एक कवि सब से अलग-थलग अपना अस्तित्त्व रखता है, यह कवि 'अनूप' है। 'अनूप' ने वीर रस को आधुनिक सांचे में ढाला है, इनका 'सिद्धार्थ' महाकाव्य एक उल्लेखनीय रचना है।

व्रज परम्परा—खड़ी बोली और नई धारा के विकास-विस्तार और उसके विषय की व्यापकता के कारण व्रज-भाषा की पुरानी धारा एक बारगी ही मन्द पड़ गई। फिर भी कुछ कवि व्रज-भाषा में इस युग की रचना करते रहे। उनमें से कुछ ने तो व्रज-भाषा में नवीन विषयों का समावेश किया, परन्तु कुछ पुरानी रीतिकालीन लीक पीटते रहे। जिन रचनाओं में नवीन रूप के दर्शन हुए उनमें रामचन्द्र शुक्ल का 'बुद्ध चरित्र' (१९२२) वियोगीहरि की 'वीर सतसई' (१९२७) और हरदयालुसिंह का 'दैत्यवंश महाकाव्य' (१९४०) उत्तम है। इनके सिवा अयोध्या के ज्योतिषी रामनाथ का 'रामचन्द्रोदय' केसरसिंह बारहट का 'प्रतापचरित्र' और दुलारेलाल भार्गव की 'दुलारे दोहावली' उल्लेखनीय रचनाएं हैं। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश, रायकृष्णदास आदि कवियों ने भी व्रज-परम्परा पर समय समय प्रतिभा दिखाई है। रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध चरित्र' में शुद्ध संस्कृत शब्दों को व्रज-साहित्य में सब से पहली बार प्रविष्ट किया है। केसरीसिंह बारहट की रचना अति उत्कृष्ट है। उमाशंकर वाजपेयी की रचना नए चमत्कारों से परिपूर्ण है।

अध्याय पांचवां

हिन्दी राष्ट्रभाषा

हमने बताया है कि अब से १२०० वर्ष पूर्व आठवीं शताब्दी में जब संस्कृत के ढांचे से सर्वथा भ्रष्ट होकर अपभ्रंश ने अपना पृथक् रूप बनाया था तब वह सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा थी। दक्षिण के द्रविड़-प्रभावित प्रान्तों के अतिरिक्त यत्किंचित् उच्चारण और थोड़े से व्याकरण सम्बन्धी भेदों को छोड़ कर उसका एक देशव्यापी रूप था।

धीरे २ बंगला, गुजराती, मराठी और पंजाबी भाषाओं के रूप एक दूसरे से पृथक् होते गए क्योंकि उस समय सार्वभौम आवागमन कम था, साथ ही लिपि-भेद भी होता गया, क्योंकि लोग हाथ ही से एक दूसरे का अनुकरण करके लिखते थे। इस कारण से भी, और लिखने के साधन उपसाधनों की विभिन्नता के कारण भी

लिपि-भेद बहुत हो गया। उदाहरण के लिए दक्षिण में ताड़-पत्र पर नोकदार चीज से लेख खोदे जाते थे, वहां खड़ी पाई को अंकित करने में पत्र चिर जाता था; इससे वहां की लिपियों में खड़ी पाई का अभाव हो गया, गोल अक्षर अधिक बनने लगे। परन्तु उत्तर-भारत में भूर्जपत्र पर स्याही से लिखने में यह दोष नहीं आता था, अतः यहां की लिपियों में खड़ी पाई की अधिकता बनी ही रही।

परन्तु प्रान्तीय भाषाओं में वास्तविक विभेद तो टाईप के अक्षर ढलने के कारण पड़ा। जिन लोगों ने भारतीय लिपियों का टाइप बनाया, उन्होंने एक भूल तो यह की कि प्रत्येक प्रान्त की लिपि के पृथक् २ टाइप बनाए, सारे देश की लिपियों का एक ही टाइप नहीं बनाया। दूसरे, उस टाइप में हस्त-लेख की ही नकल की गई। पृथक् अक्षराकृति नहीं बनाई गई। इन दो दोषों के कारण देश के भिन्न २ प्रान्तों की लिपि का भिन्न भिन्न स्वरूप स्थिर हो गया। उनकी भाषा उस लिपि से अज्ञात जन के लिये दिन २ अपरिचित होती चली गई; खास कर सुदूर दक्षिण की भाषा। हिन्दी अन्य प्रान्तीय भाषाओं की भांति एक प्रान्त की भाषा रह गई।

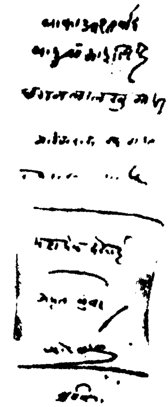
पाठक जानते हैं कि अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ ही से हिन्दी का आन्दोलन देश में चला था, परन्तु उस के कुछ धार्मिक तथा कुछ राजनैतिक कारण थे। वह प्रान्तीय आन्दोलन था। स्वामी दयानन्द के कारण वह पंजाब तक फैल कर सम्पूर्ण उत्तर-भारत का आन्दोलन हो गया था। इस युग में हिन्दी का प्रश्न सम्पूर्ण संयुक्तभारत का दृढ़तर राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया। और इसका श्रीगणेश इसी युग में महात्मा गांधी ने किया।

पंजाब विश्व-विद्यालय में हिन्दी परीक्षाएं—लगभग २० साल हुए पंजाब विश्व-विद्यालय ने हिन्दी परीक्षाओं का विभाग खोला। यह विभाग खोलने से पंजाब में हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा के प्रसार में बहुत प्रगति हुई। पंजाब सदैव ही से भारतीय साहित्य का केन्द्र रहा है, वेद, उपनिषद्, दर्शन और नीति ग्रन्थों का यहीं निर्माण हुआ था। तक्षशिला के विश्वविश्रुत विश्व-विद्यालय में बैठ कर पृथ्वी भर के ज्ञानपिपासु अपनी आत्माओं को तृप्त कर गए परन्तु जब से पंजाब को बाहर के आक्रान्तकारियों ने भारत-प्रवेश का द्वार बना लिया, तब से शताब्दियों तक भारत के इस शीर्षस्थल को चैतन्य लाभ करने का अवसर ही नहीं मिला। विगत युगों में स्वामी दयानन्द और गुरु नानक तथा गुरु गोविन्द-सिंह ने पंजाब को जगाया, उसे संजीवनी बूटी पिलाई और तब से अब तक इन दोनों महात्माओं के उत्तराधिकारी पंजाब में सांस्कृतिक उन्नति का बीज बोते आ रहे हैं। आज पंजाब में हिन्दी साहित्य की हरी-भरी खेती लहलहा रही है।

पंजाब विश्व-विद्यालय का यह कार्य अन्य विश्व-विद्यालयों के लिये भी अनुकरणीय है। इस समय प्रति वर्ष २० हजार छात्र छात्राएं इन परीक्षाओं से लाभ उठा रहे हैं।

दक्षिण भारत में हिन्दी सभा—अब से २७ वर्ष पूर्व महात्मा गान्धी ने दक्षिण में हिन्दी प्रचार का सूत्रपात किया था। उस काल में वहां शिक्षित वर्ग की मध्य-भाषा अंग्रेजी थी क्योंकि दक्षिण के चार प्रान्त अपनी पृथक् २ भाषा बोलते थे। परन्तु अब वहां आसानी से हिन्दी समझी जा सकती है। इस समय वहां १६ सौ के लगभग कार्यकर्ता हिन्दी का विस्तार कर रहे हैं। और ५० सहस्र से अधिक विद्यार्थी हिन्दी सीख रहे हैं। १० लाख से अधिक व्यक्ति हिन्दी सीख चुके हैं, और प्रति वर्ष २० हजार विद्यार्थी परीक्षा में बैठते हैं। इनकी कुल संख्या दो लाख तक पहुंच चुकी है।

गांधी परिवार के हस्ताक्षर



सभा का प्रधान कार्यालय मद्रास में है जहां सभा का अपना भवन है। इसके सिवा तामिल, आन्ध्र, केरल, और कर्नाटक इन चार प्रान्तों में प्रान्तीय कार्यालय हैं। कुल २॥ सौ केन्द्रों के द्वारा हिन्दी-प्रचार हो रहा है। मद्रास और रियासती सरकारों के इलाकों में, जिनमें मैसूर, तिरुमाकूर, कोचीन प्रमुख हैं, ५०० के लगभग ऐसे हाई स्कूल हैं जहां हिन्दी की शिक्षा हो रही है। सभा के कार्य को चलाने में भिन्न २ समितियों के १० हजार से अधिक सदस्य भिन्न २ प्रवृत्तियों में कार्य कर रहे हैं। परीक्षा-विभाग में २५० परीक्षक हैं। इन हिन्दी की परीक्षाओं ने दक्षिण में बहुत भारी सांस्कृतिक कार्य किया है। हिन्दी के माध्यम से दक्षिण के चारों प्रान्त एक होकर उत्तर-भारत की संस्कृति के निकट हो गये हैं। सभा ने १५० के लगभग पुस्तकें प्रकाशित की हैं, जिनमें अक्षर-बोध से लेकर कोष तक शामिल हैं। सभा ने १२ लाख मूल्य की ५०० प्रकार की पुस्तकों की २० लाख प्रतियां प्रान्तों के कोने २ में वितरित की हैं। सभा का अपना एक प्रेस है जिसमें १० भाषाओं में छपाई का काम होता है।

सभा के इस असाधारण उद्योग से दक्षिण-भारत की सब यूनिवर्सिटियों ने उपाधि-परीक्षाओं में हिन्दी को अपने यहां स्थान दे दिया है। हिन्दी पढ़ाने वाले हाई स्कूल और कालेज आन्ध्र में १२३, तामिल में १२८, केरल में ६०, कर्नाटक में १०० और मद्रास शहर में ११ हैं जिनमें कुल कालेज १५ हैं।

हिन्दी प्रचार के इस सदुद्योग में पं० सत्यनारायण शर्मा सब से अधिक प्रशंसा के योग्य हैं। ये सभा के प्रधान मन्त्री हैं। इनके सिवा आन्ध्र के कौंडा, वेंकटप्पैया, तामिल के पी० एस० जी० गंगा नायडू, अवधनन्दन, केरल के एन०



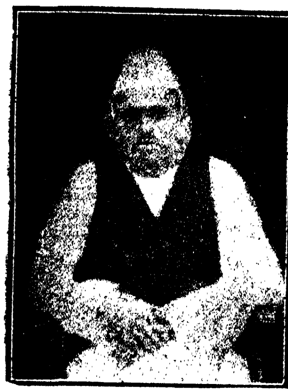
महामना पं० मदनमोहन मालवीय



डा० भगवानदास



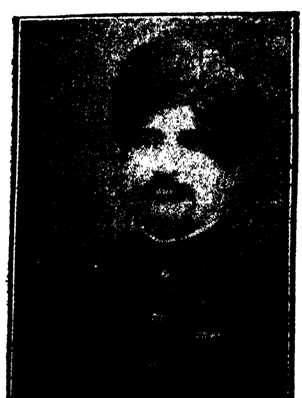
पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'



ठा० शिवनाथसिंह



पं० गौरीशंकर भट्ट



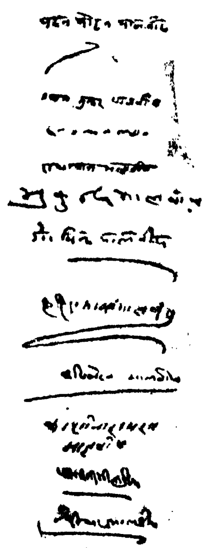
पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ

सुन्दर ऐय्यर, कर्णाटक के अण्णा साहेब लट्ठे, सिद्धनाथ, पन्त, मद्रास के के० आर० विश्वनाथन, राजगोपालाचार्य, तथा पट्टाभिसीतारमैया के श्रम भी सराहने योग्य हैं।

हिन्दी प्रचार के इस महत् उद्योग के कारण—हिन्दी के माध्यम से शताब्दियों से पृथक्—दक्षिण के चार प्रान्तों के निवासी एक हो गए, और एक होकर वे अब उत्तर-भारत से एकीकरण के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। राष्ट्रीय दृष्टि से यह एक अति असाधारण महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। इससे सम्पूर्ण भारत की अखण्डता, एक-देशीयता और एक-राष्ट्रीयता का ऐसा जन्म हुआ है जैसा वैदिक काल से लेकर अब तक कभी नहीं हुआ था।

हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी—सन १९१६ में महामना मालवीय के उद्योग से हिन्दू-विश्व-विद्यालय काशी की स्थापना हुई। यह विश्वविद्यालय दयानन्द कालेज और गुरुकुलों की स्थापना के बाद भारतीय संस्कृति के प्रति एक आधुनिकतम दृढ़ क़दम है। इस विद्यालय का असाधारण प्रभाव साम्प्रदायिकता से कुछ ऊपर उठ कर एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करता है, जो पूर्ण भारतीय होने पर भी आधुनिकतम है। हिन्दी इस विश्वविद्यालय का प्राण है, और यदि यह कहा जाय कि गत २६ वर्षों में—अपने जीवन में—हिन्दी को मानवीय विचार-धारा की सर्वश्रेष्ठ वस्तुएं हिन्दी के माध्यम से विश्वविद्यालय ने दी हैं तो अत्युक्ति नहीं। इस महद् यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले महामना मालवीय जी हैं।

महामना पं० मदनमोहन मालवीय—ये ऋषिकल्प ब्राह्मण इस युग में हिन्दू संस्कृति का एक प्रतिनिधि सत्व है। स्वामी दयानन्द के बाद हिन्दू समाज में सांस्कृतिक रेखाएं निर्माण करने वाला यही एकमात्र पुरुष है। यह एक ही पुरुष अपने शरीर में आज के सम्पूर्ण हिन्दू समाज को समाहित किये बैठा है। हिन्दूधर्म और हिन्दी साहित्य के लिये उसने जो कुछ किया है, वह युग-युग के लिये यथेष्ट है। उसने अपने व्यस्त जीवन में साहित्य-निर्माण का अवकाश नहीं पाया, परन्तु उसके द्वारा प्रतिष्ठित हिन्दू-विश्वविद्यालय की भूमि की मिट्टी के एक २ कण में से शत शत हिन्दी-साहित्य के निर्माता उत्पन्न हो रहे हैं, और शताब्दियों तक होते रहेंगे। इस सौम्य मूर्ति के मुख से प्रवाहित शुद्ध परिष्कृत हिन्दी की वाग्धारा शरच्चन्द्र की स्निग्ध कौमुदी से कम मोहक और सुषमापूर्ण कभी नहीं हुई। इस दिव्य पुरुष का जन्म १८६१ ई० में हुआ, और तब से अब तक इसके पवित्र जीवन के ८५ वर्ष का पल-पल हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान का मूक-संगीत गाते बीता है।



मालवीय परिवार के हस्ताक्षर

पत्र-साहित्य

दैनिक—इस काल में एक दर्जन से अधिक दैनिक पत्र निकलते रहे। इनमें बनारस का 'आज' कानपुर का 'प्रताप', दिल्ली का 'हिन्दुस्तान', लाहौर का 'मिलाप', प्रयाग का 'भारत', बम्बई का 'स्वाधीन भारत', कलकत्ते का 'विश्वमित्र' उत्कृष्ट रहे। 'वर्त्तमान' (कानपुर) 'संसार' (बनारस) 'अर्जुन' 'नवयुग' (दिल्ली) 'स्वतंत्र भारत' 'लोकमान्य' 'राष्ट्रबन्धु' कलकत्ता भी उल्लेखनीय थे। ये दैनिक अपने २ प्रान्तों की ज्ञानवृद्धि और आवश्यकतापूर्ति के उत्तम साधन रहे। बम्बई, कलकत्ता और लाहौर के पत्रों ने अपने प्रान्तों में हिन्दी प्रचार का अच्छा काम किया।

इन दैनिक पत्रों में भाषा सम्बन्धी दोष काफ़ी रहे। इसका एक कारण तो यह था कि उन्हें संवाद अंग्रेज़ी में मिलते हैं और उनका उन्हें झटपट अनुवाद करना पड़ता है। ऐसी भाषा का अस्थिर होना स्वाभाविक ही है।

ये पत्र बहुधा हिन्दी-पर्याय-वाची शब्द जल्दी में न पाकर अंग्रेज़ी शब्दों को ज्यों का त्यों रखते रहे हैं। यद्यपि यह कुछ ऐसा अनुचित नहीं है परन्तु रिमांड, ह्वाइट पेपर, कस्टम-ड्यूटी, एप्रूवर, स्पेशल-ट्रिब्यूनल, फाइनेन्स मैम्बर, टैरिफ़ बोर्ड, ऐक्ट्स, वाक आउट आदि शब्दों के प्रयोग इन पत्रों में बहुधा पाए जाते हैं। 'नौशिया' शब्द जो वास्तव में 'उबकाइयों' (वमनेच्छा) को कहते हैं, इन पत्रों में प्रयोग किया गया है। ऐसे शब्दों के प्रयोगों से भाषा की असमर्थता बढ़ती है। दिल्ली का 'अर्जुन' सरल भाषा का प्रयोग करता है परन्तु उसकी भाषा प्रायः खिचड़ी ही रही। जल्दी के कारण इन पत्रों की वाक्य-रचना में सरसता, सामंजस्य और शृंखला नहीं रही। इनके सम्पादकीय विचार और टिप्पणियां भी शिथिल रहीं। केवल सत्यदेव विद्यालंकार और बाबूराव विष्णुराव पराडकर ही इस युग में सर्वश्रेष्ठ सम्पादकीय विचारधारा सम सामयिक विषयों पर व्यक्त कर सके। इन दैनिक पत्रों में चित्रों की कमी भी एक त्रुटि रही। व्यङ्ग चित्रों का भी अच्छा विकास नहीं हुआ। इस विषय में आज, मिलाप और विश्वमित्र सब से पिछड़े रहे। दैनिक पत्रों का प्राण 'संवाद' है। प्रायः सभी हिन्दी दैनिकों में ये सम्वाद बासी होकर छपते रहे। इसके दो कारण हैं एक तो यह कि संवाद अंग्रेज़ी में आते हैं, दूसरे हिन्दी पत्रों के पास उपयुक्त और साहसिक सम्वाददाताओं का अभाव रहा। इन दैनिक पत्रों में समाचार-विभाजन की भी कोई पद्धति न रही। सम्पादकों का ध्यान पत्रों को आकर्षक, रोचक बनाने और विचित्र शीर्षक देने तथा सम्वादों के वर्गीकरण करने की ओर बहुत कम गया। 'भारत' और 'आज' छपाई और गैटअप की दृष्टि से अच्छे रहे।

नवयुग, मिलाप और वर्तमान, इस दृष्टि से सब से पिछड़े रहे, भाषा की दृष्टि से 'आज' ही सर्वश्रेष्ठ पत्र रहा ।

साप्ताहिक—साप्ताहिक पत्रों में सम्वादों की अपेक्षा विचारों का स्थान प्रमुख रहना चाहिए । विचारों के सम सामयिक विषय सम्वादों ही पर से चुने जाते हैं ।

कुछ दैनिक अपने साप्ताहिक अंक निकालते रहे जिनमें प्रताप, विश्वमित्र, अर्जुन, भारत और मिलाप उल्लेखनीय हैं । प्रताप, सैनिक, स्वराज्य, कर्मवीर, जागरण, अभ्युदय, साप्ताहिकों में मुख्य पत्र रहे । 'सैनिक' कृष्णदत्त पालीवाल आगरा से, 'हिन्दी स्वराज्य' आगरकर खंडवा से, 'कर्मवीर' माखनलाल चतुर्वेदी खंडवा से, तथा 'जागरण' सम्पूर्णानन्द काशी से और 'अभ्युदय' कृष्ण कान्त मालवीय प्रयाग से निकालते रहे ।

ये सभी साप्ताहिक प्रायः एक ही परिपाटी पर चले । किसी में कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं हुई । तब 'जागरण' 'विश्वमित्र' में कुछ चमत्कार रहा ।

'स्वराज्य' और 'कर्मवीर' पर देशी राज्यों में प्रतिबन्ध रहे । इसका कारण यह था कि ये पत्र देशी राज्यों की राजनीति और सामाजिक जीवन पर गहरा प्रकाश डालते रहे । सम्पूर्णानन्द के प्रभाव से 'जागरण' एक साम्यवादी पत्र रहा । साप्ताहिकों में 'विकास' (सहारनपुर) 'निष्काम' (मेरठ) 'योगी' (पटना) प्रकाशित हुए । काशी से सनातनधर्मी पण्डितों का भी एक 'पण्डित' पत्र निकला ।

मासिक पत्र—मासिक पत्र-पत्रिकाएं तीन धाराओं में विभक्त की जा सकती हैं । १—सर्वोपयोगी । २—बालोपयोगी । ३—विशिष्ट । सरस्वती, माधुरी, सुधा, चांद, विशालभारत, हंस, विश्वमित्र, गंगा, अरुण, भारती, वीणा, वाणी प्रथम श्रेणी की सर्वोपयोगी पत्रिकाएं रहीं । इनमें समाज, धर्म, साहित्य, इतिहास, गवेषणा तथा मनोरंजन का काफ़ी मसाला रहा । चित्र भी रहे ।

बानर, बालक, बालसखा, खिलौना, बालविनोद, कमल, बालपत्रिकाओं में उल्लेखनीय रहीं ।

प्रयाग का 'विज्ञान' गोरखपुर का 'कल्याण' काशी का 'भूगोल' विशेष विषयों के पत्र रहे ।

कई कहानी-पत्रिकाएं निकलीं जिनमें सब से अधिक प्रचार 'माया' (प्रयाग) का हुआ । परन्तु इसमें प्रायः सस्ती, कुरुचिपूर्ण और कलाहीन कहानियां ही प्रकाशित होती रहीं । अनूदित कहानियां कुछ अच्छी रहीं । कहानी की अन्य पत्रिकाओं का भी ऐसा ही हाल है ।

नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी की पत्रिका त्रैमासिक निकलती है। यह साहित्यिक खोज सम्बन्धी लेखों की उत्तम पत्रिका है। हिन्दुस्तानी ऐकेडमी यू० पी० से 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका भी त्रैमासिक प्रकाशित होती है।

सरस्वती, चांद, कल्याण आदि पत्रिकाओं ने समय २ पर विशेषांक भी निकाले। इनमें चांद के 'फांसी अंक' के सिवा कल्याण के विशेषांक काफ़ी लोकप्रिय हुए। मासिक पत्रिकाओं के सम्पादकों में सरस्वती-सम्पादक पं० देवीदत्त शुक्ल सर्वश्रेष्ठ हैं।

सिनेमा और हिन्दी—एक अंश में सिनेमा द्वारा हिन्दी का देशव्यापी प्रसार इस युगमें हुआ। सिनेमा-क्षेत्र में सब से प्रथम नारायणप्रसाद 'बेताब' ने हिन्दी को लेकर प्रवेश किया। उन्हों ने रणजीत के लिये अनेक चित्र लिखे। सन १९३६ में प्रेमचन्द ने सिनेमा-क्षेत्र में क़दम रखा, इसके बाद सर्वश्री सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, नरेन्द्र-नीलकण्ठ तिवारी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, दीपक नेपाली आदि ने भी इस ओर प्रवेश किया।

प्रेमचन्द शीघ्र निराश हो गए। मिल या मजदूर कहानी पर बनी फ़िल्म पर सरकार ने रोक लगा दी और 'सेवासदन' एक निर्जीव फ़िल्म रही। इनके बाद जमनास्वरूप काश्यप ने चित्रों की भाषा की दशा ही बदल दी। इन से पूर्व चित्रों की भाषा बहुत गड़बड़ और लचर रहती थी। जमनास्वरूप काश्यप ने बाम्बे टाकीज़ की 'अछूत कन्या' में चित्रों की भावी भाषा का रूप स्थिर किया। उन्होंने बोलचाल की भाषा हिन्दुस्तानी को अनायास ही चित्रों की भाषा में प्रविष्ट कर दिया। कथनोपकथन के साथ ही गीतों का प्रवाह भी बदल दिया। 'अछूत कन्या' के गीतों में वही ध्वनि है, जिसे संसार से अलग अपनी दुनिया बसाने वाले पहाड़ी चरवाहे प्रेयसी की याद में अलापते हैं—

'मैं बनकी चिड़िया बनके बन बन डोलूं रे।
"तुम पिंजरे की मैना, मैना।,,
"होरी आई रे कान्हा, मन के बसिया"

इस भाषा-संस्कार का यह प्रभाव हुआ कि बाम्बे टाकीज़ के चित्र अहिन्दी प्रान्त मद्रास, सिन्ध, गुजरात, बंगाल आदि तक काफ़ी लोकप्रिय हो गए।

न्यू-थियेटर्स के लिए 'धूप-छाँह' लिखकर सुदर्शन ने लोकप्रिय हिन्दी का रंग शरद और रवीन्द्र की भूमि बंगाल में छिड़क दिया। धूपछांह के गीत जहां सरल और प्रभावशाली हैं वहां उनमें कवित्त्व भी है—

"बाबा मन की आंखें खोल।"
"तेरी गठरी में लागा चोर, मुसाफ़िर जाग ज़रा।"

सुदर्शन और कश्यप के चित्रपट में आने से यद्यपि चित्रों की भाषा बोलचाल की हिन्दी भाषा बन रही थी परन्तु गीतों में ग़ज़लों और कव्वालियों का ज़ोर कम न था। इसी समय 'प्रदीप' ने चित्रों के गीतों पर अपनी छाप लगानी प्रारम्भ कर दी। उनके गीत देखते ही देखते लोगों की जिह्वा पर चढ़ गए।

"मैंने उन्हें बन्द किया आंखड़ियों में, कमल की पांखड़ियों में।"
"आज मेरे जीवन में छाया असाढ़,
नाचो नाचो प्यारे मन के मोर।"
"न जाने किधर आज मेरी नाव चली रे,
चली रे, चली रे, मेरी नाव चली रे।
कोई कहे यहां चली, कोई कहे वहां चली,
मन ने कहा पिया के गांव चली रे, मेरी नाव।"
"एक नदी के दो किनारे मिलने से मजबूर, पपीहा रे।"
"आज मन्दिरों की दीवारें डोल उठीं,
आज मस्जिदों की मीनारें बोल उठीं।"

प्रदीप ने अपनी कविताओं में 'देश-प्रेम' को जगाया। 'बन्धन', 'नया-संसार' और 'क़िस्मत' में इनके राष्ट्रीय गीत जन साधारण की कण्ठध्वनि हो गए।

भगवतीचरणवर्मा की 'चित्रलेखा' एक सफल चित्र था, यह पहला चित्र था जिसमें कला और साहित्य का रंग दिया गया था।

शरद् के 'देवदास' और 'मंजिल' हिन्दी के सफल चित्र हैं। 'ब्रह्मचारी' 'देवता' 'अमृत-मंथन' तथा 'चरणों की दासी' महाराष्ट्र लेखकों के हिन्दी चित्र थे। कुछ उत्तम चित्रों की सफलता निर्देशकों पर निर्भर रही। विद्यापति (देवकी बोस) 'अमृत-मंथन' और 'अमर-ज्योति' (शान्ताराम), 'रामराज्य' और 'विक्रमादित्य' (विजय भट्ट), 'रोटी' (महबूब), 'प्रेसीडेण्ट' और 'धरती माता' (नितीन बोस), देवदास, 'मंजिल' और 'जवाब' (बरुआ), 'कादम्बरी' और 'आम्रपाली' (नन्दलाल जसवन्तलाल), 'ज़मीन' (आनन्दकुमार), 'फ़ैशनेबुल इण्डिया' और 'कृष्णार्जुन युद्ध' तथा १८५७ (मोहनसिंह) 'बसन्तसेना' और 'रामशास्त्री' (जागीरदार) अच्छे निर्देशक थे।

'राजा' नामक चित्र में किशोर साहू ने एक हिन्दी लेखक का चरित्र चित्रित किया है।

'चित्र-प्रकाश' (दिल्ली), 'रंगभूमि' (बम्बई,) 'अभिनय' (कलकत्ता) सिने-जगत् के अच्छे पत्र हैं।

हिन्दी के लोक गीत—इस काल में हिन्दी के लोकगीतों की दो धाराएं सर्वाधिक प्रमुख रहीं। एक राधेश्याम की 'रामायण' दूसरे हाथरस नौटंकी

की 'आल्हा'। राधेश्याम ने अपनी रामायण बोलचाल की भाषा में रची, और उसका देशव्यापी प्रचार हुआ। हाथरस की नौटंकी 'आल्हा' ने जैसे जगनिक की सोई हुई प्रतिभा को एक बारगी ही जागृत कर दिया। यह रचना आधुनिक व्रज-भाषा की रचना है। इसमें बिल्कुल चलाऊ भाषा का प्रयोग किया गया है। और लोकगीतों की इन दोनों धाराओं ने हिन्दी को सर्व-व्यापी बनाने में बहुत कार्य किया है। कभी देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों का जो व्यापक प्रभाव जनसाधारण पर पड़ा था, इन दोनों लोकगीतों की धाराओं का इस युग में वैसा ही प्रभाव हुआ है।

रेडियो—दिल्ली, लखनऊ, बम्बई और लाहौर के केन्द्रों से रेडियो पर नियमित रूप से हिन्दी में भाषण, कविता, विवाद और कवि-सम्मेलनों के प्रोग्राम होते रहते हैं। इनमें हिन्दी के वर्तमान साहित्यिक बहुधा भाग लेते रहते हैं। यद्यपि रेडियो की भाषा उर्दू है, और उसके उर्दू-पक्षपात पर बहुत कुछ आन्दोलन भी हुआ है, परन्तु इस विभाग ने हिन्दी को एक अंश तक सार्वजनिक बनाने में सहायता की है। गायन जो शुद्ध शास्त्रीय होते हैं प्रायः हिन्दी के होते हैं, यद्यपि उनमें साहित्य का समावेश नहीं है। न ये गायक हिन्दी कवियों की आधुनिक रचनाएं गान करते हैं। रेडियो-विभाग की ओर से हिन्दी का एक पत्र 'सारङ्ग' दिल्ली से निकलता है, जिसमें समय २ पर हिन्दी-साहित्य सम्बन्धी टिप्पणियां प्रकाशित होती रहती हैं। कभी २ हिन्दी कवियों, लेखकों, हिन्दू त्योहारों आदि की बर्सियां भी मनाई जाती हैं, जिनमें प्रायः सारा प्रोग्राम ही हिन्दी में होता है।

अध्याय छठा

गद्य-भूमि

उपन्यास—उपन्यास का विस्तार गत छब्बीस वर्षों में खूब हुआ। इस में प्रेमचन्द का स्थान सर्वोच्च रहा। उनके अतिरिक्त सर्वश्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' वृन्दावनलालवर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियारामशरणगुप्त, बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्रकुमार आदि ने उपन्यास-भण्डार की पूर्ति की।

अब जनता की रुचि परिष्कृत हो चुकी थी, इस लिए सुरुचि सम्पन्न उपन्यासों की मांग बढ़ी। घटना-वैचित्र्यपूर्ण उपन्यासों की मांग कम हो गई। प्रारम्भ में जहां उपन्यासों का प्रादुर्भाव बेग-भाषा की देखा-देखी हुआ था अब अंग्रेजी के माध्यम से फ्रांस और रूस की राज्यक्रान्ति भरे उपन्यास पाश्चात्य

प्रगति और जीवन के विविध व्यापक प्रश्नों में परिपूर्ण उपन्यासों को पढ़ कर नई शैली के उपन्यास लिखे जाने लगे। पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पड़ते ही हिन्दी-कथा-साहित्य पर से बंगला का प्रभाव दूर हो गया। बंगला उपन्यासों में अभी काव्य-कोमल शैली थी, उसका असर हिन्दी उपन्यासों पर तब तक रहा जब तक पाश्चात्य उपन्यासों का उन पर असर नहीं पड़ा। ज्यों ही पाश्चात्य उपन्यासों का रंग हिन्दी में आया, उनकी वर्णन-शैली सीधी और विचारपूर्ण होने लगी। चरित्र-चित्रण गौण हो गया।

फिर भी यह तो कहा जायगा कि उपन्यास-साहित्य की जितनी उन्नति होनी चाहिए थी वह नहीं हुई। विश्व-साहित्य के आज के युग में उपन्यास साहित्य का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। विश्वविश्रुत नोबेल पुरस्कार जितनी अधिक बार उपन्यासों को दिया गया है, उसका दशमांश भी साहित्य के किसी एक अंग पर नहीं दिया गया। दूसरी ओर हिन्दी में आज तक मंगलाप्रसाद पुरस्कार एक बार भी किसी उपन्यास पर नहीं दिया गया। विश्व-साहित्य में उपन्यास का इतना अधिक महत्त्व बढ़ जाने पर भी यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि हिन्दी साहित्य में उपन्यास-कला और रचना-चातुरी की कोई सीमा या मर्यादा अभी तक क़ायम नहीं हुई।

उपन्यास-कला—एक बात विचारणीय यह है कि कहानी की अपेक्षा उपन्यास-रचना सहज है। इस युग में कहानी की कला बहुत विकसित हुई है, कहानी-कला की अपेक्षा अधिकांश आधुनिक उपन्यासों का धरातल बहुत नीचा है। उनमें मौलिकता और सूझ की बहुत कमी है। कुछ अपवादों को छोड़ कर अधिकांश उपन्यासकारों का अध्ययन, अनुभव, विश्वदर्शन तथा भाषा पर अधिकार और प्रतिभा बहुत साधारण है। इधर हमारे पाठक भी पारखी नहीं हैं, उनका ध्यान लेखक की इस हीनता की ओर नहीं जाता कि वह कितनी दरिद्र पूंजी से व्यापार करने को बैठा है। पाठक आलोचक-दृष्टि नहीं रखता, लेखक के रुआब में आकर उसकी रचना पढ़ता है।

सन १९१० के आसपास हिन्दी में सामाजिक उपन्यासों की रचना होने लगी थी। इन्हीं दिनों उत्तम बंगला उपन्यासों के अनुवाद भी हिन्दी में प्रकाशित होने लगे थे परन्तु इनका कोई ख़ास प्रभाव हिन्दी संसार पर नहीं पड़ा था। प्रथम महायुद्ध के साथ ही प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' लिखा और इसने तत्काल ही उच्चकोटि के पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। महायुद्ध के बाद उन्होंने 'प्रेमाश्रम' और फिर सन २१-२२ के सत्याग्रह-आन्दोलन के साथ ही 'रंगभूमि' नाम का बड़ा उपन्यास लिखा। ये तीनों उपन्यास अपने युग के साथ २ दौड़ लगा

रहे थे इसलिए इन्होंने प्रेमचन्द को अपने युग का श्रेष्ठ उपन्यासकार बना दिया। उद्देश्य-प्रधान उपन्यासों में प्रेमचन्द ने एक नवीन शक्ति और स्फूर्तिमयी कला का प्रदर्शन किया। अब तक जो सामाजिक उपन्यास प्रकाशित होते रहे, उनमें अति साधारण किसी सामाजिक रूढ़ि या बुराई का दिग्दर्शन ही किया जाता था। प्रेमचन्द ने समाज की गम्भीर समस्याओं को हाथ में लिया। प्रेमचन्द का ऐसा सर्वप्रथम उत्तम उपन्यास 'सेवासदन' था जिसमें मध्यम वर्ग के पारिवारिक जीवन की अक्षम्य त्रुटियों का चित्रण था। इस उपन्यास में लेखक स्थान २ पर उपदेशक बन गया था, यही इस उपन्यास की त्रुटि है। उनके दूसरे उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में जमीदारी की समस्या पर प्रकाश डाला गया था। और 'निर्मला' में अनमेल विवाह की बुराइयों पर। जयशंकरप्रसाद ने 'कंकाल' में हिन्दूधर्म के ढोंग और नागरिक जीवन का चित्रण किया है। प्रेमचन्द की 'कर्मभूमि' उनके अन्य सब उपन्यासों से विकसित है, इसमें किसानों और मजदूरों के ऊपर होने वाले अन्यायों का उल्लेख है। कला की दृष्टि से प्रेमचन्द का 'गोदान' अधिक सफल है। भगवतीचरण वर्मा की 'पतिता की साधना' हिन्दी नारी के जीवन के एक पहलू का अध्ययन है। तेजरानी दीक्षित का 'हृदय का कांटा' हिन्दू विधवाओं की करुण असहाय दशा का रेखा-चित्र खींचता है।

प्रेमचन्द के ये ४, ५ उत्तम श्रेणी के उपन्यास इसी उद्देश्य-प्रधान परम्परा में आ जाते हैं। उद्देश्य-प्रधान होने के कारण उनमें कला के विकास और रस के उत्कर्ष की जो कमी रह गई है उसने उन उपन्यासों के दीर्घ जीवन का ह्रास कर दिया है। ऐसे उपन्यास जो उद्देश्य-प्रधान होते हैं प्रायः एकदेशी और तत्कालीन वातावरण से ओतप्रोत होते हैं इसी से युग की प्रगति के साथ विचारों और जीवन के साथ उनका साम्य कम होता जाता है। इसी से वे पुराने पड़ते जाते हैं और लोग उन्हें भूलते जाते हैं।

ऊपर जिन प्रमुख उपन्यासों की चर्चा हुई है उनके सिवा विश्वम्भरनाथ शर्मा का 'मा', जयशंकरप्रसाद की 'तितली', श्रीनाथसिंह का 'जागरण', और सियारामशरण की 'नारी' भी अच्छे उपन्यास हैं। एक दम नए युग के वातावरण से ओतप्रोत हम चार उपन्यासों का उल्लेख और करेंगे। एक गुरुदत्त का 'उन्मुक्त प्रेम' दूसरा राघवराघेय का 'घरोंदे' तीसरा अंचल की 'चढ़ती धूप', चौथा श्रीकृष्णदास का 'क्रान्ति दूत'। पहले उपन्यास में वर्तमान स्त्री-स्वातन्त्र्य और उन्मुक्त प्रेम के टूटे फूटे रेखा-चित्र हैं। अन्यों में असंयत भाषा और अस्तव्यस्त कथानक एवं निरुद्देश्य घटनाओं का ढेर है।

रसप्रधान उपन्यास—रसप्रधान उपन्यासों में कुछ उस पुरानी परम्परा से अनुबन्धित हैं जो शृंगारिक वासना मूलक चली आई है। 'मधुपलतिका' 'चम्पा' और 'माधवी' ऐसे ही उपन्यास हैं। इसके बाद के उपन्यासों में प्रेम की बहुमुखी व्यंजना का आरम्भ होता है। 'माया' इस प्रकार का पहला उपन्यास है, बेचन शर्मा 'उग्र' के 'चन्द हसीनों के ख़तूत' 'बुधुआ की बेटी' 'दिल्ली का दलाल' और 'शराबी' एक एक भाव के एक ख़ास अंग पर प्रकाश डालते हैं। पहले उपन्यास में एक हिन्दू युवक और एक मुसलमान कन्या के प्रगाढ़ प्रेम का ज्वार है। हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर भी प्रकाश डाला गया है। शेष में समाज के दूषित चित्रों को दिखाया गया है। उनका 'घण्टा' समाज के ढोंग का चित्रण करता है। 'उग्र' की रचनाओं में उल्वण रंग है, उन्होंने समाज की विकृति के प्रदर्शन करने के लिये कुछ नग्न रेखा-चित्र दिये हैं, पर वे इतने चटकीले हो गये हैं कि पाठक का ध्यान उनकी ओर बरबस खिंच जाता है, इस कारण ऐसी रचनाओं से लेखक का यह उद्देश्य—कि उससे समाज को ऊँचा उठने में प्रबोध मिले—सफल नहीं होता।

'निराला' जी के 'अप्सरा' 'अलका' तथा 'निरूपण' में गहरे रंग के स्त्री-चरित्र हैं परन्तु उनकी प्रणाली में संयत भाव हैं।

ऐसे उपन्यासों में एक दूसरी प्रणाली की झलक दीखती है जो गीतिप्रधान है। व्रजनन्दनसहाय का 'सौन्दर्योपासक' ऐसी सर्वप्रथम रचना है, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की 'मनोरमा' और 'मङ्गलप्रभात' भी कुछ ऐसे ही उपन्यास हैं।

गोविन्दवल्लभ के 'प्रतिमा' में प्रेम के आदर्श चित्रों की व्यंजना हुई है। परन्तु प्रेम का स्थिर जीवन सहचर रूप वृन्दावनलाल वर्मा के 'कुण्डलीचक्र' और 'प्रेम की भेंट' में व्यक्त हुआ है। इनमें प्रेम का विकास कथावस्तु के घटनात्मक विकास के साथ २ चल कर हुआ है।

इस युग में भी सस्ती औपन्यासिकता को लेकर कुछ उपन्यास छपे, जिनमें 'अंगूठी का नगीना' 'कोहेनूर' 'भयानक तूफ़ान' 'उषा' 'नरेन्द्रमालती' तथा ऋषभचरण के दो चार उपन्यास हैं।

चरित्रप्रधान उपन्यास—चरित्रप्रधान उपन्यासों का इस युग में अच्छा विकास हुआ। इस प्रकार के उपन्यासों में प्रेमचन्द का 'रंगभूमि' सर्वश्रेष्ठ उपन्यास रहा। यद्यपि इस उपन्यास में भी उद्देश्य की काफ़ी झलक है, पर इस में अंधे सूरदास का व्यक्तित्व और उसके साथ के अन्य पात्रों के व्यक्तित्व की रेखाएं ऐसी साफ़ खींची गई हैं कि वह उनके सब उपन्यासों से पृथक् चरित्रप्रधान तथा अधिकाधिक उपन्यास

तत्त्व से संयुक्त प्रमाणित होता है । इस उपन्यास का नायक सूरदास जो एक नगण्य भिखारी और दलित वर्ग का अपढ़ आदमी है, जीवन को एक ऐसा खेल समझता है कि हार-जीत का उस पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता । वह हार-जीत दोनों ही में समदर्शी है । उसके चरित्र का विकास बड़ी ही कुशलता से किया गया है । ग्रामीण और नागरिक जीवन के कुछ रेखा-चित्र भी इस उपन्यास में .खूब सफल हुए हैं । खास कर पात्रों की मनोवृत्तियों का विश्लेषण खूब हुआ है । प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' के चरित्र-चित्रण में पाश्चात्य ढंग के जीवन और भारतीय प्राचीन संस्कृति में सामंजस्य उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है । प्रेमचन्द का 'गबन' एक साधारण उपन्यास है । उस में प्रेमचन्द का कौशल तो है पर उपन्यास-तत्त्व कुछ नहीं । इस में मानव जीवन की दुर्बलता की एक झलक दिखाई गई है । जैनेन्द्रकुमार की 'परख' में कुछ मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानव चरित्र के विकारों को देखा गया है । वात्स्यायन का 'शेखर' व्यक्ति के जीवन का एक पूर्ण अध्ययन प्रतीत होता है । यह अपने ढंग का एक ही उपन्यास है । इलाचन्द जोशी ने 'संन्यासी' और 'पर्दे की रानी' में भी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का सहारा लिया है ।

यशपाल के उपन्यास क्रान्तिकारी उत्तेजना पैदा करते हैं परन्तु उन में चिर सत्य का अभाव है और उनकी उत्तेजना जनवाद मूलक है, 'देशद्रोही' उनका उत्तम उपन्यास है । राहुल के उपन्यासों का अपना खास स्थान है ।

इन सामाजिक उपन्यासों में देशव्यापी आन्दोलनों की तो छाया थी ही, देश के भीतरी विषम चित्रों का भी प्रभावशाली वर्णन था, यद्यपि अब तक के उपन्यासों में यह दोष अवश्य था कि उन्होंने देश को अपनी साहित्यिक और विवेचना की आंखों से नहीं देखा था, राजनैतिक नेताओं की आंखों से देखा था । भगवतीचरण वर्मा और प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने अपने उपन्यासों का एक नया अध्याय खोला जिसमें आधुनिक सभ्यता से प्रभावित समाज का चित्र था । केवल ठा० शिवनाथसिंह ने 'जागरण' में इस भाव की एक साहसिक प्रतिक्रिया की, कि एक आधुनिक सांस्कृतिक परिवार को पीड़ित वर्ग में जा खपाया । जैनेन्द्र-कुमार ने आर्यनैतिकता की तनिक अवहेलना प्रकट की और 'उग्र' ने देश के कुत्सित चित्रों को ढूंढ़ २ कर प्रकट किया ।

पाश्चात्य शैली का प्रभाव—निस्संदेह इस उपन्यास-कला पर पाश्चात्य शैली का बहुत भारी असर पड़ा और उत्तरोत्तर उपन्यास के क्षेत्र में 'याथातथ्य' की प्रवृत्ति बढ़ने लगी । इससे उपन्यास-कला बहुत निखर गई । घटनाओं और पात्रों के क्रिया-कलापों ही से सब कुछ व्यक्त होने लगा, प्रगल्भ भाषणों की आवश्यकता न रह गई, पिछले युग के ऐतिहासिक उपन्यासों में हमने देखा है कि



बा० शिवप्रसाद गुप्त



पं० हरिशंकर शर्मा



बा० मोहनलाल गंगर



पं० बनारसीदास चतुर्वेदी



पं० सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन



बा० जैनेन्द्र कुमार

नायक-नायिका-भेद के ढंग के प्रेम और उसके लिए युद्ध आदि की अवतारणा लेखकों की साधारण पद्धति रही है। धीरे २ गत युग के अन्तिम चरणों में ऐतिहासिक उपन्यास अपने आदेशों के निकट आने लगे और कुछ अच्छे उपन्यास द्विवेदी-युग में ही लिखे गए। इस युग में भी यह परम्परा धीरे २ विकसित होती गई। परन्तु सच्चे ऐतिहासिक उपन्यासों की हिन्दी जगत् में रचना की वृन्दावनलाल वर्मा ने। वर्णित काल की परिस्थितियों और समाज की मनोवृत्तियों तथा समस्याओं का अध्ययन करके जो ऐतिहासिक उपन्यास सर्वप्रथम लिखे गए वे वर्मा जी के 'गढ़ कुण्डार' व 'विराटा की पद्मिनी' हैं। ये दोनों उपन्यास बुंदेलखण्ड की मध्ययुगीन संस्कृति; वहां की वीर जातियों के जातिगत वैमनस्य तथा उनके रण-पाण्डित्य के परिचायक हैं। वर्मा जी का अध्ययन तो प्रकट है ही इन उपन्यासों में उनका मानव प्रकृति-निरीक्षण तथा कल्पनामूर्ति को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का कौशल भी साधारण नहीं है। एक बात विचारणीय है कि इन उपन्यासों में वर्णित जातिगत भावना में लेखक की सहानुभूति उच्च जाति के पक्ष में है।

ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासों की इस युग में रचना नहीं हुई। इसी प्रकार जासूसी उपन्यास भी नहीं लिखे गये। जासूसी उपन्यासों के एकमात्र जन्मदाता आदि-लेखक और सम्भवतः अन्तिम लेखक गोपालदास गहमरी थे। उनके कुछ उपन्यास पिछले दिनों प्रकाशित अवश्य हुए परन्तु उनकी रचना-तिथि ठीक नहीं मिलती। सम्भवतः वे पुरानी ही रचनाएं हैं। यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग के साथ ही जासूसी उपन्यास भी समाप्त हो गये। और प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल तथा उनके समकालीन मनोवैज्ञानिक चरित्र-प्रधान उपन्यासकारों ने जनता की परिष्कृत रुचि को बरबस खींच लिया।

उपन्यास (अनूदित)—इस काल में संस्कृत से दण्डी का 'दशकुमार-चरित, वाणभट्ट का 'हर्षचरित्र' और 'कादम्बरी' अनूदित हुए।

बंगला से बहुत उपन्यास अनूदित हुए। चण्डीचरण सेन का 'गंगा गोविन्दसिंह' और 'नन्दकुमार को फांसी' तथा बंकिम रमेशचन्द्रदत्त और रवीन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास अनूदित हुए। राखालदास बन्द्योपाध्याय की 'करुणा' 'शशांक' और 'मयूख' ने हिन्दी उपन्यासों की कला में क्रान्ति उत्पन्न की। शरद के उपन्यास बहुप्रिय हुए। इनके सिवा गिरीशघोष, अविनाशचन्द्रदास, इन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय, योगेन्द्रनाथ चटर्जी के उपन्यास भी प्रकाशित हुए।

गुजराती से रमणलाल देसाई, इन्द्र बसावड़ा और कन्हैयालाल मुन्शी के उपन्यास प्रकाशित हुए। इन में मुन्शी के 'गुजरात के नाथ' और 'पृथ्वीवल्लभ' उल्लेखनीय रहे।

मराठी से वामन मल्हार जोशी और हरिनारायण आपटे के उपन्यास अनूदित हुए।

उर्दू से रतननाथ शरशार की 'आज़ाद कथा' हसन निज़ामी ख़्वाजा की ग़दर सम्बन्धी रचनाएं और अज़ीमबेग चग़ताई की रचनाओं का अनुवाद उल्लेखनीय है।

राजस्थानी और पंजाबी भाषा से भी एकाध पुस्तक अनूदित हुई।

योरुपियन और एंग्लो-इण्डियन साहित्य के अनुवादों में ड्यूमा के 'तीन तिलंगे' 'षड्यन्त्रकारी' ह्यूगो का 'पैरिस का कुबड़ा' तुर्गनेव का 'संघर्ष', अनातोले-फ्रान्स का 'अहंकार', टाल्स्टाय का 'अन्ना', गोर्की का 'वे तीनों' आदि अधिक पसन्द किए गये।

बिना भली भांति समझे कोई पुरुष केवल प्रतिभा के बल पर अच्छा कथानक नहीं लिख सकता। यही कारण है कि हिन्दी में कहानी-साहित्य की जो इतनी बाढ़ आई है, इनमें इनीगिनी कहानियां ही अच्छी हैं, बाक़ी सब रद्दी हैं। उपन्यास के क्षेत्र में अभी तक भी निर्माण-कला की कोई रूप-रेखा नहीं है। वह आज उतना ही आज़ाद है जितना अब से ५० वर्ष पहले था। उपन्यास-रचना में उच्चतम कल्पना-शक्ति, प्रखर प्रतिभा एवं भाषा पर अधिकार रखने की आवश्यकता है, जिस लेखक में ये गुण होंगे वह उत्कृष्ट उपन्यास लिख सकेगा। लेखक के उत्कर्ष की परीक्षा केवल इसी बात में है कि वह अपनी कल्पना को कितना सत्य और स्थिर रूप दे सकता है। उपन्यास या कथानक चाहे जितना छोटा या बड़ा हो उसमें कोई वस्तु ऊपर से लादी हुई नहीं होनी चाहिए। इस दृष्टि से बहुत कम उपन्यास उच्च कोटि में आ पावेंगे। आज उपन्यास के पाठकों की कमी नहीं, पर वे उन्हीं अधकचरे और साधारण मौलिक कहे जाने वाले उपन्यासों को पढ़ते हैं। विचारने की बात यह है कि बाबू देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी उपन्यासों के बाद आज इन ४० वर्षों में उपन्यासों के प्रतिपाद्य विषयों में बहुत भारी अन्तर होने पर भी अधिकांश उपन्यास उन से श्रेष्ठ नहीं कहे जा सकते।

आज उपन्यास-क्षेत्र असमंजस में है, उसकी गति अवरुद्ध सी दीख पड़ती है और हिन्दी संसार किसी युगान्तरकारी औपन्यासिक की प्रतीक्षा कर रहा है।

कहानी—यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इस युग में कहानी-साहित्य में एक क्रान्ति उत्पन्न हुई। विगत युगों की अपेक्षा आधुनिक युग में इस साहित्य में इतना अधिक परिवर्तन हुआ और यह साहित्य इतना अधिक लोकप्रिय

हुआ कि इस का कोई भी रूप इसकी स्पर्धा में नहीं ठहर सका। अपनी प्रतिभा का प्रयोग करने के लिये लेखक को जितना क्षेत्र और जितनी सुविधाएं कहानी-साहित्य में मिलीं, उतनी दूसरे किसी भी क्षेत्र में नहीं मिलीं।

इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदी-युग कहानी-साहित्य की भूमिका रहा और आधुनिक कहानियों की विविध जातियों के बीज उसी युग में बोए भी गए और अंकुरित भी हुए परन्तु उसका सच्चा और विशाल स्वरूप इसी युग में देखा गया।

कहानीकार—सर्वश्री जयशंकरप्रसाद, जी० पी० श्रीवास्तव और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने द्विवेदी-युग में प्रगतिशील कहानी-साहित्य का सूत्रपात कर दिया था। इस युग में कहानी-साहित्य अति पुष्ट रूप में आने लगा। खास कर प्रेमचन्द, उग्र, श्रीवास्तव, कौशिक और सुदर्शन ने अपनी एक शैली स्थापित कर ली और उन्होंने कहानी-साहित्य को अधिकाधिक सम्पन्न करना जारी रखा। प्रसाद की रहस्यमयी वृत्ति कहानियों में भी उपस्थित रही, और इसी से वे कहानी-क्षेत्र में उतने सफल नहीं हुए जितने नाटक और काव्य के क्षेत्र में। प्रसाद ने जीवन में बहुत कम यात्राएं कीं, इसी से उनका विश्वदर्शन कल्पना और अध्ययन ही के आधार पर था। इसी कारण उनकी कहानियों की भाषा दुरूह और अधिक कृत्रिम रही।

'कौशिक' ने ३०० के लगभग कहानियां लिखीं, पर उन्होंने उत्तरोत्तर विकास नहीं पाया। उनका ढर्रा वही पुराना रहा; उनमें अनावश्यक विस्तार भी रहा, और जीवन की सामान्य बातों ही का सूत्रपात भी।

प्रेमचन्द की कहानियां वैसी ही रहीं जैसे उनके उपन्यास। वे सब से अधिक लोकप्रिय रहीं और उन्होंने अपने काल में सब से अधिक कहानियां लिखीं। वे अपने ग्राम और समाज तथा आदर्श के क्षेत्र से बाहर नहीं निकले। कहीं २ उन्होंने इतिहास को स्पर्श किया पर चमत्कार न दिखा सके। वे मानव हृदय के कोमल आघात प्रतिघातों को चित्रण नहीं कर सके, न वे मनोविज्ञान के प्रदर्शन में सफल हुए।

सुदर्शन प्रेमचन्द ही के ढर्रे पर चले। उनके भीतर प्रचारक की भावना भी रही। फिर भी उनका बात कहने का अपना निराला ढंग रहा और उनकी कहानियां अधिक सर्वप्रिय हुईं।

रायकृष्णदास, चंडीप्रसाद 'हृदयेश', गोविन्दवल्लभपन्त, शिवपूजनसहाय, पदुमलाल पन्नालाल बख़्शी, मन्ननद्विवेदी ने भी कहानियां लिखीं। इनमें रायकृष्ण-दास और बख़्शी की कहानियों में चमत्कार रहा।

कवि कहानीकार—सर्वश्री निराला, पन्त, भगवतीचरण वर्मा ने जो कहानियां लिखीं उनमें उनका कवि-जगत् साथ चलता रहा। खास कर निराला और पन्त प्रसाद की भांति अपनी कहानी-कला को कवि-कला के प्रभाव से नहीं बचा सके। इसी से इनकी कहानियों ने कहानियों की एक नई कला को जन्म दिया, जिसमें मनोविज्ञान कम और मानसिक संताप अधिक था।

२१ से २७ तक— सन १९२१ से १९२७ तक जो नए कहानी-लेखक प्रकट हुए उनमें मोहनलाल नेहरू, रघुपति सहाय (१९२१) भगवतीप्रसाद वाजपेयी, बेचनशर्मा 'उग्र' (१९२२)विनोदशंकर व्यास (१९२५) राजेश्वरप्रसादसिंह (१९२६) जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', वाचस्पति पाठक, दुर्गाप्रसाद भास्कर, जैनेन्द्रकुमार, ऋषभ चरण जैन और इलाचन्द्र जोशी (१९२७) मुख्य हैं। मोहनलाल नेहरू ने उद्देश्यप्रधान अच्छी कहानियां लिखीं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने परिश्रम से कहानी लिखीं। 'उग्र' अपने स्टाइल के निराले सशक्त कहानीकार रहे। उनमें प्रतिभा थी पर आगे उसका विकास नहीं हुआ। विनोदशंकर व्यास और द्विज ने भावपूर्ण कहानियां लिखीं। जैनेन्द्रकुमार ने अपने निजी आदर्श के आधार पर कहानियां लिखीं। उनकी कहानियां प्रायः अच्छी होने पर भी रूखी हैं। इलाचन्द जोशी ने भी अच्छी कहानियां लिखीं।

२८ की कहानी-कला—सन २८ में कहानियां साहित्य का मुख्य अंग बन चुकी थीं। इस समय जो पुराने लेखक कहानी लिख रहे थे उनके सिवा सर्वश्री सियारामशरण गुप्त, श्रीनाथसिंह, श्रीरामशर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी, मोहनलाल महतो, वियोगी, और स्वामी सत्यदेव ने कहानियां लिखनी प्रारम्भ कीं। पन्त, निराला और भगवतीचरण वर्मा भी इसी काल में कहानी-क्षेत्र में उतरे। इन कहानी-लेखकों में ५ कवि थे, परन्तु एक भगवतीचरण वर्मा ही कहानियों से अपने काव्य-रस को प्रथम रख सके, वे जैसे एक स्वतन्त्र कवि थे, वैसे ही स्वतन्त्र कहानीकार। स्वामी सत्यदेव शीघ्र ही पिछड़ गए, श्रीराम शर्मा ने तल्लीनता दिखाई। श्रीनाथसिंह ने कहानियों में अच्छा परिश्रम किया। सद्गुरुशरण अवस्थी की कहानियों में निबन्ध-लेखन प्रकट हुआ। सत्यजीवन वर्मा के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है।

कृष्णानन्द गुप्त ने पिछले दिनों कहानी लिखना प्रारम्भ किया, पर फिर सुस्त हो गए। उनकी शैली में पाश्चात्य कहानी-कला की झलक थी।

३२ के कहानी-लेखक—सन १९३२ के लगभग सर्वश्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा, अख्तरहुसेन रामपुरी, वीरेश्वर, साधुशरण, आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव, ,सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, धर्मवीर, अनन्तगोपाल

शेवड़े, माधव, राजकुमार रघुवीरसिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क, पहाड़ी, सूर्यदेवनारायण, श्रीवास्तव और यशपाल ने कहानियां लिखना प्रारम्भ किया।

इनमें राजकुमार रघुवीरसिंह और अख़्तरहुसेन रामपुरी ने कहानियों में प्रतिभा का प्रदर्शन किया। राजकुमार ने ऐतिहासिक रस का और अख़्तरहुसेन रामपुरी ने क्रान्तिकारी युवक भावनाओं का प्रकटीकरण किया, परन्तु दोनों ने बहुत कम कहानियां लिखीं।

'अज्ञेय' एक गम्भीर और नई प्रतिभा लेकर कहानी-क्षेत्र में आए। उनकी कहानियों का धरातल क्रान्ति और मानव हृदय के आर्तनाद से व्याप्त है। प्रतिभा और अनुभूति अज्ञेय की कहानियों में इस समय के सब साथियों से विलक्षण रही। यशपाल ने भी इसी प्रकार की अच्छी कहानियां लिखीं।

हास्य रस की कहानी-लेखकों में जी०पी० श्रीवास्तव तो थे ही, शिवनाथ शर्मा, हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेवप्रसाद गौड़ और अन्नपूर्णानन्द के नाम भी उल्लेखनीय हैं। श्रीवास्तव की कला पुरानी ही है, हरिशंकर शर्मा ने अनेक स्केच लिखे। अन्नपूर्णानन्द भी सफल हुए हैं परन्तु उनकी कहानियां साधारण होती हैं। कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढ़ब' ने हास्य लिखने में अपना ख़ास स्थान प्राप्त किया है।

स्त्री कहानी-लेखिकाएं—इन पिछले दिनों में हिन्दी में ५-७ अच्छी स्त्री कहानी-लेखिकाएं प्रकट हुईं। सुश्री उमा नेहरू ने सब से प्रथम सम्भवतः कहानी पर लेखनी उठाई थी, उनके बाद शिवरानी प्रेमचन्द, सुभद्रांकुमारी चौहान, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्रा, कमलादेवी चौधरी, सुशीला आगा, सरस्वती, होमवती देवी, तारा पाण्डेय, रत्नकुमारी और सत्यवती मलिक ने कहानी लिखना प्रारम्भ किया। शिवरानी ने सीधे-सादे घरेलू जीवन के चित्र खींचे, सुभद्राकुमारी ने पुरुषों के प्रति विद्रोह की भावना को कहानियों में व्यक्त किया, पर जितनी वे कविता-क्षेत्र में सफल हुईं उतनी कहानी-क्षेत्र में नहीं। उषादेवी मित्रा की कहानियों में व्यक्तित्व का अच्छा विकास हुआ। कमलादेवी बाद में सन १९३३ में आईं, पहले ये हिन्दी नहीं जानती थीं पर शीघ्र ही उन्होंने उस पर अधिकार कर लिया। कमलादेवी की प्रतिभा असाधारण है और मनोविज्ञान की वे पारदर्शिनी दृष्टि रखती हैं। सुशीला आगा ने भी अच्छी कहानियां लिखीं। सत्यवती मलिक को भावपूर्ण छोटी २ कहानियां लिखने और भाव-चित्र बनाने में अच्छी सफलता मिली है। सौनरिक्सा दम्पति ने कहानी-कला पर आधारित कहानी लिखना प्रारम्भ किया।

आज का कहानी-साहित्य—आज कहानी-साहित्य की बाढ़ आ रही है, और अनगिनत कहानी-लेखक उत्पन्न हो रहे हैं। कहानियों की अनेक पत्र-पत्रिकाएं चल रही हैं परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि उन में पांच प्रतिशत भी अच्छी नहीं हैं। हिन्दी की सर्वप्रिय कहानी-पत्रिका 'माया' ही का उदाहरण यदि लिया जाय तो हम कहानी-साहित्य की अधोगति पर अफ़सोस कर सकते हैं। आज हिन्दी में कहानी-साहित्य के पाठक बहुत हैं पर उन्हें हर प्रकार की आत्मतुष्टि देने वाले कहानीकारों की बड़ी कमी है। खेद है कि जो कुछ इनेगिने कहानीकार हैं उनसे पत्रकारों का सहयोग नहीं। इसके दो कारण हैं—एक यह कि प्रायः कहानी-पत्रिकाओं के सम्पादक और मालिक अपने को साहित्य से सम्बन्धित नहीं समझते, न वे कला और संस्कृति के प्रति उत्तरदायी ही हैं। उन्होंने व्यवसाय के अर्थ पत्र चलाए हैं। ये सस्ते पाठकों को उनकी कच्ची पसन्द की भड़कीली और ऐन्द्रीयता से परिपूर्ण सस्ती कहानियां देते हैं, जो या तो उन्हें मुफ्त ही मिल जाती हैं या वे इधर उधर से अन्य भाषाओं से भ्रष्ट अनुवाद कराके काम चला लेते हैं। दूसरा कारण यह है कि अन्य साहित्यिक पत्रों के सम्पादक विवश और असहाय हैं। वे जानते हैं कि उनके पत्र घाटे में चल रहे हैं और उनकी अपनी नगण्य सी तनख्वाह भी मालिक लोग देने में भार समझते हैं। वे साहस नहीं कर सकते कि किसी अच्छे कलाकार से अच्छा पारिश्रमिक देकर अच्छी कहानी लें। इन पत्रकारों की मनोवृत्ति प्रायः पूंजीवादी होती है, वे पत्रिका के लिये कहानी नहीं मांगते; कहानी का कापीराइट मांगते हैं। इस प्रकार लेखक को वे मज़दूर से भी बदतर समझते हैं। उन्हें महीनों बाद पारिश्रमिक मिलते हैं और कभी २ तो उन्हें सब्र करना पड़ता है।

आज कहानी-क्षेत्र में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। कहानी-पत्रिकाओं की ये सस्ती कहानियां सारहीन ही नहीं बहुधा कुरुचिपूर्ण भी होती हैं, कभी कभी तो बहुत ही गन्दी। यदि इन कहानियों और पत्रिकाओं को नष्ट न किया जायगा तो कहानी-साहित्य के प्रति एक गहरी उदासी अतिशीघ्र छा जायगी।

आज का भारत कल का दरिद्र और रुदन करने वाला, रूढ़ियों से जकड़ा हुआ, असहाय, राम-आसरे बैठा हुआ भारत नहीं है। वह अपनी तमाम बेड़ियों को तोड़कर बड़े से बड़े खतरे का सामना करने के लिए अपने मानवीय अधिकारों को बलपूर्वक छीन लेने को कटिबद्ध है। वह इसके लिए सर्वस्व त्यागने, सब कुछ करने को तुला बैठा है। उसने आज आत्मानुभूति ही नहीं प्राप्त की है, विश्व की सब सम्पदाओं के अधिपति

होने के अपने अधिकारों को भी जान लिया है। अब उसे ऐसे कलाकारों की आवश्यकता है जो उसमें परिपूर्ण मानवता, पौरुष और सौन्दर्यपूर्ण यौवन का आरोप करें। उसे अभय करें; उसे विज्ञान, कला और जीवन के सर्वोच्च जगमगाते आनन्दालोक में राह दिखाते ले जायं। यह कार्य एक कहानीकार सब से अधिक कर सकता है।

उल्लेखनीय कहानी-संग्रहों में प्रेमचन्द, सुदर्शन, कौशिक और प्रसाद के सिवा, पदुमलालपुन्नालालबख्शी का 'अंजलि', गोविन्दवल्लभ पन्त की 'एकादशी', जी०पी०श्रीवास्तव की 'गुदगुदी', उग्र की 'चाकलेट' और 'दोजख की आग' विनोदशंकर व्यास की 'तूलिका', भगवतीप्रसाद बाजपेयी का 'हिलोर', मोहनलाल महतो का 'रेखा', रायकृष्णदास की 'अनाख्या' जैनेन्द्रकुमार का 'वातायन', प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'आशीर्वाद', सियारामशरण की 'मानुषी' निराला की 'तितली', सद्गुरुशरण अवस्थी का 'फूटाशीशा', सुमित्रानन्दन पंत की 'पांच कहानियां' यशपाल की 'पिंजरे की उड़ान', उषादेवी मित्रा की 'सांध्य पूरवी', अज्ञेय की 'कोठरी की बात', उपेन्द्रनाथ अश्क का 'अंकुर', राहुल सांकृत्यायन की 'बोल्गा से गंगा' महत्त्वपूर्ण हैं।

अनूदित कहानियों में बंगला से बंकिम और रवीन्द्र की कहानियां, गुजराती से धूमकेतु की कहानियां, उर्दू से 'अफ़सानए अजायब' उल्लेखनीय हैं।

योरुपीय कलाकारों में टाल्स्टाय, तुर्गनेव, मोंपासा, हार्डी, चेकाव, ट्राट्स्की की कहानियां अधिक पसंद की गईं। कुछ अनुवाद जापानी कहानियों के भी हुए।

नाटक

नाटकों के महत्त्व में कमी—उपन्यासों और कहानियों के आगे विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में नाटकों का महत्त्व जैसे कम हो गया वैसे ही हिन्दी साहित्य में भी हुआ। परन्तु इतना होने पर भी नाटक-साहित्य में विकास हुआ। उसका बाहरी और भीतरी ढांचा जो बदला गया उस पर कुछ बंगला का और अधिकतर विदेशी साहित्य का प्रभाव पड़ा। स्वगत भाषण उठ गये, लम्बे भाषण खत्म हो गये; पात्र, वेश, प्रदर्शन आदि की विस्तृत व्याख्याएं समावेशित हो गईं। पद्य का बहुत अंश तक बहिष्कार हो गया, कहीं कहीं तो पद्य बिल्कुल ही न रहा।

नाटकों में नवीनता के प्रयोग—सब से प्रथम सेठ गोविन्ददास और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इन नवीनताओं का प्रयोग किया। वास्तव में इन कलाकारों पर सिनेमा की सिनेरियो-पद्धति का अधिक प्रभाव पड़ा। इस से प्रथम ही थियेट्रिकल कार्यक्रम के विस्तार से दो अवकाश देने के लिये तीन अंकों में नाटक समाप्त कर

देने की परिपाटी चल गई थी। अब अंग्रेज़ी पद्धति पर एकांकी नाटक भी लिखे जाने लगे यद्यपि एक अंक वाले अनेक उपरूपक भारतीय नाटक-साहित्य में भी पहले से विद्यमान थे। प्रसाद ने अपने 'स्कन्दगुप्त' आदि नाटकों में दृश्य शब्द का व्यवहार बन्द कर दिया। और स्थान तथा पट-परिवर्तन के स्थलों पर कोई नाम नहीं दिया। प्रसाद ने पहले-पहल 'विदूषक' के स्थान पर कथा से सम्बन्धित ही एक हंसोड़ प्रकृति के पात्र की स्थापना की। 'प्रसाद' और 'प्रेमी' दोनों ही ने अपने नाटकों में शील-वैचित्र्य और रसविधान का सामंजस्य किया। पुरानी परिपाटी यह थी कि निर्दिष्ट शील स्वभाव के पात्रों को भिन्न २ परिस्थितियों में डाल कर उनके प्रवचनों और चेष्टाओं द्वारा दर्शकों में रस-संचार कराया जाता था। योरुप में शीलवैचित्र्य का प्रचलन हुआ और नाटक में से काव्य-भावना को हटा दिया गया। प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमानुसार मृत्यु, वध और युद्ध दिखाना वर्जित था, पर प्रसाद ने इस परम्परा को नहीं माना। 'प्रसाद' और 'हरिकृष्ण प्रेमी' नाटक-क्षेत्र में ऐतिहासिक रस पर अग्रसर रहे। 'प्रसाद' ने प्राचीन हिन्दू काल चुना और प्रेमी ने मुस्लिम काल।

प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' 'मुद्राराक्षस' की अपेक्षा कुछ विचित्रता लिये रहा। मुद्राराक्षस में स्वगतों की भरमार, दृश्यों का व्यभिचार और भाषण की दुरूहता संस्कृत में साहित्यिक अध्ययन के लिए भले ही अच्छी हो, पर नाटक के लिए नहीं। मुद्राराक्षस का हिन्दी अनुवाद केवल पुरानी प्रतिष्ठा ही के विचार से प्रशंसित रहा, नाटकतत्त्व के लिये नहीं। प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' चाणक्य का कठपुतला नहीं रहा, नीतिप्रवर्तन अवश्य चाणक्य के हाथ में रहा। 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य का व्यक्तित्त्व नहीं प्रकट हुआ वहां उसकी प्रतिकार की प्रबल वासना उसके ब्राह्मणत्त्व की तेजस्विता, त्याग और प्रत्युत्पन्न प्रखर-बुद्धि के आधार पर अपना काम कर रही है। परन्तु 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य के प्रयत्न का लक्ष्य ऊंचा उठाया गया है। पर 'चन्द्रगुप्त' में जो दीर्घकालीन घटनाएं भरी हैं, उनसे वह एक जीवन-चरित्र सा हो गया है, जो नाटक में अस्वाभाविक सा है। घटनाओं की अत्यन्त सघनता परस्पर आबद्ध रहने के कारण पात्रों के चरित्र का विकास कम हुआ है।

सेठ गोविन्ददास वर्तमान राजनीति का अध्ययन कर नाटक-क्षेत्र में आए, उनके तीन नाटकों में से एक में राम और कृष्ण का, दूसरे में मध्यकालीन इतिहास और तीसरे में वर्तमान राजनैतिक परिस्थितियों का वर्णन है। 'कर्तव्य' में राम और कृष्ण की भूमिका में मर्यादा-पालन और मर्यादा-उल्लंघन का सामंजस्य प्रदर्शन किया है। 'हर्ष' में प्राचीन भारतीय संस्कृति, वेशभूषा और वस्तु-कला का प्रदर्शन है। 'प्रकाश' में राजनीतिक जीवन की क्रियमाण

झांकी है। गोविन्दवल्लभपन्त ने भी अच्छे नाटक लिखने में सफलता प्राप्त की है।

अन्य नाटक—सर्वश्री बदरीनाथ भट्ट, जी० पी० श्रीवास्तव ने साधारण पढ़े-लिखे लोगों के मनोरंजन के नाटक लिखे हैं, लक्ष्मीनारायण मिश्र ने स्त्रियों की सामाजिक समस्या हल करने और पाश्चात्य नाटक-साहित्य का याथातथ्य भाव दिखाने की चेष्टा की है। लक्ष्मीनारायण मिश्र जो नाटक का यह नया रूप योरुप से लाए हैं, उसमें काव्यावयव नहीं है, न उसमें चित्रमय और भावुकतापूर्ण भाषण लदे हैं। न गीतों और कविताओं की भरमार ही है, उनकी इस प्रणाली का प्रतीक 'मुक्ति का रहस्य' है।

'उग्र' ने अपने उपन्यास और कहानी के ढर्रे पर ही समाज का कुत्सित स्वरूप दिखाया है।

उदयशंकर भट्ट ने पौराणिक और ऐतिहासिक अच्छे नाटक लिखे हैं, उनका 'कमला' नाटक एक सफल सामाजिक नाटक है परन्तु उनकी कला का विकास पौराणिक नाटकों में हुआ है। उनके पौराणिक पात्र जीवन के विषम संघर्ष में आगे बढ़ते हैं और विषाद की एक गहरी छाया पीछे छोड़ जाते हैं। 'अम्बा' उनका ऐसा ही नाटक है, वह भीष्म द्वारा एक अज्ञात पुरुष से विवाह करने के लिये हरण की जाती है जब कि अम्बा एक तीसरे व्यक्ति को चाहती है। प्राचीन काल के इस स्त्री-पारतन्त्र्य को उदयशंकर भट्ट आज के स्त्री-स्वातन्त्र्य के वातावरण में सहन नहीं कर सके। उन्होंने भीष्म की महिमा की परवा नहीं की। वे अम्बा की जन्मान्तर-व्यापिनी प्रतिकार-वासना और स्त्री-पुरुष की विषम सत्ता को लेकर रोष और विषाद-वर्षा करते चले गए।

सुमित्रानन्दन पन्त ने 'ज्योत्स्ना' नाम का रूपक अंग्रेज-कवि 'शैली' के ढंग पर लिखा है। इसमें कवि की कल्पना विश्व को अतिक्रमण करके किसी स्वप्न-लोक के सुख-विलास में व्यस्त दीख पड़ती है।

एकांकी नाटकों में सुदर्शन का 'राजपूत की हार', रामकुमार वर्मा का 'दस मिनिट', भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक', अश्क का 'लक्ष्मी का स्वागत', भगवतीचरण वर्मा का 'सब से बड़ा आदमी', उदयशंकर भट्ट का 'दश हजार' उल्लेखनीय हैं।

पूर्ववर्णित जनों के इलावा कुछ कवियों और उपन्यासकारों ने भी नाटक लिखे पर इनमें उनका विकास नहीं हुआ। प्रेमचन्द, वियोगीहरि, माखनलाल चतुर्वेदी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' सुदर्शन आदि ऐसे नाटककार हैं।

रामचरित्र—रामचरित्र को लेकर पिछले काल में राम-लीलाविषयक लिखे गए कलाहीन प्रयासों के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता। इस काल में

भी वही बात रही। केवल सेठ गोविन्ददास ने १९३५ में 'कर्तव्य' पूर्वार्द्ध में श्रीराम के कर्तव्य की रूपरेखा स्पष्ट की।

कृष्णचरित्र—व्रजभूमि सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण नाटक इस काल में नहीं बना। द्वारकावासी कृष्ण के चरित्र को लेकर केवल एक कलात्मक रचना इस काल में मिलती है, वह है किशोरीदास वाजपेयी रचित 'सुदामा'

पौराणिक कथानकों के आधार पर जो नाटक लिखे गये उनमें प्रसाद का 'जन्मेजय नागयज्ञ' उदयशंकर भट्ट का 'अम्बा' और 'मत्स्यगन्धा' उत्तम है। इस परम्परा में महाभारत-कुल से सम्बन्धित नाटक काफ़ी लिखे गये, जिनमें बदरीनाथ भट्ट के 'कुरुवन-दहन' में नाट्यकला का अच्छा विलास लक्षित हुआ है। इनके सिवा माधव शुक्ल का 'महाभारत' और विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक का 'भीष्म' कला की दृष्टि से तथा कथावाचक पं० राधेश्याम के नाटक लोकप्रियता की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। मिश्रबन्धुओं के दो नाटक 'पूर्वभारत और 'उत्तरभारत' अपना अलग ही स्थान रखते हैं, उनमें खोज-सामग्री बहुत है।

सामाजिक नाटक—सामाजिक नाटकों का इस युग में दृष्टिकोण बदला। उसका व्यापक विस्तार हुआ। इस परम्परा पर भी सन १९२१ के आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। गोपाल दामोदर तामस्कर ने 'राधा-माधव' में कर्मयोग का उपदेश दिया, जो तिलक की गीता-व्याख्या की पद्धति पर था। रामनरेश त्रिपाठी का 'सुभद्रा', बलदेवप्रसाद खरे का 'प्रणवीर', प्रेमचन्द का 'प्रेम की वेदी', उपेन्द्रनाथ अश्क का 'स्वर्ग की झलक', गोविन्ददास सेठ का 'सेवापत्र', और बेचन शर्मा 'उग्र' का 'आवारा' उल्लेखनीय हैं।

गत युग की भांति इस युग में भी ऐतिहासिक नाटकों की काफ़ी रचना हुई। इन नाटकों में शैली में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता गया और इन में से शृंगार उड़ता गया तथा व्यापक दृष्टिकोण का विस्तार दीखने लगा। ऐतिहासिक वातावरण का भी ध्यान रखा जाने लगा। इससे ये ऐतिहासिक नाटक अधिक सजीव से दीखने लगे।

इस परम्परा के नाटकों में प्रसाद का 'विशाख' जिसमें काश्मीर की दूसरी शताब्दी की संस्कृति का अच्छा चित्र खींचा गया है अच्छा नाटक है। प्रसाद का दूसरा नाटक 'अजातशत्रु' भी ऐसा ही है, जिसमें बुद्ध के जीवन-काल की समाज-क्रान्ति का सजीव चित्रण है। उनका तीसरा नाटक 'स्कन्दगुप्त' जो सम्राट विक्रमादित्य की जीवन-घटनाओं के साथ उस युग की संस्कृति पर प्रकाश डालता है बहुत सुन्दर है। इनके सिवा कैलाशनाथ भटनागर का 'कुणाल' चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

का 'अशोक' सेठ गोविंददास की 'कुलीनता' और कैलाशनाथ भटनागर का 'श्रीवत्स' अच्छे नाटक हैं।

कुछ नाटक अंग्रेज़ी शासन-काल की कथावस्तु लेकर भी तैयार हुए, इनमें द्वारिकाप्रसाद चौबे का 'हैदरअली' अच्छा नाटक है।

मुस्लिम-कालीन घटनाओं के जो नाटक इस युग में लिखे गए उनमें वह ओज नहीं रहा। इस प्रकार के नाटकों में प्रेमी का 'रक्षाबंधन' तथा दुर्गाप्रसाद गुप्त की 'महामाया' और 'दुर्गावती' उल्लेखनीय हैं। शृंगार-रस-प्रधान नाटकों की परम्परा लुप्तप्राय ही रही। एक दो साधारण नाटक छपे।

सामयिक और राष्ट्रीय नाटकों में कला का विकास नहीं हुआ। इस परम्परा का उत्थान सन १९२१ के राष्ट्रीय आन्दोलन के समय हुआ। इस प्रकार के नाटकों में प्रेमचन्द का 'संग्राम' और वृन्दावनलाल वर्मा का 'धीरे-धीरे' उल्लेखनीय हैं। गोविन्ददास सेठ के 'विकास' में आधुनिक राजनैतिक समस्या पर प्रकाश डाला गया है।

व्यंगविनोदपूर्ण प्रहसनों में कोई नवीनता नहीं प्रकट हुई। हास्य-उत्पादन के लिए जिन अतिनाटकीय चरित्रों और घटनाओं का आश्रय लिया गया उसमें विशेष सफलता नहीं मिली। एक प्रहसन 'नूतन अंधेरनगरी' भारतेन्दु के 'अन्धेर नगरी' के अनुकरण पर लिखा गया। सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' खूब रहा पर पात्र अस्वाभाविक हो गए। इस धारा में लेखकों ने प्रतिभा का चमत्कार नहीं दिखाया।

स्फुट तथा एकांकी नाटकों में एक नूतन भाव प्रकट हुआ जो प्राचीन परम्परा के प्रभाव से रहित था।

'प्रतीकवादी' नाटकों की परंपरा ढीली रही, केवल दो नाटक छपे परन्तु दोनों कलापूर्ण रहे। एक प्रसाद का 'कामना' दूसरा पन्त का 'ज्योत्स्ना'। प्रथम में विलास-साधनों में उत्पन्न अशान्ति का रूप दिखाया गया है और दूसरे में मानव समाज के संघर्ष के मूल उत्पादक अवयवों पर प्रकाश डाला गया है।

कुछ नाटक अन्य भाषाओं से अनुवाद किए गये। स्वप्नवासवदत्ता, पंचरात्र, मध्यमव्यायोग, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, प्रतिमा, 'कुन्दमाला' (दिङ्नाग)। मृच्छकटिक (शूद्रक) मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, शकुन्तला (कालीदास) रत्नावली, नागानन्द (हर्ष) उत्तररामचरित, मालतीमाधव (भवभूति) मुद्राराक्षस (विशाखदत्त) वेणीसंहार (विशाखदत्त) कर्पूरमंजरी (यज्ञेश्वर) प्रबोधचन्द्रोदय (कृष्णमिश्र) पार्वतीपरिणय (बाणभट्ट) आदि।

बंगला—विद्यासुन्दर (यतीन्द्रमोहन ठाकुर) विधवाविवाह (ईश्वरचन्द्र-विद्यासागर) कृष्णकुमारी, पद्मावती, वीर नारी, कसौटी (माईकेलमधुसूदनदत्त) द्विजेन्द्रलालराय और रवीन्द्रनाथ के नाटक।

गुजराती—'प्रतिस्पर्द्धा' (शकुन्तला परांजपे)

योरुपियन —ऐंग्लो-इंडियन—शेक्सपियर, मोलियर, बर्नर्डशा, मिल्टन, एडीसन मेटरलिंक, इब्सन, टाल्स्टाय और गाल्सवर्दी के नाटक। शा, टाल्स्टाय और शेक्स-पियर अधिक प्रिय रहे।

निबन्ध-साहित्य—सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में तो खूब निबन्ध लिखे गये, परन्तु पुस्तकरूप में निबन्ध-संग्रह कम हुए। जो निबन्ध-संग्रह तैयार हुए, उनके हम तीन विभाग करते हैं। १. विशेष विषयों के निबन्ध २. विविध विषयों के निबन्ध ३. गद्य-गीति और विनोद-व्यंग।

विशेष विषयों के निबन्धों की केवल दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं, एक रेशम लिखित 'उन्नति' १६२२ में, और दूसरी अमीरअली मीर की 'मातृभाषा की महत्ता' १९३४ में।

विविध विषयों के निबन्ध-प्रन्थों में अनेक रचनाएं हुईं।

'समन्वय' (डा० भगवानदास) 'शृंखला की कड़ियां' (महादेवी वर्मा), त्रिवेणी (देवेन्द्रप्रसाद जैन), बुदबुदे (हरिभाऊ उपाध्याय), विप्लव (राधामोहन गोकुल जी), बिखरे फूल (राजकुमार रघुवीरसिंह), प्रबन्धपद्म (निराला), प्रबन्ध प्रतिमा (निराला) ऐसे निबन्ध-संग्रह हैं जिन में जीवन की विविध समस्याओं पर विचार किया गया है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के रसज्ञ-रञ्जन, साहित्य-सन्दर्भ, साहित्य-सीकर, और विचार-विमर्श में साहित्य-चर्चा है। विचार-वीथी, चिन्तामणि (रामचन्द्र शुक्ल) और विचारधारा (मोहनलाल महतो) में जीवन और साहित्य दोनों ही पक्ष हैं। परन्तु इन निबन्धों में खोज और अध्ययन की अपेक्षा कल्पना ही का अधिक आश्रय लिया गया है। अध्ययनपूर्ण निबन्ध-संग्रह केवल एक धीरेन्द्र वर्मा की 'विचारधारा' ही है।

गद्यगीति की परम्परा इसी युग की है। इस प्रकार की जो पुस्तकें सर्व-प्रथम प्रकाशित हुईं उनमें रायकृष्णदास की 'साधना' सन १९ में, हरिप्रसाद द्विवेदी वियोगीहरि की 'तरङ्गिणी' सन २० में; सन २६ में वियोगीहरि का 'अन्तर्नाद', २८ में 'पगली' और २६ में 'भावना' और 'प्रार्थना' का प्रकाशन हुआ। सद्गुरु-शरण अवस्थी का 'भ्रमित पथिक' २९ में, रायकृष्णदास का 'प्रवाल' और 'छाया-पथ' और दुर्गाशंकरप्रसादसिंह का 'ज्वालामुखी' भी इसी सन में छपे। सन ३२ में शान्तिप्रसाद वर्मा का 'चित्रपट' और इसी सन में लक्ष्मीनारायण सुधांशु का 'वियोग'

तथा सन ३३ में वियोगीहरि का 'ठण्डे छींटे' प्रकाशित हुए। देवशर्मा विद्यालंकार का 'तरंगित हृदय' सन ३६ में छपा तथा इसी सन में दिनेशनन्दिनी चोरड्या का 'शबनम' और सन ३७ में 'मौक्तिक माल' तथा ३९ में 'शारदीया' प्रकाशित हुए। सन ३९ ही में डा० रघुवीरसिंह की 'शेष स्मृतियां' तथा सियारामशरण का 'झूठ सच' छपे। सन ४० में गुलाबराय की 'मेरी असफलताएं' और सन ४१ में वियोगीहरि की 'मेरी हिमाक़त' छपे।

इन रचनाओं में रहस्यवाद और छायावाद के भावचित्रों का बीज अंकुरित हुआ। कहीं २ सामाजिक और राजनैतिक तथा धार्मिक प्रश्नों पर भी व्यंग किये गये। कुछ वर्णन देशप्रेम सम्बन्धी हैं।

विनोद व्यंग सम्बन्धी रचनाओं में सन २६ में 'दूबे जी की चिट्ठियां' विजयानन्द दूबे कृत और सन २८ में गुलाबराय का 'ठलुआक्लब' तथा इसी सन में कैलाशचन्द्र का 'विदूषक' प्रकाशित हुए। सन १६३५ में कान्तानाथ चोंच का 'टालमटोल' और ३९ में 'छड़ी बनाम सोंटा' तथा 'चूनाघाटी' सन ४२ में प्रकाशित हुए। सन ३६ में सरजूप्रसाद पण्डा कृत 'मि० तिवारी का टेलीफ़ोन' छपा तथा 'चार चण्डूल' सन ३८ में प्रकाशित हुआ।

निबन्ध (अनूदित)—

बंगला—'बंकिमनिबन्धावली' (बंकिमचंद्र) 'स्वदेश' 'समाज' (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)।

मराठी—निबन्धमालादर्श, (विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूणकर) 'सुभाषित और विनोद' (नरसिंह चिन्तामणि केलकर)।

गुजराती—'सप्त सरिता' (काका कालेलकर)।

योरुपियन, ऐंग्लो-इन्डियन—'विचार रत्नावली' (बेकन)।

वृत्तसंग्रह, इतिहास, चरित्र और देशदर्शन

इतिहास की प्रगति—वृत्तसंग्रह और इतिहास में काफ़ी महत्त्वपूर्ण कार्य इस युग में हुआ है। अनेक अन्य भाषाओं से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अनूदित हुए तथा अनेक मौलिक रचनाएं भी हुईं, विशेष कर इतिहास के क्षेत्र में सर्वश्री जयचन्द्र विद्यालंकार, सत्यकेतु विद्यालंकार, कालीदास कपूर, रायकृष्णदास और राजकुमार डा० रघुवीरसिंह की कृतियां उल्लेखनीय हैं। जयचन्द्र विद्यालंकार का 'भारत का भौगोलिक आधार' हिन्दी में इतिहास-लेखन की एक नई परिपाटी को उपस्थित करता है। रायकृष्णदास की 'भारतीय चित्रकला' और 'भारतीय मूर्तिकला' हिन्दी साहित्य में नई और महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

महामहोपाध्याय रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा मिश्रबन्धु प्राच्य इतिहास की दो विभिन्न धाराओं में असाधारण गवेषणा करते रहे हैं। ओझा

जी की 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' और मिश्रबन्धु का 'बुद्धपूर्व का भारत' बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। नए लेखकों में राहुल सांकृत्यायन का 'बृहत्तर भारत', प्राणनाथ विद्यालंकार का 'हरप्पा तथा मोहेनजोदड़ो तथा सिन्धु सभ्यता' भगवद्दत्त शास्त्री का 'भारतवर्ष का इतिहास' विशिष्ट रचनाएं हैं।

जीवन-चरित्र-लेखकों में सर्वश्री सम्पूर्णानन्द, बेनीप्रसाद, इन्द्र विद्यावाचस्पति तथा गंगाप्रसाद उपाध्याय उल्लेखनीय हैं।

अर्थशास्त्र पर शिवनन्दनसिंह का 'देशदर्शन', प्राणनाथ विद्यालंकार का 'भारतीय सम्पत्तिशास्त्र' हरिनारायण टंडन की 'भारतीय वाणिज्य की डाइरेक्टरी' तथा अमरनारायण अग्रवाल का 'ग्रामीण अर्थशास्त्र और सहकारिता' महत्त्वपूर्ण हैं।

सांस्कृतिक पुस्तकों में चन्द्रावती लखनपाल की 'स्त्रियों की स्थिति' तथा शासन सम्बन्धी रचनाओं में अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की 'भारतीय शासनपद्धति' अच्छे ग्रन्थ हैं।

जीवन-चरित्र—(अनूदित)

बंगला—'सिराजुद्दौला' (अक्षयकुमारमित्र)

गुजराती—'आत्म-कथा' (गांधी जी)

मराठी—'महादेव गोविन्द रानाडे' (श्रीमती रानाडे) 'लोकमान्य तिलक' (नरसिंह चिन्तामणि केलकर)

फ़ारसी—'बाबरनामा' (बाबर) खानखानानामा (अब्दुलबाक़ी) 'हुमायूनामा' (गुलबदन बेगम) 'जहांगीरनामा' (जहांगीर) 'औरंगजेबनामा' (मुहम्मद साक़ी मुस्तइद खां)।

योरुपियन, एङ्ग्लो-इण्डियन—'महात्मा सुकरात' (प्लेटो) 'आत्मोद्धार' (वाशिंगटन) 'माई लाइफ़' (ट्राट्स्की) 'मेरी कहानी' (जवाहरलाल नेहरू), 'शिवाजी' (यदुनाथ सरकार) 'शिवाजी' 'अशोक' (ला० लाजपतराय) मेरा जीवन-संग्राम' (हरहिटलर)।

विदेशदर्शन सम्बन्धी लेखकों में राहुल सांकृत्यायन अपना समकक्ष दूसरा लेखक नहीं रखते। उनका 'जापान' 'सोवियट भूमि' 'ईरान' और 'तिब्बत में सवा वर्ष' उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' और सम्पूर्णानन्द का 'अन्तर्राष्ट्रीय विधान' महत्त्वपूर्ण हैं।

सर्वश्री सम्पूर्णानन्द, राहुल सांकृत्यायन और जयचन्द्र विद्यालंकार ये तीन ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने भिन्न २ धाराओं में विश्व-जीवन का अध्ययन किया है। सम्पूर्णानन्द की विवेचना, राहुल का पर्यटन और जयचन्द्र की गवेषणा महत्त्वपूर्ण हैं।

देशदर्शन—इस परम्परा में भारतीय स्थानों से सम्बन्धित जो रचनाएं हुईं उनमें राहुल की 'लंका' और शिवनन्दनसहाय का 'कैलाशदर्शन' अच्छी थीं।

अर्थशास्त्र पर राधाकृष्ण झा की 'भारत की साम्पत्तिक अवस्था' और प्राणनाथ विद्यालंकार का 'भारतीय सम्पत्तिशास्त्र' महत्त्वपूर्ण हैं। पुरुषोत्तमदास ठाकुरदासकृत 'भारत की आर्थिक उन्नति की योजना' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छपा।

व्यापार सम्बन्धी साहित्य में 'भारतीय व्यापारियों का परिचय' काम की पुस्तक थी।

स्त्रियों से सम्बन्धित साहित्य में चन्द्रावती लखनपाल की 'स्त्रियों की स्थिति' अच्छी पुस्तक थी।

भारतीय शासन सम्बन्धी रचनाएं अधिक प्रकाशित हुईं, 'भारतीय शासन व्यवस्था' (श्रीकान्त ठाकुर) 'भारतीय राजस्व' (भगवानदास केला) उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

विदेश सम्बन्धी साहित्य में राहुल का 'जापान' और देवीप्रसाद पीतम का 'अमेरिकन संयुक्त राज्यव्यवस्था, उल्लेखनीय हैं। गत महायुद्ध के बाद जर्मनी और रूस की ओर जनता का ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ। इस प्रभाव से जो साहित्य निर्माण हुआ उसमें प्राणनाथ विद्यालंकार का 'रूस का पंचवर्षीय आन्दोलन' और राहुल की 'सोवियट भूमि, महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रकाशित हुईं। राहुल ने एक अच्छी पुस्तक 'मेरी योरुपयात्रा' भी लिखी। रामनारायण मिश्र ने विदेशों पर छोटी २ पुस्तकों का एक अच्छा सेट तैयार किया।

विश्वदर्शन सम्बन्धी साहित्य में शिवप्रसाद गुप्त का 'पृथ्वीप्रदक्षिणा' उल्लेखनीय रहा। एक काम की पुस्तक 'मातृभूमि अब्दकोष' इंडियन इयर बुक के ढंग पर रघुनाथ विनायक धुलेकर ने सम्पादित की।

ग्राम सम्बन्धी अर्थशास्त्र पर कुछ पुस्तकें छपीं। और कुछ पुस्तकें भारतीय संस्कृति पर भी छपीं। कुछ विश्वकोष, कुछ आर्थिक और वैधानिक वाद-प्रवाद सम्बन्धी रचनाएं तथा कुछ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था से सम्बन्धित पुस्तकें छपीं।

देशदर्शन (अनूदित)—

संस्कृत—अर्थशास्त्र (कौटिल्य)।

बंगला—'वैधव्य कठोर दण्ड है या शान्ति'? (रवीन्द्रनाथ टैगोर)।

गुजराती—'हिन्द स्वराज्य' 'राष्ट्रवाणी' (गांधी जी)।

मराठी—'देश की बात' (सखाराम गणेश देउस्कर)।

उर्दू—'अरब और भारत के सम्बन्ध' (सुलेमान नदवी) 'मध्यकालीन भारत की सामाजिक और आर्थिक अवस्था' (यूसुफ़अली)।

फ़ारसी—आईन-ए-अकबरी (अब्बुल फ़ज़ल)।

चीनी—'तिब्बत में तीन वर्ष' (कावा गुची इकाई)।

योरुपियन, एंग्लो-इण्डियन—'हमारे ज़माने की गुलामी' (टाल्स्टाय), 'नवीन भारत' (सर हेनरी काटन), 'तरुण भारत' (लाजपतराय), 'राष्ट्रीय संदेश' (स्वामी रामतीर्थ), 'नेहरू रिपोर्ट' (मोतीलाल नेहरू)।

वृत्त-संग्रहों में 'सिख गुरुओं की जीवनी' (शिवनन्दनसहाय), 'देश पूजा में आत्म-बलिदान' (भाई परमानन्द), 'महापुरुषों की प्रेम-कहानियां' (गिरीशचन्द्र त्रिपाठी), उल्लेखनीय थे। एक जीवनी-कोष 'हिन्दी चरिताम्बुधि' पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी का छपा।

भारतीय इतिहास सम्बन्धी पुस्तकों में 'भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार' (जयचन्द्र विद्यालंकार) 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' (जय० विद्या०) 'भारत के इतिहास पर स्फुट विचार, (कालीदास कपूर) 'भारतीय चित्रकला' (N. C. महता) उल्लेखनीय थे।

हिन्दू युग के इतिहास सम्बन्धी साहित्य में मिश्रबन्धुओं का 'भारतवर्ष का इतिहास' और गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का 'अशोक की धर्म-लिपियां' महत्त्वपूर्ण थे। 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' (गौरीशंकर हीराचन्द ओझा) 'पूर्व-मध्यकालीन भारत' (राजकुमार रघुवीरसिंह) 'पुरातत्त्व निबन्धावलि' (राहुल सांकृत्यायन) तथा 'अजेण्टा के कला-मण्डप' (आर० एस० रावल) उल्लेखनीय रचनाएं थीं।

मुस्लिम-कालीन भारतीय सभ्यता पर इन्द्र विद्यावाचस्पति का 'मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' अच्छा था।

अंग्रेज़ी राज्यकाल सम्बन्धी इतिहास-ग्रन्थों में सूरजमल जैन का 'मराठे और अंग्रेज़' गंगाधर मिश्र का 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य' उल्लेखनीय थे। स्वतन्त्रता के आन्दोलन से प्रभावित ग्रन्थों में मन्मथनाथ गुप्त का 'भारत में सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास' अच्छा है।

राजवंशों के भी इतिहास छपे। इनमें विश्वेश्वरनाथ रेऊ का 'भारत के प्राचीन राजवंश' और गोपाल दामोदर तामस्कर का 'मराठों का उत्थान और पतन' उत्तम थे।

जातीय और धार्मिक इतिहासों में पूर्णचन्द्र नाहर का 'जैन-लेख-संग्रह' और हीरालाल जैन की 'जैन इतिहास की पूर्वपीठिका' उल्लेखनीय थे।

स्थानीय इतिहासों में 'सिन्ध का इतिहास' (देवीप्रसाद मुंसिफ़) 'राजपूताना का इतिहास' (गौरीशंकर हीराचन्द ओझा) 'मध्यप्रदेश का इतिहास' (हीरालाल रायबहादुर) और 'मारवाड़ का इतिहास' (विश्वेश्वरनाथ रेऊ) उत्तम रहे ।

विदेशी इतिहासों की रचना पर कांग्रेस के आन्दोलन का बहुत प्रभाव पड़ा । 'चीन का इतिहास' (कृष्णबिहारी मिश्र) 'इंगलैण्ड का इतिहास' (प्राणनाथ विद्यालंकार) उल्लेखनीय रहे । रचनाओं पर राजनीतिक आन्दोलन का प्रभाव पड़ा उनमें सम्पूर्णानन्द की 'चीन की राज्यक्रान्ति' उल्लेखनीय हैं । अनेक देशों से सम्बन्धित रचनाओं में लक्ष्मणनारायण गर्दे का 'एशिया का जागरण' महत्त्वपूर्ण है । शासन-विकास के इतिहास कम लिखे गये । ऐसी रचनाओं में रामप्रसाद त्रिपाठी का 'भारतीय शासन-विकास' उल्लेखनीय है, जिसमें सन १६७० से १९३६ तक के शासन के विकास का विवरण है । डा० राजेन्द्रप्रसाद का 'खण्डित भारत' भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है ।

जीवन-चरित्र—आत्म-चरित्रों में भाई परमानन्द की 'आप बीती' उल्लेखनीय थी । आधुनिक संत-चरित्रों में सत्यदेव स्वामी का 'श्रद्धानन्द' और राजनैतिक चरित्रों में राजेन्द्रप्रसाद का 'चम्पारण में महात्मा गान्धी' महत्त्वपूर्ण हैं । ऐतिहासिक चरित्रों में जगमोहन वर्मा का 'बुद्धदेव' सम्पूर्णानन्द का 'सम्राट् हर्षवर्धन' तामस्कर का 'शिवाजी की योग्यता' तथा हरविलास शारदा का 'महाराणा सांगा' उत्तम रचनाएं हुईं ।

विदेशी चरित्रों की भी काफ़ी रचनाएं हुईं ।

इतिहास (अनूदित) अंग्रेज़ी--राजस्थान (टाड) सिख इतिहास (कनिंघम) कठिनाई में विद्याभ्यास (क्रीनलार्ड) नरमेध (मॉटेल) प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास (रमेशचन्द्रदत्त) 'वेदकाल-निर्णय' (बालगंगाधर तिलक) बृटिश भारत का आर्थिक इतिहास (रमेशचन्द्रदत्त) मराठों का उत्कर्ष (महादेव-गोविन्द रानाडे) हिन्दू भारत का उत्कर्ष, हिन्दू भारत का अन्त, (चिन्तामणि विनायक वैद्य) हिन्दू राज्यतन्त्र, अन्धकारयुगीन भारत (जयसवाल-काशीप्रसाद) विश्व इतिहास की झलक (जवाहरलाल नेहरू) समाजशास्त्र **संस्कृत प्राकृत**--कामन्दकी-नीति-सार, तर्कसंग्रह, **बंगला**—राजा और प्रजा, **गुजराती**—लोक-जीवन गांधीवाद समाजवाद, सोने की माया, **(योरुपियन-एंग्लो-इण्डियन)** स्वाधीनता (मिल) मितव्ययिता, स्वावलम्बन (स्माइल्स) समाजवाद-पूँजीवाद (बर्नर्डशा) उन्नति का मार्ग (ऐलेन जेम्स) नवयुवकों से दो दो बातें (क्रोपाटकिनप्रिन्स)

साहित्यशास्त्र—साहित्यशास्त्र सम्बन्धी रचनाएं कम हुईं । छन्द, अलंकार और ध्वनि पर साधारण रचनाएं हुईं । रसशास्त्र पर हरिऔध जी का 'रसकलश'

मौलिक रूप में लिखा गया। नाट्यशास्त्र की रचनाएं दो धाराओं में विभाजित हुईं, एक पुरानी दूसरी नई। नई धारा पर गोविन्ददास सेठ ने एक छोटी सी पुस्तक 'नाट्यकला-मीमांसा' कुछ नए दृष्टिकोण से लिखी। कहानी-कला पर भी कुछ पुस्तकें लिखी गईं और कुछ पुस्तकें साहित्यिक समस्याओं पर। साहित्यिक वाद-विवाद पर रामचन्द्रशुक्ल की 'काव्य में रहस्यवाद' अच्छी पुस्तक छपी। 'समालोचना' उल्लेखनीय ग्रन्थ छपा। लेखन और पत्रकार-कला पर भी अच्छी पुस्तकें लिखी गईं।

ललित कलाओं में संगीत पर पं० विष्णुदिगम्बर पलुस्कर, भातखण्डे तथा शिवगढ़ के राजा बरखण्डीमहेशप्रतापनारायणसिंह के प्रयत्न स्तुत्य रहे। भातखण्डे ने संगीत की शुद्धता पर, पलुस्कर ने विषयों की पवित्रता पर और राजा शिवगढ़ ने संगीत और साहित्य की एकता पर विशेष यत्न किए। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'प्राचीन भारत का कला-विकास' भी अच्छा ग्रन्थ लिखा। रायकृष्णदास ने 'मूर्तिकला' लिखी।

चित्र-लेखन पर केवल एक पुस्तक 'चित्रलेखन' एच० पी० माहोविया की छपी। व्यंगचित्रों का प्रचलन इसी काल में हुआ। नवीन विषयों में वक्तृता तथा 'चित्रपट' कलाओं से सम्बन्धित कुछ पुस्तकें छपीं।

हंसकुमार तिवारी की एक स्वतन्त्र पुस्तक 'कला' कला-विवेचन पर लिखी गई।

उपयोगी कला सम्बन्धी रचनाओं में जीवन के लक्षण प्रकट हुए। इसका कारण सन २१ का आन्दोलन तथा सन ३७ में प्रान्तीय शासन-ग्रहण था। दोनों ही बातों का प्रभाव उपयोगी कला सम्बन्धी साहित्य पर पड़ा। प्रथम अवसर पर स्वदेशी आन्दोलन और ग्रामोद्योग की वस्तुओं के व्यवहार का साधारण प्रचार हुआ। दूसरे अवसर पर उन्हें प्रांतीय सरकारों से प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार के साहित्य में कृषि और उससे सम्बन्धित विषयों पर ही अधिक पुस्तकें लिखी गईं। कुछ रचनाएं वस्त्रशिल्प, ग्रामोद्योग और स्फुटशिल्प सम्बन्धी भी हुईं। व्यापार-कला, वास्तु-शिल्प तथा स्काउट-कला पर भी रचनाएं हुईं। एकाध रचना युद्ध-कला पर भी हुई।

साहित्य-शास्त्र (अनूदित)—संस्कृत-प्राकृत—श्रुतबोध (कालीदास) अलंकार (वाग्भट) चन्द्रालोक (जयदेव) रसगंगाधर (जगन्नाथ पण्डितराज) बंगला—साहित्य (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) साहित्य मीमांसा (पूर्णचन्द्र वसु)।

गुजराती—जीवन साहित्य, कला—एक जीवन दर्शन। (काका कालेलकर)।

समालोचना (अनूदित)—बंगला—तुलसी रामायण की भूमिका (सतीशचन्द्रदास गुप्त) विवेकानन्द ग्रन्थावली। मराठी—[illegible]। (यादवशंकर जामदार)।

योरुपियन, एंग्लो-इण्डियन—टाल्स्टाय की डायरी, शेक्सपियर के मनोहर नाटक (लेम्ब)।

हिन्दी आन्दोलन—हिन्दी उर्दू की प्राचीन समस्या ने इस युग में एक जटिल रूप धारण कर लिया। और उसका एक रूप हिन्दी हिन्दुस्तानी की समस्या हो गया। इस कारण इस युग में इस विषय पर काफ़ी साहित्य लिखा गया। सर्वश्री काका कालेलकर, वेंकटेशनारायण तिवारी, चन्द्रबली पाण्डेय ने इस दिशा में अधिक कार्य किया।

भाषा-विज्ञान पर दो उत्तम पुस्तकें डा० श्यामसुन्दरदास ने 'भाषा-विज्ञान' और 'भाषा-रहस्य' लिखीं। हिन्दी-लेखन-पद्धति पर एक पुस्तक रामचन्द्र वर्मा ने 'अच्छी हिन्दी' लिखी, व्याकरण पर साधारण रचनाएं हुईं। लिपि-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं में पं० गौरीशंकर भट्ट का प्रयत्न नवीन रहा। नगेन्द्रनाथ वसु का 'भारतीय लिपि तत्त्व' उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

हिन्दी भाषा के इतिहास-ग्रन्थों में डा० धीरेन्द्र वर्मा का 'हिन्दी भाषा और लिपि' उल्लेखनीय है।

कोष-ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-शब्द-सागर' प्रकाशित हुआ। विविध विषयों के अन्य कोष भी प्रकाशित हुए।

भाषादर्शन (अनूदित)—

संस्कृत-प्राकृत—निरुक्त (यास्क) शिक्षा (याज्ञवल्क्य) अष्टाध्यायी (पाणिनि) अमरकोष (अमरसिंह) लघुसिद्धान्तकौमुदी (वरदराज) सिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजी दीक्षित)

योरुपियन, एंग्लो-इण्डियन—प्राकृतप्रवेशिका (वुल्नर)।

ललित कला—

अंग्रेजी—भारतीय शिल्पकला का उद्देश्य (आनन्दकुमार स्वामी)

उपयोगी कला—

संस्कृत-प्राकृत—धनुर्वेद संहिता (वशिष्ठ)

बंगला—कृषिदर्पण (हेमचन्द्रमित्र)

मराठी—गोरस और गोधन (सखाराम गणेश देउस्कर)

योरुपियन, एंग्लो-इंडियन—खद्दर का सम्पत्तिशास्त्र (ग्रेगरिचर्ड) हाथ की कताई बुनाई (पुन्ताम्बेकर)

साहित्य का इतिहास—

(बंगला) कालीदास और भवभूति, (द्विजेन्द्रलालराय) प्राचीन-साहित्य (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

विभाषा साहित्य का अध्ययन—

संस्कृत-प्राकृत—प्रबन्ध चिन्तामणि (मेरुतुङ्ग)
मराठी—गीतारहस्य (बालगंगाधरतिलक) महाभारतमीमांसा (चिन्तामणि-विनायक वैद्य)

विज्ञान और स्वस्थवृत्त

विज्ञान की कठिन समस्या—साहित्य के अन्य अङ्गों की अपेक्षा विज्ञान-साहित्य लिखना अधिक कठिन है। उन्हें अपनी अभिव्यक्ति में उतनी स्वतन्त्रता नहीं जितनी साहित्य के अन्य रूपों की अभिव्यंजना में है। उनका काम तथ्य वर्णन करना है कल्पना की उड़ान उड़ना नहीं। उनके लिये सब से कठिन समस्या है—वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों की।

इस सम्बन्ध में हिन्दी के वैज्ञानिक विद्वानों के दो मत हैं, एक कहता है कि विज्ञान के पारिभाषिक शब्द शुद्ध संस्कृत धातुओं और शब्दों से घड़ कर बनाए जायं, डा० सत्यप्रकाश इसी मत के समर्थक हैं। परन्तु दूसरा मत यह है कि विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों को ज्यों का त्यों हिन्दी में ग्रहण कर लिया जाय, डा० निहालकरण सेठी इस मत के समर्थक हैं। डा० हीरालाल खन्ना भी यही चाहते हैं। इन विद्वानों का कहना है कि अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी में ग्रहण कर लेने से हिन्दी में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की स्थापना होगी। अपने भाषण में श्री हीरालाल खन्ना ने झांसी के साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर विज्ञान परिषद् के सभापति-पद से भाषण देते हुए कहा था—

"......वे किसी भाषा के शब्द नहीं, इन पर किसी भी जाति का कोई अधिकार नहीं है। इंग्लेण्ड, फ्रान्स, जर्मनी, अमेरिका और जापान में इन्हीं शब्दों का प्रयोग होता है। ये विज्ञान के पारिभाषिक शब्द अन्तर्जातीय हैं। इनके प्रयोग से किसी भाषा का अपमान नहीं समझा जाता। विद्वानों का जो कुछ निर्णय हो वह हम सब को मान्य होना चाहिए। इस सम्बन्ध में उनके सम्मुख मैं दो बातें रखना चाहता हूं। वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण राष्ट्रीय दृष्टि से होना चाहिए। विविध प्रान्तों और भिन्न २ संस्थाओं की सहकारिता के बिना राष्ट्रीय विज्ञान का आदर्श स्थापित और पूर्ण होना कठिन है। संसार के सब देशों में सहकारिता से ही ज्ञान की वृद्धि हुई है और हमारे देश में भी इसके बिना काम न चलेगा। वैज्ञानिक भाषा का मुख्य भाग पारिभाषिक शब्दों का ही होता है। अतएव राष्ट्रीय दृष्टि से यह परमावश्यक है कि प्रान्तीय भाषाओं के वैज्ञानिक शब्द एक से हों। पारिभाषिक शब्दों की एकता के कारण समस्त देशी

भाषाओं में वैज्ञानिक पुस्तकों का समझना और अनुवाद करना बड़ा सरल हो जायगा। अभी तक किसी भी भारतीय भाषा का वैज्ञानिक साहित्य प्रौढ़ता को प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिये ऐसी अवस्था में पारिभाषिक शब्दों को एक-सा बनाने का प्रयत्न करना उचित ही प्रतीत होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि डा० हीरालाल के विचार सारगर्भित हैं और हमें विज्ञान में भाषा की अन्तर्राष्ट्रीयता बनाने के लिए कम से कम पारिभाषिक शब्दों को ज्यों का त्यों अपना लेना चाहिए। यदि हम हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों में इस बात का ध्यान न रखकर थर्मामीटर के लिये 'तापमापक यन्त्र' और रेलगाड़ी को 'धूम्रयान' कहेंगे तो विद्यार्थियों और अध्यापकों में भारी अव्यवस्था दीखने लगेगी।

विज्ञान का काम हिन्दी में बहुत धीमी गति से हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान-प्रसार के काम में बड़ी २ बाधाएं हैं। सामान्य जनता को इसमें कोई आकर्षण नहीं, न देश के सामान्य जीवन में इसका उस प्रकार का उपयोग है जैसा कि अन्य वर्गों के साहित्य का है। फिर वैज्ञानिक प्रयोगों के लिये नित नए यन्त्रों और द्रव्यों की आवश्यकता होती है जो क़ीमती होते हैं। विज्ञाननिर्देशक भी सर्वत्र सुलभ नहीं।

हिन्दी के विज्ञान-साहित्य-लेखक—हिन्दी के विज्ञान-साहित्य के लेखकों में सब से प्रथम हम रामदास गौड़ का नाम ले सकते हैं। आज जितने भी विज्ञान के हिन्दी लेखक हैं उन सबके पथ-प्रदर्शक रामदास गौड़ हैं। विज्ञान और साहित्य की सम्मिलित प्रतिभा रामदास गौड़ को छोड़ हम अन्य किसी विद्वान् में नहीं पाते। रामदास गौड़ ने विज्ञान-प्रचार के लिये साहित्यिक शैली का सहारा लिया था। यह शैली हम किसी दूसरी भाषा के विज्ञान-लेखक में नहीं पाते। उन्होंने भाषा ही को काव्यरस-परिपूर्ण नहीं किया विषय को सरस, आकर्षक और सुबोध बनाने में अद्‌भुत कौशल का परिचय दिया है। यह उनके भाषा-सौष्ठव का ही चमत्कार है कि वे बड़े २ वैज्ञानिक तथ्यों को, भाषा की चिक्कणता और सरलता के साथ पाठक को हृदयंगम करा सके हैं। उन्होंने विज्ञान सम्बन्धी सैकड़ों लेख लिखे और प्रारंभ में 'विज्ञान' पत्र का सम्पादन ही नहीं किया उसे जन्म भी दिया।

स्कूलों में विज्ञान—स्कूलों में हिन्दी का माध्यम हो जाने पर भी हिन्दी में वैज्ञानिक पुस्तकों की रचना नहीं हुई। वास्तव में जब तक विश्वविद्यालयों में हिन्दी का माध्यम नहीं होता तब तक मौलिक वैज्ञानिक ग्रन्थों का तैयार होना दुस्तर है। स्कूलों में हिन्दी का माध्यम होने पर भी वहां विज्ञान अंग्रेज़ी ही में पढ़ाया जाता है।

विज्ञान की पुस्तकें—सम्भवतः सब से प्रथम विज्ञान की हिन्दी पुस्तक १८६० में 'सरलविज्ञानविटप' नाम से प्रकाशित हुई थी । फिर काशी के पं० मथुराप्रसाद ने विज्ञान की कई छोटी २ पुस्तकें लिखीं । मुं० नवलकिशोर ने भी १८८३ में रसायन का एक ग्रंथ छापा था । लक्ष्मीशंकर मिश्र का 'त्रिकोणमिति' ग्रन्थ भी काफ़ी पुराना है । बापूदेव शास्त्री का 'बीजगणित', सुधाकर द्विवेदी के 'चलनकलन' और 'चलराशिकलन' का आज भी आदर है । मनोरंजन पुस्तकमाला ने 'ज्योतिर्विनोद' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी । एक पुरानी पुस्तक 'सूर्यकिरणमीमांसा' देखने में आई है ।

प्रो० महेशचरणसिंह—प्रो० महेशचरणसिंह एक ख्यातनामा विज्ञान-शास्त्री थे । आपने गुरुकुल कांगड़ी से विज्ञान की कई पुस्तकें लिखीं । अमेरिका में आपने अपने विज्ञान की प्रतिभा दिखा कर काफ़ी ख्याति प्राप्त की । वहां से आपने दस सनदें प्राप्त की थीं । राजा महेन्द्रप्रताप ने 'प्रेम महाविद्यालय' की स्थापना आप ही के परामर्श से की थी । आपने गुरुकुल कांगड़ी में लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द और बेरिस्टर रोशनलाल के परामर्श से विज्ञान का विभाग स्थापित किया था । पीछे आपने लकड़ मण्डी अयोध्या में उद्योग-गुरुकुल खोला जहां साबुन, घड़ी, चाकू, हालोग्राउन्ड उस्तरे, स्याही, बटन, तेल, खत, छापने के डुप्लीकेटर, तेल, मंजन, ग्लाइको, थाइमोलीन आदि बनाना सिखाते थे । आपने सर्वप्रथम विज्ञान की परिपूर्ण पुस्तक 'हिन्दी कैमिस्ट्री' लिखी । बाद में 'विद्युत-शास्त्र, 'वनस्पतिशास्त्र, 'वनस्पतिक्रिया, विज्ञान आदि पुस्तकें लिखीं । आप में लिखने और बोलने की अपरिमित शक्ति थी । आपने विविध विषयों पर और भी अनेक ग्रन्थ लिखे । काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने भी एक 'विज्ञानकोष' निर्माण कराया । प्रयाग की विज्ञान-परिषद् ने भी भौतिक और रसायन दोनों विभागों में विज्ञान की पुस्तकें रचीं ।

डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश विज्ञान की अच्छी सेवा कर रहे हैं । डा० गोरखप्रसाद की 'फ़ोटोग्राफ़ी' उत्कृष्ट पुस्तक है । 'बृजेश बहादुर का 'जन्तुजगत्', देवदत्त अरोड़ा का चर्म सम्बन्धी ग्रन्थ, रामरक्षपाल सोंधी का 'शक्कर' अच्छे ग्रन्थ छपे तथा कृषि, कल, कारखानों का साहित्य अब काफ़ी संख्या में छप रहा है ।

सर्वश्री गोपालदामोदरतामस्कर, महावीरप्रसादश्रीवास्तव, बाबू शालिग्राम भार्गव, व्रजराज, डा० निहालकरण सेठी, गंगाप्रसाद, जयदेव शर्मा विद्यालंकार, कविराज प्रतापसिंह, जगपति चतुर्वेदी, मनोहरलाल भार्गव, कृष्णगोपाल माथुर और राजनारायण भटनागर ने विज्ञान में बहुत कुछ साहित्य-सृजन किया है ।

लज्जाशंकर झा, चन्द्रमौलिसुकुल, मुकुटबिहारीलाल, हरनारायण, बाथम, सम्पूर्णानन्द, शेषनाग त्रिपाठी, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, बाबूराम अवस्थी, चिरंजीलाल, तेजशंकर कोचरक, गोमतीप्रसाद अग्निहोत्री और राधामोहन गोकुलजी ने भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। डा० हीरालाल खन्ना प्रो० रामदास गौड़ की शैली पर लिख रहे हैं।

विज्ञान—विज्ञान-साहित्य में भौतिक विज्ञान पर ४ और गणित पर ४ ग्रन्थ छपे। ज्योतिष पर अधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएं हुईं जिनमें डा० गोरखप्रसाद का 'सौरपरिवार' और गिरिजाप्रसाद शर्मा का 'विमान' जो कि हवाई जहाज तथा वायु-विज्ञान पर है, उल्लेखनीय हैं। डा० गोरखप्रसाद की 'चन्द्रसारणी' भी महत्त्वपूर्ण है।

रसायन और वनस्पति-शास्त्र पर भी अनेक रचनाएं हुईं जिनमें 'बनस्पति शास्त्र' (महेशचरण सिन्हा) महत्त्वपूर्ण है। जीव-इतिहास में डा० सत्यप्रकाश की 'सृष्टि की कथा' और शचीन्द्रनाथ सान्याल का 'वंशानुक्रम-विज्ञान' उल्लेखनीय हैं। रामदास गौड़ का 'विज्ञान-हस्तामलक' भी ऐसा ही ग्रन्थ है।

विज्ञान (अनूदित)—संस्कृत-प्राकृत—सूर्य-सिद्धान्त (लीलावती)। मकरन्द-सारिणी, मुहूर्तचिन्तामणि, ताजिकनीलकण्ठी,

(बंगला) विश्वपरिचय, (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

(योरुपीय और एंग्लो-इण्डियन) विश्व प्रपंच, प्रकृति की नीति,

स्वस्थवृत्त—स्वस्थवृत्त पर आयुर्वैदिक और ऐलोपैथिक अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनमें डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा की 'हमारे शरीर की रचना' और 'स्वास्थ्य और रोग', होमियोपैथिक पुस्तकों में 'पारिवारिक चिकित्सा' (महेन्द्रनाथ भट्टाचार्य) का काफ़ी स्वागत हुआ। प्राकृत चिकित्सा पर भी रचनाएं हुईं जिनमें 'दुग्ध और दुग्ध की वस्तुएं, (ठाकुरदत्त शर्मा) तथा जगन्नाथप्रसाद शुक्ल का 'आहार-शास्त्र' उल्लेखनीय है। चिकित्सा सम्बन्धी वैज्ञानिक शिक्षा की संस्थाओं में हिन्दी का माध्यम न होने से अधिकारपूर्ण और वैज्ञानिक अन्वेषण सहित बहुत कम ग्रन्थ तैयार हुए। कुछ रचनाएं खेल और व्यायाम सम्बन्धी भी हुईं।

शरीर रक्षा (अनूदित)—

संस्कृत-प्राकृत—चरक, सुश्रुत, वागभट, माधवनिदान, धन्वन्तरि निघण्टु, बंगसेन, शार्ङ्गधर, भावप्रकाश, वैद्यजीवन, कामसूत्र (वात्स्यायन)।

योरुपियन, एंग्लो-इण्डियन—वेदनाविहीन प्रसव (ब्वाइड) आरोग्यता प्राप्त करने की नवीन विद्या—(लुईकूने) होम्योपैथिक मेटीरिया मेडिका (केण्ट)।

अनूदित—

संस्कृत-प्राकृत—चारों वेद, ११ उपनिषद्, अष्टादश पुराण, गृह्यसूत्र, स्मृति और दर्शन, महाभारत, रामायण (वाल्मीकि) गीता तथा अन्य सम्प्रदाय-ग्रन्थ।

बंगला—वेदान्त संग्रह (राममोहनराय) धर्मतत्त्व (बंकिमचन्द्र)।

गुजराती—गान्धी जी के ग्रन्थ।

मराठी—ज्ञानेश्वरी (गीता टीका), दासबोध (रामदास)।

तामिल—तामिलवेद (तिरुवल्लुवर)।

अरबी—अलकुरान।

फ़ारसी—गुलिस्ताँ (शेख़सादी)।

योरुपियन, एंग्लो-इण्डियन—सर्वोदय (रस्किन) नीत्योपदेश (ब्लैकी) स्त्री और पुरुष (टाल्स्टाय) गुप्तनाद (बीसेन्ट) धर्म और जातीयता (अरविन्द घोष) पिता के पत्र पुत्री के नाम (जवाहरलाल नेहरू)।

अध्याय सातवां

पद्य-भूमि

रामचरित सम्बन्धी साहित्य—इन रचनाओं में राधेश्याम की 'रामायण' अर्द्धशिक्षित समाज में अति लोकप्रिय हुई। रामचरित उपाध्याय की 'रामचरित-चिन्तामणि' में रामभक्ति का दृष्टिकोण नहीं राजनीति का दृष्टिकोण लिया गया और आधुनिक भावनाओं को स्पर्श किया गया। परन्तु इस युग में रामचरित पर सर्वश्रेष्ठ रचना मैथिलीशरण गुप्त ने की है। इस विषय का उनका सर्वश्रेष्ठ काव्य 'साकेत' है। गुप्त जी ने राम के अतिमानुष स्वरूप और अलौकिक शक्तियों का बिल्कुल चित्रण न करके राम के प्रति अपने ईश्वरतत्त्व का निर्वाह बड़े ही कौशल और भावपूर्ण ढंग से किया।

रामचरित सम्बन्धी रचनाएं यद्यपि इस युग में हुईं तदपि खास कर गुप्त जी का 'साकेत' ही इस युग की ऐसी रचना है। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि रामभक्ति और रामचरित के सम्बन्ध में कवित्व की सार्वभौम स्फूर्ति धीरे २ मन्द ही पड़ती गई। कवि-प्रतिभा ने रामचरित के प्रति उदासीनता प्रकट की।

कृष्णचरित्र—कृष्णचरित्र के प्रति रामचरित्र से भी अधिक उदासीनता प्रकट हुई। उपाध्याय जी के 'प्रियप्रवास' और श्रीधर पाठक के 'गोपिकागीत' के प्रकाशन के बहुत दिन बाद केवल एक पुस्तक इस युग में प्रीतम जी का 'कृष्ण जन्मोत्सव' छपी। फिर इसके लगभग १५ वर्ष बाद 'रत्नाकर' जी का 'उद्धव-शतक' छपा। बीच में कोई उल्लेखयोग्य रचना तैयार नहीं हुई। गुप्त जी की 'द्वापर' ही इस युग में कृष्णचरित्र सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ कृति है। विगत युग में कृष्णचरित्र कविता का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा परन्तु वहां हमें बालकृष्ण, ईश्वरकृष्ण और राधा-बिहारी कृष्ण के ही दर्शन हुए थे। गुप्त जी ने एक महामानव के रूप में हमें कृष्ण के दर्शन कराए और इस प्रकार इस युग में रामचरित्र और कृष्णचरित्र के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता अकेले मैथिलीशरण गुप्त ही ठहरते हैं।

शिव-चरित्र—राम और कृष्ण सम्बन्धी रचनाओं में जहां गुप्त जी इस युग के सर्वश्रेष्ठ नायक ठहरते हैं, वहां शिवचरित्र के वे एकमात्र ही व्याख्याता हैं। 'शक्ति' उन्होंने दुर्गा-सप्तशती के आधार पर रची है, परन्तु इसमें कवि की प्रतिभा का कोई विशेष चमत्कार-प्रदर्शन नहीं हुआ है।

पौराणिक खण्ड-काव्य—पौराणिक उपाख्यान-परम्परा में सर्वश्रेष्ठ रचना 'रत्नाकर' जी का 'गंगावतरण' है। उसके बाद वचनेश जी का 'शबरी' और मैथिलीशरण गुप्त की 'नहुष' का नम्बर है। 'शबरी' व्रजभाषा की रचना है। 'नहुष' गुप्त जी की उत्तरकालीन रचना है, फिर भी उसमें वह चमत्कार नहीं जो साकेत और द्वापर में है। इस युग की पौराणिक उपाख्यान सम्बन्धी रचनाओं में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पूर्वकालीन कवियों ने प्राय: राम और कृष्ण कुल को लेकर ऐसी रचनाएं की थीं, परन्तु इस युग के कवियों ने महाभारत कुल को लेकर अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। कला की दृष्टि से इन रचनाओं में खण्ड-काव्य की पद्धति का अनुसरण किया गया है।

पौराणिक महाकाव्य—पौराणिक आख्यानों के आधार पर महाकाव्यों की एक नवीन परम्परा इस युग में उदय हुई, और इसमें मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रकाशित हुईं। इस प्रकार की इस युग की रचनाओं में प्रसाद की 'कामायनी' उत्कृष्ट है। वह मानव जीवन की आलोचना करने वाला एक महत्त्वपूर्ण काव्य है।

संत-चरित्र—संत-चरित्रों में सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'तुलसीदास' एक अनुपम कृति है जो लेखक की स्वाभाविक स्फूर्ति से परिपूर्ण है।

ऐतिहासिक खण्ड-काव्य—जिस प्रकार पौराणिक उपाख्यानों पर खण्ड-काव्य लिखने की नवीन परम्परा का उदय हुआ उसी प्रकार ऐतिहासिक

खण्ड-काव्यों की भी एक नई परम्परा इस युग में विकसित हुई, जिसका प्रारम्भ विगत युग में हो चुका था। इसका प्रारम्भ मध्य युग के इतिहास से हुआ। यह परम्परा उत्तरोत्तर समृद्ध होती चली गई। इस परम्परा के कवि राजपूतों के 'जातिगत औदात्य' की ओर अधिक आकर्षित हुए। इन देश, धर्म, आन और स्त्रियों की मर्यादा पर लोहू बहाने वाले वीर राजपूतों की स्मृति हठात् ही इस सांस्कृतिक चेतना के काल में कवि-हृदय में सजग हो उठी।

इन रचनाओं में डा० रामकुमार वर्मा का 'वीर हम्मीर' सुभद्राकुमारी चौहान का वीरगीत 'झांसी की रानी' गुप्तजी का 'गुरुकुल', 'विकटभट', मुंशी अजमेरी जी का 'मधुकरशाह', रामकुमार वर्मा का 'जौहर' और श्यामनारायण पाण्डेय की 'हल्दीघाटी' उल्लेखयोग्य रचनाएं हैं। इस परम्परा की एक उत्तम कृति सोहनलाल द्विवेदी की 'वासवदत्ता' भी है जिसमें कई कथात्मक कविताओं का संग्रह है।

ऐतिहासिक महाकाव्य—ऐतिहासिक परंपरा में महाकाव्यों की रचना करना एक बड़ा भारी क़दम उठाना था जो युग-विकास का एक अनिवार्य प्रभाव था। सर्वप्रथम पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध-चरित्र' लिखा जो इस परम्परा का प्रथम प्रयास है। इस परम्परा में मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' चरित्र-चित्रण की दृष्टि के खूब सफल हुई है। गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहां' और उदयशंकर भट्ट का 'तक्षशिला' फिर गुप्त जी का 'सिद्धराज', अनूपशर्मा का 'सिद्धार्थ', श्यामनारायण पाण्डेय की 'हल्दीघाटी' और प्रतापनारायण पुरोहित का 'नलनरेश' उल्लेखनीय रचनाएं हैं। मैथिलीशरण गुप्त का 'अग्नि और विसर्जन' एक पृथक् स्थान रखता है।

मानव चरित्र—यद्यपि मानव चरित्र सम्बन्धी रचनाएं अति महत्त्वपूर्ण नहीं हुई परन्तु चित्त की उदात्त वृत्तियों से प्रेरित होकर कवि-हृदय में मानव के प्रति प्यार और महानता का भाव उमड़ आया। इस परम्परा की रचनाओं में सियारामशरण गुप्त का 'बापू' अच्छी रचना रही।

प्रेमोपाख्यान—प्रेमोपाख्यानों की यह नवीन परम्परा प्राचीन सूफ़ी परम्परा का कुछ लौकिक सा आधुनिक संस्करण है। इसका प्रारम्भ गत युग में प्रसाद ने 'प्रेमपथिक' लिख कर किया था। इस युग में इस परंपरा की रचनाओं में सुमित्रानन्दन की 'ग्रन्थि' और त्रिपाठी जी का 'पथिक' अच्छी रचनाएं रहीं। त्रिपाठी जी ने वैयक्तिक प्रेम और राष्ट्र-प्रेम के सामञ्जस्य का अच्छा यत्न किया है।

अन्य काव्य-संग्रहों में बच्चन का 'आकुल अंतर' महादेवी वर्मा की 'दीपशिखा' मैथिलीशरण गुप्त की 'विश्ववेदना' निराला का 'बेला' सुमित्रानन्दन पन्त का 'पल्लविनी' सियारामशरण गुप्त का 'पुण्यपर्व' उल्लेखनीय हैं।

प्राकृत के अनेक कवियों के संग्रहों में राहुल सांकृत्यायन की 'हिन्दी-काव्य-धारा' महत्त्वपूर्ण है।

विनोद-व्यंग—विनोद-व्यंग की रचनाएं अधिक नहीं हुईं परन्तु वे गत युग की अपेक्षा कलापूर्ण रहीं। इस परंपरा में श्रीनारायण चतुर्वेदी और बेढ़ब बनारसी ने अच्छा प्रयास किया।

छायावाद—छायावाद, रहस्यवाद और वेदनावाद इस युग की सबसे अधिक वेगवती काव्यधारा रहीं। इस प्रकार की रचनाओं में प्रसाद के 'चित्राधार' 'झरना' 'लहर' सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'अनीमिका' 'परिमल' 'गीतिका' सुमित्रानन्दन पन्त की 'पल्लव' 'वीणा' 'गुञ्जन' 'पत्रावली' सियारामशरण गुप्त की 'आर्द्रा' मैथिलीशरण गुप्त की 'झंकार' रामकुमार वर्मा की 'अञ्जलि' 'चित्ररेखा' 'चन्द्रकिरण' महादेवी वर्मा की 'रश्मि' 'सान्ध्यगीत' 'नीरजा' 'दीपशिखा', भगवती-चरण वर्मा का 'मधुकण' हरिवंशराय बच्चन का 'तेरा हार' 'मधुशाला' 'निशा-निमन्त्रण' बालकृष्णराव का 'आभास' नरेन्द्र का 'कर्णफूल' उदयशंकर भट्ट की 'मानसी' हरिकृष्ण प्रेमी का 'अग्निगान' और माखनलाल चतुर्वेदी की 'हिमकिरीटिनी उल्लेखनीय हैं।

कुछ रचनाएं भावानुभाव सम्बन्धी हुईं। यह परंपरा भी पूर्व परंपरा से मिलती जुलती है। इसकी प्रथम रचना गत युग में 'प्रेम काव्य' नाम से प्रकाशित हुई थी। इस युग में प्रसाद के 'आंसू' और पंत का 'उच्छ्वास' उल्लेखनीय रचनाएं हैं। इन रचनाओं में अमूर्त्त वस्तु को मूर्त्त भावना में अंकित किया गया है। इस परंपरा में आगे स्फूर्ति नज़र नहीं आ रही है।

सामाजिक—सामाजिक रचनाओं में अत्यन्त शिथिलता रही और एक ही साधारण रचना छपी। परन्तु सामयिक व राष्ट्रीय रचनाओं में ओज का प्रदर्शन हुआ। गत युग में गुप्त जी अपनी 'भारत भारती' दे चुके थे जिसकी इस युग में काफ़ी ख्याति हुई। अब उन्होंने 'किसान' की रचना की। सियाराम-शरण की 'आर्द्रा' और सोमनाथ शर्मा का 'वर्तमान भारत' भी अच्छी रचनाएं थीं।

सामयिक और राष्ट्रीय—सामयिक और राष्ट्रीय मुक्तकों में माधव शुक्र का 'जाग्रत भारत' और हरिकृष्ण प्रेमी का 'स्वर्णविहान' अच्छी रचनाएं रहीं। इनका सम्बन्ध महात्मा गान्धी के आन्दोलनों से रहा।

प्रगतिशील भावना में पन्त का 'युगान्त' पहली रचना है। उनकी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' इसके बाद की ऐसी ही रचनाएं हैं। इनमें विशेषता यह है कि कवि ने राष्ट्रीयता को कविता का विषय नहीं बनाया। कविता यहां राष्ट्र और मानव का प्रतीक बन गई है। वह राष्ट्रीयता और मानवता ही बनकर

सामने आई हैं। श्रीमन्नारायण के 'रोटी का राग' और 'मानव' तथा सियाराम-शरण गुप्त का 'उन्मुक्त' संकलित प्रगतिवाद की रचनाएं हैं।

कांकरोली का विद्या-विभाग

श्रीमद्वल्लभाचार्य के पुत्र गो० श्रीविट्ठलनाथ जी ने अपने सम्प्रदाय के सात पीठ स्थापित किये थे। सं० १६४१ में तृतीय पीठ की स्थापना गोकुल में हुई। सं० १७१७ में विषम राजनैतिक उत्क्रान्ति के कारण गो० श्री व्रजभूषणलाल जी (प्रथम) ने कांकरोली में द्वारिकाधीश के साथ इस तृतीय पीठ को स्थापित किया। तब से अब तक ३५० वर्षों के काल में अनेक विपरीत वातावरण में भी यह पीठ वैष्णव साहित्य के संरक्षण में बहुत कृतोद्योग रहा। समय समय पर उसने ग्रंथोद्धार और वैष्णव साहित्य-निर्माण में बहुत कार्य किया, और आज यह कार्य पीठ के वर्तमान अधीश्वर कांकरोली-नरेश गो० श्रीव्रजभूषणलालजीमहाराज की अध्यक्षता में एक पृथक् 'विद्या-विभाग' द्वारा हो रहा है। यहां के पुस्तक-भण्डार में इस समय २००० के लगभग हस्तलिखित ग्रन्थ हैं, जिनमें अनेक दुर्लभ, अज्ञात और अनुपलब्ध हैं। विद्या-विभाग का एक पृथक् 'अन्वेषण-विभाग' है जो सं० १९८५ से अपना कार्य कर रहा है। इसने अहमदाबाद, संखेड़ा, दतिया, टीकमगढ़, मद्रास, भोपाल, जहानाबाद, बीकानेर, कामबन, आन्ध्रप्रान्त में कार्य कर ५०० से अधिक नवीन ग्रन्थों का विवरण प्राप्त किया है जिनमें अनेक लुप्तप्राय थे। विभाग ने कई महत्त्वपूर्ण दुष्प्राप्य ग्रन्थों का प्रकाशन और सम्पादन भी कराया है। विद्या-विभाग में प्रतिदिन स्वयं महाराजश्री बैठकर ग्रन्थ-सम्पादन में हाथ बटाते हैं, विभाग का संचालन पं० कण्ठमणि शास्त्री अत्यन्त योग्यता से करते हैं। ग्रन्थोद्धार के सिवा विभाग ने शिक्षा-विस्तार और सांस्कृतिक विषयों में भी बहुत स्तुत्य कार्य किया है।

अभिनन्दन ग्रन्थ

इस युग में प्रमुख विद्वानों को समय समय पर अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किए गए। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—सम्पादक—श्यामसुन्दरदास, रायकृष्णदास। प्रकाशक—(नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस)। कविता और निबन्ध—१०० श्रद्धांजलि—२२, सादे चित्र २२, रंगीन चित्र ३०, मूल्य ३०) सं० १९९० वि० पृ० ५८२।

मुख्य निबन्ध-रस मीमांसा—डाक्टर भगवानदास। मनुस्मृति के सम्बन्ध में कुछ नए अनुसंधान-मंगलदेव शास्त्री। साधारणीकरण और



काँकरोली-नरेश गो० श्री व्रजभूषणलाल जी शर्मा

व्यक्ति वैचित्र्यवाद—रामचन्द्र शुक्ल । कुंडलिनीतत्त्व—गोपीनाथ कविराज । भारती वाङ्मय के अमर रत्न—जयचन्द्र विद्यालंकार ।

२. भारतीय अनुशीलन—महामहोपाध्याय, रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा—संपादक—जयचन्द्र विद्यालंकार । प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सम्बत् १९९० वि० पृष्ठ ५५० मूल्य १८) ।

विषय—भारतीय संस्कृति का सूत्रपात (सुनीतिकुमार महोपाध्याय) आर्य मंजुश्रीमूलकल्प (काशीप्रसाद जायसवाल) महाराज कुमारपाल चालुक्य (हिमांशुविजय) राजपूताने में प्राचीन शोध (हरबिलास शारदा) नकुल का पश्चिमदिग्विजय (जयचन्द्र नारंग) ।

इस में अनेक भाषाओं के निबन्ध हैं । प्रान्तीय भाषाओं के निबन्ध नागरी अक्षरों में लिखे गए हैं ।

३-हरिऔध अभिनंदन ग्रंथ-पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध-

संपादक—सकल नारायण शर्मा, रामप्रीति शर्मा, श्रीनाथपांडेय, प्रकाशक—नागरी-प्रचारिणी-सभा, आरा, सं० १९९३ वि० पृ० ५५७ मूल्य १२)

कुछ विशेष निबन्ध—साहित्य (आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव), प्रत्यक्षबोध रसात्मकता (रामचन्द्र शुक्ल) तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ियों का अध्यात्म (चन्द्रबली पांडेय), हिंदू संस्कारों का उद्देश्य (राजबली पांडेय) ते मागधेयानि पृच्छ (भगवतशरण उपाध्याय) ।

४—गांधी अभिनंदन ग्रंथ—महात्मा गांधी—

संपादक—सर्वपल्ली राधाकृष्णन, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, नईदिल्ली, सं १६३८, मूल्य २) पृ. २७४ ।

कुछ विशिष्ट निबंध—गांधीजी का धर्म और राजनीति (सर. एस. राधाकृष्णन), गांधीजी सेतुरूप और समन्वयकार (अरनेस्टाटकर), गांधीजी–समाज विज्ञान वेत्ता और आविष्कर्ता (रिचर्ड वी. ग्रेग) गांधी जी का विश्व के लिये संदेश (कुमारी गाडीपेट्री) ईश्वर का दीवाना (रेजिनाल्ड रेनाल्डस) यह अंग्रेजी की पुस्तक का अनुवाद है जिसमें विश्व के विद्वानों के निबंध हैं ।

५—गांधी अभिनंदन ग्रंथ—महात्मा गांधी—

संपादक—सोहनलाल द्विवेदी, प्रकाशक—गांधी-अभिनंदन-ग्रंथ-कार्यालय,

लखनऊ सन १९४४ मूल्य १०)

कुछ विशिष्ट कविता—गांधी गोविन्द—(जगन्नाथदास 'रत्नाकर') हे क्षुरस्य धारापथगामी—(बालकृष्ण शर्मा, नवीन) बापू के प्रति—(सुमित्रानंदन पंत) प्रणाम—(महादेवी वर्मा) युगावतार—(सोहनलाल द्विवेदी)।

(पद्यात्मक ग्रंथ)

उपसंहार

प्रथम अध्याय

यह एक गम्भीर विचारणीय बात है कि इस ग्रन्थ का उपसंहार हिन्दी साहित्य के इतिहास का 'प्रथम अध्याय' है। इसका यह अभिप्राय है कि सन १९४५ तक हिन्दी साहित्य में जो रचनाएं हुईं उनका काल समाप्त हो चुका, और अब सन १९४६ हिन्दी साहित्य के 'प्रथम अध्याय' को प्रारम्भ करने का चिरस्मरणीय काल है। अब तक हिन्दी साहित्य में रहस्य, रस, धर्म, राजनीति और प्रगति का समावेश रहा। ये सब भाव समय समय पर अपने अपने कारणों से साहित्य में समाविष्ट होते रहे। आज उन सब का समय व्यतीत हो चुका। आज के मनुष्य के सामने अब तक की सम्पूर्ण साहित्य-सम्पदा बच्चों के पुराने टूटे-फूटे खिलौनों के समान हो गई।

आज महत्तर युग का प्रारम्भ हो गया। महत्तर काल का यह प्रारम्भ 'अणु महास्त्र' के प्रयोग के साथ प्रारम्भ हुआ। इस 'अणु महास्त्र' के प्रयोग की विश्व पर दो प्रतिक्रियाएं हुईं १—जब यह निर्मम नृशंस प्रयोग जापान के दो असावधान नगरों पर किया गया तो विश्व ने इस पर तनिक भी क्रोध या घृणा नहीं प्रकट की और इस घोर नरहत्या को उसने चुपचाप ही सह लिया। २—इसके प्रयोग होते ही 'युद्ध' शब्द निरर्थक हो गया।

यह 'युद्ध' यद्यपि मानव की सम्पत्ति नहीं—पशु की प्रकृति है, परन्तु मानवता के बालकाल से लेकर आज तक मानव जीवन के विकास का महत्तर आधार 'युद्ध' है। 'युद्ध' ही में महाजातियों की चरमशक्तियां निहित और केन्द्रित रही हैं। 'युद्ध' ही ने जातियों को निर्माण किया है। 'युद्ध' को संक्षेप में हम मानव जीवन और उसकी सम्पदा के विकास का आधार ही कह सकते हैं। युद्ध ही मानवीय सभ्यता का इतिहास है, 'युद्ध' मानव की सब से बड़ी सामर्थ्य है, अतः मानव अपने जीवन के शैशवकाल ही से युद्ध को

अपने जीवन में लिप्त करता आया है । उसने युद्ध को इतना प्यार किया है कि आश्चर्यजनक उल्लास और वेग से उसने अपने प्राण और प्राणाधिक-पदार्थ युद्ध की भेंट किए हैं । और जिसने जितना अधिक यह किया है साहित्य ने अतिपुरुष कहकर उसका कीर्तिगान किया है। परन्तु 'युद्ध' मनुष्य की सम्पत्ति नहीं पशु की प्रकृति है । फिर किस लिये पुरुष ने अपनी सम्पदा, प्राण और पौरुष इस 'युद्ध' की भेंट किये हैं ? किस लिए मानुष की इस पशुवृत्ति की कविजनों ने प्रशंसा कर-करके मेदिनी को ध्वनित कर दिया है ? इसका एक ही सत्य और गम्भीरतम उत्तर है—वह यह कि मनुष्य कभी भी सम्पूर्ण मनुष्य नहीं हो पाया, वह पशुत्त्व से थोड़ा ही विकसित एक 'प्रगतिशील पशु' रहा है, इसी से उसने अपने विकास की सारी ही प्रतिभा और प्रगति पशुत्त्व के इस महान् प्रतिनिधि 'युद्ध' के विकास में व्यय की है, और यह 'अणु महास्त्र, इस दिशा में उसके चरम उद्योगों का एक नूतनतम परिणाम है ।

परन्तु सम्भवतः यह मानव मस्तिष्क में चिरधिष्ठित 'युद्ध तत्त्व' का पूर्ण विराम है । इस महास्त्र के प्रादुर्भाव ने अब तक विकसित सम्पूर्ण युद्धकला को निरर्थक कर दिया है । अब मनुष्य के सामने दो ही मार्ग हैं—या तो वह अपने अपूर्ण-मानव तत्त्व को एक बारगी ही त्याग कर सम्पूर्ण पशु बन जाय तथा इस, और इस जैसे महास्त्रों से अपना सर्वतोभावेन विध्वंस कर ले, या अपने में व्याप्त पशुत्त्व को एक बारगी ही निकाल फैंके, और 'पूर्ण पुरुष' होकर विश्व-सम्पदाओं का निर्भय भोग करे । निश्चय ही उसे दूसरा मार्ग चुनना होगा।

मानुष में जो रोष है यही पशुत्त्व का प्रतीक है । मानुष में मानुष का प्रतीक 'विचार' है । वह जब तक 'विचार' के आधीन रहता है 'रोष' सुप्त रहता है, परन्तु बिचारहीन होते ही वह रोषाभिभूत होकर जितना अधिक उसमें मानुष तत्त्व है, उतना ही अधिक हिंस्र बन जाता है, क्योंकि उसकी विचारसत्ता रोष की गुलाम बन जाती है ।

पशु रोष में आवेशित होकर जब युद्ध करता है—तब वह अनिवार्य रूप से मृत्यु को वरण करता है । अल्प कारण ही से वह उस प्राणघाती मार्ग पर चल पड़ता है, क्योंकि वही उसकी प्रकृति है । परन्तु मानुष ऐसा नहीं करता, वह रोषा-वेश में भी बलाबल, कारण और साधनों पर दृष्टि रखता है, पराजित होने पर वह रोष का दमन कर लेता है; इस लिये कि फिर वह बदला लेगा । यह सब वह उस विचारसत्ता के द्वारा करता है जो वास्तव में उसके मानुष तत्त्व का प्रतीक थी, परन्तु अब वह रोषाधीन हो गई है ।

फिर बदला लेने की भावना तमोगुणबहुला है । इसके लिये उसे नई विरोधिनी शक्तियों को जुटाने में विकट श्रम करना पड़ता है, तथा समय पाकर

वह फिर 'युद्ध' करता है। इस युद्ध में वह चाहे हारे चाहे जीते पर इच्छा और आशा जीतने की ही रखता है। कारण, प्रतिस्पर्द्धी की शक्ति के विषय में वह संदिग्ध है।

परन्तु 'अणु महास्त्र' का आज के मानव मस्तिष्क पर एक बिलकुल ही नया और अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा है, इससे वह रोष को दबाने की नहीं, अपने में से दूर निकाल फेंकने की सोचने लगा है। उसकी चेतना में स्वच्छ विचारधारा का उदय हुआ है, और अब उसके 'पूर्ण पुरुष' होने का युग आ गया है। इस युग में वह सर्वथा रोषहीन होकर विचार-सामर्थ्य से अपना संगठन करेगा। बड़े बड़े क्रुद्ध जन निरर्थक फूत्कार कर, आकण्ठ रक्तस्नान कर मरण-शरण हुए। "'लोहू और लोहा' जिनका नारा था उनकी बेहद्द दुर्दशा हो गई। मानव रोष की निस्सारता विश्व ने देख ली। जातियों के भाग्य पलट गए, विश्व-रेखाएं बदल गईं। इन सब से मानुष ने अब चार बातें सीखी हैं—१—विश्व के सब मनुष्य एक हैं—वे परस्पर भाई-भाई हैं, समान हैं, अभय हैं, और विश्व की सम्पदाओं के अधिपति हैं। २—मानव विश्व की सबसे बड़ी इकाई है, उसकी पूजा, आत्मनिष्ठा, निर्भय विश्व-विचरण तथा भोग सामर्थ्य कविजनगेय वस्तु है। ३—जगत् सत्य है, भूत सम्पदा मानव उत्कर्ष का साधन है। ४—'कला' और 'विज्ञान' मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क हैं, दोनों को विचार-कौशल से एकीभूत करके उसे मानव-कल्याण और मानव-विभूति-वर्धन में लगाना चाहिए, जिससे मनुष्य 'रोषहीन' हो।

इन चारों ही तथ्यों को मूर्तरूप देना साहित्यकार का काम है। जो साहित्यकार विचारों को मूर्त करता है, संस्कृति को मूर्त करता है, आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करता है वह अपने काल और उस काल के बाद के मनुष्यों का नेतृत्व करता है। वह मानुष-तत्व का प्रतिनिधि है, वह मनुष्यों के आदर्श का विचार करके 'अति मनुष्यों' का निर्माण करता है, और अपनी 'नाद ध्वनि' के संकेत पर कोटि २ नर-समूह को उसी लक्ष्य-बिन्दु पर केन्द्रित करता है। वही सच्चा साहित्यकार है। आज हिन्दी साहित्य के महाप्राङ्गण में नए महत्तर काल के मानव की महान् सत्ता, जगत् की सत्यता, मानव-विश्व-बन्धुत्व, कला और विज्ञान का एकीकरण तथा मानव को अभय-विचरण प्रदान करने वाले साहित्यकार के प्रादुर्भाव की प्रतीक्षा हो रही है।

शुभमस्तु

नामानुक्रमणिका

ग्रन्थानुक्रमणिका

परिशिष्ट

भारतेन्दु युग की सामयिक पत्र-पत्रिकाएं

सं०	स. ई. प्रारंभिक काल	नाम पत्र	सम्पादक	स्थान	साप्ताहिक या मासिक	वार्षिक चन्दा
१	१८४५	बनारस अखबार	गोबिन्दरघुनाथ थत्ते	काशी	सा०	१२)
२	१८५०	सुधाकर	तारामोहन मित्र	,,	,,	+
३	१८६७	रत्न प्रकाश	किशोरीलाल नागर	रतलाम	सा०	३)
४	१८६८	कविवचन सुधा	भारतेन्दु	,,	मा. पीछे सा.	६॥)
५	१८७१	अलमोड़ा अखबार	सदानन्द सलवाल	अलमोड़ा	सा०	६।॥)
६	१८७२	हिन्दी दीप्ति-प्रकाश	कार्तिकप्रसाद खत्री	कलकत्ता	सा०	१॥)
७	१८७२	विहार-बन्धु	केशोराम भट्ट	बांकीपुर	मा०	२)
८	,,	प्रेमपत्र	रा० ब० सालिगराम	आगरा	पा०	६)
९	१८७४	बालाबोधिनी	भारतेन्दु	काशी	मा०	२)
१०	,,	सदादर्श	श्रीनिवासदास	दिल्ली		
११	,,	हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका	हरिश्चन्द्र	काशी	मा०	६)
१२	१८७६	काशी-पत्रिका	रा.ब. लक्ष्मीशंकर मिश्र	काशी	सा०	७॥=)
१३	,,	भारत-बन्धु	तोताराम	अलीगढ़	सा०	७॥)
१४	१८७७	हिन्दी-प्रदीप	बालकृष्ण भट्ट	प्रयाग	मा०	२)
१५	,,	मित्र-विलास	कन्हैयालाल	लाहौर	सा०	३॥)
१६	,,	भारत-मित्र	रुद्रदत्त	कलकत्ता	सा०	२॥)
१७	,,	आर्य-दर्पण	बख्तावरसिंह	शाहजहांपुर	मा०	२॥)
१८	१८७८	उचित-वक्ता	दुर्गाप्रसाद मिश्र	कलकत्ता	सा०	३)

१९	,,	सार-सुधानिधि	सदानन्द	कलकत्ता	सा०	५।।।)
२०	१८७९	सज्जनकीर्ति-सुधाकर	वंशीधर	उदयपुर	सा०	६।।।)
२१	,,	भारत-सुदशा-प्रवर्तक	गणेशप्रसाद	फर्रुखाबाद	मा०	
२२	१८८१	क्षत्रिय-पत्रिका	रामदीनसिंह	बांकीपुर	मा०	६)
२३	,,	आरोग्यदर्पण	जगन्नाथ वैद्य	प्रयाग	मा०	२।।)
२४	१८८२	आनन्दकादम्बिनी	बद्रीनारायण चौधरी	मिर्जापुर	मा०	२)
२५	,,	देशहितैषी		अजमेर	मा०	२)
२६	१८८३	सदाचार-मार्तण्ड	लालचन्द शास्त्री	जयपुर	मा०	१)
२७	,,	शुभचिन्तक	सीताराम	शाहजहांपुर	मा०	।।।)
२८	,,	प्रयाग समाचार	देवकीनन्दन त्रिपाठी	प्रयाग	सा०	१।।-)
२९	,,	धर्मदिवाकर	देवीसहाय	कलकत्ता	मा०	१)
३०	,,	दिनकर-प्रकाश	रामदास वर्मा	लखनऊ	मा०	१।।≶)
३१	१८८४	कविकुल कंजदिवाकर	रामनाथ शुक्ल	बस्ती	मा०	१।)
३२	,,	कान्यकुब्ज-प्रकाश	बलभद्र मिश्र	लखनऊ	मा०	१।।)
३३	,,	काशी समाचार	बिहारीसिंह	काशी	सा०	१।।)
३४	,,	चम्पारन-हितकारी		बेतिया	सा०	३)
३५	,,	जियालाल प्रकाश	जियालाल	फर्रुखनगर	सा०	२।।)
३६	,,	जैन	,,	,,	सा०	२।।)
३७	,,	देशी-व्यापारी	राधाकृष्ण गुप्त	कलकत्ता	मा०	५) ३)
३८	,,	पीयूष-प्रवाह	अम्बिकादत्त व्यास	भागलपुर	मा०	।।)
३९	,,	भारत-जीवन	रामकृष्ण वर्मा	काशी	सा०	१।।)
४०	,,	भारतेन्दु	राधाचरण गोस्वामी	वृन्दावन	मा०	१।)
४१	,,	भारत-पंचामृत		भागलपुर	मा०	१।)
४२	,,	भारत-हितैषी		नबगांव	मा०	२।।)
४३	१८८५	हरिश्चन्द्र-कला	रामदीनसिंह	बांकीपुर	मा०	६।।।)
४४	,,	हिन्दुस्तान	राजा रामपालसिंह	काला कांकर	दै०	१०)
४५	,,	सत्यप्रकाश		फतहगढ़	मा०	१)
४६	,,	रसिकपञ्च	शिवनाथ मिश्र	लखनऊ	मा०	।=)
४७	,,	भारतोद्धारक	मुन्नालाल शर्मा	अजमेर	मा०	१।)
४८	,,	भारतोदय	सीताराम	कानपुर	दै०	१०)
४९	,,	भारत-चन्द्रोदय	गुरुबक्शसिंह	विठूर	मा०	१।)
५०	,,	विद्याविलास	दुर्गाप्रसाद मिश्र	कलकत्ता	मा०	५) १)
५१	,,	धर्मप्रचारक	राधाकृष्णदास	काशी	मा०	१।।)
५२	,,	गोधर्म-प्रकाश	हरदयाल शर्मा	फर्रुखाबाद	मा०	१।)
५३	,,	काव्यामृतवर्षिणी	शिवदत्त मिश्र	लखनऊ	मा०	१।।)
५४	१८८६	सुखसम्वाद	लक्ष्मणप्रसाद ब्रह्मचारी	लखनऊ	मा०	१)
५५	१८८७	भारत-भ्राता	बलदेवसिंह राजकुमार	रींवा	सा०	२)
५६	१८८८	शुभचिन्तक	रामगुलाम अवस्थी	जब्बलपुर	सा०	२।)

५७	,,	सुगृहिणी	हेमन्त कुमारी	शिलांग	मा०	१)
५८	,,	मित्र	दामोदर विष्णु सप्रे	काशी	सा०	१॥)
५९	,,	भारतवर्ष	रामनारायण वाजपेयी	विठूर	मा०	॥)
६०	,,	भारतदर्पण	विश्वनाथ ब्रह्मचारी	कलकत्ता	सा०	३)
६१	,,	बुद्धिप्रकाश	चन्द्रशेखर गौड़	लखनऊ	मा०	१॥)
६२	,,	धर्मसुधावर्षण	कुलयशस्वी शास्त्री	काशी	मा०	१)
६३	,,	धर्मसभा-पत्र	गौरीशंकर वैद्य	फ़र्रुख़ाबाद	मा०	यथाशक्ति
६४	,,	देवनागरी-गजट	गौरीशंकर पण्डित	मेरठ	मा०	१।)
६५	,,	दीपिका	चन्द्रशेखरधर मिश्र	रत्नमाला (चम्पारन)	मा०	बेमूल्य
६६	१८८९	अग्रवाल उपकारक	किशोरीलाल लाला	आगरा	मा०	१॥)
६७	,,	आरोग्य-जीवन	गजानन	लखनऊ	मा०	२।)
६८	,,	आरोग्य-सुधाकर	पं० मुरलीधर	मुजफ्फरनगर	मा०	१।)
६९	,,	खिचरी-समाचार	माधोप्रसाद	मिरजापुर	सा०	१॥–)
७०	,,	जाट-समाचार	कन्हैयालालसिंह	गुडगांव	मा०	१।)
७१	,,	विद्याधर्म-दीपिका	चन्द्रशेखर	रत्नमाला	मा०	≶)
७२	,,	भारत भगिनी	हरदेवी	प्रयाग	मा०	१)
७३	,,	राजस्थान-समाचार	समर्थदान	अजमेर	सा०	३॥)
७४	,,	रामपताका	राधामोहन शुक्ल	प्रयाग	मा०	॥)
७५	,,	सर्वहित	हरिवल्लभ	बूंदी	पा०	१)
७६	,,	सारस्वत प्रकाश		कलकत्ता	पा०	२)
७७	१८९०	हिन्दी बंगवासी	कृष्णदास बनर्जी	कलकत्ता	सा०	२)
७८	,,	सुदर्शनचक्र	ठाकुरप्रसाद शर्मा	वृन्दावन	सा०	३)
७९	,,	भारत-प्रकाश	बनवारीलाल मिश्र	मुरादाबाद	मा०	१)
८०	,,	द्विजपत्रिका	साहबप्रसादसिंह	बांकीपुर	मा०	॥)
८१	,,	तिमिरनाशक	कृपाराम	काशी	सा०	२॥)
८२	,,	चम्पारण चन्द्रिका	भुवनेश्वर	चम्पारन	सा०	३)
८३	,,	गोरक्षा		नागपुर	मा०	१≶)
८४	,,	कृषिकारक	सखाराम गणेशनारायण	अमरावती	मा०	३)
८५	,,	आर्यमित्र	भूतनाथ मुकर्जी	काशी	मा०	॥=)
८६	१८९१	कवि व चित्रकार	कुन्दनलाल	फतेहगढ़	त्रिमा०	१)
८७	,,	जगत्मित्र	क्षेत्रपाल शर्मा	मथुरा	मा०	१।)
८८	,,	जैन प्रभाकर	गोपीनाथ	लाहौर	मा०	२)
८९	,,	धूर्त-पंच	दामोदरप्रसाद शर्मा	कलकत्ता	मा०	१।)
९०	,,	पण्डित	गोबिन्दराव वणवे	गिरगांव	सा० मा०	२) ४)
९१	,,	भारत-भानु	कन्हैयालाल भगवानदास	लखनऊ	मा०	१॥)

९२	,,	शिक्षक	एम. एल. शुक्ल	मथुरा	मा०	१)
९३	१८९२	ज्ञानप्रदायिनी	नवीनचन्द्र राय	लाहौर	मा०	।)
९४	,,	क्षत्रियहितोपदेशक	हरनाथसिंह	आगरा	मा०	१॥)
९५	,,	साकेत जीवन	रामनारायणसिंह	अयोध्या	मा०	१)
९६	,,	सरस्वती प्रकाश	बनवारीलाल	काशी	मा०	।=)
९७	,,	विस वृन्दावन	नन्हेलाल गोस्वामी	वृन्दाबन	पा०	१।)
९८	,,	ब्राह्मण हितकारी	कृपाराम	काशी	मा०	१॥)
९९	,,	व्यापार हितैषी	हनुमानप्रसाद	काशी	सा०	१॥)
१००	,,	वृजवासी	आर. एल. वर्मन्	मथुरा	मा०	१॥)
१०१	,,	जैनहितैषी	पन्नालाल	मुरादाबाद	मा०	१)
१०२	,,	गो-सेवक	जगतनारायण	काशी	सा०	
१०३	१८९३	नागरी-नीरद	बद्रीनारायण चौधरी	मिर्जापुर	सा०	२)
१०४	,,	वनिता-हितैषी	भाग्यवती	सचेढो	मा०	॥।)
१०५	,,	व्यापारसिंधु	काशीप्रसाद अवस्थी	बम्बई	सा०	२॥)
१०६	,,	भट्ट-भास्कर	गौरीशंकर भट्ट	कानपुर	मा०	
१०७	,,	भाषा-भूषण	गोपालराम	बम्बई	सा०	२)
१०८	,,	सत्यवक्ता	गोपालप्रसाद	हुशंगाबाद	मा०	१)
१०९	,,	साहित्यसुधासिंधु	देवकीनन्दन जगन्नाथदास	काशी	मा०	२)
११०	,,	सुधासागर	छुदुमीलाल दूबे	कानपुर	मा०	॥।)
१११	१८९४	इन्दु	ज्वालाप्रसाद	लाहौर	मा०	१।)
११२	,,	कलकत्ता समाचार	कन्हैयालाल	कलकत्ता	सा०	१॥)
११३	,,	कायस्थ-कान्फ्रेंस प्रकाश	देवीप्रसाद	कानपुर	पा०	१॥)
११४	,,	सज्जनविनोद	कृष्णलाल शर्मा	आगरा	पा०	१॥)
११५	,,	सर्वहितैषी	रामस्वरूप	मुरादाबाद	मा०	।-)
११६	,,	हरिश्चन्द्र कौमुदी	पंचमसिंह	जामोर (गया)	मा०	१।)

साधन-सामग्री

१–हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन

२–प्रबन्धचिन्तामणि—मेरुतुंगाचार्य

३–पृथ्वीराजरासो—काशी नागरी प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित

४–नागरी प्रचारिणी पत्रिका

५–माधुरी

६–मिश्रबन्धु विनोद (४ भाग) मिश्रबन्धु

७–हिन्दी नवरत्न—मिश्रबन्धु

८–हिन्दी कोविद रत्नमाला (२ भाग) डा० श्यामसुन्दरदास, साहित्यवाचस्पति

९–कविता कौमुदी—पं० रामनरेश त्रिपाठी

१०–हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल

११–भाषा और साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास, साहित्यवाचस्पति

१२–भाषा रहस्य—डा० श्यामसुन्दरदास, साहित्यवाचस्पति

१३–हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध)

१४–हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—डा० सूर्यकान्त शास्त्री

१५–हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा० रमाशंकर शुक्ल (रसाल)

१६–आज (विशेषांक)—बनारस

१७–भक्तमाल—नाभादास

१८–राग सागरोद्भव राग कल्पद्रुम—कृष्णानन्द व्यास

१९–व्रजमाधुरी—वियोगीहरि

२०–सेलेक्शन फ्राम हिन्दी लिटरेचर—लाला सीताराम

२१–नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट—डा० श्यामसुन्दरदास, साहित्य-वाचस्पति (हीरालाल)

२२–हिन्दू धर्म के आठ युग—मिश्रबन्धु

२३–बुद्धपूर्व का भारत—मिश्रबन्धु

२४–हिन्दी साहित्य का इतिहास—मिश्रबन्धु

२५–रामदीनसिंह रीडरशिप के सम्बन्ध में पटना यूनिवर्सिटी में 'हिन्दी भाषा का भारत पर प्रभाव' पर मिश्रबन्धुओं का व्याख्यान

२६–अष्टछाप—डा० धीरेन्द्र वर्मा
२७–उदयपुर राज्य का इतिहास—महामहोपाध्याय रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।
२८–कबीर वचनावली—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय
२९–कोशोत्सव स्मारकसंग्रह—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
३०–जायसी ग्रन्थावली—पं० रामचन्द्र शुक्ल
३१–दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता—श्रीगोकुलदास, डाकौर
३२–नया गुटका—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द
३३–बिहारी रत्नाकर—बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
३४–भारतेन्दु नाटकावली—बा० श्यामसुन्दरदास
३५–मूल गोसाईं चरित्र—गीता प्रेस, गोरखपुर
३६–तुलसी ग्रन्थावली—(१।२।३) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
३७–राजपूताना में हिन्दी पुस्तकों की खोज—मुं० देवीप्रसाद मुंसिफ़
३८–राजपूताने का इतिहास—रा० ब० म० म० डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
३९–रामचरित्रमानस की भूमिका—रामदास गौड़
४०–रामचन्द्रिका—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
४१–विद्यापति—जनार्दन मिश्र
४२–श्री कबीर साहेब का जीवन चरित्र—सरस्वती विलास प्रेस, नरसिंहपुर
४३–श्री नाथ जी की प्राकट्य वार्ता—गोवर्धनलाल जी
४४–श्री सूरदास जी का दृष्टिकूट सटीक—(नवलकिशोर प्रेस)
४५–मीराबाई का जीवन चरित्र—मुं० देवीप्रसाद मुंसिफ़
४६–संत तुकाराम—हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग
४७–हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास—नाथूराम प्रेमी
४८–हिन्दुस्तानी की पुरानी सभ्यता—डा० वेनीप्रसाद
४९–गङ्गा (पुरातत्वाङ्क)—सुलतानगंज, भागलपुर
५०–चांद (मारवाड़ी अंक)—इलाहाबाद
५१–जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल (अंग्रेज़ी) कलकत्ता
५२–जर्नल आफ़ दि बिहार एन्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी (अंग्रेज़ी) पटना ।
५३–हिन्दू सुपीरियौरिटी हरविलासशारदा (अंग्रेज़ी) ।
५४–ज्ञानेश्वरी ।
५५–आबेहयात (उर्दू) आज़ाद
५६–वाल्मीकीय रामायण
५७–भास के नाटक
५८–महाभारत—(इण्डियन प्रेस)

५९–श्रीमद्भागवत—(इण्डिनय प्रेस)

६०–सत्यार्थप्रकाश—वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

६१–महात्मा हंसराज का जीवन चरित्र—ला० खुशालचन्द खुर्सन्द,

६२–विद्या विभाग कांकरोली—पं० कण्ठमणि शास्त्री।

६३–हिन्दी पुस्तक साहित्य—डा० माताप्रसाद

६४–विनय पत्रिका—तुलसीदास

६५–तुलसी सन्दर्भ—सद्गुरुशरण अवस्थी

६६–आइने अकबरी (अनुवाद)

६७–जहांगीर नामा—अ० मु० देवीप्रसाद मुंसिफ़

६८–हरिश्चन्द्र चन्द्रिका

६९–सरस्वती (फ़ाइल) इण्डियन प्रेस प्रयाग

७०–दरियाए लताफ़त—

७१–खड़ी बोली की हिन्दी का इतिहास—बा० व्रजरत्नदास बी० ए०, एल० एल० बी०

७२–प्रेमसागर

७३–गवर्नमेंट विविध रिपोर्ट

७४–शकुन्तला—(अ०) राजा लक्ष्मणसिंह

७५–स्वामी दयानन्द का जीवन चरित्र

७६–हरिश्चन्द्रकला (सम्पूर्ण)

७७–माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ़ हिन्दुस्तान सर जार्जग्रियर्सन (अंग्रेजी)

७८–राजस्थानी साहित्य का महत्व—रायबहादुर रामदेव चौखानी

७९–अगरचन्द नाहटा के लेख

८०–महामहोपाध्याय—रा० ब० डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के विविध लेख

८१–विविध संग्रह—बारहट समर्थदान

८२–आर्यों की प्राचीन सभ्यता का इतिहास—रमेशचन्द्र दत्त

८३–धर्मतत्व—मिश्रबन्धु

८४–धर्म और विज्ञान—डा० भगवानदास

८५–छान्दोग्योपनिषद्

८६–शांकरभाष्य—वेदान्त

८७–वाङ्मय विमर्श—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

८८–कबीरर्स पोइम्स, की भूमिका—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

८९–सिख इतिहास—कनिंघम

–सिख गुरुओं की जीवनी—शिवनंदन सहाय

–सन्तदर्शन—पराशरशाह

–सन्त वाणी—हरिप्रसाद द्विवेदी

९३–भागवत और सूरसागर—डा० धीरेन्द्र वर्मा
९४–कविता कौमुदी—पं० रामनरेश त्रिपाठी।
९५–तुलसी के चार दल—सद्गुरुशरण अवस्थी
९६–तुलसी संदर्भ
९७–भारत में अंग्रेज़ी राज्य—सुन्दरलाल पण्डित
९८–ओरियंटल कालेज मेगज़ीन
९९–मुग़ल और उर्दू—चंद्रबली पाण्डेय एम० ए०
१००–संगीत राग कल्पद्रुम
१०१–संस्कृत लिटरेचर—कीथ
१०२–काव्य निर्णय
१०३–आधुनिक-काव्य
१०४–हिन्दी गद्यशैली का विकास—जगन्नाथप्रसाद शर्मा
१०५–हिन्दुस्तानी—हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी
१०६–भाषा सर्वे भूमिका
१०७–अलीगढ़ मेगज़ीन
१०८–अरवाय नसर (उर्दू)
१०९–भारत वृत्तान्त—साधुशरणसिंह